उत्तरी भारत की संत-परंपरा

(संशोधित तथा परिवर्धित)

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना.

आज दो-तीन वर्षों से यह पुस्तक अप्राप्य रही है। बारह वर्षों से ऊपर का समय होता है, जब यह पहले-पहल छपी थी। उन दिनों संत-मत, संत-साहित्य तथा संत-परंपरा-जैसे विषयों की ओर बहुत-से प्रतिष्ठित विद्वान् प्रायः उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करते थे। सर्वसाधारण की दृष्टि में भी उनके प्रति कोई आकर्षण न था। इस कारण इसके प्रचार की उतनी आशा न थी, किंतु इसका स्वागत अच्छा हुआ और इसके प्रकाशन के कुछ ही दिनों भीतर, धार्मिक तथा साहित्यिक व्यक्तियों से लेकर वैसी संस्थाओं का भी ध्यान इसकी ओर क्रमशः आकृष्ट होने लगा। इसकी रचना के लिए बहुत-से मान्य लोगों की ओर से मुझे बधाइयाँ दी गईं। कई सरकारी अथवा गैर-सरकारी संस्थाओं की ओर से मुझे पुरस्कार भी प्रदान किये गए। इन सभी बातों के कारण मुझे कुछ कम प्रोत्साहन नहीं मिला। इसके लिए मैं उन सभी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक के पाठकों की ओर से मेरा ध्यान, इसकी कुछ त्रुटियों के संबंध में भी दिलाया गया। उदाहरण के लिए कहा गया कि इसमें संतों तथा भक्तों के बीच कोई भेद-भाव प्रदर्शित किया गया क्यों दीख पड़ता है? क्या भक्तों को भी संतों की कोटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है? इसी प्रकार संत नामदेव को कबीर का पूर्ववर्ती तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार करते हुए भी उन्हें ही इनकी जगह पर उत्तरी भारत के संतों का अग्रणी क्यों नहीं माना गया है? तथा, महात्मा गांधी की गणना कबीरादि के साथ क्यों की गई है? इन जैसे कुछ प्रश्न भी उठाये गए, जिनके समाधानार्थ इसमें विभिन्न संकेतों के रहते हुए भी मुझे पत्र-व्यवहार करना पड़ा। इस पुस्तक में किसी-न-किसी संत के प्रति दिव्यावतारवत् विशेष श्रद्धा-भाव प्रदर्शित किये गए न रहने के कारण भी उसके नाम से प्रचलित पंथ के अनुयायियों में से कुछ ने कभी-कभी अपना रोष प्रकट किया। इसके संबंध में मुझे अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करना पड़ा तथा

एक वास्तविक संत का महत्त्व बतलाना पड़ गया। इसके सिवाय कतिपय सज्जनों ने मेरा ध्यान वैसी कुछ भूलों की ओर भी आकृष्ट किया जो इसमें या तो यथेष्ट सामग्री के अभाव में अथवा भ्रांतिवश भी आ गई कही जा सकती थीं। इनके संबंध में कभी-कभी कुछ सुझाव भी दिये गए। उन पर मैंने पुनर्विचार करके ऐसे स्थलों को भरसक सुधार लेने की चेष्टा की है। उक्त सभी प्रकार की आपत्तियों के कारण मुझे इस पुस्तक को एक बार फिर से देख जाने का अवसर मिला है। इसके लिए मैं उक्त सभी आलोचक मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस नवीन संस्करण के अंतर्गत कई स्थल संशोधित रूप में पाये जायेंगे। कुछ अंशों को स्थानांतरित किया गया मिलेगा। बहुत-सी ऐसी बातों का समावेश किया गया भी दीख पड़ेगा जो इस पुस्तक में पहले नहीं थीं। उदाहरण के लिए संत जंभनाथ के 'विश्नोई-सम्प्रदाय', 'निरंजनी-सम्प्रदाय', 'कबीर-पंथ', 'सिगा-पंथी परंपरा', मारवाड़ के दरियासाहब के 'दरिया-पंथ', 'पानप-पंथ' तथा 'किनारामी अघोर-पंथ' विषयक अनेक बातों के संबंध में फिर से अध्ययन और विचार करके उनके वाले अंशों में कुछ-न-कुछ सुधार मिलेगा और कुछ अंश स्थानांतरित भी पाया जायगा। इसी प्रकार 'जसनाथी वा सिद्ध-सम्प्रदाय', 'हीरादासी-परंपरा' 'रविभाण-सम्प्रदाय', अलखिया-सम्प्रदाय, रामसनेहियों की सिंहथल-खेडापा शाखा', 'सरभंग-सम्प्रदाय', 'साँईदाता-सम्प्रदाय' और 'संतमत-सत्संग' को यहाँ पर पहले-पहल स्थान दिया गया दीख पड़ेगा। इसके सिवाय संत साँईदास, विभिन्न कबीर-शिष्य, संत नंद-ऋषि, संत मतिसुंदर, अक्षर अनन्य, संत मीता साहब और संत रोहल जैसे कुछ नये लोगों की यहाँ चर्चा की गई मिलेगी। इसके साथ ही, इसमें कहीं-कहीं अन्य कई प्रकार का सुधार किया गया अथवा नवीन छोटी-मोटी बातों को सम्मिलित कर लिया गया भी मिलेगा। पुस्तक को इस प्रकार का रूप देने के पहले मैंने कभी-कभी कुछ विशेषज्ञों से विचार-विमर्श किया है। इधर १०-१२ वर्षों के भीतर की गई नवीन खोजों के फलस्वरूप प्रस्तुत किये गए विभिन्न ग्रंथों से भरसक लाभ उठाने का यत्न किया है तथा नवीन सामग्री उपलब्ध करने के उद्देश्य से कुछ भ्रमण भी किया है। इस संबंध में मुझे जिन लोगों से किसी भी रूप में सहायता मिल सकी है उनका भी मैं अपने को ऋणी समझता हूँ।

हर्ष की बात है कि इस पुस्तक के वर्ण्य-विषय से संबद्ध कई प्रश्नों पर विचार करने की ओर इधर अनेक विद्वान् प्रवृत्त होते दीख रहे हैं। इसके कारण न केवल संत-साहित्य की एक विशाल ग्रंथ-राशि प्रकाश में आती दीख रही है, प्रत्युत कुछ समस्याओं का समाधान होता जाता भी जान पड़ रहा

है। परन्तु इस समय संत-बानियों का जो पाठ प्रकाशित हो रहा है वह अंत में कहाँ तक विशुद्ध तथा प्रामाणिक सिद्ध होगा अथवा जो मत संतों की विचार-धरा तथा साधना के विषय में व्यक्त किये जा रहे हैं वे आगे कहाँ तक निर्भ्रांत रूप में स्वीकार कर लिये जायँगे इसके लिए कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय अभी तक जो कुछ भी संतों के जीवन-वृत्तों के रूप में आ रहा पाया जाता है उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की जगह अभी अधिकतर चमत्कारों की ही भरमार दीख पड़ती है जिससे हमें पूरा संतोष नहीं हो पाता। उक्त सभी बातें विशेषकर उन पुस्तकों में मिलती हैं जो या तो किन्हीं साम्प्रदायिक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित की गई रहती हैं अथवा उन लेखकों की कृतियाँ होती हैं जो आवश्यक परीक्षा वा छानबीन को प्रायः महत्त्व देना नहीं चाहते।

भारतीय विश्वविद्यालयों में जो अनुसंधान-कार्य इस ओर हो रहा है उसमें कुछ अधिक सजगता हो सकती है। वहाँ पर लिखे गए ऐसे सभी प्रबंध आज तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं। किंतु उनके शीर्षकों की जो सूची हमें देखने को मिलती है उससे पता चलता है कि वहाँ अभी तक या तो दार्शनिक, सामाजिक वा सांस्कृतिक-जैसी विभिन्न पृष्ठभूमियों के अनुसार अध्ययन किया गया है और कभी-कभी बाहरी प्रभाव तक ढूँढ़े गए हैं अथवा पूरे संत-साहित्य वा कुछ विशिष्ट संतों की रचनाओं में निहित मत वा साधना का परिचय दिलाने, उनकी भाषादि का स्वरूप निर्धारित करने तथा बहुधा तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित कर देने का भी यत्न किया गया है। ये सभी बातें अपने-अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हैं और इनकी आवश्यकता भी अपनी जगहों पर कम नहीं हो सकती। परन्तु इनका अधिकांश हमें केवल सैद्धांतिक वा निरा शास्त्रीय-सा ही लगता है। इनमें कदाचित् उन कतिपय ठोस व्यावहारिक बातों की ओर अभी अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया जान पड़ता है जो किसी एक संत-साहित्य का गंभीर अध्ययन और अनुशीलन करनेवाले व्यक्ति की दृष्टि में कहीं अधिक महत्त्व की ठहरती हैं। तदनुसार आवश्यकता है कि सर्वप्रथम संतों द्वारा रचित विशिष्ट ग्रंथों का वैज्ञानिक ढंग से संपादन कर उन्हें उनके मौलिक रूपों में प्रकाशित किया जाय जो किसी पाठानुसंधान के आधार पर असंभव नहीं कहा जा सकता। ऐसे कई ग्रंथ अभी तक साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले सज्जनों के यहाँ उनकी विचित्र भावनाओं के कारण सुंदर वेष्ठनों में 'सुरक्षित' पड़े हुए उनकी पूजन-पद्धति के काम आ रहे हैं। उनके प्रकाश में न आने के कारण तथा बहुधा उनकी अशुद्ध प्रतिलिपियों के आधार पर अनेक प्रकार की भ्रांतियों को प्रश्रय मिल रहा है। इसी प्रकार कम-से कम प्रमुख संतों के जीवन वृत्तों का यथा-साध्य

पता लगा कर उन्हें सुव्यवस्थित रूप देना तथा इसके द्वारा उनके व्यक्तित्व का वास्तविक रूप सबके सामने लाना है जिससे उनकी 'रहनी' का परिचय मिल सके। ऐसे संतों तथा इनके नाम से प्रचलित पंथों वा सम्प्रदायों का विभिन्न दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन भी अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार अनेक मनोरंजक तथ्यों का उद्‌घाटन भी किया जा सकता है। इसके सिवाय इस संबंध में इसका भी मूल्य कम नहीं हो सकता कि संतों के जीवन-दर्शन, उनकी आचरण-पद्धति तथा उनके सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों का विवेचनात्मक अध्ययन किया जाय। इस प्रकार उनके उस वास्तविक रूप का पता लगाया जाय जिससे उनका समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

संतों अथवा उनके मत पर विचार प्रकट करते समय उन्हें प्रायः व्यक्तिवादी कह दिया जाता है। परन्तु क्या आज के अर्थ में वे सचमुच व्यक्तिवादी ठहराये जा सकते हैं? इसमें संदेह नहीं कि देहधारी रूप में वे एक व्यक्ति भी थे, किंतु उनका व्यक्तित्व जैसा था और जिस रूप में वे व्यक्ति को देखना चाहते थे वह समाज का ही नहीं विश्वात्मा तक का भी एक अंग नहीं, अपितु इसका एक और अभिन्न रूप था। उनके यहाँ अहं को उत्तेजित नहीं किया जाता था, अपितु उसे सोहं में विलीन कर दिया जाता था। कदाचित् इसी कारण व्यक्ति-ईश्वर तक उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी अनुभूति में सत्ता-निरपेक्ष 'दिव्य-आलोक' समा चुका था और अनुभूति में किसी साक्ष्य अथवा प्रमाण की अपेक्षा नहीं हुआ करती।

कभी-कभी संतों की साधना-पद्धति को लेकर भी आलोचना की जाती है। परन्तु, कदाचित् यह भुला दिया जाता है कि साधना केवल साधन-मात्र है, साध्य नहीं। यही कारण है कि कबीर से लेकर गांधी तक की साधना-पद्धति में अंतर लक्षित होता है। वास्तव में साधना युग-सापेक्ष है, जबकि साध्य शाश्वत। वह साध्य है सत्य का साक्षात्कार, जो अनुभूति का विषय है। इसी सत्य-निष्ठा के बल पर उन्हें विरोधी अथवा बाधक तत्त्वों से जम कर लोहा लेने में कभी कोई संकोच वा हिचक नहीं हुई है। फलस्वरूप अपनी आस्था के प्रति वे अडिग बने रहते आये हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष अपने पोषक छालों के अशक्त होने पर उन्हें चिटखा कर झाड़ फेंकता है, उसी प्रकार संत मृत-परंपराओं को ढोता नहीं, अपितु निर्मम भाव से उनसे छुटकारा पा लेता है। इस कारण उसे उनका कोई मोह नहीं सताता है। समाज में उसे जब कभी अनर्थ होता दिखायी देता है तो वह समाज-विश्लेषण से अधिक आत्म-निरीक्षण और परीक्षण करता है। क्योंकि उसका मत विचार-प्रधान न होकर आचार-मूलक है। उनके यहाँ जीवन को सतत प्रवाह के रूप में देखा गया है। उसके विभिन्न मोड़ों को ही उसका आदि अथवा अंत

नहीं मान लिया गया है। इसीलिए उसके मूल्यों में एक लंबी अवधि के बाद भी कोई वैसा अंतर प्रवेश नहीं पा सका है जैसा कि जीवन को खंड रूप में देखने वालों की मान्यता है।

संतों तथा संतमतावलंबियों की सार्थकता का मूल्यांकन करते समय, इसी प्रकार उनकी सफलता-असफलता का विश्लेषण-विवेचन किया जाता है। इस संदर्भ में अनेक प्रकार की सामाजिक असंगतियों तथा विकृतियों का उल्लेख करते हुए उनके प्रादुर्भाव और ठहराव में उनके योगदान की कटु आलोचना तक की जाती है। कभी-कभी तो वर्तमान विज्ञान-युग के लिए उन्हें सर्वथा अनुपयोगी तथा अनुपयुक्त तक घोषित कर दिया जाता है। परन्तु ऐसे लोग क्या किसी स्वस्थ तथा समुन्नत समाज के निर्माण में सत्यनिष्ठ चरित्रवान् व्यक्तियों की अपेक्षा नहीं करते ? यदि नहीं करते तो क्या वैसी दशा में सशक्त समाज का गठन संभव है ? किसी आदर्श समाज की कसौटी उसके चरित्रवान् नागरिक होंगे अथवा कोई और ? क्या किसी शासन विहीन आदर्श राज्य के साकार होने की कल्पना आत्मानुशासन के अभाव में की जा सकती है। फिर, यदि अपेक्षा करते हैं तो आदर्श चरित्रवान् संत-कोटि से पृथक् अन्यत्र कहाँ सुलभ होंगे ? यहाँ यह भी स्मरण रखना अभीष्ट है कि अपने दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति और समाज के बीच संत लोग वैसा भेद स्वीकार नहीं करते जैसा कि आज मानने की परिपाटी है। वे सीधे समाज के सुधार में आत्म-सुधार की कल्पना नहीं करते, अपितु अपने व्यक्तित्व के निखार में ही समाज का परिष्कार देखते हैं।

जहाँ तक संतों की सफलता-असफलता का प्रश्न है इसका आरोप संसार के किसी भी महान् व्यक्ति पर लागू किया जा सकता है। उनके अनुयायियों की विफलता के नाम पर उन्हें भी घसीटा जा सकता है। किन्तु क्या ऐसा करना कभी वांछनीय कहला सकता है ? वैसी दशा में अभीष्ट संभावनाओं के लिए अवकाश कहाँ रह जायेगा ? सामाजिक उथल-पुथल तथा विशृंखलताओं में भी हमें चरित्रवान् व्यक्तियों की रहनी द्वारा ही उज्वल भविष्य का आश्वासन मिला करता है।

संत-परंपरा-विषयक अध्ययन का महत्व अधिकतर उपर्युक्त कार्य के लिए उपयुक्त क्षेत्र का केवल ज्ञान प्राप्त करने मात्र में ही ढूँढ़ा जा सकता है। इस कारण इसका रूप अधिक-से-अधिक परिचयात्मक ही कहला सकता है। इसका आरंभ पहले-पहल केवल सामान्य रूप में किया गया था जो संभवतः इसकी एक रूपरेखा मात्र प्रस्तुत कर सकता था। तदनुसार जैसे-जैसे इस विषय में खोज होती जा रही है अथवा नवीन तथ्यों का पता चलता जा रहा है तथा जैसे-जैसे ऐ

बातों पर विचार करते जाने पर हमें इसके विषय में कुछ-न-कुछ ज्ञान की वृद्धि होती जा रही है और हम उसका रहस्य समझने की ओर क्रमशः अग्रसर होते जा रहे हैं, उसी अनुपात में इसमें गंभीरता भी आ सकती है। इस कारण संभव है कि इसके लिए किये गए उपर्युक्त यत्नों का संबंध आगे भी इसी प्रकार सीमित न रह जाय, प्रत्युत अन्यान्य संत-परंपराओं के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन होते जाने अथवा स्वयं इसी से संबद्ध नवीन रहस्यों के प्रकाश में आ जाने पर अनेक ऐसे प्रसंगों पर भी विचार किया जाने लगे जो न केवल बहुत व्यापक, अपितु इसके साथ ही अत्यंत उपयोगी भी सिद्ध हो सकें।

मैंने अपने प्रस्तुत प्रयास में कहीं किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं किया है। मुझे जो सामग्री जिस रूप में मिली है उस पर विचार करके उसका मैंने उपयोग किया है। ऐसा करते समय मुझे प्रायः अन्य अनेक लेखकों के भी मतों को अपने ध्यान में रखना पड़ा है, किंतु जो व्याख्या की गई है वह बहुत कुछ अपनी ही है। इस कारण मैं उसके दायित्व से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं किया जा सकता। मेरे इस कार्य की आलोचना भी कम नहीं हुई है और जैसा मैंने ऊपर कहा है, उनमें से कुछ के मैंने कुछ-न-कुछ उत्तर भी दिये हैं। परन्तु यह संभव नहीं कि इस प्रकार सब किसी के द्वारा उठाये गए विविध प्रश्नों का पूरा समाधान किया जा सके। पुस्तक की वर्ण्य-विषय संबंधी अनेक बातें अभी विवादग्रस्त कही जाने की स्थिति में हैं। इस कारण मतभेद का पाया जाना यहाँ पर किसी-न-किसी रूप में अनिवार्य तक भी बतलाया जा सकता है। अतएव अंतिम निर्विवाद सत्य की अभी कोई आशा न करते हुए अपने मत में केवल संगति और सचाई मात्र को यथासाध्य प्रतिष्ठित रखने की आवश्यकता है जिसके लिए भरसक पूरा यत्न किया गया है।

इस संस्करण को वर्तमान रूप देने में जिधर से मुझे प्रेरणा मिली है उसकी चर्चा पहले ही कर चुका हूँ। इसके लिए विभिन्न सामग्रियों को सुलभ करने तथा कभी-कभी उपयुक्त सुझाव देने का काम अन्य लोगों ने भी किया है। मैं उन सभी को हार्दिक धन्यवाद देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। उनमें अपने प्रिय अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को मैं प्रमुख स्थान देना चाहता हूँ जिनकी सामयिक सहायता से ही इसे प्रस्तुत कर पा रहा हूँ।

बलिया
कार्त्तिकी पूर्णिमा
सं० २०२०

—परशुराम चतुर्वेदी

प्रथम संस्करण का वक्तव्य

आज से २० वर्ष पूर्व मैंने कबीर-साहित्य का अध्ययन स्वतंत्र रूप से आरंभ किया था और प्रसंगवश अन्य संतों की भी रचनाएँ पढ़ी थीं। उन दिनों 'संत-साहित्य' शीर्षक मेरा एक निबंध भी प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका (अक्टूबर, सन् १९३१ ई०) में प्रकाशित हुआ था। तब से मैंने अपना अध्ययन और अनुशीलन अपने ढंग से ही कायम रखा और उसके परिणामों को भिन्न-भिन्न लेखों के रूप में प्रकाशित भी करता गया। इधर के उपलब्ध साहित्य ने मेरी धारणाओं को जहाँ तक पुष्ट और परिमार्जित किया है, उसे सबके समक्ष रखने के ही यत्न में यह पुस्तक लिखी गई है जो मेरे अनुसार किये गए विषय-विभाजन की दृष्टि से इस ग्रंथ का केवल प्रथम खंड ही कही जा सकती है। इसमें केवल संत-परंपरा का परिचय देने की चेष्टा की गई है; इसके अन्य दो खंडों का संबंध क्रमशः 'संत-साहित्य' तथा 'संत-मत' से रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य विषय इस प्रकार उस संत-परंपरा से परिचित करा देना मात्र है जो कबीर साहब के साथ उत्तरी भारत में आरंभ हुई थी और जिसकी रचनाएँ हिंदी में उपलब्ध हैं। कबीर साहब के कतिपय पूर्ववर्ती व्यक्तियों में भी संतों के अनेक लक्षण पाये जाते हैं, किन्तु वे सभी बातें उनमें पूर्णतः विकसित हुई नहीं दीख पड़तीं। कबीर साहब के समय से ऐसे लोगों का एक ताँता-सा लग जाता है, जो उनसे प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित न रहते हुए भी, लगभग उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं। ये लोग भी पहले स्वतंत्र साधक ही रहा करते हैं, किन्तु आगे चल कर इनके पंथ वा सम्प्रदाय भी बनने लग जाते हैं। इनका ध्यान तब से अपनी व्यक्तिगत साधना की ओर से अधिक सामूहिक संगठन तथा प्रचार की ओर भी बँटने लग जाता है और इनका प्रधान लक्ष्य क्रमशः छूटता चला जाता है। किन्तु जिस परिस्थिति ने इस परंपरा को सर्वप्रथम जन्म दिया था, उसके प्रायः उसी रूप में वर्तमान रहने के कारण अंत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक नई लहर एक बार फिर जागृत हो उठती है।

संत-परंपरा के अंतर्गत सम्मिलित किये जाने वाले संतों का चुनाव करते समय सबसे अधिक ध्यान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है जिन्होंने

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब वा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धांतों और साधनाओं को किसी-न-किसी प्रकार अपनाया था। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान देना पड़ गया है जो सूफियों, सगुणोपासकों, नाथ-पंथियों वा अन्य ऐसे सम्प्रदायों के साथ संबद्ध रहते हुए भी संत-परंपरा में गिने जाते आए हैं और जो अपने संतमतानुकूल सिद्धांतों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त संतों के अत्यंत निकटवर्त्ती समझे जा सकते हैं। संतों की 'रहनी' में लक्षित होने वाला 'सहजभाव' एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी असाधारण व्यक्ति के जीवन-स्तर को बहुत ऊँचा कर देती है। महात्मा गांधी ने कबीर साहब आदि संतों की भाँति पदों वा साखियों की रचना नहीं की, न उनकी भाँति उपदेश देते फिरने का ही कोई कार्यक्रम रखा। परन्तु जिस प्रकार उन्होंने अपने निजी अनुभवों के आधार पर अपने सिद्धांत स्थिर किये और उन्हें अपने जीवन के प्रत्येक पल में व्यवहृत कर दिखलाया, वह ठीक उन संतों के ही अनुसार था।

पुस्तक के लिखते समय मुझे संतों की रचनाओं के अतिरिक्त उन अनेक लेखकों की कृतियों से भी सहायता मिली है जिन्होंनेइस विषय पर किसी-न-किसी रूप में विचार किया है और जिन सभी से पूर्णतः सहमत न होते हुए भी मैंने बहुत लाभ उठाया है। इसके सिवाय मैं उन लेखकों का भी ऋणी हूँ जिनकी रचनाओं में पायी जाने वाली कतिपय सामग्रियों के आधार पर मैंने इस पुस्तक में दिया गया ऐतिहासिक ढाँचा खड़ा किया है और जिनकी कृतियों के उल्लेख मैंने यथास्थल कर देनेका यत्न भी किया है। ऐसे साहित्य की प्रकाशित रचनाओं के लिए मैं 'काशी विद्यापीठ' तथा हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ जिनके सौजन्य से मुझे कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ देखने को मिल गए। अप्रकाशित रचनाओं में से कुछ को देखने और अध्ययन करने का अवसर मुझे जयपुर के स्व० हरिनारायण शर्मा तथा बलिया के श्री जानकीनाथ त्रिपाठी और बाबू श्रीराम की सहायता से मिला है। इसके लिए इन सज्जनों का मैं आभारी हूँ। परन्तु इस संबंध में मैं अपने प्रिय अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को भी नहीं भूल सकता जिन्होंने मुझे सभी प्रकार से एक सच्चे सहोदर का सहयोग प्रदान किया।

इस पुस्तक में प्रमुख संतों के उपलब्ध चित्रों को भी यथास्थल दे देने का विचार था और इसके लिए कुछ ऐसे चित्र एकत्र भी कर लिए गए थे, किन्तु इस कार्य को व्यय-साध्य समझ कर इस बार स्थगित कर देना पड़ा। इसमें अभी

केवल कबीर साहब के ही कुछ चित्र दिये जा रहे हैं जिनमें से पहला श्री कृपाल सिंह जी (प्राध्यापक, कला-विभाग, शांतिनिकेतन) की कृति है। इस भावपूर्ण चित्र को आपने विशेषकर इस पुस्तक के लिए ही प्रस्तुत किया है जिसके लिए आपका मैं परम कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक में छपाई-सम्बन्धी कुछ भूलें रह गई हैं, परन्तु कागज की कमी के कारण शुद्धि-पत्र नहीं जा रहा है जिसके लिए मुझे अत्यंत खेद है।

बलिया
महाशिवरात्रि
सं० २००७

—परशुराम चतुर्वेदी

भूल-सुधार

पृ० ६३३ से पृ० ६५० तक भूल से ६ शिवनारायणी सम्प्रदाय छप गया है जो वास्तव में क्रमानुसार ८ संख्यक होना चाहिए जैसा कि विषयानुक्रम में दिया गया है।

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय
भूमिका

१· विषय-प्रवेश

'संत' शब्द

'संत' शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान्[१], पवित्रात्मा[२], सज्जन[३], परोपकारी[४] वा सदाचारी[५] व्यक्ति के लिए किया गया मिलता है। कभी-कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु एवं महात्मा-जैसे शब्दों का भी पर्याय समझ लिया जाता है। किंतु कुछ लोग इसे 'शांत' शब्द का रूपांतर होना ठहराते हैं और कहते हैं कि उस विचार से इसका अभिप्राय 'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते अस्य' के अनुसार 'ब्रह्मानन्द-सम्पन्न व्यक्ति' होना चाहिए। बौद्धों के पालि-भाषा में लिखित प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथ 'धम्मपद' में भी यह शब्द कई स्थलों पर शांत के अर्थ में ही प्रयुक्त दीख पड़ता है[६]। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'संत' शब्द को 'सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति' के आधार पर बने हुए 'संति' वा 'संत्य' शब्द का विकृत रूप समझते हैं और इसका अर्थ 'फलदाताओं में श्रेष्ठ' बतलाते हैं[७]।

---

१. 'संतः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।'—कालिदास।
तथा, 'तं संतः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः'—कालिदास।

२. 'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयंहि तीर्थालि पुनन्ति संतः।'—
भागवत, स्कं० १, अ० १९, श्लोक ८।

३. 'बंदों संत असज्जन चरणा। दुखप्रद उभय बीच कछु बरणा॥'—
रामचरित मानस।

४. 'संतः वयं परहिते विहिताभियोगाः।'—भर्तृहरि।

५. 'आचारलक्षणों धर्मः, संतश्चाचारलक्षणाः।'—महाभारत।

६. 'अधिगच्छे पदे संतं सङ्खारूपसमं सुखं।'—भिक्खुवग्ग, गाथा ९।
'संतं अस्स मनंहोति।'—अर्हतवग्ग, गाथा ७।

७. 'गार्हपत्येन संत्य ऋतुना यज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज'॥ १२॥
—ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १५।

इसके सिवाय एक अन्य मत के अनुसार, कुछ दूसरे लोग इसे 'सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति' का आश्रय ग्रहण कर इसका अर्थ 'लोकानुग्रहकारी' भी सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु ये उक्त सभी अनुमान प्रधानतः 'संत' शब्द द्वारा सूचित व्यक्तियों की प्रशंसा के ही द्योतक जान पड़ते हैं। इस प्रकार की कल्पनाएँ प्रायः वैसी ही हैं, जैसी इस शब्द को अंग्रेजी शब्द 'सेंट'[1] का समानार्थक समझ कर उसका हिंदी-रूपांतर मान लेने पर भी की जा सकती है। अतएव 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके प्रयोगों द्वारा व्यक्त होनेवाले आशय का क्रमिक विकास जानने के लिए अन्यत्र खोज की जानी चाहिए।

व्युत्पत्ति

'संत' शब्द हिंदी भाषा के अंतर्गत एकवचन में प्रयुक्त होता है, किंतु यह मूलतः संस्कृत शब्द 'सन्' का बहुवचन है। 'सन्' शब्द भी अस् भुवि (अस्= होना) धातु से बने हुए 'सत्' का पुल्लिंग रूप है जो 'शतृ' प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल 'होनेवाला' वा 'रहनेवाला' हो सकता है। इस प्रकार 'संत' शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्व' मात्र का ही बोधक है और इसका प्रयोग भी इसी कारण, उस नित्य वस्तु वा परमतत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो 'सदा एकरस तथा अविकृत रूप में विद्यमान' रहा करता है और जिसे 'सत्य' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। इस शब्द के 'सत्' रूप का, ब्रह्म वा परमात्मा के लिए किया गया प्रयोग बहुधा वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। जैसे, 'छान्दोग्य उपनिषद्'[2] में कहा गया है कि "आरंभ में एक अद्वितीय 'सत्' ही वर्तमान था।" इसी प्रकार 'ऋग्वेद'[3] में भी एक स्थल पर आया है कि "क्रान्तदर्शी विप्र लोग उस एक एवं अद्वितीय 'सत्' का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते हैं।" 'संत' शब्द का उक्त अर्थ अपभ्रंश की पुस्तक 'पाहुड़ दोहा'[4] में भी किया

---

१. Saint (सेंट) शब्द, वस्तुतः लैटिन Sancio (सैंशियो=पवित्र कर देना) के आधार पर निर्मित, Sanctus (सैंक्टस) शब्द से बनता है जिसका अभिप्राय, इसी कारण 'पवित्र' होता है और वह ईसाई धर्म के कतिपय प्राचीन महात्माओं के लिए 'पवित्रात्मा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्।' (द्वितीय खंड, १)

३. 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं संतं बहुधा कल्पयन्ति'। ऋग्वेद (१०-११४-५)

४. 'संतु णिरंजणु सोजि सिउ, तर्हि किज्जउ अणुराउ।' 'पाहुड़ दोहा' (कारंजा जैन सिरीज, ३८) तथा, 'संत णिरंजणु तर्हि बसइ, णिम्मल होइ गवेसु'-वही, ६४।

गया जान पड़ता है; क्योंकि वहाँ भी यह परमतत्त्व के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस कारण 'तैत्तिरीय उपनिषद्'[१] में भी, संभवतः इसी आधार पर कहा गया है कि "यदि कोई पुरुष 'ब्रह्म असत् है', जानता है, तो वह स्वयं भी 'असत्' हो जाता है और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है', तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे भी 'सत्' समझा करते हैं।" इसके सिवाय, कुछ प्रसिद्ध महात्माओं ने भी संत एवं परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं माना है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि "संत को अनंत के ही समान जानो"।[२] गरीबदास ने बतलाया है कि "संत एवं साँई दोनों ही एक समान हैं, इस बात में किसी प्रकार के मीन-मेष करने की आवश्यकता नहीं।[३] इसी प्रकार पलटू साहब ने भी कहा है कि "संत तथा राम में कोई भी भेद नहीं मानना चाहिए।"[४] अतएव 'संत' शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो, इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है, वही संत है।

'सत्' शब्द

परन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'सत्' शब्द के कुछ अन्य अर्थ भी बतलाये गए हैं। उसमें कहा गया है कि 'सत्' शब्द, 'ॐ तत्सत्,' वाक्य में, ब्रह्म का निर्देश करता है[५]; किंतु फिर भी, इसका उपयोग 'अस्तित्व' एवं 'साधुता' के अर्थ में किया जाता है। इसी प्रकार, प्रशस्त तथा अच्छे कर्मों के लिए, भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप तथा दान में स्थिति अर्थात् स्थिर भावना रखने को भी सत् कहते हैं। इसके निमित्त जो काम करना हो, उस कर्म का नाम भी 'सत्'

---

१. 'असन्नेव सभवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेतिचेद् वेद संतमेनं विदुर्बुधाः' व० ६–१ । मुण्डक (६–२–६) भी ।

२. 'जानेसु संत अनंत समाना'—रामचरित मानस (उत्तरकाण्ड) ।

३. 'साँई सरीखे संत है यामे मीन न मेख'—गरीबदासजी की बानी (वे० प्रे० प्रयाग) पृष्ठ ८७ ।

४. 'संत औ रामकौ एक कै जानियै, दूसरा भेद ना तनिक आनै'—पलटू साहब की बानी' (वे० प्रे० प्रयाग, भाग २) पृष्ठ ८ । ज्ञानेश्वरी (अ० १२।२-३) भी ।

५. 'ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।'—गीता, १७, २३ । दे० कठ० (२-६-१२) 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथंतदुपलभ्यते ।'

ही है।[1] इस कारण स्पष्ट है कि सत्पदवाची वा संत होने के लिए केवल ब्रह्मनिष्ठ हो जाना ही पर्याप्त नहीं। इसके लिए स्वभावतः कतिपय अन्य गुण भी विवक्षित हैं जिन्हें उक्त प्रकार से, क्रमशः, 'साधुभाव' अर्थात् सर्वभूतहित सुहृद्भाव, 'प्रशस्त कर्म' वा सत्कार्य करने की क्षमता, 'यज्ञ तप तथा दान' आदि कर्म करते रहने की ओर प्रवृत्ति एवं 'तदर्थ' अर्थात् सब कुछ परमेश्वर के लिए वा निष्काम भाव से करने का अभ्यास कहकर गिनाया जा सकता है। इनमें से भी यदि यज्ञ, तप तथा दान आदि कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को किसी प्रकार प्रशस्त कर्म करने की क्षमता में ही सम्मिलित कर लिया जा सके. तो चार गुण ही शेष रह जाते हैं। इन्हें उसी ग्रंथ के एक दूसरे प्रसंग[2] में, "हे पांडव, जो इस बुद्धि से काम करता है कि सब कर्म परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण वा संगवजित है और सभी प्राणियों के विषय में निर्वैर रहा करता है, वही मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है" कह कर बतलाया गया है और जिनके साथ उपर्युक्त गुणों से पूरा मेल भी बैठ जाता है।

संतों के लक्षण

कबीर साहब ने अपनी एक साखी में कहा है[3] कि "संतों का लक्षण उनका निर्वैरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है"। इसी प्रकार तुलसीदास ने भी श्रीरामचन्द्र द्वारा संतों की महिमा कहलाते हुए, "सभी सांसारिक संबंधों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों के बटोर लेने, उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बँटकर उसे प्रभु-चरणों में बाँध देने, समदर्शी बने रहने तथा किसी प्रकार की कामना न रखने को[4]" ही उनके प्रधान लक्षण ठहराए हैं। संत की परिभाषा के अंतर्गत इस प्रकार, विषयों के प्रति निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, सद्रूप परमतत्त्व में एकांतनिष्ठ रहा करना, सभी प्राणियों के प्रति सुहृद्भाव

---

१. 'सद्भाव साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥' २७ ॥

२. 'मत्कर्मकृन्मत्परमो, मद्भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव।' गीता अ० ११-५५।

३. 'निरबैरी निहकामता, साँईं सेंती नेह। विषिया सूं न्यारा रहै संतनि को अँग एह ॥'
—कबीर ग्रंथावली, काशी संस्करण (२६,१ पृ०५०)

४. 'सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥'
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं।'आदि...रामचरित मानस (सुन्दरकांड)।

रखते हुए किसी के प्रति वैर-भाव न प्रदर्शित करना तथा जो कुछ भी करना उसे निःसंग होकर निष्काम भाव के साथ करना समझे जा सकते हैं[१]। सारांश यह कि संत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिए उनका पूर्णतः आत्म-निष्ठ होने के अतिरिक्त, समाज में रहते हुए निःस्वार्थ भाव से विश्व-कल्याण में प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है। 'संत' शब्द का यह अर्थ वस्तुतः बहुत व्यापक है और इसमें वैसे व्यक्ति-विशेष की 'रहनी' तथा 'करनी' के बीच एक सुन्दर सामंजस्य भी लक्षित होता है।

रूढ़िगत 'संत' शब्द

फिर भी पता चलता है कि 'संत' शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तों के लिए ही होने लगा था जो विट्ठल वा वारकरी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे और जिनकी साधना निर्गुण-भक्ति के आधार पर चलती थी। इन लोगों में ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम-जैसे भक्तों के नाम लिये जाते हैं जो सभी महाराष्ट्र प्रान्त से संबद्ध थे। 'संत' शब्द उनके लिए क्रमशः रूढ़-सा हो गया था[२] और कदाचित् अनेक बातों में उन्हीं के समान होने के कारण, उत्तरी भारत के कबीर साहब तथा अन्य ऐसे लोगों का भी पीछे वही नामकरण हो गया।[३] इन संतों में से प्रायः सभी ने 'संत' शब्द की व्याख्या की है और संतों की रहनी तथा करनी के उक्त सामंजस्य की ओर ध्यान देने की

---

१. बौद्ध धर्मानुसार बोधिसत्व का आदर्श बतलाते हुए जिन गुणों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, उनमें भी उक्त लक्षणों को ही कदाचित् क्रमशः 'उपेक्खा' (उपेक्षा), 'पञ्ञा (प्रज्ञा), 'मेत्ता' (मैत्री) तथा 'नेक्खम्म' (निष्काम) कह कर गिनाया गया है। दे० भिक्खु नारद थेरो रचित 'दि बोधिसत्त आइडियल' (अड्यार, मद्रास)।

"Now 'Santa' is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya. Not that the followers of other Sampradayas are not 'Santas' but the followers of the Varkari Sampradayas are santas par excellence"—Mysticism in Maharastra by Prof. R.D. Ranade (Poona, 1933) p. 42.

३. डॉ० बर्थ्वाल ने इन संतों को 'निर्गुण-पंथी' वा 'निरगुनिया' कहना अधिक उचित माना है और तदनुसार उन्होंने इनके मार्ग को भी Nirgun School वा निर्गुणपंथ नाम से अभिहित किया है। 'निर्गुण-पंथ' शब्द से व्यक्त होता है कि इसके अनुयायी परमतत्त्व को केवल 'निर्गुण' ही मानते थे जो इस

चेष्टा भी की है। किंतु साधना-भेद के कारण उनके वर्णनों में बहुधा ज्ञान, भक्ति एवं आचरण की प्रधानता के अनुसार सूक्ष्म अंतर भी दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए विचार-पद्धति को प्रधानता देनेवाले संतों ने आदर्श संत के लिए स्वभावतः सद्विवेक के प्रयोग में दक्ष होना सबसे आवश्यक माना है। भक्ति-भाव-द्वारा अधिक प्रभावित संतों ने उसका परम रहस्य से पूर्ण परिचित होना तथा उसके साथ तद्रूपता का अनुभव करना अंतिम लक्ष्य बतलाया है। उसी प्रकार, आचरणवाद के समर्थकों ने उसकी अलौकिक रहनी पर भी अधिक बल दिया है। परन्तु इन सभी संतों का लक्ष्य, मानव जीवन को समुचित महत्त्व प्रदान करने, उसका आध्यात्मिक आधार पर पुनर्निर्माण करने, उसे इसी भूतल पर जीवन्मुक्त बनकर सानन्द यापन करने, तथा साथ ही विश्व-कल्याण में सहयोग देने का भी जान पड़ता है। इन्होंने अपने सिद्धांत को भी बहुधा 'संत-मत' ही नाम दिया है। आदर्श संत की स्थिति को 'संत-देश' में निरंतर निवास द्वारा व्यक्त किया है और प्रायः सबने किसी न किसी रूप में, अपने को एक विशेष वा विलक्षण परंपरा का व्यक्ति होना भी स्वीकार किया है।

दक्षिण तथा उत्तर के संत

उत्तरी भारत के इन संतों ने अधिकतर फुटकर पदों की रचना की है, जो इनकी 'बानियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बहुतों ने साखी, रमैनी अथवा कवित्त, सवैया-जैसे विविध छंदों में भी अपने उपदेशों को व्यक्त किया है। इनके तीन-चार प्रबंध-ग्रंथ भी मिलते हैं, किंतु उनकी रचना शिथिल जान पड़ती है। दक्षिण भारत के संतों में ज्ञानदेव और एकनाथ ने प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों पर अपनी टीकाएँ भी रची हैं। उन्हें अपने विचारों को प्रकट करने का माध्यम बनाया है, किंतु उत्तरी भारत के संतों में यह प्रवृत्ति बहुत कम दीख पड़ती है। ये लोग, कुछ को छोड़ कर, केवल साधारण श्रेणी के पढ़े-लिखे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने भाव का

प्रसंग में, वास्तविकता के विरुद्ध जाता है। कबीर साहब आदि सभी संतों ने निर्गुण वा सगुण से परे किसी अनिर्वचनीय वा अज्ञेय, किंतु अंशतः अनुभवगम्य, वस्तु को परमतत्त्व माना है और निर्गुण तथा सगुण का वहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जान पड़ता है कि 'निर्गुण-पंथ' शब्द का प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों के सम्प्रदायों से इसकी विभिन्नता दिखलाने के लिए होने लगा था। किंतु पीछे, संत-परंपरा के कुछ दिन चल निकलने पर 'संत-मत' शब्द का ही प्रयोग, संभवतः विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के किसी चरण में विशेष रूप से होने लगा। —लेखक।

प्रकाशन किसी प्रकार टूटे-फूटे शब्दों में ही किया और जिनकी रचनाएँ बहुत कुछ स्वतंत्र हैं।। दक्षिण भारत के संतों में से कई एक भजनानंदी भी थे जो एकांत में वा कभी-कभी मूर्तियों के समक्ष करताल बजाकर गाया तथा नाचा तक करते थे। किंतु उत्तरी भारत के संतों में इस प्रकार के उदाहरण कम देखने को मिलते हैं और ये लोग यदि गाते-बजाते हुए भी सुने जाते हैं, तो इनकी चेष्टाएँ संत-मंडलियों तक ही सीमित रहती हैं। फिर भी उक्त दोनों प्रकार के संत, अधिकतर गार्हस्थ्य-जीवन में ही रह कर अपनी साधना करते रहे, साम्प्रदायिक वेशभूषा वा विडंबनाओं से सदा तटस्थ रहे। सामाजिक भेद-भावों को हटाने के लिए उपदेश देते रहे और सबके प्रति प्रेम और उपकार के भाव प्रदर्शित करते रहे। इनके सरल तथा सात्विक जीवन में अहिंसा और अपरिग्रह को बराबर महत्त्व दिया गया। इन्होंने स्तुति, निंदा वा मानापमान की कभी परवाह न करते हुए अपने छलछद्मरहित शुद्ध व्यवहार द्वारा सब किसी को सुख एवं शांति पहुँचा कर ही स्वयं आनन्दित होने की चेष्टा की।

पारस्परिक संबंध

दक्षिण भारत के संतों की परंपरा में जिस प्रकार उक्त ज्ञानदेव आदि के नाम आते हैं, उसी प्रकार उत्तरी भारत की संत-परंपरा के अंतर्गत कबीर साहब, रविदास, गुरुनानक, दादूदयाल आदि के नाम लिये जाते हैं। किंतु दक्षिण भारत के संतों में ज्ञानदेव का जीवन-काल जहाँ विक्रम की १४वीं शताब्दी के द्वितीय चरण के कुछ ही आगे तक पड़ता है, वहाँ उत्तरी भारत के संत कबीर साहब का जीवन-काल, संभवतः उसकी १५वीं शताब्दी के अंतिम तीन चरणों से लेकर १६वीं के प्रथम चरण तक चला जाता है। इस प्रकार पहले क्रम के संत दूसरेवालों के पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। फिर भी दोनों परंपराओं के बीच किसी प्रत्यक्ष संबंध का कुछ भी पता नहीं चलता और न यही ज्ञात होता है कि पहले वाले दूसरे को कहाँ तक अपना ऋणी ठहरा सकते हैं। यह बात मानी जाती है कि दक्षिण भारत के संत नामदेव ने पंजाब प्रान्त में कुछ दिनों तक भ्रमण कर अपने उपदेश दिये थे और यह भी अनुमान किया जाता है कि उत्तरी भारत के कबीर साहब ने भी दक्षिण की ओर, संभवतः महाराष्ट्र प्रान्त तक अपनी यात्रा की थी। इसके सिवाय कबीर साहब ने अपनी रचनाओं में संत नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और उन्हें एक आदर्श भक्त माना है। कबीर साहब ने अपनी अनेक रचनाओं के अंतर्गत उक्त वारकरी संतों के प्रिय शब्द 'श्रीरंग' वा 'बीठुला' (विट्ठल) आदि के प्रयोग भी किये हैं। परन्तु केवल इतनी ही बातों के आधार पर उक्त दोनों परंपराओं के बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संबंध प्रमाणित

नहीं होता । नामदेव का नाम, उनके उक्त पंजाब-भ्रमण के कारण तथा उनकी कतिपय उपलब्ध हिंदी-रचनाओं के आधार पर उत्तरी भारत के संतों में भी लिया जाता है। वे कबीर साहब के पथ-प्रदर्शक एवं पूर्वकालीन संतों में सबसे प्रसिद्ध हैं । फिर भी उनमें उत्तरी भारत के संत-मत की सारी विशेषताएँ लक्षित नहीं होतीं और वे प्रधानतः अपने क्षेत्र तक ही रह जाते हैं ।

पथ-प्रदर्शक संत

कबीर साहब के लिए पथ-प्रदर्शन करनेवाले संतों में सर्वप्रथम नाम जयदेव का आता है, जो बहुत लोगों की धारणा के अनुसार बंग-प्रान्तीय होने के कारण उत्तरी भारत के ही निवासी कहे जाते हैं। वे नामदेव तथा ज्ञानदेव से भी लगभग १०० वर्ष पहले राजा लक्ष्मणसेन के यहाँ वर्तमान थे। इन जयदेव का भी नाम कबीर साहब ने नामदेव की भाँति बड़े आदर के साथ लिया है और उन्हें श्रेष्ट भक्तों में स्थान भी दिया है। जयदेव से नामदेव तक का समय उन संतों का आविर्भाव-काल है, जो विक्रम की ९वीं शताब्दी के सरहपा तथा शंकराचार्य से लेकर, १०वीं वा ११वीं शताब्दी के गुरु गोरखनाथ के समय तक तैयार किये गए तथा उनसे भी प्राचीन वा अर्वाचीन विविध भक्तों के भक्ति-भाव-द्वारा सिंचित क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे, किंतु जिनमें संत-मत को अंतिम रूप प्रदान करने की पूरी क्षमता न थी। इन्होंने अपने पहले से आती हुई नवीन धारा के प्रवाह में सहयोग प्रदान किया और उसकी एक प्रारम्भिक रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी । उस विशेष साधना से समन्वित विचार-धारा के रहस्य को सर्वप्रथम पहचानने तथा उसे स्पष्ट तथा व्यापक रूप देने का श्रेय कबीर साहब को ही दिया जा सकता है। इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के आलोक में इसके वास्तविक रूप का निरीक्षण किया तथा इसके महत्त्व द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर अपनी अपूर्व शैली की सहायता से सर्व-साधारण की धारणा में कायापलट उपस्थित कर दिया। कबीर साहब की इस देन को उनके परवर्त्ती प्रायः सभी संतों ने स्वीकार किया है। इसी कारण उन्हें बहुत-से लोग 'आदि-संत' कहते हुए भी पाये जाते हैं ।

उत्तरी भारत की संत-परंपरा

इस प्रकार कबीर साहब के उक्त पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती सभी संतों की परंपरा बहुत लंबी है जिसके अंतर्गत आनेवालों की संख्या भी अधिक है। इस परंपरा का आरंभ यदि, विक्रम की १३वीं शताब्दी के जयदेव से मान कर उसे २०वीं शताब्दी के महात्मा गाँधी तक वर्तमान समझा जाय, तो यह दीर्घ काल प्रायः ८००-९०० वर्षों का होता है, जिसे छोटी-मोटी विशेषताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न भागों में भी विभाजित कर सकते हैं। उनमें सम्मिलित किये जानेवाले

संतों के जन्मस्थान का क्षेत्र पूर्व की ओर जयदेव के बंग-प्रदेश से लेकर पश्चिम की ओर प्राणनाथ के काठियावाड़ तक तथा उत्तर की लालदेद के कश्मीर से लेकर दक्षिण की ओर सिंगाजी के मध्यप्रदेश तक विस्तृत समझा जा सकता है। किंतु दक्षिण भारत के संतों से इन्हें पृथक् करने के लिए इनकी परंपरा को 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा' ही कहना उचित होगा। उक्त विशाल भूखंड के निवासी स्वभावतः भिन्न-भिन्न बोलियों के बोलनेवाले थे, किंतु संत-मत की अपनी रचनाएँ उन्होंने अधिकतर हिंदी भाषा के माध्यम द्वारा कीं। इसके सिवाय जिन-जिन जातियों में उन संतों का जन्म हुआ था, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से लेकर अहीर, नाई, चमार, मोची, धुनिया और जुलाहे तक की कही जाती हैं। किंतु संत-मत के अनुयायी होने के नाते उन्होंने जातिगत विभिन्नता की सदा उपेक्षा की और शुद्ध मानव के रूप में वे सबको एक समान समझते रहे। उन्होंने स्वानुभूति तथा सदाचरण के उच्च आदर्शों की कसौटी पर ही कस कर पंडित वा मूर्ख अथवा राजा वा रंक का महत्त्व परखना चाहा। संतों के इस वृहद् समुदाय का स्तर इनके सीधे-साधे एवं साधारण होने पर भी अत्यन्त ऊँचा है और इनका विशाल साहित्य अनाकर्षक होता हुआ भी महत्त्वपूर्ण है।

विशेषता

उत्तरी भारत के इन संतों ने जिस मत का प्रचार किया और जिसे उन्होंने विश्वकल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक समझा, वह कोई नितांत नवीन संदेश न था और न भारतीयों के लिए उसका कोई अंश अपरिचित ही था। उसके प्रायः प्रत्येक अंग का मूल रूप हमारे प्राचीन साहित्य के किसी न किसी भाग में विद्यमान है और हमारे कई महान् पुरुषों ने उनके आधार पर लगभग इन संतों के ही समान अपने सुझाव रखने के यत्न किये हैं। परन्तु जैसा कि आगे के कुछ पृष्ठों से जान पड़ेगा, वे बातें काल पाकर सदा उपेक्षित बनती गई थीं और उनका प्रभाव कभी स्थायी न हो सका था। उन प्राचीन सूत्रों को लेकर अग्रसर होने की चेष्टा अपने-अपने ढंग से अनेक नवीन सम्प्रदायों ने भी की, किंतु वे भी अधिक दिनों तक एक भाव से स्थिर नहीं रह सके। बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हुए जिन्होंने समय-समय पर प्रतिगामिता की धारा को किसी प्रकार मोड़ने का साहस किया, किंतु उनके किये भी अधिक न हो सका। अंत में, कबीर साहब के समय से ऐसे महापुरुषों की एक परंपरा ही चल निकली जिसने इतने दिनों तक स्थिति की चौकसी की है। प्रारंभिक काल के संत आध्यात्मिक बातों को अधिक महत्त्व देते थे, जिस कारण उन्हें सुधारने के यत्न भी केवल धार्मिक दृष्टिकोण से किये जाते थे। किंतु, ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया है, उक्त

धार्मिक वातावरण में परिवर्तन वा संशोधन भी होते गए हैं और तदनुसार अनेक नवीन समस्याएँ खड़ी होती गई हैं। आधुनिक संतों को इसी कारण, अपने कार्यक्रम में कतिपय ऐसी बातों का भी समावेश करना पड़ा है, जो कदाचित् पहले संतों के अनुभव की न थीं।

संत-मत : स्वानुभूति

फिर भी संत-मत के मौलिक सिद्धांतों में किसी प्रकार का हेर-फेर नहीं आ सका है और वे ज्यों के त्यों अटल एवं अविच्छिन्न हैं। इन संतों का सबसे पहले यह कहना है कि प्रत्यक्ष अनुभव की सभी सांसारिक बातें क्षणिक तथा भ्रामक हैं और उनके आधार पर सत्य का पता लगाना असंभव-सा है। अतएव नित्य वस्तु के सच्चे खोजी के लिए आवश्यक है कि वह इस आवरण के भीतर विद्यमान मूल आधार का अन्वेषण करे। अनेक व्यक्तियों ने इस ओर पूरी चेष्टा की और वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सफल भी हुए हैं। उनके यत्नों के परिणाम उनकी रचनाओं में संगृहीत हैं जिनके आधार पर अन्य लोग भी उनके अनुयायी बन कर उसका प्रचार करते फिरते हैं। किंतु सत्य का स्वरूप अत्यन्त गूढ़ वा रहस्य-मय है। उसके अनादि एवं अनन्त होने के कारण भी उसे पूर्णतः अनुभवगम्य कर लेना अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। इस कारण संभव है कि एक के अनुभव की बात किसी अन्य के पक्ष में भी उसी प्रकार तथ्य न बन सके। फलतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह उस नित्य वस्तु का अनुभव अपने निजी ढंग से, यथाशक्ति उपलब्ध करने का अभ्यास करे। इस प्रकार जो कुछ भी अंश उस तत्त्व का उसे प्राप्त होगा वह 'अपना' होकर प्रकट हो सकेगा। उसके साथ तद्रूप की स्थिति में आकर हम अपने को उस नित्य वस्तु में मग्न भी कर सकेंगे। इस प्रकार की स्वानुभूति ही हमारे दृष्टिकोण को अधिक से अधिक व्यापक एवं विशाल करने में समर्थ होगी।

सद्गुरु

उक्त स्वानुभूतिपरक अभ्यास के लिए किसी प्रकार का पंडित वा गुणज्ञ होना अपेक्षित नहीं। किंतु कार्य अत्यन्त दुःसाध्य होने के कारण यह आवश्यक है कि इसके लिए पहले किसी अनुभवलब्ध तथा श्रद्धेय सद्गुरु की सहायता भी प्राप्त कर ली जाय। स्पष्ट है कि ऐसा सद्गुरु भी एक सच्चा पथ-प्रदर्शक व्यक्ति होना चाहिए, जो अपने निजी अनुभव की बातें ठीक ढंग से प्रत्यक्ष न करा सकने पर भी उसकी साधना के लिए पर्याप्त संकेत दे सके। ऐसे गुरु की योग्यता पर ही उसके शिष्य की सफलता निर्भर है, क्योंकि उचित मार्ग न पाकर साधक पथ-भ्रष्ट भी हो सकता है। शिष्य अपने गुरु में पूर्ण आस्था रखता है, उसके

प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है और तब कहीं उसके द्वारा कायक्षेत्र में लाया जा सकता है। फिर भी उस निर्दिष्ट मार्ग में साधक को अपने ही बल पर चलना पड़ता है और तदनुसार जो कुछ भी वह प्राप्त करता है, वह अपने ढंग की ही वस्तु होती है। परन्तु नित्य वस्तु केवल एक एवं अद्वितीय ही हो सकती है और उसके निर्मल, शुद्ध एवं एकरस होने के कारण उसका अंशतः अनुभूत स्वरूप भी स्वभावतः, अपने मूल रूप से किसी प्रकार भिन्न वा विजातीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी सच्चे साधकों की अपनी-अपनी वस्तु भी मूलतः सबकी कहला सकती है। तात्पर्य यह कि पृथक्-पृथक् भी किये गए अनुभवों का आधार एक ही होने से भेद-भाव के सभी कारण आप से आप नष्ट हो जायँगे, पारस्परिक साम्य का बोध होने लगेगा, तथा क्षणिक वा अनित्य वस्तुओं के बीच रहते हुए भी हम अपने को शांत, सुखी एवं सानंद पा सकेंगे।

कायापलट

संतों का कहना है कि उक्त प्रकार का अनुभव प्राप्त कर लेने पर किसी भी व्यक्ति के जीवन में कायापलट आ जाता है। इस कारण जिन-जिन बातों को वह अपनी पहली स्थिति में जटिल वा समस्याओं से परिपूर्ण समझा करता था, वे उसके समक्ष स्पष्ट वा सुघरी प्रतीत होने लगती हैं। उसके निकट किसी वाद एवं वितंडा को आश्रय नहीं मिलता और न किन्हीं काल्पनिक भेद-प्रभेदों के कारण उसे उनसे उलझना ही पड़ता है। उनके दृष्टिकोण का लक्ष्य सत्य रहता है—जिससे वह भी सदा स्थिर तथा निश्चल रहा करता है। जिस प्रकार घनाच्छन्न ध्रुवतारा के न दीख पड़ने पर भी, झंझावात के थपेड़ों से विचलित जहाज का नाविक दिशासूचक यन्त्र (Mariners' Compass) के कारण कभी पथभ्रष्ट नहीं होने पाता, उसी प्रकार सांसारिक प्रपंचों के द्वारा सदा परिवर्तित होती हुई स्थिति में भी वैसे दृष्टिकोणवाला महापुरुष कभी सन्मार्ग नहीं छोड़ता। फिर भी उत्तरी ध्रुव वा दिशासूचक यंत्र केवल वाह्य वस्तुएँ हैं और उनके प्रयोगों में कभी भूल भी हो सकती है, किंतु अपने भीतर के सधे हुए अंतःकरण में इस प्रकार की बाधाओं का उपस्थित होना असंभव-सा है। सधी वा सुस्थिर मनोवृत्ति अपने जीवन की चिरसंगिनी बन जाती है और उसकी निरंतर उपस्थिति सभी कार्यों को सहज रूप देकर हमें विपन्न होने से बचा लिया करती है। संतों ने उक्त दृष्टिकोण की एकतानता को सदा स्थिर रखने के लिए ही सुमिरन वा नाम-स्मरण की सहायता को इतना महत्त्व दिया है। जीवन में उक्त प्रकार से कायापलट हो जाने पर ही कोई वास्तविक संत की श्रेणी तक पहुँच पाता है और वैसी

स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर ही उन बातों के प्रचार करने का अधिकारी बन सकता है जो संत-मत के अंतर्गत आती हैं।

परम लक्ष्य एवं साधना

संत-मत के अनुसार सत्य वा परमतत्व एक अनिर्वचनीय वस्तु है, जो प्रत्यक्ष अनुभव में आकर भी अज्ञेय-सी है, जो निर्गुण वा सगुण दोनों से परे वा परात्पर है और जिसे संकेत रूप में हम 'पूर्ण', 'सर्वव्यापी', 'नित्य', 'एकरस', 'केवल' वा 'सहज' जैसे शब्दों द्वारा बहुधा प्रकट किया करते हैं। वही सत्य, परमतत्व के नाम से भी अभिहित होता है और उसी के साथ तद्रूपता वा तदाकारता का अनुभव कर कोई साधक फिर अपने को अमर की स्थिति में ला देता है। सृष्टि का प्रत्येक अंग क्षणभंगुर वा भ्रांतिमूलक है। फिर भी मानव-शरीर उसका सर्वोत्कृष्ट अंश है जिसके सहारे मनुष्य अपनी आभ्यंतरिक शक्ति के समुचित विकास द्वारा पूर्णता प्राप्त कर सकता है। यही पूर्ण व्यक्ति जीवन्मुक्त संत कहलाता है, जो प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम तथा सद्भाव प्रदर्शित करता है और उन्हें एक समान मानता है। संत के लिए सभी प्रकार के भेद-भाव कृत्रिम तथा अस्वाभाविक हैं, क्योंकि सभी कुछ उस भेदशून्य परमात्मा के अंग हैं। इसके विषय में व्यक्तित्व की भावना रखकर वह उसे परमपिता, परमगुरु, परमसहायक वा प्रियतम के रूप में अपनाये रहना चाहता है। संतों की साधना में, इसी प्रकार, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोग का पूर्ण सामजस्य है और वे आवश्यकतानुसार राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग वा कुंडलिनीयोग जैसी साधनाओं का भी उपयोग करने से नहीं चूकते। फिर भी इनकी प्रधान साधना अपने अंतःकरण को शुद्ध एवं निर्मल रखते हुए अपने सिद्धान्त वा व्यवहार में पूर्ण एकता लाने के यत्न में ही केन्द्रित है। हृदय की सचाई के सामने सभी प्रकार के वाह्याडंबर तुच्छ हैं और सादगी तथा सदाचरण ही सच्चे मानव की कसौटी हैं। इसी प्रकार संतों ने प्रवृत्ति वा निवृत्ति मार्गों के मध्यवर्त्ती सहजमार्ग को अपनाया है और विश्व-कल्याण में सदा निरत रहते हुए भूतल पर स्वर्ग लाने का स्वप्न देखा है।

साधना-भेद

उत्तरी भारत के इन संतों का लक्ष्य इस प्रकार बहुत उच्च है और वह 'संत' शब्द के पूर्व कथित मुख्य अभिप्राय का बोधक भी जान पड़ता है। इसमें आध्यात्मिक जीवन का निर्माण कर उसे सांसारिक जीवन में प्रतिफलित करने का कार्यक्रम निहित है। उसे यदि भली भाँति पूर्ण किया जा सके, तो सचमुच स्थायी सुख तथा शांति ला सकता है। संतों ने उक्त आदर्श को सबके समक्ष रखते समय अभीष्ट स्थिति को उपलब्ध करने के अनेक उपाय भी बतलाये हैं, जो अवस्थाभेद

के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग में लाये जा सकते हैं। साधनाओं की यह विभिन्नता अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आती है। उन्हें अपने संस्कार तथा सुभीते के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के साधक व्यवहार में लाते आए हैं। संतों को उनमें से किसी एक वा उससे अधिक के लिए कोई विशेष आग्रह नहीं। वे सभी को महत्त्वपूर्ण समझकर उनमें सामंजस्य लाना चाहते हैं और किसी भी प्रकार उस दशा को प्राप्त कर लेने की चेष्टा करते हैं जो उनका परम लक्ष्य है। आदि संत कबीर साहब ने सर्वप्रथम यही आदर्श अपने सामने रखा था और इसी धारणा के साथ वे अपने कार्य में अग्रसर भी हुए थे। परन्तु आगे चलकर उनके परवर्त्ती संतों ने कभी-कभी किसी विशेष प्रकार की साधना पर ही अधिक ध्यान दे दिया। इस कारण उनके आदर्शों पर उनके अनुयायियों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बन गए।

वर्ण्य विषय

भारतीय साधना की एक विशेष धारा बहुत पहले से चली आ रही थी जिसमें कई भिन्न-भिन्न प्रवाह सम्मिलित थे। ये प्रवाह भिन्न-भिन्न काल में पृथक्-पृथक् न्यूनाधिक बल ग्रहण करते आए। इनके एकांगी विकास के कारण, समाज में कभी-कभी विशृंखलता का भय भी उपस्थित होता आया। तदनुसार, इनके समन्वय की चेष्टा भी यदाकदा होती आई थी। संतों की परंपरा भी वस्तुतः ऐसे ही यत्नों में संलग्न व्यक्तियों के एक समुदाय को लक्षित करती है। भारतीय साधना के क्रमिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण युग सं० ८०० के लगभग समाप्त होता है जबकि देश के अंतर्गत भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं का संघर्ष उग्र रूप धारण कर रहा था और तत्कालीन विचारशील पुरुष उन्हें व्यवस्थित करने में दत्तचित्त हो रहे थे। उनके यत्नों ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को जन्म दिया जिनकी शृंखला बहुत दिनों तक चलती आई। कबीर साहब आदि संतों ने इन सम्प्रदायों में भी सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की। इस प्रकार एक नवीन परंपरा की नींव डाल दी, जो तब से आज तक चलती आ रही है।

काल-विभाजन

अतएव, भारतीय साधना के उक्त क्रमिक विकास के सम्पूर्ण इतिहास में सुभीते के अनुसार हम निम्नलिखित काल-विभाग कर सकते हैं—

१. भारतीय साधना का प्रारंभिक विकास, सं० ८०० तक;

२. साम्प्रदायिक रूप तथा सुधार तथा पूर्वकालीन संत सं० ८०० से १४०० तक;

३. कबीर साहब और उनके समसामयिक संत, सं० १४०० से १५५० तक;

४. पंथ-निर्माण का सूत्रपात, सं० १५५० से १६०० तक;

५. प्रारंभिक प्रयास, सं० १६००. से १७०० तक;

६. समन्वय वा साम्प्रदायिकता, सं० १७०० से १८५० तक;

तथा ७. समीक्षा वा पुनरावर्तन, सं० १८५० से;

इनमें से प्रथम दो के परिचय द्वारा यह पता चल सकता है कि भारतीय साधना-धारा के मूल स्रोत क्या थे, उनका प्रारंभिक विकास किस प्रकार हुआ। उनमें से प्रत्येक प्रधान स्रोत को सबल बनाने में किन-किन शक्तियों ने किस-किस प्रकार योग प्रदान किया। उन सबके बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा पहले किस प्रकार की गई। इसके द्वारा हमें संतों की पूर्वकालीन स्थिति का बोध हो जा सकता है और हम उपर्युक्त वर्ण्य विषय को भलीभाँति समझने में सहायता भी ले सकते हैं।

२. भारतीय साधना का प्रारंभिक विकास

साधना

किसी प्रधान उद्देश्य को ध्यान में लाकर उसके निमित्त आवश्यक यत्न करने की क्रिया को बहुधा 'साधना' की संज्ञा दी जाती है। उसका मुख्य लक्ष्य वा साध्य वस्तु या तो कोई ऐहिक सुख होता है अथवा पारलौकिक आनन्द हुआ करता है। इसकी सिद्धि के अस्तित्व में विश्वास रखकर साधक उसके लिए प्रवृत्त होता है और उसकी उपलब्धि की अवधि तक सदा सोत्साह यत्नशील रहना चाहता है। उक्त ऐहिक सुख का तात्पर्य भी सामान्यत: उस सुखमय जीवन से होता है जो एक सांसारिक व्यक्ति के लिए सदा अभीष्ट है। उसे वह अतुल संपत्ति, मनोवांछित ऐश्वर्य, स्वस्थ शरीर एवं सुखी परिवार से युक्त रह कर उपभोग करने की अभिलाषा रखता है। पारलौकिक आनंद भी उसी प्रकार, वह आदर्श स्थिति होती है जिसे प्रत्येक श्रद्धालु व्यक्ति अपने जीवन का अंत हो जाने पर प्राप्त करना चाहता है और जिसके स्वरूप का अनुमान वह अपनी कल्पना वा संस्कार के बल पर कर लिया करता है। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति वा सिद्धि के लिए कोई वाह्य शक्ति अपेक्षित रहती है जिसकी पूर्ण सहायता पर निर्भर होकर साधक, अपनी साधना में प्रवृत्त होता है। उसे इस बात में विश्वास भी रहता है कि नियमित रूप से उसे पूर्ण कर लेने पर मैं अवश्य सफल हो जाऊँगा। हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य में उक्त सारी बातें प्रस्तुत नहीं रहा करतीं और इसीलिए उन सभी को 'साधना' का नाम नहीं दिया जाता। साधना कहलाने योग्य अधिकतर वे ही कार्य होते हैं, जो दूसरे शब्दों

में धार्मिक कृत्य वा कर्म भी कहलाते हैं और जो एक आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है।

साधना के भेद

साधना प्रधानतः, या तो ज्ञान का आधार लेकर चलती है अथवा भक्ति का आश्रय लेकर की जाती है वा उसे संपन्न करने के लिए हमें विविध कर्मों का उपक्रम करना तथा उन्हें निश्चित नियमों के साथ अनुष्ठित करना पड़ता है। ज्ञानमयी साधना बहुधा तर्क का अवलंबन ग्रहण करती है और उसके साथ व्यवस्थित ढंग से अग्रसर होती हुई किसी अंतिम ध्येय तक पहुँचने के लिए सचेष्ट होती है। परन्तु भक्ति की साधना में तर्क-वितर्क की जगह श्रद्धा वा विश्वास के भाव काम करते हैं और साधक को अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़ आस्था रखने के लिए प्रेरित किया करते हैं। भक्ति एक प्रकार का अनुराग है जिसे साधक अपने से बड़े के प्रति श्रद्धा-भाव के साथ प्रदर्शित करता है। किंतु वही यदि अपने से बराबरी वाले के प्रति प्रकट किया जाय, तो उसे बहुधा प्रेम का नाम दिया जाता है और यदि अपने से छोटे के प्रति दिखलाया जाय, तो यह स्नेह का रूप ग्रहण कर लेता है। उक्त अनुराग को व्यक्त करने के साधन कभी अनवरत स्मरण तथा कभी गुणगान या कीर्तन हुआ करते हैं। किंतु कभी-कभी इसका प्रदर्शन उस अनुभव के रूप में भी हुआ करता है जिसे एक योगी अपने ध्यान द्वारा उपलब्ध किया करता है। इसी प्रकार क्रियात्मक साधना के लिए भी यदि कभी किन्हीं शास्त्रविहित उपचारों की आवश्यकता पड़ती है और साधक उनके साधारण से साधारण नियमों के भी निर्वाह में दत्तचित्त होना अपना कर्तव्य समझता है, तो बहुधा यह भी देखने में आता है कि कुछ कर्मोपासक अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त अपने जीवन को ही संयत वा सुन्दर बना लेना चाहते हैं।[1] अतएव उक्त तीनों प्रकार की साधनाओं के आधार क्रमशः ज्ञान, संवेदन तथा संकल्प हैं, जो

---

१. इस प्रकार की साधना को क्रमशः 'सदाचार' वा 'सदाचरण' नाम दिये जाते हैं। सदाचरण का अर्थ सात्विक रहनी वा जीवन-यापन का सुव्यवस्थित ढंग है किंतु सदाचार शब्द का व्यवहार शास्त्रविहित धर्म के लिए किया जाता है, जैसे 'मनुस्मृति' में सदाचार को 'श्रुत्युक्त स्मार्त्त' कहा गया है (अ०१ श्लोक १०८, तथा अ० ४ श्लो० ५५) और उसी को परम धर्म भी ठहराया गया है। तदनुसार "सदाचार वही है जिसका पालन परंपरा क्रम से ब्रह्मावर्त देश के अंतर्गत किया जाता है और जिसके द्वारा हम सुखपूर्वक १०० वर्षों तक जीवित रह सकते हैं।" (अ० २ श्लो० १८, तथा अध्याय ४ श्लो० ५८)

मनुष्य की तीन मौलिक प्रवृत्तियों से संबद्ध हैं और जिनके अनुसार साधना के लिए क्रमशः ज्ञानकांड, भक्तिकांड और कर्मकांड शब्दों के प्रयोग भी किये जाते हैं।

वैदिक साधनाएँ

प्राचीन वैदिक वाङमय के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे पूर्वजों का जीवन अत्यंत सरल था और उनके कृत्य भी बहुधा सीधे-सादे होते थे। उनके धार्मिक अनुष्ठानों के प्रधान अंग देव-पूजन, पितृ-पूजन तथा यज्ञ थे। प्रार्थना के द्वारा वे अपने अभीष्ट ऐहिक सुख के लिए कभी-कभी याचना भी किया करते थे। उन्हें प्रकृति के भीतर निहित शक्तियों में पूरी आस्था थी और वे उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार के कल्पनात्मक देवरूप दिया करते थे। उनके देवता सामर्थ्य एवं शक्ति-विशेष के प्रतीक माने जाते थे और उनके प्रति की गई स्तुति भी तदनुसार उनके भय से ही प्रेरित हुआ करती थी। उनकी कृपा, सहानुभूति अथवा अन्य ऐसी कोमल वृत्तियों में उन्हें वैसा विश्वास नहीं था। उनके प्रति किये गए गान वा उनके लिए प्रदर्शित विनय के भाव, इसी कारण उन्हें रिझाने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किये जाते थे तथा अन्य जीवों का बलिदान भी प्रायः इसीलिए हुआ करता था। पितृ-पूजन की व्यवस्था भी उस समय केवल इसीलिए की जाती थी कि हमारे पूर्व पुरुष हमारे प्रतिदिन के कार्यों में कभी कोई विघ्न-बाधा न उपस्थित करें। उनके पूजन-विधान द्वारा यह आशा की जाती थी कि वे उससे प्रसन्न होकर अपने हानिप्रद कार्यों से विरत हो जायँगे। उस समय की साधारण जनता को एक प्रकार के जादू-टोने में भी विश्वास था और वे लोग मंत्रों के प्रयोग द्वारा विषादि के दूर किये जाने को भी निश्चित मानते थे। सारांश यह कि हमारे पूर्वजों के प्रायः सभी धार्मिक कृत्य केवल इसी उद्देश्य से होते थे कि हमारा दैनिक जीवन पूर्णतः अबाधित रूप में प्रगतिशील रहे और हमारे ऐहिक सुख में वृद्धि भी होती रहे।

यज्ञ

परन्तु समय पाकर उक्त प्रार्थना तथा पूजनादि से कहीं अधिक महत्त्व याज्ञिक अनुष्ठानों को दिया जाने लगा। यज्ञ से संबद्ध प्रत्येक नियम का पालन उस समय के लोग अपने लिए अनिवार्य तक समझने लगे। यहाँ तक कि अग्नि आदि प्राकृतिक वस्तुओं का देवोपम भाव भी धीरे-धीरे विधानों के ईश्वरोपम भाव में परिणत हो चला और यज्ञ को ही सर्वस्व मान कर चलनेवालों का ध्यान क्रमशः, विशुद्ध 'आचार-प्रधान' जीवन की ओर से हटता हुआ किसी अदृश्य सत्ता अथवा कतिपय व्यापक नियमों की नित्यता की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा। जिन मुख्य देवताओं की कल्पना आर्य लोग पहले पृथक्-पृथक् करते थे, उन्हें वे अब एक के ही विविध रूपों में देखने लगे। उदाहरण के लिए, वे अब इस प्रकार

कहने लगे कि "हे अग्निदेव ! तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इन्द्र हो, तथा तुम्हीं अर्यमा होकर स्वामिवत् भी कार्य किया करते हो ।"[1] कभी-कभी यहाँ तक भी समझा जाने लगा कि "विद्वान लोग उसी सत् को इन्द्र, वरुण, मित्र अथवा अग्नि के नाम से पुकारते हैं और यही विशाल पंखोंवाला दिव्य गरुड़ भी है। उसी एक पदार्थ का वे अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। अतएव वही एक सत् (सृष्टि को आविर्भाव प्रदान करने के कारण) अग्नि, संसृति और (परिवर्तन का मूल तत्त्व होने से) यम तथा (अखिल विश्व का आधार-भूत होने से) मातरिश्वान् भी कहलाता है।"[2] तदनुसार, तत्कालीन आर्यों के समाज में कर्म की प्रधानता हो चली, एकदेववाद में बहुदेववाद परिणत हो गया और जन्मांतर के प्रति भी विश्वास दृढ़तर होने लगा।

तप तथा ज्ञान

फिर भी उक्त वैदिक वाङमय के कुछ उल्लेखों से स्पष्ट है कि उस समय के बहुत-से लोग वायु के आधार पर जीवन-यापन करनेवाले मननशील प्राणाभ्यासी भी हुआ करते थे।[3] कुछ अन्य लोग तपश्चर्या तथा श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय पा लेते थे।[4] इसके सिवाय उन दिनों कदाचित् ऐसे व्यक्तियों की भी कमी न थी, जो व्रात्य कहलाते थे। ये लोग उक्त यज्ञादि से दूर रहते हुए किसी अरूप वस्तु के ध्यान तथा चिंतन में निरत रहते थे और अपने व्यक्तिगत उच्चादर्शों की प्राप्ति के लिए एकाग्रता की साधना किया करते थे। उपनिषदों की रचना के समय तो उक्त यज्ञ-कर्म की अनुपयोगिता तक सिद्ध की जाने लगी और तत्त्व-चिंतन उससे कहीं बढ़ कर समझा जाने लगा। यज्ञ के आलोचकों का कहना था कि "ये यज्ञ वास्तव में छोटे-छोटे डोंगों की भाँति निर्बल साधन हैं जिनके द्वारा कल्याण का होना कभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। इन पर भरोसा रखने-

---

१. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः ।
त्वं विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥१॥
त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि ॥२॥
—ऋग्वेद, मंडल ५, सूक्त ३ ।

२. 'इन्द्रं मित्रं बरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'—ऋ० १.१६४.४६

३. 'मुनयो वातरसनाः पिशङ्गा वसते मला ।'—ऋ० १०.१३६. २

४. 'येनातरन्भूतकृतोति मृत्युं यमन्वविन्दान्तपसा श्रमेण ।'—अथर्व० ४. ३५. २

वाले मूर्खों को कर्म-फल के क्षीण होते ही फिर एक बार जरा-मरण का शिकार बनना पड़ता है।"[1] यज्ञ के इन विपक्षियों में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो ईश्वर अथवा मोक्ष के बदले केवल सांसारिक दुखों की निवृत्ति मात्र चाहते थे और जिनसे आगे चल कर सांख्य के ज्ञानवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार की ज्ञाननिष्टा में एक ओर कोरे ज्ञान तथा चिंतन का आधिक्य था, जो नितांत निष्काम तथा सुखभावनाहीन था। किंतु दूसरी ओर उसमें ज्ञान की श्रेष्ठता के साथ-साथ स्वर्ग वा आनंद का सर्वथा त्याग नहीं था और वह आस्तिक भावना से भी युक्त था।

योग तथा सदाचरण

ज्ञानवाद के साथ तपोविद्या का मेल हो जाने से इसी प्रकार योगमार्ग का भी आरंभ हुआ जिसके आदि-प्रवर्त्तक जैगीषव्य कहलाते हैं। इस प्रकार की साधना सांख्य के ज्ञानवाद द्वारा प्रभावित थी और उसी के सेश्वरवादी रूप में चली थी। इसकी शारीरिक प्रक्रिया तथा ध्यान-संबंधी अंश का आधार प्राचीन तपश्चर्या थी, जिसके मूल-रूप में इसके द्वारा बहुत कुछ परिवर्तन होता गया था। इसके सिवाय उपनिषदों ने एक प्रकार के सदाचरण के मार्ग का भी उपदेश देना आरंभ किया, जिसका मुख्य अभिप्राय यह था कि मनुष्य को अपने किये का ही अच्छा वा बुरा फल मिला करता है। इसमें देवों का कुछ भी हाथ नहीं, प्रत्युत सत्य, धर्म तथा सदाचरण द्वारा यदि हम चाहें तो उन्हें उनकी गद्दी से हिला भी सकते हैं। यह सदाचरण गृहस्थाश्रम में भी पूर्णतः संभव था। कहा जाता था कि "जो इसमें रहते हुए संतानोत्पत्ति करते हैं तथा तप और संयम के साथ जीवन-यापन करते हैं अथवा जो सत्य को अपना नैतिक आधार मान कर चलते हैं, वे ही वास्तव में ब्रह्मलोक के अधिकारी हुआ करते हैं।[2]" सत्य, सुकृत और सदाचरण ही परम धर्म हैं।

भक्ति-साधना

परन्तु उक्त यज्ञ-विरोधी आंदोलनों में सबसे अधिक प्रचार भक्ति-साधना का था, जो राजा वसुचैद्योपरिचर के समय से प्रारंभ हुआ था। उपनिषदों में कहा गया मिलता है कि "आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपदेशों से, अध्ययन से अथवा मेधा से ही संभव है। वह जिस किसी को स्वयं वरण

---

१. 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरुपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥'—मुंडक १.२.७.

२. 'तद्येह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ये मिथुनमुत्पादयन्ते ।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥'
—प्रश्नोपनिषत् १.१५ ।

कर लेता है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है और उसी के समक्ष वह अपने स्वरूप को प्रकट वा प्रदर्शित भी करता है।[1]" अतएव आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना वा सेवा से प्रसन्न कर लेना परमावश्यक समझा गया। इस प्रकार एक मात्र 'हरि' में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करनेवाली साधना का भी 'एकांतिक धर्म' के रूप में उदय हुआ। इसकी पूजन-पद्धति 'सात्वत विधि' कहलाने लगी जिसके प्रधान अंग भक्ति, आत्म-समर्पण तथा अहिंसा के भाव थे। इसे अपना कर प्रचार करनेवालों में वासुदेव कृष्ण-जैसे महान् व्यक्ति की गणना भी की जाती थी। इस कारण आगे चल कर इसका नाम भी 'वासुदेव-धर्म' पड़ गया और हरि का स्थान क्रमशः वासुदेव कृष्ण ने ही ग्रहण कर लिया। अंत में विक्रम संवत् के पूर्व तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि 'पांचरात्र-पद्धति' में परिणत हो गई और इसका नाम 'भागवत धर्म' के रूप में परिवर्तित हो गया।

विषम परिस्थिति

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यों के इतिहास के प्रारंभिक युग में जो साधना पहले सीधे-सादे स्तुति-गान वा पशु-बलि से आरंभ हुई थी, वह क्रमशः यज्ञ, कर्म, तपश्चर्या, तत्त्वज्ञान, सदाचरण तथा भक्ति के पृथक्-पृथक् रूप धारण करने लगी और इस विविधता के कारण मतभेद का भी अवसर आ उपस्थित हुआ। साधना की विभिन्नता के आधार पर समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों की सृष्टि होने लगी जिनमें से एक दूसरे को स्वभावतः पराया समझने लगा। इसके सिवाय तर्क-वितर्क करनेवाले व्यक्तियों के हृदय में इस बहुमार्गिता ने एक अन्य प्रकार के भाव का संचार भी किया। उस समय के लोग अधिकतर धार्मिक भावनाओं से ही प्रभावित हुआ करते थे और उनके दैनिक जीवन का प्रत्येक कार्य प्रायः उन्हीं द्वारा अनुप्राणित हुआ करता था। फलतः अपने कर्तव्य वा अकर्तव्य का निश्चय करते समय वे कभी-कभी असमंजस में पड़ जाते थे और उनका मार्ग अवरुद्ध-सा हो जाया करता था। कार्यारंभ के समय की विषम परिस्थिति उन्हें उसके अंतिम परिणाम तक सोचने की ओर प्रवृत्त करती थी और वे 'किस प्रकार करने से क्या होगा' के फेर में पड़ कर किंकर्तव्यविमूढ़ भी हो जाते थे।

अर्जुन तथा श्रीकृष्ण

प्रसिद्ध महाभारत-युद्ध के समय कुरुक्षेत्र के मैदान में वीरवर अर्जुन के सामने

---

१. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्म विवृणुते तनुं स्वाम्॥'
कठ० १. २. २२ तथा मुंडक, ३. २. ३।

भी इस प्रकार की एक समस्या आ उपस्थित हो गई। उनके विरुद्ध लड़नेवालों में उनके अनेक गुरुजन तथा संबंधी दिखलायी पड़ते थे जिन्हें मार कर विजय प्राप्त करने की भावना उनके लिए असह्य प्रतीत हुई और न लड़ने पर भी होनेवाले अनर्थों की आशंका ने उनके हृदय को संशयग्रस्त बना दिया। अर्जुन इस प्रश्न को सरलता पूर्वक सुलझता न देख कर इतने कातर हो गए कि उन्होंने अपने शस्त्र रथ पर डाल दिये और सहायता के लिए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने भी उक्त प्रश्न का पहले सीधा-सादा-सा उत्तर देना चाहा और उन्हें कहा कि "अन्तःकरण की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ[1]।" परन्तु काम इतने से ही नहीं चल सका और समस्या का रूप इस प्रकार हो गया कि क्या युद्ध में जय प्राप्त कर लेना वास्तव में श्रेयस्कर होगा। अर्जुन साधारण प्रश्नकर्ता नहीं थे और न उनका प्रश्न एक साधारण उलझन को दूर कर देने से ही संबद्ध था। श्रीकृष्ण को इसी कारण उसका उत्तर देते समय अनेक दार्शनिक युक्तियों का भी आश्रय ग्रहण करना पड़ा और अंत में भिन्न-भिन्न प्रचलित साधनाओं के एक सुन्दर गीतोक्त समन्वय द्वारा उनकी कठिनाई दूर करनी पड़ी।

गीतोक्त समाधान

श्रीमद्भगवद्गीता की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं, जिनमें एक 'ज्ञानयोग' और दूसरा 'कर्मयोग' था। इनमें से प्रथम का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था। इसके अनुसार मनुष्य का कर्तव्य अपने चित्त को सभी सांसारिक बंधनों से हटा कर तथा उसे नित्य, शुद्ध तथा ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख कर पूर्ण आत्मज्ञान की उपलब्धि करना था। दूसरे का रूप इसी प्रकार कर्मोपासना का था जिसके अनुसार सब किसी को चाहिए कि अपने कर्म-संबंधी व्यापारों का निर्वाह उन्हें यज्ञ वा कर्तव्य मानकर करें जिससे आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो। ये दोनों मार्ग क्रमशः 'निवृत्ति मार्ग' वा 'प्रवृत्ति मार्ग' भी कहलाते थे। श्रीकृष्ण ने इन दोनों को मर्यादित कर इनका 'ज्ञानकर्मयोग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने दोनों के इस सुधरे हुए रूप में भक्ति-योग का भी पुट दे दिया जिससे निष्काम भावना के साथ सदाचरण करने का एक सरल मार्ग निकल आया। उसकी मनोवृत्ति से संपन्न रहनेवाले के लिए कर्तव्य वा अकर्तव्य का प्रश्न एक प्रकार से हल भी हो गया।

समन्वय की प्रवृत्ति

'श्रीमद्भगवद्गीता' के उक्त समन्वयात्मक उपदेश द्वारा वैदिक युग से पृथक्-

१. 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप'॥—गीता अ० २, श्लो० ३।

पृथक् रूपों में प्रचलित सभी साधनाओं का समाधान हो जाता था। यज्ञ, कर्म, पशु-बलि प्रधान न होकर शास्त्र-विहित कर्तव्यों का बोधक समझा जाने लगा। तपश्चर्या आत्मशुद्धि का साधन बन गई, तत्त्वज्ञान की उपादेयता चित्त के संतुलन एवं अन्तःकरण की शांति में दीख पड़ने लगी। सदाचरण का निर्वाह निष्काम-कर्म के आदर्शों द्वारा प्रेरित होने लगा और भक्ति की भावना ईश्वरार्पण की प्रक्रिया के कारण सुखमयी बन कर सभी कार्यो को सरल तथा सुगम बनाने में समर्थ हो गई। गीतोक्त साधना का मुख्य अभिप्राय संक्षेप में यह था कि "यदि कर्म के किये बिना हम एक क्षण भी नही रह सकते और यह किसी न किसी रूप में हमारे लिए पूर्णतः अनिवार्य है तथा यदि उसीके परिणाम के भला वा बुरा होने पर ही हमें क्रमशः सुख वा दुःख का अनुभव हुआ करता है, तो क्यों न हम उसे यज्ञार्थ अथवा विहित कर्तव्य मान लें, उसकी फलाशा को ईश्वरार्पित कर दें, तथा उसे शुद्ध भाव के साथ अनासक्त होकर संपन्न करने में प्रवृत्त हो जायें।[1]" ऐसी दशा में वस्तुस्थिति का ज्ञान रहने के कारण हमें न तो किसी बात की आशंका होगी और न उसके ईश्वरार्पित होने के कारण हमारे ऊपर उसका कोई बोझ रहेगा। हमारा शांत तथा निर्मल चित्त अविकृत रहने के कारण कभी क्षुब्ध नहीं होगा और इस प्रकार हमारा ऐहिक जीवन सदा सुखमय बना रहेगा। अकर्तव्य का प्रश्न हमारे सामने तभी गंभीर रूप धारण करता है, जब हम किसी कार्य के परिणाम में आसक्त रहते हैं। यदि उक्त साधना के अनुसार हम उसे निष्काम भाव के साथ करने लग जायँ, तो हमें किसी ऐसी विकट समस्या का सामना नहीं करना पड़े।

प्रतिक्रिया

परन्तु भारतीय साधना का उक्त समन्वयात्मक रूप भी आगे चलकर कुछ परिवर्तित होने लगा। यज्ञ-संबंधी पशुबलि एवं बाह्याचार के विरुद्ध इन्हीं दिनों दो अन्य प्रकार के आंदोलन भी क्रमशः 'जैन धर्म' तथा 'बौद्ध धर्म' के नाम से उठ खड़े हुए जिनमें न तो किसी देवोपासना को स्थान था और न जिनमें कोई ईश्वरार्पण की भावना ही आवश्यक थी। उन दोनों का प्रधान लक्ष्य शुद्ध सात्विक जीवन था और उनके सामने मानव की महत्ता तथा उसके पूर्ण विकास का प्रश्न कहीं अधिक मूल्यवान् था। दोनों निरीश्वरवादी थे जिससे मूल वैदिक धर्म वा उसके सुधरे हुए रूपों पर भी उनकी प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। अतएव उन दोनों का सामना करने अथवा उनकी प्रतियोगिता में आगे बढ़ने की ओर सभी प्रवृत्त हो

---

१. 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कम कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥९॥'—गी०, अ० ३।

गए और विचार-संघर्ष के फलस्वरूप उनमें आवश्यक परिवर्तन भी होने लगे। उस समय के प्रचलित प्रत्येक आर्य-धर्म को प्राचीन वैदिक जीवन के पुनरुद्धार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और वह उसे समयानुसार अधिकाधिक अपनाने में लग गया। फलतः प्राचीन व्यवस्थाओं के संरक्षणार्थ पुराणों की सृष्टि की गई। उपासना के भीतर तंत्रोपचार का समावेश किया गया। वैदिक देवताओं के नररूपोपम भाव की पुनरावृत्ति होने लगी और पुराने 'एकांतिक धर्म' का भागवत धर्म-वाला रूप क्रमशः 'वैष्णव धर्म' में परिणत हो गया। उपनिषदों के 'ज्ञान-योग' को लेकर इसी प्रकार कई भिन्न-भिन्न दर्शनों की सृष्टि होने लगी और सभी अपनी-अपनी तर्क-प्रणाली के अनुसार सुव्यवस्थित रूप ग्रहण करने लगे। इन प्रवृत्तियों का बहुत कुछ प्रभाव बौद्ध तथा जैन धर्मों के विचारों पर भी पड़ा और तत्कालीन वातावरण के अनुसार उन्होंने भी अपने रूप मर्यादित किये।

पौराणिक भक्ति

भारतीय साधना के इस युग अर्थात् सं० १५५ विक्रमी पूर्व से विक्रम सं० ५६० तक के समय को साधारणतः 'पौराणिक युग' का नाम दिया जाता है। यह प्राचीन वैदिक युग के पुनरुद्धार का युग था, अतएव इसके आरंभ के कुछ सम्राटों ने अश्व-मेध जैसे बड़े पुराने यज्ञों को एकाध बार कर दिखलाने के लिए भी यत्न किये। प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीक देवताओं की एक बार फिर सृष्टि हुई और इस बार उन्हें और भी स्पष्ट, साकार तथा सजीव रूप प्रदान किये गए तथा उनके संबंध में अनेक उपाख्यानों की भी रचना कर दी गई। इसी प्रकार, तीर्थंकरों तथा बोधि-सत्वों के अनुकरण में भगवान् के भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना भी की जाने लगी और उनकी लीलाओं के वर्णन का साहित्य भी बन गया। भक्ति का रूप इसी कारण, अब कोरी प्रार्थना वा ईश्वरार्पण के भाव तक ही सीमित नहीं रह गया, प्रत्युत उसमें तंत्रोपचार का पूरा समावेश भी कर दिया गया। देवताओं की भिन्न-भिन्न मूर्तियों की स्थापना की जाने लगी और उनके लिए भव्य तथा विशाल मंदिरों का निर्माण भी होने लगा। देवता भी अब पहले की भाँति केवल शक्ति एवं सामर्थ्य के बोधक नहीं रह गये थे और न उनसे हमें वैसे भय की आशंका थी। अब उनमें मानवोचित कोमल वृत्तियों की कल्पना भी की जाने लगी और यह मान लिया जाने लगा कि वे महापुरुषों की भाँति हम पर दया, दाक्षिण्य तथा अनुग्रह भी दरसा सकते हैं। उनमें सात्विक गुणों का इतना विस्तृत आरोप कर दिया गया कि वे अब हमारे किसी भी संकट की परिस्थिति में हमारी भक्ति से प्रेरित होकर हमें उबार ले सकते थे। देवताओं के स्वभावों तथा कार्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करके उनका वर्गीकरण भी कर दिया गया और सारे विश्व के सृजन, पालन तथा

संहार की उन्हें क्षमता प्रदान कर उनके हाथों में इसकी पूर्ण व्यवस्था का समूचा भार सौंप दिया गया।

योग-साधना तथा ज्ञानवाद

प्राचीन समय के ध्यानयोग तथा तपश्चर्या को सम्मिलित कर इसी प्रकार योग-साधना प्रचलित की गई। इसके हठयोग नामक अंग के अंतर्गत अनेक प्रकार के यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। उसके राजयोग नामक अंग में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के विस्तृत विवेचन की व्यवस्था की गई। यह साधना भी एक प्रकार से उक्त भक्ति-योग के ही पार्श्व-विशेष का निर्देश करती थी और समझा जाता था कि इसके द्वारा हमें अपने इष्ट-देव का साक्षात् कर लेना भी संभव है। परन्तु योग-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम चित्तवृत्तियों का सम्यक् निरोध है, जिसका उपयोग अन्य साधनाओं में भी भली भाँति किया जा सकता है,। इसलिए यह साधना कुछ आगे चल कर और भी अधिक लोकप्रिय होती गई और इसे अन्य धर्मों ने भी स्वीकार किया। इधर ज्ञान की साधना में तर्क-वितर्क एवं ऊहापोह के ही क्रमशः अधिक प्रयोग होते रहने के कारण, उसका भी एक शास्त्र पृथक् बन गया। इस साधना का उपयोग अब केवल प्राचीन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन मात्र तक ही सीमित न रह कर कार्य-कारण-संबंध की प्रतिष्ठा, परिस्थिति के सम्यगालोचन तथा व्यापक सिद्धांतों के निरूपण एवं निर्धारण तक में भी होने लगा और इसके कारण खंडन-मंडन की प्रथा भी पुष्ट की गई।

सदाचारवाद

इसी प्रकार सदाचरण का स्वरूप भी, जो पहले केवल कर्मवाद को ध्यान में रख कर सत्कर्म करना मात्र समझा जाता था और भी विस्तार के साथ प्रति-पादित किया जाने लगा। सदाचरण अब 'सदाचार' कहलाकर धर्म का समानार्थक शब्द माना जाने लगा और उसे 'दशकं धर्म लक्षणम्' के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा भी होने लगी। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने सदाचरण को सबसे अधिक महत्त्व दे रखा था और उसे अपने-अपने ढंग से निरूपित भी किया था। अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्मसंयम, जैसी सदाचरण-संबंधी बातों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया था। 'खंति' (क्षमा), 'सील' (शील), 'पञ्ञा' (प्रज्ञा), 'मेत्ता' (मैत्री), 'सच्च' (सत्य), 'विरीय' (वीर्य) बोधिसत्व के आदर्श गुण माने जाते थे और चित्त की शुद्धि को भी उनके यहाँ एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पौराणिक युग की सदाचार-साधना ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध को धर्म के दस लक्षण बतलाकर उनको अपने में समावेश कर लिया।

थोड़े-से मतभेद के साथ प्रायः इन्हीं को 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के नाम देकर योग-साधना ने भी अपने यहाँ यम-नियमों के रूप में स्थान दे दिया। 'ऋग्वेद' में 'धर्म' शब्द का अर्थ, वास्तव में, "किसी वस्तु या व्यक्ति की स्थायी वृत्ति, प्रकृति वा स्वभाव मात्र[1]" ही किया गया था। किंतु मीमांसाशास्त्र ने उसकी परिभाषा वेद-विहित यज्ञादि कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान के रूप में कर दी और स्मृतियों द्वारा वही फिर "आचारः परमोधर्मः" कहला कर सदाचार प्रधान कर्म समझा जाने लगा। फिर तो सदाचार को समाज की स्थिति के लिए भी परमावश्यक तथा श्रेयस्कर मान कर उसे प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित कर दिया गया।

तांत्रिक पद्धति

परन्तु इस पौराणिक युग की विशेष साधना तंत्रोपचार की पद्धति थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह तंत्रमूलक साधना बहुत प्राचीन समझी जाती है और कुछ लोगों के अनुसार तंत्र की चर्चा वेदों तथा उपनिषदों में भी की गई मिलती है[2]। फिर भी इतना निश्चित है कि तांत्रिक साधना को जितना पौराणिक युग ने अपनाया तथा इसके अंगों का जितना विस्तार इस काल में किया गया उतना पहिले कभी नहीं हुआ था। इस समय तंत्र वा आगम के बौद्धतंत्र, शक्तितंत्र, शैव आगम, वैष्णव आगम आदि अनेक विभाग हो गए और सबने अपने-अपने मूल सम्प्रदायों के अनुसार भिन्न-भिन्न साधनाएँ प्रचलित कर दीं। इनके मंत्र पृथक्-पृथक् बनाये गए, इनके लिए विविध प्रकार के यंत्रों का आयोजन किया गया तथा इनके भिन्न-भिन्न देवताओं के ध्यान एवं उपासना के प्रधान पाँच अंगों अर्थात् पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र को भी स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित रूप दे दिया गया। इस कारण तंत्रोपचार की प्रणाली में जहाँ एक ओर मूर्तिपूजा के लिए षोडश वा इससे भी अधिक प्रकार के उपचारों का विधान बना, वहाँ दूसरी ओर एक नवीन गुप्त साधना की भी पद्धति चल निकली। साधकों की योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुसार वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार बन कर प्रसिद्ध हो गए। बौद्ध धर्म के महायान

---

१. 'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्।'
—ऋ०, १. २२. १८।

२. बलदेव उपाध्याय : 'बौद्ध दर्शन', शारदा मंदिर, बनारस, १९४६ ई०, पृ० २१९-२०।

सम्प्रदाय में भी इसी प्रकार बौद्धतंत्रों से प्रभावित अवधूतीमार्ग, राममार्ग, डोंबीमार्ग, चांडालीमार्ग आदि की पद्धतियाँ प्रवर्तित हो गई और इनकी रहस्यमय साधनाओं की आड़ में कभी-कभी महान् अनर्थ भी होने लगा।

ग्रंथ-रचना

उक्त साधनाओं का प्रतिपादन तथा प्रचार संस्कृत भाषा के माध्यम द्वारा होता था। बौद्ध तथा जैन धर्म वालों ने भी बहुत कुछ इसी का अनुसरण किया था। इस कारण उनके गुप्त सिद्धांतों का पता अधिकतर शिक्षित समाज को ही चल पाता था; सर्वसाधारण को इनकी गूढ़ बातों का प्रायः कुछ भी परिचय नहीं रहता था। उनको यह सब कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता था और वे साधकों के सामने मूक वा मुग्ध हो जाते थे। जैन तथा बौद्ध धर्मों के प्रवर्त्तकों ने अपने सिद्धांतों का प्रचार सर्वसाधारण के लिए मूलतः प्राकृत वा पालि भाषा में किया और उनके सर्वमान्य तथा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ आज भी उन्हीं भाषाओं में पाये जाते हैं। परन्तु तांत्रिक साधनाओं के गोपनीय होने के कारण उनका विषय संस्कृत में निरूपित किया गया और इन धर्मों के भी ऐसे ग्रंथों की रचना, संस्कृत भाषा में ही हुई। इस प्रकार कर्मकांड, योग-शास्त्र, आचार वा धर्मशास्त्र, भक्ति-संबंधी सूत्रों तथा तंत्रोपचार-विषयक पद्धतियों के ग्रंथों की एक वृहद् राशि प्रस्तुत हो गई। विषयों की गूढ़ता तथा उनकी पद्धतियों की जटिलता की सीमा यहाँ तक पहुँची कि उनकी व्याख्या के लिए विविध भाष्यों की आवश्यकता पड़ गई। भिन्न-भिन्न मत वालों ने अपने काल्पनिक सिद्धांतों के अनुसार उन पर टीकाओं की रचना कर उनमें निहित भ्रांतियों को और भी अस्पष्ट कर दिया। ऐसी दशा में वस्तुस्थिति का जानना तथा सच्चे मार्ग का अनुसरण करना अत्यंत कठिन हो गया और सब कहीं अस्तव्यस्तता दीख पड़ने लगी।

शास्त्रविधि तथा सुधार

इतना ही नहीं, हम पहले देख चुके हैं कि वैदिक युग का क्रमशः बढ़ती आई साधनाओं की विभिन्नता को दूर करने का प्रयास एक बार 'श्रीमद्भगवद्गीता' में किया गया था। उस समय की वर्तमान प्रमुख साधनाओं के समन्वय द्वारा एक सर्वोपयोगी मार्ग निकालने की चेष्टा की गई थी। ऐसा समझा गया था कि सभी प्रकार के विचारवाले व्यक्ति उसका अनुसरण करेंगे। परन्तु बौद्धों, जैनियों तथा अन्य नवीन मतों के प्रचार के कारण उसमें भी विशृंखलता आने लगी और पुरानी समस्या ने एक बार और भी अपना सिर उठाया। बौद्ध तथा जैन धर्म वस्तुतः सुधारपरक सिद्धांत लेकर चले और उन्होंने बिना किसी प्राचीन ग्रंथ की सहायता लिये, केवल स्वतंत्र विचारों वा अनुभूतियों के आधार पर ही अपने आदर्शों की

स्थापना आरंभ कर दी। उधर 'गीता' ने किसी भी प्राचीन पद्धति का त्याग करना उचित नहीं समझा था, प्रत्युत "शास्त्र-विधि को छोड़कर स्वतंत्र रूप से कर्तव्य करने वाले" के लिए बतलाया था कि "उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही प्राप्त होती है।[१]" उसमें प्रचलित समाज के रूप को प्रायः ज्यों का त्यों रहने देने का उपदेश दिया गया था और प्राचीन प्रमाणों की भी महत्ता पूर्ववत् ही स्वीकार कर ली गई थी। उसमें सारी बातों को एक नये सिरे से देखने और तदनुसार नवीन परिणाम निकालने मात्र की ओर ही विशेष ध्यान दिलाया गया था। किंतु बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों और प्रचारकों ने वेदादि की प्रामाणिकता तथा सामाजिक रूढ़ियों की रक्षा के प्रति अपनी उदासीनता प्रदर्शित की। प्रधान-प्रधान प्रचलित सिद्धांतों के समन्वय की अपेक्षा क्रमागत परंपरा के समुचित सुधार वा कायापलट तक का आयोजन उपस्थित कर दिया।

मतभेदों का जंजाल

पौराणिक युग ने उक्त नवीन प्रवृत्ति के प्रतिकार स्वरूप अपने सिद्धांतों को नये प्रकाश के आलोक में सँभालने की चेष्टा की। किंतु 'गीता' के उपर्युक्त सुझावों की ओर पूरा ध्यान न देकर उसने समन्वय तथा सामंजस्य की जगह वैदिक युग की ओर पुनरावर्तन का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया, जो परिस्थिति के अधिक परिवर्तित हो जाने के कारण कभी पूरा न हो सका। उक्त विरोधी मतों के साथ निरंतर संघर्ष चलते रहने के कारण पौराणिक हिन्दू-समाज का ध्यान जितना सामयिक प्रश्नों की ओर जाता रहा, उतना उक्त चिरस्थायी समस्या को हल करने के प्रति आकृष्ट न हो सका। परिणामस्वरूप वह प्रायः ज्यों की त्यों बनी रह गई और नवीन व्यवस्थाओं की उलझनों ने उसके निराकरण की आवश्यकता को और भी बल दे दिया। उस समय न केवल बौद्ध तथा जैन धर्म ही, अपितु स्वयं वैष्णव, शाक्त, शैव-जैसे हिन्दू सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने भीतर अनेक मतभेदों को जन्म दे रखा था। इनमें से सबने वेदों को ही अपना अंतिम प्रमाण बना रखा था और उनसे कतिपय उद्धरण लेकर तथा उन्हें वास्तविक प्रसंगों से पृथक् करके वे अपने-अपने मतानुसार उन पर मनमाने अर्थों का आरोप करने लगे थे। इसके सिवाय कुछ मतों ने वेदों की भाँति ही पुराणों तथा स्मृतियों को भी प्रधानता दे रखी थी। अतएव इनके पारस्परिक मतभेदों के कारण एक को दूसरे के प्रति द्वेष, कलह या प्रतियोगिता के

---

१. 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः'
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' ॥२३॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० १६

प्रदर्शन के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिला करता था और बहुधा अनेक प्रकार के झगड़े भी उठ खड़े हो जाते थे।

गौतम बुद्ध का मार्ग

इधर बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धांतों में भी महान् अंतर आ गया था। महात्मा गौतम बुद्ध (सं० ५०६-४२६ वि० पू०) ने अपनी घोर तपस्या के अनंतर चार बातें निश्चित की थीं, जो क्रमशः १. 'दुःख', २. 'दुःखसमुदय', ३. 'दुःखनिरोध' तथा ४. 'दुःखनिरोधमार्ग' के नामों से विख्यात हैं और जिनका मुख्य तात्पर्य इस प्रकार बतलाया जा सकता है : 'हमारा जीवन दुःखमय है, उसमें सुख की इच्छा करना ही दुःख का कारण है, अतएव उस इच्छा वा तृष्णा के क्षय द्वारा दुःख की निवृत्ति हो सकती है और यह तृष्णा का क्षय, पवित्र तथा निर्दोष जीवन से प्राप्त किया जा सकता है।' ये चारों बातें 'चत्वारि आर्यसत्यानि' कहलाती हैं। इसके तीसरे सिद्धांत के अनुसार उपलब्ध अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं और निर्वाण की उपलब्धि के लिए जिस मार्ग का अनुसरण करना उन्होंने आवश्यक माना था, उसे 'अट्टांगिकी' अथवा 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' कहा जाता है। वह एक ओर, यदि भोग-विलासमय जीवन के विरुद्ध है, तो दूसरी ओर शरीर को व्यर्थ कष्ट पहुँचानेवाले तपश्चर्यादि से भी नितांत भिन्न है। इस अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत १. सम्यक् वा उचित विचार, २. सम्यक् वा उचित संकल्प, ३. सम्यक् वा उचित वाणी, ४. सम्यक् वा शुद्ध कर्म, ५. सम्यक् वा शुद्ध आजीविका, ६. सम्यक् वा उचित व्यायाम अर्थात् उद्योग, ७. सम्यक् वा ठीक स्मृति अर्थात् चित्तवृत्ति, और ८. सम्यक् वा पूर्ण समाधि की गणना की गई थी और यही सभी साधकों के लिए एक आदर्श मार्ग समझा गया था।

स्वावलंबन तथा नैतिक मार्ग

गौतम बुद्ध के हृदय में वैराग्य सर्वप्रथम, क्रमशः किन्हीं वृद्ध, रोगी, मृतक तथा प्रसन्नमुख संन्यासी की विविध अवस्थाओं के पूर्वापर विचार करने के कारण, उनकी २८ वर्ष की युवावस्था में हुआ था। वे केवल एक सप्ताह के दुधमुँहे बच्चे के साथ सोयी हुई पत्नी तथा समृद्ध राजसी जीवन को त्याग कर घर से निकले थे। उनके जीवन का मुख्य ध्येय सारे प्राणियों का दुःख निवारण था। इसके लिए उन्होंने सबके सामने एक नैतिक जीवन का ही आदर्श रखा। वे मोक्ष वा निर्वाण को ईश्वरीय ज्ञान वा भगवत्कृपा पर निर्भर नहीं मानते थे, प्रत्युत उनके लिए नियमों की नित्यता ही सब कुछ थी और सदाचार का अनुशीलन ही उनके विचार में सबसे बढ़ कर श्रेयस्कर मार्ग था। तथा उसी के द्वारा वे अमरत्व का होना भी निश्चित मानते थे। उनके उपदेश इसीलिए एक शुद्ध व्यावहारिक जीवन को लक्ष्य करके दिये गए और उनका ढंग भी बहुत कुछ प्रत्यक्षवाद की पद्धति से ही मिलता-

जुलता रहा। उनके सिद्धांत किसी शास्त्रीय पद्धति का सहारा लेकर निश्चित नहीं किये गए थे, अपितु उनका आधार निजी अनुभव था और वे पूर्ण स्वावलंबी भी थे। उनका स्पष्ट कहना था कि 'किसी बात मे केवल इसलिए विश्वास न करो कि वह तुम्हारे आचार्यों की कही हुई है। इसलिए भी न करो कि वह तुम्हारे किसी धर्म-ग्रंथ में लिखी मिलती है, प्रत्युत प्रत्येक बात को अपने व्यक्तिगत अनुभव की कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हें वह अपने तथा औरों के लिए हितकर जान पड़े, तो उसे मान लो, न जान पड़े, तो मत मानो' और इस नियम का पालन करना वे सबके लिए परमावश्यक समझते रहे।

व्यावहारिक जीवन

इसके सिवाय गौतम बुद्ध ने अपने मंतव्यानुसार गूढ़ दार्शनिक रहस्यों की खोज की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन के प्रश्नों की ओर ही अधिक ध्यान दिया था। उनका कहना था कि "यदि किसी के शरीर में कोई तीर चुभ गया हो अथवा यदि कोई आग में पड़ कर जल रहा हो, उस अवसर पर यह सोचने लगना कि उक्त तीर की बनावट कैसी होगी, वह किस लोहे का बना होगा अथवा उसे किसने बनाया होगा तथा उसी प्रकार, उक्त आग का लगानेवाला कौन हो सकता है, उसकी जाति क्या होगी, अथवा उसने क्यों आग लगायी होगी, निरी मूर्खता कहलायेगा, वैसे ही अपनी आँखों के सामने दुःख के गर्त में पड़े हुए मनुष्यों के लिए किसी अंतिम सत्य को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करने लगना व्यर्थ कहा जा सकता है। तीर चुभने के कारण मर्मान्तिक वेदना सहनेवाले के शरीर से जिस प्रकार तीर का शीघ्रातिशीघ्र निकाल लेना अथवा आग में जलनेवाले को जिस प्रकार आग की लपटों से तत्क्षण बचा लेना ही आवश्यक होता है, उसी प्रकार इस दुःखपूर्ण संसार के भवचक्र से मनुष्य को उन्मुक्त कर देना ही परम श्रेयस्कर है। इसके मूल स्वरूप परम सत्य के दार्शनिक विवेचन में समय का दुरुपयोग करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता।"

महायान तथा हीनयान

फिर भी गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के अनंतर, लगभग कनिष्क (रा० का० सं० १३५-१५८) के समय, उनके अनुयायियों का एक दल अपना सबसे अधिक ध्यान दार्शनिक गुत्थियों के सुलझाने की ओर ही देने लगा और आगे चल कर उसके भीतर भी मतभेद के कारण कई भिन्न-भिन्न वादों के उठ खड़े होने का अवसर आ गया। उक्त दल वा 'महायान सम्प्रदाय' अपने मूल बौद्ध धर्म का एक विकसित रूप था और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी दल वा संन्यास-मार्ग-प्रधान हीनयान से कई बातों में भिन्न था। 'हीनयान' का साधक जहाँ पर केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के

लिए यत्नशील होता था, वहाँ 'महायान' अपने को सभी प्राणियों के उद्धार के हेतु उद्योगशील होने वाला प्रदर्शित करता था और उसका परम आदर्श इसी कारण 'अर्हत्' की जगह 'बोधिसत्व' बन गया था। बोधिसत्व हो जाने का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति को बोधिचित्त की उपलब्धि हो जाना था, जिसमें शून्यता वा करुणा का सामंजस्य रहा करता है। इसी कारण 'हीनयान' के अनुयायी जहाँ अधिकतर नैतिक प्रवृत्तिवाले व्यक्ति ही हो पाते थे, वहाँ 'महायान' में सभी वर्म, मत तथा विचार के लोगों का प्रवेश होने लगा। महायान की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने अपनी मूल धर्म-भाषा पालि को छोड़कर हिन्दुओं की संस्कृत भाषा को अपना लिया तथा पौराणिक युग के हिन्दुओं के प्रभाव में आकर वह उनके भक्तिवाद तथा तंत्रोपचार की पद्धतियों का भी पूर्ण समर्थक हो गया। इसने अपने धर्म के मूल प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान कर दिया और वह उनकी विविध 'जातक'-कथाओं के काल्पनिक आधार पर बोधिसत्वों की उपासना में भी प्रवृत्त हो गया। इस कार्य में इसके दर्शन-प्रेम ने किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचायी, अपितु इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म दार्शनिक विवेचन के कारण उसके ग्रंथों में कुछ ऐसी रहस्यमयी परिभाषाओं की सृष्टि भी हो चली, जिनके कारण इसकी सारी बातें भेदभरी वा गूढ़ातिगूढ़ प्रतीत होने लगीं। इसके अतिरिक्त उस समय के प्रचलित तंत्रवाद ने भी इसे भिन्न-भिन्न गुप्त साधनाओं की ओर सकेत करके उनके प्रपंचों में उलझने के लिए विवश किया और गुह्य समाजों की एक परंपरा चल निकली। इन समाजों की मुख्य साधनाएँ परम गुप्त हुआ करती थीं और उनकी विविध क्रियाओं के निर्वाह के लिए अनेक प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती थी। तदनुसार साधना-भेद के आधार पर इसके अंतर्गत विविध उप-यानों की भी सृष्टि होने लगी और एक दूसरे में बहुत कुछ अंतर दीख पड़ने लगा। मूल बौद्ध धर्म अथवा महायान सम्प्रदाय से ये उप-यान इतने भिन्न हो गए कि इन्हें उनका विकसित रूप सिद्ध करना भी अत्यंत कठिन हो गया।

मंत्रयान

महायान द्वारा गौतम बुद्ध के देवत्व प्राप्त करते ही उनके उपदेशों को भी अलौकिक महत्त्व मिल गया। इसलिए उनके अनुयायियों में उनके उपलब्ध वचनों के प्रति अपार श्रद्धा बढ़ चली और वे उनका पाठ करना अपना कर्तव्य समझने लगे। परन्तु ये पाठ साधारणतः लंबे हो जाया करते थे, इस कारण उनके आधार पर छोटे-छोटे सूत्रों की रचना होने लगी। अंत में इन सूत्रों को भी और संक्षिप्त रूप देने की चेष्टा में क्रमशः मंत्रों की सृष्टि हो गई। इन मंत्रों का अर्थ-रहित होना ही सार्थक माना जाने लगा और इनका प्रभाव, इसी कारण उक्त लंबे उपदेशों

से किसी प्रकार भी कम नहीं समझा जाता था। ये मंत्र केवल दो-एक अक्षरों की भिन्न-भिन्न स्थिति वा संयोग द्वारा बना लिये जाते थे और इनके उच्चारण की विशेष शैली पर ध्यान दिया जाता था। इसके सिवाय इन्हें जब लिखित रूप में प्रकट किया जाता था, तब इनके भिन्न-भिन्न अक्षरों की विशेष स्थिति के अनुसार भी उन्हीं परिणामों की कल्पना की जाती थी, जो मूल उपदेशों से हुआ करते थे। मंत्रों को इस प्रकार महत्त्व प्रदान करने वाला महायान का उप-सम्प्रदाय 'मंत्र-यान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसके अनुयायियों की दृढ़ धारणा हो गई कि उक्त प्रकार से रचे गए मंत्रों की साधना यदि नियमित रूप से कर दी जाय, तो अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेना कठिन नहीं होगा। ऐसे मंत्रयान का उदय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के संभवतः कुछ पहले ही हो चुका था, किंतु उसका अधिक प्रचार उसी समय से होने लगा।

बज्रयान

मंत्रयान के अधिक प्रचार ने श्रद्धालुओं की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि की और इस कारण मंत्रयानी साधकों में से अनेक व्यक्ति अपने विविध यत्नों द्वारा ऐसे लोगों की उदारता से लाभ उठा कर धन-संग्रह की ओर भी प्रवृत्त हुए। इस धन-संग्रह ने काल पाकर विलासिता को जन्म दिया और उक्त साधकों में अब ऐसे व्यक्ति भी दीख पड़ने लगे जिन्हें मंत्रों के अतिरिक्त हठयोग वा मैथुन की क्रियाओं में भी अधिक विश्वास रहा करता था। ऐसे ही साधकों ने आगे चलकर अपने विचारों को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और इस प्रकार मंत्रयान के आगे 'बज्रयान' नाम के एक अन्य उप-यान का आरंभ हो गया, जिसके प्रचारकों में प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की भी गणना की जाती है। बज्रयानियों ने महायान की 'शून्यता' तथा 'करुणा' को क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के नाम दे दिए। इन दोनों के मिलन को 'युगनद्ध' की दशा बतला कर उसे ही प्रत्येक साधना का अंतिम लक्ष्य ठहराया। बोधिचित्त भी, जो पहले विशुद्ध चित्त वा व्यापक कारुण्य-भाव का द्योतक रहा, इस प्रकार 'बज्र सत्व', बन गया। प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट, किंतु निष्क्रिय-ज्ञान मात्र है, जिसे स्त्री रूप देते हैं और उपाय उसके विपरीत एक सक्रिय तत्व है, जिसे पुरुषवत् मानते हैं। इन दोनों का अंतिम मिलन शक्ति तथा शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है[1]। इन दोनों के पारस्परिक मिलन की ही अंतिम दशा 'समरस' वा 'महासुख' के नाम से भी अभिहित होती है, जो

---

१. डॉ० एस० बी० दास गुप्त 'आस्क्योर रिलिजस कल्ट्स' कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९४६, पृ० ३०।

किया जाता था, "जगत् की सृष्टि परम तत्त्व में वैषम्य आने के कारण आविर्भूत होती है, इसलिए इसकी साम्यावस्था उसके प्रलय को सूचित करती है। उक्त विषमता का मूल कारण भी उन दो विरुद्ध शक्तियों में निहित है, जो अंतःशक्ति तथा बाह्य शक्ति के रूपों में सदा एक दूसरे को अभिभूत करने पर उद्यत रहा करती है। इनकी क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष उदाहरण हमें अपने शरीर के भीतर प्राण तथा अपान की पारस्परिक खींचातानी द्वारा लक्षित होता है। यही बात इडा और पिंगला नामक दो नाड़ियों की विषमता से भी प्रकट होती है, जिस कारण उनमें समता लाकर सुषुम्ना में लीन कराने की चेष्टा योगी लोग भी किया करते हैं।"

महामुद्रा की साधना

बज्रयानियों के उक्त कथन में हठयोगियों के सिद्धान्तों का कुछ प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और वहाँ तक उसमें किसी आपत्ति का प्रवेश नहीं है। परन्तु इसी प्रकार के विविध संकेतों के आधार पर ,जो उन्होंने अपनी साधना को एक विशेष रूप दे डाला, वह अंत में अत्यंत हेय समझा जाने लगा। प्रत्येक साधक के लिए इसके अनुसार एक महामुद्रा के संपर्क में भी रहना परमावश्यक समझा जाने लगा। बज्रयान का अनुयायी साधक, सर्वप्रथम किसी नीच जाति की सुंदरी स्त्री को अपने लिए चुन लिया करता था और अपने गुरु के निकट जाकर उसके आदेशानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। तब से उसकी प्रत्येक साधना, उस महामुद्रा के सहवास में रह कर ही चला करती थी और दोनों की मनोवृत्तियों में पूरी साम्यावस्था लाने के यत्न भी होते रहते थे। तदनुसार "अनेक तीव्र एवं कठिन नियमों के पालन से जितनी शीघ्रता से सिद्धि नहीं होती, उससे कहीं शीघ्र वह सभी प्रकार के कामोपभोगों से हो जाया करती है"[१], जैसे सिद्धांतों के आधार पर वे बहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार के दुर्व्यसनों में भी प्रवृत्त हो जाते थे और उसका परिणाम समाज के लिए बुरा हो जाता था। वज्रयानी आचार्यों ने महामुद्रा एवं उसके सहयोग में की जानेवाली साधना के संबंध में जो संकेत किये थे कि "उसे चांडाल-कुल की वा विशेषकर डोमिन होना चाहिए और वह जितनी ही घृणित जाति की होगी उतनी ही सफलता मिल सकती है" तथा "स्त्रीन्द्रिय वास्तव में पद्मस्वरूप है और पुंसेन्द्रिय, उसी प्रकार बज्र का प्रतीक है"[२], वे सब अनधिकारी साधकों के लिए

१. 'दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति ।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयश्चांशु सिध्यति ।। गुह्य समाज-तंत्र, पृ० २७ ।

२. 'चांडालकुल सम्भूतां डोम्बिकांवा विशेषतः ।
जुगुप्सित कुलोत्पन्नां सेवयम् सिद्धिमाप्नुयात् ।।
स्त्रीन्द्रियंच यथा पद्मं बज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ।।' —ज्ञानसिद्धि ।

व्यभिचारपरक आदेश बन गए और उक्त बातों का वास्तविक रहस्य क्रमशः विस्मृत हो गया।

इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म के इतिहास में यह समय अव्यवस्थिति के कारण बहुत विषम हो गया था। इस समस्यामूलक दशा को सँभाल कर किसी सर्वजनानुमोदित श्रेयस्कर मार्ग का निकालना अत्यंत दुष्कर कार्य था। फिर भी कई सुधारक सम्प्रदायों ने इस दिशा में सफल होने की चेष्टा की।

३. साम्प्रदायिक रूप तथा सुधार

(१) स्मार्त्त सम्प्रदाय

शंकराचार्य के सिद्धांत

स्वामी शंकराचार्य (सं० ८४५ : ८७७) ने सर्वप्रथम इस कार्य को अपने हाथ में लेकर वैदिक धर्म की ओर से एक मार्ग निकालने का यत्न किया। ये केरल प्रांत के किसी नामुद्री ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे और अपने अल्प वयस में ही संस्कृत भाषा में उपलब्ध प्रधान ग्रंथों के पारंगत विद्वान हो गए थे। इन्होंने अपना मुख्य ध्येय बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मो का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना, बना रखा था। इन्होंने अपने मत का मूल आधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल जान पड़नेवाले मतों का खंडन तथा घोर विरोध किया। उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक ठहरा कर इन्होंने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की कटु आलोचना भी की। उनके मतों के अधिकांश को वेदवाह्य बतलाया, उनके आधार-स्वरूप माने गए वेद-वाक्यों के इन्होंने भिन्न प्रकार से अर्थ किये और उन्हीं अर्थों को वेद-सम्मत सिद्ध कर उनकी संगति अन्य स्थलों के साथ भी दिखला दी। इस प्रकार वेदों की एकवाक्यता प्रतिपादित करते हुए इन्होंने एक नवीन मत का प्रवर्त्तन किया जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदांत' तथा साधना को 'स्मार्त्त मार्ग' कहते हैं। इनका कहना है कि श्रुति के मूल सिद्धांतों द्वारा एक, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवं आनंदस्वरूप मुक्तस्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। इसके सिवाय अन्य कुछ भी सत्य नहीं और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है। किंतु इस ज्ञान-साधना के पहले यह परमावश्यक है कि वेद-विहित नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का भली भाँति पालन कर अपने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया जाय, चाहे वह शुद्धि एक वा अनेक जन्मों के ही अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त होती हो।

प्रचार-कार्य

स्वामी शंकराचार्य ने अपने मत के प्रचारार्थ प्रायः सारे भारतवर्ष में भ्रमण

किया। भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों के प्रधान आचार्यों से शास्त्रार्थ किये, अनेक स्थलों पर अपने प्रवचनों द्वारा सर्वसाधारण को प्रभावित करने की चेष्टा की। देश की चारों दिशाओं में अपने चार मठ भी स्थापित किये। इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य-धर्म का पुनरुद्धार था, किंतु अपना दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक होने के कारण इन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग उक्त मत के अधिकतर सिद्धांत-निरूपण तथा प्रतिपादन में ही किया। इसके लिए इन्होंने स्वभावतः खंडन-मंडन की तर्क-प्रणाली का अनुसरण किया जिसका अधिक प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग पर ही पड़ सका। इस श्रेणी के लोगों के लिए इन्होंने 'भगवद्गीता', 'वेदांत सूत्रों' तथा कुछ 'उपनिषदों' पर अपने भाष्यों की भी रचना की जिनमें इनके पांडित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। फिर भी सर्वसाधारण हिन्दुओं के लिए इन्होंने अपना एक-स्मार्त्त सम्प्रदाय ी संगठित किया। इसके द्वारा सभी अन्य हिन्दू सम्प्रदायों के भी व्यक्ति प्रभावित हो सकते थे और जिसके सिद्धांतों को न्यूनाधिक स्वीकार करते हुए वे अपने को एक वृहत् आर्य-धर्म का अनुयायी भी मान सकते थे। इन्होंने मठों और मंदिरों की स्थापना तथा संन्यासियों के संगठन द्वारा भी उक्त प्रचार को बड़ी सहायता पहुँचायी।

सम्प्रदाय का रूप

स्वामी शंकराचार्य ने जिस मत का उपदेश दिया, उसके सिद्धांत पक्ष में ब्रह्म का स्वरूप बौद्धों के शून्यवत् प्रतीत होता था। इनके द्वारा किया गया संन्यासियों का संगठन भी बौद्ध धर्म के भिक्षुओं के आदर्श पर निर्मित जान पड़ता था। इनकी चित्त-शुद्धि भी प्रायः वही थी जो बौद्धों को अभिप्रेत थी। परन्तु इनके स्मार्त्त सम्प्रदाय के लिए पंचदेव अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणेश की एक समान आराधना आवश्यक थी। स्मृतियों द्वारा विहित जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित्तादि का करना भी प्रत्येक मनुष्य के लिए परम कर्त्तव्य समझा गया था। इसी प्रकार इनके मत का मूल आधार वेदों तथा उपनिषदों की वह व्याख्या थी, जो इन्होंने स्वयं अपने तर्क तथा बुद्धि के अनुसार की थी। उस व्याख्या में इन्होंने बौद्ध तथा जैन-जैसे धर्मों के सिद्धांतों की आलोचना के साथ-साथ उन शाक्त, सौर, वैष्णव-जैसे हिन्दू-सम्प्रदायों के मतों को भी अमान्य ठहराया, जो अपने को वेद-सम्मत माना करते थे। इनके अपने कथन की प्रामाणिकता वैदिक शब्दों तथा वाक्यों के सूक्ष्म और पांडित्यपूर्ण विवेचन पर आश्रित थी। उसमें स्वानुभूतिपूर्ण स्वतंत्र विचार को उतना स्थान न था। इस कारण वेदादि को आधार मान कर न चलनेवालों के लिए उसकी मान्यता आवश्यक न थी और वह इस दृष्टि से एकांगी तथा अपूर्ण भी समझी जा सकती थी। केवल धर्म-ग्रंथों पर ही आश्रित न रह कर

निजी साम्प्रदायिक ढंग से काम करनेवाले व्यक्ति बौद्ध तथा जैन धर्मों के कतिपय अनुयायी थे, जिन्होंने लगभग इसी समय अपने-अपने क्षेत्रों में भी उक्त समन्वय, सामंजस्य तथा सुधार का प्रचार आरंभ किया।

(२) सहजयान सम्प्रदाय

सहजयान

पूर्वोक्त सभी बज्रयानियों की स्थिति एक ही प्रकार की नहीं थी और न सभी को हम समान रूप से व्यभिचार के गर्त में पड़ा हुआ कह सकते हैं। इनके सफल साधक सिद्ध कहलाते थे, जिनमें ८४ अधिक प्रसिद्ध थे। इन लोगों में से बहुत-से ऐसे भी थे, जिन्हें उक्त साधना के वास्तविक रहस्य का परिचय प्राप्त था और वे उसे निर्लिप्त भाव के साथ किया करते थे। उक्त साधना के सच्चे स्वरूप का नाम वे 'सहज' बतलाते थे और उसके द्वारा 'सहज सिद्धि' अथवा सभी प्रकार की सिद्धियों को सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेना संभव समझते थे। उनका कहना था कि "हमारी साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि चित्तरत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।[1]" तदनुसार सहज-सिद्धि की एक विशेषता यह थी कि इसके साधक बज्रयान तथा मंत्रयान-संबंधी मंत्र तथा मंडल आदि वाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर योग और मानसिक शक्तियों के विकास की ही ओर अधिक ध्यान देते थे। उनके मूल पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हुए भी उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करते थे। उदाहरण के लिए, 'बज्र' शब्द से अभिप्राय अब उस 'प्रज्ञा' का माना जाने लगा जो बोधिचित्त का सार स्वरूप है और जो हिन्दू तंत्र की 'शक्ति' का बोधक कहा जा सकता है। सहज-यानियों की योग-साधना के लिए किसी योग्य गुरु की सहायता भी अनिवार्य थी। वह गुरु अपने शिष्य की आंतरिक वृत्तियों की पहले परीक्षा कर लेता और तदनंतर उसे किसी तदनुकूल साधना-विशेष में नियुक्त करता। उस साधना के ही अनुसार शिष्य एक विशेष 'कुल' वा वर्ग का सदस्य समझा जाता था। ये कुल पाँच प्रकार के थे जिन्हें डोंबी, नटी, रजकी, चांडाली तथा ब्राह्मणी कहा जाता था और जिनका नामकरण बौद्धों के पंचस्कंधों वा मूल तत्त्वों के स्वभावानुसार किया गया था। गुरु पहले इस बात की जाँच कर लेता कि किस व्यक्ति में कौन-सा तत्त्व अधिक

---

१. 'तथातथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः, कदाचन।।'——प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धिः, श्लोक ४०, पृ० २४।

प्रभावशील है और उसी के आधार पर वह उसकी साधना निश्चित करता। फिर भी बज्रयान तथा सहजयान दोनों का लक्ष्य एक ही अर्थात् 'महासुख' वा पूर्ण आनंद था और समरस की दशा का ही अन्य नाम 'सहज' था, जिस कारण सहजयान नाम पड़ा था।[1]

सरहपा

ऐसे ही सहजयानियों में सरहपाद वा सरहपा की गणना की जाती है, जो संभवतः स्वामी शंकराचार्य के कुछ पूर्ववर्त्ती थे। इन्होंने कई रचनाएँ संस्कृत में तथा अन्य अपभ्रंश वा प्राचीन हिंदी भाषा में की हैं जिनसे इनकी साधना के स्वरूप का कुछ पता चलता है। इन्होंने अपने समय की प्रचलित प्रायः सभी साधनाओं की आलोचना की है। इनका कहना है कि "ब्राह्मणों को रहस्य का ज्ञान नहीं। वे व्यर्थ ही वेदपाठ किया करते हैं। मिट्टी, जल तथा कुश लेकर मंत्र पढ़ा करते हैं और घर के भीतर बैठ होम के कड़ए धुएँ से अपनी आँखों को कष्ट दिया करते हैं। ये परमहंस बन कर भगवा वेश में उपदेश देते फिरते हैं और उचित-अनुचित का भेद न समझते हुए भी ज्ञानी होने का ढोंग रचा करते हैं। शैव लोग आर्यों के रूप में शरीर पर भस्म लपेटते हैं। सिर पर जटा बाँधते हैं और दीपक जला कर घंटा बजाया करते हैं। बहुत-से जैन लोग बड़े-बड़े नख रखा कर मलिन वेश में नंगे रहा करते हैं और शरीर के बाल उखाड़ा करते हैं। क्षपणक लोग, इसी प्रकार 'पुच्छ' के बाल ग्रहण किये फिरते हैं और उञ्छ वृत्ति से रह कर जीवन व्यतीत करते हैं। श्रमण तथा भिक्खु लोग प्रव्रजित की वंदना करते हैं, 'सूत्रों' की व्याख्या किया करते हैं और केवल चिंता द्वारा चित्त-शोषण का प्रयास करते हैं। कितने लोग महायानी बन कर तर्क-वितर्क में प्रवृत्त होते हैं। मंडल-चक्र की भावना करते हैं और चतुर्थ तत्त्व के उपदेश देते हैं तथा अन्य लोग अपने को 'शून्य' में मिला देने की आशा में असिद्ध बातों के पीछे पड़े रहते हैं।"[2]

उनकी आलोचना

सरहपा ने इस प्रकार प्रचलित हिन्दू, शैव, जैन तथा बौद्ध साधना-पद्धतियों के प्रति कटु शब्दों के प्रयोग किये और उनकी जगह सहज-साधना का प्रचार किया, जो कई बातों में बज्रयानी सिद्धांतों के अनुकूल होती हुई भी उनकी तत्कालीन धारणाओं से नितांत भिन्न भावों को व्यक्त करती थी। सरहपा ने बज्रयानियों की कमल तथा कुलिशवाली प्रचलित साधना को 'सुरत विलास' का साधन मात्र ठहराया

---

१. डॉ० रमेशचंद्र मजुमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भाग १, पृ० ४२०-१।

२. सरहपाद का दोहाकोश, पटना, १९५७ ई०, दो० १०, पृ० ४-५।

और उसे अंतिम ध्येय नहीं माना। इनका कहना था कि "कमल (स्त्रीन्द्रिय) तथा कुलिश (पुंसेन्द्रिय) के संयोग द्वारा जो साधना की जाती है, वह तो निरा 'सुरत विलास' है और उसे संसार में कौन प्रयोग में नहीं लाता और कौन उससे अपनी वासना की तृप्ति नहीं कर लेता।[1] " "हमें उसके द्वारा वास्तव में निर्मल परम महासुख के आनंद का अंशमात्र क्षणानंद के रूप में प्राप्त होता है, वास्तविक रहस्य तो सभी लक्ष्य तथा लक्षणों से रहित है[2]"। इन्होंने योगिनी के मार्ग अर्थात् उक्त बज्रयानी साधना के शुद्ध रूप को 'विसरिअ' (विसदृश) अर्थात् अनोखा वा अपूर्व बतलाया है। कहा है कि जो उसे भली भाँति समझता हुआ अपना समय व्यतीत करता है, वही तीनों भुवनों की रचना करनेवाले चित्त की शुद्धि उपलब्ध कर पाता है जो योगिनी का सहजसंवरु वा स्वाभाविक सिद्धि है[3]"। योगिनी-मार्ग, जिसे बज्रयान के साधकों ने अवधूती मार्ग, चांडाली मार्ग और डोंबी मार्ग (अथवा बंगाली मार्ग) नामों से भी अभिहित किया है, वस्तुतः एक राग-मार्ग है। वह वैराग्य-मार्ग से नितांत विपरीत है और जिसे अपनाने पर ही सच्चे मोक्ष की संभावना हो सकती है। सरहपा ने इसीलिए कहा है कि "यदि साधक ध्यानहीन और प्रव्रज्या से रहित भी होकर अपने घर पर भार्या के साथ निवास करता हुआ तथा भली भाँति विषय-भोग में लीन रहते समय अपने बंधन का परित्याग नहीं कर सका, तो उसका मोक्ष होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता है।"[4]

चित्त-शुद्धि

अतएव, उक्त प्रकार के विविध राग-मार्ग, निवृत्ति-मार्ग के विपरीत प्रवृत्ति-मार्ग के द्योतक हैं और उनका अभिप्राय भी वहीं तक समझना चाहिए। उन्हें अंतिम

---

१. 'कमल कुलिस वेविभज्झठिउजोसो सुरअ विलास।
को नरमई णहतिहुअणहि कस्सणपूरइ आस।' ९४।। वही, कलकत्ता १९३८ ई०, पृ० ३६।

२. 'कुलिस सरोरुह जोएं जोइउ, णिम्मल परम महासुह बोहिउ।
खणें आणंद भेउ तहिं जाणह, लक्ख लक्खण हीण परिआणह।।'
—सरहपाद का दोहाकोष, पृ० ४९।

३. 'इअ दिवसणिसहिअहिमणइ, तिहुअणजासु णिमाण
सो चित्तसिद्धि जोइणिसहज, सम्बरुजाण।।' ८७।। दोहाकोष, पृ० ३४।

४. 'झाणहीण पव्वज्जें रहिअउ। घरहिवसंत भज्जें सहिअउ।
जइभिड़ि बिसअ रमंत ण मुच्चइ। सरहमणइ परिआलकि मुच्चइ।।' १९।।
—वही, पृ० १८।

कोटि की साधना मान बैठना अथवा उनके मुख्य उद्देश्य को न जानते हुए उनका दुरुपयोग करने लगना उचित नहीं कहा जा सकता। सहजयान बतलाता है कि सभी साधनाओं का अंतिम लक्ष्य चित्त की शुद्धि है। इसके द्वारा हमें सहजावस्था की उपलब्धि होती है और 'सहज' ही हमारे परमार्थ का आदर्श रूप है। "सहज का त्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है, उसकी कोई भी परमार्थ की साधना सफल नहीं हो सकती[1]", क्योंकि वही निज स्वभाव का प्रतीक है और उससे बढ़ कर ऊँचा और कोई भी ध्येय नहीं। इस सहज को ही बौद्ध सिद्धों की शब्दावली के अनुसार 'बोहि' (बोधि), 'जिणरअण' (जिनरत्न), 'महासुह' (महासुख), 'अणुत्तर' (अनुत्तर), 'जिनउर' (जिनपुर) अथवा 'धाम' जैसे नामों द्वारा भी अभिहित किया गया है। इसी को प्राप्त कर लेना परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द भी वास्तव में निषेधार्थक नहीं है और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। इन दोनों का तात्पर्य एक ही वस्तुस्थिति के पारमार्थिक रूप से है, जो न तो सत् है न असत् है। परन्तु जो सत् तथा असत् के परे की वस्तु के रूप में सभी के लिए परम लक्ष्य है। "इस सहज को जान लेने पर अन्य किसी का भी जानना शेष नहीं रह जाता और अन्य जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सभी कुछ इसी के अंतर्गत आ जाता है।[2]"

उसका रहस्य

तो फिर सहजोपलब्धि के लिए की जानेवाली चित्त-शुद्धि का रहस्य क्या है? सरहपा का कहना है कि, एक चित्त ही सबका बीज रूप है और भव अथवा निर्वाण भी उसी से उत्पन्न होते हैं। उसी चिंतामणि स्वरूप चित्त को प्रणाम करो अर्थात् उसी का आश्रय लो, वही तुम्हें अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देगा। बद्ध-चित्त द्वारा बंधन मिलता है और मुक्त-चित्त द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें कोई भी संदेह नहीं। जिस चित्त से जड़ जीव बंधन-ग्रस्त होते हैं, उसी की सहायता से पंडित लोग शीघ्र मुक्त हो जाते हैं।[3] वह चित्त स्वभावतः शुद्ध है," "किंतु बंधन

---

१. 'सहजछड्डिजे णिब्बाण भाविउ, णउ परमत्थ एक्क तेसाहिउ ॥' १३॥
—दो० को०, पृ० १७।

२. 'तसुपरिआणे अण्ण ण कोई, अवरें गण्णे सब्बविसोइ ॥१६॥
—दो० को०, पृ० १७।

३. 'चित्तेक्कसअलबीअं भवणिब्बाणोवि जस्सविफुरंति।
तंचितामणिरूअं पणमह ईच्छा फलंदेंति ॥४१॥

पाकर दौड़ता है और मुक्त होकर स्थिर हो जाता है।[1]"

सिद्ध अनंग बज्र ने भी कहा है कि, "बज्रयानाचार्यों के अनुसार जब चित्त में अनेकानेक संकल्पों का अंधकार भरा रहता है और जब वह आँधी के समान उन्मत्त, बिजली के समान चंचल तथा रागादि मलों द्वारा अवलिप्त रहता है, तब उसी को 'संसार' का नाम दिया जाता है। परन्तु वही जब प्रकाशमय होने के कारण सारी कल्पनाओं से रहित होता है, जब उसमें रागादि के मल नहीं पाये जाते"[2] और "जब उसके विषय में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान का प्रश्न भी नहीं उठता, तब उसी श्रेष्ठ वस्तु को 'निर्वाण' की संज्ञा दी जाती है।" चित्त ही सब कुछ है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं।

साधना

अतएव, "इस सर्व रूप को खसम (ख=आकाश, सम=समान) अर्थात् शून्य बना देना चाहिए और मन को शून्यस्वभाव का रूप दे देना चाहिए। इससे वह वस्तुतः 'अ-मन' अर्थात् अपना चंचल स्वभाव छोड़ कर 'मन के विपरीत स्वभाव का' हो जाय और तब सहज-रूप का अनुभव होने लगता है।[3]"

सिद्ध तेलोपा ने भी इसीलिए कहा है कि, "चित्त जिस समय खसम (शून्य) का रूप धारण कर समसुख अर्थात् संतुलित अवस्था में प्रवेश कर जाता है, उस समय किसी भी इन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं होता। यह समसुख आदि तथा अंत दोनों से रहित होता है और आचार्य लोग इसे ही 'अद्वय' भी कहा करते हैं[4]। मन

चित्ते बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थिसंदेहा।
बज्झति जेणबिजडा लहु परिमुच्चंति तेणबि बुहा ॥४२॥
—दो० को०, पृ० २४

१. 'बद्धो धावइ दह दिहंहि, मुक्को णिच्चल ठाइ।' वही, पृ० २४.

२. 'अनल्प संकल्प तमोभिभूतम्, प्रभंजनोन्मत्त तडिच्चलञ्च।
रागादि दुर्बार मलावलिप्तम् चित्तंहि संसारमुवाच बज्री॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीण रागादि मलप्रलेपं।
तथा, ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्वं तदेव निर्वाण वरं जगाद॥,

३. 'सब्बरूअ तहि खसम करिज्जइ, खसम सहावे मणवि धरिज्जइ।
सोबिमणु तहि अमणु करिज्जइ, सहज सहावै सोपरु रज्जइ॥' ७७॥
—दो० को०, पृ० ३२

४. 'चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ इन्दीअ विसअ तहि म त्तण दीसइ॥५॥
आइ रहिअ एहु अंत रहिअ, बरगुरु पाअ अद्दअ कहिअ॥' ६॥
——तेलोपा का दोहा कोष, पृ० ३।

को इसप्रकार अ-मन करनेवाली क्रिया को ही सिद्धों ने मन का निःस्वभावीकरण वा मन का मार डालना कहा है। इसके अभ्यास को स्पष्ट करने के लिए सिद्ध शांतिपा ने रुई धुनने का रूपक भी दिया है। वे कहते हैं कि, "रुई को धुनते-धुनते उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश निकालते चलो, फिर देखोगे कि उसे अंश-अंश विश्लेषण करते-करते अंत में कुछ भी शेष नहीं रह जाता, अपितु अनुभव होने लगता है कि रुई को धुनते-धुनते उसे शून्य तक पहुँचा दिया[1]"। 'बोधि-चर्यावतार' में इसी क्रिया को हिरण के शिकार के भी रूपक-द्वारा बतलाया है; जैसे, "इस चमड़े के ऊपरी अंश को अपनी बुद्धि की सहायता से पृथक् कर दो और तब अपनी प्रज्ञा-द्वारा अस्थि-पंजर को मांस से भी निकाल दो। फिर हड्डियों को भी दूर कर अपने विवेक के बल से सोचोगे, तो स्वयं समझ लोगे कि अंत में कुछ भी तत्त्व शेष नहीं रह जाता। सब कुछ वास्तव में निस्सार मात्र है।[2] मन का आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले संकल्प, विकल्प आदि को दूर कर देने पर भी इसी प्रकार शून्य मात्र रह जाता है और वही अवस्था हमारे लिए परमपद की स्थिति है।

यौगिक प्रक्रिया

इस प्रकार उक्त दृष्टि से विचार करने पर बज्रयान की उपर्युक्त महामुद्रा साधना का तात्पर्य कुछ और ही हो जाता है।

सिद्ध काण्हपा ने शरीर के भीतर सहज वा महासुख के उत्पत्ति स्थान की कल्पना इडा तथा पिंगला नाम की दो प्रसिद्ध नाड़ियों के संयोग के निकट में ही की है और उसे पवन के नियमन द्वारा भी प्राप्त करना आवश्यक बतलाया है।[3] उनके अनुसार बाँयी नासिका की 'ललना' नामक (प्रज्ञा स्वरूप) चंद्रनाड़ी तथा दाहिनी नासिका की 'रसना' नामक (उपाय स्वरूप) सूर्य नाड़ी उस महासुख कमल के दो खंड हैं। उसका पौधा गगन के जल में, जहाँ अमिताभ वा परम आनंदमय प्रकाश पंक-रूप में वर्तमान है, उत्पन्न होता है। उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूल-शक्ति होती है और उसका रूपहंकार अथवा अनाहत ज्ञान का होता है। इस

---

१. 'तुला धुणि धुणि आँसुरेआँसु, आँसु धुणि धुणि निरवरसेसु।
... ...'तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।'

२. 'इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थिपजरतोमांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपिपृथक् कृत्वा पश्य ज्ञान मनन्ततः।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥'

३. काण्हपा का दोहा कोष, दो० ४-५-६, पृ० ४१।

महासुख कमल के मकरंद का पान योगी तथा साधक लोग शरीर के भीतर ही कर लेते हैं और उनका आनंद 'सुरतवीर' के आनंद के समान होता है। वे अन्यत्र कहते हैं कि, "यदि पवन के निर्गमन-द्वार पर दृढ़ ताला लग जाय और तज्जनित घोर अंधकार में शुद्ध वा निश्चल मन का दीपक जला दिया जाय और यदि वह जिन-रत्न की ओर उच्च गगन से स्पर्श कर जाय, तो संसार का उपभोग करते समय भी हमें निर्वाण की सिद्धि प्राप्त हो जाय।[1]" वायु-निरोध होने पर मन आप-से-आप निश्चल हो जाता है और मन के निश्चल हो जाने पर वायु-निरोध भी सिद्ध है अर्थात् इन दोनों का पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है।

पिण्ड-रहस्य

पवन तथा मन को जहाँ एक साथ निश्चल वा निस्तब्ध किया जाता है, उस स्थान की कल्पना सिद्धों ने 'उद्धमेरु' अथवा मेरुदंड वा सुषुम्ना के सिरे के रूप में की है और काण्हपा ने कहा है कि "वह पर्वत के समान सम-विषम है और उसकी कंदरा में सारा जगत् विनष्ट होकर शून्य में लीन हो जाता है।[2]" उसी उच्च पर्वत के शिखर को सिद्धों ने महामुद्रा वा मूल शक्ति नैरात्मा का निवास-स्थान भी बतलाया है।[3] सिद्ध शबरपा का कहना है कि उक्त "ऊँचे शिखर पर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी शाखाएँ गगन का चुंबन करती हुई प्रतीत होती हैं। वहाँ पर अकेली शबरी (नैरात्मा) वन का एकांत विहार करती है, वहीं त्रिधातु की बनी सुंदर सेज भी बिछी हुई है और साधक योगी वहाँ पहुँच कर उक्त दारिका के साथ प्रेमपूर्वक विलास किया करता है।"[4]

सिद्ध काण्हपा ने उस डोंबी (नैरात्मा) को "चौंसठ पँखुड़ी वाले कमल पुष्प के ऊपर चढ़ कर सदा नृत्य करती रहने वाली भी कहा है और उसके साथ अपना विवाह-संबंध स्थापित करने का रूपक बाँधा है।[5]" सिद्ध डोंबीपा ने उसके विषय में बतलाया है कि "वह मातंगी (डोमिन वा नैरात्मा) गंगा-यमुना अर्थात्

---

१. 'जइ पवण गमण दुवारे दिढ़ तालाबि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारे मण दिवहो किज्जइ।
जिणरअणउअरे जइसो बरु अम्बरु छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भुंजन्ते णिब्बाणोवि सिज्झइ॥'२२॥

२. काण्हपा का दोहाकोष, दोहा २२, पृ० ४४।

३. वही, दोहा १४-१५, पृ० ४२।

४. चर्यापद भा० १, डॉ० बागची संपादित, चर्या २८, पृ० १३३।

५. वही, चर्या १० तथा १९, पृ० ११६ और १२६।

इडा तथा पिंगला के मध्य नाव खेकर बिना कोई कौड़ी वसूल किये बड़े सुभीते के साथ हमें पार कर जिनपुर पहुँचा देती है।[१]"

इसी प्रकार सिद्ध बिरूपा ने कहा है कि "वह अकेली शुंडिनी (कलाली) इधर इडा और पिंगला नाड़ियों को सुषुम्ना नाड़ी में लाकर एकत्र करती है और उधर बोधि-चित्त को ले जाकर प्रभास्वर शून्य में भी ला जोड़ती है। उसके निकट चौंसठ यंत्रों में भरा मद (महासुख) सँभाल कर रखा हुआ रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँच कर मदपी फिर लौटने का नाम तक नहीं लेता।[२]" अतएव उक्त शबरडोंबी, मातंगी अथवा शुंडिनी की प्रतीक महामुद्रा का महत्त्व स्वयं सिद्ध है।

युगनद्ध

सहजयानियों की साधना के अंतर्गत प्रज्ञा तथा उपाय को युगनद्ध में परिणत कर बोधिचित्त को उसकी संवृत अवस्था से विवृत दशा में ले जाना भी आवश्यक समझा जाता था और उसकी विवृत दशा ही पारमार्थिक सत्य की स्थिति समझी जाती थी। इसके लिए सहजयानी साधक बोधिचित्त को पहले निर्माण-चक्र वा मणिपूर चक्र में हठयोग के द्वारा उपलब्ध करता था और वहाँ से उसे फिर क्रमशः धर्म-चक्र वा अनाहत चक्र तथा संभोग चक्र वा विशुद्धि चक्र ले जाता हुआ उसे शीर्षस्थ उष्णीश[३], कमल अर्थात् सहज चक्र बज्रकाय तक पहुँचा कर पूर्णतः शांत एवं निश्चल सहज रूप प्रदान कर देता था। क्योंकि बोधिचित्त उसके अनुसार जब तक निर्माण-चक्र में रहेगा, तब तक अंतिम सुख संभव नहीं। स्मरण रहे कि बोधिचित्त का उक्त मार्ग इडा (बाम नाड़ी) वा पिंगला (दक्षिण नाड़ी) से न होकर, मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना से जाता है जो इसी कारण मध्य मार्ग भी कहलाता है। यह मार्ग अत्यंत विकट तथा बाधापूर्ण है और इसके दोनों ओर बराबर खतरा बना रहता है।

काण्हपा ने इन दोनों पार्श्वों को 'आली' तथा 'काली' ललना-रसना अथवा रवि-शशि भी कहा है और बतलाया है कि उन 'ए' तथा 'बं' को तोड़ कर ही

---

१. चर्यापद, चर्या १४, पृ० १२१।

२. 'एकसे शुंडिनि दुइ घर सान्धअ। चीअण बाकलअ वारुणी बान्धअ॥
 ... .
 चौसठी घड़ीये देल पसारा। पइठेल गराहक नाहि निसारा॥'
 —चर्या ३, पृ० १०६।

३. डॉ० एस० बी० दास गुप्त : आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, कलकत्ता, १९४६, पृ० १०६।

मैं सहज तक पहुँच पाया हूँ। इस योग-साधना द्वारा एक प्रकार की आभ्यंतरिक शक्ति जागृत होती है जिसे योगिनी वा चांडाली नाम दिया जाता है, जिसे डोंबी वा सहज सुंदरी भी कहा गया है और जिसके कारण ही महासुख संभव हो पाता है।

सहजमार्ग

सिद्धों ने सहजयान की इस साधना का नाम 'सहजमार्ग' भी दिया है और उसका उजूबाट (ऋजुबाट) अर्थात् सरल रास्ते के रूप में वर्णन किया है। सरहपा ने कहा है कि, "जब कि नाद, बिंदु अथवा चंद्र और सूर्य के मंडलों का अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तब फिर सरल मार्ग का त्याग कर बंक मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। बोधि सदैव अपने निकट वर्तमान हैं, उसके लिए लंका (कहीं दूर) जाने की आवश्यकता नहीं। जब हाथ में कंकण है ही, फिर दर्पण ढूँढ़ते फिरने से क्या लाभ हो सकता है। सहजमार्ग ग्रहण करने वाले के लिए ऊँचा-नीचा, बाँया-दाहिना सभी एक भाव हो जाते हैं। इस मार्ग की प्रक्रिया चाहे सीधे चित्त-शुद्धि के ढंग से की जाय अथवा बोधिचित्त तथा नैरात्मा के पारस्परिक मिलन वा समरस के रूप में हो, दोनों ही दशाओं में वह स्वयं वेदन अथवा एक प्रकार की स्वानुभूति ही कही जा सकती है। इसका यथातथ्य वर्णन, इसी कारण संभव नहीं है। परन्तु इतना निश्चय है कि यह बीच का मार्ग वा मध्य मार्ग है जिसमें किसी प्रकार की गंभीर बाधाओं को स्थान नहीं है।[१]"

सिद्ध शांतिपा ने इसीलिए कहा है कि "इस मार्ग में बाम तथा दक्षिण नामक दोनों पार्श्वों का त्याग कर आँखों देखी हुई राह से वा आँख मूँद कर सीधे चलना है। क्योंकि इस प्रकार अग्रसर होने में तृण-कंटकादि वा ऊखड़-खाबड़ स्थलों की अड़चनें किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकतीं।[२]" ऐसा सहजमार्ग अंत में एक विशुद्ध सात्विक जीवन का मार्ग बन सकता है और उसके द्वारा, इस प्रकार विश्वकल्याण तक की आशा की जा सकती है।

---

१. 'नाद न विन्दु न रबिससि मंडल। चिअ राअ सहाबे मुकल ॥
ऊजुरे ऊजु छाड़ि मालेहुरे बंक। निअडि बोहि मा जाहुरे लंक ॥
हाथेर कांकण मालेउ दापण। अपणे अपा बुझतु निअमण ॥
बाम दाहिन जो खाल बिखला। सरह भणइ बापा ऊजु बाट भइला ॥
—चर्या ३२, पृ० १३८।

२. 'बाम दाहिण दो बाटा च्छाडी, शांति बुलथेउ संकलिऊ ॥
घाट णगुमा खडतडि ण होइ, आखि बुजिअ बाट जाइऊ ॥
—चर्या १५, पृ० १२२।

सारांश

बौद्धों की साधना अपने मूल प्रवर्त्तक के समय सदाचरण की साधना के रूप में आरंभ हुई थी। किंतु उसमें समयानुसार भक्ति, ज्ञान तथा तंत्रोपचार की पद्धतियों का क्रमशः प्रवेश होता गया। अंत में उसने बज्रयानियों के हाथ में विकृत तथा बीभत्स रूप तक धारण कर लिया। फिर भी विक्रम की ८वीं शताब्दी के लगभग उसे कतिपय सहजयानियों ने अनेक प्रचलित बातों का समन्वय तथा सामंजस्य कर उसका पुनरुद्धार करना चाहा। इस प्रकार की चेष्टा विक्रम की १२वीं शताब्दी के प्रायः आरंभ काल तक किसी न किसी रूप में निरंतर होती चली आई। पता चलता है कि उस समय तक महायान के अंतर्गत एक अन्य उप-यान भी 'कालचक्रयान' के नाम से प्रचलित हो चुका था जिसने 'जो कुछ ब्रह्मांड में है वह सभी पिंड में भी है' के आधार पर काया को विशेष महत्त्व प्रदान कर उसकी शुद्धि तथा प्राणशुद्धि को चित्त से भी अधिक आवश्यक ठहराया।[1] इसके अनुयायियों के अनुसार 'काल' शब्द का अक्षर 'का' उस कारण का प्रतीक है जो सर्व कारण-रहित तत्त्व में अंतर्निहित रहता है। अतएव बज्रयोग द्वारा कारण की भावना तक को दबा देना आवश्यक है और 'ल' अक्षर का अभिप्राय उस लय से है जो नित्य संसृति में सदा के लिए सबके अंतर्भुक्त हो जाने की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार 'चक्र' शब्द का 'च' भी चल-चित्त का द्योतक है और 'क्र' उसके क्रम वा विकास का पूर्ण विरोध करने की ओर प्रवृत्त करता है।[2] इन चारों अक्षरों के आधार पर ही उन्होंने बज्रयोग साधना को चार प्रकार से विभक्त किया था और वे उसका उपदेश देते थे। इस उप-यान ने योग-साधना के संबंध में मुहूर्त्त, तिथि, नक्षत्र-मंडल आदि काल-संबंधी बातों को भी अधिक महत्त्व दे रखा था जिसके कारण इस पर ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ने लगा। फिर क्रमशः निम्न श्रेणी के लोगों के सम्मिलित होते जाने के कारण, अंत में यह इस काल को Demon (राक्षस) समझने वालों

---

१. टिप्पणी : पिंड वा देह को सहजयानियों ने भी पूर्ण महत्त्व दिया था और सरहपा ने उसके भीतर गंगा, यमुना जैसी पवित्र नदियों तथा गंगासागर, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ-स्थानों, पीठों और उपपीठों का भी अस्तित्व बतला कर उसे सबसे सुखदायक माना था एवं उसी के भीतर उसका होना भी सिद्ध किया था। देखिये सरहपाद का दोहा कोष दोहा, ४७-४८।

२. 'काकारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोत्रवै।
चकाराच्चलचित्तस्य ककारात् क्रम बन्धनैः॥'

नाडपाद की सेकोद्देश टीका, पृ० ८।

का एक समुदाय मात्र बन गया। परन्तु बौद्ध धर्म को भारत से निर्वासित कर उसे श्रीहत करने के लिए तब तक अन्य अनेक भिन्न-भिन्न शक्तियाँ भी काम करती आ रही थीं। इन्हें आगे चल कर पूरी सफलता मिल गई और उसका कोई भी आंदोलन संभवतः १४ वीं शताब्दी के अनंतर न रह सका। उसके विविध अवशेष चिह्नों तक ने विवश होकर नवीन हिन्दू-रूप धारण कर लिए और १७वीं वा १८वीं शताब्दी तक उसके शुद्ध रूप का यहाँ एक प्रकार से लुप्तप्राय हो गया।

(३) जैन मुनियों का सुधारक सम्प्रदाय

महावीर तथा उनका उपदेश

जैन-धर्मावलंबी अपने धर्म को बहुत प्राचीन बतलाते हैं और कम से कम ऋषभदेव नामक एक पौराणिक महापुरुष को उसका प्रथम प्रवर्त्तक मानते हैं। ऋषभदेव के अनंतर इस धर्म के २३ अन्य प्रचारक भी हुए जिन्हें वे तीर्थंकर कहते हैं। इनमें से अंतिम अर्थात् महावीर (सं० ५२१-४६६ वि० पू०) के समय से इसका शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है और पता चलता है कि इसकी मुख्य साधना का प्रारंभ तथा विकास क्रमशः किस प्रकार होता गया। महावीर स्वामी का पूर्व नाम वर्धमान था और उन्होंने अपनी आयु के ३०वें वर्ष में अपनी नवजात कन्या प्रियदर्शना के आविर्भाव के अनंतर अपने भाई को कौटुंबिक भार देकर संन्यास ग्रहण किया था। उन्होंने १२ वर्षों तक घोर तपस्या की और ७२ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया। उनके अहिंसात्मक उपदेशों के प्रचार से वैदिक कर्मकांड का पर्याप्त विरोध हुआ और एक संयमशील कठोर जीवन का आदर्श अधिक लोकप्रिय होने लगा। इस धर्म के सिद्धांतों के अनुसार जीव का मूल स्वभाव शुद्ध, बुद्ध एवं सच्चिदानन्दमय है, किंतु केवल पुद्गल वा कर्म के आवरण से वह आच्छादित हो जाता है। अतएव जीव का प्रधान लक्ष्य अपने उक्त पौद्गलिक भार को पूर्णतः हटा कर अपने को उच्चातिउच्च स्थिति तक पहुँचा देना है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल भी मिला करता है, इसलिए मनसा, वाचा तथा कर्मणा किसी प्राणी को दुःख न देना, संयमशील जीवन व्यतीत करना, सदाचार का पालन करना, बिना अधिकार किसी अन्य की वस्तु को ग्रहण न करना, किसी प्रकार का दान न लेना तथा मन को विषय-वासना से मोड़ने के लिए व्रत-उपवास करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होना चाहिए। आवरण का पूर्णतः क्षय होने के लिए सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यग् चरित्र की आवश्यकता होती है जिनमें से प्रथम से अभिप्राय जिनोक्त तत्त्वों में पूरी रुचि का होना, द्वितीय के अनुसार संपूर्ण वस्तु-स्थिति का असंदिग्ध ज्ञान होना तथा तृतीय के द्वारा निन्दनीय भोगों का सर्वथा

त्याग और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वा संतोष नामक पाँच महाव्रतों का पालन समझा जाता है।

श्वेतांबर तथा दिगंबर

जैनियों ने सृष्टि को अनादि माना है और कर्मफल के किसी प्रदाता में भी उन्हें विश्वास नहीं; अतएव उनका धर्म निरीश्वरवाद का प्रचार करता है। फिर भी अपने तीर्थंकरों को वे देवतुल्य अलौकिक व्यक्ति मानते हैं, जिस कारण समय पाकर उनके यहाँ उनकी मूर्तियों के पूजनार्चन की प्रथा चल पड़ी। पौराणिक युग में उनके भव्य एवं सुंदर मंदिरों का निर्माण होने लगा और उनकी भक्ति तंत्रोपचारों के प्रभाव में भी आ गई तथा कई अन्य आराध्य देवों तथा देवियों तक के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया जाने लगा। प्रसिद्ध है कि ऐसी मूर्तियों के शृंगारादि के संबंध में ही मतभेद होने के कारण सर्वप्रथम इस धर्म के अनुयायी 'श्वेतांबर' तथा 'दिगंबर' नामक दो दलों में विभक्त हो गए। इनमें से श्वेतांबर सम्प्रदायवाले जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथ 'अंगों' के प्रति विशेष श्रद्धा रखते हैं, किंतु दिगंबर सम्प्रदाय के अनुयायी अपने २४ पुराणों में कथित धर्म को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इसके अतिरिक्त श्वेतांबर सम्प्रदाय के लोग तीर्थंकरों की मूर्तियों को कच्छ वा लँगोट पहना कर पूजते हैं; किंतु दिगंबरों के यहाँ वे प्रायः नंगी ही रखी जाती है। दिगंबर स्त्री का मोक्ष होना नहीं मानते, किंतु श्वेतांबर मानते हैं। दिगंबर साधु नग्न रहा करते हैं और श्वेतांबर वाले श्वेत वस्त्र पहनते हैं। फिर भी इस धर्म की विशेषता मानव-जीवन के अंतर्गत आत्मसंयम, सदाचार तथा अहिंसा के नियमों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना है। किंतु, पौराणिक युग के प्रभाव में आकर इसके अनुयायी भी पुराणों की रचना, तीर्थों की स्थापना, कठोर व्रतों के अनुष्ठान, तीर्थंकरों की भक्ति तथा विविध तर्क-वितर्कों के फेर में पड़ गए। उनका प्राचीन मुख्य ध्येय पूर्ववत् स्थिर न रह सका और विक्रम की ९वीं-१०वीं शताब्दियों तक आकर उनकी साधना के अंतर्गत विविध वाह्याचारों का समावेश हो गया। समकालीन हिन्दू तथा बौद्ध पद्धतियों से वे बहुत कुछ प्रभावित हो गए और इन धर्मों के साधारण अनुयायियों में बहुत कम अंतर दीख पड़ने लगा।

सुधार की प्रवृत्ति

ऐसे ही समय जैन-धर्मावलंबियों में कुछ व्यक्ति अपने समय के पाखंड तथा दुर्नीति की आलोचना करने की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने अपनी रचनाओं तथा सदुपदेशों द्वारा सच्चे आदर्शों को सच्चे हृदय के साथ अपनाने की शिक्षा देना आरंभ किया। उनका प्रधान उद्देश्य धार्मिक समाज में क्रमशः घुस पड़ी अनेक बुराइयों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें दूर करने के लिए उद्यत करना

था। अतएव उन्होंने उस समय की लोकभाषा को ही अपनी उक्तियों का माध्यम बनाया तथा सबकी समझ में आने योग्य कथन-शैली का प्रयोग भी किया। देवसेन (लगभग सं० ९९०) जैसे जैन साधुओं ने अपने सहधर्मियों को सदाचार के उपदेश देकर उसके विविध अंगों के महत्त्व तथा उपयोगिता पर भी पूर्ण प्रकाश डाला था। इस प्रकार वे एक बार फिर अपने धर्म का प्रचार पूर्ववत् करने की ओर अग्रसर हुए थे, किंतु समय के अनुसार केवल उतनी ही बातें अपेक्षित नहीं थीं। हिन्दू बौद्ध धर्मों के अनुयायी अपने समक्ष वर्तमान स्थिति की परीक्षा तथा उसके संशोधन की ओर भी प्रवृत्त हो चुके थे। सभी किसी न किसी प्रकार के सामंजस्य के आधार पर बिगड़ती हुई दशा को सँभाल लेना चाहते थे। फिर भी उनका अभिप्राय यह नहीं था कि हम दूसरे धर्मों द्वारा स्वीकृत मुख्य-मुख्य सिद्धांतों को भी अपना लें और इस प्रकार एक नवीन मत का प्रचार करें तथा उसे सर्वमान्य ठहरावें। वे लोग अन्य धर्मों की बुराइयों की ओर ही विशेष ध्यान देते रहे और उनके खंडन तथा समीक्षा द्वारा अपने-अपने मतों के मुख्य सिद्धांतों को सुधारकों की भाँति प्रतिपादित करते रहे।

मुनिराम सिंह

जैन साधु मुनिराम सिंह (लगभग विक्रम की ११वीं शताब्दी) एक ऐसे ही सुधारक थे, जिन्होंने प्रचलित पाखंडादि का घोर खंडन किया। सिद्धांतों की व्याख्या मात्र करते फिरनेवाले तर्कपटु पंडितों के विषय में उन्होंने कहा है कि "ऐसे लोग बुद्धिमान कहलाते हुए भी मानो अन्न के कणों से रहित पुआल का संग्रह किया करते हैं[1]" और "कण का त्याग कर उसकी भूसी मात्र कूटा करते हैं[2]"। "बहुत पढ़ने-लिखने से क्या लाभ है। पंडितों को चाहिए कि वे ज्ञान के उस एक अग्नि-कण को ही अपना लें, जो प्रज्वलित होने पर पुण्य वा पाप दोनों को क्षण-मात्र में ही जला देता है[3]"। षड्दर्शनों के झमेलों में पड़कर मन की भ्रांति नहीं मिट सकती। एक देव के ६ भेद कर दिए, किंतु उससे मोक्ष के निकट नहीं पहुँच सके[4]; जैसे, इसी प्रकार सिर मुड़ाये हुए संन्यासियों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा है कि "हे मुंडी! तूने सिर तो मुड़ाया, पर चित्त को नहीं मूंड सके। जिसने अपने चित्त का

१. पाहुड दोहा, (कारंजा जैन सिरीज ३) दोहा ८४, पृ० २७।

२. वही, दोहा ८५, पृ०, २७। ३. वही, दोहा ८७, पृ० २७।

४. 'छह दंसण धंधइ पडिय, मणहण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेंणण मोक्खहं जंति॥ ११६'
—पाहुड़ दोहा, पृ० ३५।

मुडन कर डाला, उसने संसार का ही खंडन कर दिया ।[1] स्वयं जैन साधु भी एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक स्नान करते फिरते थे तथा पुराणादि का पाठ करना पुण्यप्रद कार्य समझते थे। मुनिराम सिंह ने उन्हें भी समझाते हुए कहा है कि "देवालयों में पाषाण है, तीर्थों में जल और सब पोथियों में काव्य भरा है। जो कुछ भी फूली-फली वस्तु दीखती है, वह सब ईंधन हो जायगी। एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक भ्रमण करने वालों को कुछ भी फल नहीं होता। वे बाहर से शुद्ध हो गए, पर आभ्यंतरिक दशा जैसी की तैसी ही रह गई।[2]" जब, "न मंत्र, न तंत्र, न ध्येय, न धारण, न उच्छ्वास को कारण किया जाता है, तभी मुनि परम सुख से सोता है। यह गड़बड़ किसी को भी नहीं रुचता। मुनिराम सिंह को ये सारी बातें विडंबना-मात्र ही जान पड़ती हैं।

सिद्धांत तथा साधना

उनका फिर कहना है कि "विषय कषायं में जाते हुए मन को जिसने रोक कर निरंजन में लगा रखा, उसी ने मोक्ष के कारण का अनुभव किया; क्योंकि मोक्ष का स्वरूप इतना ही मात्र है।[3]" उनके पूर्ववर्त्ती जोगी इन्दु ने भी कहा है कि देवता देवालयों वा पाषाणों में अथवा चित्रादि में भी नहीं रहा करते, ज्ञानमय निरंजन तो अपने चित्त के सम एवं शांत होने पर आप ही आप अनुभव में आ जाता है।[4]" इन्द्रियों को विषयादि से निवृत्त करने के संबंध में इसी कारण मुनिराम सिंह ने भी कहा है कि दो रास्तों से एक साथ जाना नहीं होता और न दोमुहीं सुई से कभी कंथा ही सिला जा सकता है। दोनों बातें एक साथ संभव नहीं, इन्द्रिय सुख और मोक्ष भी।[5]" उन्होंने ज्ञानमयी आत्मा को ही सब कुछ माना है और उसके

---

१. 'मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुंडिउ चित्तुण मुंडिया ।
चितहं मुंडणु जि कियउ, संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥१३५॥
—पाहुड दोहा, (कारंजा जैन सिरीज ३) पृ० ४१ ।

२. वही, दोहा १६१-२, पृ० ४६ ।
'मंतुण तंतुण धेउणु धारणु, णवि उच्छासह किज्जइ कारणु ।
एमइ परम सुक्खु मुणि सुब्बइ, एहि गलगल कासुण रुच्चइ ॥२०६॥
—वही, पृ० ६३ ।

३. वही, दो० ६२, पृ० २१ ।

४. परमात्म प्रकाश, रामचन्द्रजैन शास्त्रमाला, बंबई, पद्य १२३, पृ० १२४ ।

५. पाहुड दोहा, दोहा २१३, पृ० ६४ ।

अतिरिक्त अन्य बातों को 'परायउ भाउ' वा पराये भाव का नाम दिया है। उनका बार-बार यही कहना है कि "शुद्ध स्वभाव का ध्यान करो।[१]" इन मुनि जनों के अनुसार वही परमात्मा है।

जोगी इन्दु ने इसीलिए कहा भी है कि "जिसके भीतर सारा संसार है और जो संसार के भीतर भी वर्तमान रहने पर संसार नहीं कहा जा सकता, वही परमात्मा है[२]", तथा "जो परमात्मा है, वही 'अहं' है और जो 'अहं' का रूप है वही परमात्मा भी है और योगी को बिना तर्क-वितर्क के केवल इतना ही जान लेने की आवश्यकता है।[३]" निर्मल आत्मस्वभाव ही वास्तव में, अंतिम लक्ष्य है। निर्मल एवं शुद्ध स्वरूप ज्ञानमय आत्मा जिसके हृदय में अनुभूत हो गया, वह त्रिभुवन में स्वतंत्र विचरण करता है और उसे किसी प्रकार के पापादि का भय नहीं। उसे न तो किसी प्रकार के विधि-निषेध की आवश्यकता रहती है और न उसे किसी प्रकार की उपासना ही करनी पड़ती है। इसे मुनिराम सिंह ने कहा है।[४]

अतएव, इन लोगों की साधना का अंतिम स्वरूप यही जान पड़ता है कि "विषय सुखों का पूरा उपभोग करते हुए भी उनकी धारणा नहीं बननी चाहिए और इसी प्रकार शाश्वत सुख का लाभ शीघ्र से शीघ्र उठाया जा सकता है।[५]" इन मुनियों ने इसी प्रकार अपने मूल सदाचार-प्रधान धर्म का ही उपदेश दिया है।

उपसंहार

बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों के साधना-परक सिद्धांत इस प्रकार अपने-अपने मूल धर्मो के पुनरुद्धार की दृष्टि से ही निश्चित किये गए थे और वे क्रमशः सद्-व्यवहार तथा सदाचार के पोषक थे। पहले का अंतिम ध्येय यदि चित्त-शुद्धि द्वारा सहजावस्था की उपलब्धि कर अपने को विश्व-कल्याण के भावों में मग्न कर देना था, तो दूसरे का उसी प्रकार ज्ञान द्वारा शुद्ध स्वभाव की पूर्ण अनुभूति प्राप्त कर उसके आधार पर अपने को परमात्मा की कोटि तक पहुँचा देना था। दोनों

---

१. पाहुड दोहा, दोहा ३७, पृ० १२।

२. परमात्म प्रकाश, रामचन्द्र जैनशास्त्रमाला, बंबई, पद्य ४१, पृ० ४५।

३. योगसार, पद्य २२, पृ० ३७५।

४. पाहुड दोहा, पृ० १६।

मणु मिलियउ परमेसर हो परमेसरु जिमणस्स।
विण्णिवि समरसि हुइ रहियँ पुज्ज चढावउ कस्स ।।४९।।

५. वही, दोहा ४, पृ० २।

की प्रगति विविध परिस्थितियों के प्रभाव के कारण बहुधा वक्र मार्गों से होती हुई गई। तदनुसार उनमें समय-समय पर भिन्न-भिन्न बातों का समावेश भी होता गया। किंतु विक्रम की ८वीं से ११वीं शताब्दी तक उनके प्रमुख सुधारकों ने उनके प्राचीन भावों को पुनरुज्जीवित करने के यत्न किये। यह युग ऐसी चेष्टाओं के लिए प्रसिद्ध था। वैदिक-धर्म के स्वामी शंकराचार्य जैसे सुधारक भी अपने-अपने ढंग से इस प्रकार के ही कार्यों में व्यस्त रह चुके थे। परन्तु वे अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों का प्रधान आश्रय लेकर चलते थे और ईश्वरवादी होने के कारण उनकी साधना में भक्ति का भी अंश पर्याप्त मात्रा में रहता था। इसके विपरीत बौद्ध तथा जैन सुधारक निरीश्वरवादी थे और उन्हें किसी प्राचीन धर्म-ग्रंथ का आधार भी स्वीकार नहीं करना था। ये ज्ञान तथा योग को महत्त्व अवश्य देते थे। इन दिनों इन तीनों का प्रायः समकालीन एक चौथा आंदोलन भी चल रहा था जो बहुत कुछ बौद्धों का अनुसरण करता हुआ भी ईश्वरवादी था और इसका नाम 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' था।

(४) नाथयोगी-सम्प्रदाय

योग-साधना

योगियों की परंपरा बहुत प्राचीन काल से चली आती है और योग-साधना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में लगभग वैदिक युग से ही मान लिया जा सकता है। उस काल के व्रात्य लोगों के विषय में कहा गया है कि उनमें से कई एक रुद्र की उपासना करते थे तथा प्राणायाम को भी बहुत महत्त्व देते थे। उनके ध्यान की साधना वर्तमान योगाभ्यास से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी।[1] उसमें राजयोग के प्रारंभिक रूप का भी आभास मिलता है। अपने शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभुत्व जमा कर उन पर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को भी वश में लाना उस समय संभव समझा जाता था। तदनुसार हम उस काल के साधकों में से बहुतों को भिन्न-भिन्न प्रकार की तपश्चर्या में निरत पाते हैं। तप के द्वारा उस समय एक अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होना समझा जाता था। उसकी क्रियाओं में निहित सृजन-शक्ति तक की कल्पना हमें ऋग्वेद के एक मंत्र[2] में लक्षित होती है। उपनिषदों

---

१. जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज, रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज १९३८ ई०, पृ० २१२-३।

२. 'तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
—ऋ० मं० १०, सू० १२९।

में से तो कई एक ऐसे हैं जिनमें योगाभ्यास के महत्त्व के अतिरिक्त उसका सांगोपांग किया गया विवरण तक पाया जाता है।[1] गौतम बुद्ध के समय तक हमें इस प्रकार की साधनाओं के प्रेमी बहुत बड़ी संख्या में मिलने लगते हैं। पहले पहल वस्तुतः योग-मार्ग का अनुसरण ही करने की ओर वे तथा तीर्थंकर महावीर स्वामी भी प्रवृत्त होते हुए पाये जाते हैं। महावीर स्वामी की प्रवृत्ति तो व्रत एवं तपश्चर्या की ओर कदाचित् उनके अंतिम समय तक दीख पड़ती है। इसके सिवाय प्रसिद्ध है कि विख्यात यूनानी वीर सिकंदर ने सं० २६९ वि० पू० के लगभग पश्चिमोत्तर भारत के किसी योगी से भेंट की थी और वैसे ही किसी एक को वह अपने साथ भी ले गया था। इसी प्रकार महर्षि पतंजलि के समय (वि० पू० दूसरी शताब्दी के लगभग) योग-विद्या की प्रधानता पायी जाती है और इस विषय को लेकर वे प्रसिद्ध 'योग-सूत्रों' की रचना कर डालते हैं। इनमें इसकी साधना तथा दार्शनिक रहस्यों का भी विवेचन सुव्यवस्थित ढंग से किया गया दिखलायी पड़ता है तथा जो योग-दर्शन वा योग-शास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रंथ बन जाता है।

शैव तथा योगी

'ऋग्वेद' के उल्लिखित मंत्र से कुछ और आगे[2] हमें केशी वा मुनि लोगों के जो वर्णन मिलते हैं, उनसे तपस्वियों वा व्रतशील साधकों के आचरण तथा वेश-भूषा के संबंध में हमें बहुत कुछ पता चलता है। उनके आधार पर अनुमान होने लगता है कि ऐसे लोग कदाचित् शिवोपासक भी रहे होंगे। उनमें और आधुनिक काल के योगियों में कोई बहुत बड़ा अंतर न रहा होगा। वे लोग उस समय लंबे-लंबे बाल तथा जटा धारण करते थे, धुनी रमाते थे, किसी विष तुल्य वस्तु को खाया करते थे। मटमैले पीले वस्त्र लपेटते थे, अपनी साधना द्वारा हवा में ऊपर उठ जाते थे तथा रुद्रवत् रहा करते थे। सिंध-प्रदेश की उपत्यका में उपलब्ध कतिपय ध्वंसावशेषों से तो कुछ विद्वानों ने यहाँ तक निष्कर्ष निकाला है कि योग-विद्या तथा शैव-सम्प्रदाय का अस्तित्व वैदिक युग के पहले भी रहा होगा और इन दोनों के बीच कुछ न कुछ संबंध भी अवश्य रहा होगा। योग-शास्त्र के विद्वान् उसका प्रवर्त्तक भगवान् शिव को ही माना करते हैं। इसी कारण उन्हें एक नाम 'योगीश्वर' का भी दिया जाता है तथा शिव की अनेक मूर्तियों में उन्हें योगासन पर बैठे हुए वा समाधिस्थ के रूप में भी दिखलाया जाता है। शैवों में पाशुपत सम्प्रदाय

---

१. योगोपनिषद् (संग्रह) ए० महादेव शास्त्री सम्पादित,
अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास।

२. ऋग्वेद मं० १०, सूक्त १३६।

के अनुयायी भस्म-स्नान के साथ-साथ योगाभ्यास को भी अत्यंत आवश्यक समझते हैं। यह बात उनके कुछ अन्य सम्प्रदायों में भी प्रायः उसी प्रकार देखी जाती है। इसके सिवाय योग-शास्त्र के अनेक उपलब्ध ग्रंथों की रचना शिव-पार्वती के संवादों के रूप में की गई मिलती है।

शैव-प्रभाव

नाथयोगी-सम्प्रदाय के भी आदि प्रवर्त्तक 'आदिनाथ' शिव ही कहे जाते हैं। प्रसिद्ध मराठी कवि श्री ज्ञानेश्वर ने अपनी गीता की टीका में कहा है कि "क्षीर-समुद्र के तीर पर देवी पार्वतीजी के कानों में जिस ज्ञान का उपदेश श्री शंकरजी ने किया, वह उस समय क्षीर-समुद्र में रहनेवाले एक मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से वास करनेवाले मत्स्येन्द्र नाथ को प्राप्त हुआ। इन्हीं के संचार में सप्तशृंग पर्वत पर हाथ-पैर टूटे हुए चौरंगी नाथ, मत्स्येन्द्र नाथ के दर्शनों से चंगे हो गए। विषयोपभोग की जहाँ गंध भी नहीं पहुँच सकती, ऐसी अविचल समाधि लगाने की योग-विद्या मत्स्येन्द्र नाथ ने गुरु गोरखनाथ को दी। इस प्रकार गुरु गोरखनाथ, योग-कमलिनी सर तथा विषय-विध्वंसक एक वीर बन कर योगीश्वर पद पर अभिषिक्त हुए।[1]" उन्होंने इसी प्रकार आगे चल कर गोरखनाथ का शिष्य गैनी नाथ को, गैनी नाथ का शिष्य अपने भाई निवृत्ति नाथ को तथा निवृत्ति नाथ का शिष्य अपने को बतलाया। ज्ञानेश्वर के अनंतर उनके वारकरी सम्प्रदाय की परंपरा चलती है। परन्तु नाथयोगी-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक आदिनाथ को कुछ लोग प्रसिद्ध जालंधर नाथ मानते हैं और उसी के अनुसार सिद्धों की गुरु-परंपरा भी ठहराते हुए दीख पड़ते हैं।[2] उधर महाराष्ट्र में प्रचलित परंपरा के आधार पर जालंधर नाथ मत्स्येन्द्र नाथ के गुरु-भाई सिद्ध होते हैं। क्योंकि उनके विषय में कहा गया है कि "महादेव और पार्वती विमान पर बैठे क्षीर-सागर की ओर विहार कर रहे थे। नीचे एक बालक को तैरते हुए देखा। पार्वती ने उसे उठा कर विमान में बैठा लिया और शंकर ने उस पर अनुग्रह किया। यही महेशानुगृहीत सिद्ध पुरुष आगे जालंधर नाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए।[3]" वास्तव में सिद्धों तथा नाथों की परंपराओं का विवेचन ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर अभी तक नहीं हो पाया, जिस कारण इस विषय में कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। इस संबंध

---

१. श्री ज्ञानेश्वरी, अध्याय ८, ओवी १७५०-४।

२. गंगा (पुरातत्वांक) सं० १९८९, पृ० २२०।

३. ल० रा० पांगारकर : श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (हिन्दी अनुवाद)
—गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० ६७।

में केवल इतना मान लेना कदाचित् सत्य से अधिक दूर नहीं कहा जा सकता कि नाथयोगी-सम्प्रदाय योगमार्गी साधकों का एक समुदाय है जिस पर बौद्ध धर्म तथा शैव-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है ।

इतिहास

नाथयोगी-सम्प्रदाय के प्रारंभिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। बहुतों की धारणा है कि इसके मूल प्रवर्त्तक गुरु गोरखनाथ थे, जिन्होंने सर्वप्रथम कनफटा योगियों की परंपरा चलायी थी और हठयोग की साधना को प्रचलित किया था। परन्तु विक्रम की ८वीं शताब्दी में रची गई बाण भट्ट की पुस्तक 'कादम्बरी' तथा उसके भी पहले की रचना 'मैत्रेयी उपनिषद्' में कनफटा-जैसे योगियों के उल्लेख मिलते हैं ।[1] हठयोग के संबंध में भी एक जनश्रुति है कि उसका सर्वप्रथम प्रचार करने वाले मार्कण्डेय ऋषि थे जिनका हमें पौराणिक परिचय मात्र उपलब्ध है। गुरु गोरखनाथ से संभवतः कहीं प्राचीन कुछ ग्रंथों में भी हठयोग की कतिपय क्रियाओं की चर्चा की गई मिलती है।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग से अभिप्राय यदि हठपूर्वक वा बलप्रयोग द्वारा की गई किसी योग-साधना से है, तो वह वस्तुतः गुरु गोरखनाथ की नहीं हो सकती। गुरु गोरखनाथ का अधिक ध्यान काया-शोधन की ओर ही था, जो कतिपय आसनों तथा एक संयत जीवन का भी परिणाम हो सकता है। इनकी योग-साधना की प्रणाली में भी अधिकतर उन्हीं बातों का समावेश था जो सहजयोग में पायी जाती हैं तथा जिनके कारण उन्हें शुद्ध हठयोग कहना वास्तविकता के नितांत विरुद्ध जाना कहा जा सकता है। गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट योग-साधना के अंतर्गत बीज-रूप में प्रायः वे ही बातें प्रधानतः दीख पड़ती हैं जिनका प्रचार आगे चल कर कबीर साहब आदि संतों ने भी किया था।

गोरखनाथ तथा नाथ-परंपरा

गुरु गोरखनाथ योगी-सम्प्रदाय के सर्वप्रधान नेता थे और वास्तव में इसे संगठित करने एवं सुव्यवस्थित रूप देने में सबसे अधिक हाथ इन्हीं का था। इसके लिए इन्होंने असम से लेकर पेशावर से भी आगे तक पूर्व-पश्चिम तथा कश्मीर और नेपाल से लेकर महाराष्ट्र तक उत्तर-दक्षिण की लंबी यात्राएँ कीं। कई स्थानों पर इसके केन्द्र स्थापित किये और वहाँ अपने योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया। तदनुसार प्रसिद्ध है कि इनके यत्नों वा प्रभावों के कारण इसकी अनेक

---

१. डॉ० मोहनसिंह : गोरखनाथ ऐंड मिडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १५ ।

२. 'द्विधा हठः स्यादेकस्तु, गोरक्षादि सुसाधितः ।
अन्यो मृकंड पुत्राद्यैः, साधितो हठ संज्ञक ॥'

भिन्न-भिन्न शाखाएँ चल निकलीं, जिनमें से कम से कम १२ आज भी अधिक प्रसिद्ध हैं। इन प्रधान १२ शाखाओं में से (१) 'सत्यनाथ-पंथ' का मुख्य स्थान उड़ीसा प्रदेश का पाताल भुवनेश्वर है और इसके प्रवर्त्तक सत्यनाथ माने जाते हैं, (२) 'धर्मनाथ-पंथ' धर्मनाथ का चलाया हुआ कहा जाता है और इसका प्रधान केन्द्र कच्छ प्रदेश का धिनोधर स्थान माना जाता है, (३) 'कपिलानी-पंथ' का मुख्य स्थान गंगासागर के निकट दमदम वा गोरखवंशी है, (४) 'रामनाथ-पंथ' के प्रवर्त्तक संतोषनाथ माने जाते हैं और इसका मुख्य स्थान गोरखपुर समझा जाता है तथा इसका संबंध दिल्ली से भी बतलाया जाता है, (५) 'लक्ष्मणनाथ-पंथ' वा 'नाटेश्वर' का मुख्य स्थान झेलम जिले के अंतर्गत गोरक्षटिला नामक स्थान है और इसके मूल प्रवर्त्तक कोई लक्ष्मणनाथ माने जाते हैं, (६) 'वैराग-पंथ' के प्रथम प्रचारक भर्तृहरि समझे जाते हैं और इसका केन्द्र राताडुंगा स्थान है, जो पुष्कर क्षेत्र से ६ मील पश्चिम की ओर स्थित है, (७) 'मीननाथी-पंथ' संभवतः 'पाव-नाथ-पंथ' भी कहा जाता है और इसका मुख्य स्थान जोधपुर का महामंदिर है; (८) 'आई पंथ' की मुख्य प्रचारिका विमला देवी मानी जाती हैं तथा इसका केन्द्र दिनाजपुर जिले का गोरक्षकुंई स्थान है। इस पंथ का संबंध घोड़ाचोली से भी समझा जाता है, (९) 'गंगानाथ-पंथ' के प्रवर्त्तक गंगानाथ माने जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र गुरुदासपुर जिले का जथवार स्थान है, (१०) 'ध्वजनाथ-पंथ' का प्रधान केन्द्र संभवतः अंबाला में वर्तमान है और इसके मुख्य प्रवर्त्तक ध्वजाधारी हनुमान बतलाये जाते हैं, (११) 'पागल-पंथ' के प्रवर्त्तक चौरंगीनाथ माने जाते हैं और इसका मुख्य केन्द्र बोहर स्थान है, जो इन्द्रप्रस्थ—प्राचीन-दिल्ली—से ३५ मील पश्चिम की ओर वर्तमान है, (१२) 'रावल' वा 'नागनाथ-पंथ' में अधिकतर मुसलमान योगी ही पाये जाते हैं और इसका प्रधान केन्द्र रावलपिंडी है। इनके सिवाय दरियानाथ, कंथडनाथ आदि के नामों से भी कई शाखाएँ प्रचलित हैं।

मुख्य नाथ-पंथी

उपर्युक्त १२ शाखाओं के अतिरिक्त नव-नाथों की भी चर्चा की जाती है, जो ८४ सिद्धों की भाँति अधिक प्रसिद्ध हैं तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी माने जा सकते हैं। किंतु भिन्न-भिन्न तालिकाओं में इनके वही नाम नहीं दीख पड़ते और न यही जान पड़ता है कि उक्त नाम चुने जाने का आधार कौन-सी बात हो सकती है। 'नाथों की परंपरा' में अनेक नाम ऐसे मिलते हैं जो प्रसिद्ध नाथ-पंथियों के हैं, किंतु जो किसी कारणवश विशेषणों की भाँति प्रयुक्त हुए है। ऐसे नामों में उदाहरण-स्वरूप चौरंगीनाथ, विचारनाथ, वैरागनाथ आदि हैं जो क्रमशः पूरन भगत, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसे नाथों के संबंध में अनेक

रहस्यमयी कथाएँ भी प्रचलित हैं जिनमें उनके चरित्रों के विवरण अलौकिक शक्ति तथा चमत्कारों के प्रदर्शन-मात्र से जान पड़ते हैं। इस सम्प्रदाय के कई नाथों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जो भिन्न-भिन्न संग्रहों के अंतर्गत अभी तक अप्रकाशित रूप में पड़ी हुई हैं। केवल गुरु गोरखनाथ तथा कतिपय अन्य ऐसे सिद्धों की कुछ बानियों का प्रकाशन अब तक हुआ है[1] और चर्पटीनाथ के कतिपय 'सलोक' और 'सषाया' तथा गोपीचंद वा वैरागनाथ की एक 'गाथा' भी अन्यत्र प्रकाशित रूप में देखने को मिली हैं।[2] गोरखनाथ, मत्स्येन्द्र नाथ जैसे नाथों की कुछ संस्कृत रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

गोरखनाथ का समय

गुरु गोरखनाथ के आविर्भाव का समय भिन्न-भिन्न विद्वानों के अनुसार ईसा की ७वीं शताब्दी से लेकर उसकी १२वीं शताब्दी तक अनुमान किया गया है। इसी काल में बौद्ध धर्म का ह्रास तथा शैव-सम्प्रदाय का पुनरुद्धार भारतवर्ष में हुआ था और ऐसा ही समय उनके विविध कार्यों के लिए उपयुक्त भी हो सकता था। फिर भी इतना लंबा समय उनके जीवन-काल के लिए कभी संभव नहीं कहला सकता। उनके पूर्व वर्तमान रहनेवाले सरहपा आदि कतिपय सिद्धों का जीवन-काल ईसा की ८वीं-९वीं शताब्दियों तक जाता हुआ प्रतीत होता है और ११वीं-१२वीं शताब्दी का समय गुरु गोरखनाथ के भिन्न-भिन्न शिष्यों तथा अनुयायियों का आविर्भाव-काल समझा जाता है। अतएव, इनके जीवन-काल के लिए ईसा की १०वीं शताब्दी अथवा अधिक से अधिक ११वीं के प्रारंभिक भाग में अर्थात् विक्रम की ११वीं शताब्दी में ही कोई समय निश्चित करना उचित कहा जा सकता है।[3]

जीवन-वृत्त

गुरु गोरखनाथ के जन्म-स्थान के विषय में भी बड़ा मतभेद है और भिन्न-भिन्न परंपरानुसार इन्हें पश्चिम की ओर पेशावर अथवा जालंधर से लेकर पूर्व की

---

१. गोरखबानी, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग सं० १९९९ तथा 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१४।

२. डॉ० मोहन सिंह : गोरखनाथ एंड मिडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० २०-३१।

३. हाँ, यदि इनके समकालीन मत्स्येन्द्रनाथ की, 'मच्छन्द विभुः' (तंत्रालोक, भा० १, पृ० २५) के रूप में, स्तुति करनेवाले अभिनव गुप्त (११वीं शताब्दी) का भी विचार किया जाय, तो ये इससे कुछ पहले के भी समझे जा सकते हैं।

ओर बंगाल के बाकरगंज जिले तथा दक्षिण की ओर गोदावरी नदी के निकटवर्त्ती चंद्रगिरि नगर तक में उत्पन्न हुआ समझा जाता है। फिर भी, इस समय उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही मान लेना अधिक समीचीन जान पड़ा है कि इनका जन्म संभवतः पश्चिमी भारत वा पंजाब प्रांत के ही किसी स्थान में हुआ था। इनका कार्य-क्षेत्र नैपाल, उत्तरी भारत, असम, महाराष्ट्र और सिंध तक फैला हुआ था। उक्त सामग्रियों के ही आधार पर इनके विषय में यह भी अनुमान किया जाता है कि इनका जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यमय था। इनका शरीर सुंदर, सुगठित तथा बाल रूप रहा और ये अपनी युवावस्था से ही वैराग्य की भावना से प्रभावित थे। इन्होंने दूर-दूर देशाटन करके सत्संग तथा साधना की थी और अपने सम्प्रदाय के मंतव्यानुसार आध्यात्मिक साधना का प्रचार करते हुए गुरु-भक्ति, अनुशासन, सेवा-भाव एवं सरल, सात्विक तथा संयमशील जीवन के उपदेश दिये थे। फलतः इनके उपदिष्ट मत का प्रभाव भारत के बाहर अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, सीलोन तथा पेनांग तक क्रमशः फैलता गया और इनके अनुयायियों में विभिन्न जाति तथा धर्म के अनेक व्यक्ति सम्मिलित होते रहे और समय पाकर इनके नाम पौराणिक गाथाओं में प्राचीन अवतारों वा महापुरुषों की भाँति स्थान पाने लगे। फिर तो इनके विषय में यहाँ तक कहा जाने लगा कि ये अमर हैं तथा सतयुग में पेशावर, त्रेतायुग में गोरखपुर, द्वापर में हुरमुज़ तथा कलियुग में गोरख-मंडी में इन्होंने अवतार धारण किया था।[1]

वेदांत तथा योगशास्त्र

नाथयोगी-सम्प्रदाय के संगठन का कोई प्रारंभिक इतिहास उपलब्ध न होने से पता नहीं चलता कि उक्त नाथों की शाखाओं में किसी प्रकार का सिद्धांतगत वा साधना-संबंधी मतभेद भी था वा नहीं, अथवा कौन-सी शाखा किस काल वा परिस्थिति में स्थापित की गई थी। गुरु गोरखनाथ के प्रभावों द्वारा उनका स्थापित किया जाना भी संभवतः अनुमान पर ही आश्रित है। गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धांत वेदांत-परक जान पड़ते हैं। इनकी योग-संबंधी रचनाओं के अंतर्गत भी अद्वैत सिद्धांत का ही प्रतिपादन लक्षित होता है। परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के साधन-भेद द्वारा वेदांत निर्दिष्ट साधना तथा नाथ-पंथ की साधना में महान् अंतर है। वेदांत का ज्ञान-मार्ग तत्त्व विचार को सर्वोच्च स्थान देता है तथा नित्या-नित्य विवेक, वैराग्य तथा ब्रह्म-स्वरूप में समाहित होने की एकांतिक चेष्टा को ही

---

१. जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज (रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज), पृ० २२८ ।

सब कुछ समझता है; किंतु योग दर्शन को केवल विचार वा आत्म-चिंतन पर ही आश्रित रहना पर्याप्त नहीं जान पड़ता। उसका यह भी कहना है कि जब तक शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं लायी जातीं, प्राणों के नियमन पर पूर्णाधिकार नहीं प्राप्त होता तथा अपनी चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं हो जातीं, तब तक वह निर्मल वा निस्तरंग आत्मतत्त्व हमारे अंतःकरण में स्पष्टतः प्रतिबिंबित नहीं हो सकता। ज्ञानियों की धारणा है कि इन्द्रिय वा मन की चंचलता के मूल में अज्ञान-जनित वासना रहा करती है.जिसे हम श्रवण, मनन वा निदिध्यासन द्वारा दूर कर सकते हैं। परन्तु योगियों के अनुसार इस बात को बिना पूर्ण समाधि की स्थिति-प्राप्त किये, असंभव नहीं तो अत्यंत दुष्कर अवश्य मानना पड़ेगा। योग-साधना का मुख्य ध्येय किसी प्रकार चित्तवृत्तियों की बहिर्मुखता वा बहुमुखता को अंतर्मुखता वा एकमुखता में परिणत करना है जिसके द्वारा साधक के सभी भाव, ज्ञान तथा कर्म एक आत्मतत्त्व की ओर ही केन्द्रीभूत हो जायँ तथा उसके जीवन में साम्य वा शांति आ जाय और वह पूर्ण आत्मनिष्ठ भी हो जाय। इस प्रकार "योग की प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाणों पर आश्रित है, किंतु ज्ञानी-गण वस्तुतः शास्त्रीय वाक्यों के विनिश्चय में ही आस्था रखा करते हैं।[1]"

हठयोग

गुरु गोरखनाथ का कहना है कि "शरीर के नवों द्वारों को बंद करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि रुद्ध कर लिया जाय, तो उसका व्यापार ६४ संधियों में होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जायगा जिसकी छाया नहीं पड़ती।[2]" इसके सिवाय, "साधना के द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुनायी पड़ता है जो समस्त सार तत्त्वों का भी सार है और गंभीर से गंभीर है। इससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जिसे स्वसंवेद्य होने के कारण कोई शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। तभी प्रतीत होने लगता है कि उसके अतिरिक्त सारा वाद-विवाद झूठा है।[3]"

---

१. प्रत्यक्षहेतवो योगाः, संख्याः शास्त्र विनिश्चयाः। महाभारत।

२. 'अवधू नव घाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध ॥'५०॥
—गोरखबानी (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग) पृ० १९।

३. 'सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद विवादं ॥' १२॥
—गोरखबानी, पृ० ५।

अतएव वे बतलाते हैं कि "यदि तुम्हें मेरे वचनों में पूरी आस्था हो जाय और तुम उसके अनुसार कुछ कर देखो, तो पता चलेगा कि विना खंभ के आधार पर स्थित आकाश में तेल तथा वत्ती के बिना ज्ञान का प्रकाश हो गया और तुम सदा उसके उजाले में विचरण कर रहे हो।[1]" इसी कारण ये प्राणायाम की साधना को पूरा महत्त्व देते हैं और बतलाते हैं कि उनमनी जोग इस प्रकार श्वासोच्छ्वास के इस 'भक्षण' द्वारा ही सिद्ध होता है। इसलिए पंडितों को चाहिए कि कोरे अध्ययन में ही लीन न रह कर सारी बातों को अपनी करणी द्वारा प्रत्यक्ष भी कर लें। इसी प्रकार ये यह भी कहते हैं कि उक्त उक्तियों द्वारा शब्द को प्राप्त कर लेने पर परमात्मा आत्मा में वैसे ही दीखने लगता है, जैसे जल में चंद्रमा प्रतिबिंबित होता है और शरीर की शुद्धि होकर अमरत्व भी मिल जाता है। इन्होंने काया-शोधन, मनोमारण, संयत जीवन-यापन आदि पर विशेष रूप से जोर दिया है और कहा है कि इन साधनाओं की ओर ध्यान देना परमावश्यक है।

मनोमारण

गुरु गोरखनाथ ने अपने एक पद में मृगया के रूपक द्वारा मनोमारण-क्रिया को बड़े सुंदर ढंग से समझाया है। ये कहते हैं कि "इस साढ़े तीन हाथ के पर्वत वा शरीर में माया-रूपी बेल भले प्रकार से फूली-फली हुई है, इसमें (मुक्ति रूपी) मुक्ताफल भी लगते हैं और इसी के विस्तार में सारी सृष्टि का भी अस्तित्व है। फिर भी इस बेल की कोई जड़ नहीं है (अर्थात् माया निर्मूल वा मिथ्या है) और वह ऊपर तक फैल कर गोस्थान वा ब्रह्मानुभूति के स्थल पर आवरण डाले हुए है। इस बेल का लोभी मृग (अर्थात् मन) इसमें सदा विचरण किया करता है और उसे मारने के लिए ऐसा भील (अर्थात् आत्मा) प्रवृत्त होता है। उसके न तो हाथ हैं, न पैर हैं और न दाँत हैं तथा जिसके पास मृगों को मोहित करने के लिए कोई सुरीले सुर के बाजे वा मारने के लिए हाथ में तीर-धनुष भी नहीं है। ऐसी स्थिति में रहता हुआ भी वह शिकारी अचूक निशाना मार देता है और बिना किसी वाह्य साधन के यह उसे बेध कर अपने हाथ कर लेता है। अपने स्थान पर लाये गए उक्त मृग को जब शिकारी देखने लगता है, तब पता चलता है कि वास्तव में उसके चरण, सींग अथवा पुच्छ आदि कुछ भी नहीं है। गुरु गोरखनाथ का कहना है कि यही मृतक मृग वह अवधूत वा योगी है जिसके रहस्य को हृदयंगम

**१. 'थंभ विहूणी गगन रचीलै तेल बिहूणी बाती।
गुरु गोरख के वचन पतिआया तब द्यौस नहीं तहाँ राती॥'२०४॥**

—गोरखबानी, पृ० ६८।

कर लेनेवाले को पूर्ण ज्ञान हो जाता है।[1]" इसी प्रकार इन्होंने अजपा जाप द्वारा चंचल मन को स्थिर कर ब्रह्मरंध्र महारस वा योगामृत उपलब्ध करने की विधि को भी सुनारी का रूपक दिया है और बतलाया है कि इस प्रकार अपनी श्वास-क्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमा कर उक्त कार्य संपन्न किया जा सकता है।[2]

आत्म-चिंतन

मनोमारण की ओर बौद्ध सिद्धों ने भी पूरा ध्यान दिया था और भुसुकुपा ने तो उक्त रूपक द्वारा प्रायः उन्हीं शब्दों में उसका वर्णन भी किया है।[3] किंतु गुरु गोरखनाथ की साधना की विशेषता उनके उक्त अजपा जाप तथा उसके साथ ब्रह्मज्ञान को भी महत्त्व देने में है। ये अन्यत्र कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगा कर जाप जपो कि 'सोहं-सोहं' का उपयोग वाणी के बिना भी होने लगे। दृढ़ आसन पर बैठ कर ध्यान करो और रात-दिन ब्रह्मज्ञान का चिंतन किया करो।[4]" यह ब्रह्मज्ञान आत्म-विचार है जिसे उक्त साधना के साथ निरंतर चलना चाहिए। आत्मा को ये सर्वत्र व्यापक समझते हैं और उसके अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई भी वस्तु लक्षित नहीं होती, जिसकी ओर इनका ध्यान आकृष्ट हो सके। इनके अनुसार "आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है और वही काल भी है। वह स्वयं मारता और स्वयं खाता है। वही माया के रूप में अनेक बंधन डालता है और वही जीवन बन कर उसमें पड़ भी जाता है। उसके बाहर कोई तीर्थ नहीं, जहाँ स्नान किया जाय और न कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय। वह अलक्ष वा अभेद है, किंतु जो कुछ भी है, वही है।[5]" इनके सारे उपदेशों का सारांश यही जान पड़ता है कि "दशम् द्वार अथवा ब्रह्मरंध्र में सदा ध्यान केन्द्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपा जाप जपो और आत्मतत्व पर विचार करो। इससे सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जायँगी तथा पुण्य वा पाप किसी से संसर्ग नहीं रह जायगा। निरंतर एक समान तथा सच्चे हृदय के साथ 'राम' में रमना ही केवल एकमात्र उद्देश्य है। और इसी के द्वारा मुझे भी

---

१. गोरखबानी, पृ० ११८ : १२०, पद २६।

२. वही, पृ० ६१-६२, पद ६।

३. चर्या, पृ० ५-६ (डॉ० सुकुमार सेन-संपादित 'ओल्ड बंगाली टेक्स्ट्स' कलकत्ता १६४८)।

४. गोरखबानी, पद ३०, पृ० १२४।

५. वही, पद ४१, पृ० १३५-१३६।

परमनिधान वा ब्रह्मपद उपलब्ध हुआ है।[1]"

रसायन

गुरु गोरखनाथ के नाथयोगी-सम्प्रदाय पर प्राचीन रसायन-सम्प्रदाय का भी कुछ न कुछ प्रभाव बतलाया जाता है। रसायन-विद्या एक प्राचीन विद्या है और पूर्व काल में इसका प्रचार अन्य कई देशों में भी सुना जाता था। रसायन-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों के उल्लेख सायण माधव के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सर्वदर्शन-संग्रह' में 'रसेश्वर दर्शन' वाले प्रकरण में मिलते हैं, जहाँ पर यह एक शैव सम्प्रदाय सा ही जान पड़ता है। पतंजलि ऋषि ने भी अपने योग-दर्शन के 'कैवल्य पाद' वाले प्रकरण में सिद्धि की उपलब्धि का मंत्र, समाधि आदि के अतिरिक्त औषधि द्वारा भी संभव होना बतलाया है।[2] रसायन-सम्प्रदाय का ध्येय मानव-शरीर को कायाकल्प के सहारे अमरत्व प्रदान कर जीवन-मुक्ति के योग्य बना देना था। रसायन-क्रिया का प्रधान रस पारद संसार-सागर के दूसरे पार पहुँचाने-वाला समझा जाता था[3], जिसकी सहायता से अमर होकर जीवन-मुक्त सिद्ध विश्व में सर्वत्र विचरण कर सकते थे। फिर भी नाथयोगियों की रचनाओं में रस के प्रयोगों का उल्लेख बहुत कम मिलता है। गुरु गोरखनाथ ने "छठे-छमासे काया पलटिवा"[4] की चर्चा अवश्य की है और कहीं-कहीं रस तथा औषधि के संबंध में रूपकों के भी प्रयोग किये हैं। किंतु नाथयोगी-सम्प्रदाय का प्रधान लक्ष्य रस-प्रयोग की अपेक्षा सहस्रार स्थित चंद्र से चूनेवाले अमृत का पान ही जान पड़ता है। अतएव, संभव है कि रसायन-क्रिया का वाह्य उपचार ही क्रमशः परिवर्तित होता हुआ उक्त योग-संबंधी अभ्यास में परिणत हो गया हो और वही नाथ-योगियों द्वारा अमरत्व का आधार माना जाने लगा हो।[5]

प्रभाव

गुरु गोरखनाथ के कायाकल्प वा काया-शोधन का अंतिम उद्देश्य ब्रह्मपदो-

---

१. गोरखबानी, पद ३३, पृ० १२७।

२. 'जन्मौषधि मंत्र तपःसमाधिजाःसिद्धयः' ॥१॥ पातंजल योग दर्शन—कैवल्य पाद।

३. 'संसारस्य परंपारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः'।

४. गोरखबानी, पद ३३, पृ० १३ और पद ५२, पृ० १९।

५. टिप्पणी : नाथयोगियों में से बहुत-से लोग 'औघड़' वा 'औघड़पंथी' भी कह-लाये। ये लोग संभवतः पाशुपत-शैवों तथा कापालिकों द्वारा अधिक प्रभावित हुए और इसी कारण इनकी साधना तथा रहन-सहन की अनेक बातें कुछ विचित्र-सी दीख पड़ती थीं।—ले०।

पलब्धि में सहायक होना है और उनकी लोक-सेवा का भाव भी उसी में सिद्ध होने का परिणाम है। नाथयोगी-सम्प्रदाय के अन्य प्रचारकों की पर्याप्त रचनाएँ नहीं मिलतीं और जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे उक्त बातों का ही समर्थन होता है। इस सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों की प्रचलित साधनाओं एवं योग की परंपरागत क्रियाओं के साथ शांकराद्वैतवाद तथा शैव सम्प्रदाय की अन्य कतिपय बातों का मेल बिठा कर एक नवीन पद्धति चलाने के यत्न किये। इसके परिणाम का प्रभाव चिरकालीन सिद्ध हुआ और आगे आने-वाले अनेक धार्मिक आंदोलनों ने इसके किसी न किसी अंश को अपना लेना आवश्यक समझा। स्वयं बौद्ध सिद्धों के कालचक्रयान नामक उप-सम्प्रदाय ने भी इसकी बहुत-सी बातें ग्रहण कर लीं जिससे उसके धार्मिक हिन्दू-समाज में खप जाते देर न लगी। गुरु गोरख द्वारा निर्दिष्ट निर्गुण तथा निराकार की उपासना भक्ति वा प्रेम का आधार पाकर आगे और भी लोकप्रिय बन गई। उनके द्वारा निर्मित तत्त्व-विचार तथा योग-साधना का ग्रंथि-बंधन आज तक भी प्रायः उसी रूप में वर्तमान समझा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी बड़े विद्वान्, चरित्र-वान् तथा लोकसंग्रही बन कर मानव-समाज के समक्ष अपना आदर्श रखते गए हैं। उनके स्वस्थ शरीर, शुद्ध अंतःकरण तथा सात्विक् जीवन की स्मृति किसी को भी अनुप्राणित कर जीवन में सानंद अग्रसर कर सकती है।

(५) सूफ़ी सम्प्रदाय

उपक्रम

स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद अधिकतर तर्क पर ही प्रतिष्ठित था और उनके स्मार्त्तधर्म के अंतर्गत भक्ति-भाव द्वारा हृदय-पक्ष को प्रश्रय देता हुआ भी वह स्वभावतः मस्तिष्क-पक्ष का ही अधिक समर्थक रहा। इसी प्रकार सहज-यानी बौद्धों का सिद्धांत भी विशेषतः किसी अपूर्व मानसिक स्थिति की ओर ही संकेत करता था और उनकी मुद्रा-साधना, युगनद्ध का उद्देश्य रखती हुई भी भाव-प्रवणता से पूर्णतः युक्त न थी। नाथयोगी-सम्प्रदाय ने उक्त दोनों की केवल मौलिक बातों को ही स्वीकार किया तथा अपने मत के भीतर भी उसने योग-साधना तथा सदाचरण पर ही विशेष ध्यान दिया। उसने न तो शंकराचार्य के भक्ति-भाव को अपनाया और न सहजयानियों की विचित्र पद्धतियों को ही कोई महत्त्व प्रदान किया। स्वामी शंकराचार्य की तर्क-प्रणाली को उपयोग में लाते हुए भी भक्ति-भाव को प्रधानता देनेवाला आचार्यों का आविर्भाव कुछ आगे चल कर हुआ, जब कि देश के अंतर्गत बाहर से आयी हुई एक नवीन साधना की धारा भी प्रवाहित होने लगी थी। उसने भारतीय दार्शनिक आधार को कुछ

दूर तक स्वीकार करते हुए भी उसमें प्रेम-भाव का पुट देकर हृदय-पक्ष को प्रधानता देना आरंभ कर दिया। इस्लाम के साथ भारत का संपर्क कदाचित् स्वामी शंकराचार्य के ही समय से किसी न किसी रूप में होने लगा था। किंतु इसके ऊपर उसके प्रभाव का पड़ना कुछ आगे चल कर सूफ़ी-प्रचारकों के यत्नों से आरंभ हुआ। अतएव, साधना के सांप्रदायिक रूप तथा सुधारवाले युग अर्थात् सं० ८०० से लेकर सं० १४०० तक के समय को यदि हम चाहें, तो सुभीते के लिए दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से पूर्वार्द्ध में मस्तिष्क-पक्ष की प्रधानता थी और हृदय-पक्ष गौण था। इसके उत्तरार्द्ध में इसके विपरीत हृदय-पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था और मस्तिष्क-पक्ष उसके सामने कुछ उपेक्षित-सा हो गया था।

सूफ़ी शब्द

'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में सभी विद्वान् सहमत नहीं दीख पड़ते। कोई इसे ग्रीक शब्द 'सोफ़िया' (ज्ञान) का रूपांतर मानता है, तो कोई इसे 'सफ़' (पंक्ति) के आधार पर निर्मित बतला कर सूफ़ियों को उन चुने हुए व्यक्तियों में गिनता है जो अपने चरित्र-बल के कारण निर्णय के दिन सबसे अलग खड़े किये जायँगे। कुछ अन्य लोग इसी प्रकार यदि उक्त शब्द को 'सफ़ा' (स्वच्छ) से बना हुआ अनुमान कर सूफ़ियों के पवित्र जीवन की ओर संकेत करते हैं, तो दूसरे का संबंध 'सुफ्फ़ा' अर्थात् मदीना की मसजिद के सामने बने हुए 'चबूतरे' से जोड़ते हैं और बतलाते हैं कि किसी समय उस पर बैठनेवाले फ़क़ीरों को ही सर्वप्रथम सूफ़ी कहा गया था। परन्तु सूफ़ी सम्प्रदाय के इतिहास वा मत के विषय में लिखनेवाले लोगों में से अधिकांश इस बात को मानते आये हैं कि उक्त शब्द 'सूफ़' (ऊन) शब्द से बना है और सूफ़ी सर्वप्रथम वे ही लोग कहलाये थे जो ऊनी कम्बल ओढ़कर घूमा करते थे और अपने मत का प्रचार किया करते थे। सूफ़ी मत को बहुत-से सूफ़ियों ने सबसे प्राचीन धर्म माना है और बतलाया है कि इसके मूल प्रवर्त्तक स्वयं आदम वा आदिपुरुष थे। परन्तु दूसरे सूफ़ियों को यह बात जँचती-सी नहीं जान पड़ती। तदनुसार उनमें से कुछ लोग इसका प्रथम प्रचारक हज़रत मुहम्मद साहब को बतलाते हैं और दूसरे इसके मौलिक सिद्धांतों का 'क़ुरान शरीफ़' में अभाव पाकर इसके प्रचार का श्रेय अली वा अन्य ऐसे किसी महान् पुरुष को देना चाहते हैं जो पैग़ंबर का साथी रह चुका हो। 'क़ुरान शरीफ़' के साथ इसका पूरा सामंजस्य स्थापित न करा सकने के कारण बहुत-से कट्टर मुसलमानों ने इसे विधर्मियों का मत ठहराया है और इसकी निंदा भी की है।

हज़रत मुहम्मद

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद साहब (सं० ६२८-६८८) ने प्राचीन धर्मावलंबी अरब-निवासियों के पारस्परिक मतभेदों को दूर कर उन्हें अपने सिद्धांतों के अनुसार एक सूत्र में बाँधने का यत्न किया था और उनके लिए ईश्वरोपासना की एक प्रणाली भी निश्चित कर दी थी। वे पूरे एकेश्वर वादी थे और ईश्वर वा खुदा के विश्वनियंतृत्व तथा न्यायशीलता में पूर्ण विश्वास रखते थे। उनके समक्ष जब कोई कठिन समस्या आ जाती, वे खुदा की इबादत के लिए बैठ जाते, उससे दुआएँ माँगते और उससे उपलब्ध आश्वासन की कल्पना कर बहुधा गद्गद् होकर लौट जाते। जब उठते तब उनके मुख से अनेक वाक्य आप-से-आप निकलने लगते जिन्हें ईश्वर-प्रेरित मान कर महत्त्व दिया जाने लगता और जिनका संग्रह भावी 'क़ुरान शरीफ़' का अंश बनता जाता। इन्होंने अपने चिंतन द्वारा अनुभवों के आधार पर निर्धारित किया था कि विविध धर्म के मौलिक सिद्धांतों में मतभेद का आ जाना अनिवार्य नहीं है, किंतु प्रत्येक धर्म की साधना का देश-कालानुसार भिन्न-भिन्न हो जाना प्रायः निश्चित-सा है। इसीलिए 'कुरान-शरीफ़' में भी कहा है, "हे पैग़ंबर, हमने प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए पृथक्-पृथक् विधियाँ नियत कर दी हैं। यदि चाहते तो उन विधानों में कोई अंतर न आने देते और सबका एक ही सम्प्रदाय बना देते। परन्तु यह विभिन्नता इसलिए लायी गई है कि समय और अवस्था-भेद के अनुसार जो-जो आदेश दिये गए हैं, उन्हीं में प्रत्येक की परीक्षा ली जाय। अतएव इन मतभेदों के पीछे न पड़ कर नेकी की राहों में एक दूसरे से आगे निकल जाने का यत्न करो।[1]"

इस्लाम धर्म

'क़ुरान शरीफ़' में उसके अंतर्गत बतलाये गए धर्म के लिए 'अल् इस्लाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है[2] जिसका अर्थ "किसी बात को मान लेना और आज्ञा पालन करना" है। 'क़ुरान' कहता है कि "धर्म की असलियत यही है कि ईश्वर ने जो कल्याण का मार्ग मनुष्य के लिए निश्चित कर दिया है, उसका ठीक-ठीक अनुसरण किया जाय।[3]" इस कारण उसमें यह भी कहा गया मिलता है कि

---

१. क़ुरान शरीफ़ सूरा ५, आयत ४८।

२. क़ुरान शरीफ़ सूरा ३, आयत १८।

३. सय्यद जहूरुल हुसैन हाशिमी : क़ुरान और धार्मिक मतभेद (मौलाना अबुल कलाम आजाद के 'तर्जुमानुल क़ुरआन' के एक अध्याय का हिंदी अनुवाद दिल्ली, १९३३ ई०) पृ० ९४।

प्रत्येक जाति को पथ-प्रदर्शन कराने के लिए पैग़ंबर भी अलग-अलग भेजे जाते हैं, जो ईश्वर की सच्ची आज्ञाओं का रहस्य बतलाते हैं। अतएव ऐसे पैग़ंबरों के ही वचनों के अनुसार चलना अपने कर्तव्य का पालन करना तथा ईश्वरीय आज्ञाओं का अनुसरण करना कहा जा सकता है। तदनुसार हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम धर्म के पैग़ंबर की हैसियत से उसके अनुयायियों के लिए ईश्वरोपासना के संबंध में कुछ साधनाएँ निर्धारित की थीं जिनकी चर्चा 'क़ुरान शरीफ़' में कई स्थलों पर की गई दीख पड़ती है और जो किसी न किसी रूप में आज भी सभी मुस्लिमों को मान्य है। ये साधनाएँ 'हक़ीक़त' (ज्ञान-मार्ग), 'तरीक़त' (भक्ति-मार्ग) तथा 'शरीअत' (कर्म-मार्ग) से संबद्ध हैं। इनमें अधिकतर प्राचीन परंपरा का ही अनुसरण है, कोई मौलिकता लक्षित नहीं होती, न कतिपय नवीन विवरणों के अतिरिक्त इनमें कोई उल्लेखनीय बातें ही पायी जाती हैं। यदि कोई विशेषता है, तो यही कि इस्लाम अपने अनुयायियों को अपने धर्म के प्रति घोर आस्तिक बना रहना सिखला देता है।

उसका प्रचार

सूफ़ी लोग मुसलमान होते हुए भी कुछ अंशों तक उक्त नियम के अपवाद स्वरूप थे और उनकी साधना 'मार्फ़त' कहलाती थी। उन पर इस्लाम-विहित बातों के अतिरिक्त उस 'मादन-भाव' का भी रंग चढ़ा था, जो शामी जाति की एक विशेषता थी और जिसे उन्होंने अन्य जातियों के तदनुकूल सिद्धांतों की सहायता से क्रमशः शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे रखा था। कट्टर मुसलमानों तथा कर्मकांडी नबियों की ओर से उनका किसी न किसी प्रकार सदा विरोध होता आया। किंतु उसकी प्रतिक्रिया में ही उन्हें अपने भावों को परिष्कृत करते जाने का अधिकाधिक अवसर भी मिलता गया और इस प्रकार समय पाकर उनका एक पृथक् सम्प्रदाय संगठित हो गया। कहा जाता है कि हज़रत मुहम्मद के अनंतर मुसलमानों का नेतृत्व करने वाले चारों खलीफ़ा अर्थात् अबू बकर (मृत्यु सं० ६९१), उमर (मृ० सं० ७००), उसमान (मृ० सं० ७१२) तथा अली (मृत्यु सं० ७१७) भी उक्त सम्प्रदाय की बातों से न्यूनाधिक प्रभावित थे और उन्होंने इसे कभी निरुत्साहित नहीं किया। फलतः, इस्लाम-धर्म के अन्य देशों में फैलते जाने के साथ-साथ इसका क्षेत्र भी क्रमशः विस्तृत होता गया और इसके अंतर्गत अन्य जातियों का भी समावेश हुआ। खलीफ़ा अली के अनंतर उमय्या-वंश के शासन-काल (सं० ७१८-८०६) से लेकर उसके परवर्त्ती अब्बासी-वंश के शासन-काल (सं० ८०७-१३३१) तक इसका विस्तार बसरा तथा बग़दाद जैसे प्रधान केन्द्रों से लेकर सीरिया, मिस्र तथा स्पेन तक हो गया। इसके अनुयायियों में वहाँ

के निवासियों की भी गणना होने लगी तथा उनमें अनेक उच्च कोटि के धर्मशील व्यक्ति भी उत्पन्न हुए ।

भारत में सूफ़ी-सम्प्रदाय

कहते हैं कि भारत में सूफ़ी-सम्प्रदाय मुसलमानों के प्रथम आक्रमण (सं० ७६६) से पहले ही प्रवेश पा चुका था। उमय्या-वंश के उक्त शासन-काल में ही अरब-निवासी व्यापारियों के साथ कभी-कभी कुछ सूफ़ी फ़क़ीर भी आ जाते थे और दक्षिण भारत तथा सिंध में अपने मत का प्रचार करते थे । फिर भी सूफ़ी-मत का वास्तविक प्रचार यहाँ कदाचित् उस समय के लगभग आरंभ हुआ जब कि अबुल हसन अल् हुज्विरी (मृ० सं० ११२६) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कश्फ़ुल महजूब' (निरावृत्त रहस्य) की रचना की और अपने प्रचार-कार्य द्वारा 'हज़रत दाता गंज' के नाम से विख्यात हुए । ये अफ़ग़ानिस्तान देश के गज़नी नगर के निवासी थे और लाहोर में संभवतः एक बंदी की दशा में लाये गए थे। सूफ़ी-मत की दीक्षा इन्हें बग़दाद केन्द्र के किसी व्यक्ति से मिली थी और अध्ययन तथा सत्संग के लिए इन्होंने पूरा देशाटन भी किया था। ये अविवाहित जीवन के समर्थक थे और इन्होंने स्वयं भी विवाह नहीं किया था । इनकी प्रतिष्ठा इतनी बड़ी समझी जाती थी कि इनके अनंतर जितने भी प्रसिद्ध सूफ़ी बाहर से आये, उनमें से सभी इनकी कब्र पर सर्वप्रथम उपस्थित हुए ।[1] उक्त ग्रंथ को इन्होंने अपने जीवन-काल के अंतिम दिनों में लिखा था और उसके द्वारा अपने मत का उपदेश देकर ये लाहोर में मरे थे, जहाँ पर इनकी कब्र बनी हुई है। इनकी रचना से पता चलता है कि सूफ़ी-मत को इन्होंने इस्लाम धर्म के सच्चे रूप का प्रतीक माना था और इसी दृष्टि से इन्होंने इसका प्रचार भी किया था। हुज्विरी के अनंतर प्रसिद्ध सूफ़ियों में बाबा फख़रुद्दीन (मृ० सं० १२२५) का नाम आता है, जो दक्षिण भारत के पेनु कोंडा स्थान में रहते थे । इनके सिवाय एक अन्य प्रभावशाली सूफ़ी सय्यद मुहम्मद बंदा निवाज़ गेसू दराज़ (सं० १३७५-१४७८) थे जिनकी रचना 'मिराजुल आशक़ीन' को हिंदवी भाषा का आदि रूप उपस्थित करनेवाली किताब कहा जाता है । इन लोगों के अतिरिक्त भारत में अन्य कई सूफ़ियों ने भी उस समय प्रचार किया, किंतु उनका प्रभाव चिरस्थायी न हो सका ।

सुहर्वर्दिया

भारत में सूफ़ी-मत का चिरस्थायी प्रभाव डालनेवाले व्यक्तियों में कदाचित्

---

१. जान ए० सुभान : सूफ़िज्म, इट्स सेंट्स ऐंड साइंस, लखनऊ, ३८ ई०, पृ० १२६ ।

वे लोग थे, जो इसके भिन्न-भिन्न चार प्रसिद्ध उप-सम्प्रदायों से संबद्ध थे। इन उप-सम्प्रदायों के नाम क्रमशः चिश्तिया, सुहर्वर्दिया, क़ादिरिया तथा नक़्शबंदिया थे और ये सभी बाहर से ही संगठित होकर आए थे। इनमें से चिश्तिया तथा सुहर्वर्दिया का संबंध हबीबिया से था। क़ादिरिया तर्तवसिया का ही एक विकसित रूप है और नक़्शबंदिया जुन्नैदिया से निकली हुई शाखा कही जा सकती है।[1] ख़्वाजा हसन निज़ामी के अनुसार सुहर्वर्दी सूफ़ी ही सर्वप्रथम भारतवर्ष में आये थे और उन्होंने अपना प्रधान केन्द्र सिंध प्रदेश को बनाया था। सुहर्वर्दिया के सर्वप्रथम प्रचारक ज़ियाउद्दीन अबुल नजीब, अब्दुल काहिर, इब्न अब्दुल्ला माने जाते हैं, जिनका जन्म सुहर्वर्द नगर में सं० ११५४ में हुआ था और जिनकी मृत्यु सं० १२२५ में बग़दाद नगर में हुई थी। इन्होंने तथा इनके भतीजे शिहाबुद्दीन (सं० १२०२-१२९१) ने मिल कर इस सम्प्रदाय की नींव डाली थी और इसका प्रचार भी किया था। बहाउद्दीन जकारिया (सं० १२२७-१३२४), जो मुल्तान के निवासी थे, शिहाबुद्दीन के ही शिष्य थे। भारत में इस सम्प्रदाय का सबसे अधिक प्रचार करने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। मक्का-मदीने से तीर्थ-यात्रा करके लौटते समय इन्होंने उनसे बगदाद में भेंट की और उनसे दीक्षा ग्रहण कर उनके प्रमुख शिष्य बन गए। उनके पीछे प्रसिद्ध भारतीय सुहर्वर्दियों में सय्यद ज़लालुद्दीन सुर्ख पोश (सं० १२५६—१३४८) का नाम लिया जाता है, जो उक्त ज़कारिया के ही शिष्य थे और जिन्होंने अपने मत का प्रचार सिंध, गुजरात तथा पंजाब में भ्रमण करके किया था। इनके पौत्र ज़लाल इब्न अहमद कबीर (मृ० सं० १४४१) थे, जिन्हें 'मखदूमे जहानियाँ' कहा जाता है और जिन्होंने ३६ बार मक्के की तीर्थ-यात्रा की थी। इनके अनेक चमत्कारों की कहानियाँ कही जाती हैं और ये एक अत्यंत लोकप्रिय सूफ़ी कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। सूफ़ी शिहाबुद्दीन ने एक अन्य शिष्य ज़लालुद्दीन तबरीज़ी (मृ० सं० १३०१) तथा उनके अनुयायियों ने सुहर्वर्दिया उप-सम्प्रदाय का प्रचार बिहार तथा बंगाल प्रांतों में किया था और वहाँ के बड़े-बड़े राजा लोगों तक को अपने धर्म की दीक्षा दी थी। हैदराबाद के निज़ाम का आसफ़जाही वंश भी इसी उप-सम्प्रदाय का अनुयायी कहा जाता है। शेख़ तक़ी (सं० १३७७-१४४१), जिनका पूरा नाम सैयद सदरुल हक़ तक़ीउद्दीन मुहम्मद अब्दुल अकबर था, इसी उप-सम्प्रदाय के मुरीद थे। इनकी समाधि झूँसी में आज तक वर्तमान है। इसी प्रकार उर्दू भाषा के प्रथम प्रसिद्ध कवि वलीउल्ला (सं० १७२५-१८०१) भी

१. जान ए० सुभान : सूफ़िज़्म, इट्स सेंट्स ऐंड साइंस, पृ० १७४।

सुहर्वर्दी ही बतलाये जाते हैं। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था, किंतु ये अंत में दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के दरबारी कवि हो गए थे।

चिश्तिया

परन्तु फिर भी भारत में सुहर्वर्दिया के अनुयायी उतने नहीं हैं, जितने चिश्तिया के समझे जाते हैं। इस उप-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक ख्वाजा अबू अब्दुल्ला चिश्ती (मृ० सं० १०२३) थे। किंतु भारत में इसका सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले प्रसिद्ध मुइनुद्दीन चिश्ती (सं० ११६६–१२९३) हुए, जो मूलतः सीस्तान (ईरान प्रदेश) के निवासी थे और अनेक सूफ़ी आचार्यों के साथ सत्संग करते हुए यहाँ सं० १२४९ में पहुँचे थे। इन्होंने शहाबुद्दीन ग़ोरी की सेना के साथ ही भारत में प्रवेश किया और कुछ दिनों तक पंजाब तथा दिल्ली में रह कर अजमेर के निकट पुष्कर क्षेत्र चले गए, जहाँ पर ये अपने अंतिम समय तक निवास करते रहे तथा मृत्यु को भी प्राप्त हुए। ये सूफ़ी फ़क़ीरों में सर्वप्रसिद्ध हुए और इन्हें श्रद्धा के साथ भारत के सभी सूफ़ियों ने 'आफ़ताबे हिंद' की पदवी प्रदान की। इनकी दरगाह अजमेर में बनी हुई है, जहाँ प्रति वर्ष ६ दिनों तक मेला लगता है और मुसलमानों की भाँति उसमें अनेक हिन्दू भी सम्मिलित होते हैं। ख्वाजा मुइनुद्दीन का प्रभाव हिन्दुओं पर भी बहुत रहा और कुछ ब्राह्मण इनके कारण 'हुसेनी ब्राह्मण' कहला कर प्रसिद्ध हो गए। इनकी दरग़ाह के निकट प्रति दिन प्रत्येक तीन घंटे पर संगीत हुआ करता है और अच्छे से अच्छे गवैये आकर उसमें भाग लेते हैं। बनिया लोग नित्य प्रति अपनी कुंजियाँ दूकान खोलने के पहले दरग़ाह की सीढ़ियों पर रख लेते हैं और उसके निकट हंडे से भात भी लुटाया जाता है। कहा जाता है कि उक्त दरग़ाह तक सम्राट् अकबर भी नंगे पैर गये थे। ख्वाजा मुइनुद्दीन के सबसे प्रसिद्ध शिष्य ख्वाजा कुतुबुद्दीन 'काकी' थे जिनके शिष्य फ़रीदुद्दीन शकर गंज' (सं० १२३०—१३२२) ने मांटगुमरी जिले के अजुधन नगर में साधना की थी, जो इसी कारण 'पाक पत्तन' कहला कर प्रसिद्ध हो गया। पाक पत्तन में भी प्रति वर्ष मुहर्रम के समय मेला लगता है, जहाँ दूर-दूर तक के लोग एकत्र होते हैं। वहाँ पर एक स्थान 'स्वर्ग का संकीर्ण द्वार' नाम से भी प्रसिद्ध है जिसमें श्रद्धालु यात्री मुहर्रम की रात्रि के समय प्रवेश किया करते हैं। फ़रीदुद्दीन अपनी मधुर उपासना-शैली के कारण 'शकर गंज' कहलाये थे और इनके ही कारण सूफ़ी-मत का प्रचार दक्षिणी पंजाब में बड़ी सफलता के साथ हुआ था।

वही

उक्त शकरगंज के प्रधान शिष्य प्रसिद्ध निज़ामुद्दीन औलिया (सं० १२९५-

१३८१) हुए। इनका जन्म-स्थान बदायूँ था और ये केवल २० वर्ष की ही अवस्था में अपने गुरु द्वारा प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे। इनके शिष्यों में अमीर ख़ुसरू (सं० १३१२—१३८१) और अमीर हसन देहलवी कवि तथा ज़ियाउद्दीन बर्नी इतिहासज्ञ प्रसिद्ध हैं। ख्वाजा हसन निज़ामी उक्त औलिया के अनुयायी निज़ामी सम्प्रदाय के ही पुरुष हैं। सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध चिश्ती फ़कीरों में एक शेख़ सलीम चिश्ती (मृ० सं० १६२६) भी थे, जो फतेहपुर सीकरी की एक गुफा में रहा करते थे। कहा जाता है कि इन्हीं के आशीर्वाद से सम्राट् अकबर के पुत्र शाहज़ादा सलीम का जन्म हुआ था जिसके उपलक्ष में इनकी दरग़ाह बनायी गई थी। हिंदी के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १४८३—१५६६) भी चिश्ती-वंश के ही अनुयायी थे। इसके अनुयायी एक अन्य प्रसिद्ध फ़क़ीर अहमद साबिर (मृ० सं० १३४८) थे जो उक्त फ़रीद के ही शिष्य थे और उनका देहावसान रुड़की के निकट हुआ था। इनके नाम पर 'साबिर' चिश्तयों की एक शाखा पृथक् चली थी। चिश्तियों का सबसे अधिक प्रचार उत्तरी, पश्चिमी, और कुछ दूर तक दक्षिणी भारत में भी हुआ था।

क़ादिरिया

क़ादिरिया शाख़ा के सर्व प्रथम प्रचारक शेख़ अब्दुल क़ादिर जीलानी (सं० ११३५-१२२३) कहे जाते हैं जो बग़दाद के निवासी थे। यह शाखा भारत में सिंध से होकर सं० १५३६ में पहुँची थी और इसके यहाँ प्रथम प्रचारक सैयद बंदगी मुहम्मद ग़ौस थे जो उच्छ नगर में सं० १५७४ में मरे थे। ये एक बड़े योग्य व्यक्ति तथा वक्ता थे और कश्मीर प्रदेश में आज तक एक प्रधान संत के रूप में पूजे जाते हैं। इनके शिष्य मियाँ मीर (मृ० सं० १६६२) भी एक विख्यात साधक थे जिनके शिष्य मुल्ला शाह ने इस मत का प्रचार कश्मीर प्रदेश में किया। शाहज़ादा दारा शिकोह (मृ० सं० १७१६) भी इसी शाखा का अनुयायी था और उसने 'रिसाल ए हक़नुमा' तथा 'सफ़ीनात औलिया' की रचना फ़ारसी में की थी। प्रसिद्ध संत बुल्ले शाह (सं० १७३७-१८१०) भी पहले इसी क़ादिरिया शाखा के अनुयायी थे और शाह ज़लाल तथा मख़दूम शाह ने इसका प्रचार क्रमशः बंगाल तथा बिहार में किया था, जिस कारण सूफ़ी-मत के माननेवाले इन प्रांतों में आज भी पाये जाते हैं।

नक़्शबंदिया तथा अन्य सम्प्रदाय

सूफ़ी-सम्प्रदाय की चौथी शाखा जिसका प्रभाव भारत में पड़ा, 'नक़्श-बंदिया' थी जिसके मूल प्रवर्त्तक ख्वाँजा बहाउद्दीन नक़्शबंद थे जो तुर्किस्तान के निवासी थे और जिनका देहांत सं० १४४६ में बुख़ारा नगर के निकट हुआ

था। ये तथा इनके पिता जरी (ब्राकेड) का काम करते थे और उसका नक़्शा बनाने के कारण ये 'नक़्शबंद' कहलाये। इस शाखा का भारत में प्रवेश कदाचित् ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह 'बेरंग' के द्वारा हुआ जिनकी मृत्यु सं० १६६० में दिल्ली में हुई थी। किंतु कुछ विद्वान इस बात का श्रेय शेख अहमद फारूखी 'सरहिंदी' को देते हैं जिनका देहांत सं० १६८२ में हुआ था। ये हज़रत मुहम्मद के अनंतर दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ काल के प्रधान धर्म-सुधारकों में गिने जाते थे। फिर भी इनके द्वारा प्रतिपादित बातों का प्रचार यहाँ सफलता-पूर्वक नहीं हो सका। नक़्शबंदिया शाखा वस्तुतः सर्वसाधारण के लिए उपयुक्त नहीं थी और इसका प्रभाव अधिकतर शिक्षितों पर ही पड़ सका। फिर भी इधर कुछ दिनों से इसका पुनरुद्धार पंजाब प्रांत तथा कश्मीर में होता हुआ दीख पड़ रहा है और संभव है इसे आगे और भी सफलता मिल सके। इन चार सूफ़ी सम्प्रदायों के अतिरिक्त शाह मदार (मृ० सं० १४६१) द्वारा १५वीं शताब्दी में प्रचलित की गई 'मदारिया' शाखा तथा एक अन्य 'अधमिया' शाखा भी प्रसिद्ध है, किंतु उनका उतना प्रभाव नहीं है।

पारस्परिक संबंध

सूफ़ी सम्प्रदाय की उक्त शाखाएँ भिन्न-भिन्न आचार्यो को अपना पथ-प्रदर्शक मानती हुई भी कोई पारस्परिक विरोध नहीं रखतीं। इनका आपस का भेद अधिकतर इनके प्रमुख गुरुओं की विशेषता तथा उनकी साधना से संबद्ध कतिपय गौण बातों की विभिन्नता पर ही आश्रित माना जा सकता है जिससे उनके मौलिक सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं आ पाता। उदाहरण के लिए 'ज़िक्र' वा नाम-स्मरण के समय शब्दों का उच्चारण पहले उच्च स्वर के साथ किया जाता है जिससे ध्यान में श्रवणेन्द्रिय भी सहायक हो सके। फिर साधक उन शब्दों को कुछ धीमे स्वर में कहता है जिसे केवल वही सुन पाता है। अंत में वही शब्द भक्ति के स[illegible] अपने मन में कहे जाते हैं, आँखें बंद कर ली जाती हैं और साधक का पूरा ध्यान अपनी ध्येय वस्तु वा ख़ुदा की ओर लगा रहता है। एक उप-सम्प्रदाय या शाखा का सदस्य इसी प्रकार किसी अन्य शाखा का भी सदस्य बन सकता है और उसके कारण उसकी निंदा नहीं की जाती। उदाहरण के लिए, कुतुबमीनार के निकट वर्तमान मठ के मूल पुरुष ख्वाजा क़ुतुबुद्दीन बख्तियार काकी (मृ० सं० १२९३) पहले सुहर्वदी शाखा के अनुयायी थे, फिर शेख़ अब्दुल क़ादिर से उपदेश लिये और अंत में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के एक मशहूर मुरीद हो गए। वास्तव में इन शाखाओं की विशेषताओं का परिचय केवल उन आदेशों में ही मिलता है जिन्हें इनके मूल प्रवर्त्तक वा मुख्य प्रचारक विशेष रूप से दिया

करते हैं। उदाहरण के लिए सुहर्वर्दी-शाखा की प्रधान साधना 'क़ुरान शरीफ़' के पाठ तथा 'हदीश' की व्याख्या तक सीमित समझी जाती है, किंतु चिश्तिया तथा क़ादिरिया शाखावाले संगीत तथा नृत्य को भी बहुत महत्त्व देते हैं।

भिन्नता

चिश्तिया-शाखा के अनुयायी 'चिल्ल' का अभ्यास करते हैं जिसके अनुसार वे ४० दिनों तक किसी मसज़िद वा किसी कमरे में एकांतवास किया करते हैं। वे 'ज़िक्र' के समय 'क़लमा' के शब्दों पर अधिक जोर देते हैं और अपना सिर तथा शरीर का ऊपरी भाग हिलाते हैं। धार्मिक ग्रंथों के पढ़ने के अवसर पर ये संगीत को बहुत महत्त्व देते हैं और गीतों से प्रभावित होकर बहुधा आवेश में आ जाया करते हैं। ये अधिकतर रंगीन वस्त्र पहनते हैं और इनके मुख्य तीर्थ-स्थान दिल्ली, अम्बाला, पाक पत्तन, डेरा ग़ाजी खाँ तथा अजमेर में हैं।[1]" नक़्शबंदिया की साधना इसके विपरीत 'ज़िक्रे खफ़ी' कहलाती है; क्योंकि ये लोग क़लमे का उच्चारण अत्यंत धीमे स्वर में करते हैं। ये बहुधा ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठ जाते हैं, सिर झुका लेते हैं और आँखें भी नीची कर लेते हैं। ये लोग संगीत की बड़ी उपेक्षा करते हैं और इस प्रकार मूल कट्टर इस्लाम-धर्म का अनुसरण करते हैं। इनके पीर अपने मुरीदों की मंडली में एक साथ मिल कर बैठते हैं और उनके चित्त पर रहस्यमयी बातों का प्रभाव डालने की चेष्टा भी करते हैं। नक़्शबंदी लोग श्वास-प्रश्वास के अनुसार स्मरण करते हैं, अपने क़दमों पर दृष्टि रखा करते हैं और समूह में रहते हुए भी एकांत-सेवन का अनुभव किया करते हैं। वे कभी-कभी एक चिराग़ लेकर भीख माँगते हुए भी दीख पड़ते हैं जिससे "चिराग़ रोशन मुराद हासिल" की कहावत चल पड़ी है।[2] क़ादरिया के अनुयायी ज़िक्र की साधना उच्च स्वर से और धीमे-धीमे स्वर से (ज़िक्र खफ़ी वा ज़िक्र जल्ली) भी करते हैं। युवावस्था में तो 'इल्लाह' वा 'इल्ला हू' का उच्चारण एक विशेष स्वर में करते हैं; किंतु पीछे इसे बहुत धीमा कर देते हैं। नक़्शबंदियों की भाँति ये भी संगीत नहीं चाहते। इनका साफा हरे रंग का होता है और इनके अन्य वस्त्र भी रंगीन होते हैं। इनके मुख्य तीर्थ-स्थान लाहोर, बटाला तथा मांटगुमरी जिले में शाह कमाल की दरग़ाह हैं। पंजाब प्रांत के अधिकांश सुन्नी मुसलमान

---

१. विलियम क्रुक : दी ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐण्ड अवध, भाग २, कलकत्ता १८९६ ई०, पृ० २२९।

२. वही, भाग ४१, पृ० ५५-५७।

और स्वात के कुछ लोग इस शाखा में सम्मिलित हैं।[१]

प्रचार-कार्य

सूफ़ी-सम्प्रदाय की उक्त शाखाओं ने अपने प्रचार द्वारा प्रायः सारे भारत को प्रभावित किया और यहाँ के धार्मिक सिद्धांतों से मिलती-जुलती हुई कुछ अपनी बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाने का यत्न कर ये अपने मूल धर्म इस्लाम की जड़ जमाने में बहुत कुछ कृतकार्य भी हो गई। मुसलमानी शासन-काल में इनका प्रचार-कार्य, हिन्दुओं को बलात्कार के साथ धर्मांतरित करते समय उसका पूरक बन कर सहायता देता गया। सूफ़ी लोगों में इस्लामी कट्टरपन अधिक नहीं था। हिन्दू-समाज एवं हिन्दू-परंपरा की अनेक बातों को ये शीघ्र अपना लेते थे और उनके कारण यहाँ के सर्वसाधारण में हिल-मिलकर उन्हें अपनी भी बातें सरलता-पूर्वक समझा देते थे। हृदय की शुद्धता, वाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्वभ्रातृत्व तथा विश्वप्रेम की ओर ये सबका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते थे। उन्हें अपने मत की मुख्य देन बतलाते हुए उसे स्वीकार कर लेने का आग्रह भी करते थे। इनके प्रधान-प्रधान प्रचारक भी बड़े योग्य तथा कुशल व्यक्ति थे जिन्होंने अपने उपदेशों और विशेषकर व्यवहारों द्वारा अपने लिए लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। उनके लिए बहुधा प्रयोग में आने वाले 'दाता गंज', 'शकर गंज', 'बाबा', 'पीरे पीराँ', 'बड़े पीर' आदि जैसे शब्द इसी बात के साक्षी हैं। परिणामस्वरूप हमें आज पता चलता है कि भारतीय मुसलमानों के कम से कम दो-तिहाई भाग में वे ही लोग हैं जो किसी न किसी सूफ़ी शाखा के भीतर भी आ जाते हैं।[२]

प्रेम-साधना

जो हो, भारतीय साधना को उक्त सूफ़ी-शाखाओं की मुख्य देन 'प्रेम-साधना' है जो उन्हें शामी जाति की ओर से कभी उत्तराधिकार के रूप में मिली थी। इसका पूर्व रूप केवल 'मादन-भाव' था जिसका प्रदर्शन पहले धार्मिक अवसरों पर किये गए नृत्यगीतादि की सहायता से हुआ करता था तथा जो कभी अधिकतर देवदासियों के संपर्क वा गुह्य-मंडलियों तक ही सीमित था। बसरा निवासिनी राबिया (मृ० सं० ८०६) भी एक दासी थी जो ईश्वर

---

१. विलियम क्रुक : दी ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऐंड अवध, भाग ४, पृ० १८३-१८४।

२. डॉ० ए० जे० आरबेरी : एन इंट्रोडिक्शन टू दी हिस्ट्री ऑफ सूफ़ीज्म, लांगमैंस १९४२ ई०, इंट्रोडक्शन, पृ० ७-८।

के प्रति प्रणय की भावना से भावित थी। इस कारण वह हज़रत मुहम्मद साहब तक को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। उसका स्पष्ट शब्दों में कहना था कि "हे रसूल! भला ऐसा कौन होगा जिसे आप प्रिय न हों। परन्तु मेरी तो दशा ही कुछ और है। मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं है।[१]" वह अपने को परमेश्वर की पत्नी मानती थी और उसका हृदय सदा माधुर्य-भाव से भरा रहा करता था तथा अपने उक्त काल्पनिक पति के विरह को वह क्षण भर के लिए भी नहीं सह सकती थी। इसी कारण उसका प्रेम वासनात्मक जान पड़ता था। परन्तु प्रेम-तत्त्व के पारखी सूफ़ी जूल नून मिसरी (मृ० सं० ९१६) ने प्रेम को कुछ और ही कह कर समझाने के यत्न किये। वे विरह-वेदना को एक साधक के हृदय की सचाई का चिह्न समझते थे और कहा करते थे कि यह "सिदक़ वा शुद्धहृदयता इस भू पर परमेश्वर की तलवार है, जिसे यह स्पर्श कर देती है वह टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।[२]" जूल नून ने प्रेम की दार्शनिक व्याख्या भी की और इस प्रकार उसे प्राचीन मादन-भाव अथवा प्रणय की भावना से भी उच्च पद तक पहुँचा दिया। जूल नून के अनंतर मंसूर अल् हल्लाज (मृ० सं० ९७८) ने प्रेम-भाव का आदर्श रखा और उन्होंने इसे परमेश्वर का सार वा स्वरूप तक मान लिया। उनका कहना था कि "मैं वही हूँ जिसको प्यार करता हूँ; जिसे प्यार करता हूँ, वह मैं ही हूँ। हम एक शरीर में दो प्राणवत् हैं। यदि तू मुझे देखता है, तो उसे देखता है और यदि उसे देखता है, तो हम दोनों को देखता है[३]" और उनकी इस अद्वैत-भावना ने उन्हें सूली पर चढ़ा दिया।

सूफ़ी-प्रभाव

कहते हैं कि सूफ़ी 'हल्लाज' किसी समय भारत भी आये थे और यहाँ के शांकराद्वैत से कदाचित् प्रभावित भी हुए थे। परन्तु उनके किसी प्रत्यक्ष अनुयायी अथवा उनके द्वारा स्थापित किसी शाखा का भी यहाँ पता नहीं चलता। यहाँ उनके द्वारा प्रचारित मत के कुछ प्रभाव का लक्षित होना भर कहा जा सकता है। शुद्ध तथा गंभीर प्रेम-साधना की सहायता से परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कर अपने को उसकी स्थिति में वर्तमान समझना यहाँ के लिए कोई नई बात नहीं। फिर भी केवल 'सरमद' जैसे एकाध को छोड़ कर भारत के अधिकांश सूफ़ियों ने हल्लाज का अनुसरण नहीं

---

१. चंद्रबली पांडेय : तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी-मत, बनारस १९४५, पृ ४४ पर उद्धृत।

२. कश्फ़ुल महजूब में उद्धृत।

३. चन्द्रबली पांडेय : तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ी-मत, पृ० ५४ पर उद्धृत।

किया। उनका दार्शनिक मत विशिष्टताद्वैत की ही श्रेणी तक पहुँच सका और वे प्रेमानुगा भक्ति की सीमा से भी आगे नहीं बढ़ सके और न उन्हें मंसूर के उन्माद का कभी शिकार ही बनना पड़ा। भारतीय सूफ़ी अपने मजहबे इस्लाम की बातों में पूरी आस्था रखते आए और उसकी मर्यादा का उल्लंघन करना कुफ़ समझते रहे। इन्होंने ईरान के सूफ़ियों का कदाचित् अधिक अनुसरण किया और उन्हीं की भाँति अपना प्रेममय जीवन बिताते रहे। उन्ही के अनुकरण में ये बहुधा फ़ारसी, हिंदी अथवा उर्दू में प्रेम-गाथा-साहित्य की रचना करते, प्रेम की मस्ती के आवेश में अपना कार्य किया करते और कभी-कभी सुरा-सेवन या अन्य भ्रष्टाचारों तक में लीन हो जाते। इनके कारण यहाँ के साहित्य पर फ़ारसी-साहित्य का बहुत कुछ प्रभाव पड़ गया और बहुत-से इस्लामेतर धर्मों के अनुयायियों तक ने ईरानी संस्कृति की अनेक बातें अपना लीं।

योग का प्रभाव

भारतीय सूफ़ी अपनी प्रेम-साधना के अंतर्गत नाथयोगी-सम्प्रदाय की अनेक यौगिक क्रियाओं का भी समावेश करते थे। अपनी प्रेमगाथाओं में उनके द्वारा शरीर के भीतर कल्पित किये गए विविध महत्त्वपूर्ण स्थलों के वर्णन रूपकों की सहायता से किया करते थे। तदनुसार उन्होंने प्रत्येक साधक के लिए क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय की विभिन्न आध्यात्मिक स्थितियों वा 'मुक़ामात' को भी निर्दिष्ट किया था। उन्होंने इसी दृष्टि से चार ऐसे पदों की कल्पना की थी जिन्हें वे क्रमशः 'आलमे नासूत' (भौतिक जगत्), 'आलमे मलक़ूत' (चित्त जगत्), 'आलमे ज़बरूत' (आनंदमय जगत्) तथा 'आलमे लाहूत' (सत्य जगत्) कहा करते थे और कभी-कभी एक 'आलमे हाहूत' नामक रहस्यपूर्ण जगत् का भी नाम लेते थे। अपने अंतिम ध्येय तक पहुँचना उसकी सिद्धावस्था कहलाती थी जिसे वे कभी 'बक़ा' (परमात्मा में स्थिति) और कभी 'फ़ना' (अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति से पूर्णतः रहित हो जाना) कहते थे और जिनके निश्चित स्वरूप के संबंध में बहुत मतभेद भी दीख पड़ता है।

प्रेम-गाथा-परंपरा

इन सूफ़ियों की प्रेम-गाथा रचना की परंपरा यहाँ पहले पहल कब आरंभ हुई, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किंतु मलिक मुहम्मद जायसी ने जो 'पद्मा-वत' लिखी है, उसमें किये गए कतिपय उल्लेखों से जान पड़ता है कि यह उक्त रचना के समय (सं० १५९७) से पहले से अवश्य चली आ रही थी और तब तक संभवतः बहुत-से सूफ़ी कवि इस प्रकार के साहित्य का निर्माण कर चुके थे। फिर भी प्रेम-गाथा की परंपरा के प्रारंभ होने का समय संत-मत के आविर्भाव-काल

से पहले जाता हुआ नहीं दीख पड़ता। कम से कम हिंदी अथवा उर्दू में इस प्रकार की रचना करनेवाले सूफ़ी कवि विक्रम की १५वी वा १६वीं शताब्दी से पुराने नहीं मिलते और संत-परंपरा में अब तक गिने-जाने वाले प्रथम व्यक्ति जयदेव का जीवन-काल विक्रम की १३वीं शताब्दी में पड़ जाता है। इसके सिवाय संत-परंपरा के इस काल में आरंभ होने के समय सूफ़ी-मत का प्रचार अधिकतर फ़ारसी रचनाओं के आधार पर हो रहा था। उसके उपदेशक अपने भावों को व्यक्त करते समय केवल फुटकर पद्यों का ही सहारा ले रहे थे। अतएव पहले के संतों का जितना ध्यान इनकी प्रेम-साधना के मूल उपदेशों तथा साधारण शब्दावली की ओर गया, उतना प्रेम-कहानियों की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। वे परमेश्वर को कर्त्ता कहते, गुरु को 'पीर', 'ज़िंद' तथा 'सिकलीगर' तक कह देते और अपनी साधना को 'प्रेमधियान' का नाम देते थे। कर्म तथा जन्मांतरवाद के विषय में भी सूफ़ियों द्वारा प्रभावित लक्षित होते थे, किंतु उन्होंने किसी प्रेमी वा प्रेमिका की कथा का प्रसंग उधर नहीं छेड़ा और न उनके प्रेम वा विरह को स्वर्गीय प्रेम का कभी आदर्श ही ठहराया। ऐसी बातों के उदाहरण उनमें कदाचित् १७वीं शताब्दी से पहले के नहीं मिलते। फिर भी जहाँ तक प्रेम-साधना की विविध पद्धतियों का संबंध है, वहाँ तक संत लोग सूफ़ियों के ऋणी अवश्य कहे जा सकते हैं।

(६) भक्तों और साधकों के विविध सम्प्रदाय

क. आडवार और नायन्मार भक्त

आडवार भक्त

पौराणिक युग में जिस तंत्रोपचार-विशिष्ट भक्ति का अधिक प्रचार था वह गुप्त-काल के समाप्त होते-होते उत्तरी भारत में कम दीख पड़ने लगी। वह क्रमशः दक्षिण भारत की ओर अग्रसर हुई और उसको अपनानेवाले सर्वप्रथम ऐसे लोग निकले, जो संभवतः बहुत शिक्षित नहीं थे। इन भक्तों में से अधिकांश व्यक्ति तमिल प्रांत के निवासी थे जिनका जीवन बहुत सरल था और जिनकी मुख्य साधना गीतों और भजनों के गान तक सीमित थी। इनमें से कुछ लोग 'आडवार' कहलाते थे जिस शब्द का अभिप्राय कदाचित् ऐसे महात्मा से समझा जाता था जिसने ईश्वरीय ज्ञान तथा भक्ति के समुद्र में भली भाँति अवगाहन कर लिया हो और जो निरंतर परमात्मा के ही ध्यान में लीन रहा करता हो। फिर, 'संत' शब्द की भाँति 'आडवार' शब्द भी कालांतर में केवल उन भक्तों के लिए रूढ़-सा हो गया। इन लोगों की संख्या १२ थी और ये उक्त दक्षिण प्रदेश के विभिन्न स्थानों के निवासी थे। इनका कोई साम्प्रदायिक क्रम न था; किंतु इन सबकी आध्यात्मिक मनोवृत्ति प्रायः एक-सी थी और एक ही भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इन्होंने एक अपूर्व ढंग के भगवदा-

राधन एवं विश्व-प्रेम का प्रचार किया था। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर जिन पदों की रचना की, उनका एक संग्रह तमिल में 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रतिष्ठा वेदों की भाँति तमिल वेद के रूप में की जाती है और इसमें संगृहीत रचनाओं का पाठ विशेष धार्मिक उत्सवों के अवसर पर उनसे भी पहले ही किया जाता है। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में उक्त आडवारों की मूर्तियाँ भी देव-मूर्तियों के साथ-साथ स्थापित की गई हैं और उनका विधिवत् पूजन होता है।

संक्षिप्त परिचय

उक्त १२ आडवार भक्त समकालीन नहीं थे, अपितु उनके आविर्भाव का काल लगभग आठ-नौ सौ वर्षों (अर्थात् विक्रम की दूसरी शताब्दी से लेकर उसकी १०वीं) तक व्याप्त रहा। इस कारण उनमें से प्रथम चार को प्राचीन, उनके पीछे-वाले क्रमशः पाँच को मध्यकालीन तथा शेष को अंतिम कहने की परिपाटी चली आती है। इन आडवारों में से दो-एक को छोड़ कर प्रायः सभी साधारण श्रेणी के मनुष्य थे और कुछ निम्न कोटि की जाति के भी थे। इन्हें सांसारिक विभवों से बहुत कम सहायता मिल सकती थी, किंतु अपने उपास्य देव की ओर इनकी लगन सदा एक-सी बनी रही। आडवारों में सर्वप्रसिद्ध नम्म वा शठकोप एक शूद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके जन्म के समय उनके माता-पिता ने उनका भयावना रूप देख कर उन्हें 'मरण' नाम देकर उनका त्याग भी कर दिया था। वे लगभग १६ वर्षों तक एक इमली के वृक्ष के नीचे किसी प्रकार जीवित रहे थे। अंत में किसी ब्राह्मण तीर्थ-यात्री ने उनके निकट जाकर उनसे बातचीत की और उनकी आध्यात्मिक पहुँच का परिचय प्राप्त कर उनकी शिष्यता स्वीकार की, जब से वे दोनों गुरु-शिष्य क्रमशः 'शठकोप' तथा 'मधुर कवि' के नाम से प्रसिद्ध हो चले। इन दोनों के अतिरिक्त प्रसिद्ध आडवारों में कुल शेखर तथा आंडाल के नाम आते हैं। इनमें से प्रथम प्रसिद्ध त्रावंकोर राज्य के अधिपति थे और द्वितीय एक महिला थी, जो अपनी माधुर्य-भाव-भरी भक्ति के कारण आगे चल कर 'गोदा' नाम से मीराँबाई के समान प्रसिद्ध हो गई।

साधना

आडवार भक्तों की रचनाओं का उक्त संग्रह प्रबन्धम् विक्रम की १२वीं शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा सम्पादित हुआ। पहले उसके मूल रूप का पाठ हुआ करता था, किंतु पीछे उस पर लिखे गए मुख्य-मुख्य भाष्य भी उसके साथ पढ़े जाने लगे। 'प्रबन्धम्' का पाठ करनेवाले को 'अडैयार' कहते हैं, जो मंडप के समक्ष खड़ा होकर इसका उच्चारण एक निश्चित ढंग से करता है, वह किसी

भी वर्ण वा जाति का मनुष्य हो सकता है। 'प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों द्वारा उक्त आडवारों की भक्ति के स्वरूप का कुछ परिचय मिलता है। उसमें तिरुमलसई वा भक्तिसार नामक चौथे आडवार ने कहा है कि "हे नारायण, मेरे ऊपर आज दया करो, कल भी करो और सदा कृपा बनाये रहो। मुझे विश्वास है कि न मैं तुम्हारे बिना हूँ और न तू ही मेरे बिना हो।[1]" इसी प्रकार नम्म आडवार वा शठकोप ने भी कहा है कि "हे भगवान, चाहे जो कुछ भी कष्ट मुझे झेलने पड़ें, मैं तुम्हारे चरणों के अतिरिक्त शरण के लिए अन्य कोई भी स्थान नहीं जानता। यदि बालक को उत्पन्न करने वाली माता क्षणिक रोष में आकर उसे फेंक भी दे, फिर भी उसके ही प्रेम का भूखा बच्चा किसी और को ध्यान में नहीं ला सकता और मेरी भी दशा ठीक वैसी ही है।[2]" आडवारों ने अपनी भक्ति के लिए सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य नामक तीनों भावों को साधन बनाया और नम्म तथा आंडाल ने अपने पदों में विशेषकर माधुर्य को अपनाया था। उनकी रचनाओं द्वारा प्रदर्शित भक्ति के अंतर्गत जीवात्मा वा परमात्मा के मध्यवर्त्ती एक अलौकिक प्रेम का अंश भी विद्यमान है, जिसे आलंकारिक भाषा में हम 'सहवास का प्रेम' कह सकते हैं।

नायन्मार भक्त

आडवार लोग जहाँ वैष्णव भक्त थे, वहाँ नायन्मार शिव के उपासक रहे। इनमें से चार अर्थात् माणिक्क वाचकर, तिरुज्ञान संबंदर, अप्पर और सुंदरर के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। माणिक्क वाचकर के लिए कहा जाता है कि इनका जीवन-काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का समय रहा होगा। ये एक महान् पंडित और कवि थे। इन्हें सारा जगत् शिवमय प्रतीत होता था और ये प्रायः अपने इष्टदेव को किसी प्रेमपात्री के रूप में तथा स्वयं अपने को प्रेमी के रूप में प्रदर्शित करते हुए भी, गंभीर भक्तिमय उद्गार प्रकट कर दिया करते थे। इन्होंने लोकगीतों की शैली में अच्छी कविता की है। इनका कहना था कि भगवान् शिव सब किसी के लिए अवेद्य रहते हुए भी अपने भक्तों के लिए सुवेद्य हैं। भक्त अप्पर भी एक अच्छे पंडित थे और जैन तथा वैदिक सिद्धांतों के ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध रह चुके थे। किंतु इनकी भक्ति में दास्य-भाव प्रमुख था। इन्हें अपने इष्टदेव के प्रति अत्यंत गहरी आस्था रही, जिस कारण इनकी पंक्तियों में निर्द्वंद्वता भी प्रचुर मात्रा में दीख पड़ती है। भक्त अप्पर तथा तिरुज्ञान संबंदर समकालीन बतलाये जाते हैं। इन दोनों तथा सुंदरर की रचनाएँ भी

१. जे० एस० कूपर : हिम्स ऑफ दि आडवार्स, पृ० १२।

२. नम्म आडवार, जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृ० ६।

'तेवारम्' के नाम से संगृहीत हैं। भक्त संबंदर के भक्तिपरक उद्गार अधिकतर प्राकृतिक सौंदर्य के वर्णनों में भी प्रकट हो आते हैं और वे उन्मत्त-से बन जाते है। इसी प्रकार सुंदरर की रचनाओं के अंतर्गत अपने इष्टदेव भगवान् शिव के प्रति प्रायः सखा-भाव प्रदर्शित मिलता है। इन्हें भी वाह्य प्रकृति के सौंदर्य की ओर विशेष आकर्षण है और इनकी विशेषता इनके हृदय की विशुद्धता में लक्षित होती है। कहा जाता है कि इनका जीवन-काल शेष तीन शैव-भक्तो से कई सौ वर्ष पीछे रहा होगा। किंतु फिर भी ये उन्हीं की कोटियों में रखे जाते हैं। ये चारों शैव भक्त आडवारों के ही समान श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं और इनका भी प्रभाव उनसे कम नहीं बतलाया जाता।

(ख) वैष्णव आचार्य और महानुभावं भक्त

आचार्य भक्त

आडवारों के अनंतर दक्षिण भारत में वैष्णव-धर्म का प्रचार करनेवाले भक्त 'आचार्यों' के नाम से प्रसिद्ध हुए जो बहुत कुछ 'प्रबन्धम्' द्वारा ही प्रभावित थे और जिनकी अनेक रचनाएँ संस्कृत भाषा में मिलती हैं। इन आचार्यों में सर्वप्रथम नाम रघुनाथाचार्य वा नाथमुनि का लिया जाता है जो विक्रम की १०वीं शताब्दी में श्रीरंगम् में वर्तमान थे और जिन्होंने आडवारों के चार सहस्र पदों को चार भागों में सम्पादित किया था। नाथमुनि के अनंतर चौथे आचार्य प्रसिद्ध यामुनाचार्य (सं० ९७३–१०९७) हुए, जिन्होंने आगे प्रचलित होनेवाले श्री सम्प्रदाय के सिद्धांतों का सर्वप्रथम प्रचार किया। इन्होंने 'सिद्धित्रय' जैसे ग्रंथों की रचना कर शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया और 'आगम प्रामाण्य द्वारा' अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन भी किया। यामुनाचार्य अपने कार्यों के कारण अपने पीछे आनेवाले रामानुजाचार्य (१०८४–११९४) के लिए प्रधान पथ-प्रदर्शक बन गए। रामानुजाचार्य ने भी आडवारों की रचना 'प्रबन्धम्' का अध्ययन बड़े मनोयोग के साथ किया था और उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा कर संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनके विशिष्टाद्वैत मतानुसार जीवात्मा और जगत् वस्तुतः परमात्मा के गुणविशेष हैं और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। वह विशिष्ट ब्रह्म अद्वितीय है और उसकी प्राप्ति केवल ज्ञान मात्र के आधार पर न होकर, वेदविहित कर्मानुष्ठान तथा विविध भक्ति-साधनाओं के अभ्यास द्वारा ही संभव हो सकती है। रामानुजाचार्य के अनंतर और भी कई आचार्य भक्त हुए जिन्होंने इस विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण तथा प्रचार किया।

प्रपत्ति मार्ग

आडवारों का 'प्रबन्धम्' अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों की रचनाओं

का संग्रह था जिसमें केवल हृदय-पक्ष की ही प्रधानता थी। किंतु इन आचार्यों के विविध ग्रंथों में मस्तिष्क-पक्ष की भी प्रौढ़ता दीख पड़ी। इन्होंने मीमांसकों के कोरे कर्मकांड तथा शांकराद्वैतवादियों के ज्ञानकांड का अनेक युक्तियों के साथ खंडन किया और अपने भक्तिकाड के अनुसार प्रसिद्ध वेदांत-ग्रंथों का तात्पर्य भी निर्धारित किया। तदनुसार इन्होंने स्मार्तों द्वारा प्रचलित किये गएएक से अधिक देवताओं की पूजन-प्रणाली को अस्वीकार कर एकमात्र विष्णु भगवान् की आराधना का प्रचार किया और उसके लिए तीन उच्च वर्णो के अतिरिक्त शूद्रों को भी योग्य ठहराया। शूद्रों-जैसे निम्न श्रेणीवालों के विशेषकर 'प्रपत्ति' की व्यवस्था दे दी, जिसका मुख्य अभिप्राय अपने को भगवान् की शरण में समर्पित कर उन्ही की दया-मात्र पर पूर्ण भरोसा करना रहा। परन्तु इस प्रपत्ति का भी अर्थ कालांतर में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लगाया जाने लगा। वेदांत देशिक (सं० १३२५–१४२६) के अनुसार प्रपत्ति भी अन्य साधनों की भाँति केवल एक मार्ग है जिसका अवलंबन ज्ञान, कर्म आदि के न हो सकने पर कर लेना चाहिए। परन्तु मनबल महामुनि (सं० १४२७–१५००) तथा उनके पक्षवालों का कहना है कि प्रपत्ति को एक निरा मार्ग मात्र ही न मान कर, उसे सब कुछ समझ लेना चाहिए और उसी की भावना के अनुसार अपनी मनोवृत्ति तक निर्मित कर लेनी चाहिए। पहले मत वाले इसी कारण 'वाड कडाई' कहलाये जिनके अनुसार भक्त तथा भगवान् का संबंध किसी बंदरी की छाती से चिपके हुए बच्चे तथा उस बंदरी का सा होना चाहिए। दूसरे मत वाले 'टेन-कडाई' कहला कर प्रसिद्ध हुए जिन्होंने उसी भावना का अर्थ, बिल्ली के अबोध बच्चे की भाँति अपनी माँ द्वारा जहाँ कहीं भी उठा कर रखे जाने तथा अपनी ओर से कुछ भी प्रयास न करने का दृष्टांत देकर समझाया।

अन्य आचार्य

भक्ति-साधना का प्रचार उक्त आडवारों के समय से लेकर इन आचार्यों के समय तक भारत के अन्य प्रदेशों में भी किसी प्रकार होता जा रहा था। यह वस्तुतः भक्ति का ही युग था और श्री रामानुजाचार्य की भाँति उनके पीछे आने-वाले उनसे भिन्न मतवाले अन्य आचार्यो ने भी अपने पक्ष के समर्थन में विविध दार्शनिक ग्रंथों की रचना करते हुए भक्ति-मार्ग की भिन्न-भिन्न शाखाओं का प्रवर्त्तन किया। तदनुसार निंबार्काचार्य (सं० ११७१–१२१६)ने अपने द्वैताद्वैत सिद्धांतों के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। मध्वाचार्य (सं० १२५४–१३३३) ने अपने द्वैत सम्प्रदाय के अनुकूल भक्ति को अंतिम निष्ठा का पद प्रदान किया। बल्लभाचार्य (सं० १५३६–१५८७) ने अपने शुद्धाद्वैत मतानुसार 'पुष्टि-मार्ग' का प्रतिपादन कर भक्ति की प्रबल धारा बहा दी। इसी प्रकार चैतन्य

देव (सं० १५४२—१५९०) ने भी 'अचिंत्य भेदाभेद' सिद्धांत के आधार पर अपनी रागानुगा भक्ति का प्रचार किया। श्री रामानुजाचार्य के 'श्री सम्प्रदाय' के समान ही इन महापुरुषों ने भी अपने-अपने सम्प्रदाय प्रचलित किये जिस कारण भक्ति-साधना के महत्त्व की धाक क्रमशः सारे देश में व्याप्त हो गई। दक्षिण भारत से लेकर पूर्व की ओर बंग देश, पश्चिम की ओर गुजरात तथा उत्तर की ओर वृंदावन तक का भू-खंड विशेषतः भक्ति से प्रभावित हो गया। वैष्णव सम्प्रदायों के इन प्रवर्त्तकों के अनुसार 'जीवन्मुक्ति' मान्य न होने के कारण उसके स्थान पर 'विदेह मुक्ति' स्वीकार की गई थी। 'श्री सम्प्रदाय' के अनुयायी भक्त का भगवान् के समान होकर उसके समक्ष किंकरवत् बना रहना परम मुक्ति का ध्येय मानते थे, तो माध्व सम्प्रदायवाले भगवान् में प्रवेश कर वा उसके साथ युक्त होकर समग्र आनंद का उपभोग करना मोक्ष का अंतिम उद्देश्य बतलाते थे। इसी प्रकार 'निंबार्क सम्प्रदाय' का अनुसरण करनेवाले भक्त का पूर्णतः भगवद्भावापन्न होकर सभी दुःखों से रहित हो जाना मुक्ति का लक्ष्य मानते थे, तो बल्लभ-सम्प्रदायवाले उक्त अंतिम स्थिति का स्वरूप विशेषतः भगवान् के अनुग्रह द्वारा उसके साथ एक प्रकार का अभेद-बोधन बतलाते थे। 'चैतन्य सम्प्रदाय' के अनुयायी भी इसी प्रकार भक्ति को वैधी की जगह रागानुगा कहकर आर्त्त-भाव द्वारा भगवान् के धाम में प्रवेश पा लेना सर्वोत्तम समझते थे।

साधना-भेद

इन वैष्णव सम्प्रदायों की साधना-प्रणालियों में भी इसी कारण कुछ न कुछ अंतर दीख पड़ता था। 'श्री सम्प्रदाय' के अनुयायी वर्णाश्रम-विहित कर्मों के विधान का पालन करना चित्त-शुद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक मानते थे और उसके अनंतर ही ब्रह्म की जिज्ञासा को संभव समझते थे। परन्तु ब्रह्म के ज्ञान तथा उक्त कर्मों के होते हुए भी बिना भक्ति के मुक्ति का होना वे असंभव समझते थे। यह भक्ति भी उनके अनुसार वह पराप्रपत्ति थी जिसे पूर्ण वा अनन्य शरणागति भी कह सकते हैं। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए जीव का कल्याण नहीं हो सकता, अतएव उसके ध्यान में सदा मग्न रह कर उसकी कृपा के लिए निरंतर प्रार्थना में निरत रहना ही उनकी मुख्य साधना थी।

निंबार्काचार्य के 'सनक सम्प्रदाय' को भी शरणागति का उक्त भाव स्वीकृत था, किंतु वह 'श्री सम्प्रदाय' के उक्त ध्यानयोग पर अधिक अवलंबित रहना आवश्यक नहीं मानता था। इसके सिवाय, इन दोनों के उपास्य देवों में भी अंतर था। 'श्री सम्प्रदाय' वाले जहाँ लक्ष्मी-नारायण को इष्टदेव मानते थे, वहाँ 'सनक सम्प्रदाय' के सर्वस्व राधा-कृष्ण थे। इसी प्रकार मध्वाचार्य के सत् सम्प्र-

दायवाले हरि वा भगवान् की प्राप्ति को अपने प्रत्यक्ष अनुभव की बात समझते हुए उसके लिए वैराग्य, शम, दम, शरणागति आदि अष्टादश साधनाओं को उपयोग में लाकर उनके आधार पर उपासना करना अपना कर्तव्य समझते थे। 'वल्लभ-सम्प्रदाय' के पुष्टिमार्गी अपने आराध्य देव श्रीनाथ का विधिवत् पूजन करते थे तथा उन्हें भजनादि गा कर पूर्णतः रिझाने के यत्न भी करते थे। परन्तु चैतन्य सम्प्रदायवाले पूजन-अर्चन-प्रणाली को प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे और उनका एकमात्र साधन हरि-नाम का स्मरण तथा कीर्तन था जिसके द्वारा उन्हें 'महाभाव' की प्राप्ति होती थी।

महानुभाव भक्त

महानुभाव भक्तों में अग्रगण्य चक्रधर स्वामी कहे जाते हैं जिनका जीवन-काल सं० १२५१ से सं० १३३१ तक रहा। ये गुजरात के मूल निवासी थे और इनका नाम पहले हरपाल देव था। ये कसी राजा के पुत्र भी कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि द्यूत में कई बार हार जाने के अनंतर, इन्हें उत्कट वैराग्य हो आया और ये भगवान् की खोज में रामगिरि की ओर चल पड़े। इन्होंने ऋद्धिपुर में जाकर गोविंद प्रभु से मंत्रोपदेश लिया और इसके अनंतर 'चक्रधर' नाम से विरक्त रूप में विचरण करने लगे। ये परमात्मा को श्रीकृष्ण के रूप में देखते थे और इनकी निष्ठा ज्ञान से अधिक भक्ति के प्रति ही प्रबल थी। तदनुसार इनके अनुयायियों ने भी श्रीकृष्ण-भक्ति को ही अपनाया तथा अपने इष्टदेव को श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय, चांगदेव, गुंडम राउल तथा चक्रधर इन 'पंच-कृष्ण-अवतार' के रूपों में प्रतिष्ठित मान कर उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा के भाव प्रदर्शित किये। इनका साम्प्रदायिक साहित्य एक विचित्र लिपि में लिखा जाता था, जिस कारण इन भक्तों के सिद्धांत और साधना की बातें बहुत दिनों तक गुप्त रहती आई थीं। अतएव, इनके प्रति प्रायः तिरस्कार का भाव तक प्रदर्शित किया जाता था। परन्तु इधर की खोजों द्वारा तथ्य के प्रकाश में आ जाने पर इस सम्प्रदाय को उचित महत्त्व प्रदान किया जाने लगा है तथा इसका कुछ न कुछ परिचय भी दिया जाता है। चक्रधर स्वामी द्वारा रचे गए किसी ग्रंथ का पता नहीं चलता, प्रत्युत उनके उपलब्ध वचनों को ही महत्त्व देने की परंपरा पायी जाती है। इस कारण उनके अनुयायियों के यहाँ इस प्रकार के 'सूत्रों' को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इनके अनुसार किन्हीं देवताओं की उपासना न करके, केवल एक 'परमेश्वर' को ही अपना इष्टदेव स्वीकार कर लेना ठीक है। वेद-मार्ग के अनुसार चलना उचित नहीं है और न चातुर्वर्ण्य को मान कर व्यवहार करना ही कभी श्रेयस्कर कहा जा सकता है। जहाँ तक परमेश्वर की उपासना का प्रश्न है, इनके यहाँ

"ज्ञान हो जाने पर, सर्वसंग परित्यागपूर्वक एक शिशु की भाँति, परमेश्वराधीन रहना ही उसका 'अनुसरण' करना है।"[1] उसको नाम, रूप (मूर्ति), लीला तथा चेष्टा, इन चारों के आधार पर, चार प्रकार से स्मरण करने का विधान भी कर दिया मिलता है,[2] परन्तु महानुभावों के ऐसे 'अनुसरण' तथा 'स्मरण' संबंधी उपलब्ध विवरणों के साथ, उपर्युक्त आचार्यों के 'प्रपत्ति-मार्ग' का पूरा मेल खाता नहीं जान पड़ता ।

(ग) कश्मीरी शैव सम्प्रदाय तथा कर्णाटक का वीर शैव सम्प्रदाय

कश्मीरी शैव सम्प्रदाय

दक्षिण भारत के अंतिम आडवार भक्तों के समय तथा संभवतः शैव-भक्त सुंदरर के कुछ ही अनंतर कश्मीर-प्रदेश में भी कतिपय शैवों का आविर्भाव होने लगा था। इनकी परंपरा में अनेक महापुरुष हुए और उन्होंने कश्मीर शैव-मत का प्रचार किया। इनका सम्प्रदाय भी, उपर्युक्त वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति कतिपय दार्शनिक सिद्धांतों पर आश्रित रहा और इनके आचार्यों ने भी अपने मत का प्रतिपादन करते समय बड़ी योग्यता प्रदर्शित की । इसके मूल प्रवर्त्तक वसुगुप्त माने जाते हैं जो विक्रम की ९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्तमान थे और जिनके 'शिवसूत्र' प्रसिद्ध हैं। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में से कल्लट ने स्पंद शास्त्र संबंधी ग्रंथों की रचना की और सोमानंद ने 'प्रत्यभिज्ञा मत' को प्रवर्त्तित किया।इन दोनों आचार्यों के दार्शनिक विचार मूलतः एक ही प्रकार के थे, किंतु उनके प्रतिपादन की शैली तथा कतिपय अन्य बातों में बहुत कुछ अंतर दीख पड़ता था। इनका दार्शनिक मत 'ईश्वराद्वयवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जो स्वामी शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवाद से कई बातों में भिन्न था। ईश्वराद्वयवाद के समर्थकों का कहना था कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति निष्क्रिय नहीं, किंतु स्वतंत्र कर्त्ता स्वरूप है। माया उसकी स्वातंत्र्यशक्ति वा स्वेच्छा परिगृहीत मात्र है जिसे किसी प्रकार की बाधा स्वीकार करना ठीक नहीं। ईश्वर इसे अपनी इच्छा के अनुसार नटवत् लीला करने के लिए प्रयोग में लाया करता है और इसके द्वारा स्व-स्फुरण किया करता है । 'विमर्श' आत्मा का स्वभाव है और ज्ञान तथा क्रिया में यहाँ पर कोई भी अंतर नहीं है, प्रत्युत इन दोनों की उन्मुखता को ही यहाँ उसकी 'इच्छा' कहा करते हैं ।

---

१. विष्णु भिकाजी कोलते : महानुभावाँचा आचार धर्म, मलकापुर बरार, १९४८ ई०, पृ० ७ ।

२. वही, पृ० २९३ ।

प्रत्यभिज्ञा

अतएव मोक्ष न तो केवल ज्ञान से संभव है और न कोरी भक्ति से ही, किंतु इन दोनों का सामंजस्य होना परमावश्यक है। शुद्ध भक्ति की भावना में द्वैत-भाव की अपेक्षा रहा करती है जो अज्ञान का परिचायक है। इस कारण मोह का होना भी संभव है। परन्तु ज्ञान के अनंतर जानबूझ कर कल्पित की गई शक्ति की द्वैतमूलक भावना में इस बात की कोई आशंका नहीं रहती और इसी प्रकार की भक्ति वस्तुतः नित्य कहलाने योग्य भी ठहरती है। इस सम्प्रदाय द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द से भी अभिप्राय यही है कि साधक अपनी ज्ञात वस्तु को ही फिर से जान कर आनंदित होता है। जिस 'अद्वय' ईश्वर का ज्ञान उसे पहले कदाचित् अस्पष्ट रूप में प्राप्त करता है उसे ही वह अपने गुरु की सहायता से पूर्णतः पहचान कर अपना लिया करता है। इस प्रकार की स्वानुभूति उसके भीतर एक अनिर्वचनीय आनंद का कारण बनती है। ऐसे अद्वैत-भाव में द्वैत-भाव की कल्पना और निर्गुण भाव में भी सगुण-भाव का काल्पनिक आरोप इस मत की एक विशेषता थी जिसे आगे चल कर संतों ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया।

ज्ञानमूलक भक्ति

इस प्रत्यभिज्ञा-विशिष्ट सम्प्रदाय का विकास वस्तुतः अपने दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार ही हुआ था। इसके प्रतिपादकों में अभिनवगुप्त जैसे महान् आचार्यों के भी नाम लिये जाते हैं। परन्तु इसके उन साधकों द्वारा स्वीकृत साधना-पद्धति का महत्त्व भी कुछ कम न रहा जो अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक अभिवृद्धि के लिए विशेषतः योग-साधना को अपनाते थे। इनका कहना था कि वास्तविक रहस्य का पता केवल योग-क्रिया द्वारा ही संभव है, क्योंकि उसी की सहायता से सारी बातें हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकती हैं। उनको हम तत्त्वतः जानने में भी समर्थ हो सकते हैं और उसी के बल पर हमें अपने मायाजनित आवरणों को दूर कर पूर्णतः निरावृत्त हो जाने का अवसर मिलता है[1]। वास्तव में हम उसी के सहारे उस मोक्ष की स्थिति के अधिकारी भी बन जाते हैं जो नित्य सिद्ध ज्ञान-भक्ति का उन्मेष रूप है। ज्ञानमूलक अद्वैत भक्ति सदा अहैतुकी, किंतु सर्वथा आनंद विधायिनी हुआ करती है, क्योंकि इसमें द्वैत भावजनित पराश्रयता की आशंका किंचितमात्र भी नहीं रहा करती, प्रत्युत स्वानुभूति की पूर्ण तृप्ति,

---

१. जगदीशचंद्र चटर्जी : कश्मीर शैविज्म, भा० १, श्रीनगर, १९१४ ई० पृ० १९३-४।

आत्म-प्रत्यय की दृढ़ शक्ति तथा तत्त्वोपलब्धि की अलौकिक शांति का इसमें आ जाना अनिवार्य सा है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में परमतत्त्व सदाशिव पूर्ण अकृत्रिम 'अहं' की स्फूर्ति द्वारा अनेक प्रकार की लीलाओं में प्रवृत्त होकर स्वयं आनंदित हुआ करते हैं, उसी प्रकार 'अहं परमेश्वरः' का अनुभव करने वाला साधक भी, भक्ति के लिए द्वैत की कल्पना करके उसके सौंदर्य द्वारा प्रभावित हो जाया करता है, यद्यपि इसके कारण वह किसी प्रकार के द्वैत-भाव में नहीं पड़ा करता। वास्तव में द्वैत की ऐसी भावना अद्वैत से भी कहीं अधिक सुंदर होती है। दो अभिन्न हृदय मित्र वा पति-पत्नी की भाँति, जीवात्मा और परमात्मा समरसानंद के अमृत का पान करते हैं।[1]

वीर शैव सम्प्रदाय

वीर शैव सम्प्रदाय का एक अन्य नाम 'लिंगायत सम्प्रदाय' भी है और इसके प्रमुख प्रवर्त्तक वसवेश्वर समझे जाते हैं। इनके लिए प्रसिद्ध है कि वे कर्णाटक प्रांत के कल्याण में सं० १२१३ से सं० १२२३ तक राज्य करने वाले राजा विज्जल के प्रधान मंत्री थे। इनके अनुयायियों में परमतत्त्व को 'लिंग' की संज्ञा दी गई है और उसे 'परशिव' तथा 'पराशक्ति' का सामरस्य कहा गया है जो सर्वथा अनुपम तथा अनिर्वचनीय है। इसकी सम्यक् अनुभूति को ही यहाँ आदर्श स्थिति भी बतलाया गया है। इसके लिए 'शिवयोग' की व्यवस्था की गई है जिसमें ध्यान तथा चिंतन द्वारा उसका 'साक्षात्कार' प्राप्त किया जाता है। 'वचन साहित्य' के अध्ययन से पता चलता है कि वहाँ पर वस्तुतः आत्यंतिक सत्य के ऐसे 'अनुभाव' को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसकी उपलब्धि जिस किसी ऐसे साधक को हो जाती है उसे 'शरण' वा शरणापन्न भी अभिहित किया गया है। कहते हैं कि वसवेश्वर ने इस प्रकार की साधना के लिए किसी संस्था विशेष की स्थापना भी की थी जिसे 'अनुभव मंटप' कहते थे। 'अनुभावी' पुरुष की दशा उस जीवन्मुक्त की रहा करती है जो सर्वथा द्वंद्वातीत हुआ करता है। परन्तु उसका कर्त्तव्य केवल आत्म-चिंतन तथा मनन तक ही सीमित न रह कर विश्व कल्याण की भावना के प्रति भी उन्मुख रहता है। इनके यहाँ किसी प्रकार का समाजगत भेद-भाव नहीं है और जीविकोपार्जन के लिए किये जाने वाले शारीरिक प्रयास को ईश्वरार्पित कर्म समझा जाता है। इसे यहाँ पर 'कायक' की संज्ञा दी जाती है और कहा जाता है कि "कायक ही कैवल्य वा कैलास है" तथा "व्रत-भंग सह्य है,

---

१. भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। जातं समरसानन्दं द्वैतमप्यमृतोपमम्। मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्म परमात्मनोः॥ (बोधसार) पृ० २००-१।

किंतु काय का भंग कदापि सह्य नहीं है।" इस प्रकार 'वीर शैवों' अथवा 'लिंगायतों' में ऐसी अनेक बातें पायी जा सकती हैं जिन्हें पिछले संतों के यहाँ भी महत्त्व दिया गया। कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की ज्ञानमूलक भक्ति वीर शैव सम्प्रदाय के अनुसार कर्ममूलक जैसी दीख पड़ती है और संतों के यहाँ दोनों का स्तर एक है।

(घ) वारकरी सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

वारकरी-सम्प्रदाय

ईश्वराद्वयवाद की उपर्युक्त अद्वैत-परक भक्ति का ही प्रभाव कदाचित् उस वैष्णव सम्प्रदाय पर भी किसी न किसी प्रकार पड़ा था जो दक्षिण भारत के पंढरपुर नामक स्थान के आस-पास विक्रम की १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी समय प्रचलित हुआ था। इसके प्रवर्त्तकों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानदेव वा ज्ञानेश्वर (सं० १३३२: १३५३) माने जाते हैं और यह सम्प्रदाय आज तक 'वारकरी सम्प्रदाय' कहला कर प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर आलंदी ग्राम के निवासी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'अमृतानुभव' जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा उक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों को स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित कर उसकी भक्ति-साधना का सर्वसाधारण में प्रचार किया था। 'अमृतानुभव' में पाये जाने वाले उनके एक पद[1] से जान पड़ता है कि उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के मूलाधार 'शिव सूत्रों' का उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था और कदाचित् इसी कारण उन्होंने शांकराद्वैत के मायावाद का खंडन भी किया था। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि पंढरपुर में स्थापित विट्ठल नामक विष्णु वा कृष्ण की मूर्ति के सिर पर शिव की मूर्ति बनी हुई है। वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी शिव तथा विष्णु अथवा हर वा हरि में कभी कोई भेद भी नहीं माना करते; अपितु एकादशी तिथि के व्रत के साथ-साथ सोमवार के दिन भी उपवास करते हैं[2]। इस सम्प्रदाय की साधना में योग-साधना को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो उक्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय की एक विशेषता है।

ज्ञानेश्वर तथा अन्य वारकरी

ज्ञानेश्वर की सर्वप्रसिद्ध रचना 'ज्ञानेश्वरी' श्रीमद्भगवद्गीता' पर एक सुंदर भाष्य है, जो सम्प्रदाय के सिद्धांतों के अनुसार मराठी भाषा में निर्मित हुआ है। यह निर्गुण तथा निराकार परमात्मा की भक्ति का अद्वैतवाद की भावना के अनु-

---

१. 'आणि ज्ञानबन्धु ऐसे। शिव सूत्राचे निमिषे। ह्मणितलें असे। सदा शिवें।' ३, १६ (डॉ० रानाडे : मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० १७६ पर उद्धृत)

२. बलदेव उपाध्याय। वारकरीज, दी फोरमोस्ट वैष्णव सेक्ट ऑफ महाराष्ट्र, दी इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भा० १५, १६३६ ई०, पृ० २७४।

सार प्रतिपादन करता है और इसकी शैली अत्यंत आकर्षक है। ज्ञानेश्वर ने अपने केवल २१ वर्षों के अल्प जीवन-काल में ग्रंथ-रचना के अतिरिक्त तीर्थ-यात्रा भी की थी जिसका रोचक वर्णन इनके सहयोगी मित्र वा कदाचित् शिष्य, नामदेव (सं० १३२७—१४०७) ने अपनी रचना 'तीर्थावली' में किया है। ये नामदेव, संभवतः वे ही हैं जिनका नाम कबीर साहब आदि संतों ने बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और जिनकी बहुत-सी हिंदी-रचनाएँ भी आज तक उपलब्ध हैं। ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के अतिरिक्त उक्त सम्प्रदाय में आगे चल कर एकनाथ (सं० १५९०—१६५६) तथा तुकाराम (सं० १६६६—१७०७) जैसे अन्य संत भी हुए। इन्होंने इसके संदेशों का प्रचार किया। समय पाकर इसके अंतर्गत चार शाखाएँ भी चलीं जिनके नाम १. चैतन्य सम्प्रदाय, २. स्वरूप सम्प्रदाय, ३. आनंद सम्प्रदाय तथा ४. प्रकाश सम्प्रदाय बतलाये जाते हैं। इनके अनुयायी इस समय महाराष्ट्र के बाहर बरार, गुजरात, कर्णाटक और आन्ध्र तक में भी पाये जाते हैं। इसके प्रधान प्रचारकों ने अपने मत का प्रचार अधिकतर मराठी भाषा में रचे गए अभंगों द्वारा किया है। इसके कुछ बड़े-बड़े संतों की अनेक रचनाएँ हिंदी भाषा में भी मिलती हैं और ऐसे लोगों में नामदेव सबसे अधिक विख्यात हैं।

निर्गुणोपासना

वारकरी सम्प्रदाय एक प्रकार का स्मार्त्त सम्प्रदाय है जिसमें पच-देवों की पूजा का विधान है। किंतु इसके सर्व प्रधान इष्टदेव विट्ठल भगवान् हैं जिनकी मूर्ति पंढरपुर में भीमा नदी के किनारे बनी हुई है। वे रुक्मिणी के साथ वर्तमान वस्तुतः श्रीकृष्ण के ही प्रतीक हैं। परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म बतलाते हुए तथा अद्वैत-वाद के समर्थक होते हुए भी इसके अनुयायी भक्ति-साधना को सर्वोत्तम ठहराते हैं। इनकी यह भक्ति अद्वैत भक्ति वा अभेद भक्ति है जिसका केवल अनुभव मात्र किया जा सकता है, वर्णन नहीं हो सकता। अपने 'अमृतानुभव' में एक स्थल पर ज्ञानेश्वर ने कहा है कि "जिस प्रकार एक ही पहाड़ के भीतर देवता, देवालय तथा भक्त-परिवार का निर्माण खोद कर किया जा सकता है, उसी प्रकार भक्ति का व्यवहार भी एकत्र के रहते हुए सर्वथा संभव है, इसमें संदेह नहीं[1]"। तभी तो अंत में जाकर देव देवत्व में घनीभूत हो जाता है, भक्त भक्ति-भाव में विलीन हो जाता है, और दोनों का ही अंत हो जाने पर अभेद का स्वरूप अनंत होकर प्रकट होता है। जिस प्रकार गंगा समुद्र से भिन्न रूप होने से कभी मिल नहीं सकती, वैसे ही परमात्मा

---

१. 'देव देऊल परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तिचा वेव्हारु। कां न हवावा' ४१॥ अमृतानुभव, प्रकरण ९।

के साथ तद्रूप हुए बिना भक्ति का होना कभी संभव नही[1]। निर्गुण की इस अद्वैत भक्ति के लिए ये लोग सगुण रूप को भी एक साधन मानतेहैं। उसके साथ तादात्म्य का भाव प्राप्त करने के लिए उसके नाम का निरंतर स्मरण तथा उसके अलौकिक गुणों का सदा कीर्तन किया करते हैं। इनके यहाँ इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञान का एक सुंदर सामंजस्य लक्षित होता है जिसे साधना के रूप में स्वीकार कर किसी भी जाति वा श्रेणी का मनुष्य कल्याण का भागी बन सकता है।

कीर्तन-पद्धति

वारकरी सम्प्रदाय का नाम दो शब्दों अर्थात् 'वारी' तथा 'करी' के संयोग से बना था; जिसका अर्थ 'परिक्रमा करनेवाला' था। किंतु यह परिक्रमा विशेष-कर पंढरपुर के मंदिर में स्थापित विट्ठल भगवान् की ही प्रति मास की दोनों एकादशियों को की जानेवाली तीर्थ-यात्रा तक सीमित समझी जाती रही। सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी का यह कर्तव्य था कि वह कम से कम आषाढ़ वा कार्तिक में इसे अवश्य कर ले। इन अवसरों पर उक्त यात्री बहुधा संयत जीवन बिताते थे और अपने इष्टदेव के भजन तथा कीर्तन में लीन रहा करते थे। इस भजन और कीर्तन की पद्धति भी प्रायः उसी प्रकार की थी, जैसे आगे चल कर नरसी मेहता (सं० १४७२–१५३८) तथा मीराँबाई (सं० १५५५–१६०३) ने क्रमशः गुजरात और राजस्थान की ओर तथा चैतन्यदेव (सं० १५४२–१५९०) ने बंगाल और उड़ीसा प्रांत में अपनायी। ये लोग अपने इष्टदेव के भजन में लीन हो कर नृत्य तथा गान करते-करते बहुधा भावावेश में आ जाते थे। इनकी भक्ति का मूल अद्वैती स्वरूप द्वैत-भाव से पूर्णतः प्रभावित जान पड़ने लगता था तथा इनमें और सगुणोपासक भक्तों में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता था। फिर भी इनका वर्णाश्रम के नियमों से मुक्त रह कर एक अकृत्रिम जीवन व्यतीत करना, सामाजिक विशेषताओं की उपेक्षा करना, प्रवृत्ति मार्ग को स्वीकार करना तथा साम्प्रदायिक रूढ़ियों को अधिक महत्त्व न देना आदि इन्हें साधारण भक्तों की श्रेणी से पृथक् कर देते थे। वारकरी सम्प्रदाय के इन भक्तों को इसी कारण संत कहने की भी परिपाटी चल निकली और यह शब्द इनके लिए रूढ़ सा हो गया।[2]

हरिदासी सम्प्रदाय

जिस प्रकार वारकरी सम्प्रदाय के वैष्णवों की विचारधारा अद्वैतपरक थी,

---

१. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर : श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (हिंदी अनुवाद), गीता प्रेस, गोरखपुर सं० १९९०, पृ० २३१।

२. आर० डी० रानाडे : मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पूना १९३३ ई०, पृ० ४२।

उसी प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय के ऐसे भक्त माध्व सम्प्रदाय की द्वैतपरक भावना द्वारा प्रभावित रहे और इन्होंने कर्णाटक प्रांत में अपने मत का प्रचार किया। इनके पथ-प्रदर्शक नरहरितीर्थ तथा श्री पादराय कहे जाते हैं जिनका आविर्भाव १५वीं शताब्दी तक हो चुका था। परन्तु १६वीं शताब्दी में इनके सर्वश्रेष्ठ भक्त-कवि हुए जिनमें से प्रथम अर्थात् व्यासराय के लिए कहा जाता है कि ये महाराज कृष्णदेवराय के धर्मगुरु स्वरूप थे। इन्हीं ने ऐसे भक्तों के 'दासकूट' नामक समुदाय को प्रतिष्ठित करके उसे अनुप्राणित किया। इनके प्रमुख शिष्यों में से दो अर्थात् पुरंदरदास तथा कनकदास ने अत्यंत उच्चकोटि के भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। पुरंदरदास ने अपने धन संपन्न जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की और कनकदास ने अपने सैनिक जीवन को भी महत्त्व नहीं दिया। इन दोनों की उपलब्ध रचनाओं में इनके गंभीर अनुभव, हृदय की पवित्रता और निश्छलता तथा कथनी और करनी में सामंजस्य लाने के प्रति विशेष आग्रह बड़ी सफलता के साथ अंकित है जो इस सम्प्रदाय की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। वारकरी सम्प्रदाय के संतों की ही भाँति हमें इनके यहाँ भी बिट्ठल के प्रति उपास्य की भावना काम करती जान पड़ती है तथा हमें इनकी पंक्तियों में भी लगभग उसी प्रकार भजन और कीर्तन के प्रति विशेष आकर्षण दिखलायी देता है।

(ङ) वैष्णव सहजिया और उत्कल के पंचसखा भक्त

वैष्णव सहजिया

चैतन्यदेव के पहले से ही[1] बंगाल प्रांत में वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा 'सहजिया' के नाम से प्रसिद्ध रहती चली आ रही थी। इस शाखा के विख्यात पूर्व-कालीन भक्तों में चंडीदास का नाम विशेष रूप से लिया जाता है जिनका आविर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। इनका जन्म वीरभूमि जिले के अंतर्गत हुआ था और ये नान्नूर नामक गाँव के किसी बाँशुली देवी के मंदिर में पुजारी का काम किया करते थे। अपने प्रेम-भाव की उग्रता के कारण ये 'पागला चंडी' कहला कर विख्यात हो गए थे। इनका प्रेम-संबंध 'रामी' नाम की रजकी वा धोबिन के साथ भी हो गया था। किंतु ब्राह्मण होते हुए भी इन्होंने इस बात की कुछ भी परवाह नहीं की और अपनी प्रेमपात्री को 'वेदमाता गायत्री'-तक कह कर संबोधित करते रहे। इन्होंने श्रीकृष्ण तथा राधा से संबद्ध अनेक पदों की रचना की तथा उनकी नित्य-लीला का वर्णन किया। उनके अलौकिक प्रेम की व्याख्या करते हुए इन्होंने कहा है—"वैसी प्रीति कभी न तो देखी गई और न सुनी

१. डॉ० मजुमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ० ४२४।

ही गई। उन दोनों के प्राण वा हृदय स्वभावतः एक दूसरे से बँधे हुए हैं और एक दूसरे के समक्ष सदा रहते हुए भी वे भावी वियोग की काल्पनिक आशंका से रो पड़ते हैं।"[1] इस प्रेम की तुलना में अनेकानेक उदाहरण उपस्थित कर वे उन सभी को इससे हीन भी दरसाते हैं। इनके उस प्रेम का स्वरूप उस स्वच्छंद, किंतु स्वाभाविक अनुराग की ओर संकेत करता है, जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र वा प्रेमी के प्रति हुआ करता है। प्रेम की इस स्वाभाविकता के ही कारण उसे 'सहज-भाव' का नाम दिया गया था और सहज शब्द के ही महत्त्व से इसका नाम 'सहजिया सम्प्रदाय' पड़ा था।

राधा तथा कृष्ण

उक्त 'सहज' वस्तुतः वही सहज तत्त्व था जो कभी बौद्ध दर्शन के अनुसार परमतत्त्व समझे जानेवाले शून्य के स्थान पर क्रमशः महासुख के रूप में प्रविष्ट हुआ था और जो बौद्ध सहजिया लोगों की साधना में परमेश्वर बना हुआ था। अतएव जिस प्रकार बौद्ध सहजिया लोगों ने इसे 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' का युगनद्ध रूप मान रखा था, उसी प्रकार इन वैष्णव सहजिया लोगों ने भी इसे 'राधा' तथा 'कृष्ण' के नित्य प्रेम का रूप दे डाला। इसी को सारे विश्व का मूलाधार मान कर इन्होंने सृष्टि-क्रम की कल्पना भी की। प्रत्येक मनुष्य के भीतर भी, इसी कारण कृष्ण-तत्त्व की कल्पना की गई जिसे उसका 'स्वरूप' समझा गया। उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री के भीतर राधा-तत्त्व का भी अस्तित्व माना गया तथा मानव शरीर में इसके अतिरिक्त पाये जाने वाले निम्नतर तत्व को उसका केवल 'रूप' नाम दिया गया। इसके सिवाय इन 'रूप' तथा 'स्वरूप' के मौलिक एकत्व को कार्यान्वित करने के लिए ही वैष्णव कवियों ने राधा तथा कृष्ण की नित्य-लीला का प्रत्यक्ष अनुभव करना अपने लिए परम ध्येय मान लिया था और उसका वर्णन करते हुए वे आनंद के मारे फूले नहीं समाते थे। से उस 'लीला' वा 'केलि' को अत्यंत ऊँचा महत्त्व प्रदान करते थे और इस प्रकार की भावना तब से बराबर लक्षित होती चली आई है। जयदेव कवि ने अपनी रचना 'गीत गोविंद' के प्रथम श्लोक वा पद में ही राधा और कृष्ण की यमुना-तट पर होने वाली रहस्यमयी 'केलि' वा लीला की जय मना कर मंगलाचरण किया था[2]। उनके पीछे आने वाले चंडीदास तथा

---

१. 'एखन पीरिति कभु देखि नार सुनि। पराणे पराण बाँधा अपना आपनि॥ दूँहुँ कोरे दूँहुँ कांदे विच्छेद भविया। आदि डॉ० दिनेशचंद्र सेन की पुस्तक 'बंगाली लैंग्वेज ऐंड लिट्रेचर', पृ० १३०-१ पर उद्धृत)।

२. 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः' ॥ गीत गोविंद।

विद्यापति ने भी उक्त लीला का प्रायः उसी प्रकार वर्णन और गुणगान किया था। सहजिया वैष्णवों ने उसी के आधार पर आगे चल कर 'रूप' के ऊपर 'स्वरूप' का क्रमशः आरोप करते हुए मानवीय प्रेम को भी स्वर्गीयता प्रदान कर दी। कालांतर में उनका वैष्णव-धर्म ही वस्तुतः मानव-धर्म में परिणत हो गया। "मानव-प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट तथा शुद्ध दशा में ईश्वरीय प्रेम बन जाता है" की भावना ने ही वैष्णव सहजिया तथा सूफ़ी सम्प्रदायों के सहयोग से बंगाल प्रदेश में 'बाउल सम्प्रदाय' को भी जन्म दिया जिसने सहज की उक्त कल्पना को 'मनेर मानुष' वा हृदयस्थित प्रियतम के रूप में परिवर्तित कर एक नवीन मार्ग निकाला [1]।

पंचसखा भक्त

जिस समय बंगाल प्रांत में चैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ था लगभग उसी समय उत्कल प्रांत में भी वैष्णव भक्तों का एक समुदाय 'पंचसखा' नाम से प्रतिष्ठित होने लगा था। उसमें बलराम दास, जगन्नाथ दास, अच्युतानंद दास, यशोवंत दास तथा अनंत दास नामक पाँच प्रमुख वैष्णव महापुरुषों के नाम लिये जाते हैं। इन पाँचों भक्त कवियों की यह विशेषता थी कि ये चैतन्य देव की भाँति केवल रागानुगा भक्ति के ही प्रचारक नहीं थे। इनकी भक्ति को योग-साधना का भी सहयोग प्राप्त रहा तथा ये बहुत कुछ उस बौद्ध धर्म की बातों द्वारा भी प्रभावित थे जो उन दिनों वहाँ अवशिष्ट रूप में वर्तमान था। ये लोग श्रीकृष्ण के उपासक होते हुए भी, उन्हें निर्गुण तथा निराकार अथवा कभी-कभी 'शून्य देही' तक ठहरा दिया करते हैं और तदनुसार ये उनकी सगुणावतार परक विविध लीलाओं की वैसी ही व्याख्या भी करते पाए जाते हैं। अतएव, जिस प्रकार हिंदी साहित्य के भक्त कवियों को हम यहाँ 'सगुण भक्ति' तथा 'निर्गुण भक्ति' के कवि कहते हैं, इन दोनों में से भी द्वितीय वर्ग वालों में से कुछ को 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अनुसार पृथक् कर देते हैं, उसी प्रकार उड़िया साहित्य के भक्त कवियों में से भी कुछ को 'शुद्धा भक्ति' के कवि तथा अन्य को 'योगमिश्रा' वा 'ज्ञानमिश्रा' भक्ति के कवि कहने की परंपरा देखी जाती है।[2] इन 'पंचसखा' भक्त कवियों में से एकाध संत कबीर साहब के समसामयिक ठहर सकते हैं। किंतु हमें अभी तक इस बात के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर हम इन्हें उनके कभी संपर्क में आने का अनुमान भी कर सकें।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : मध्यकालीन प्रेम साधना, साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, प्रयाग १९६२ ई०, पृ० ९३-१०८।

२. राष्ट्रभाषा रजत जयंती ग्रंथ (कटक, १९३४ ई०) पृ० १३८।

उपसंहार

भक्तों के उपर्युक्त विभिन्न सम्प्रदायों को विविध साधनाओं में, इस प्रकार कभी श्रद्धा तथा प्रेम,कभी तंत्रोपचारमयी उपासना, कभी ज्ञानमूलक भावना, कभी शुद्ध रागानुगा भक्ति तथा कभी-कभी योगाश्रित अभ्यासों तक के न्यूनाधिक अंश क्रमशः प्रविष्ट होते गए और कतिपय साधकों की प्रवृत्ति मानव-प्रेम तक की ओर अग्रसर होती दीख पड़ी। विक्रम की प्रायः द्वितीय शताब्दी से लेकर उसकी चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक के इस लंबे युग में भक्ति-साधना ने अनेक रूप ग्रहण किये। उनका इसके पीछे भी बहुत कुछ प्रचार हुआ और उन्हें अपनाने वाले अनेक महान् व्यक्तियों ने बड़ी ख्याति भी प्राप्त की। परन्तु इन साधकों में भी अधिकतर ऐसे भक्त ही हुए जिन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों के नियमों का भरसक अक्षरशः पालन करना ही उचित समझा तथा जो तदनुसार प्रचलित रूढ़ियों के प्रभाव से अपने को बचा पाने में पूर्णतः समर्थ नहीं हो सके। अपनी साम्प्रदायिक बातों से सर्वथा तटस्थ बने रह कर उपर्युक्त साधनाओं को काम में लाने वाले केवल कुछ ही ऐसे लोग हुए जिनकी गणना बहुधा पूर्वकालीन पथ-प्रदर्शक संतों में की जाती है तथा जिनके जीवन की कुछ झलक उनकी रचनाओं में भी मिलती है। इनमें से कुछ के नाम कबीर साहब आदि संतों ने बड़े आदर के साथ लिये हैं। कुछ की रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में भी संगृहीत हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनके एकाध अन्यत्र प्राप्त फुटकर पदों के आधार पर उन्हें संतों की श्रेणी में सम्मिलित कर लेने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिए इन महापुरुषों में जयदेव, सधना, लालदेद, वेणी, नामदेव तथा त्रिलोचन की गणना की जा सकती है जिनका उपलब्ध संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा इसके आगे की जा रही है

४. पूर्वकालीन संत

(१) संत जयदेव : जीवन-काल

जयदेव का नाम संत कबीर साहब ने अपनी अनेक रचनाओं में बड़े आदर के साथ लिया है और इन्हें 'भक्ति के रहस्यों से परिचित' भी बतलाया है। ये संभवतः वे ही प्रसिद्ध जयदेव हैं जो 'गीत गोविंद' के रचयिता समझे जाते हैं और कदाचित् वे भी जिनके दो पद 'आदिग्रंथ' में भी संगृहीत हैं। संस्कृत-साहित्य के इतिहास में नाटककार, चम्पूकार, छंदःशास्त्र में प्रवीण तथा प्रबंध-रचयिता जयदेव भी एक से अधिक हो चुके हैं परन्तु उनकी प्रसिद्धि उतनी नहीं, जितनी इन गीतकार जयदेव की है और इन्हीं के संबंध में नाभादास ने भी 'भक्तमाल' में लिखा है। इनके समय का अनुमान बंगाल के सेन-वंशी राजा लक्ष्मण सेन के राज्य-काल के विचार से किया जाता है, जो सं० १२३६–१२७२ (सन् ११७९–

१२०५) ई० रहा था।[१] ये उक्त राजा के दरबारी कवि कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि वहीं रह कर इन्होंने विशेष ख्याति भी प्राप्त की थी। श्रीमद्-भागवत् (दशम स्कंध के ३२वें अध्याय के ८वें श्लोक) की 'भावार्थदीपिका' पर की गई 'वैष्णवतोषिणी' टीका से भी प्रकट होता है कि ये उमापतिधर के साथ राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में रहते थे (दे० 'श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मण सेन मंत्रिवरेणोमापति घरेण' आदि) और राजा लक्ष्मण सेन के सभा-मंडप के द्वार पर पत्थर की पट्टियों में खोदा हुआ एक लेख भी पाया गया है जिससे पता चलता है कि ये उक्त राजा के सभासदों में से थे। (दे० 'गोवर्धन-श्चशरणो, जयदेव उमापतिः। कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्यत्र')।[२] इसी प्रकार इन्होंने अपनी रचना 'गीत गोविंद' में कवि धोयी, आचार्य गोवर्धन, उमापतिधर तथा शरणदेव के नाम लिये हैं जिससे सेनों के राज्यकाल की सूचना भी मिलती है।[३] फिर भी इनके जन्म वा मरण-काल के संवत् अभी तक अविदित वा अनिश्चित हैं और यह भी पता नहीं कि ये उक्त राजा के यहाँ कब से कब तक रहे। रजीनकांत गुप्त ने राजा लक्ष्मणसेन का बारहवीं ई० शताब्दी के प्रारंभ में होना अनुमान करते हुए भी इनका समय नहीं बतलाया है।[४] वे यह भी कहते हैं कि चंद बरदाई की पंक्ति "जयदेव अहं कवी कव्विरायं, जिनैं केल कित्ती गोविंद गायं" से प्रकट है कि ये उसके पूर्ववर्त्ती वा समसामयिक थे।[५] अतएव इन संकेतों के आधार पर हम इनका जीवन-काल तब तक विक्रमीय संवत् की १३वीं शताब्दी में रख सकते हैं।[६]

---

१. डॉ० मजुमदार : दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भा० १, ढाका यूनिवर्सिटी, १९४३ ई०, पृ० २३१।

२. रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित (हिंदी अनुवाद) 'खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर सन् १८१०, पृ० १२।

३. 'वाचः पल्लवत्युमापतिधरः सन्दर्भ शुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एक शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतः।
श्रृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धनः
स्पर्द्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः॥' सर्ग १, श्लोक ४।

४. रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित, पृ० १२। ५. वही, पृ० १५।

६. टिप्पणी : इनके 'गीत गोविंद' के एक श्लोक 'वेदानुद्धरते' आदि का उल्लेख सं० १३४८ (सन् १२९२) के एक शिलालेख में भी मिलता है जो गुजरात के शार्गधर बघेल के समय का है। (दे० डा० मजुमदार संपादित 'दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल (भा० १) पृ० ३६९ नोट।

जन्म-स्थान

इनकी जन्मभूमि प्रायः जानकारों की सम्मति में किंदुविल्व नाम का ग्राम था जिसका उल्लेख 'गीत गोविंद' में भी आया है।[१] और जो अजय नदी तटवर्त्ती केंदुली नाम से बंगाल के वीरभूमि जिले में आज भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर प्रति वर्ष मकर संक्रांति के अवसर पर एक बड़ा भारी मेला लगता है, जहाँ सहस्रों वैष्णव एकत्र होकर इनकी समाधि के चारों ओर संकीर्तन करते हैं। इनके 'गीत गोविंद' के अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध कवियों के पदों का गान भी किया करते हैं।

कुछ अन्य लेखकों के मतानुसार इनका जन्म-स्थान वास्तव में केंदुली-सासन गाँव है जो उड़ीसा प्रांत में पुरी के निकट किसी प्राची नदी पर स्थित है। इनके उड़िया होने का प्रमाण इस बात में भी दिखलाया जाता है कि वहाँ के लोग इस कवि से बहुत अधिक परिचित जान पड़ते हैं। इस मत के अनुसार कवि जयदेव राजा कामार्णव (सं० ११९९-१२१३) तथा राजा पुरुषोत्तम देव (सं० १२२७-१२३७) के समकालीन थे[२]। इस प्रकार इन दोनों मतों के ही आधार पर हम कवि का जीवन-काल विक्रम की १३वीं शताब्दी में ठहरा सकते हैं। उड़ीसा वैष्णव सम्प्रदाय की भाँति ही बौद्धों के वज्रयान तथा सहजयान सम्प्रदायों का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है और जयदेव को सहजयान सम्प्रदाय द्वारा प्रभावित भी कहते हैं। अतएव संभव है कि कवि जयदेव उड़ीसा प्रांत के मूल-निवासी हों, किंतु पीछे उनका कोई न कोई संबंध बंगाल प्रांत के साथ भी हो गया हो।

जीवन-वृत्त

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव ने अपनी रचना के अंत में अपने पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी दिया है।[३] इनके जीवन-वृत्त

---

१. दे० 'वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रणतेन। किन्दुविल्व समुद्र सम्भव रोहिणीरमणेन' तृतीय सर्ग, श्लो० ८।

२. 1. The Journal of the Kalinga Historical Research Society, March, 1947.

३. दे० 'भोजदेव प्रभवस्य, राधादेवी सुत श्री जयदेवकस्य।
पराशरादि प्रियवर्ग कंठे, श्री गीतगोविन्द कवित्वमस्तु। द्वादश सर्ग, श्लो० ५।
परन्तु श्री किशोरी दास रचित 'निजमत सिद्धांत' (मध्व खंड, पृ० १५) के

की बहुत-सी घटनाओं का वर्णन नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने किया है। परन्तु उनकी अनेक बातें अलौकिक तथा चमत्कारपूर्ण समझ पड़ती हैं और अनुमान होता है कि उनका अधिकांश जयदेव का महत्त्व बढ़ाने के लिए रचा गया है। कहा जाता है कि ये गाँव के बाहर पर्णकुटी में रहा करते थे, जहाँ पर जगन्नाथजी की प्रेरणा से एक ब्राह्मण इन्हें अपनी कन्या देने के लिए लाया और इनका संकोच देख कर उसे वहीं छोड़ अपने घर चला गया। उस कन्या को पीछे जयदेव ने स्वीकार कर लिया और उसके साथ विवाह कर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगे। उसी समय इन्होंने उन पदों की रचना भी की जो 'गीत गोविंद' में संगृहीत हैं। इन पदों का बहुत प्रचार हुआ और इनके कारण इन्हें कभी-कभी वस्त्र तथा अलंकारादि भी मिलने लगे। किंतु ऐसी ऐश्वर्य-वृद्धि का परिणाम अंत में अच्छा नहीं हुआ। एक बार जब वे धनोपार्जन के लिए की गई अपनी वृंदावन तथा जयपुर की यात्रा से लौट रहे थे[1] इन्हें ठगों और डाकुओं ने लूट कर इनके हाथ-पैर तक काट डाले। फिर भी ये अपने कष्ट-काल में भी सदा प्रसन्न रहे। इनकी स्त्री पद्मावती का उनके लिए मर जाना तथा उसका इनके द्वारा जिलाया जाना आदि जैसी अनेक अन्य घटनाएँ भी इनके जीवन-चरितों में लिखी मिलती हैं जिनसे इनका एक परम भक्त होना सिद्ध होता है। किंवदंती के अनुसार ये वृद्धावस्था तक जीवित रहे। और अंत समय तक किसी न किसी प्रकार गंगा-स्नान पैदल जाकर करते रहे। गंगाजी की जो धारा इनके केंदुली गाँव से अति निकट थी, आजकल 'जयदेई गंगा' के नाम से प्रसिद्ध है।

गीत गोविंद

इनका 'गीत गोविंद' काव्यग्रंथ अपने शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य तथा संगीत-माधुर्य के लिए संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय समझा जाता है और उसकी प्रशंसा इन्होंने उक्त रचना के द्वारा ही निज मुख से भी की है।[2] फिर भी कुछ विद्वानों की राय में उसकी मूल रचना प्राचीन बँगला वा पश्चिमी अपभ्रंश में हुई होगी

अनुसार इस जयदेव की जीवनी से संबद्ध नामों में कुछ अंतर पड़ता है, जैसे 'जगन्नाथ योजन ठारा। विन्दु बिल्व इक ग्राम सुचारा।। तामधि बसत विप्र शिवराया। द्वारावती तासु की बामा।। सो वह भक्त अनन्य प्रण, जगन्नाथ पति जान। लक्ष्मी वन तिनते रमी, तिन दीनो रतिदान।।

हरिते पुत्र प्रगट जयदेवा। द्वादश तिलक अंग शशि भेवा।। आदि—ले०।

१. रजनीकांत गुप्त : जयदेव चरित, पृ० ३६।

२. दे० प्रथम सर्ग, श्लो० ३, अष्टम सर्ग श्लो० ८ व द्वादश सर्ग श्लो० ८, आदि।

और उसका अनुवाद संस्कृत भाषा में कर दिया गया होगा।[1] इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि संपूर्ण काव्य की रचना-पद्धति संस्कृत से अधिक प्राकृत वा लोकभाषाओं का ही अनुसरण करती है। डॉ० पिशल इस बात में सबसे अधिक विश्वास करते हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु गीतों की आलंकारिक भाषा, ग्रंथ की वर्णन-शैली अथवा अंत्यानुप्रासों के प्रयोगादि उस समय संस्कृत-काव्य के लिए भी कोई नवीन बातें नहीं थीं, न अनुवाद में कोई वैसा सौंदर्य लाना ही संभव था। यह कहना बल्कि अधिक उचित होगा कि जयदेव के ऊपर उस समय की अनेक अपभ्रंश रचनाओं का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा होगा और ये उनकी विशेषताओं की ओर सहसा आकृष्ट हो गए होंगे।[2] 'गीत गोविंद' में शृंगार के साथ-साथ भक्ति का भी पुट प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुयायी उसे अपनी भक्ति का प्रबल स्रोत मानते हैं। उसकी कदाचित् इस विशेषता ने ही लोगों को सदा अधिक आकृष्ट किया है। उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र (सं० १४६४–१५९८) के समय के एक शिलालेख से (जो जगन्नाथजी के मंदिर के जगमोहन की बाँयीं ओर वर्तमान है) प्रकट होता है कि सं० १५५६ की १७वीं जुलाई बुधवार को आदेश निकाले गए थे कि उक्त मंदिर में प्रति दिवस संध्या समय से लेकर भगवान के शयन-काल तक नृत्य आवश्यक समझा जायगा। प्रत्येक नर्तकी वा वैष्णव गायक को केवल 'गीत गोविंद' के पदों का गान करना अनिवार्य होगा। दूसरे गीतों का गाना नियम भंग करने का अपराध समझा जायगा।[3] फिर भी शृंगार रस के बाहुल्य तथा कला प्रदर्शन की विशेषता के कारण उक्त रचना में भक्ति-भाव का उद्रेक स्पष्ट नहीं हो पाया है। उसके कुछ टीकाकारों ने उसके शब्दों के भीतर आध्यात्मिक रहस्य की खोज करने की अवश्य चेष्टा की है। परन्तु कदाचित् वे उतने सफल नहीं कहे जा सकते, न शुद्ध भक्ति की दृष्टि से भी उक्त कार्य को हम भक्ति-साहित्य में कोई प्रमुख स्थान दे सकते हैं। कबीर साहब जिस जयदेव के लिए "भगति कै प्रेमि इनही है जाना" कहते है,[4] उसमें ऐसी काव्य-शक्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी अवश्य अपेक्षित होंगी।

---

१. उदाहरण के लिए दे० 'प्राकृत पैंगलम्', कलकत्ता १९०० ई०, श्लो० २०७, पृ० ४७० तथा श्लो० २१३, पृ० ५८१।

२. डॉ० मजुमदार : हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भा० १, पृ० ३७२-३।

३. डॉ० बनर्जी : हिस्ट्री ऑफ ओडीसा, भा० १, रा० चटर्जी, कलकत्ता १९३० ई०, पृ० ३३४।

४. गुरु ग्रंथसाहब, रागु गौड़ी, पद ३६, पृ० ३३०।

आदिग्रंथ वाले पद

'आदिग्रंथ' में संगृहीत जयदेव की रचनाओं में केवल दो पद[1] ही मिलते हैं इनमें से एक उपदेश के रूप में है और दूसरे का विषय योग साधना से संबद्ध समझ पड़ता है। पहले पद के अंतर्गत 'राम नाम' तथा सदाचरण के साथ-साथ मनसा, वाचा वा कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दरसाते हुए उसे योग, जप तथा दानादि से श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसकी भाषा कहीं-कहीं संस्कृत से बहुत प्रभावित जान पड़ती है और तुलसीदास की अनेक ऐसी रचनाओं की भाँति यह भी 'पंडिताऊ पद' कहलाने योग्य है। इसी प्रकार दूसरे पद की शब्दावली पर नाथपंथ अथवा सिद्धों के बौद्ध मत का प्रभाव स्पष्ट है, इसकी वर्णन-शैली आगे आनेवाले संतों के बहुत-से 'सबदों' का स्मरण दिलाती है मेकालिफ ने तो इस पद को 'एक अत्यंत कठिन मानवीय रचना' कहा है।[2] उक्त दोनों पदों में से किसी का भी पाठ 'आदिग्रंथ' वाले संग्रह में पूर्णतः शुद्ध नहीं जान पड़ता। उनके कई शब्द विकृत तथा अस्पष्ट हो गए हैं।

महत्त्व

'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव के लिए कहा जाता है कि वे निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कुछ लोग उन्हें विष्णु स्वामी सम्प्रदाय का बतलाते है, जैसा कि एक संस्कृत[3] श्लोक से भी सूचित होता है।[4] परन्तु ये बातें उक्त दो में से किसी भी पद के आधार पर प्रमाणित नहीं की जा सकतीं।

---

१. रागु गूजरी पद १, पृ० ५२६, तथा रागु मारू पद १, पृ० ११०४।

२. मेकालिफ : दि सिख रिलिजन, भा० ६, पृ० १६।
डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि ये दोनों पद मूलतः पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए होंगे जो उन दिनों बंगाल में प्रचलित रहा और उन्होंने विशेषकर इनमें पाये जाने वाले उकारांत प्रथम के प्रयोग का प्रमाण भी दिया है।
—Origin and Development of Bengali Language p 126.

३. 'विष्णुस्वामी समारम्भां, जयदेवादि मध्यगाम्।
श्रीमद्वल्लभ-पर्यन्तां, स्तुमो गुरु-परम्पराम्।'

४. जयदेव के विष्णुस्वामी आदि की भाँति निंबार्क सम्प्रदायानुयायी होने में कुछ लोगों ने संदेह भी किया है। मथुरा निवासी कृष्णदास नामक एक सज्जन ने 'निंबार्क माधुरी' का खंडन करते हुए इन्हें माध्व सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया है तथा इनकी एक वंशावली भी दी है (दे० 'माध्व गौडेश्वर

इस कारण इन दोनों जयदेवों के एक ही होने में संदेह भी किया जा सकता है। फिर भी इतना प्राय: निश्चित-सा है कि उक्त दो पदों का रचयिता एक ऐसे समय में वर्तमान था जब कि पाल-वंशी राजाओं के समकालीन बौद्ध सिद्धों का समय अभी-अभी व्यतीत हुआ था। नाथ-पंथ तथा भक्ति-मार्ग की धाराएं प्राय: समान रूप से एक ही साथ प्रवाहित हो रही थीं और इन दोनों द्वारा सिंचित क्षेत्र एक विशेष रूप धारण करता जा रहा था। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर विदित होगा कि जयदेव-जैसे कुछ वैष्णवों की रचनाओं में सहयानियों के 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' नामक तत्त्व ही राधा-कृष्ण के रूप धारण कर अद्वय की दशा में अपने ढंग से मिल जाते हैं। उनकी 'महासुख' वाली अंतिम स्थिति यहाँ पर 'अलौकिक प्रेम' में रूपांतरित हो जाती है। फिर भी आगे चल कर इसी का परिणाम वारकरी सम्प्रदाय के अभंगों में कहीं अधिक स्पष्ट होकर लक्षित हुआ। जयदेव वास्तव में एक बड़े महत्त्वपूर्ण संधि-काल में उत्पन्न हुए थे और अपनी कृतियों द्वारा उन्होंने एक ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया, जो संत-मत के लिए आदर्श बन गया।

(२) संत सधना : संक्षिप्त परिचय

संत सधना के विषय में कहा जाता है कि ये एक बहुत प्राचीन भक्त थे। इनका उल्लेख नामदेव (सं० १३२७–१४०७) ने भी अपनी रचनाओं में किया है। किंतु संत नामदेव की ऐसी कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिलती जिसमें इनकी चर्चा की गई हो। संभव है ये नामदेव के समकालीन रहे हों अथवा उनके कुछ ही आगे-पीछे उत्पन्न हुए हों। इनके जन्म-स्थान का भी ठीक-ठीक पता नहीं चलता। एक सधना व सदन सेहवान, सिंध प्रांत के निवासी कहे जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि वे प्रसिद्ध संत सधना से भिन्न थे। उनका भी समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंतिम भाग समझा जाता है, जो नामदेव का भी जीवन-काल है। मेकालिफ के अनुसार नामदेव तथा ज्ञानदेव की तीर्थ-यात्रा के समय सधना की उनके साथ एलोरा की कंदरा के निकट भेंट हुई थी और इन्होंने उन दोनों संतों का आतिथ्य-सत्कार करके तीर्थ-यात्रा में उनका साथ भी दिया था[1]। सधना जाति के कसाई कहे जाते हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि ये पशुओं को स्वयं मारते नहीं थे, अपितु अन्य कसाइयों से मांस लेकर बेचा

ग्रंथ माला' छठा पुष्प, मथुरा, सं० २००३, पृ० ४४)। किंतु इसके लिए भी अन्य प्रमाण अपेक्षित हैं। —ले०।

१. मेकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ३२।

करते थे। इन्हें जीव-हिंसा से घृणा थी, किंतु अपने पैतृक व्यवसाय का ये त्याग भी नहीं करना चाहते थे।

रचनाएँ

इनका एक पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में आया है जिसमें इनके आर्त्तभाव तथा आत्म-निवेदन बड़े सुंदर ढंग से प्रदर्शित किये गए हैं और इनके दैन्य-भरे शब्दों में एकांतनिष्ठा भी वर्तमान है। इनकी पंक्तियों में हृदय के सच्चे उद्गार दीख पड़ते हैं और इनके उक्त एक पद के द्वारा भी इनके सरल तथा निष्कपट जीवन की एक झाँकी मिल जाती है। इस पद के प्रारंभ में जिस कथा का प्रसंग आया है, वह इस प्रकार कही जा सकती है—'किसी बढ़ई के लड़के को जब यह पता चला कि एक राजा की लड़की विष्णु भगवान के साथ विवाह करने को उत्सुक है, तब उसने उसी समय विष्णु के रूप में अपने को सुसज्जित करना चाहा। उसने अपने शरीर में चार भुजाएँ लगा लीं जो क्रमशः शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुए थीं और वह गरुड़ पर सवार भी हो गया। परन्तु जब उक्त लड़की के पिता पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया और लड़की ने उसकी रक्षा के लिए अपने उस कृत्रिम विष्णु-रूपी पति से सहायता चाही, तब वह भयभीत हो गया और अधीर होकर उसने वास्तविक विष्णु भगवान् की शरण ली। विष्णु भगवान् ने उसकी प्रार्थना सुन ली। राजा के उक्त शत्रु को पराजित कर दिया और इस प्रकार उस बनावटी विष्णुरूपी बढ़ई को भी बचा लिया[१]'। सधना के छह पदों का एक संग्रह 'संतगाथा' में भी मिलता है जिसमें इनकी भक्ति कृष्णावतार के प्रति लक्षित होती है। इन पदों की भाषा में फारसी-अरबी के भी कुछ शब्द आये हैं जिनसे इनके रचयिता का संभवतः किसी पश्चिमी प्रांत का निवासी होना सिद्ध होता है। परन्तु इन पदों की पंक्तियों में वह भाव-गांभीर्य नहीं, न वे संतमत निर्दिष्ट विचार ही दीख पड़ते हैं जो सधना की विशेषता होनी चाहिए। संभव है सधना नाम के दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो गए हों और उन दोनों की रचनाएँ पृथक्-पृथक् उपलब्ध हो रही हों।

सधना-पंथ

डॉ० ग्रियर्सन ने संत सधना के नाम पर प्रचलित किसी सधना-पंथ की चर्चा की है। उसके अनुयायियों का बनारस में वर्तमान होना भी बतलाया है, किंतु ऐसे लोगों का इस समय काशी में कुछ पता नहीं चलता। इसके सिवाय डॉ० ग्रियर्सन ने सधना का समय भी ईसा की सत्रहवीं शताब्दी बतलाया है।

---

१. रागु बिलावलु, पद १, पृ० ८५८।

किंतु संत कबीर साहब के समसामयिक संत रविदास ने इनका उल्लेख अपनी एक रचना[1] में किया है जिससे उक्त डॉक्टर साहब का यह अनुमान भी ठीका नहीं जान पड़ता

(३) संत लालदेद वा लल्ला : संक्षिप्त जीवनवृत्त

संत लालदेद वा लल्ला के अन्य कई नामों में 'लल्लेश्वरी' तथा लल्ला 'आरिफ़' भी प्रसिद्ध हैं। इनके माता-पिता के विषय मे कहा गया है कि वे श्रीनगर, कश्मीर से लगभग ४ मील दक्षिण पूर्व स्थित 'पांड्रेठन' नामक स्थान के निवासी थे जो अशोक-कालीन कश्मीर की कभी राजधानी भी रह चुका था। इनका जन्म सं० १३६२ में हुआ, जब वहाँ पर उदयानदेव का राज्य था और दिल्ली में मुहम्मद बिन तुग़लक अपनी गद्दी पर आसीन था। इनकी जाति को किसी-किसी ने 'देद' शब्द के कारण , ढेढ वा मेहतर तक समझा है, किंतु साधारणतः इनके परिवार को संभ्रान्त कहा जाता आया है[2]। इनकी छोटी अवस्था में ही इनका विवाह 'पांपर' नामक गाँव में कर दिया गया, जहाँ पर इनकी विमाता सास ने इन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये। कहते हैं कि वह इनके भोजन की थाली में प्रायः एक सिलबट्टा रख कर उसके ऊपर भात बिखेर दिया करती थी। इस कारण, बाहर से यथेष्ट दीख पड़ने पर भी इन्हें भर पेट अन्न नहीं मिल पाता था और इस बात की ओर इन्होंने एक पंक्ति में भी संकेत किया है। इनके प्रति स्वयं इनके पति का भी व्यवहार कभी अनुकूल नहीं पड़ता था जिससे इन्हें क्रमशः विरक्ति होती गई। फलतः इन्होंने अपने परिवार का त्याग करके अवंतीपुर के निवासी शैव-सिद्ध 'वे' अथवा बाबा श्रीकंठ से दीक्षा ग्रहण कर ली तथा प्रसिद्ध त्रिक-सिद्धांतों द्वारा प्रभावित होकर तदनुसार साधना में भी निरत हो गई। कुछ दिनों पीछे इनका सैयद अली हमदानी (सं० १३७१-१४४३) के प्रभाव में आना भी कहा जाता है। कदाचित् इसी कारण, इन्हें 'आरिफ़' कहने की भी परंपरा चली आ रही है। सिद्धावस्था की प्राप्ति हो जाने पर इनका परमहंसों के समान रहा करना तथा कभी-कभी तत्मय होकर नृत्य तक करने लगना और अपने पहने हुए वस्त्रादि का त्याग करके नग्न तक बन जाना भी बतलाया जाता है। परन्तु इसके साथ यह भी प्रसिद्ध है कि किसी प्रकार के भी धार्मिक मतभेदों से ये बराबर दूर रहीं और इनकी समन्वयात्मक वृत्ति

---

१. 'नामदेव कबीर त्रिलोचनु, सधना सैणु तरै'—संत रविदास।

२. 'देद' शब्द यहाँ पर कश्मीरी भाषा के 'देद्दी' शब्द का एक संक्षिप्त रूप हो सकता है जिसका अर्थ 'आयु और पदवी में बड़ी' हुआ करता है और जो हिंदी के 'दीदी' शब्द का समानार्थक भी कहा जा सकता है।—ले०।

में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कहते हैं कि एक बार किसी बजाज ने इन्हें पहनने के लिए दो बराबर कपड़े के टुकड़े दिये जिन्हें ये धारण करने लगीं। परन्तु इन्हें पीछे अपनी चारों ओर लगी रहने वाली भीड़ की प्रत्येक गाली के अनुसार उनमें से एक में गाँठें देना आरंभ कर दिया तथा उसी प्रकार उसके अभिनंदनों के अनुसार भी दूसरे में गाठें लगा दीं। अंत में, जब उन दोनों को तौलवा कर देखा तो उन्हें तौल में बराबर पा कर इन्होंने अपने प्रति निंदा तथा स्तुति की ओर और भी उपेक्षा प्रकट की। इनके उपदेशप्रद उद्‌गारों के कारण इनके अनुयायियों की संख्या में भी क्रमशः वृद्धि होती गई। कहते हैं कि इन्होंने 'कश्मीर के संरक्षक संत' (Patron Saint of Kashmir) शेख नूरुद्दीन अथवा नंदा ऋषि (सं० १४३४-१४९५) को भी बहुत प्रभावित किया। वृद्धावस्था प्राप्त करके इनका लगभग ८० वर्ष की आयु में शरीर त्याग करना प्रसिद्ध है तथा इनका मृत्यु-स्थान 'बीज विहाड़ा' गाँव बतलाया जाता है।

रचनाएँ और विचार-धारा

संत लालदेद की विचार-धारा का पता इनकी उन फुटकर बानियों द्वारा चलता है जिन्हें इन्होंने समय-समय पर अपने भ्रमणशील जीवन में सर्वसाधारण के प्रति विभिन्न उद्‌गार प्रकट करते समय कह डाला था। वे कश्मीर की ही भाषा में हैं और उन्हें एकत्र करके कुछ लोगों ने एकाध संग्रहों के रूप में प्रकाशित किया है। ऐसे संग्रहों में डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० बार्नेट का 'लल्ला वाक्यानि'[1], तथा श्रीनगर से प्रकाशित 'लल्लेश्वरी वाक्यानि'[2] और कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा सर रिचार्ड टेम्पुल के अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किये गए 'दि, वर्ड ऑफ लल्ला, दि प्रोफेटेस'[3] के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें संगृहीत रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि संत लालदेद का आराध्यदेव वह परमतत्त्व है जिसे "शिव, केशव, जिन वा नाथ में से कोई भी नाम दे सकते हैं। किंतु इसके कारण उसमें किसी प्रकार का अंतर नहीं आ सकता। इनमें मे किसी भी एक अथवा इनसे अन्य नामधारी तत्त्व के प्रति भी हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुःखों से मुक्ति

१. दि वाइज सेइंग्स ऑफ लालदेद, ए मिस्टिक पोएटेस ऑफ एंश्येंट कश्मीर, एशियाटिक सोसायटी मोनोग्राफ, लंदन, १९२० ई०।

२. इनके ६० पदों का एक संग्रह जिसमें प्रायः उक्त संग्रह की रचनाएँ ही ले ली गई हैं।

३. सन् १९२४ में प्रकाशित। मूल कश्मीरी में इनका 'लालदेद-ए-हिंद वाक' प्रसिद्ध है।

प्राप्त कर सकता है[१]"। इसलिए इन्होंने मूर्तिपूजा के प्रेमियों को भी संबोधित करते हुए कहा है, "अरे मूर्ख पंडित, मूर्ति पत्थर है, मंदिर पत्थर है और ऊपर तथा नीचे सर्वत्र एक समान है। इस दशा में तू किसकी पूजा करना चाहता है? अरे, अपने मन तथा आत्मा का एकीकरण कर।[२]" इन्होंने अन्यत्र इस प्रकार भी कहा है, "पूरी लगन के साथ और चाहभरी आँखों द्वारा मैंने उसे रात-दिन सब कहीं ढूँढा, किंतु उस सत्य रूपी परमात्मा को मैंने कहीं बाहर न पाकर स्वयं अपने भीतर ही उपलब्ध कर लिया। वह अवसर मेरे जीवन के परम सौभाग्य का दिन था और तभी से मैंने उसे निर्निमेष देखने तथा उसे अपना पथ-प्रदर्शक बनाने का व्रत ले लिया[३]। "उसे ढूँढती-ढूँढती मैं थक गई और मैंने उसके लिए अपनी शक्ति से बाहर तक यत्न किये, किंतु मैंने उसके द्वार पर ताला पड़ा पाया। इससे मेरी अभिलाषा उसके प्रति और भी कई गुनी बढ़ गई तथा जब मैं वहीं ठहर कर देखने लगी तो प्रियतम दृष्टि में आ गया।"[४] अतएव, इनका कहना है, "बाहर की वस्तुओं की परवा न करके अपने विचार को अपने भीतर ही केन्द्रित करो जिससे तुम्हारा संदेह जाता रहे। मेरे गुरु ने मुझे यही उपदेश दिया और मैं तभी से दिगंबर बन कर नाचने-गाने लग गई। इससे बढ़ कर पवित्र अन्य कौन सा जीवन होगा?[५]"

संत लालदेद तथा कबीर साहब

डॉ० ग्रियर्सन का कहना है कि आगे चल कर लालदेद की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों से कबीर साहब भी प्रभावित हुए थे[६]। उनके अनुसार लालदेद को मूर्ति-पूजा के प्रति वास्तविक विरोध नहीं था और वह एक सच्ची धार्मिक हिन्दू ललना थी। परन्तु उसने अपने समय में ठीक वैसे ही यत्न किये थे जैसे कबीर साहब ने पीछे, राम तथा रहीम एवं केशव और करीम को एक बतला कर हिन्दू और मुस्लिम जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिये किये। संत लालदेद की रचनाओं में हमें कबीर साहब की पंक्तियों में जैसे जुलाहों के यहाँ प्रचलित पारिभाषिक शब्दों के

---

१. लल्लेश्वरी वाक्यानि, श्रीनगर, पद २२, पृ० १०।
२. डॉ० कौमुदी : कश्मीर इट्स कल्चरल हेरिटेज, बंबई १९५२ ई०, पृ० ५७ पर उद्धृत।
३. वही, पृ० ५६ पर उद्धृत। ४. वही, पृ० ५५ पर उद्धृत।
५. डॉ० जी० एम० डी० सूफ़ी : कश्मीर, ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर, लाहोर, १९४९ ई०, पृ० ३८७ पर उद्धृत।
६. दि जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१८ ई०, पृ० १५७-९।

प्रयोग मिलते हैं तथा इनकी एक रचना में हमें उनकी पंक्ति "उलटी गंगा समुद्रहि सोखे ससि औ सूर गरासे" तक का स्मरण हो आता है, जहाँ द्वितीया के चंद्र का राहु द्वारा ग्रस लिया जाना बतलाया गया है। परन्तु फिर भी हमें इन दोनों संतों के बीच किसी प्रकार के सीधे संबंध का कोई पता नहीं चलता, न इस बात के ही कोई प्रमाण अभी तक मिले हैं कि यह कभी संभव भी हो सकता था। संत लालदेद को कभी-कभी 'लल्ला योगिनी' का भी नाम दिया जाता है, जो इनकी रचनाओं के अंतर्गत पाये जाने वाले योग-साधना-विषयक विविध उल्लेख के कारण भी हो सकता है। ऐसे प्रसंग संत-साहित्य में भी कम नहीं मिला करते। संत लालदेद का यह कथन कि "कुछ लोग सोते हुए भी जागृतावस्था में रहा करते हैं तथा कुछ के जागे रहने पर भी, उन पर निद्रा की छाया पड़ी रहती है। कुछ लोग स्नान करते रहने पर भी अपवित्र बने रहते हैं तथा कुछ गृहस्थी के प्रपंचों में फँसे दीख पड़ने पर भी कर्मों से पृथक् तथा शांत रहा करते हैं," हमें 'श्रीमद्भगवद्गीता' के प्रसिद्ध श्लोक का स्मरण दिलाता है।[१]"

(४) संत वेणी : संक्षिप्त परिचय

संत वेणी जी के समय अथवा जीवन की घटनाओं के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (सं० १६२० : १६६३) ने अपने एक पद में इनका नाम लिया है[२] और कहा है कि इन्हें सद्गुरु द्वारा ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध हुआ था। उक्त गुरु ने अपने संपादित 'आदिग्रंथ' में इनके तीन पदों का संग्रह भी किया है जिनसे इनके विचारों की कुछ बानगी मिलती है। इनकी उपलब्ध रचनाओं की भाषा पुरानी जान पड़ती है और ये अनुमान से कबीर साहब से प्राचीन ही ठहरते हैं। इनकी जन्मभूमि वा कर्मक्षेत्र का कोई संकेत नहीं मिलता। फिर भी इनके पदों के पंजाब की ओर प्रचलित होने से इन्हें हम किसी पश्चिमी प्रांत का निवासी कह सकते हैं अथवा इनके एक पद में 'हरिचा विश्राम' का प्रयोग पाकर हम इन्हें महाराष्ट्र की ओर का रहने वाला भी बतला सकते हैं। इनके पदों पर नाथयोगी-सम्प्रदाय वा संत-मत की गहरी छाप है और उसमें व्यक्त किये गए विचारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके समय तक उसका प्रचार इनके प्रदेश में बहुत कुछ होने लगा था। इन्हें नामदेव के

---

१. **'या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।**
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ।।' —अ० २, श्लोक ६९।

२. **'वेणी कउ गुरि कीउ प्रगासु, रेमन तभी होहि दासु', राग बसंतु, महला ५, गुरुग्रंथ साहब, पृ० ११९२।**

समकालीन संतों में हम गिन सकते हैं। सेन, पीपा वा कबीर के समय में इन्हें लाना उचित नहीं जान पड़ता। इनके द्वारा, अथवा इनके नाम पर चलाये गए किसी पंथ का भी अभी तक पता नहीं चला, न उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त कोई अन्य रचनाएँ ही इनकी मिल सकी हैं। फिर भी इससे इनका महत्त्व कम नहीं होता और संत-मत के प्रथम प्रवर्त्तकों में इनका नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

रचनाएँ

इनके 'आदिग्रंथ' में संगृहीत तीन[1] पदों में से एक में योग-साधना की चर्चा है जिसमें ये कहते हैं कि "इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाम की तीनों नाड़ियाँ जहाँ पर मिलती हैं, वह स्थान प्रयाग की त्रिवेणी का महत्त्व रखता है। वहीं पर निरंजन वा राम का निवास है जिसे गुरु द्वारा निर्दिष्ट संकेत से ही कोई बिरला जान पाता है। वहाँ पर सदा अमृत-स्राव हुआ करता है और मन के स्थिर हो जाने पर अनाहत शब्द भी सुन पड़ता है।" इसी प्रकार "अगम्य दसम द्वार में परमपुरुष रहा करता है, जहाँ प्रबुद्ध होकर स्थित रहने वाला शून्य में प्रवेश कर जाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके वश में आ जाती हैं और वह कृष्ण के रंग में तन्मय हो जाता है। उसके मनःसूत्र में नाम के माणिक सदा पिरोये रहा करते हैं और वह सर्वोच्च दशा को प्राप्त कर लेता है," भी इन्होंने कहा है। संत वेणी मरणोपरांत मुक्त होने में विश्वास नहीं करते, उनका आदर्श 'जीवन्मुक्त' का है जिसके लिए चेष्टा करना वे प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य समझते हैं। उन्होंने गर्भावस्था से लेकर मरण-समय तक किसी न किसी क्षण इस बात को स्मरण करने की चेतावनी दी है। उनके मत का मुख्य उद्देश्य 'आतम ततु' की अनुभूति है जिस कारण उन्होंने केवल शरीर पर चंदनादि का प्रयोग करनेवाले मूर्ति-पूजकों को उनका हृदय शुद्ध न रहने से बहुत कुछ फटकारा है। उनके धर्म को 'फोकट धरम' बतला कर उन्हें ठग, वंचक तथा लंपट तक कह डाला है।

(५) संत नामदेव : कई नामदेव

नामदेव नाम के लगभग आधे दर्जन भक्तों वा कवियों का होना केवल

---

१. सिरी राग, पद १, पृ० ९२, राग रामकली, पद १, पृ० ९७४; और रागु प्रभाती, पद १, पृ० १३५०। वेणी जी के नाम से रामकली राग के अंतर्गत ५ पद तथा भैरू राग के अंतर्गत २ पद नराणे, जयपुर के दादू द्वारे वाली सं० १७१० की हस्तलिखित प्रति में भी आये हैं (दे० उसके ३९० पन्ने से ३९२ पन्ने तक)—ले०।

दक्षिण भारत में ही बतलाया जाता है। उत्तरी भारत में भी कदाचित् दो से अधिक नामदेव-नामधारी संतों का किसी न किसी समय वर्तमान रहना कहा गया है। अतएव उस प्रमुख संत नामदेव के विषय में निश्चित रूप से प्रामाणिक परिचय देना संदेह से रहित नहीं कहा जा सकता जिनके पद हमें 'आदिग्रंथ' में मिलते हैं। दक्षिण भारत वा महाराष्ट्र के नामदेव जो प्रसिद्ध ज्ञानदेव के समकालीन थे, उनके विषय में आज तक बहुत कुछ लिखा भी गया है। उनकी अनेक रचनाएँ मराठी अभंगों के बड़े-बड़े संग्रहों के अंतर्गत अच्छी संख्या में मिलती हैं और कहा जाता है कि 'आदिग्रंथ' की रचनाएँ भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। किंतु, पंजाब की कतिपय किंवदंतियों के कारण इस बात में संदेह भी होने लगता है। पता चलता है कि उन्हें कभी-कभी विष्णुदास नाभा भी कहते है। किंतु इस नाम वाले भक्त की रचनाओं के अंतर्गत मीराँ, कबीर तथा कमाल-जैसे परवर्त्ती लोगों के प्रसंग भी पाये जाते हैं, इसलिए उक्त कथन में विश्वास नहीं होता[1]। कारण यह है कि महाराष्ट्र के सर्वप्रसिद्ध नामदेव का ज्ञानदेव का समकालीन होना ऐतिहासिक तथ्य है। ज्ञानदेव वा ज्ञानेश्वर का आविर्भाव-काल उनकी रचनाओं में दिये गए संकेतों के ही अनुसार ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवश्य पड़ जाता है, जब कि कबीर, कमाल वा मीराँ को हम उस काल के अनंतर सौ वर्षों के भीतर भी किसी प्रमाण के आधार पर नहीं ला सकते, न उन्हें नामदेव का समसामयिक ही ठहरा सकते हैं। इसके विपरीत कबीर, कमाल तथा मीराँबाई ने भी अपनी कई रचनाओं में नामदेव का नाम बड़े आदर के साथ लिया है। श्री रजवाड़े द्वारा संपादित एक संग्रह के अनुसार स्वयं विष्णुदास नाभा ने भी अपनी रचना 'बावन अक्षरी' में नामदेवराय की वंदना की है, जो संभवतः उक्त संत नामदेव का ही नाम हो सकता है तथा जिससे इनका उनसे भिन्न और पूर्व-काल का होना भी सिद्ध है[2]।

महाराष्ट्र संत नामदेव

उक्त बातों के अतिरिक्त 'आदिग्रंथ' में संगृहीत नामदेव की रचनाओं के साथ प्रसिद्ध महाराष्ट्र संत-रचित अभंगों की तुलना करने पर हमारी इस प्रकार की धारणा अधिक शक्ति ग्रहण करने लगती है कि उन दोनों प्रकार की रचनाएँ

---

१. वि० श० रजवाड़े ने किसी ऐसे नामदेव का प्रसिद्ध मराठी कवि एकनाथ (विक्रम की १६ वीं शताब्दी) का समकालीन होना माना है (दे० इतिहास संशोधक मंडला चा शके १८३३ अहवाले, पृ० १२२। —ले०।

२. विश्वभारती पत्रिका, खंड ६, अंक २, पृ० ८८।

एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हो सकती है । सबसे पहली समानता उक्त दोनों संग्रहों में उनके रचयिता की जाति के छीपी होनेवाले उल्लेखों के विषय में है। मराठी रचनाओं में कहीं-कहीं 'आम्ही दीन शिपीये जातिहीन" जैसे अंश मिलते हैं, वैसे ही 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत "हीनड़ी जाति मेरी, आदम राइया, छीपे के जनम काहे कउ आइया" जैसे उद्‍गार दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार उन्हें दोनों प्रकार की रचनाओं के रचयिता ने अपना इष्टदेव 'विट्‍ठल' को ही माना है । उसके प्रति अपने भक्ति-भाव का प्रदर्शन अनेक स्थलों पर बड़ी श्रद्धा के साथ किया है। इसके सिवाय नामदेव की मूर्ति को दूध पिलाने, अपनी छान छवाने, मंदिर का द्वार पश्चिम की ओर करा देने, आदि के प्रसंग दोनों में प्रायः एक ही प्रकार से आये हैं । दोनों में आये हुए अनेक पदों के भावों पर नाथ-पंथानुमोदित योग-धारा की छाप भी बहुत स्पष्ट रूप में लक्षित होती है । अतएव दोनों संतों का एक होना असंभव नहीं है ।

महत्त्व

महाराष्ट्र प्रांत में उत्पन्न हुए तथा ज्ञानदेव के समकालीन संत नामदेव एक परम प्रसिद्ध महापुरुष हो चुके हैं। उनका नाम वहाँ के विख्यात 'संत-पंचायतन' अर्थात् 'पाँच प्रमुख संतों के समुदाय' में लिया जाता है । उनके अतिरिक्त चार अन्य संतों में ज्ञानदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास तथा तुकाराम की गणना की जाती है और तुकाराम ने उन्हें अपना आध्यात्मिक आदर्श माना है। महाराष्ट्र की ओर प्रसिद्ध भी है कि ज्ञानदेव ने आगे चलकर एकनाथ के रूप में अवतार लिया था और नामदेव तुकाराम बन कर फिर प्रकट हुए थे। इसी प्रकार नामदेव से किसी न किसी प्रकार प्रभावित होनेवाले संतों में उत्तरी भारत के मई महात्माओं के नाम भी लिये जाते हैं । इधर के सबसे प्रसिद्ध संत कबीर साहब ने उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा के भाव प्रदर्शित किये हैं। उन्होंने कहा है कि "जिस प्रकार पहले युगों में भक्त उद्धव, अक्रूर, हनूमान, शुकदेव तथा शंकर हुए थे, उसी प्रकार कलिकाल में नामदेव तथा जयदेव का आविर्भाव हुआ था।" एक लेखक ने तो यहाँ तक बतलाया है कि यदि ध्यानपूर्वक एवं सूक्ष्म रूप से नामदेव की रचनाओं का अध्ययन किया जाय, तो जान पड़ेगा कि कबीर साहब ने अपनी भावना-सृष्टि तथा वर्णन-शैली दोनों में ही गोरखनाथ तथा नामदेव का स्पष्ट अनुसरण किया है[1]। यहाँ तक कह देना तो कदाचित् अक्षरशः सत्य नहीं समझा जा सकता, किंतु इतना हम निःसंकोच भाव के साथ कह सकते हैं कि उत्तरी भारत के संत भी

---

१. डॉ० मोहन सिंह : कबीर एंड दि भक्ति मूवमेंट, भाग १, पृ० ४८-९ ।

नामदेव के बहुत ऋणी हैं। उनके लिए तथा महाराष्ट्र के अनेक संतों के लिए भी संत नामदेव ने एक पथ-प्रदर्शक का काम किया है।

जीवनी

फिर भी संत नामदेव की प्रामाणिक ऐतिहासिक जीवनी लिखने तथा बहुत-सी रचनाओं को उनकी ही कृति मान लेने के लिए सामग्री की कमी है। भिन्न-भिन्न भक्तमालों के रचयिताओं ने इनके संबंध में बहुतकुछ लिखा है और इनकी कई स्वतंत्र जीवनियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु इन जैसी पुस्तकों में धार्मिक आवेश वा साम्प्रदायिकता के प्रभाव में आकर बहुत-सी अतिरंजित बातें कह दी गई हैं। उनमें अधिकतर एक प्रकार की पौराणिकता की गंध आती है और उनमें उल्लिखित चमत्कारपूर्ण प्रसंगों में सर्वसाधारण को सहसा विश्वास नहीं होता। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर लिखी गई, पूर्णतः विश्वसनीय समझी जानेवाली जीवनियों का अभी तक नितांत अभाव है। जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओं की पूरी छानबीन नहीं हो जाती, तब तक उनमें दी गई बहुत-सी बातों को भी हम असंदिग्ध नहीं कह सकते।

प्रसंग

संत नामदेव के समकालीन समझे जाने वाले एक दूसरे संत सामंत माली ने अपने एक पद में इनके तथा ज्ञानदेव के अपने यहाँ साथ ही आने की चर्चा की है। उसकी कुछ अन्य पंक्तियों से विदित होता है कि उसने इन दोनों के साथ तीर्थ-यात्रा भी की थी[1]। इसी प्रकार संत चोखामेला की भी एक पंक्ति[2] से प्रकट होता है कि उक्त महात्मा का इनके प्रति बड़ा अनुराग था। उत्तरी भारत के संतों में भी कबीर साहब के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी नामदेव के संबंध में अनेक स्थलों पर चर्चा की है और इन्हें आदर की दृष्टि से देखा है। उदाहरण के लिए संत रैदास ने इन्हें नीच कुल में उत्पन्न होकर भी गोविंद की कृपा द्वारा ऊँची पदवी तक पहुँचने वाला बतलाया है। एक दूसरे पद में उनके भगवान् को दूध पिलानेवाली कथा की ओर भी संकेत किया है[3]। इसी प्रकार संत धन्ना ने भी कहा है कि 'गोविंद-गोविंद' कह कर ये साधारण छीपी से बढ़ कर बड़े हो गए।[4] स्वयं संत नामदेव ने अपने विषय में अधिक नहीं लिखा है।

---

१. श्री संतगाथा, इंदिरा प्रेस, पुणें, पृ० १४६।

२. वही, पृ० १४८ 'चोखा ह्यणें लोटागणी जाऊ, नामदेव पाऊं केशवा चा।'

३. गुरुग्रंथ साहब : भाई गुरदियाल सिंघ ऐंड सन्, अमृतसर, पृ० ११०४।

४. वही, पृ० ४८७।

उनकी कई रचनाओं द्वारा भी इतना ही पता चलता है कि अपनी जाति के छीपी होने के कारण इन्हें अपनी हीनता का अनुभव होता था। परन्तु तो भी इन्हें इस बात पर पूरा संतोष था कि गुरूपदेश तथा सत्संग के बल पर इन्हें अंत में भगवान् के दर्शन हो गए और इन्होंने अपना जीवन सुधार लिया[1]।

जाति

परन्तु इतना होने पर भी कुछ लोगों ने संत नामदेव की जीवनी लिखते समय उन्हें क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ सिद्ध करना चाहा है। उनका कथन है कि "महाराज नामदेवजी के पूर्वज कुशक वंशी गाधि गोत्रीय देवस्थ क्षत्रिय थे। कन्नौज इनके आदि-पुरुषों की जन्म-भूमि थी"[2]। इनका अनुमान है कि परशु-राम द्वारा क्षत्रियवंश के विध्वंस किये जाने की प्रतिज्ञा होने पर क्षत्रियों में से बहुतों ने अपनी जाति छिपाने के लिए अनेक प्रकार की शिल्प-कलाओं का आश्रय ले लिया और तदनुसार इनके आदिपुरुष शूर वा शूरसेन ने धनुष-त्राण को तोड़ उसकी जगह गज, कैंची तथा सुई बना ली। उनका कहना है कि उक्त दोनों व्यक्ति प्रसिद्ध सहस्रार्जुन के पाँच पुत्रों में से थे और आगे चल कर इन्हीं के वंशज 'छीपी' कहलाये। वास्तव में अपना वर्ण वा जाति छिपाने के ही कारण ये 'छीपी' कहे जाने लगे थे। इनके पूर्व पुरुष यदु शेट थे, जो रेडेकर कहे जाते थे और वे कपड़े बेचा करते थे[3]। परन्तु आश्चर्य की बात है कि स्वयं संत नामदेव ने इन बातों में से किसी एक की ओर भी ध्यान न देकर अपने को केवल 'छीपी' ही कहा है[4]। इतना ही नहीं, उन्होंने तथा उनके समसामयिक वा परवर्त्ती संतों ने भी उन्हें छीपी कहने के साथ ही नीच जाति का होना ही बतलाया है।

जीवन-वृत्त

इधर जिन विद्वानों ने संत नामदेव के विषय में सभी बातों पर यथा-संभव विचार करते हुए कुछ लिखा है; उनके अनुसार ये दामा शेट नामक एक दर्जी के पुत्र थे और इनका जन्म सतारा जिले के अंतर्गत कन्हाड़ के नकटवर्त्ती किसी नरसी बमनी गाँव में हुआ था। इनकी माता का नाम गोना बाई था जो उसी जिले के किसी कल्याण नामक गाँव के एक दर्जी की पुत्री थीं। छीपी जाति का

---

१. गुरुग्रंथ साहब, पृ० ४८७।

२. नन्हें लाल वर्मा : श्री नामदेव वंशावली, भूमिका, पृ० २।

३. वही, भूमिका, पृ० ४-६।

४. इनकी मराठी रचनाओं में भी इनके "आन्हीं दीन शिंपी हों जाति हीन" जैसे कथन मिलते हैं।—ले०

काम कुछ लोगों ने केवल कपड़े का छापना ही समझा है, किंतु जान पड़ता है कि महाराष्ट्र प्रांत की ओर छीपी कहलानेवाले लोग कदाचित् दोनों प्रकार के व्यवसाय किया करते थे। जो हो, इनके पूर्व-पुरुषों का भगवद्भक्त होना भी सभी लोग बतलाते हैं और कहते हैं कि इनके हृदय में भी इस प्रकार के भाव मूलतः इसी कारण जागृत हुए थे। इनके पिता दामा शेट अपने गाँव के बाहर निर्मित शिव-मंदिर में 'केशीराज' शिव की पूजा करने बराबर जाया करते थे। इनके किसी पूर्व-पुरुष का सदा 'जय विठ्ठल, जय विट्ठल' की धुन में लगा रहना भी बतलाया जाता है। किसी-किसी के अनुसार दामा शेट ही प्रति वर्ष पंढरपुर की यात्रा भी किया करते थे और वहाँ के इष्टदेव विट्ठल के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट हो जाने के कारण अंत में वहाँ जाकर बस गए थे। संत नामदेव के जन्म का समय कातिक सुदी ११ रविवार शाके ११९२ (तदनुसार सन् १२७० ई० अथवा सं० १३२७)कहा जाता है और इस विषय में अधिक मतभेद नहीं दिखलायी पड़ता। यों तो डॉ० जे० एन० फर्कुहर जैसे लेखकों के अनुसार इनका जीवन-काल बहुत दिन पीछे लाकर ही निश्चित करना चाहिए[1]। डॉ० मोहन सिंह भी अपनी रचना 'भक्त शिरोमणि नामदेव की नयी जीवनी, नयी पदावली' (सन् १९४९ ई०) में इनका समय १३९० ई० से १४०५ ई० तक ठहराना चाहते हैं (दे० पृ० ३)। किंतु उनके आधार-ग्रंथ 'सर्व भक्त परिचय' (१६९६) की प्रामाणिकता में ही अभी संदेह किया जा सकता है।

बाल्यकाल

कहते हैं कि लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें पढ़ने के लिए बैठाया गया, किंतु उसमें इनका जी नहीं लगा। इनका विवाह केवल आठ वर्ष की अवस्था में किसी गोविंद शेट की पुत्री राजबाई के साथ हुआ था और उससे इन्हें पाँच संतानें हुई थीं। इन संतानों में से भी चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः नारायण, महादेव, गोविंद और विट्ठल कहे जाते हैं और इनकी एक मात्र पुत्री का नाम लिंबाबाई बतलाया जाता है। इन्हें इनके पिता ने पहले अपने पैतृक व्यवसाय में लगाने की बड़ी चेष्टा की, किंतु उन्हें इस बात में असफलता रही। उन्होंने इन्हें फिर इसी कारण वाणिज्य के लिए भी तैयार करना चाहा, किंतु इस बार उन्हें पता चला कि ये उनके दिये हुए मूलधन को भी किसी और कार्य में लगा देते हैं। इनका समय अधिकतर साधुओं के निकट बैठने वा उनके सत्संग की बातें ध्यानपूर्वक

---

१. जे० ए० फर्कुहर : जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी, अप्रैल १९२० ई०, पृ० १८६।

सुनने में ही लग जाया करता था। इनके बाल्यकाल की कथाओं में प्रसिद्ध है कि एक बार जब इनके पिता किसी कार्यवश कहीं बाहर गये थे,तब इन्हें उनकी जगह अपने घर में रखी हुई भगवान् की मूर्ति को भोग लगाने की आवश्यकता पड़ी और इसके लिए इन्होंने कटोरे में गाय का दूध लाकर उसके सामने रख दिया। परन्तु जब बालक नामदेव ने देखा कि मूर्ति ज्यों की त्यों पड़ी हुई है और वह दूध पीने का कोई प्रयास नहीं करती, तब इन्हें समझ पड़ा कि वह इनके छोटे होने के कारण कुछ रुष्ट हो गई है, और अपनी विवशता के कारण ये रो उठे। परन्तु, जैसा इनके एक पद में[1] भी बतलाया गया है, उस मूर्ति ने अंत में इनके हाथ से कटोरे के दूध को पी लिया और उसकी सजीवता में पूर्ण प्रतीति हो जाने के कारण ये उसी समय से भगवद्भक्त हो गए। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की बातें चमत्कारपूर्ण ही मानी जा सकती हैं, किंतु इनसे बालक नामदेव के भोले हृदय की एक झाँकी हमें अवश्य मिल जाती है और क्रमशः हम उनके जीवन की अन्य बातों को उसी के प्रकाश में समझने के लिए तैयार होने लगते हैं।

युवावस्था

संत नामदेव के विषय में कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अपनी युवावस्था तक पहुँचने पर कुछ दिनों के लिए ये डकैती भी करने लग गए थे। मेकालिफ कहते हैं कि "नामदेव ने अपने को स्वयं भी दुर्भाग्यवश डकैतों का साथी बन जाना बतलाया है। उन्होंने कहा है कि किस प्रकार वे तथा उनके साथी लुटेरों ने अनेक ब्राह्मणों तथा निर्दोष व्यक्तियों का बध किया था। अंत में उन्हें तितर-बितर करने के लिए बादशाह को अपने घुड़सवार भेजने पड़े थे। नामदेव के पास एक बड़ी अच्छी घोड़ी थी जिस पर सवार होकर वे लूटपाट मचाने जाया करते थे। जब उन्होंने अपनी डकैती का त्याग कर दिया, तब उसी पर चढ़ कर वे पंढरपुर से १६ मील की दूरी पर स्थित औंदी के शिव-मंदिर तक नागनाथ का दर्शन करने जाने लगे थे।"[2] उक्त लेखक का यह भी कहना है कि "एक बार जब वे किसी मंदिर के निकट वर्तमान थे, तब वहाँ पर भोग लगाने के लिए कोई धनी व्यक्ति कई प्रकार के पकवान बनवा कर लाया जिनकी ओर दृष्टि पड़ते ही किसी क्षुधार्त बच्चे ने रोना आरंभ कर दिया और उसकी माँ उसे डाँटने तथा झिड़कने लगी। नामदेव ने जब उसे ऐसा करने से मना करना चाहा, तब उस स्त्री ने उन्हें बतलाया कि उसके पति को, जो बच्चे के लिए भोजनादि का प्रबंध किया

---

१. गुरुग्रंथ साहब : भाई गुरुदियाल, पृ० ११६४-५।

२. एम० ए० मेकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० २०।

करता था, अन्य ८२ व्यक्तियों के साथ डाकुओं ने मार डाला है और अब उसके पास कुछ भी खिलाने के लिए शेष नहीं है। इस पर संत नामदेव का कठोर हृदय भी द्रवित हो उठा और उन्होंने शीघ्र अपनी घोड़ी के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी वहाँ के ब्राह्मणों को दे डाला। वे वहीं पर कटारी मार कर अपने प्राण भी दे देने को उद्यत हो गए थे, किंतु लोगों के कहने-सुनने पर वे पंढरपुर की ओर चले गए।[१]

गुरु

इनके गुरु विसोबा खेचर नामक एक संत थे जो किसी गाँव में रहा करते थे। कहा जाता है कि "गुरु न करने के कारण पहले इन्हें बड़ी ग्लानि थी। प्रसिद्ध है कि एक बार जब ये अपने अन्य संत साथियों के साथ गोरोबा नामक एक कुम्हार महात्मा के यहाँ बैठे हुए थे, तब ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के पूछने पर गोरोबा ने कहा कि मैं मिट्टी के बर्तन ठोंकनेवाली अपनी थापी की सहायता से जाँच कर यह निश्चित रूप से बतला सकता हूँ कि उक्त मंडली में से कौन पक्का और कौन कच्चा मनुष्य समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, उन्होंने सचमुच अपनी थापी उठायी और वे क्रमशः सबके सिर को उससे ठोंक-ठोंककर अपनी सम्मति देने लगे। वे जब नामदेव के निकट पहुँचे और उनके भी सिर को ठोंका, तब उनके विषय में तिरस्कारपूर्वक सबसे कच्चा घड़ा कह दिया और ऐसे कथन का कारण उन्होंने इनका निगुरा होना बतलाया। संत नामदेव को यह बात उस दिन ऐसी लगी कि ये बहुत चिंतित हो गए और फिर कदाचित् स्वप्न द्वारा परिचय पाकर विसोबा को अपना गुरु बना लिया।"[२] विसोबा खेचर तथा नामदेव के प्रथम मिलन की कथा भी बहुत विचित्र है। कहते हैं कि जब संत नामदेव उन्हें ढूँढ़ते हुए किसी शिव-मंदिर में पहुँचे, तब वहाँ पर उन्हें शिवलिंग के ऊपर अपने दोनों पैर डाल कर लेटा हुआ पाया। इन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। परन्तु जब उक्त विसोबा के ही कहने पर इन्होंने उनकी टाँगों को पकड़ कर दूसरी ओर करना चाहा, तब इन्हें और भी अधिक आश्चर्य होने लगा। इन्हें पता चला कि विसोबा की टाँगों के अनुसार शिवलिंग भी एक ओर से दूसरी ओर घूमता जा रहा है। फिर तो सारी बातों का कारण उक्त विसोबा की मुस्कराती हुई मूर्ति को ही मान कर ये उनके पैरों पर गिर पड़े और उन्हें गुरु के रूप से स्वीकार कर लिया।"[३] इस

१. एम० ए० मेकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भाग ६, पृ० ११-१।

२. लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर : श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० १३१-४।

३. डॉ० निकल मैकनिकल : इंडियन थीइज्म, पृ० ११४।

चमत्कारपूर्ण घटना के उल्लेख का महत्त्व भी कदाचित् संत नामदेव के हृदय में मूर्ति-पूजा के विषय में उनकी धारणा निश्चित कराने में ही निहित ज्ञान पड़ता है। इसी प्रकार की एक दूसरी कथा गुरु नानकदेव के पैरों के साथ-साथ मक्के में काबा के घूमने के संबंध में भी प्रसिद्ध है।

मंदिर का द्वार फिरना

मूर्ति-पूजा की भावना के महत्त्व को कम करनेवाली एक अन्य घटना का भी उल्लेख मिलता है जो स्वयं संत नामदेव के ही संबंध में है। कहा जाता है कि "एक समय नामदेव आल्हावंती स्थान पर गये और वहाँ के मंदिर के द्वार के सामने कीर्तन करने लगे। इन्हें शूद्र जान कर वहाँ के पंडों ने इन्हें वहाँ से उठा दिया जिससे दुखी होकर अपनी जाति की नीचता पर झुँझलाते हुए ये मंदिर के पिछवाड़े चले गये और वहीं बैठ कर गाने लगे। परन्तु ज्यों ही इन्होंने अपना कीर्तन आरंभ किया, मंदिर का द्वार झट पूर्व की ओर से घूम कर पश्चिम की ओर हो गया। इस प्रकार वहाँ के पंडे ही द्वार पर बैठने की जगह पिछवाड़े पड़ गए और उन पर इस बात का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।" इस घटना का उल्लेख कबीर साहब ने एक अपने पद में[1] किया है, किंतु इसका उससे कहीं अधिक विवरण स्वयं संत नामदेव के ही एक पद में मिलता है।[2]

यात्रा

संत ज्ञानेश्वर वा संत ज्ञानदेव को भी कोई-कोई संत नामदेव का गुरु होना बतलाते हैं और वास्तव में संत नामदेव ने उनका नाम बड़े आदर से लिया है। परन्तु महाराष्ट्र की प्रचलित परंपराओं द्वारा अधिक पुष्टि विसोबा खेचर के संबंध में ही होती है। संत ज्ञानेश्वर वा ज्ञानदेव के साथ नामदेव की बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी और इन दोनों ने कुछ अन्य संतों के साथ भी अनेक पुण्य-स्थलों की यात्रा की थी। कहते हैं कि उक्त दोनों संतों में सर्वप्रथम भेंट पंढरपुर में ही हुई थी जहाँ पर ज्ञानदेव अपने अन्य साथी तीर्थ-यात्रियों के साथ घूमते हुए इनके यहाँ पहुँच गए थे। ज्ञानदेव इनसे स्वयं मिलने गये और इनसे भेंट हो चुकने पर इनसे अपने साथ चलने का अनुरोध भी किया। जब ये सभी लोग वहाँ से आगे बढ़े, तब मंगलवेढ़ा में संत चोखामेला तथा आरणमेड़ी में संत सामंता माली भी इनसे मिल गए। तेरगाँव नामक स्थान तक पहुँचते-पहुँचते गोरोबा भी इनमें सम्मिलित हो गए। इन सभी लोगों की उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ सेवा-सुश्रूषा

---

१. कबीर ग्रंथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ११७।

२. गुरुग्रंथ साहब, पृ० ११६१।

की। इसी अवसर पर संत गोरोबा ने संत नामदेव के सिर पर थापी से ठोंका था। संत नामदेव ने इस पूरी यात्रा का बड़ा विशद् वर्णन अपने ५६ अभंगों द्वारा मराठी भाषा में किया है और उस रचना को 'तीर्थावलि'[1] कहा जाता है।

वही

अंत में सबके सब देहली, जगन्नाथपुरी आदि स्थानों से घूमते-घामते पंढरपुर लौट आये। कहा जाता है, देहली वा हस्तिनापुर में उन्हें मुहम्मद बिन तुग़लक से भी भेंट हुई थी और बादशाह ने उन्हें दंड देने का यत्न किया था, किंतु सफलता नहीं मिली। इसी घटना का वर्णन कदाचित् इनके उस पद[2] में मिलता है जिसमें एक मरी गाय के जीवित कर डालने के संबंध में इनका चमत्कार दिखलाया गया है। उसमें किसी सुलतान का नाम नहीं दिया गया है। संत ज्ञानदेव के जीवन-काल अर्थात् सं० १३२९:१३५० के अंतर्गत मुहम्मद बिन तुग़लक का शासन-काल इतिहास से भी सिद्ध नहीं होता। उसका शासन-काल १३८२ से लेकर संवत् १४०८ तक निश्चित है, अतएव यदि इस प्रकार की कोई घटना घटी भी हो, तो उसका किसी अन्य मुस्लिम शासक के शासन-काल में ही संभव होना समझा जा सकता है। यह भी प्रसिद्ध है कि उक्त सुलतान वास्तव में बीदर प्रदेश का कोई शासक वा गवर्नर था। बीदर के ही किसी ब्राह्मण द्वारा निमंत्रित होकर संत नामदेव वहाँ उसके उत्सव में सम्मिलित होने के लिए अपने सभी साथियों के साथ पहुँचे थे। राजधानी में प्रवेश करते समय संकीर्तन में लीन मंडलीने वहाँ के कर्मचारियों का ध्यान अपनी ओर स्वभावतः आकृष्ट कर लिया और वे सभी वहाँ के शासक के सामने परीक्षार्थ लाये गए।[3]

अंतिम काल

तीर्थ-यात्रा से लौट आने के कुछ दिनों के अनंतर संत ज्ञानेश्वर का देहांत हो गया और उस काल से संत नामदेव का जी दक्षिण में रहने से उचटने लगा। इस कारण कुछ काल तक और वहाँ रह कर ये दूसरी देश-यात्रा में पंजाब प्रांत की ओर चले आये और इधर बहुत दिनों तक भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि उस समय तक इनकी अवस्था लगभग ५० वर्षों की हो चली थी और इन्हें अपने पुत्र-कलत्रादि की ओर से भी विरक्ति हो चुकी थी। उत्तरी भारत में आकर ये कुछ दिनों तक हरद्वार में रहे और वहाँ से फिर पंजाब प्रांत में गुरुदासपुर जिले

---

१. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, पृ० १२५ तथा १२७।

२. गुरुग्रंथ साहब, पृ० ११६६-७।

३. नामदेव, जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृ० १६-२०।

के घूमन वा घोमन गाँव में चले आए।[1] मेकालिफ ने संत नामदेव की उस समय की अवस्था ५५ वर्षों की बतलायी है और कहा है कि वहाँ पर ये पहले भटवल होकर गये थे। भटवल में ये किसी तालाब के निकट ठहरे थे जो आज तक भी नामियाना नाम से प्रसिद्ध है और उस समय इनके साथ दो शिष्य थे जिनमें से एक का नाम लाधा और दूसरे का जल्ला था और जो पीछे अपने अनुयायियों के साथ क्रमशः सुखबल और धारीवाल में बस गए। संत नामदेव ने भटवल से हट कर उक्त तालाब के निकट अपने ठहरने के लिए एक दूसरी जगह खोज निकाली और वहीं पर एकांत में रह कर भजन करने का विचार किया। किंतु इनके वहाँ ठहर जाने के कारण बहुत-से लोग धीरे-धीरे एकत्र होने लगे और अंत में उक्त घूमन गाँव की सृष्टि हो गई। आगे चल कर उस स्थान पर सिक्खों की रामगढ़िया मिसिल के भाई जस्सा सिंह ने एक सुंदर मकान बनवा दिया। उक्त तालाब का भी महाराजा रणजीत सिंह की सास माई सदा कौर ने फिर से जीर्णोद्धार कराया। तब से वहाँ पर प्रति वर्ष दो दिन माघ में व्यतीत होने पर संभवतः संक्रांति के लगभग एक धार्मिक मेला नियमपूर्वक लगा करता है। यहाँ के निवासी अधिकतर संत नामदेव की ही जाति के हैं, इन्हीं की जैसी जीविका का पालन करते हैं और उनका रहन-सहन अधिकतर सिक्खों का सा है। मेकालिफ का कहना है कि यहीं पर रह कर इन्होंने उन पदों की रचना की थी जो 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं।[2]

वही

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बतलाया है कि उक्त घोमन गाँव में ही रह कर संत नामदेव की मृत्यु संवत् १५२१ : सन् १४६४ ई० में हुई थी। उन्होंने यह भी कहा है कि संत नामदेव की भेंट फ़ीरोज शाह तुग़लक के साथ हुई थी। सैयद-वंश के अंतिम शासक शाह आलम ने वहाँ सं० १५०३: सन् १४४६ में एक मठ बनाने के लिए कुछ ज़मीन भी इन्हें दान में दी थी। इनकी मृत्यु उसी मठ में हुई थी।[3] किंतु इस कथन का मेल ऐतिहासिक घटनाओं के साथ लगता हुआ नहीं दीखता। फ़ीरोजशाह तुग़लक का शासन-काल संवत् १४०८ से लेकर संवत् १४४५ तक रहा और उक्त शाह आलम भी अपनी गद्दी पर सं० १५०० से १५०८ तक कायम रहा। संत नामदेव की मृत्यु का समय अधिक विद्वानों ने संवत् १५०७ में ही ठहराया है। अतएव उक्त बातें यदि किसी नामदेव से ही संबद्ध

---

१. **क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ५६।**
२. **एम० ए० मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन, भाग ६, पृ० ३६-४०।**
३. **क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ५६।**

हैं, तो वे अवश्य किसी अन्य नामदेव के विषय में होंगी। आचार्य सेन ने यह भी बतलाया है कि संत नामदेव के किसी शिष्य बोहरदास (सं० १४८१: १५५०) के वंशधर आजकल भी उक्त मठ के अधिकारी हैं। वे इनके द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय के आचार्यो के रूप में उसके प्रबंधादि का निरीक्षण किया करते हैं। सम्प्रदाय का नाम 'बाबा नामदेव का सम्प्रदाय' है और गुरुदासपुर के रहनेवाले इसके सभी अनुयायी अपने को बोहरदास का ही वंशज बतलाया करते हैं। घोमन के उक्त मठ में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने किसी दो सौ वर्ष के पुराने हस्तलिखित ग्रंथ का होना भी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि उक्त पुस्तक में हिंदी तथा मराठी के पद हैं और वह सिक्खों के 'ग्रंथ साहिब' की भाँति ही पवित्र तथा पूजनीय समझा जाता है। वे यह भी कहते हैं कि संत नामदेव की भाँति ही एक छीपी नामदेव बुलंदशहर का रहनेवाला था और एक दूसरा मारवाड़ का निवासी नामदेव जाति का धुनिया था।[1]

नामदेव-पंथी तथा नामदेव-वंशी

छीपी जाति के संबंध में लिखते समय विलियम क्रुक साहब ने उनकी एक शाखा को नामदेव पंथी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि "ये लोग एकेश्वरवादी तथा कर्मकांड-विरोधी होते हैं। ये अपने को अन्य छीपी जातिवालों से अपने शुद्ध धार्मिक विचारों के कारण पृथक् समझते हैं और अपने को नामदेववंशी भी कहते हैं।[2] फिर आगे चल कर विलियम क्रुक साहब ने धुनिया वा धुना जाति के संबंध में भी लिखा है और कहा है कि ये लोग नामदेव भगत को बड़ी श्रद्धा के साथ देखते हैं। ये नामदेव मारवाड़ के अंतर्गत सं० १५००: सन् १४४३ ई० में उत्पन्न हुए थे और सिकंदर लोदी सं० १५४५–१५६६: सन् १४८८–१५१२ के समकालीन थे। किसी-किसी के अनुसार ये दक्षिण भारत के पंढरपुर के निवासी थे। उन्होंने मुसलमानों से सताये जाकर उत्तरी भारत की शरण ली और गुरुदासपुर जिले की बटाला तहसील में घुमन गाँव में आकर बस गए। वहीं पर उनकी मृत्यु भी हो गई जहाँ प्रत्येक माघ की संक्रांति को मेला लगा करता है। उनके अनुयायी वहाँ पर छिवाँ अर्थात् धुनिया वा धोबी कहलाते हैं। उनका मत सिक्ख-धर्म के सिद्धांतों से मिलता-जुलता है और उनकी कई रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं। बाबा नामदेव के अनुयायी वास्तव में सिक्ख ही कहे जा सकते हैं," आदि।[3] इसी प्रकार रोज साहब ने लिखा है कि नामदेव-पंथी

१. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ५६-७।
२. विलियम क्रुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स, पृ० २२५।
३. वही, पृ० २६६।

हिन्दू तथा सिक्ख दोनों हुआ करते हैं और दोनों ही 'आदिग्रंथ' के प्रति श्रद्धा रखते तथा अनेक सिक्ख-परंपराओं का अनुसरण करते हैं। उनकी पूजन-पद्धति में कोई विशेषता नहीं। हिन्दू अनुयायी विशेषकर जालंधर, गुरुदासपुर तथा हिसार में पाये जाते हैं और सिक्ख अधिकतर गुरुदासपुर में ही मिलते हैं। नामदेव को कभी-कभी 'नामदे' भी कहते हैं और इस पंथ के लोग इसी कारण 'बाबा नामदे के सेवक' भी कहलाते हैं। इनके मठों के महंतों को भी 'बाबा' कहने की प्रथा है।[1] अतएव जान पड़ता है कि आचार्य सेन द्वारा बतलाये गए उपर्युक्त मठ का संबंध संभवतः किसी अन्य नामदेव से होगा। तथा इस नाम के एक से अधिक व्यक्तियों के हो जाने के कारण उक्त सभी विद्वानों को कुछ न कुछ भ्रम अवश्य हो गया है।

जीविका

संत नामदेव के पारिवारिक जीवन के विषय में प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। सदा संकीर्तन में लगे रहने के कारण इन्हें विट्ठलदेव के मंदिर से बाहर जाने का अवकाश बहुत कम मिला करता था जिससे ये अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ भी कार्य करने में अशक्त थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंत में ये अपने कुटुंब के लोगों को दरिद्रता के अभिशाप से किसी प्रकार बचा न सके।[2] फिर भी कबीर साहब के सलोकों के अंतर्गत संगृहीत 'आदिग्रंथ' की कुछ पंक्तियों से प्रकट होता है कि संत नामदेव के सिद्धांतानुसार चुपचाप बेकार बैठ कर भगवान् का नाम लेने की अपेक्षा नाम-स्मरण के साथ-साथ अपना आवश्यक काम-काज भी करते रहना अधिक श्रेयस्कर होता है।

रचनाएँ

संत नामदेव की ख्याति अपने अंतिम समय तक बड़ी दूर तक फैल गई थी और उनके विचारों का प्रभाव महाराष्ट्र से पंजाब तक पड़ चुका था। इसलिए इनके संबंध में अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक कथाओं का क्रमशः निर्मित होता जाना कोई असंभव बात नहीं थी। इनकी रचनाओं का भी अधिक प्रचार होने के कारण, इसी प्रकार उनका कुछ न कुछ परिवर्तित होता जाना तथा उनमें कई दूसरों की कृतियों का भी स्थान पा जाना कठिन नहीं था। कई नामदेव-नामधारी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का पश्चिमी भारतवर्ष में किसी-न-किसी समय के अंतर्गत उत्पन्न होना उक्त कठिनाई को और भी बढ़ा देता है। परिणामस्वरूप संत नामदेव की जीवनी की घटनाओं की ही भाँति उनके वास्तविक विचारों को भी निश्चित रूप

---

१. रोज : ए ग्लासरी, भा० ३, पृ० १५२।

२. नामदेव, जी० ए० नटेसन, मद्रास, पृ० १०-११।

से बतलाना दुःसाध्य कार्य हो गया है। फिर भी जब तक उनकी सारी रचनाओं की पूरी खोज नहीं हो जाती और उनका वास्तविक रूप निर्धारित नहीं हो पाता, तब तक हमें उनके 'आदिग्रंथ' में संगृहीत पदों तथा कुछ इधर-उधर पाये जानेवाले मराठी-संग्रहों में सन्निविष्ट कतिपय रचनाओं पर ही संतोष करना पड़ेगा। 'आदि-ग्रंथ' के अंतर्गत आये हुए उनके पदों की संख्या ६१ है, किंतु एक मराठी-संग्रह में संगृहीत हिंदी पद १०२ तक पहुँच जाते हैं। कहते हैं कि अपनी बाल्यावस्था में संत नामदेव कट्टर मूर्तिपूजक थे, युवावस्था में उनके विचारों में उदारता आने लगी और वृद्धावस्था में ये एक सुधारक हो गए। इनकी मराठी-रचनाएँ अधिकतर इनकी युवावस्था तक की ही बतलायी जाती हैं और इनके हिंदी-पद इनकी वृद्धावस्था के समझे जाते हैं।[1] इनकी हिंदी-रचनाओं के अंतर्गत इसी कारण, कुछ ऐसे उद्‌गार भी दीख पड़ते हैं जो इनके प्रथम विचारों से नितांत भिन्न समझ पड़ते हैं। कभी-कभी तो उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं के रचयिता के एक ही होने में संदेह भी होने लगता है। उक्त हिंदी पदों में से ४३ ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में 'आदिग्रंथ' में भी संगृहीत हैं, अतएव दोनों संग्रहों का मिलान कर लेने पर इनकी हिंदी-रचनाओं की संख्या सवा सौ से भी कम पायी जाती है।

वारकरी नामदेव

संत नामदेव ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायियों में ही अपने जीवन के अधिक दिन व्यतीत किये थे और इनके विचार भी अधिकतर उन्हीं के द्वारा प्रभावित थे। ये वारकरी-सम्प्रदाय के अनुयायियों में भी गिने जाते हैं। इस कारण वारकरी-सम्प्रदाय की बातों का ही इनकी रचनाओं में अधिकतर पाया जाना स्वाभाविक है। उत्तरी भारत की संत-परंपरा को जहाँ तक इन्होंने प्रभावित किया है, वहाँ तक इनकी वही देन भी कही जा सकती है। वारकरी-सम्प्रदाय के संतों में निर्गुण सर्वात्मस्वरूप, अद्वैत ब्रह्म के प्रति पूरी निष्ठा पायी जाती है, किंतु सगुण की मूर्ति के समक्ष वे कीर्तन भी किया करते हैं। उनके लिए कोई ऊँच-नीच नहीं, न धनी-दरिद्र अथवा पुरुष तथा स्त्री में ही उनकी दृष्टि में कोई मौलिक अंतर समझा जा सकता है। सबका कर्तव्य भगवान् के स्मरण तथा संकीर्तन में सदा निरत रहते हुए अपने आवश्यक दैनिक कार्यों का संपादन करना है। धन-वैभव के प्रति उदासीनता उनकी अवश्य देखी जाती है और वे कौटुंबिक ममता को भी अपने हृदयों में उच्च स्थान देते हुए प्रतीत नहीं होते। परन्तु इसका कारण उनकी इनके प्रति पूर्ण विरक्ति नहीं, किंतु इनके क्षणिक होने के कारण

---

१. एम० ए० मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन, भाग ६, पृ० ३६-४०।

इनकी ओर से न्यूनाधिक निरपेक्षता का भाव मात्र है। वारकरी-सम्प्रदाय के बहुत-से अनुयायी अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक भावों में ही निरंतर लीन रहे थे। संत नामदेव की भी संतानों के संबंध में ऊपर चर्चा की जा चुकी है, किंतु उनका यथेष्ट परिचय कहीं नहीं मिलता।

सिद्धांत

संत नामदेव ने अपने 'गोविंद' का परिचय देते हुए कहा है कि "वह एक है और अनेक भी है। वह व्यापक है और पूरक भी है। मैं जहाँ देखता हूँ, वहाँ पर वही दीख पड़ता है। माया की चित्र-विचित्र बातों द्वारा मुग्ध होने के कारण सभी कोई इस रहस्य को समझ नहीं पाते। सर्वत्र गोविंद ही गोविंद है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं। वह सहस्रों मणियों के भीतर ओतप्रोत धागे की भाँति इस विश्व में सर्वत्र वर्तमान है। जिस प्रकार जल की तरंगें और उन पर प्रवाहित फेन तथा बुद्बुद् जल से भिन्न नहीं, उसी प्रकार इस प्रपंच तथा परब्रह्म का भी हाल है। जब तक भ्रम के कारण स्वप्न में पड़ा हुआ था और सत्य पदार्थ का बोध न था, तब तक और बात थी। जब गुरूपदेश द्वारा जगा दिया गया, तब अपना मन पूर्णरूप से स्थिर हो गया। नामदेव का कहना है कि इस बात को अपने हृदय में भली भाँति समझ लो कि मुरारी ही एक मात्र घटघट में और सर्वत्र एकरस भाव से व्याप्त है"।[२] इसी प्रकार "घड़ा लेकर जब उसमें जल भरता हूँ और चाहता हूँ कि ठाकुर को स्नान कराऊँ, फूल चुन कर जब उसे माला के रूप में पिन्हाना चाहता हूँ और दूध लाकर उसकी खीर बना जब उसे भोग लगाना चाहता हूँ, तब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उक्त जल में लाखों जीव मरे पड़े हैं। फूलों की सुगंध पहले भ्रमरों ने ही ले ली है तथा दूध को तो सर्वप्रथम बछड़े ने ही जूठा कर दिया है। फिर वैसी पूजा का करना क्यों न व्यर्थ समझा जाय। मुझे तो इधर-उधर सब कहीं बीठल ही बीठल दीख रहा है, उससे सारी की सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही है। मैं इसी में पूर्ण आनंद का अनुभव क्यों न करूँ।[३]

प्रेम

इसी कारण संत नामदेव उस एकमात्र राम के प्रति ही अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। उनका कहना है कि "जिस प्रकार नाद को श्रवण कर मृग उसमें निरत हो जाता है और उसका ध्यान मर जाने तक नहीं टूटता, जिस प्रकार बगला

---

१. श्री नामदेव वंशावली, पृ० ३२। २. गुरुग्रंथ साहब, पद १, पृ० ४८५।

३. वही, पद २।

मछली की ओर दृष्टि लगाये रहता है, स्वर्णकार सोने का गहना गढ़ते समय एक-चित्त रहता है, पर-स्त्री की ओर जिस प्रकार कामी दृष्टिपात करता है और जुआरी अपनी कौड़ी के फेर में रहता है, उसी प्रकार मेरी भी दृष्टि उसी एक 'राम' की ओर लगी हुई है। जहाँ देखता हूँ, वहाँ वही है । उसके सिवाय और कुछ भी नहीं।"[१] इन्हें राम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा सगा-संबंधी भी दीख नहीं पड़ता। ये कहते हैं कि "मेरे बाप तथा माँ तो वही माधव, केशव अथवा बीठल हैं[२] और उनके किये गए उपकारों के वर्णन भी ये करते हैं। इसीलिए इन्होंने उस एक की भक्ति को ही अपनाया था और अन्य देवी-देवताओं की पूजा को व्यर्थ बतलाया था। ये भगवान् के अनुराग में आकर कहते हैं कि "हे राम, तेरा रूप-रंग और नाम तक मुझे अत्यंत भला जान पड़ता है। मारवाड़ी को जैसे जल प्रिय होता है, ऊँट को जैसे लता प्रिय लगती है, मृग को नाद प्रिय लगता है, पृथ्वी को वृष्टि सुखद लगती है, भ्रमर को फूलों की गंध प्रिय होती है, कोयल को आम की बौर भली लगती है, चकई को सूर्योदय अच्छा जान पड़ता है, हंस को मानस आनंदप्रद होता है, बच्चे को दूध अच्छा लगता है, चातक के लिए मेघ प्रिय हुआ करता है और मछली को जितना जल से प्रेम है, वैसे ही मुझे तू भी प्रिय है और मेरा मन तुझमें रमा हुआ है।"[३] इसी भाव को इन्होंने एक अन्य पद द्वारा भी "ऐसी नामें प्रीति नराइण" आदि कह कर व्यक्त किया है।[४] इनकी भावुकता इन पदों के अंतर्गत इतनी मात्रा में बढ़ी हुई दीख पड़ती है कि ये अपने एक ही उद्‌गार को स्पष्ट करते समय अनेक उदाहरण देते भी नहीं अघाते।

अनिर्वचनीय

संत नामदेव के 'बीठल' का वास्तविक रूप उनके अनुसार वैसा ही है, "जैसा आकाश में उड़ती हुई चिड़िया का मार्ग अथवा जल में तैरनेवाली मछली का रास्ता हो सकता है। वह न देखने में आता है, न ढूँढ़ने पर कहीं मिल सकता है।"[५] "कोई उसे निकट बतलाता है और कोई उसे दूर का रहनेवाला ठहराता है और जिसने उसे जान-बूझ लिया है, वह उसे सदा अपने में छिपाये रहता है। वस्तुतः यह हमारी आत्मा में ही भरपूर है और उसका अनुभव हमें ज्योंही होने लगता है, त्योंही आप से आप ध्वनि निकल पड़ती है"।[६] "उस सनेही राम के मिलते ही

१. गुरुग्रंथ साहब, पृ० ८७२-३।
२. वही, पृ० ९९७। ३. वही, पृ० ११६२।
४. वही, पृ० १६५। ५. वही, ५१५।
६. वही, पृ० ७१८।

पारस के स्पर्श के समान कुछ कंचन हो जाता है, अपने अहंभाव का भ्रम दूर हो जाता है और जिस प्रकार किसी घड़े का जल,जल में डूब कर एकाकार हो जाय, वैसी ही दशा हो जाती है । फिर तो 'ठाकुर' वा 'जन' तथा 'जन' वा 'ठाकुर' एक ही हो जाते हैं । स्वयं देव, स्वयं मंदिर व स्वयं पूजन भी बनकर जल तथा तरंग की भाँति एक आकार धारण कर लेते हैं और उनकी भिन्नता केवल नाममात्र की रह जाती है । किसी मूर्ति के समक्ष कीर्तन करने का अभिप्राय उस दशा में केवल यही होता है कि वह स्वयं गा और नाच रही है ।"[१] इस प्रकार संत नामदेव सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद, दोनों के ही अनुसार विचार रखते हुए जान पड़ते हैं और उनकी भक्ति का स्वरूप भी शुद्ध निर्गुण-भक्ति का है ।

नाम-साधना

इनकी उक्त भक्ति के अंतर्गत 'नाम-साधना' को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त है । इन्होंने उसे अश्वमेध यज्ञ, तुलादान, प्रयाग-स्नानादि सभी से श्रेष्ठ बतलाया है । इन्होंने उसकी प्रशंसा में अनेक पौराणिक भक्त-कथाओं का उल्लेख करके अपने मत की पुष्टि की है ।[२] नाम-स्मरण का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात में है कि उसके द्वारा हम उसके नाम की ओर अपना ध्यान सदा लगाये रहने में सफल होते हैं । इनका कहना है कि "मेरा मन रामनाम के साथ इस प्रकार बिधा हुआ है, जैसे स्वर्ण के तौलते समय ध्यान तुला की ओर बना रहता है । आकाश में उड़ायी जाती हुई पतंग की ओर जिस प्रकार उड़ानेवाले का चित्त लगा रहता है और वह 'वाह-वाह' की झड़ी चारों ओर लगने पर भी विचलित नहीं होता; जिस प्रकार युवतियाँ सिर पर भरे घड़े लेकर चलती हुई आपस में मनोविनोद करतीं और तालियाँ तक बजाती रहती हैं, किंतु उनका ध्यान सदा उसी पर रहता है ; जिस प्रकार पाँच कोस की दूरी पर भी चरनेवाली गाय का मन अपने बच्चे की ओर ही लगा रहता है और माता का मन उसके घरेलू झंझटों में फँसे रहने पर भी अपने पलने पर पौढ़ाये हुए बालक की ओर जाता रहता है, उसी प्रकार मेरा भी मन उसमें लगा रहता है" ।[३] परन्तु नाम के प्रति उक्त प्रकार की साधना गुरु की कृपा द्वारा ही संभव है । यदि गुरु की कृपा हो जाय, तो मन में पूरी दृढ़ता आ जाती है और वह चारों ओर दौड़-धूप लगाना छोड़ देता है । उसी की सहायता से 'मुरारि' मिलते हैं और संसार-सागर के पार जाना सरल हो जाता है । वास्तविक देवता गुरुदेव है और अन्य सभी देवों की सेवा करना कुछ अर्थ नहीं रखता ।[४]

---

१. गुरुग्रंथ साहब, पृ० ६५६ । २. वही, पृ० ८७२ ।
३. 'नामदेवा चा गाथा' पृ० ५१७-८ । ४. गुरु ग्रंथ साहब, पृ० ११६७ ।

मृत्यु

संत नामदेव की मृत्यु का समय महाराष्ट्र की प्रायः सभी परंपराओं के अनुसार आश्विन बदी १३ संवत् १४०७ समझा जाता है। इनकी समाधि पंढरपुर में है जहाँ पर विट्ठल के मंदिर की सीढ़ियों के निचले भाग में इनका एक पीतल का सिर भी बना हुआ है। इनके मुख्य विचारों की बानगी इनकी जीवनियों में उल्लिखित अनेक घटनाओं के भीतर निहित समझ पड़ती है। इनके भोले हृदय, इनकी गहरी भावुकता तथा मूर्ति वा साकार देवताओं से कहीं अधिक विश्व-रूप भगवान् के प्रति निष्ठा के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। इनकी विरक्ति के संबंध में कहा जाता है कि एक बार अपने घर में आग लगने पर इन्होंने अपनी सभी वस्तुएँ उसमें उठा-उठाकर फेंकना आरंभ कर दिया। ऐसा करते समय बराबर यही कहते रहे कि ये सभी भगवान् की हैं और उसी के अग्नि-मुख में जा रही हैं। इसी प्रकार इनके ऊँच-नीच के बीच समता तथा सभी प्राणियों को भगवान्-रूप समझने का भाव इस घटना से स्पष्ट हो जाता है। एक बार जब ये अपनी बनायी हुई रोटियाँ छोड़कर घी लाने के लिए उठे और उन रोटियों को कोई कुत्ता लेकर भाग चला, तब ये उसके पीछे यह कहते हुए दौड़ पड़े थे कि "भगवन्, उन रोटियों में यह घी भी चुपड़ लो, उन्हें रूखी-सूखी न खाओ।" वास्तव में संत नामदेव का सारा जीवन ही भक्ति-रस में सराबोर था। ये सभी प्रकार उत्तरी भारत के संतों के अग्रणी होने योग्य थे।

(६) संत त्रिलोचन : परिचय

त्रिलोचनजी संत नामदेव के समकालीन थे और उनसे अवस्था में कुछ बड़े थे। इनका जन्म-काल सं० १३२४ में बतलाया जाता है।[1] इन्हें तथा संत नामदेव को नाभादास ने ज्ञानदेव का शिष्य कहा है और संत रविदास ने इन्हें संत नामदेव के ही समान तर गया हुआ बतलाया है। प्रियादास के अनुसार इनका जन्म वैश्य-वंश में हुआ था और ये साधुओं के परम भक्त थे। इनकी एक पत्नी मात्र थी और दूसरा कोई नहीं था, अतएव इन्हें साधुओं की भरपूर सेवा करने में पूर्ण संतोष नहीं होता था। इन्हें इस कार्य में सहायता के लिए एक नौकर की आवश्यकता थी और ये बहुधा एक ऐसे सेवक की खोज में रहा करते थे, जो इन्हीं की भाँति प्रेम-भाव के साथ साधु-सेवा किया करे। प्रियादास का कहना है कि एक दिन किसी ने आकर इनसे कहा कि मैं ऐसी नौकरी कर सकता हूँ, किंतु भोजन के लिए ५-७ सेर से कम न लूँगा और जिस समय मेरे अधिक भोजन की निंदा की जायगी,

---

१. दे० मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ७६।

मैं शीघ्र नौकरी त्याग दूँगा। उस व्यक्ति ने अपना नाम 'अंतर्यामी' बतलाया और त्रिलोचन के राजी होने पर वह सचमुच अपने नाम के ही अनुरूप साधुओं की मन-चाही सेवा करने लगा। तब से त्रिलोचनजी के घर साधुओं की भीड़ और भी बढ़ने लगी और इनकी स्त्री को सामग्री तैयार करने में अधिक कष्ट भी होने लगा। अतएव एक दिन उसने अपनी पड़ोसिन से कह डाला कि एक तो उक्त नौकर के कारण साधुओं की संख्या बढ़ गई है, दूसरे वह इतना अधिक भोजन करता है कि उसके कारण मैं तंग आ गई हूँ। 'अंतर्यामी' को जब अपनी निंदा की यह बात मालूम हुई, तब वह बिना किसी से कहे-सुने नौकरी छोड़ चलता बना। त्रिलोचनजी को अंत में पता चला कि इनके यहाँ स्वयं भगवान् ही 'अंतर्यामी' के भेष में इनकी नौकरी कर रहे थे और इस बात से इन्हें मार्मिक कष्ट तथा पछतावा हुआ।

रचनाएँ

त्रिलोचनजी का नाम उनके भूत, भविष्य तथा वर्तमान के एक साथ जानकार होने के कारण पड़ा था। इन्हें संत नामदेव ने अपने एक पद में संबोधित करके कहा है कि "हे त्रिलोचन, अपने नन्हें बच्चे को पालने में पौढ़ा कर कार्य में व्यस्त रहने-वाली माता सब कुछ करती हुई भी अपना चित्त सदा उस बालक में ही लगाये रहती है, उसी प्रकार हमारा मन राम-नाम द्वारा सदा बिंधा रहना चाहिए।" कुछ ऐसे ही भाव व्यक्त करनेवाले दो सलोक (दोहे) 'आदिग्रंथ' में प्रश्नोत्तर के रूप में अन्यत्र भी आये हैं जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। इनमें त्रिलोचन के पूछने पर कि "हे नामदेव, तुम क्यों धंधे में लगे हो, राम-नाम की ओर चित्त क्यों नहीं लगाते ?" संत नामदेव ने बतलाया है कि "हे त्रिलोचन, मुख द्वारा राम-नाम का स्मरण करते रहो, किंतु हाथ-पैर को सदा काम में लगाये रह चित्त को निरंजन में लीन रखो।" वास्तव में संत-मत के अनुसार आदर्श जीवन का सारा चित्र ही उक्त रचनाओं के अंतर्गत आ जाता है।

विचार

त्रिलोचनजी की अधिक रचनाएँ नहीं मिलतीं। केवल चार[1] पद उनके नाम से 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं। इन पदों में से एकाध में मराठी भाषा के भी कुछ चिह्न लक्षित होते हैं, किंतु इनकी भाषा मूलतः हिंदी ही है। उस पर कुछ अंशों तक हमें खड़ी बोली का प्रभाव भी पड़ा हुआ जान पड़ता है जिसके कारण कदाचित् इस मत को भी कुछ पुष्टि मिल जा सकती है कि इनके पूर्वज पश्चिमी

---

१. सिरी राग, पद १, पृ० ९१; रागुगूजरी, पद १-२, पृ० ५२५-६ तथा राग धनासरी, पद १, पृ० ६९४।

उत्तर प्रदेश के निवासी रह चुके थे। कहा जाता है कि इन्होंने भी संत नामदेव की भाँति कुछ मराठी पदों की रचना की थी, किंतु वे आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इनके उक्त चार पदों के देखने से त्रिलोचनजी के विषय में बहुत उच्च भाव जागृत नहीं होते। ये सभी मध्यम श्रेणी की रचनाएँ हैं। इनमें से सबसे बड़े पद द्वारा माया-मोह का प्रभाव दिखला कर उसकी व्यर्थता सिद्ध की गई है। एक दूसरे पद में झूठे संन्यासियों की कड़ी आलोचना है और उन्हें फटकार कर चेतावनी भी दी गई है। इस पद की शैली पहले की अपेक्षा अधिक सजीव है। तीसरे पद में त्रिलोचनजी ने बतलाया है कि अंत-काल में जैसा स्मरण किया जाता है, वैसा ही परिणाम हुआ करता है। इसी प्रकार चौथे पद में भी इन्होंने कर्म की अमिट रेखा पर अधिक जोर दिया है और सब कहीं भगवन्नाम-स्मरण का ही महत्त्व दरसाया है। कहा जाता है कि इस अंतिम पद की रचना त्रिलोचनजी ने उस समय की थी, जब इन्होंने भक्ति-मार्ग में अधिक अग्रसर हो जाने के कारण अपना सांसारिक व्यवहार छोड़ दिया था और आर्थिक कष्ट झेल रहे थे। संभवतः अपनी स्त्री द्वारा फटकारे जाने पर इन्होंने यह पद रचा था। इनके तीन पद नराणे वाली (दादू द्वारे की) प्रति में भी मिलते हैं जिनमें से एक राग टोड़ी का है, दूसरा राग सारंग का और तीसरा राग रामकली का है। राग रामकली वाले पद में उलटवाँसी का भी उदाहरण मिल जाता है। विषय के अनुसार पहले पद में सांसारिक संबंध की व्यर्थता है, दूसरे में आखेट के रूपक द्वारा साधना बतलायी गई है और तीसरे का भी विषय लगभग इसी प्रकार का है।

द्वितीय अध्याय

कबीर साहब

१· परिस्थिति-परिचय

सिंहावलोकन

विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग आरंभ होने वाला समय वस्तुस्थिति के पर्यवेक्षण तथा मूल्यांकन का युग था। उसमें शताब्दियों पूर्व से आती हुई विचार-धारा के विविध स्रोतों पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किया गया। उनमें दीख पड़नेवाले विविध दोषों के प्रति संकेत करते हुए उनके मार्जन की आवश्यकता सुझायी गई। कभी-कभी सारी प्रस्तुत बातों को एक बार फिर से सुव्यवस्थित रूप देने की चेष्टा भी की गई। इस कार्य में जिन व्यक्तियों तथा सम्प्रदायों ने विशेष-रूप से भाग लिया, उनका संक्षिप्त परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। उनके यत्नों के संबंध में अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन सबकी कार्य-शैली प्रायः एक ही प्रकार की थी। सबने अपने समय के धार्मिक वातावरण पर विचार किया था और उसके भीतर समाविष्ट दोषों के विरुद्ध आक्षेप किया था। सबका उद्देश्य तात्कालिक स्थिति में परिवर्तन लाने का था। इस कारण अपने विरोधी मतों की कटु आलोचना करते समय उन्होंने बहुधा अपने मूल मतों तक की प्रचलित बुराइयों को अपना लक्ष्य बना डाला था। सुधार तथा सामंजस्य की भावना से प्रेरित हो उन्होंने उसे फिर से बदल डालना भी चाहा था। उन सभी के उद्देश्य सच्चे थे और उन सबने पूरे उत्साह के साथ अपने-अपने कार्यक्रम को अंत तक निबाहना चाहा।

सुधार-पद्धति

फिर भी उन सबकी आलोचना एक ही प्रकार उग्र न थी, न उन सबने एक ही प्रकार अपने मूल मतों को सुधारने की चेष्टा की थी। स्वामी शंकराचार्य ने अपने समय के अवैदिक मतों को अमान्य ठहराया। वैदिक मतों में भी उपलब्ध दोषों की आलोचना कर उन्हें वेद-विरुद्ध तथा अग्राह्य घोषित किया। उनके पीछे आनेवाले भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने भी प्रायः इसी पद्धति का अनुसरण किया। वेदादि धर्म-ग्रंथों के प्रति इन सबकी आस्था निरंतर बनी रही और वे सदा

उनकी प्रामाण्यता का दम भरते रहे। बौद्धों तथा जैनों के सुधारक सम्प्रदायों को वैसे प्रामाण्य ग्रंथों का सहारा लेकर चलने की आवश्यकता न थी, न नाथयोगी-सम्प्रदाय, वीर शैव सम्प्रदाय अथवा पहले वाले वैष्णव सहजिया लोगों को ही ऐसा आश्रय ग्रहण करने की उपयोगिता प्रतीत हुई थी। अतएव प्रचलित बुराइयों के प्रति उनकी आलोचना कहीं अधिक स्वतंत्र रूप से हुई। इन्होंने उन्हें अधिकतर सरल एवं स्वाभाविक बातों द्वारा बदल डालने की चेष्टा की। वारकरी-सम्प्रदाय ने इन दोनों के बीच का मार्ग स्वीकार किया। उसने प्राचीन धर्म-ग्रंथों को अपने मत का आधार बनाते हुए भी उनके मंतव्यों को अपने विचारानुसार बहुत व्यापक बना डाला। सूफ़ी सम्प्रदाय में भी इसी प्रकारअपने मूल धार्मिक ग्रंथ 'कुरान शरीफ़' तथा 'हदीस' के प्रति पूरी आस्था लक्षित होती है, किंतु उसके अनुयायी उनकी बातों की एक विशेष दृष्टिकोण के साथ व्याख्या करते हुए भी जान पड़ते हैं।

दो भिन्न-भिन्न दल

इस प्रकार उक्त सुधारक सम्प्रदायों में हमें वस्तुत: दो भिन्न-भिन्न दल दीख पड़ते हैं। इनमें से एक अपनी बिगड़ी हुई परिस्थिति में परिवर्तन लाने का यत्न करते समय उसे भरसक पूर्वनिर्दिष्ट आदर्शानुसार ही व्यवस्थित करना चाहता है। दूसरा किसी प्राचीन व्यवस्था के फेर में न पड़ कर उसे स्वतंत्र ढंग से कोई नवीन, किंतु सर्वमान्य रूप देने का यत्न करता है। प्रथम दल को विश्वास है कि अंतिम सत्य तथा सर्वोत्तम आदर्श की झाँकी हमें अपने प्राचीन धर्म-ग्रंथों में अवश्य मिल सकती है। किंतु द्वितीय दल की धारणा है कि हमारा किसी ऐसी बात में आस्था रखना अनिवार्य नहीं है। यदि हम स्वतंत्र भाव से भी उचित यत्न करें, तो हमें उसका वास्तविक रूप आप-से-आप दृष्टिगोचर हो सकता है। उसी के आधार पर यदि हम चाहें तो अपने जीवन के लिए उच्चतम आदर्श भी स्थिर कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण ही इस दल के सम्प्रदायों ने योग-साधना को भी किसी न किसी अंश में अपनाया था। सहजयानी बौद्धों ने तो मानव-देह में ही काशी, प्रयाग-जैसे तीर्थ तथा पीठों, उप-पीठों आदि का भी अस्तित्व स्वीकार किया था और उसे सर्वश्रेष्ठ कह कर भी प्रसिद्ध किया था[१]। सूफ़ी-सम्प्रदाय ने 'इश्क़ मजाज़ी' को 'इश्क़ हकीक़ी' का एक आवश्यक 'मुक़ाम' ठहराया

---

१. 'एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चन्द दिवाअरु॥४७॥
वखेतु पीठ उपपीठ एत्थु, मइ भमइ परिट्ठओ।
देहा सरिसअ तित्थ, भइं सुह अण्ण ण दिट्ठओ॥'४८॥

था। वैष्णव सहजिया लोगों ने भी मानव सत्य को सबसे ऊपर स्थान देने की चेष्टा की थी[१]। इस भावना ने उन सबको इस प्रकार न केवल प्राचीन धर्म-ग्रंथों अथवा चिरकालीन रूढ़ियों पर सदा निर्भर रहा करने से ही रोक रखा, प्रत्युत उन्हें अपने हृदय की शुद्धता तथा सचाई पर अटल विश्वास रखने के लिए भी प्रेरित किया। अतएव इस दल ने परमुखापेक्षिता के स्वभाव को भी बदलने का यत्न किया जिससे आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव तथा स्वावलंबन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर दृढ़ होने लगी।

विभिन्न धारणाएँ

इसके सिवाय उक्त सुधारक सम्प्रदायों ने परमतत्त्व के स्वरूप के संबंध में भी अपनी भिन्न-भिन्न धारणाएँ निश्चित कीं। स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म को अनिर्वचनीय सत्य तथा जगत् को मिथ्या मानते हुए जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की। तदनुसार आत्म-ज्ञान की साधना को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ठहराया। किंतु उनके परवर्त्ती भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने इस प्रकार के अभेद-भाव को प्रश्रय न देकर भक्ति के लिए एक अलौकिक भगवान् की कल्पना भी कर डाली। उधर सहजयानी बौद्धों ने अपने सत्य तथा शून्य की अद्वयता को स्पष्ट करते हुए उसमें महासुखमय 'सहज' का भी आरोप किया और चित्त की शुद्धि द्वारा उसके साथ सर्वथा एकाकार हो जाने का महत्त्व बतलाया। किंतु वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय ने उसी 'सहज' को अपना प्रेम-पात्र भी मानकर उसे उपलब्ध करना अपना परम ध्येय समझा। इस प्रकार इनके प्रथम वर्ग की प्रवृत्ति जहाँ श्रद्धा तथा भक्ति के साधन द्वारा भगवान् की उपासना की ओर बढ़ी, वहाँ दूसरे ने उसी सत्य को प्रियतम के रूप में स्वीकार कर उसके साथ अभिन्न बन जाना ही अपने लिए परम पुरुषार्थ निर्धारित किया। वैष्णव सहजिया लोगों की उक्त प्रेम-भावना सूफ़ी सम्प्रदाय के 'इश्क़ हकीक़ी' से भी बहुत कुछ प्रभावित रही। आगे चल कर इन दोनों का संश्लिष्ट रूप कबीर साहब जैसे संतों के लिए 'विरह-गर्भित-प्रेम' के भाव में परिणत होकर लक्षित हुआ।

साधनों की विभिन्नता

इन सुधारक सम्प्रदायों के भाषा-प्रयोग तथा वर्णन-शैली पर भी इनके आलो-

---

—डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित सरहपाद का दोहाकोष, कलकत्ता १९३८ ई०, पृ० २५।

१. 'शुन हे मानुष भाई।
सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाइ॥'—आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स : डॉ० एस० दास गुप्त, पृ० १३७ पर उद्धृत।

चनात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता था। स्वामी शंकराचार्य तथा भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने प्राचीनता का मोह त्याग न सकने के कारण संस्कृत-भाषा का व्यवहार किया। उन्होंने मौलिक बातों के लिखने की अपेक्षा केवल भाष्य तथा टीका-टिप्पणी की ओर ही विशेष ध्यान दिया ।किंतु सहजयानी बौद्ध, जैन मुनि, नाथ योगी तथा सहजिया वैष्णवों की प्रवृत्ति इससे नितांत विरुद्ध दिशा की ओर काम करती हुई दीख पड़ी। इन्होंने न केवल स्वतंत्र रचनाएँ प्रस्तुत करने के यत्न किये, किंतु उनका निर्माण करते समय प्रचलित जन-भाषाओं को अपने भाव-प्रकाशन का माध्यम भी बनाया। इसके अतिरिक्त प्रथम दलवालों ने जहाँ पर अपने कथन की पुष्टि में स्थल विशेष पर मान्य ग्रंथों के उद्धरण देकर उन्हें प्रमाणित करते जाना आवश्यक समझा, वहाँ दूसरे दलवालों ने अपने भावों को हृदयंगम कराने के लिए साधारण दृष्टांतों, सरल रूपकों तथा कभी-कभी चमत्कार-पूर्ण संध्याभाषा अथवा 'संधाभाषा' के भी प्रयोग किये[1]। इस प्रकार प्रथम दल की रचनाओं के पाठकों को अपने समाधान के लिए जहाँ प्राचीन धर्मग्रंथों के अनेक पन्ने उलटने की आवश्यकता पड़ी, वहाँ दूसरे दल के दोहों वा पदों के पढ़ने-वाले उन्हें समझने के लिए निजी अनुभव तथा साधारण संकेतों का ही उपयोग करते रहे।

मुसलमानी प्रभाव

विक्रम की नवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं तक का उक्त समय एक प्रकार के उथल-पुथल का युग था। इसका आरंभ होने के कुछ ही पहले सं० ७६६ में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों का आक्रमण भारत के सिंध प्रांत पर हो चुका था। इस प्रकार बाहर के मुस्लिम देशों को इस देश की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति का कुछ न कुछ परिचय मिलने लगा था। उत्तरी भारत में उस समय प्रतिहारों का राज्य था, जो किसी न किसी रूप में बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वर्तमान रहा। उसके अनंतर वहाँ क्रमशः गहरवारों तथा चौहानों का शासन प्रायः सौ वर्षों तक चला। इसी बीच में ग़जनी तथा ग़ोर वंश के मुसलमानों के आक्रमण हुए तथा तराई की लड़ाई (सं० १२५०) में विजय पाकर मुहम्मद

१. **'संध्याभाषा' झिलमिल प्रकाशमयी वा रहस्यमयी भाषा** (Evening language, twilight language or mystical language)

'संधाभाषा' : सोद्देश्य वा साभिप्राय भाषा (Intentional language i. e. language literally and apparently meaning one thing, but aiming at a deeper meaning hidden behind.)

—डॉ० एस० बी० दास गुप्त : आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, पृ० ४७७-८।

ग़ोरी ने यहाँ पर अपने स्थायी राज्य की नींव डाली। उस काल से इस भूखंड पर मुसलमानी शासन का आरंभ हो गया। ग़ुलाम वंश (सं० १२६३ : १३४७), ख़िलजी वंश (सं० १३४७ : १३७७) तथा तुग़लक वंश (सं० १३७७ : १४६६) के भिन्न-भिन्न व्यक्ति क्रमशः सुलतान बन कर यहाँ के सिंहासन पर बैठे। ये सुलतान अपने 'मजहबे इस्लाम' की 'शरीयत' के न्यूनाधिक पाबंद रहते हुए भी अपना शासन अपरिमित अधिकार के साथ करते थे और उनका प्रबंध एक प्रकार का सैनिक प्रबंध था। ये कभी-कभी ख़लीफ़ा की प्रभुता स्वीकार कर लेते थे, किंतु व्यावहारिक बातों में ये सदा निरंकुश बने रहते थे। इनमें से कुछ पर यदाकदा उलमा लोगों का भी प्रभाव काम कर जाता था। परन्तु मुस्लिमेतर जातियों के लिए वह कभी हितकर न हो पाता था। इस कारण सुलतानों के उस एकतंत्र शासन द्वारा सदा अन्याय तथा असहिष्णुता को ही प्रोत्साहन मिलता रहा। फिर भी देश के भीतर अतुल संपत्ति थी। मुसलमान उमरा पूरे ठाठ-बाट के साथ जीवन व्यतीत करते थे और कला, साहित्य आदि की उन्नति भी होती जा रही थी।

इधर बौद्ध धर्म का उस समय तक पूर्ण ह्रास होने लगा था। शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट-जैसे विरोधी प्रचारकों के यत्नों द्वारा वह प्रायः निर्मूल-सा होता जा रहा था। उस समय जैन धर्म तथा शैव ओर वैष्णव-सम्प्रदायों के भीतर भिन्न-भिन्न संगठन हो रहे थे। इस्लाम के अंदर भी सूफ़ी सम्प्रदाय अपना प्रचार करने लगा था। सुलतानों के उक्त शासन-काल में इस प्रकार स्वेच्छाचारिता की प्रधानता होने पर भी भिन्न-भिन्न विचारों तथा संस्कृतियों के संघर्ष के कारण एक नवीन प्रकार के समाज का निर्माण होता जा रहा था। इसके लिए सारी परिस्थिति पर एक बार फिर से दृष्टिपात कर उचित मार्ग दिखलाना नितांत आवश्यक प्रतीत होता था। यह कार्य उसी के द्वारा संभव था जिसकी बुद्धि परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों के बीच समन्वय तथा सामंजस्य लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी वा सार्वभौम नियम तथा आदर्श का प्रस्ताव रखने में भी समर्थ हो।

पूर्वकालीन संत

इस युग के अंतर्गत कतिपय संतों ने साम्प्रदायिक स्तर से कुछ ऊँचा उठ कर इस ओर यत्न अवश्य किये। उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों के कारण उन्हें उक्त युग के अनंतर आने वाले संतों में गिना भी जाता है। फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओं तथा जीवन-संबंधी केवल यत्किंचित सामग्रियों के आधार पर कुछ अधिक पता नहीं चलता। संभव है, वे भी उक्त उद्देश्य को ही लेकर चले रहे हों, किंतु विकट परिस्थितियों अथवा उनके क्षीण स्वरों के कारण उनका प्रभाव वैसा स्पष्ट वा स्थायी न हो सका हो। ऐसे कुछ लोगों के संक्षिप्त परिचय गत अध्याय में दिये जा चुके

हैं और उनके विचारों की बानगी भी वहाँ दी जा चुकी है। उससे प्रकट होगा कि उक्त युग (सं० ८०० : १४००) के पूर्वार्द्ध तक यहाँ का क्षेत्र तैयार हो चुका था। उसके उत्तरार्द्ध के लगभग आरंभ से ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा था, जिन्हें कम से कम पथ-प्रदर्शक संतों के नाते स्मरण करने की प्रवृत्ति होती है। उन पूर्वकालीन संतों के जन्म-स्थान एवं वातावरण से परिचित होने पर हमें यह भी अनुमान करने का आधार मिलता है कि सर्वप्रथम उत्तरी भारत का वाहरी सीमा का ही क्षेत्र तैयार हुआ था। उसके केन्द्र काशी-खंड को इस ओर प्रवृत्त होने का अवसर उक्त युग के कहीं अंत में जाकर मिला था।

नामदेव का प्रभाव

विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में महाराष्ट्रीय संत नामदेव पंजाब प्रांत में भ्रमण कर रहे थे। उनका मूल संबंध महाराष्ट्र प्रांत के 'वारकरी-सम्प्रदाय' के साथ था। किंतु उनके विचारों की व्यापकता तथा कार्य-पद्धति की रूपरेखा उन्हें अपनी परिधि से कुछ बाहर जाने को भी वाध्य कर रही थी। अतएव अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने उक्त सम्प्रदाय के नियमों का कदाचित् अक्षरशः अनुसरण भी नहीं किया और स्वानुभूति के आधार पर ही वे अपने उपदेश देते रहे। उनके ये उपदेश सदा एक स्वतंत्र मत का संदेश सुनाते रहे और अपने सरल तथा सजीव होने के कारण अधिक ध्यान भी आकृष्ट करते रहे। प्रसिद्ध है कि इनकी लोकप्रियता के कारण इनके उपदेशों का वहाँ बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मालवा, राजस्थान तथा पंजाब में इनके अनेक अनुयायी बन गए। आगे चल कर इनके नाम को अपनानेवाले कई अन्य व्यक्तियों ने भी अपने मठादि स्थापित कर लिये। संत नामदेव अपने पदों को बहुधा करताल के साथ गाया करते थे और उनकी भावुकता उपस्थित श्रोताओं को मुग्ध कर देती थी। इस प्रकार बहुत-से उनके हिंदी पद उधर की जनता को कंठस्थ हो जाते थे जिन्हें वे बाहर जाने पर भी प्रेम के साथ गाया करते थे। इस कारण संत नामदेव की रचनाओं का उत्तरी भारत में कुछ दूर तक पूर्व की ओर भी प्रचलित हो जाना असंभव न था। कबीर साहब ने भी संत नामदेव का नाम कदाचित् इन्हीं प्रचलित पदों से प्रभावित होकर बड़ी श्रद्धा के साथ लिया होगा।

अन्य प्रवृत्तियाँ

उक्त युग के अंत तक बौद्धों का 'सहजयान' सम्प्रदाय यहाँ से प्रायः लुप्त हो चुका था। उसका केवल कुछ विकृत रूप ही बंगाल में दीख पड़ता था जहाँ पर इसे कई छोटे-बड़े सम्प्रदायों पर पड़े हुए प्रभावों के भीतर ढूँढ़ा जा सकता था। उत्तरी भारत में उस समय के किसी ऐसे प्रसिद्ध जैन मुनि का भी पता नहीं चलता

जिनने पूर्ववत् विचार प्रकट किये हों। लौंकाशाह (सं० १४७५) तथा तारणतरण (स० १५०५-७२) ने क्रमशः राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में जैन धर्म के अंतर्गत सुधार के यत्न किये। 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' के अनुयायी भी उस समय विशेषकर पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत की ओर ही अपना प्रचार करते पाये जाते थे। पूर्वी भारत में उनकी प्रगति, उनके अन्य हिन्दू धर्मावलंबियों के साथ बहुत कुछ घुल-मिल जाने के कारण, धीमी पड़ने लग गई थी। फिर भी राजस्थान के अंतर्गत उसे कोई न कोई विशिष्ट साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयास पीछे जंभनाथ (सं० १५०८-८०) तथा जसनाथ (सं० १५३९-६३) की ओर से किया गया।

इधर सूफ़ी सम्प्रदाय का प्रचार उस समय, कुछ अधिक वेग के साथ होने लगा था। उसकी चिश्तिया तथा सुहर्वर्दिया नामक दो शाखाओं का भारत में प्रवेश हो चुका था। उनके अनुयायियो की संख्या भी बढ़ती जा रही थी। चिश्तिया शाखा के फ़क़ीर अहमद साबिर (मृ० सं० १३८२) ने अभी कुछ ही दिनों पहले वर्तमान उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग में भ्रमण कर अपनी 'साबिरी' नामक उपशाखा की नींव डाल दी थी। इसी प्रकार शेख़ मुहम्मद हिशामुद्दीन (मृ० सं० १५०६) भी उसकी 'हशीमिया' उपशाखा का प्रचार करने की ओर मानिकपुर तथा उसके आसपास यत्न कर रहे थे। 'सुहर्वर्दिया' शाखा के शेख़ तक़ी (सं० १३७७-१४४१) ने भी इन्हीं दिनों अपने उपदेशों द्वारा उक्त प्रांत के पूर्वी भाग वालों को प्रभावित करके, झूँसी में विश्राम लिया था। 'शत्तारी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक शेख़ अब्दुल्ला शत्तारी (मृ० सं० १४८५) ने जौनपुर में आकर अपने मत का प्रचार किया। इसके सिवाय सुदूर उत्तर की ओर कश्मीर प्रांत में, अभी कुछ ही पहले लालदेद (सं० १३९२-१४७२) ने अपने उद्‌गार प्रकट किये थे। उनसे बहुत कुछ प्रभावित होकर नंदा ऋषि (सं० १४३४-९५) ने फिर अपना प्रचार-कार्य किया। अधिक पूर्व की ओर बंगाल प्रांत में 'वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय' की नींव पड़ चुकी थी। प्रसिद्ध बंगाली कवि चंडीदास कदाचित् उसी समय के लगभग, अपने पदों के माधुर्य द्वारा उधर के निवासियों को मंत्र-मुग्ध से कर रहे थे। कवि चंडीदास की यह परंपरा, संभवतः उस प्रसिद्ध संत जयदेव द्वारा भी प्रभावित रही जिनकी प्रशंसा कबीर साहब ने अपनी रचनाओं में एक से अधिक बार की है।

कबीर साहब पर प्रभाव

परन्तु कबीर साहब के ऊपरउस दूसरी विशिष्ट भाव-धारा का प्रभाव भी कम न पड़ा होगा जिसके विभिन्न स्रोतों के स्वरूप का दिग्दर्शन गत अध्याय में कराया जा चुका है। इसके प्रवाह की विभिन्न लहरोंके रंग-ढंग में हमें आगामी

संत-मत का प्रारंभिक रूप स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। उस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य के कतिपय दार्शनिक सिद्धांतों पर बौद्ध-मत की गहरी छाप लगी हुई थी। बौद्धों के सहजयानी विचार तथा शांकराद्वैत के आदर्श को एक साथ लेकर ही नाथयोगी-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई थी। भक्ति के भिन्न-भिन्न आचार्य भी इसी प्रकार शंकराचार्य द्वारा अनुप्राणित हुए। उनकी भक्ति साधना तथा नाथयोगी-सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धांतों के आधार पर वारकरी-सम्प्रदाय की भित्ति खड़ी की गई थी। इसके सिवाय भक्ति-प्रचारक आचार्यों के मूल स्रोत, तमिल आडवारों की सरल भक्ति-साधना और सूफ़ी सम्प्रदायों के प्रेम-भाव ने मिल कर इसी भाँति वैष्णव 'सहजिया-सम्प्रदाय' को जन्म दिया। बौद्ध सहजिया के मूल सिद्धांतों ने उसी प्रकार उसे पूरी शक्ति प्रदान की। फलत: भिन्न-भिन्न विचार-शैलियों के संघर्ष वा सहयोग से उन सुधारक सम्प्रदायों का कार्यक्रम क्रमश: अग्रसर होता गया। अंत में विक्रम संवत् की पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग उनके संयुक्त प्रयास द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसे अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए किसी भी उक्त भावना की उपेक्षा करना असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन अवश्य था। इस कथन की संगति कबीर साहब के विषय में भी भली भाँति लगायी जा सकती है।

उनका प्रधान उद्देश्य

कबीर साहब कदाचित् प्रत्येक संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से मुक्त थे और उनका मुख्य अभिप्राय किसी ऐसी विचार-धारा को जन्म देना था जो स्वभावत: सर्व-मान्य बन सके। इसमें इसी कारण किसी भी उल्लेखनीय प्रवृत्ति के संचार की पूरी गुंजाइश हो सके। तदनुसार उन्होंने अपने सामने उपस्थित समस्या पर अधिक से अधिक व्यापक दृष्टिकोण के साथ विचार करने का यत्न किया। इस प्रकार निकाले गए परिणामों के मूल्यांकन का भार प्रत्येक व्यक्ति के निजी अनुभव पर ही छोड़ दिया। इसीलिए कबीर साहब की उस उँचाई से देखने पर जहाँ निर्गुण तथा सगुण के प्रश्न आपसे आप हल हो गए और अद्वैत की भावना में भक्ति को भी स्थान मिल जाने से मस्तिष्क-पक्ष अथवा हृदय-पक्ष में सामंजस्य आ गया, वहाँ 'शून्य', 'सहज', 'प्रेम' तथा 'योग' जैसे शताब्दियों से प्रचलित शब्दों का वास्तविक रहस्य भी खुल गया और व्यर्थ के वितंडावाद की प्रवृत्ति बहुत कुछ निर्बल प्रतीत होने लगी।

(२) कबीर साहब का जीवन-वृत्त

(१) जीवन-काल प्रामाणिक सामग्री अलभ्य

कबीर साहब के व्यक्तित्व, इनके जीवन-वृत्त तथा मत का परिचयात्मक

उल्लेख करनेवाले तो अनेक ग्रंथों का पता चलता है, किंतु ऐसी रचनाओं का प्राय: अभाव-सा है जिनमें इनकी जन्म-तिथि वा मरण-तिथि के विषय में किसी अधिकार के साथ चर्चा की गई हो और जिन्हें सभी प्रकार से विश्वसनीय भी समझा जा सके। कबीर साहब ने स्वयं इस विषय में कुछ भी नहीं कहा है और इनके समसामयिक समझे जाने वाले किसी इतिहासकार की रचना में भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। अन्य उपलब्ध सामग्रियों के आधार केवल जनश्रुति, अंध-विश्वास अथवा फुटकर भ्रमात्मक प्रसंग हैं जिन पर सहसा विश्वास कर लेना ऐतिहासिक तथ्य के प्रेमियों के लिए बहुत कठिन है। अतएव इस प्रश्न के छेड़नेवाले कुछ लेखकों का इस प्रकार कह देना भी अनुचित नहीं जान पड़ता कि "उनकी सवाने उमरी एक मुखफ़ी इसरार है। हम उनके दौराने-ज़िंदगी के हालात से बिल्कुल नावाकिफ़ हैं[१]"। वास्तव में इस प्रकार का कथन हमारे अन्य अनेक महापुरुषों के विषय में भी सत्य है।

उपलब्ध सामग्री

कबीर साहब का किसी न किसी रूप में परिचय देनेवाली आज तक की उपलब्ध सामग्रियों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) कबीर साहब तथा उनके समसामयिक समझे जाने वाले संतों-जैसे; सेन नाई, पीपाजी, रैदास, धन्ना, कमाल आदि के फुटकर उल्लेख;

(२) उनके पीछे आनेवाले संतों तथा भक्तों जैसे, मीराँबाई, गुरु अमरदास, व्यासजी, मलूकदास, दादू, दरिया, बषना, हरिदास, रज्जब, गरीबदास आदि की बानियों में पाये जानेवाले विविध संकेत;

(३) कबीर-पंथी रचनाएँ जिनमें इनकी स्तुति के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण तथा पौराणिक परिचय देने की भी चेष्टा की गई है; जैसे, 'अमरसुख-निधान', 'अनुराग सागर', 'निर्भय-ज्ञान', 'द्वादशपंथ', 'बीजक', 'भवतारण', 'कबीर-कसौटी', 'कबीर-परिचय' तथा धर्मदास आदि की बानियाँ;

(४) वे ग्रंथ जिनमें भक्तों के गुणगान के साथ-साथ उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है; जैसे नाभादास, राघादास, मुकुंद कवि आदि के 'भक्तमाल', अनंतदास की 'परचई', रघुराजसिंह की 'रामरसिकावली' तथा उक्त 'भक्तमालों' पर की गई टीकाएँ, तथा गुलाम सरवर की 'ख़ज़ीनतुल असफ़िया' जैसी रचनाएँ;

(५) वे ऐतिहासिक ग्रंथ जिनमें प्रसंगवश कुछ महापुरुषों की साधारण वा आलोचनात्मक चर्चा कर दी गई मिलती है; जैसे, अबुल फज़ल की 'आईन-ए-

---

१. नारायणप्रसाद वर्मा : रहनुमाये-हिन्द, पृ० २२३।

अकबरी', अबुल हक़ की 'अख़बारुल अख़ियार', तथा 'खुलासातुत्तवारीख़', अथवा बील, डॉ॰ क्यूर्ट आदि की पुस्तकें;

(६) उन धार्मिक इतिहासों में दिये गए आलोचनात्मक विवरण जिनके रचयिता इन्हें किसी सम्प्रदाय-विशेष से संबद्ध मान कर चलते हैं, जैसे डॉ॰ भांडारकर, मेकालिफ़, वेस्टकाट, फर्कुहर, की, विल्सिन, फ़ानी, दत्त, राय अथवा सेन आदि के ग्रंथ;

(७) कबीर साहब से संबद्ध आलोचनात्मक निबंध, साहित्यिक ग्रंथ आदि जिनमें किसी तथ्य पर पहुँचने की तर्कपूर्ण चेष्टा की गई है; जैसे हरिऔध, श्यामसुंदर दास, डॉ॰ मोहन सिंह, डॉ॰ बर्थ्वाल, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, डॉ॰ रामप्रसाद त्रिपाठी, पंडित चन्द्रबली पांडेय आदि की रचनाएँ;

और, (८) कबीर साहब की समझी जानेवाले चित्र तथा समाधि जैसी स्मारक वस्तुएँ।

इस वर्गीकरण के अनुसार हमें जान पड़ता है कि उक्त सामग्रियों में से (१) तथा (२) के सहारे अधिकतर किसी काल-क्रम अर्थात् कबीर साहब के आगे वा पीछे प्रकट होने का अनुमान हो सकेगा। (३), (४), (५) तथा (८) द्वारा कुछ वस्तुओं वा घटनाओं का मूल्य परखने में भी सहायता ली जा सकेगी। इसी प्रकार (७) की सहायता से हमें उनमें किये गए उल्लेखों, आये हुए प्रसंगों अथवा दी गई सम्मतियों पर आलोचनात्मक तथा युक्तिसंगत विचार करने में सुविधा मिल सकेगी।

विभिन्न धारणाओं का विकास

उक्त सभी प्रकार के साधनों के रचना-क्रम आदि की परीक्षा करने पर हमें यह भी पता चलता है कि उनमें से सबसे प्राचीन रचनाओं में कबीर साहब केवल एक भक्त-विशेष के रूप में ही दिखलाए गये हैं। इनका उल्लेख करने वालों का ध्यान जितना इनकी भक्ति और इनके प्रति लक्षित होनेवाली भगवत्कृपा की ओर है, उतना इनके व्यक्तित्व वा जीवन का चित्रण करने की ओर नहीं। फिर यह प्रवृत्ति मीराँबाई (सं॰ १५५५ : १६०३) के समय से कुछ और भी स्पष्ट होती जाती है। उस वर्ग की कृतियों में तब से कई चमत्कारपूर्ण कथाओं का भी समावेश होने लगता है। कबीर-पंथ द्वारा किये गए प्रचारों के कारण कबीर साहब श्रद्धालुओं के समक्ष 'भक्त कबीर' से क्रमशः परिवर्तित होते हुए 'सत्य कबीर' का भी रूप ग्रहण करते हुए दीखने लगते हैं। इसी प्रकार कबीर साहब के रामानंद-शिष्य होने की चर्चा सर्वप्रथम कदाचित् भक्त व्यासजी[1] (सं॰ १५६७ : १६६९)

---

१. 'साँचे साधु जु रामानंद।

से आरंभ होती है। उसके अनंतर 'भक्तमाल'-श्रेणी के ग्रंथों में इस बात का उल्लेख निरंतर होता चला जाता है तथा इन्हें तक़ी का उत्तराधिकारी वा चेला मानने की बात ग़ुलाम सरवर की 'ख़ज़ीनतुल असफ़िया'[1] में बहुत पीछे दीख पड़ती है। इसके सिवाय नाभादास (सं० १६४२ में वर्तमान) की 'भक्तमाल'[2] में हमें सबसे पहले कबीर साहब के विशिष्ट व्यक्तित्व तथा इनके मंतव्य-विशेष का भी कुछ संकेत मिलने लगता है। अनंतदास (सं० १६४५ में वर्तमान) की रचना कबीर-दास की 'परचई'[3] से (यदि उसकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रति में कोई प्रक्षिप्त अंश न हो तो) इतना और भी पता चलता है कि किसी 'सिकंदरस्याह'-द्वारा इनका दमन भी किया गया था। अनंतदास ने वहाँ पर यह भी बतलाया है कि कबीर साहब का बालपन धोखे में ही बीता था। बीस वर्ष की अवस्था में इन्हें धार्मिक चेतना मिली थी और सौ वर्षों तक भक्ति करके इन्हें मुक्ति उपलब्ध हुई थी। आगे आनेवाले 'भक्तमाल'-रचयिताओं में से बहुतों ने इनके विषय में अधिकतर ऐसी बातें ही बतलायी हैं। इनसे इनका जीवन रहस्यमय एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं का एक संग्रह मात्र बन जाता है। ऐतिहासिक ग्रंथों में से जो अभी तक उपलब्ध हैं, इनका सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख अबुल फज़ल (सं० १६५५ में वर्तमान) की 'आईन-ए-अकबरी'[4] में मिलता है, जहाँ पर इन्हें 'मुवाहिद' वा अद्वैतवादी कहा गया है। इनकी पुरी तथा रतनपुर (सूबा अवध) में निर्मित दो मज़ारों की भी चर्चा की गई है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों द्वारा इनके शव को जलाने तथा गाड़ने के पृथक्-पृथक् यत्नों का भी कदाचित् सर्वप्रथम उल्लेख उक्त ग्रंथ में ही मिलता है और वहाँ पर यह भी पता चल जाता है कि इनकी हिंदी-भाषा की रचनाएँ तब तक प्रसिद्ध हो चली थीं।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस प्रकार विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के आगे जहाँ एक ओर भक्त तथा संत लोग कबीर साहब की भक्ति की प्रशंसा करते, इन्हे अनुकरणीय मानते तथा इनके

जाको सेवक कबीर धीर अति, सुमति सुरसुरानंद । आदि

—बा० राधाकृष्ण : सूरदास, पृ० २३ पर उद्धृत।

१. पृ० २५-६, लाहौर सन् १८६८।

२. पृ० ४८५, रूपकलाजी संस्करण, लखनऊ सन् १६२०ई०।

३. डॉ० रामकुमार वर्मा : संत कबीर, पृ० ३०-१ पर उद्धृत।

४. कर्नल एच० एस० जेरे द्वारा अनुवादित, भा० २, कलकत्ता, सन् १८६१ पृ० १२६-१७१।

विषय में चमत्कारपूर्ण कथाएँ कहने लगते हैं; कबीर-पंथी इन्हें अमर तथा अलौकिक जीवनवाला मान कर इन्हें हंसों के उद्धारार्थ समय-समय पर अवतार-धारण करने-वाला भी ठहराने लगते हैं, वहाँ दूसरी ओर इन्हें एक धार्मिक नेता और सुधारक के रूप में स्वीकृत करने की परिपाटी भी चल निकलती है। इनके जीवन के संबंध में दिये गए फुटकर प्रसंगों में से कई एक ऐतिहासिक रूप लेने लग जाते हैं। उक्त प्रासंगिक, साम्प्रदायिक तथा ऐतिहासिक उल्लेखों की छानबीन आगे चल कर विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में होती है, जब कुछ विदेशी विद्वानों का ध्यान हमारे साहित्य, संस्कृति तथा धर्म के अध्ययन की ओर पहले-पहल आकृष्ट होता है और भारत की अनेक बातों के संबंध में कुछ निबंध तथा ग्रंथ आलोचनात्मक दृष्टि से लिखे जाने लगते हैं। उन्नीसवी शताब्दी तक का समय इस प्रकार अधिकतर ऐसी सामग्रियों के निर्माण का रहता है और उसके अनंतर उनकी परख तथा मूल्यांकन का युग आ जाता है। फिर भी इस युग के विद्वान् लेखकों में एक यह बात भी पायी जाती है कि प्राचीन वा नवीन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग करते समय वे उनके समर्थन में बहुधा भिन्न-भिन्न जनश्रुतियों के भी हवाले देते चलते हैंऔर प्रत्येक मत की पुष्टि में किसी न किसी पद्यमयी रचना की सृष्टि भी होने लगती है। कबीर साहब के संबंध में रचित इस प्रकार के जन्म तथा मरण-काल के सूचक दोहे और अन्य रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मृत्यु-काल संबंधी मत

कबीर साहब के विषय में रचे गए जो जनश्रुतिमूलक दोहे मिलते है, उनमें अधिकतर इनके मृत्यु-काल की ही चर्चा दीख पड़ती है। इसका कारण भी कदाचित् यही हो सकता है कि अपने जीवन के अंतिम भाग में वे विशेष प्रसिद्ध हो गए होंगे अथवा इनके उपदेशादि द्वारा प्रभावित लोगों के लिए इनके मरण-काल की घटना इनके पूर्व जीवन की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ी होगी। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इनके जन्म-काल वा जन्म-संवत् के निर्णय की चेष्टा संभवतः बहुत पीछे आरंभ हुई और उसके लिए भी प्रायः वैसे ही प्रमाण प्रस्तुत किये जाने लगे। फलतः इनके पूर्ण जीवन वा केवल मृत्यु अथवा जन्म-संवत् का पता देनेवाले कम से कम चार मत इस समय प्रधान रूप से दीख पड़ते हैं—

(१) मृत्यु-काल को संवत् १५७५ में ठहरा कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् देनेवालों का मत;

(२) मृत्यु-काल को सं० १५०५ अथवा सं० १५०७ के लगभग मान कर उक्त प्रकार का निर्णय करनेवालों का मत;

(३) मृत्यु-काल को सं० १५५२ वा १५५१ में निश्चित समझ कर अनुमान करनेवालों का मत;

और (४) मृत्यु तथा जन्म अथवा पूरे जीवन-काल को ही भिन्न-भिन्न संवतों वा शताब्दियों के मध्य स्थिर करनेवालों का मत;

इन सबके अतिरिक्त एक अन्य मत उन कबीर-पंथियों का भी कहा जा सकता है, जो कबीर साहब को अजर तथा अमर मानते हुए इनका चारो युगों में किसी न किसी रूप में वर्तमान होना बतलाया करते हैं।

समीक्षा

कबीर-पंथियों के मत का आधार कबीर साहब को अलौकिक पुरुष सिद्ध करने की चेष्टा तथा इनके प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा में निहित जान पड़ता है। इस प्रकार की बातें सर्वसाधारण के लिए युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। इसी भाँति उक्त चौथा मत भी वस्तुतः अस्पष्ट तथा अनिश्चित समझा जा सकता है। शेष तीन मतों में से इनके मृत्यु-काल को सं० १५७५ में ठहरानेवालों की संख्या कदाचित् सबसे अधिक होगी। किंतु जिन-जिन बातों को स्वयंसिद्ध-सी मान कर वे उनके आधार पर निर्णय देना चाहते हैं, उनमें से लगभग सभी की ऐतिहासिकता अभी तक संदिग्ध बनी हुई है। इस कारण उनके मत को भी सर्व-मान्य समझ लेना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सं० १५५२ वा सं० १५५१ को मृत्यु-काल माननेवालों के विषय में भी हम यही कह सकते हैं कि वे अपने प्रमाणों को अत्यधिक महत्त्व देते हुए जान पड़ते हैं। उनका भी मत उक्त प्रथम मत के ही समान कभी असंदिग्ध नहीं कहला सकता। इसके विपरीत सं० १५०५ को इनका मृत्यु-काल माननेवाले कई कारणों से सत्य के कुछ निकट जाते हुए समझ पड़ते हैं। परन्तु उनके मत को भी हम अंतिम निर्णय का पद उस समय तक प्रदान करना नहीं चाहते जब तक उनके पक्ष का पूर्ण समर्थन पर्याप्त सामग्रियों द्वारा न किया जा सके और उसके कारण उठनेवाले कई प्रश्नों का भली भाँति समाधान भी न हो जाय। फिर भी उपलब्ध सामग्रियों पर विचार करते हुए इस प्रकार का निर्णय करनेवालों की प्रवृत्ति इधर कबीर साहब के जीवन-काल को क्रमशः कुछ पहले की ओर ही ले जाने की दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कभी-कभी अनुमान होने लगता है कि उक्त समय कहीं सं० १४२५: १५०५ के ही लगभग सिद्ध न हो जाय।[1] दे० परिशिष्ट (क)।

---

१. **कबीर-पंथ के अनुयायियों में इनका जीवन-काल, ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार सं० १४५६ से लेकर अगहन शुक्ला ११ सं० १५७५ तक अर्थात् ११९ वर्ष**

(२) जन्म-स्थान तथा मृत्यु-स्थान

काशी वा मगहर

परंपरानुसार तो सभी काशी को कबीर साहब के जन्म ग्रहण करने का स्थान स्वीकार करते आये हैं। इसी प्रकार उनके मृत्यु-स्थान के लिए भी मगहर के विषय में जनश्रुति प्रसिद्ध है, किंतु इधर कुछ दिनों से इन दोनों के संबंध में संदेह किया जाने लगा है। कबीरपंथी-साहित्य के अनुसार "सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाव में उतरा"[1] था अथवा उक्त ताल में "पुरइन के एक पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरू जुलाहे की स्त्री को काशी-नगर के निकट[2] मिला था", जो आगे चल कर कबीर साहब के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किंतु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर'[3] के अनुसार उनका जन्म बनारस में वा उसके निकट न होकर आज़मगढ़ जिले के बेलहरा नामक गाँव में हुआ था। इस बात को 'पक्की खोज' की प्रामाणिकता देते हुए श्री चंद्रबली पांडेय ने बतलाया है कि "आज भी पटवारी के कागजों में 'बेलहरा' उर्फ 'बेलहर पोखर' लिखा मिलता है। अपनी निजी धारणा तो यह है कि यदि 'बेलहर पोखर' 'लहर तालाब' की जड़ है; 'बेलहर' का 'लहर' एवं 'पोखर' का 'तालाब' कर लेना जनता के बाएँ हाथ का खेल है।"[4] इसके साथ ही वहाँ पर वे जुलाहों की बस्तियों के कुछ अवशेष चिह्न भी पाते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार इसी प्रकार मगहर को कबीर साहब का जन्म-स्थान मानना चाहिए। क्योंकि 'आदिग्रंथ' में संगृहीत एक पद के अंतर्गत स्वयं उन्होंने ही कहा है कि "पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई।"[5] यह मगहर नामक गाँव इस समय बस्ती जिले में है और प्रसिद्ध गोरखपुर नगर से लगभग १५ मील की दूरी पर वर्तमान है। इसी मगहर के लिए उनका मृत्यु-स्थान होना भी कहा जाता है और इस संबंध में अधिक लोग सहमत भी हैं। परन्तु उक्त पांडेय जी की राय में मगहर में अवस्थित कबीर साहब की कब्र वास्तविक कब्र नहीं। ये उनके

---

५ मास और २७ दिनों का माना जाता है (दे० श्री सद्गुरु कबीर चरितम्, श्लोक २, पृ० ५२६ और श्लोक ८१ तथा ८५, पृ० ६१३)—लेखक।

१. कबीर-चरित्र-बोध।

२. अनुराग सागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ८४।

३. बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, इलाहाबाद, १९०९।

४. चंद्रबली पाँडेय : विचार विमर्श, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००२, पृ० ५।

५. गुरुग्रंथ साहब, राग रामकली, पद ३।

अनुसार सूबा अवध के रतनपुर गाँव में दफन।ये गए थे और मगहर में इनकी कब्र को बिजली खाँ ने वीरसिह बघेल को धोखा देने के लिए झूठमूठ बनवा दिया था। इसलिए मगहर में मरकर इनका वहीं दफ़नाया जाना भी ठीक नहीं कहा जासकता और इसके लिए वे धर्मदास की बानियों से कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं।[१] इसी प्रकार अभी कुछ दिन हुए डॉ० सुभद्र झा ने अनुमान किया है कि कबीर का जन्म वस्तुतः बिहार प्रांत के मिथिला प्रदेश में कहीं पर हुआ होगा, क्योंकि उन्होंने शाक्तों की निंदा की है। उन्हें वहाँ मत्स्यभोजी कहा जाता है और वैष्णव के प्रति श्रद्धा प्रकट की है जो मांसादि का सेवन नहीं करते तथा उन्होंने विदेह जैसे एकाध शब्दों के तदनुकूल प्रयोग भी किये हैं।[२]

काशी

कबीर साहब ने स्वयं अपनी जन्म-भूमि का कहीं परिचय नहीं दिया है। ये केवल अपने निवास-स्थान की ओर ही कहीं-कहीं संकेत करते हैं। फिर भी इनकी रचनाओं में आये हुए कतिपय प्रसंगों से इस विषय में कुछ सहायता ली जा सकती है। कबीर साहब स्पष्ट शब्दों में अपने को काशी का जुलाहा कहते हैं[३] और जिस प्रकार इन्होंने काशी में रहनेवाले जोगी, जती, तपी, संन्यासी अथवा भक्त-रूपधारी 'बनारसी ठगों' का सजीव चित्र खींचा है[४], उससे भी स्पष्ट है कि वहाँ पर ये बहुत समय तक रहे होंगे और इन्होंने वहाँ का व्यक्तिगत अनुभव भी प्राप्त किया होगा। इसके सिवाय इनके एक पद[५] से यह भी सूचित होता है कि इन्होंने काशी में बहुत दिनों तक रह कर तप वा साधना भी की थी। अंत में उसे छोड़ते समय इन्हें जाल से बाहर कर दी गई मछली की भाँति अपनी दुर्गति का अनुभव हुआ था। अपने काशी-वास की अवधि को ये "सगल जनमु सिवपुरी गँवाइया" कह कर भी निर्दिष्ट

---

१. चंद्रबली पांडेय : विचार विमर्श, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००२ पृ० १३-१५।

२. Journal of the University of Bihar. Vol II Nov, 1956 pp1-6

३: गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद २६ तथा राग रामकली, पद ५।

४. कबीर-ग्रंथावली, काशी-संस्करण, पद २६०, पृ० १८६-७ तथा पद ६० पृ० २८२।

५. 'बहुत बरस तपु किआ कासी। मरनु भइआ मगहर को बासी॥'
तथा,'जिउ जल छोड़ि बाहरि भइओ मीना। पूरब जनम हउ तप का हीना॥
अब कहु राम कवन गति मोरी? तजीले बनारस मति भई थोरी॥'
—गुरुग्रंथ साहब, राग गउड़ी १५।

करते हैं। इससे पता चलता है कि कम से कम इनके जीवन का अधिकांश भाग काशी में ही अवश्य व्यतीत हुआ होगा ; फिर भी केवल इन बातों के ही आधार पर हम इनका काशी में ही उत्पन्न होना भी ठहरा नहीं सकते। क्योंकि उक्त "पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई" से इस विषय में पर्याप्त संदेह को स्थान मिलने लगता है। अनुमान करना पड़ता है कि इनकी जन्मभूमि कहीं संभवतः अन्यत्र रही होगी। हाँ, यदि उक्त 'पुनि' शब्द का अर्थ 'और तब' अथवा 'उसके अनंतर' न लगा कर सीधा 'पुनः' वा 'पुनर्वार' लगाया जाय, तो कह सकते हैं कि पहले काशी में रह कर ये किसी कारण पर्यटन करते हुए मगहर गये होंगे। वहाँ संभवतः अपनी साधना में कुछ सफलता पाने के अनंतर फिर से काशी लौट कर रहने लग गए होंगे। उक्त पूरे पद का मुख्य तात्पर्य भी इनका भगवान् के ऊपर अपना दृढ़ भरोसा तथा तज्जनित बुरे वा भले स्थान-विशेष के प्रति अपनी सम-दृष्टि का प्रकट करना जान पड़ता है। काशी अथवा मगहर का उल्लेख यहाँ प्रसंगवश ही हुआ है। अपने इस भाव को इन्होंने कई स्थलों पर अन्यत्र[१] भी व्यक्त किया है और एक पद[२] में तो यहाँ तक कह डालते हैं कि स्थान-विशेष के महत्त्व की झूठी धारणा को वे दूर करके ही छोड़ेंगे।

जन्म-स्थान

केवल "पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई" के आधार पर इन्हें मगहर में जन्म लेने वाला कहने में फिर एक कठिनाई 'दरसनु पाइओ' के कारण भी पड़ती है। 'दर्शन पाने' का सीधा-सादा अर्थ किसी दूसरे मान्य व्यक्ति वा इष्टदेव आदि के साक्षात् करने का ही हो सकता है, जन्म ग्रहण करने का नहीं। यदि प्रसंगवश 'मगहर का दर्शन' अर्थ लगाया जाय, तो भी कुछ खींचातानी ही जान पड़ेगी। अतएव केवल इतने ही संकेत के आधार पर इनकी जन्म-भूमि का मगहर में निश्चित कर देना उचित नहीं। इसी प्रकार 'बनारस गज़ेटियर' में उल्लिखित उक्त बेलहरा गाँव को भी केवल शब्द-साम्य के आधार पर इनकी जन्मभूमि ठहराने में हम असमर्थ हैं। 'बनारस गज़ेटियर' के रचयिता ने अपने उक्त उल्लेख का कोई विशेष कारण नहीं बतलाया है। कबीर-पंथ के

---

१. 'किआ कासी किआ मगहर ऊखर रामु रिदै जउ होई।'

—गुरुग्रंथ साहब, राग धनासरी ३।

'जैसा मगहरु तैसी कासी हम एकै करि जानी।', वही, राग रामकली ३।

२. 'चरन बिरद कासी का न देहूं, कहै कबीर भल नरकहिं जैहूं।'

—कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद २६०, पृ० १८७।

अनुयायियों में से भी किसी को आज तक उक्त गाँव के विषय में ऐसा अनुमान करते अथवा उसे कबीर साहब का जन्म-स्थान होने के कारण पवित्र स्थल मानते हुए नहीं सुना गया है। कबीर-पंथियों की ओर से आज तक उसकी उपेक्षा इस विषय में विशेष-रूप से संदेह प्रकट करती है। केवल शब्द-साम्य के कारण उनका भ्रम में पड़ कर बेलहरा के स्थान पर लहरतारा को ही स्वीकार कर लेना तथा लगभग ५०० वर्षों तक 'सत्य' का पता न पाना असंभव-सा जँचता है। इसके विपरीत काशी के साथ कबीर साहब के संबंध का पता हमें बहुत पहले से ही मिलता आ रहा है। इनके विषय में चर्चा करनेवाले अनंतदास[1] से लेकर धर्मदास[2] आदि प्रायः सभी पुराने लेखकों ने इन्हें इस प्रकार काशी-निवासी के रूप में चित्रित किया है कि इसके विरुद्ध प्रचुर परिमाण में सामग्री प्राप्त किये बिना इन्हें अन्यत्र का रहनेवाला वा जन्म-ग्रहण करनेवाला सहसा स्वीकार कर लेना समीचीन नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय जहाँ तक कबीर साहब के जन्मस्थान के कहीं मिथिला में निर्धारित करने का प्रश्न है ऐसा मत प्रकट करने वाले ने अधिकतर खींचातानी से काम लिया है और जिन पंक्तियों को उस लेखक ने प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है उनमें से कई एक संदिग्ध भी ठहरायी जा सकती हैं[3]।

मगहर : मृत्यु-स्थान

मगहर को इनका मृत्यु-स्थान मानने के विषय में भी इनकी कुछ रचनाओं से संकेत मिलता है। इन्होंने स्वयं कहा है कि सारा जीवन काशी में व्यतीत करके भी "मरती बार मगहर उठि आइआ" तथा "मरनु भइआ मगहर को बासी[4]"। एक अन्य स्थल पर भी "जउ तनु कासी तजहि कबीरा, रामइअै कहा निहोरा" कह कर "किआ कासी, किआ मगहर ऊखरु राम रिदै जउ होई"[5] बतलाया गया है। फिर भी कबीर साहब के उक्त कथन को कुछ लोग एक साधारण उद्गार-सा समझ कर इनके मगहर में ही मरने के विषय में संदेह प्रकट करते हैं।[6] उनकी

---

१. 'कासी बसै जुलाहा एक। हरि भगतिन की पकरी टेक ॥'
—कबीर साहब की परचई।

२. 'प्रगट भये कासी में दास कहाइया।'—धनी धरादास की शब्दावली, वे० प्रे०, पृ० ३।

३. दे० सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग भाग; ४३, अंक ४, पृ० ७१-८५।

४. गुरुग्रंथ साहब, राग गउड़ी, पद १५।

५. गुरुग्रंथ साहब, राग धनासरी, पद ३।

६. डॉ० मोहन सिंह : कबीर हिज बायोग्राफी, पृ० ४१-२।

इस धारणा का कारण कबीर साहब की दो समाधियों का पुरी (जगन्नाथ) तथा रतनपुर (अवध) में वर्तमान होना भी कहा जा सकता है। इन दोनों समाधियों का उल्लेख अबुल फजल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'आईन-ए-अकबरी'[1] में किया है और विशेषकर रतनपुरवाली समाधि की चर्चा 'खुलासातुत्तवारीख़'[2] तथा शेर-अली 'अफ़सोस' की पुस्तक 'आरायिशे मोहफ़िल'[3] में भी पायी जाती है। इन्ही बातों के आधार पर कहा जाता है कि "कबीर मुसलमानी ढंग पर दफ़नाये अवश्य गये। परन्तु मगहर में नहीं. . .(उनका) शव रतनपुर में दफ़नाया गया'[4] मगहर की कब्र को सच्ची कब्र न मानने का कारण एक यह भी वतलाया जाता है कि 'धनी धरमदासजी की शब्दावली'[5] में संगृहीत एक पद की पंक्ति "खोदि के देखी कबुर, गुर देह न पाइया। पान फूल लै हाथ से न फिरि आइया" के अनुसार वीरसिंह बघेल को उक्त समाधि में कबीर साहब का शव उपलब्ध नहीं हुआ था, जान पड़ता है कि उनके मुसलमान शिष्यों ने उसे पहले से ही हटा कर अन्यत्र गाड़ दिया था। परन्तु इसी 'शब्दावली' में आये हुए एक दूसरे पद की पक्ति "मग-हर में एक लीला कीन्ही, हिन्दू तुरुक व्रतधारी। कबर खोदाइ के परचा दीन्हों मिटि गयो झगरा भारी"[6] से यह भी सूचित होता है कि उक्त कब्र के भीतर शव का न पाया जाना कबीर साहब की लीला का परिणाम था। इसी कारण उसमें शव की जगह केवल पान-फूल पाये गए थे। परंपरा के अनुसार उक्त कब्र के स्थान पर कबीर साहब द्वारा मरने के पहले ओढ़ ली गई चादर की चर्चा की जाती है। उसके उठाये जाने के समय उनके हिन्दू तथा मुसलमान दोनों प्रकार के शिष्यों का उपस्थित रहना भी कहा जाता है। अतएव, गुरु-देह के उक्त रूप में लुप्त हो जाने की बात को श्रद्धालु भक्तों द्वारा की गई निरी कल्पना न समझ उसे ऐतिहासिक घटना-सा महत्त्व देना, तथा केवल इसी एक प्रसंग के आधार पर कबीर साहब के शव को मगहर से हटाकर उसके लिए वहाँ 'नकली कब्र' बना देने तथा शव के वास्तव में रतनपुर में ही मुसलमानों द्वारा दफ़नाये जाने का अनुमान

---

१. आईन-ए-अकबरी, कर्नल एच० एस० जेरेट का अनुवाद, भाग २, कलकत्ता १८६१, पृ० १२६-१७१।

२. खुलासातुत्तवारीख़, दिल्ली, पृ० ४३।

३. विचार विमर्श, पृ० ६३ में उद्धत।

४. चंद्रबली पांडेय : विचार विमर्श, हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग, पृ० १५।

५. धनी धरमदासजी की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, शब्द ६, पृ० ४।

६. वही, शब्द १०, पृ० ४।

करना ठीक नहीं जान पड़ता। यहाँ पर इस संबंध में यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि जिस प्रकार रतनपुर की समाधि के भीतर कबीर साहब के शव का गाड़ा जाना संभव समझा जाता है, उसी प्रकार हम चाहे तो पुरी (जगन्नाथ) वाली समाधि के लिए भी अनुमान कर सकते हैं। क्योंकि इस समाधि के प्रसंग में भी 'आईन-ए-अकबरी'[1] में कबीर "मुवहिद आंजा आसूद:" कह कर उनके वहाँ दफनाये जाने की पुष्टि की गई है और टैवर्नियर[2] ने भी उसकी चर्चा की है। परन्तु यह बात सच्ची नहीं जान पड़ती, न आज तक इसे किसी प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। अतएव अधिक संभव है कि कबीर साहब मगहर में मर कर वहीं मुसलमानी प्रथानुसार दफ़नाये भी गये हों और उसी का चिह्न हमें वहाँ आज भी उपलब्ध है। कोरी कल्पना के आधार पर रतनपुर वा पुरी की स्मारक समाधियों में उनका पता लगाना व्यर्थ है।

सारांश

आज तक की उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हमें इससे अधिक अनुमान करने का कोई अधिकार नहीं जान पड़ता कि कबीर साहब का जन्म संभवत: काशी में अथवा उसके आस-पास ही हुआ था और इन्होंने अपने जीवन का अधिकाश वही पर व्यतीत किया था। उसके अंतिम दिनों में काशी छोड़ कर ये मगहर चले गए थे जहाँ ये समाधिस्थ भी किये गए थे। मगहर की जगह 'मगह' शब्द का आरोप कर कुछ लोगों ने कबीर साहब के मगध में मरने की भी कल्पना[3] की है। इसके द्वारा इनसे "मगहर मरै सो गदहा होय"[4] वाली प्रसिद्धि को असत्य ठहराने की बात भी सोची है। कहते हैं कि दक्ष प्रजापति के याग में सती के दग्ध होने पर भगवान् शंकर ने ऐसा शाप दिया था कि जो मगह में मरेगा वह गदहा होगा[5]। किंतु कबीर साहब की रचनाओं में 'मगहर' शब्द ही स्पष्ट दीख पड़ता है और उस स्थल को इन्होंने केवल 'ऊखरु' वा ऊसर कहा है। इसके सिवाय जैसा इसके पूर्व कहा जा चुका है मगहर नाम का गाँव बस्ती जिले में आज भी वर्तमान है जहाँ पर इनकी समाधि बहुत काल से बनी हुई है। किंतु मगध में इसका कोई चिह्न उपलब्ध नहीं।

---

१. आईन-ऐ-अकबरी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८६६, पृ० ८२।

२. टैवर्नियर ; ट्रैवल्स, भा० २, पृ० २२६।

३. शिवव्रतलाल : भक्तमाल, पृ० २३२-३।

४. कबीर-बीजक, शब्द १०३।

५. श्री सद्गुरु कबीर चरितम्, श्लोक ७, पृ० ५६४।

(३) जाति जुलाहा

कबीर साहब की रचनाओं से स्पष्ट जान पड़ता है कि ये जाति के जुलाहे थे। ये अपने को "जाति जुलाहा नाम कबीरा[१]" तथा "कबीर जुलाहा"[२] बतलाते हैं। कभी-कभी[३] "कासी क जुलहा" द्वारा अपने निवास-स्थान के साथ-साथ भी ये यही परिचय देते हैं। इनका "हम धरि सूतु तनहि नित ताना"[४] तथा "बुनि-बुनि आप आपु पहिरावउ"[५] भी सूचित करता है कि केवल जाति से ही ये जुलाहे न थे, अपितु इनके घर उक्त जाति का व्यवसाय भी हुआ करता था। इन्होंने "तनना बुनना"[६] त्याग कर भक्ति-निरत हो अपने "सभु जगु आनि तनाइओ ताना"[७] विशिष्ट 'कोरी', 'राम' को अंत में पहचान लेने का वर्णन भी "जोलाहे घरु अपना चीन्हा" कह कर ही किया है। इनकी इस आध्यात्मिक सफलता की ओर संकेत करते हुए इनके समकालीन समझे जानेवाले संत रैदास[८] धन्ना[९] ने भी इन्हें 'जुलाहा' ही माना है। इसके सिवाय कबीर साहब के जाति के अनुसार जुलाहा होने की पुष्टि गुरु अमरदास[१०] अनंतदास[११], रज्जबजी[१२], तुकाराम[१३]

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद २७०, पृ० १८१।

२. वही, पद १३४, पृ० १३१।

३. गुरुग्रंथ साहब, राग आ० २६ तथा ग० ५।

४. वही, राग आ० २६। ५. वही, राग भैरउ ७।

६. वही, राग गुजरी २।

७. गुरुग्रंथ साहब, राग आ० ३६।

८. 'जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि, मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप अैसी करी पूत अैसी करी, तिहूरे लोग परसिध कबीरा।
—वही, राग मलार २।

९. 'बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा,
नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गभीरा।
—वही, राग आसा २।

१०. 'नामा छीपा कबीरु जोलाहा पूरे गुर ते गति पाई'।
—वही, सिरी राग महला ३, पद २२।

११. 'कासी बसै जुलाहा एक, हरि भगतिन की पकरी टेक'।
—कबीर साहब की परचई।

१२. जुलाहा ग्रभे उत्पन्यो, साध कबीर म्हामुनि। सर्वंगी, साध महिमा, १३।

१३. मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० २६५-६।

आदि की रचनाओं तथा खज़ीनतुल असफ़िया,[१] दबिस्ताने मज़ाहिब,[२] अनुराग सागर,[३] कबीर-कसौटी[४] तथा डॉ० भांडारकर,[५] रे० वेस्टकाट[६] आदि के मतों से भी भली भाँति हो जाती है। फिर भी इस विचार से कि केवल जाति से जुलाहा होते हुए भी किसी का धर्म से मुसलमान होना भी अनिवार्य नहीं और विशेष कर कबीर साहब के संबंध में एक जुलाहे दंपति के पोष्यपुत्र होने की जन-श्रुति भी बहुत दिनों से प्रसिद्ध है। कुछ लोगों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इनके माता-पिता को भी इस्लाम-धर्म का अनुयायी ठहराने का यत्न किया है। इस विषय में रैदास की पंक्तियों से यह विदित होता है कि कबीर साहब के कुल में ईद तथा बकरीद के त्योहार मनाये जाते थे और शेख़, शहीद तथा पीरों का मान था। वहाँ गो-वध भी हुआ करता था और यही बात प्रायः अक्षरशः संत पीपाजी की एक रचना[७] से भी प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त रज्जबजी की पंक्तियों से सिद्ध है कि इनकी उत्पत्ति जुलाहिन के गर्भ से ही हुई थी और इस बात का समर्थन 'कबीर-कसौटी' से भी स्पष्ट शब्दों में किया जा सकता है। कबीर साहब की रचनाओं में यत्र-तत्र पाये जानेवाले मुसलमानी संस्कारों द्वारा प्रभावित मुर्दों के दफ़नाने, अल्लाह द्वारा एक ही नूर पैदा किये जाने, "ख़ाक एक सूरति बहुतेरी" बतलाने, "करम करीमा लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाई" आदि कहने से भी यही परिणाम निकलता है। जान पड़ता है कि ऐसी बातें इनके उद्गारों के साथ-साथ स्वभावतः प्रकट हो जाया करती थीं।

इतना ही नहीं, इनके विषय में लिखते समय 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादासजी ने बतलाया है कि जब इनके लिए आकाशवाणी हुई कि तुम स्वामी रामानंद का शिष्य बन जाओ, तब इन्होंने "देखे नहीं मुख मेरो मानिके मलेछ मोको"[८] कहा था। इसी प्रकार जब तत्त्वा, जीवा नामक दो दक्षिणी पंडितों

---

१. कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ, पृ० २५-६।
२. 'कबीर जुलाहानजाद कि अजमोवहिदान मशहूर हिन्द अस्त', पृ० २००।
३. 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी। वे० प्रे०, ८४।
४. 'माया तुरकनी बाप जोलाहा, बेटा भक्त भये'। पृ० १३।
५. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ६७।
६. कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ, पृ० ३५।
७. जाकै ईदि बकरीदि नित गऊ रे। बध करै मानियै सेष सहीद पीरा।
बाप वैसी करी पूत ऐसी धरी। नांव नवखंड परसिध कबीरा॥
—सर्वांगी, भजन प्रताप, पद २२।
८. श्री रूपकला : भक्तमाल, भक्तिसुधा स्वाद तिलक सहित,

ने इनका शिष्यत्व स्वीकार कर अपनी जाति से बहिष्कृत होने पर अपनी कन्या के विवाह के संबंध में इनसे सम्मति माँगी थी, तब इन्होंने परामर्श दिया था कि "दोउ तुम भाई करौ आपु में सगाई",[1] जिससे सिद्ध है कि इनकी विचार-धारा पर भी मुसलमानी संस्कृति की छाप बिलकुल स्पष्ट थी।

हिन्दू

परन्तु कबीर साहब हिन्दुओं के उच्चतम आध्यात्मिक विचारों के भी प्रबल समर्थक थे। इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में उक्त सिद्धांतों द्वारा प्रभावित बातें भी दी हैं। इस कारण उक्त प्रमाणों के होते हुए भी कतिपय विद्वानों ने इनके मूलतः इस्लाम-धर्मी होने में संदेह किया है। प्रसिद्ध विद्वान् विलसन का अनुमान है कि हिन्दू भावनाओं को स्पष्ट रूप में अपनानेवाले कबीर साहब का जाति तथा धर्म से पहले भी मुसलमान होना यदि असंभव नहीं, तो विचार-विरुद्ध अवश्य है[2]। वे यहाँ तक मानने के लिए तैयार हैं कि इनका नाम 'कबीर' भी काल्पनिक ही रहा होगा। इस बात को अनेक कबीर-पंथियों ने भी ठीक माना है और कबीर साहब की उत्पत्ति किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से बतला कर कबीर शब्द की व्युत्पत्ति भी 'करवीर' से कर डाली है। कहा जाता है कि जन्म-धारण करने के पश्चात् नवजात शिशु एक मुस्लिम-दंपति को संयोगवश मिल गया था। उन्होंने उसे अपनी संतति के रूप में पाला-पोसा था। वास्तव में हिन्दू संस्कृति के वातावरण में पले हुए उक्त कबीर-पंथियों को कबीर साहब के कुल तथा मूल धर्म का मुसलमानी होना असह्य-सा प्रतीत हुआ है। उन्होंने अपनी धारणा की पुष्टि में बहुत-सी कथाओं की भी कल्पना कर डाली है। इस प्रकार की कुछ कथाएँ इनका गर्भ से जन्म न लेकर 'केवल प्रकट होना' सिद्ध करती हैं[3]। फिर भी कबीर साहब के कुल का हिन्दू होना किसी भी पुराने भक्त की रचनाओं अथवा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर प्रमाणित नहीं होता। भक्तों की प्रशंसा में सदा चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन करनेवाले 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादासजी तथा राघोदासजी भी इस संबंध में मौन ही दीख पड़ते हैं।

कोरी वा जोगी

कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत लिखित इस्लामी तथा हिन्दू

लखनऊ सं० १६८३, पृ० ४८६।

१. वही, पृ० ५४४।

२. रे० वेस्टकाट : कबीर ऐंड दि कबीर-पंथ, कानपुर सन् १६०७, पृ० २६।

३. कबीर चरित्रबोध, बोधसागर, बंबई सं० १६६३, पृ० ६।

विचारों की प्रचुरता को साथ ही साथ पाकर कुछ विद्वानों ने यह भी अनुमान किया है कि इनका मूल कुल पहले वास्तव में हिन्दू ही रहा होगा। मुसलमानी आक्रमण के प्रभाव में आकर पीछे से उसने धर्मांतर ग्रहण कर लिया होगा। कबीर साहब के दो पदों[1] में क्रमशः आये हुए "कहै कबीरा कोरी" तथा "सूतै सूत मिलाये कोरी" को देखकर डॉ० बथ्र्वाल ने कल्पना की है कि "कोरी ही मुसलमान धर्म में दीक्षित हो जाने पर जुलाहे हो गए" तथा उक्त कोरियों को जुलाहा हुए अभी इतने अधिक दिन नहीं हुए थे कि 'कोरी' कहलाना वे अपना निरादर समझें"। इसके सिवाय कबीर साहब द्वारा योगसाधना-संबंधी अनेक प्रसंगों के उल्लेख किये जाने के कारण वे अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीन तथा कोरी, किंतु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था[2]।" ये योगी वा जुगी कहलानेवाले लोग असम, बंगाल, बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं। इनके विषय में खोज करनेवाले विद्वानों का अनुमान है कि ये पहले वास्तव में नाथ-पंथी थे, जो मूलतः बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के कारण ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा के विरोधी थे, वर्णभेद में विश्वास नहीं रखते थे, अपना निजी व्यवसाय, विशेषकर कातने तथा बुनने का किया करते थे। उनके यहाँ मरने के उपरांत शव का संस्कार जलाने तथा गाड़ने, दोनों प्रकार से हुआ करता था। डॉ० बथ्र्वाल की कल्पना का आधार, इसी कारण कबीर साहब द्वारा अपने लिए किया गया 'कोरी' शब्द का उक्त प्रयोग तथा इन 'जुगी' जातिवाले लोगों के विचारों का उनके साथ साम्य ही प्रतीत होता है। कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण अथवा सामाजिक कारण उक्त सम्मिश्रण के संबंध में वे नहीं देते। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर साहब की जाति के विषय में इन्हीं बातों पर विचार करते हुए कुछ अधिक विस्तार से लिखा है। अंत में वे इस प्रकार का अनुमान करते हैं कि "कबीर दास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे, वह उस वयनजीवी नाथ-मतावलंबी गृहस्थ-योगियों की जाति का मुसलमानी रूप था जो सचमुच ही 'ना हिन्दू ना मुसलमान' थी[3]"। "कबीर दास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले से योगी-जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी"।

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ३४६ पृ० २०५ तथा पद ४६ पृ० २७६।

२. डॉ० पी० द० बथ्र्वाल : योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ, सं० २००३, पृ० १२६।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई सन् १९४२ ई०, पृ० ९।

ये जातियाँ हिन्दू-समाज में स्वभावतः उच्च श्रेणी की नहीं गिनी जाती थीं, अपितु नीच वा अस्पृश्य तक समझी जाती थीं और इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।[1] इस प्रकार द्विवेदीजी के अनुसार कबीर साहब का कुल कोरी से जुलाहा बन कर जुगी लोगों द्वारा प्रभावित नहीं था, अपितु सीधे जुगियों का ही इस्लामी रूप था।

सारांश

उक्त दोनों मतों के स्थापित करनेवालों का मुख्य उद्देश्य कबीर साहब की रचना में पाये जानेवाले कतिपय परस्पर-विरोधी हिन्दू तथा मुसलमानी संस्कारों में सामंजस्य का कोई कारण ढूँढ़ निकालना ही जान पड़ता है। परन्तु कबीर साहब के वास्तविक कुल की खोज कर उसकी वंशानुगतिक परंपरा के संबंध में ऐतिहासिक तथ्य की जाँच करने का काम केवल इन्हीं के द्वारा सिद्ध होता हुआ नहीं दीखता। यह संभव है और अधिक संभव है कि जुगी कहलानेवाली जाति पहले नाथ-मत की अनुयायिनी रही होगी। ऐसी अनेक जातियों ने किसी न किसी कारण मुसलमानी प्रभाव में आकर कहीं-कहीं सामूहिक रूप में धर्मांतर ग्रहण किया होगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी तथा मगहर के साथ विशेष संबंध रखनेवाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सारनाथ और कुशीनगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आसपास निवास करनेवाले बौद्धों वा उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। संभव है कि उसके सूत कातने तथा बुनने की जीविका भी पूर्व समय से वैसे ही चली आ रही हो और उसका नाम भी इसी कारण, कोरी अथवा किसी अन्य ऐसी वयनजीवी जाति का ही रहा हो। फिर भी जब तक हमें कबीर साहब के माता-पिता, इनके पालन-पोषण करनेवाले अथवा इनके पूर्व-पुरुषों का वास्तविक पता ज्ञात नहीं हो जाता, न उनकी पूरी जाँच हो जाती, तब तक इन्हें उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम केवल जुलाहा और संभवतः इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का ही बालक मान सकते हैं।

वही

इस विषय में यहाँ पर एक और बात भी विचारणीय है। कबीर साहब के जैसे हिन्दू, मुस्लिम वा बौद्ध धर्मों के अनुकूल विचारों का एक ही व्यक्ति द्वारा अपनाया जाना केवल कुल-क्रम के प्रभाव से ही संभव नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न संस्कारों तथा सिद्धांतों की अभिव्यक्ति उस शिक्षा वा परिस्थिति-

---

१. कबीर, पृ० १४।

विशेष पर ही निर्भर है जो किसी बालक के ऊपर आगे चल कर प्रभाव डाला करती है। कबीर साहब के पीछे इस्लाम धर्मानुयायी कुलों में ही कुछ ऐसे प्रसिद्ध पुरुषों का भी जन्म हुआ जिनकी रचनाओं को पढ़ कर हमें उनके मुसलमान होने में पूर्ण संदेह हो सकता है। अब्दुल रहीम खानखाना 'रहीम' के मूलतः शुद्ध पठान कुल का होना इतिहास द्वारा प्रमाणित है। भक्त 'रसखान' के लिए प्रसिद्ध ही है कि उन्होंने अपने दिल्ली के 'वादसा वंस' की 'ठसक' का क्षण में ही त्याग कर केवल 'प्रेमदेव' की 'छवि' देखते ही अपना जीवन परिवर्तित कर दिया था। इसी प्रकार खुरासान के निवासी शाह जलालुद्दीन 'वसाली' ने भी केवल रामकथा को श्रवण कर ही भगवद्भक्ति स्वीकार कर ली थी। इनके पूर्व-पुरुषों के पहले हिन्दू वा भक्त रहने पर कभी विचार तक भी नही किया जाता। कबीर साहब के आदर्शों पर निष्ठा रखनेवाले दादूदयाल, रज्जबजी, दरियासाहब (मारवाड़ी), यारी साहब जैसे और भी अनेक संत हुए हैं जो निश्चित रूप से मुसलमान कुलों में ही उत्पन्न हुए थे। किंतु उनके भी पूर्व-पुरुषों का मूलतः हिन्दू वा अन्य धर्म का होना अभी तक सिद्ध नहीं है। अतएव कबीर साहब की रचनाओं में पाये जानेवाले भिन्न-भिन्न मतों तथा संस्कारों का सामंजस्य इनके केवल किसी धर्मांतरित कुल मात्र के ही सहारे न करके इनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्संग, प्रतिभा अथवा अन्य ऐसे कारणों के बल पर भी किया जा सकता है और ऐसा करना ही यहाँ पर अधिक न्यायसंगत जान पड़ता है। प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में उक्त प्रकार के केवल धर्मांतरण की कल्पना उतनी महत्व-पूर्ण नहीं हो सकती।

(४) माता-पिता

माता

कबीर साहब के माता-पिता के संबंध में श्रद्धालु कबीर-पंथी प्रायः कुछ भी कहना नहीं चाहते। उनका दृढ़ विश्वास है कि ये नित्य, अमर तथा अजर हैं। ये सदा सत्य-लोक में निवास करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक युग में अवतार धारण करते हैं। तदनुसार कलियुग में भी ये कबीर के नाम से काशी के निकट लहरतारा तालाब में एक अलौकिक ज्योति के रूप में अवतीर्ण हुए थे। ये किसी के औरस पुत्र नहीं थे, अपितु उक्त तेज ही बालक रूप में पहले-पहल नीरू तथा नीमा नामी जुलाहे-दंपति को मिला था। इन्होंने उसे अपने घर लाकर पुत्रवत् पालन-पोषण किया और उनके घर अपने बचपन से ही रहते आने के कारण वे एक जुलाहा शरीरधारी कहला कर प्रसिद्ध हो गए। परन्तु यह धारणा केवल कबीर-पंथियों के समाज तक ही सीमित है और उनमें से भी बहुत-से लोग

कबीर साहब के माता-पिता के संबंध में कभी-कभी कुछ कल्पना करते हुए दीख पड़ते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि कबीर साहब की माता वास्तव में एक विधवा ब्राह्मणी थी, जो संभवतः अपने पिता के साथ स्वामी रामानंद के दर्शनों के लिए गयी थी। उसके प्रणाम करने पर उक्त स्वामीजी ने उसे 'पुत्रवती भव' कहकर आशीर्वाद दे दिया था और उसी के परिणाम स्वरूप कबीर साहब का उसके गर्भ से जन्म हुआ था। महाराज रघुराज सिंह का अनुमान[1] है कि उक्त विधवा ब्राह्मणी स्वामी रामानंदजी की सेवा में ही रहा करती थी और किसी दिन उनकी ध्यानस्थ दशा में उसे धोखे से उक्त आशीर्वाद दे देने के कारण गर्भ रह गया था। युवती विधवा ने उनसे वैसे वचन सुनकर उनके अनौचित्य पर कुछ विरोध-सूचक शब्द भी कहे थे, किंतु स्वामीजी ने उसे यह कह कर आश्वासित कर दिया था कि तुम्हारा पुत्र हरि-अनुरागी होगा। उसकी उत्पत्ति तुम्हारे गर्भ से होने के कारण तुम्हें कोई कलंक भी नहीं लगेगा। फिर भी पुत्रोत्पत्ति के समय में आकाश में नगाड़े का शब्द होते रहने पर भी उसके हृदय में अत्यंत दुःख हुआ। उस बालक को लेकर उसे वह कहीं दूर फेंक आई, जहाँ से जाती हुई एक जुलाहिन ने उसे अनाथ समझ अपने यहाँ उसका लालन-पालन किया। इसी कथा को एक अन्य रूप में इस प्रकार भी कहा गया है कि उक्त विधवा युवती वास्तव में स्वामीजी की फुलवारी में फूल चुनने गई थी वहाँ पर उसकी गोदी में भरे हुए फूलों को देखकर स्वामीजी के पूछने पर उसने कह दिया था कि "पेट है, फूल नहीं"। स्वामीजी ने इसी कारण 'तथास्तु' मात्र कह दिया था और उस युवती के इस प्रकार गर्भिणी हो जाने पर अंत में कबीर साहब का जन्म हुआ था[2]।

आलोचना

परन्तु कबीर साहब की रचनाओं अथवा इनके समसामयिक वा कुछ दिनों पीछे आने वाले अन्य संतों के ग्रंथों से भी उक्त कथा की कोई पुष्टि नहीं होती, न किसी प्राचीन इतिहासकार ने ही इस ओर कोई संकेत किया है। जान पड़ता है कि अंध-विश्वासी भक्तों ने मानवीय रजोवीर्य द्वारा कबीर साहब के आविर्भाव को उनका महत्त्व कम करनेवाला समझ कर अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुसार उक्त प्रकार की कथाएँ गढ़ ली हैं जिन पर विश्वास कर लेना ऐतिहा-

---

१. महाराज रघुराज सिंह : भक्तमाला रामरसिकावली, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२५ में उद्धृत।

२. डॉ० पी० द० बर्थ्वाल : योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ, बनारस सं० २००३, पृ० १०७।

सिक सत्य के खोजियों के लिए अत्यंत कठिन है। कबीर साहब ने एकाध पदों में इतना अवश्य कहा है कि ये पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे, किंतु नीच तथा तपोहीन होने के कारण राम ने इन्हें कर्मानुसार जुलाहा बना दिया ।[1] फिर भी यदि उन पंक्तियों पर कुछ ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो उनसे कबीर साहब की आत्म-कथा की जगह कदाचित् इनके समकालीन ब्राह्मणों के प्रति एक प्रकार की व्यंग्य-भरी चेतावनी की ही ध्वनि लक्षित होगी । उन पंक्तियों से इन्होंने ब्राह्मणों का जुलाहों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ होना न बतला कर वास्तव में सत्कर्मों का महत्त्व दरसाया है।

पिता

इधर 'ज्ञान-सागर' नाम के एक कबीर पंथी ग्रंथ में कबीर साहब के पूर्व-जन्म में ब्राह्मण होने की बात पर जोर न देकर, इनके पोषक पिता नीरू को ही पूर्व-जन्म का ब्राह्मण कहा गया है। उक्त ग्रंथ के अनुसार जब नीरू जुलाहा बालक कबीर को लेकर अपने घर गया और वहाँ पर बच्चे का बिना दूध पिये भी हृष्ट-पुष्ट होना देखा, तब उसे महान् आश्चर्य हुआ। उसने स्वामी रामानंद के पास जाकर इसका कारण पूछा। इस पर उक्त स्वामीजी ने उत्तर दिया[2] कि "वास्तव में तुम अपने पूर्व-जन्म में ब्राह्मण थे, किंतु किसी प्रकार भगवान् की सेवा में भूल-चूक होने के कारण तुम्हें जुलाहा होना पड़ा है। यह भगवान् की कृपा ही समझो कि तुम्हें उद्यान में पुत्र की प्राप्ति हुई है।" स्वामी रामानंद द्वारा कहलाये गए इस वचन से ग्रंथकर्ता का उद्देश्य कबीर साहब के पोषक पिता का पूर्व-जन्म में ब्राह्मण होना सिद्ध करना तो लक्षित होता ही है, इसके साथ 'कबीर-ग्रंथावली' से उद्धृत उक्त कबीर साहब की पंक्तियों से कुछ विचित्र समानता भी दीख पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि उसने उन्हें देख कर कर ही

---

१. 'पूरब जनम हम बाम्हन होते, वोछै करम तप हीनां ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ॥'
—कबीर-ग्रंथावली, पद २५०, पृ० १७३ ।
'कहत कबीर मोपह भगति 'उमाहा' । कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥'
—वही, पद २७१ पृ० १८१ ।

२. 'पूर्व जन्म तैं ब्राह्मण जाती । हरि सेवा कीन्हसि बहु भाँति ॥
कछु तुव सेवा हरि की चूका। तातै भया जुलाहा को रूपा ।
प्रीति प्रभु गहि तोरीं लीन्हा । तातें उद्यान में सुत दीन्हा ।'
—कबीर सागर, बंबई, पृ० ७४ ।

अपनी कल्पना के अनुसार उक्त कहानी निर्मित की है। एक कबीर-पंथी लेखक ने तो कबीर साहब के पोषक पिता और माता का क्रमश: गौरीशंकर तथा सरस्वती होना बतलाया है। उनकी जाति का ब्राह्मण होना कहा है। उसके अनुसार उन्हें यवनों ने बलपूर्वक मुसलमान बना दिया था तथा उनके नाम क्रमश: नीरू तथा नीमा रख दिये थे।[1]

मुस्लिम माता

कबीर साहब की रचनाओं में कुछ इस प्रकार के उल्लेख पाये जाते हैं जिनसे इनका अपनी माता के विषय में अपना उद्‌गार प्रकट करना लक्षित होता है। एक पद[2] की पंक्तियों द्वारा सूचित होता है कि कबीर साहब की अपनी जीविका के प्रति उदासीनता देख कर इनकी माता भविष्य की चिंता में भीतर ही भीतर रोया करती है। उसे आश्वासन देते हुए ये कहते हैं कि सबके पालन-पोषण करनेवाले भगवान् हैं। इसी प्रकार एक दूसरे पद[3] में ये कुछ संन्यासियों के सम्बन्ध में अपनी माता से निंदा के शब्द कहते हुए से समझ पड़ते है। इसके अतिरिक्त एक तीसरे पद४ की कुछ पंक्तियों से जान पड़ता है कि इनकी माता न केवल इनके जीविका के प्रति उदासीन हो जाने के कारण दुखी है, अपितु एक हरि-भक्त की भाँति अपने घर को लीप-पोत कर स्वच्छ तथा पवित्र करते रहने और सदा हरि भक्ति में ही इनके निमग्न रहने की भी शिकायत करती है। इनके रामनाम लेने को वह अपने कुल-धर्म के विपरीत बतलाती हुई उसके कारण अपने परिवार के सुख से वंचित हो जाने की भी चर्चा करती है तथा इन्हें भला-बुरा

१' 'सद्‌गुरु' श्री कबीर चरितम्', श्लोक १२, पृ० ६७।

२: 'मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई
तनना बुनना सभु तजिओ कबीर। हरि का नामु लिख लिओ सरीर॥
... ...
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई।'
—गुरुग्रंथ साहब, राग गूजरी २।

३. 'कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडीअन मेरी जाति गंवाई'
—गुरुग्रंथ साहब, राग आसा १३।

४. 'निति उठि कोरी गागरि आनै, लीपत जीउ गइओ।
ताना बाना कछू न सूझै, हरि हरि रस लपटिओ।
हमारे कुल कउने रामु कहिओ। जबकी माला लई निपूते तबते सुखु न भइओ।'
—वही, राग बिलावल ४।

तक कह डालती है। अतएव यदि ये पंक्तियाँ सचमुच इनके आत्म-चरित से संबद्ध हैं, तो स्पष्ट है कि कबीर साहब का अपनी माता के साथ गहरा धार्मिक मतभेद रहा। इनके सदा भक्ति में लीन रहने के कारण वह इनके घरेलू प्रपंचों से दूर रहने के स्वभाव को कुटुंब के भविष्य के लिए बाधक समझती रही। यदि चाहें तो इन पंक्तियों के सहारे हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि रामनाम के प्रति उक्त प्रकार की अनास्था प्रकट करना इनकी माता का हिन्दू-धर्म से भिन्न धर्म की अनुयायिनी होना भी सिद्ध करता है और इसी कारण हो सकता है कि इनकी माता मुसलमानिन ही रही हो। यदि वह स्त्री नीमा ही रही हो, तो भी आश्चर्य नहीं। अपनी माता के साथ इनका मतभेद कदाचित् कलह के रूप में भी बढ़ गया था जिस कारण इन्हें उसकी मृत्यु के अनंतर पूरी सांत्वना मिली थी। इस अनुमान का आधार हमें उस पद में मिलता है जिसमें इन्होंने "मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला" कह कर उसके मरण से अपनी प्रसन्नता प्रकट की है।[1] परन्तु कबीर साहब-जैसे रूपक-प्रेमी का इस प्रकार कहना इनके माया-संबंधी उद्गार का भी बोधक हो सकता है—संभव है उक्त सभी बातें माया-परक ही सिद्ध हो जायँ।

'गोसाईं' पिता

परन्तु उक्त पद की ही कुछ पंक्तियों द्वारा ये अपने पिता के विषय में भी कुछ कहते जान पड़ते हैं। इनका कहना है कि "मैं अपने पैदा करनेवाले पिता की बलि जाता हूँ। वे एक 'बड्ड गोसाई' हैं और उन्होंने मेरे लिए सभी प्रकार के सुभीते की व्यवस्था करके मुझे आश्वासित किया है। मैं उन्हें कैसे भुला सकता हूँ। उन्होंने पंचों वा पंचेन्द्रियों से मेरा साथ छुड़ा दिया है और सतगुरु के मिलने पर मुझे अब जगत-पिता भी अच्छे लगने लगे हैं"।[2] परन्तु कबीर साहब के अपने पिता के लिए प्रयुक्त उक्त 'बड्ड गोसाई' शब्द से यह भी सूचित होता है कि वे कोई बहुत बड़े जितेन्द्रिय वा इन्द्रियातीत रहे होंगे और उनका प्रभाव अपने पुत्र के

---

१. गुरुग्रंथ साहब, राग आसा ३।

२. 'बापि दिलासा मेरो कीन्हा। सेज सुखाली मुखि अंम्रितु दीन्हा॥
तिसु बापुकउ किउ मनहु बिसारी। आगे गइआ न बाजी हारी॥
बलि तिसु बापै जिनि हउ जाइआ। पंचा ते मेरा संगु चुकाइआ॥
पिता हमारो बड्ड गोसाईं। तिसु पिता पहि हउ किउ जाई॥
सति गुरु मिले त मारगु दिखाइआ। जगत पिता मेरे मन भाइआ॥
—वही, राग आसा ३।

ऊपर एक साधारण पिता का सा ही न होकर इन्हें सांसारिक प्रपंचों से अलग कर इन्हें भगवान् के प्रति उन्मुख कर देने का भी रहा होगा। पद के पहले अंश की पंक्तियों से तो यही प्रतीत होता है कि उक्त पिता ने इन्हें माता के अभाव में भी खाने-पहनने और सोने का समुचित प्रबंध किया था और इसी कारण ये उनके बहुत अनुगृहीत हैं। किंतु आगे चल कर उक्त पिता में कुछ अन्य प्रकार के भी गुण दीखने लगते हैं और वे एक महापुरुष से भी जान पड़ते हैं। इसके सिवाय यदि उक्त 'बड्ड गोसाई' से इनका अभिप्राय परमेश्वर से लिया जाय, जैसा इनके कथन "तिसु, पिता पहि किंउकरि जाई" अर्थात् 'उस महान् के निकट मैं साधारण व्यक्ति वा अपराधी किस प्रकार पहुँच सकता हूँ' से भी सूचित होता है, तो उक्त सारी बातें एक रूपक-सी समझ पड़ेगी। हाँ, उक्त पिता तथा 'जगत-पिता' शब्दों पर अलग-अलग विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि वास्तव में इनका अभिप्राय 'बड्ड गोसाई' पिता का भी त्याग कर अब अपने मन में अधिक भले लगनेवाले 'जगत-पिता' परमेश्वर की ओर आकृष्ट होते जाने का ही है।

नीरू तथा नीमा

उक्त 'गोसाई' शब्द का अर्थ जितेन्द्रिय वा इन्द्रियातीत होने के कारण उनके प्रयोग की सार्थकता के लिए कबीर साहब के पिता को काया पर पूर्ण विजय पा लेनेवाले नाथ-मतावलंबी जोगियों वा जुगियों से धर्मांतरित होकर बना मुस्लिम जुलाहा मान लेने की भी प्रवृत्ति होती है। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उक्त धारणा के लिए अभी अन्य प्रकार के प्रमाण भी अपेक्षित हैं। जब तक हम इनके पिता के स्थान पर किसी निश्चित व्यक्ति को मान नहीं लेते, तब तक हम इस विषय में कोई अंतिम निर्णय देने में असमर्थ रहेंगे। नीरू तथा नीमा नाम के जुलाहा-दंपति अभी तक प्रायः सर्वसम्मति से इनके पोषक माता-पिता समझे जाते आये हैं। किसी-किसी ने इन्हें इनका औरस पुत्र मान लेने में भी संकोच नहीं किया है। फिर भी उक्त दोनों के संबंध में अभी तक कोई ऐतिहासिक खोज नहीं हो पाई। इसलिए रे० 'अहमद शाह ने इस विचार से कि पंजाब प्रदेश में 'नूरबफ' शब्द साधारण तौर पर मुस्लिम जुलाहे के लिए प्रयुक्त होता है और 'नीमा' शब्द नीचे दरजे की मुस्लिम स्त्रियों के लिए व्यवहृत होता है, उन दोनों को कबीर साहब के पोषक माता-पिता ही माना है। उनका अनुमान है कि स्वामी अष्टानंद जिन्हें कबीरपंथी-परंपरा के अनुसार कबीर साहब की अलौकिक ज्योति का सर्वप्रथम दर्शन हुआ था और जिन्होंने इस बात की सूचना पहले-पहल स्वामी रामानंदजी को जाकर दी थी, उनके वास्तविक

पिता थे। इन्होंने उनकी असली माता को हिन्दू-प्रथाओं के भय से अपनी स्त्री स्वीकार नहीं किया था। इस कारण बच्चे को एक अनाथ की दशा में किसी जुलाहे-दंपति द्वारा पालित-पोषित होना पड़ा था। किंतु ऐसी धारणाओं को उन्होंने भी अंतिम निर्णय नहीं माना है।[1]

(५) शिक्षा-दीक्षा

गुरु

कबीर साहब को किसी प्रकार की पाठशाला वा मक़तब में शिक्षा दी गई थी, इसके लिए कोई प्रमाण नहीं, न निश्चित रूप से यही बतलाया जा सकता है कि इन्हें किसी व्यक्ति-विशेष ने ही कभी अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने में कोई सहायता दी थी। प्रसिद्ध है कि इन्होंने कभी "मसि कागद छूयो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ" और कबीर-पंथियों की धारणा के अनुसार इनके विषय में कहा गया है कि "पाँच बरस के जब भये, कासी माँझ कबीर। गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर।" अर्थात् केवल पाँच वर्ष की अवस्था में ही ये सर्वज्ञान-संपन्न हो गए थे। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की बातें कहना अधिक से अधिक इनकी अलौकिक प्रतिभा का परिचायक मात्र ही हो सकता है।

कबीर के अक्षर-ज्ञान वा पुस्तकाध्ययन के संबंध में इससे कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती, न यही सिद्ध होता है कि इनकी शिक्षा अमुक श्रेणी की रही होगी। इसके सिवाय कबीर साहब की पारिवारिक स्थिति आदि से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संभवतः इन्हें नियमित रूप से शिक्षा मिली भी न होगी। जो कुछ ज्ञान इन्हें प्राप्त हो सका होगा, वह अनेक व्यक्तियों के सत्संग तथा अपने निजी विचार तथा मनन का ही फल होगा। कबीर साहब के समय में शिक्षा का रूप भी कदाचित् धार्मिक ही था और जो व्यक्ति शिक्षित समझा जाता था उसकी शिक्षा अधिकतर धार्मिक ग्रंथों के परिशीलन तथा प्रसिद्ध महापुरुषों से उपदेश-ग्रहण तक ही सीमित थी। कबीर साहब के गुरु वा पीर के विषय में पता चलाने का अर्थ भी इसी कारण किसी संत, सूफ़ी वा अन्य महान् धार्मिक नेता के साथ इन के गुरु-शिष्य-संबंध का निश्चित करना ही समझा जा सकता है।

स्वामी रामानंद

कबीर साहब ने अपने गुरु का नाम स्वयं कहीं नहीं दिया है, किंतु बहुत

---

१. रे० अहमद शाह : दि बीजक ऑफ कबीर, हमीरपुर सन् १९१७, पृ० ४-५।

दिनों से सर्वसाधारण की धारणा रहती आई है कि स्वामी रामानंद इनके गुरु थे। स्वामी रामानंद अपने समय के एक बहुत बड़े धार्मिक नेता तथा सुधारक थे और उनके साथ कुछ दिनों तक भी समकालीन रहने की दशा में ऐसा अनुमान करना कि कबीर साहब उनके संपर्क में कभी न कभी अवश्य आ गए होंगे और काशी में एक साथ रहने के कारण उनसे उपदेश भी ग्रहण किये होंगे, कुछ असंभव नहीं है। इसी आधार पर बहुत लोगों ने अपनी धारणा के अनुसार कुछ कथाओं की भी सृष्टि कर डाली है। फिर भी उक्त प्रकार की धारणा, जहाँ तक पता है, भक्त व्यासजी सं० १५६७-१६६६ के समय से लोगों के बीच बराबर चली आती है। इसका समर्थन अनंतदास, नाभादास-जैसे भक्तचरित-लेखक तथा अनेक कबीर-पंथी ग्रंथों द्वारा भी होता आया है।[1]

अभी कुछ दिन हुए एक ऐसी रचना का पता चला[2] है जिसका समाप्त होना, माघ कृष्ण सप्तमी भृगुवार वि० सं० १५१७ को बतलाया जाता है। रचना का नाम 'प्रसंग-पारिजात' है और उसमें अदणा छंद की १०८ अष्टपदियों द्वारा किसी चेतनदास नामक साधु ने स्वामी रामानंद की चरितावली तथा उपदेशों को लिपिबद्ध किया है। ग्रंथ से उद्धृत की गई पंक्तियों की भाषा बड़ी विचित्र जान पड़ती है और उसे बिना संकेतों के समझ लेना असंभव है। उसका परिचय देनेवाले लेखक ने उसके आधार पर यह भी बतलाया है कि "हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवि भक्तराज कबीर दास जी का स्वामी रामानंद जी का शिष्य होना प्रमाणित हो जाता है और यह भी सिद्ध हो जाता है कि पीपाजी, सेन, रैदास आदि भी अनंतानंद, योगानंद, नरहर्यानंद के साथ उस समय विद्यमान थे"[3]। परिचय के अंत में दी गई नामों की तालिका में नीरू, नीमा और तकी नाम भी दीख पड़ते हैं जिनकी चर्चा कबीर साहब की जीवनी के संबंध में की जाती है। इसके सिवाय स्वामीजी द्वारा कबीर साहब को अपना शिष्य मान कर तीर्थ-यात्रा के लिए निकली हुई अपनी जमात में सम्मिलित करना भी उक्त ग्रंथ में लिखा है। परन्तु अभी तक यह

---

१. कहते हैं स्वा० रामानंद के समकालीन किसी मौलाना रशीदुद्दीन फ़क़ीर, काशी द्वारा रचित ग्रंथ 'तज़कीरातुल फ़ुकरा' में भी स्वा० रामानंद के शिष्यों में कबीर साहब की चर्चा की गई है, किंतु पता नहीं उस लेखक का ठीक समय क्या है तथा उसके ऐसे कथन का आधार क्या है। —ले०

२. शंकरदयालु श्रीवास्तव : स्वामी रामानंद और प्रसंग-पारिजात, 'हिंदुस्तानी', अक्तूबर, १६३२, पृ० ४०३-२०।

३. वही, पृ० ४०८-६।

ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ, न इसके संबंध में भली भाँति विचार कर इसकी प्रामाणिकता ही सिद्ध की जा सकी है। जब तक यह पूरा ग्रंथ सबके सामने नहीं आ जाता और उसमें दी गई बातों पर निष्पक्ष रूप से निर्णय करने का कोई अवसर नही मिलता, तब तक इसे प्रामाणिक मान लेना उचित नहीं। इस ग्रंथ के प्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर फिर व्यासजी के पद अथवा नाभादास और अनंतदास जैसे भक्त-चरित-लेखकों के उल्लेखों में संदेह करने की आवश्यकता नहीं रह जायगी। केवल इतना ही प्रश्न उठ सकता है कि कबीर साहब स्वामी रामानंदजी द्वारा किस प्रकार प्रभावित हुए और वह प्रभाव उन पर कितना रहा।

शेख़ तकी मानिकपुरी

मौ० गुलाम 'सरवर' ने अपनी पुस्तक 'ख़जीनतुल असफ़िया'[१] में लिखा है कि "शेख़ कबीर जोलाहा शेख़ तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे। वे पहले मनुष्य थे जिन्होंने परमेश्वर और उनकी सत्ता के विषय में हिंदी में लिखा। धार्मिक सहनशीलता के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपना नेता माना। हिन्दुओं ने भगत और मुसलमानों ने उन्हें पीर कहा। उनकी मृत्यु सन् १५९४ ई० में हुई। उनके पीर शेख़ तक़ी सन् १५७५ई० में मरे थे।" इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सरवर' साहब कबीर साहब की ओर ही लक्ष्य करके कह रहे हैं। किंतु उनका दिया हुआ कबीर साहब का मृत्यु-काल बहुत पीछे चला आता है और उनके सारे कथन में ही संदेह होने लगता है। शेख़ तक़ी नाम के दो सूफ़ी पीर प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक कड़ा-मानिकपुर के और दूसरे झूँसी के रहनेवाले थे। कड़ा-मानिकपुर वाले शेख़ तक़ी सूफ़ियों के 'चिश्तिया सम्प्रदाय' के अनुयायी कहे जाते हैं। किसी-किसी के अनुसार[२] उनके मृत्यु-काल का सन् १५४६ई० : सं० १६०३ में होना समझा जाता है। इस प्रकार ये कबीर साहब के समकालीन, सिद्ध नहीं होते, न इस कारण उनके साथ इनके किसी संबंध के होने का प्रश्न उठ सकता है। कबीर साहब के समकालीन मानिकपुर के प्रसिद्ध सूफ़ी हिशामुद्दीन ठहराये जा सकते हैं जिनका देहांत हि० ८५३ : सं० १५०६ में हुआ था और जो हिशामुद्दीन मानिकपुरी नाम से विख्यात हैं। इनके द्वारा प्रवर्तित चिश्तिया सम्प्रदाय की एक 'हशीमिया' नाम की उपशाखा भी बतलायी जाती है। परन्तु 'बीजक' की ४८वीं[३] 'रमैनी' से जान पड़ता है कि कबीर साहब जब मानिकपुर

---

१. रे० वेस्टकाट : कबीर ऐंड कबीर-पंथ, कानपुर, १९०७, पृ० २५-६।

२. वही, पृ० ३९।

३' मानकिपुर हि कबीर बसेरी। मद्दति सुनी सेख तकि केरी

—विचार दास संस्करण, पृ० ६२।

गए थे, तब वहाँ इन्होंने शेख़ तक़ी की प्रशंसा सुनी थी और ६३वीं रमैनी की एक पंक्ति में[1] ये किसी शेख़ तक़ी को समझाते हुए भी दीख पड़ते हैं।

ऐसी स्थिति में यदि 'बीजक' की प्रामाणिकता सिद्ध है, तो उक्त मानिकपुर वाले शेख़ तकी को हमें कबीर साहब के जीवन-काल में ही ढूँढ़ना पड़ेगा। यदि 'बीजक' पीछे की रचना है, तो उक्त बातों का समाधान काल्पनिक घटनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। मानिकपुर में किसी शेख तक़ी की क़ब्र का होना 'आईन-ए-अकबरी' से भी प्रमाणित होता है, किंतु उसमें कोई निश्चित समय नहीं दिया है[2]। इसलिए यदि कोई शेख़ तक़ी मानिकपुर में कबीर साहब के समकालीन रहे भी हों, तो भी उन्हें उनका पीर भी मान लेना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता।

शेख़ तकी झूँसीवाले

दूसरे अर्थात् झूँसीवाले शेख़ तक़ी को लोग सूफ़ियों के 'सुहर्वर्दिया सम्प्रदाय' का होना बताते हैं और उनका समय 'इलाहाबाद गज़ेटियर' में सन् १३२०-१३८४ ई० : सं० १३७७-१४४१ दिया हुआ है[3]। परन्तु रे० वेस्टकाट ने किसी अन्य प्रमाण के आधार पर उक्त शेख़ तक़ी का मरना सन् १४२६ हि० ७८५ : सं० १४८६ में ठहराया है और कहा है कि कबीर साहब उनसे मिलने उस समय गये थे जब इनकी अवस्था ३० वर्ष की थी[4]। कबीर साहब के झूँसी जाने की घटना वहाँ पर वर्तमान कबीर-नाले से भी सिद्ध की जाती है। परन्तु उक्त दो प्रसिद्ध पुरुषों का गुरु-शिष्य संबंध फिर भी संदेह में ही रह जाता है। झूँसीवाले उक्त शेख़ तक़ी के साथ कबीर साहब के सत्संग का होना बहुत संभव है, किंतु इन्हें उनका शिष्य भी कह देने के लिए कोई प्रमाण नहीं।

पीतांबर पीर

कबीर साहब की एक रचना[5] से यह भी लक्षित होता है कि ये कभी-कभी किसी गोमती तीर-निवासी 'पीतांबर पीर' के दर्शन के लिए भी जाया करते होंगे

१. 'नाना नाच नचायके, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख।" वही, पृ० ७६।

२. डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायोग्राफी, लाहौर १८३४, पृ० १६।

३. वही, पृ० २४६।

४. रे० वेस्टकाट : कबीर एंड दि कबीर-पंथ, कानपुर १६०७, पृ० ४०-१

५' 'हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीतांबर पीर॥
बाहु बाहु किआ खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥
नारद सारद करहिं खवासी। पासि बैठी बीबी कवलांदासी

और वहाँ की यात्रा इनके लिए हज करने की भाँति पुण्यमय तथा पवित्र हो जाती रही होंगी। ये उक्त पीर की प्रशंसा उसके सुंदर गान तथा हरिनाम-स्मरण के लिए करते हैं। वे कहते हैं कि "उसकी सेवा में नारद, श्री शारदा और लक्ष्मी तक लगी रहती हैं और मैं स्वयं उसे कंठ में माला धारण कर तथा जिह्वा से राम के सहस्र नाम लेकर प्रणाम करता हूँ।" 'पीतांबर पीर', 'नाम', 'बीबी कवंलादासी' का प्रयोग 'हज' तथा 'सलामु' करने की बातें और 'बाहु बाहु किआ खूबु गावता है' के रूपों में उक्त पीर के प्रति निकले हुए प्रशंसात्मक उद्‌गार इस पद में इस प्रकार आए हैं कि उनका 'हरि का नामु' अथवा 'कंठे माला' तथा 'सहंसनामु' से कोई मेल खाता नहीं दीखता, न उसमें प्रदर्शित अलौकिक ऐश्वर्य की कोटि तक उस गवैये 'पीर' की कोरी तारीफ ही पहुँच पाती है। कम से कम उक्त 'पीर' के लिए कबीर साहब का गुरु होना भी इस पद से सिद्ध नहीं होता, अपितु जान पड़ता है कि इसमें आया हुआ उस व्यक्ति का वर्णन अधिक से अधिक 'हिन्दू तुरक' दोनों को समझाने के उद्देश्य से ही किया गया है। इस पद के प्रामाणिक होने में संकेत किया जा सकता है।

निष्कर्ष

वास्तव में जब तक कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता, तब तक स्वामी रामानंद, शेख़ तकी, पीतांबर पीर वा किसी भी एक व्यक्ति को हमें कबीर साहब का गुरु वा पीर नहीं मान लेना चाहिए। कबीर साहब की अपने गुरु के प्रति अपार श्रद्धा है और ये अपने प्रति किये गए उपकारों के लिए उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इनका कहना है कि "मैं अपने गुरु के लिए प्रतिदिन अनेक बार बलिहारी जाता हूँ जिसने मुझे एक क्षण में ही मनुष्य से देव-तुल्य बना दिया [1]"। "उस सतगुरु की महिमा अनंत है जिसने अनंत के दर्शनार्थ मेरे अनंत नेत्र खोल कर अनंत उपकार कर दिये हैं[2]"। "इन उपकारों के बदले में देने के लिए मेरे पास

कंठे माला जिहवा रामु। सहंस नामु लै करउ सलामु।
कहत कबीर राम गन गावउ। हिन्दु तुरक दोऊ समझावउ।'
—गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद १६।
दे० कबीर ग्रंथावली, प्रयाग संस्करण —ले०।

१. 'बलिहारी गुर आपणें, द्यौ हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागीं बार ॥'—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, सा० २।

२. 'सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार,
लोचन अनंत उघाडिया, अनंत दिखावनहार।'—वही, सा० ३।

कुछ भी नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कौन-सी वस्तु अर्पण कर संतुष्ट करूँ और इसकी अभिलाषा मन में बराबर बनी ही आ रही है"[१] आदि। फिर भी ये उक्त सतगुरु का किसी एक व्यक्ति-विशेष के रूप में नाम न लेकर कभी-कभी उसे केवल ज्ञान[२], विवेक[३], शब्द[४], अथवा राम[५] मात्र बतलाते हुए भी समझ पड़ते हैं। ऐसे वर्णनों पर ध्यान देने से प्रतीत होने लगता है कि ये अपनी उस पूर्णावस्था की दृष्टि से कथन कर रहे हैं, जहाँ पहुँचने पर गुरु वा चेले के संबंध का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता और साधक सिद्ध बन कर "आपै गुरु आप ही चेला"[६] की स्थिति में आ जाता है। इनके गुरु वा पीर का पता लगाने की आवश्यकता हमें इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र उपलब्ध अपने "गुरु के चरणों में सिर झुका कर विनयपूर्वक पूछता हूँ कि मुझे जीव तथा जगत् की उत्पत्ति तथा नाश का रहस्य समझा कर कहिए"[७]; "जब सतगुरु मिले तब उन्होंने मुझे मार्ग दिखलाया और तभी से जगत-पिता मुझे अच्छे लगने लगे" तथा "गुरु की कृपा द्वारा मुझे सब कुछ सूझने लगा"[८] आदि को देख कर ही जान पड़ती है। फिर भी इन्हें इस संबंध में अपनी ओर से किसी का नाम लेते हुए न पाकर हमें अंत में कहना पड़ता है कि ये किसी एक व्यक्ति से दीक्षित न होकर संभवत: अनेक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सत्संग से लाभ उठाये होंगे। इसी कारण इनकी रचनाओं में प्रयुक्त 'गुरु',

---

१. 'रामनाम कै पटतरै, देबै कौ कुछ नाहिं।
क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मन मांहि॥ वही, सा० ४।

२. 'ग्यांन गुरु ले बंका', कबीर ग्रंथावली, का० सं०, पद १५५।

३. 'कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ विवेकु रे'।
—गुरुग्रंथ साहब, राग सूही, पद ५।

४. 'सबद गुरु का चेला'।

५' 'तुम्ह सतगर मैं नौतम चेला, कहै कबीर राम रंमू अकेला।'
—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, पद १२०।

६. 'नाद बिंद रंक इक खेला आपै गरु आपही चेला'।
—वही, रमैनी, पृ० २४३।

७. 'गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कहु जीउ पाइआ।
कवन काज जगु उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइआ'।
—गुरु ग्रंथ साहब, राग आसा, पद १।

८. 'सतिगुर मिलेआ, मारगु दिखाइआ। जगतपिता मेरे मन भाइआ'॥
गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद ३।

'सतगुरु' वा 'गुरुदेव' शब्द प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को निर्दिष्ट करने के लिए आये होंगे। अपने समय में वर्तमान विशिष्ट महापुरुषों के निकट जाकर उनसे सत्संग करते रहने से ही इन्हें ज्ञानोपलब्धि हो सकी थी और इनकी जिज्ञासा दूर हुई थी[1]। इनका तो स्पष्ट शब्दों में कहना[2] है कि "मैंने कोई विद्या नहीं पढ़ी, न किसी मत-विशेष का ही आश्रय लिया। मैं तो हरि का गुण कहता-सुनता ही उन्मत्त-सा हो गया।

(६) देश-भ्रमण

झूंसी तथा मानिकपुर

तीर्थ-यात्रा वा हज करने की दृष्टि से कबीर साहब को कहीं पर्यटन करने में श्रद्धा नहीं थी[3], किंतु इनकी कुछ रचनाओं[4] से इनके देश-भ्रमण का पता चलता है। इस बात के लिए अन्य प्रमाण[5] भी मिलते हैं कि इन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी। यह यात्रा इनके प्रारंभिक जीवन-काल में सत्संग के उद्देश्य से की गई थी, किंतु बाद को कहीं-कहीं ये अपने मत के प्रचार के लिए वा किन्हीं अन्य

---

१. 'कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम॥'
—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, साध कौ अंग, साखी ५।

२. 'बिदिआ न परउ बादु नहिं जानउ। हरिगुन कथन सुन बउरानउ॥
—गुरुग्रंथ साहब, राग बिलावल, पद २।

३. 'जपतप दीसै थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास।
सूवै सैंवल सेविया, यौं जग चला निरास'॥—कबीर ग्रंथावली, पृ० ३७।
'सेष सूबरी वाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्यावति, तिनकों कहां खुदाई॥' वही, पृ० ४३।

४. 'वृंदावन ढूंढ्यों, ढूंढ्यों हो जमुना तीर।
राम मिलन के कारने जन खोजत फिरै कबीर'॥—ना० प्र० पत्रिका, भा० १५, पृ० ४८।
'जाति जुलाहा नाम कबीरा, बन बन फिरौं उदासी।'
—कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद २७०, पृ० १२१।

५. 'कहते हैं कि कबीर गुरु की तलाश में मुसलमान और हिन्दू कामिलों के पास गया जो ढूंढता था न पाया। आखिरकार एक शख्स ने पीर रोशनदिल रामानंद बरहमन की तरफ उसको तवज्जह दिलायी'। —मुहसिन फ़ानी: 'दबिस्ताने मजाहिब', सफहा २००।

कारणों से भी गये थे। इन्हें ब्राह्मणों, संन्यासियों आदि की हुल्लड़बाजियों के कारण अपने साधारण निवास-स्थान काशी को छोड़ कर अंत में मगहर भी जाना पड़ा था, जहाँ इनका देहांत हो गया। इसके पहले इनके मानिकपुर में कुछ काल तक ठहरने का प्रसंग 'बीजक' की ४८वी रमैणी में आता है। यह भी पता चलता है कि वहीं पर इन्हें शेख़ तक़ी की प्रशंसा सुन पड़ी। यह भी ज्ञात हुआ कि जौनपुर थाने के ऊजी नामक स्थान तथा झूँसी में अमुक-अमुक पीरों का निवास है। इनमें से मानिकपुर, जिला फतेहपुर को कड़ा-मानिकपुर भी कहते हैं, जहाँ के धुनिया जाति वाले किसी चिश्तिया सूफ़ी शेख़ तक़ी की चर्चा रे० वेस्टकाट[1] ने की है। जैसा हम इसके पहले भी कह आये हैं, इनकी मृत्यु का होना कुछ संदेह के साथ सं० १६०२ : सन् १५४५ ई० में बतलाया है। यह स्थान अन्य सूफ़ियों के लिए भी प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि उक्त शेख़ तक़ी के ही पुत्र शेख मकन द्वारा बसाये गए मकनपुर स्थान पर आज तक एक बड़ा मेला लगा करता है। परन्तु, 'बीजक' के टीकाकार विचारदास शास्त्री के अनुसार[2] उक्त मानिकपुर वास्तव में प्रसिद्ध मानिकपुर जंक्शन है, जो जबलपुर लाइन में पड़ता है। वहाँ के विषय में 'पनिका' जातिवाले लोगों के मान्य ग्रंथ 'मानिक-खंड' में कबीर साहब के ठहरने आदि की चर्चा पूरी तरह से की गई है। उक्त ऊजी नामक गाँव भी जौनपुर जिले में किसी खरौना नाम के अन्य स्थान के निकट वर्तमान है, जहाँ पर किसी समय बहुत-से मुस्लिम संत रहा करते थे। झूँसी तथा वहाँ के रहने वाले शेख़ तक़ी का उल्लेख पहले ही आ चुका है। वहाँ की जनश्रुति तथा 'कबीर-नाले' के अस्तित्व से इस अनुमान को दृढ़ आधार मिलता है कि कबीर साहब वहाँ पर अवश्य रहे होंगे। वहाँ पर शेख़ तक़ी के साथ सत्संग करने के समय में ही इन्हें कदाचित् किन्हीं शेख़ अकर्दी और शेख़ सकर्दी नामक दो अन्य फ़क़ीरों को कुछ उपदेश भी देना पड़ा था।

अन्य यात्राएँ

मगहर के समान रतनपुर तथा पुरी जगन्नाथ में भी कबीर साहब की समाधि होने के कारण इनके वहाँ किसी समय जाने का अनुमान किया जाता है। उक्त दोनों क़ब्रों का उल्लेख[3] अबुल फ़ज़्ल ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आईन-ए-अकबरी'

---

१. रे० जी० वेस्टकाट : कबीर एँड दि कबीर पंथ, पृ० ३९।

२. बीजक, विचारदास की टीका, पृ० ६२।

३. आईन-ए-अकबरी, कर्नल एच० एस० जेरेट द्वारा अनूदित, भा० २, कलकत्ता १८९१।

में की है। दोनों जगहें कबीर-पंथियों के लिए पवित्र स्थान कही जाती हैं। रतनपुर के मज़ार की चर्चा 'ख़ुलासातुत्तवारीख़'[1] में की गई है। पुरी के मक़बरे का प्रसंग प्रसिद्ध यात्री ट्रैवर्नियर के 'ट्रैवेल्स'[2] में भी आया है। परन्तु कबीर-पंथ में प्रचलित कतिपय पौराणिक उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण के आधार पर इनकी उक्त स्थानों की यात्रा सिद्ध नहीं होती। इस कारण अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ की समाधियों का निर्माण पंथवालों द्वारा इनकी पूजा करने के विचार से ही किया गया होगा। कबीर-पंथियों में यह भी प्रसिद्ध है कि मगहर में देहांत हो जाने के अनंतर भी कबीर साहब ने मथुरा, वृंदावन, बांधोगढ़ आदि कुछ स्थानों पर जा-जाकर अपने प्रिय भक्तों को दर्शन तथा उपदेश दिये थे। इसी प्रकार इनके विदेशों में भी जाने के उल्लेख उनके ग्रंथों में मिलते हैं। कबीर-पंथ का भारत के कई प्रांतों में प्रचार है और अपने-अपने स्थानों तथा अपने-अपने यहाँ की प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर पंथ के अनुयायियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की कथाओं की रचना कर डाली है जिनसे ऐतिहासिक सत्य को खोज निकालना सहज काम नहीं है। 'गुरु महिमा' नामक कबीर-पंथी ग्रंथ के अनुसार कबीर साहब का गढ़वाल में जाना बतलाया जाता है। कहते हैं कि उस समय वहाँ पर श्रीनगर में रायमोहन नाम के एक राजा राज्य करते थे। डॉ० बर्थ्वाल ने वहाँ पर कबीर साहब का एक सिद्ध माना जाना तथा कहीं-कहीं पर 'कबीर-नाथ' तक कहलाना लिखा है। उन्होंने यह भी कहा है कि वहाँ के 'नरंकार' की पूजा करने वाले डोम भी वस्तुतः उन्हीं के अनुयायी हैं[3]। किंतु अभी तक इन बातों की पुष्टि में यथेष्ट प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। ऐसे ही प्रमाणों के आधार पर कबीर साहब के मक्का, बग़दाद, समरकंद, बुख़ारा जैसे दूर-दूर के देशों तक की यात्रा का उल्लेख 'कबीर मंशूर' में आया है। नर्मदा-तटवर्ती भरौंच से १३ मील की दूरी पर शुक्रतीर्थ के निकट किसी द्वीप में एक बहुत बड़ा बट-वृक्ष है जिसे 'कबीर-बट' कहते हैं। उस पेड़ के लिए प्रसिद्ध है कि अपनी

"Some affirm that Kabir Muahid reposes here (Pesoi) and many authentic traditions are related regarding his sayings and doings to this day" (p 129). "Some say that at Ratanpur (Subah of Oudh) is the tomb of Kabir, the assertor of unit of God" (p. 171).

१. पृ० ४३, दिल्ली संस्करण।

२. भा० २, पृ० २२६।

३. डॉ० पीतांबर दत्त बर्थ्वाल : योगप्रवाह, बनारस सं० २००३, पृ० २०३-५।

गुजरात की यात्रा संभवतः सं० १५६४ के समय उसे स्पर्श कर कबीर साहब ने सूखा से हरा कर दिया था[1]। इसी प्रकार एक ऐतिहासिक रचना में आये हुए प्रसंग से विदित होता है कि ये पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ की ओर भी आकृष्ट हुए थे और कदाचित् कभी वहाँ की यात्रा भी इन्होंने की थी[2]। पंढरपुर में इसके पूर्व सं० १२६६ के लगभग कन्नड़ संत पुंडरीक द्वारा वारकरी सम्प्रदाय का स्थापित किया जाना भी प्रसिद्ध है।

सारांश

कबीर साहब ने वास्तव में कौन-कौन सी यात्राएँ कब-कब की थीं तथा किन-किन यात्राओं में इन्हें कितना-कितना समय लगा था, इसका पता असंदिग्ध रूप से नहीं चलता। इनकी पहली यात्राएँ संभवतः किसी सच्चे महात्मा वा सद्‌गुरु की खोज में की गई थीं। इसलिए अनुमान होता है कि उनमें सत्संग आदि होते रहने के कारण अधिक समय लगता होगा। कहीं-कहीं इन्हें आवश्यकतानुसार कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ता होगा और कभी-कभी कदाचित् एक से अधिक बार भी एक ही स्थान पर जाना पड़ा होगा। इन यात्राओं में इनका साथ देनेवाले किसी मित्र वा सहयोगी का भी कहीं पता नहीं चलता। इनकी रचनाओं में कई बार "बनि-बनि फिरों उदासी"[3], "फाटै दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोई"[4] आदि जैसे वाक्यों के आने से जान पड़ता है कि इनकी जिज्ञासा अत्यंत तीव्र रही होगी। इन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक बार अनेक जगहों की खाक छाननी पड़ी होगी।

(७) परिवार

विवाहित

कबीर साहब के परिवार का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। कुछ लोग इन्हें एक पक्के विरागी के रूप में रहनेवाला भी समझते हैं। फिर भी इस बात के लिए इनकी रचनाओं में ही संकेत मिलते हैं कि इनका जीवन एक गृहस्थ का जीवन था और ये दूसरों को भी गृह न छोड़ने का ही उपदेश देते रहे। कबीर साहब ने एक स्थल पर यह अवश्य कहा है कि "कबीर त्यागा ग्यान, करि कनक कामिनी

---

१. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, लंदन १६३० ई०, पृ० ६८-६६।

२. किनकेड तथा मार्सनिस : ए हिस्ट्री ऑफ दि मराठा पीपुल, भा० २, पृ० १०७।

३. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पृ० २८१।

४. वही, पृ० ५२।

ोइ"। इसी से उक्त दोनों का उनके पास पहले रहना भी लक्षित होता है। इससे इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि अपनी वृद्धावस्था तक कदाचित् ये इन दोनों से पृथक् हो गए होंगे। जो हो, इनके विवाहित होने में संदेह करने की कोई आवश्यकता नहीं। इनके साथ प्रायः सदा रहनेवाली किसी 'लोई' नाम की स्त्री के विषय में प्रसिद्ध है कि वह इनकी विवाहिता पत्नी थी और कोई-कोई इनके दो वा तीन विवाह तक भी होने का अनुमान करते हैं। इनके एक पद[1] से सूचित होता है कि इनकी दो विवाहिता स्त्रियों में से पहली, कदाचित् कुजाति तथा कुलखनी होने के कारण इन्हें पसंद न थी, किंतु दूसरी सुजाति वा सुलखनी रही और उसी के द्वारा इन्हें संतान भी प्राप्त हुई। अपनी पहली स्त्री के नष्ट हो जाने से ये प्रसन्न होते हुए भी दीख पड़ते हैं और दूसरी की दीर्घायु के लिए शुभाशा प्रकट करते हैं। इस पद की अंतिम पंक्ति से पहली के किसी अन्य व्यक्ति को ग्रहण कर लेने तक की बात ध्वनित होती है। परन्तु इस पूरी रचना का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाया जा सकता है और उस दशा में इनकी इन पहली तथा दूसरी स्त्रियों को क्रमशः 'माया' तथा 'भक्ति' कहना पड़ेगा। उसके अनुसार उसका तात्पर्य नितांत भिन्न हो जायगा।

स्त्री

एक अन्य पद[2] से जान पड़ता है कि कबीर साहब अपनी माता के साथ बातचीत करते समय उसके द्वारा अपनी पत्नी तथा पुत्र का भी कुछ परिचय दिला रहे हैं। इनकी माता को दुःख है कि उसके घर बहुधा आते रहनेवाले साधुओं ने उसकी पुत्र-वधू का नाम 'धनीआ' से बदल कर 'रामजनीआ' रख दिया है और उसके

---

१. 'पहिली कुरूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेईऐ बुरी।
अबकी सरूपि सुजाति सुलखनी सहजे उदरि धरी॥
भली सरी मुई मेरी पहिली ब ी।
जुग जुग जीवउ मेरी अबकी धरी॥
कहु कबीर जब लहुरी आई, बड़ी का सुहाग टरिओ।
लहुरी संगि भई अब मेरे, जेठी अउर धरिओ॥'
—गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद ३२।

२. 'मेरी बहुरीआ का धनीआ नाउ। ले राखिओ रामजनीआ नाउ॥
इन्ह मुंडीअन मेरा घर धुँधरावा। बिटवहि राम रमऊवा लावा॥
कहतु कबीर सुनहु मेरी माई। इन्ह मुंडीअन मेरी जाति गंवाई॥'
—वही, पद ३३।

पुत्र कबीर को भी राम की भक्ति में लगा दिया है । कबीर साहब इसके समाधान में बतलाते हैं कि उक्त साधुओं ने वास्तव में इनकी जाति वा धर्म को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर डाला है और वैसी दशा में इनकी माता को बुरा मानने की कोई बात नहीं है ।

लोई

एक तीसरे पद से इसी प्रकार प्रकट होता है कि कबीर साहब की स्त्री लोई इनकी अपने व्यवसाय के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा से घबड़ा उठी है। वह तनने-बुनने के व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं की अव्यवस्थित स्थिति, उसके कारण व्यवसाय के बंद हो जाने तथा आय के न होने के दुष्परिणाम आदि के संबंध में अपना दुःख प्रकट करती हुई आगंतुक साधुओं को कोसती है । कबीर साहब इस पर कहते हैं "अरी नासमझ तथा निर्दयी लोई, इन्हीं साधुओं की सहायता से और भजन करने से तो मुझ कबीर को भगवान् की शरण मिली है ।"[१] इस प्रकार संभव है कि कबीर साहब के दो विवाह हुए हों अथवा एक ही विवाहिता स्त्री के लिए उक्त दोनों 'धनिया' तथा 'लोई' नाम प्रयुक्त हुए हों, उक्त पहले पद का केवल आध्यात्मिक अर्थ लगाने पर दूसरा अनुमान ही अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है । परन्तु इनकी स्त्री चाहे एक ही रही हो, उसके साथ इनकी पटती कदाचित् नहीं थी। इसी कारण कभी-कभी दंपति के बीच नोक-झोंक भी होती रहती थी ।

कमाल तथा कमाली

उक्त तीसरे पद की ही पंक्ति "लरकी लरिकन खैवो नाहिं" से यह भी विदित होता है कि कबीर साहब के परिवार में इनकी संतानें भी सम्मिलित थीं जिनके खाने-पीने की चिंता इनकी माता को स्वभावतः सताया करती थी । इन्हीं बच्चों के पालन-पोषण का ध्यान करके स्वयं कबीर साहब की माता भी भीतर ही भीतर रोया करती है और उसे सांत्वना देते हुए कबीर साहब कहते हैं कि "हमारा इनका

---

१. 'तूटे तागे निखुटी पानि । दुआर ऊबरि झिलकावहि कान ।।
कूच बिचारे फूए फाल । इहा मुंडीआ सिर चलिबो काल ।।
इहु मुंडीआ से गलो द्रव खोई । आवत जात नाक सर होई ।
तुरी नारी की छोड़ी बाता । रामनाम वाका मनु राता ।।
लरकी लरिकन खैवो नाहि । मुंडिआ अनुदित धाये जाहि ।।
... .
सुनि अंधली लोई बेपीर । इन्हि मुंडीअन भजि सरन कबीर ।।'
—गुरुग्रंथ साहब, राग गौड़, पद ६ ।

दाता एक रघुराई।"[१] परन्तु इन बच्चों में कितने पुत्र तथा पुत्रियाँ थीं, इसका निर्णय करना सहज नही है। कबीर साहब के एक जीवन चरित लेखक का कहना है कि उन्हें कमाल तथा निहाल नामक दो लड़के और कमाली तथा निहाली नामक दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें से अंत में केवल कमाल ही बच रहे थे।[२] इन कमाल के विषय में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध है और कबीर साहब की एक रचना से यह भी पता चलता है कि वे इन्हें सपूत नही समझते थे, अपितु उनकी धारणा थी कि हरि-स्मरण से कही अधिक संपत्ति की ओर ध्यान देकर इन्होंने उनके कुल को ही नष्ट कर दिया।[३] इनकी बहन कमाली के लिए प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने किसी बैरागी से उसका विवाह कर दिया था। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि उन्होंने इसका विवाह मुल्तान में किसी के साथ कर दिया था जहाँ पर इसके कुछ अनुयायियों का भी पता दिया जाता है तथा इसके द्वारा रची कही जाने वाली कतिपय काफियाँ भी प्रचलित है। किंतु इससे अधिक पता नही चलता। निहाल तथा निहाली के विषय में तो केवल नामोल्लेख ही पाया जाता है, अधिक कुछ भी नहीं। हाँ, कबीर-पंथी ग्रंथों में कहीं भी कमाल, कमाली आदि को कबीर साहब की औरस संतान स्वीकार किया गया नहीं जान पड़ता। कमाल को कभी-कभी पोष्य-पुत्र और कभी केवल शिष्य-मात्र भी कहा जाता है। कमाली के लिए प्रसिद्ध है कि वह कदाचित् किसी शेख़ तक़ी की पुत्री थी, जिसे कबीर साहब ने मरने के आठ दिन पीछे पुनर्जीवन प्रदान कर क़ब्र से बाहर किया था।[४] कमाली तभी से इनकी पोष्य-पुत्री हो गई थी। परन्तु इस प्रकार की कथाएँ कबीर साहब को अविवाहित सिद्ध करने या इनके चमत्कारों से उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए भी रची गई हो सकती हैं। इसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि कबीर साहब की कुछ औरस संतानें थीं और इनके साथ वे रहती भी रहीं।

(८) व्यवसाय

वयनजीवी

कबीर साहब का परिवार बड़ा नही था और वह सामाजिक दृष्टि से भी

---

१. गुरुग्रंथ साहब, राग गूजरी, पद २।

२. डॉ० मोहन सिंह : कबीर : हिज बायोग्राफी, लाहौर १९३४ ई०, पृ० ३२ पर उद्धृत।

३. 'बूड़ा बंसु कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सुमिरन छाड़ि कै, भरि लै आया मालु॥
—गुरुग्रंथ साहब, सलोक ११५.।

४. एफ० इ० के० : कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० १६।

साधारण कोटि का ही था, किंतु फिर भी उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। कबीर साहब का पैतृक व्यवसाय कपड़ा बुनने का था जिसका परिचय इन्होंने "हम घरि सूतु तनहि नित ताना" कह कर स्पष्ट शब्दों में दिया है।[1] इसका एक और भी सविवरण परिचय हमें उस पद में मिलता है जिसमें इनकी स्त्री लोई द्वारा इनके तनने-बुनने के औजारों के अस्त-व्यस्त होकर अनुपयोगी सिद्ध हो जाने पर व्यवसाय का बंद हो जाना बतलाया गया है। लोई का कहना है कि "पानी के कम हो जाने के कारण करघे के तागे टूट जाया करते हैं, कूच के फूल जाने के कारण उस पर फफूँदी चढ़ गई है, हत्था जो काफी पैसे खर्च कर खरीदा गया था और जो खूब काम देता था, अब पुराना पड़ गया है और तुरी तथा नरी की अब आवश्यकता ही नहीं रह गई है"।[2] इससे स्पष्ट है कि कबीर साहब के पास घर पर प्राय: सभी तनने-बुनने के आवश्यक सामान रहे होंगे; किंतु अपने व्यवसाय के प्रति इनके उपेक्षा-प्रदर्शन के कारण सारे के सारे बेकाम हो रहे थे और जीविका बंद-सी होती जा रही थी। इनके किसी दूसरे व्यवसाय का पता हमें इनकी किसी रचना से नहीं चलता, न यही विदित होता है कि इनकी उक्त उदासीनता किसी अन्य व्यवसाय के प्रति आकर्षण के कारण थी। जान पड़ता है कि अपने पिता के जीवित रहने तक तो इनका काम-धाम एक ठेकाने से चलता रहा, किंतु उनकी मृत्यु के अनंतर जब कुटुंब का सारा भार इनके ऊपर पड़ा, तब इन्होंने अपनी परिवर्तित मनोवृत्ति के कारण उसे भली भाँति सँभाला नहीं, अपितु उसके प्रति क्रमश: शिथिलता ही दिखलाते गए। अंत में यह नौबत आयी कि इनके बाल-बच्चे भूखों मरने तक की स्थिति को पहुँच गए।

आर्थिक परिस्थिति

अपने दायित्व का अनुभव कर जिस समय कबीर साहब को व्यवसाय के प्रति अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी, उसी समय इन्होंने तनना-बुनना सभी कुछ को छोड़ कर अपने शरीर पर 'रामनाम' लिख लिया।[3] अब इन्हें यह सब सूझता ही न था और ये हरि रस में सराबोर हो रहे थे।[4] इन्हें समझ पड़ता था कि मेरा व्यवसाय वास्तव में उस 'कोरी' का व्यवसाय है जिसने सारे जगत् में अपना ताना-बाना तान रखा है और अपने घर में ही उसका परिचय पा लेने के कारण

१. गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद २६।
२. वही, राग गौड़, पद ६।
३. वही, राग गूजरी, पद २।
४. वही, राग बिलावल, पद ४।

मैंने अब अपना असली घर पहचान लिया है ।[1] और मेरा काम अब "बुनि बुनि आपु आँप पहिरावउ"[2] के रूप में आध्यात्मिक आत्मानुभूति मात्र रह गया है । अब ऐसा कहने में इन्हें तनिक भी हिचक न होती थी कि "मैंने अपने हाथ में मुराड़ा लेकर अपना घर जला डाला है । मैं उसका भी घर जला दूँगा जो मेरे साथ आगे बढ़ने पर तैयार होगा ।"[3] अब इन्हें कदाचित् अपने उस कथन[4] की ओर भी ध्यान न था कि "अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होने के समय से ही मैंने कभी सुख का अनुभव नहीं किया । यदि मैं डाल-डाल चलता हूँ, तो दुःख मुझे पात-पात खदेड़े फिरता है ।" परन्तु इनके कुटुंबवालों को यह बात कैसे सह्य हो सकती थी । जैसे पहले कहा जा चुका है, इनकी संतान की दुर्दशा के कारण इनकी माता तथा स्त्री को बड़ी चिंता थी और इसका मूल कारण इन्हीं को मान कर इन्हें वे बुरा-भला भी कह डालती थीं । इतना ही नहीं, जब कभी इनके द्वार पर कोई साधु-संत आ जाता, तब वे अपनी वर्तमान दशा का कुछ अंश तक उनको भी कारण मानकर उनसे जल-भुन जातीं और उनके प्रति अनेक निंदा-सूचक शब्दों के प्रयोग करने लगतीं । इनकी स्त्री का कहना है कि "लड़के-लड़कियों को तो खाना नहीं मिल पाता, किंतु ये मुंडिया वा वैरागी संन्यासी आदि नित्य प्रति सिर पर सवार बने रहते हैं । एक-दो घर में रहते हैं, दूसरे मार्ग में आते-जाते दीख पड़ते हैं । हमें तो सोने के लिए चटाई मिलती है और इनके लिए खाट वा चारपाई दी जाती है । ये सिर घुटा कर तथा कमर में पोथी बाँध कर आया करते हैं और रोटी खाया करते हैं, किंतु हमलोगों को चना चबा कर ही रह जाना पड़ता है । ये मुंडिया मेरे पति के साथ नाता जोड़ कर उसे भी मुंडिया बनाये हुए हैं और इन सबने हमें डुबा देने की ठान ली है ।"[5]

अपना आदर्श

परन्तु कबीर साहब द्वारा अपने पैतृक व्यवसाय के प्रति प्रदर्शित उक्त उदासीनता का वास्तविक परिणाम यह नहीं रहा कि इन्होंने अपनी आर्थिक कठिनाइयों की ओर से अपनी दृष्टि एकदम फेर ली और एक निठल्ले की भाँति हाथ पर हाथ धरे बैठ गए । ये अपना व्यवसाय किसी न किसी रूप में कदाचित् अंत तक चलाते

---

१. गुरुग्रंथ साहब, राग आसा, पद ३६ ।
२. वही, राग भैरउ, पद ७ ।
३. कबीर ग्रंथावली, का० सं०, साखी १३, पृ० ६७ ।
४. वही, साखी ११, पृ० ६२ ।
५. गुरुग्रंथ साहब, राग गौड़, पद ६ ।

रहे और इस प्रकार जो कुछ भी मिला करता था उमसे संतोषपूर्वक अपना जीवन-यापन करते रहे। ये अपनी आध्यात्मिक साधनाओं तथा चितनों में कहीं अधिक समय दिया करते थे। इसी कारण ये सब बातें इनके लिए गौण भर हो गई थीं। इन्होंने अपने वा अपने कुटुंब के लिए कभी किसी के सामने हाथ फैलाया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनका तो यहाँ तक कहना है कि "यदि भगवान् टेक रख ले, तो अपने बाप से भी कुछ माँगना भला नहीं समझना चाहिए। माँगना वस्तुतः मरने के समान है।"[1] एक साधारण छोटे-से परिवार के लिए आवश्यक सामग्री के विषय में भी कबीर साहब का अपना निजी आदर्श था। इनका कहना[2] है कि "हे भगवान्, भूखे आपकी भक्ति नहीं हो सकती और मुझे किसी का देना-लेना नहीं है। यदि तुम मुझे स्वयं कुछ नहीं देते, तो मैं तुमसे माँग कर लेना चाहता हूँ। मैं दो सेर चून वा आटा माँगता हूँ और साथ ही पाव भर घी तथा नमक भी चाहता हूँ। आधा सेर मुझे दाल भी चाहिए जिससे एक आदमी का दोनों समय के लिए भोजन का प्रबंध हो जाय। फिर सोने के लिए एक चारपाई माँगता हूँ जिस पर एक तकिया तथा रुई से भरा कोई गद्दा भी हो और ओढ़ने के लिए मुझे एक खींधा (कदाचित् कोई सिली हुई ओढ़नी) भी चाहिए। मैंने किंचिन्मात्र भी किसी से माँगने की अब तक चेष्टा नहीं की है।" इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट है कि इनकी माँग किसी एक व्यक्ति की अत्यंत आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित है और उसका लक्ष्य भी कोई संसारी पुरुष न होकर स्वयं भगवान् हैं।

(९) वेश-भूषा तथा रहन-सहन

सादगी

कबीर साहब को सादा जीवन पसंद था और ये आडंबरों मे दूर भागते थे। ये कहा करते थे कि "हमारा काम केवल नाम का जप करना तथा अन्न का भी 'जप' करना है जो पानी की सहायता से उत्तम बन जाता है।" ये अन्न के त्याग को पाखंड समझते थे और केवल दूध आदि के ही आधार पर शरीर की रक्षा करने को भी बुरा बतलाते थे। ऐसे फलाहारियों को इन्होंने "ना सोहागिनि ना ओहि रंड" कह कर उनकी हँसी तक उड़ायी है।[3] ये पहनावे में भी किसी विशेष आडंबर के पक्षपाती न थे। इनका कहना था कि सोलहो शृंगार करके भी अपने प्रियतम को रिझाया नहीं जा सकता, वह तो सच्चा हृदय चाहता है। उसके लिए भिन्न-

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पृ० ५९।
२. गुरुग्रंथ साहब, राग सोरठि, पद ११।
३. वही, राग गौड, पद ११।

विभिन्न वेश में कबीर के चित्र

भिन्न प्रकार के भेषों का धारण करना व्यर्थ का प्रयास है।[1] इसीलिए ये थोड़े में इस प्रकार भी कहा करते थे कि "अपने स्वामी के साथ सच्चे हृदय से व्यवहार करते हुए औरों से भी सूधा बना रहना ही सबका लक्ष्य होना चाहिए।"[2]

साम्प्रदायिक चित्र

परन्तु इनकी अपनी वेश-भूषा तथा रहन-सहन के विषय में कुछ निश्चित रूप से पता नहीं चलता। उपलब्ध चित्रों के सहारे इनके क़द तथा पहनावे के संबंध में कुछ अनुमान किया जा सकता था, किंतु इन चित्रों की भी प्रामाणिकता अभी तक सिद्ध नहीं। यदि इन सबकी तुलना कर कोई परिणाम निकालने की चेष्टा की जाती है, तो जान पड़ता है कि इनमें से कई एक किसी उद्देश्य-विशेष से चित्रकार की एक निश्चित धारणा के अनुसार कभी पीछे से बनाये गए होंगे। इनमें इसी कारण कबीर साहब की वास्तविक प्रतिकृति की खोज करना ठीक न होगा। ऐसे चित्र विशेषकर वे हैं जिनकी आजकल कबीर-पंथ के अनुयायी बहुधा पूजा किया करते हैं। इन चित्रों में भी आपस में पूर्ण समानता नहीं दीख पड़ती। उदाहरण के लिए कबीरचौरा, काशी के चित्र में जिसकी प्रामाणिकता के विषय में कबीर-पंथी लोग अधिक विश्वास कर सकते है, कबीर साहब एक मझले क़द के मनुष्य जान पड़ते हैं। इनकी मुखाकृति बहुत लंबी नहीं है और इनके पायजामे आदि की बनावट से सूचित होता है कि ये कदाचित् पछाँह के रहनेवाले हैं। किंतु प्रायः इसी प्रकार के एक अन्य चित्र से जिसमें कबीर साहब अकेले ही दिखलाये गए हैं और जो रामरहसदास के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पंचग्रंथी' के बड़ोदावाले सटीक संस्करण में दिया गया है, प्रतीत होता है कि इनका शरीर लंबा था। इनका चेहरा भी काफ़ी लंबा था और इनके पहनावे में धोती आदि को देखने से समझ पड़ता है कि ये किसी पूर्वी प्रांत के निवासी रहे होंगे। इसी प्रकार ऐसे ही एक दूसरे चित्र को देख कर जो एक मद्रास में छपी पुस्तक[3] में दिया गया है। इनके क़द तथा आकृति की लंबाई का अनुमान उक्त दूसरे चित्र के समान किया जा सकता है। किंतु इसमें प्रदर्शित कबीर साहब के कानों में नाथ-पंथी कुंडल तथा सामने रखी हुई पोथी को देख इसकी प्रामाणिकता में संदेह भी होने लगता है।[4]

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी २३, पृ० ४७

२. वही, साखी ११, पृ० ४६।

३. रामानंद टु रामतीर्थ, जी० ए० नटेसन एंड को मद्रास

४. दे० एक अन्य चित्र जो कुँवर संग्राम सिंहजी के यहाँ के संग्रह में मिला है, वह 'कबीर साहित्य की परख' में दिया गया है।—ले०।

आलोचना

ऐसे चित्रों में कबीर साहब को तुलसी की मालाएँ पहनायी गई हैं और इनके ललाट पर लंबा तिलक दिया गया है, जिनका इनके अनुसार कदाचित् कोई महत्त्व न था। इनके सिर के चतुर्दिक प्रदर्शित प्रकाश-मंडल तथा ऊपर के छत्र से सूचित होता है कि चित्रकार ने इन्हें महानता की एक विशेष भावना के साथ चित्रित किया है। कबीरचौरावाले चित्र में दिखलाये गए सुरत गोपाल तथा धर्मदास जैसे शिष्य और चँवरधारी कमालके कारण यह भी बोध होता है कि इन चित्रों के बनानेवालों का मुख्य उद्देश्य इन्हें कोई निश्चित साम्प्रदायिक स्वरूप देना ही रहा होगा और इनमें कल्पना का अंश बहुत अधिक है।

व्यावसायिक चित्र

कबीर साहब के कुछ ऐसे चित्रभी मिलते हैं जिनमें ये एक करघे पर बैठे काम करते हुए दिखलाये गए हैं। इनमें से एक वह है जिसका मूल 'बृटिश म्युजियम' में सुरक्षित है। यह चित्र मुग़ल-शैली का है और इसका निर्माण-काल ईसा की अठारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है। इस चित्र में कबीर साहब के शरीर पर कोई कपड़ा नहीं है, केवल कमर में धोती और सिर पर एक मोटे कपड़े की टोपी है। उनके सामने करघा फैला हुआ है और दोनों ओर एक-एक शिष्य वा भक्त बैठे हुए हैं। पीछे एक वृक्ष है जिसके नीचे एक छोटी-सी मढ़ी बनी हुईहै। सिर, दाढ़ी तथा मूँछ के बाल छोटे-छोटे, पके और बराबर दीख पड़ते हैं और चित्र में इनकी वय का अनुमान साठ वर्षो का किया जा सकता है। परन्तु इस चित्र में भी इनके गले तथा दाहिने हाथ की कलाई में तुलसी की मालाएँ हैं। इस चित्र से मिलता-जुलता एक चित्र कलकत्ते के म्युजियम में भी वर्तमान है जिसमें कबीर साहब के पीछे कोई मढ़ी नहीं दीख पड़ती और शिष्य वा भक्त भी एक ही दिखलाया गया है। इस चित्र में सर्वत्र एक प्रकार की सादगी तथा स्वाभाविकता-सी लक्षित होती है और जान पड़ता है कि संभवत: इसी को पहले देख कर उक्त प्रथम चित्र के रचयिता ने उसे बनाते समय कुछ अधिक सुव्यवस्थित और सुसज्जित कर दिया होगा। इस चित्र में कोई वैसी दाढ़ी नहीं दिखलायी गई है, किंतु मालाएँ ठीक उसी प्रकार पहनायी गई हैं। इस चित्र में कबीर साहब की अवस्था ५० वर्षों से अधिक की नहीं है। दोनों चित्रों से ये मझोले कद के ही जान पड़ते हैं और इनके मुख की मुद्रा भी प्राय: एक ही प्रकार की है।

करघे पर बैठे हुए कबीर साहब का एक तीसरा चित्र भी मिलता है जो गुरु अर्जुन देव के लाहौरवाले गरुद्वारेमें फ्रेस्को के रूप में वर्तमान है। इस चित्र में कबीर साहब छोटे कद के दिखलाये गएहैं और इनका सिर भी लंबे की जगह बहुत कुछ

चौड़ा और चपटा-सा है। शरीर पर कुछ साधारण पहनावा है और सिर पर एक समले के ढंग की टोपी वा पगड़ी दी हुई है। इसमें इनकी बायीं ओर तीन शिष्य वा भक्त हैं और दाहिनी ओर एक स्त्री बैठी हुई है। मढ़ी, वृक्ष तथा करघे की भी अनुकृतियाँ ठीक और स्वाभाविक नहीं समझ पड़तीं। दाढ़ी तथा मूँछें कुछ बड़ी-बड़ी हैं और अवस्था प्राय: ५० की होगी। इस चित्र में भी कबीर साहब के गले में माला पड़ी हुई है और एक इनकी दाहिनी कलाई में भी कदाचित् बँधी हुई है। स्पष्ट है कि उक्त तीनों चित्र इनके गृहस्थ रूप के परिचायक हैं। परन्तु तीनों में कुछ न कुछ भिन्नता है और इनमें तथा उक्त प्रथम वर्ग के चित्रों में कोई समानता नही।

सूफ़ी का चित्र

उक्त प्रथम तथा द्वितीय वर्ग के चित्रों के अतिरिक्त भी कुछ चित्र मिलते हैं जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। इनमें से एक वह है जो स्वामी युगलानंद कबीर-पंथी द्वारा 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' को मिला है और जिसकी प्रतिकृति सभा-भवन में रखी हुई है। इस चित्र में कबीर साहब का क़द मझले से कुछ अधिक समझ पड़ता है, मुखाकृति लंबी-सी है और दाढ़ी तथा मूँछें भी लंबी-लंबी हैं। इन्होंने सिर पर एक लंबी ऊँची टोपी पहनी है और शरीर पर एक चोग़ा वा ढीला-ढाला कोई पहनावा डाल रखा है, जिसे भिन्न-भिन्न रंग के छोटे-छोटे कपड़े सिल कर तैयार किया गया है, अवस्था प्राय: ७० की जान पड़ती है। इसमें तिलक वा तुलसी-माला को कहीं स्थान नहीं मिला है। वेश-भूषा अधिकतर सूफ़ियों से मिलती-जुलती है। इस चित्र का कोई ऐतिहासिक परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इस कारण इसकी प्रामाणिकता के विषय में अंतिम निर्णय नहो दिया जा सकता। फिर भी कबीर-पंथी लोगों के यहाँ से उपलब्ध होने के कारण इसे कुछ महत्त्व दिया जा सकता है।

कबीर साहब का एक दूसरा चित्र वह समझा जाता है जिसकी मूल प्रति पूना की 'चित्रशाला' में सुरक्षित है और जो 'भारत-इतिहास-संशोधक-मंडल', पूना से प्राप्त कर 'संत कबीर' नामक पुस्तक के प्रारंभ में दिया गया है। इसके लिए कहा गया है कि यह प्रसिद्ध नाना फड़नवीस (कार्यकाल सं० १८३०-५६) के चित्र-संग्रह से प्राप्त किया गया है। नाना फड़नवीस संतों के प्रति श्रद्धावान और सदैव उनके चित्रों की खोज में रहते थे। उसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने उत्तरी भारत से यह चित्र प्राप्त किया था। चित्रकार वा चित्र की तिथि अज्ञात है।[1] इस चित्र में कबीर साहब एक बिछौने पर मसनद के सहारे बैठे दीख पड़ते

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : संत कबीर, इलाहाबाद, १९४३ ई०, पृ० ७।

हैं। इनका क़द संभवतः मझोला है और इनका पहनावा अधबाँही कुर्ता जैसा है। इनके सिर पर एक टोपी है जिसके नीचे तथा पीछे की ओर इनके ज़ुल्फ़ जैसे बाल दिखलाये गए है। इनकी दाढ़ी उतनी बड़ी नही है जितनी ऊपर के चित्र में दीख पड़ती है और अवस्था लगभग ६०-७० वर्षो की जान पड़ती है। इस चित्र में कबीर साहब के हाथ में एक वाद्य-यंत्र भी दिखलाया गया है, जिस पर हाथ फेरते हुए ये किसी भाव में मग्न-से समझ पड़ते हैं। इस चित्र में भी किसी तिलक वा तुलसी-माला के चिह्न नहीं हैं। इसका मुस्लिम वातावरण स्पष्ट है।

निष्कर्ष

इस प्रकार यदि उक्त प्रथम वर्ग के चित्रोंमें कबीर साहब एक हिन्दू साधु वा महंत के रूप में वर्तमान किसी अलौकिक महापुरुष के समान दीख पड़ते हैं, तो उक्त तीसरे वर्ग के अंतिम दो चित्रों में वे एक पूरे मुस्लिम फ़क़ीर तथा पीर जान पड़ते हैं। दोनों में अवस्था का अनुमान ६० वर्ष वा उससे अधिक का ही किया जा सकता है। उधर दूसरे वर्गके चित्रों में अवस्था कुछ कम भी कही जा सकती है और ये उनमें मुस्लिम जुलाहा वा हिन्दू कोरी समझे जा सकते है। अतएव उक्त सारे चित्रों में पारस्परिक विभिन्नताओं के रहते हुए भी यदि उनके आधार पर मोटे तौर पर यह अनुमान कर लिया जाय कि ये लगभग ६०वर्ष की अवस्था में गृह-कार्य छोड़ कर उपदेश वा प्रचार में लग गये होंगे, तो भी इनकी अंतिम वेश-भूषा के विषय में हमारी धारणा निश्चित नही हो पाती। हाँ, यदि उक्त प्रथम वर्गके चित्रों में कल्पित भावनाओं का अंश अधिक हो, तो तीसरे वर्ग के किसी एकको आधार मान कर कोई सामंजस्य बिठलाया जा सकता है।

(१०) रचनाएँ

रचना-संग्रह

कबीर साहब ने ज्ञानार्जन अधिकतर सत्संग द्वारा किया था और इन्हें कुछ पढ़ने-लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। फिर भी इनकी 'बावन अखरी' जैसी रचनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि इन्हें नागरी-अक्षरों की वर्णमाला अवश्य विदित थी। इन्होंने कदाचित् कोई पोथियाँ नहीं पढ़ीं, न इनके पोथी-जैसी किसी रचना के लिखने का ही हमें कोई प्रमाण उपलब्ध है। जो कुछ इनकी रचनाएँ इस समय हमें देखने को मिलती हैं, वे सभी फुटकर पदों, साखियों, रमैनियों वा अन्य प्रकार की कविताओंके संग्रह-मात्र हैं। उनमें से अधिक रचनाएँ ऐसी हैं जो गायी भी जा सकती हैं अथवा कुछ ऐसी भी हैं जो छोटी-छोटी, किंतु महत्त्वपूर्ण होने के कारण लोगों के कंठस्थ रहने योग्य हैं। अतएव इनकी रचनाओं के रूपों में बराबर कुछ न कुछ परिवर्तन होता आया है और कभी-कभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा

उनके अनुकरण में अन्य वैसी ही रचनाओं के निर्मित होते आने के कारण उनके रचना-संग्रहों के अंतर्गत ऐसी कविताओं का भी समावेश हो गया है जो सरलता-पूर्वक पहचान कर अलग नहीं की जा सकती और जो इसी कारण कबीर साहब के नाम से ही प्रसिद्ध है। इनके जीवन-काल में अथवा इनके मरने के अनंतर आज तक कितने ऐसे संग्रह बन चुके होंगे, इसका कोई पता नहीं है, न अभी तक यही विदित है कि इनमें से सर्वप्रथम कौन बना था, किसके द्वारा प्रस्तुत किया गया था तथा उसका भी मौलिक वा प्रामाणिक रूप अभी तक उपलब्ध है वा नहीं। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम सं० १५२१ में इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बीजक' के रूप में तैयार किया था। किंतु 'बीजक' का जो अधिक से अधिक प्रामाणिक पाठ समझा जाता है, उसको ध्यानपूर्वक देखने से उक्त संग्रह की प्राचीनता में संदेह होने लगता है। इसमें संगृहीत कुछ रचनाओं का कबीर साहब के परवर्त्ती कवियों द्वारा निर्मित किया जाना भी स्पष्ट है। ग्रंथ की भाषा इसे 'गुरुग्रंथ साहब' जैसे अन्य ऐसे संग्रहों से पीछे की कृति मानने के लिए हमें बाध्य करती है। इस कारण संभव है कि उक्त ग्रंथ कबीर साहब के देहांत के बहुत पीछे संगृहीत किया गया हो। संभव है कि उसका संग्रह विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के कभी मध्यकाल में हुआ हो। जब तक उनकी रचनाओं के रूप में बहुत हेर-फेर हो चुका था और जब कदाचित् बहुत कुछ 'गुरुग्रंथ साहब' के आदर्श पर ही उसे बनाने की आवश्यकता भी पड़ी थी।[1]

ग्रंथसाहब

सिक्खों के मान्य ग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहब' वा 'आदिग्रंथ' में सिक्ख गुरुओं की रचनाओं के अतिरिक्त अन्य संतों की कविताएँ भी संगृहीत हैं। इस समय सं० १६६१ में वह गुरु अर्जुन द्वारा संगृहीत हुआ, तब से उसका पाठ पूज्य ग्रंथ होने के कारण प्रायः शुद्ध ही रहता आया है। फिर भी उसमें संगृहीत कबीर साहब की रचनाओं की सावधानी के साथ परीक्षा करने पर पता चलता है कि उक्त समय में भी इनकी कृतियों के नाम से दूसरों की कुछ रचनाओं की प्रसिद्धि होने लगी थी और वे बिना किसी संकोच के वैसे संग्रहों में स्थान पाने लगी थीं। जो हो, 'गुरु-ग्रंथ साहब' के अंतर्गत कबीर साहब की रचनाओं के रूप में लगभग सवा दो सौ पद तथा ढाई सौ 'सलोक' वा साखियाँ संगृहीत हैं। इनकी भाषा बहुत कुछ प्राचीन

---

१. इस संबंध में दे० 'कबीर बीजक' की पाठ-परंपरा' 'हिन्दुस्तानी', प्रयाग, भा० १९, अं० २ पृ० ७६-८९ जहाँ पर डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कुछ अन्य तर्क भी दिये हैं। —ले०।

तथा प्रामाणिक जान पड़ती है और इनमें से एक बहुत बड़े अंश को हम इनकी वास्तविक रचना निस्संदेह मान सकते हैं।

कबीर-ग्रंथावली

इसी प्रकार कबीर साहब की रचनाओं का एक दूसरा संग्रह वह है जो किसी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार पर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित किया गया है और जिसकी लगभग ५० साखियाँ और ५ पद उक्त 'गुरु-ग्रंथ साहब' के समान हैं। शेष लगभग साढ़े सात सौ साखियाँ तथा चार सौ पद ऐसे हैं जो उनमें आयी हुई ऐसी रचनाओं से बहुत कुछ भिन्न हैं। इसके सिवाय इस दूसरे संग्रह में जो 'रमैणी' नामक रचना संगृहीत है वह भी उक्त पहले संग्रह में नहीं है। यह दूसरा संग्रह दो पुरानी हस्तलिपियों के आधार पर तैयार किया गया है जिसमें से एक सं० १८८१ तथा दूसरी सं० १५६१ की कही जाती है। उसमें सं० १५६१ वाली प्रति के प्रथम तथा अंतिम पृष्ठों की प्रतिलिपियाँ भी दी गयी हैं और उनसे इस प्रति की प्रामाणिकता के जाँचने में सहायता मिलती है। इसके अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि में जो 'संपूर्ण संवत् १५६१' आदि लिखा है वह दूसरी लेखनी और दूसरे समय का लिखा जान पड़ता है। इस कारण वह उस अंश तक बढ़ाया गया समझ पड़ता है जो ऐसा संदेह करने के लिए हमें उत्साहित करता है कि संभव है उक्त प्रति सं० १५६१ की प्रतिलिपि न हो। फिर भी इस 'ग्रंथावली' में प्रकाशित रचनाओं की भाषा और उनके बेसुधरे रूप आदि से अनुमान किया जा सकता है कि वे भी बहुत कुछ प्राचीन तथा प्रामाणिक होंगी।

बयाना प्रति

इसी प्रकार 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' को कुछ दिन हुए एक ऐसा अन्य हस्तलेख भी मिला है जो प्राचीन तथा प्रामाणिक रचनाओं का संग्रह जान पड़ता है और जो पदों की समानता के आधार पर उक्त 'ग्रंथावली' की रचनाओं को प्रमाणित करता है। इस संग्रह की प्रति एक गुटके के अंतर्गत बयाना में मिली है और इसमें दिये गए संवत् के कारण इसका लिपि-काल सं० १८५५ जान पड़ता है। इसमें संगृहीत कबीर साहब के पदों की टीका भी दी गई है जो कहीं-कहीं एक से अधिक ढंग की है और जिसकी भाषा पुरानी है। पद अधिक नहीं हैं, किंतु उनमें से कुछ ऐसे हैं जो उक्त 'ग्रंथावली' में नहीं पाये जाते। वास्तव में इस 'बयाना प्रति' का आधार कोई और ही प्रति रही होगी जिसमें से इसमें आये हुए पद संगृहीत कर लिये गए होंगे और जिसका पता उक्त गुटके से भी नहीं चलता। कई दृष्टियों से यह प्रति भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसका प्रयोग उक्त 'ग्रंथावली' का संशोधित संस्करण निकालते समय भलीभाँति किया जा सकता है। इस बयाना प्रति के ही समान

अभी और भी संग्रह खोज में मिल स   है, इस कारण उक्त संग्रहों की रचनाओं के विषय में अंतिम निर्णय देना कठिन है ।

अन्य संग्रह

'गुरुग्रंथ साहब' तथा 'कबीर-ग्रंथावली' जैसे संग्रह वे हैं जिनमें आयी हुई रचनाओं के प्राचीन और प्रामाणिक कहने में हमें अधिक विचार करने की आवश्यकता नही पड़ती। यही बात हम इनके रज्जबजी की 'सर्वंगी' तथा 'पंचवाणी' नामक 'साम्प्रदायिक संग्रहों' मे सगृहीत पदों तथा साखियों के विषय में भी कह सकते हैं। यदि अन्य वैसे संग्रहों की भी प्रतियाँ आगे उपलब्ध हो सकें, तो हम किसी अंतिम निर्णय पर कदाचित् पहुँच भी सकेंगे। किंतु कबीर साहब की रचनाओं के नाम से आजकल बहुत-से ऐसे संग्रह वा ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें देखते ही उनकी प्रामाणिकता में हमें कुछ न कुछ संदेह होने लगता है और इस बात का निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि उनके कितने अंश प्रामाणिक हो सकते हैं। कबीर साहब के नाम से प्रसिद्ध कोई ग्रंथ तो स्पष्ट ही अप्रामाणिक है; क्योंकि उनके द्वारा किसी ग्रंथ के रचे जाने का कोई प्रमाण नही मिलता। परन्तु उनका समय-समय पर पदों, साखियों वा अन्य ऐसी रचनाओं का मुख से कहना तथा श्रोताओं का उन्हें कंठस्थ कर लेना वा लिख लेना और किसी समय आगे चल कर उनका संग्रहों के रूप में भी लिपिबद्ध कर लिया जाना अधिक संभव जान पड़ता है। ऐसे संग्रह कई भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा कई भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुए होंगे। संभव है कुछ रचनाएँ संगृहीत होने से बच रही होंगी। इन्हीं बच गयी रचनाओं में उनके अधिकतर मौखिक ही रह जाने के कारण बहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया होगा। अनेक प्राचीन लिपिबद्ध रचनाओं के भी मौखिक रूपों में क्रमशः अंतर पड़ते जाने की सम्भावना हो सकती है। परन्तु जहाँ उनकी मौलिकता का पता उनके उक्त लिपिबद्ध रूप से चल सकता है, वहाँ केवल मौखिक रूप में आती हुई और बहुत पीछे लिपिबद्ध होनेवाली रचनाओं के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते।

बहुत पीछे लिपिबद्ध की गई वे रचनाएँ कही जा सकती हैं। जिनके संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग आदि से प्रकाशित हुए हैं, जिनके रूप नितांत आधुनिक तथा नवीन समझ पड़ते हैं। इनकी भाषा में कई मुखों द्वारा उच्चरित होते आने के कारण बहुत फेर-फार हो गया है। ऐसे संग्रहों की अनेक रचनाएँ प्रायः वे ही हैं जो पुराने लिपिबद्ध संग्रहों में भी आ चुकी हैं, किंतु जो रूपांतर हो जाने से बहुत भिन्न हो गई हैं। शेष में से एक पर्याप्त संख्या उक्त रचनाओं की भी है जो संभवतः दूसरा की कृतियाँ हैं। किंतु जो भावसाम्य के कारण एक साथ कर ली गई हैं अथवा जिनकी प्रामाणिकता के विषय में खोज-पूछ करने के झमेले में न पड़ कर संग्रहकर्ता

ने यों ही सम्मिलित कर लिया है। वेलवेडियर प्रेस के 'कबीर साहब का साखी-संग्रह' में साखियों की संख्या २१२८ और 'कबीर साहिब की शब्दावली' (चारों भाग) के शब्दों की संख्या ६१२ है। फिर भी इसके शब्दों के अंतर्गत कुछ वे शब्द नहीं आ पाये हैं जो 'शांति निकेतन' द्वारा प्रकाशित 'कबीर' नामक संग्रह में संगृहीत हैं। उसी प्रकार न उक्त 'साखी-संग्रह' में ही वे कुल साखियाँ आ सकी हैं जो बंबई से प्रकाशित 'सत्य कबीर की साखी' में आती हैं। जान पड़ता है कि समय ज्यों-ज्यों व्यतीत होता गया है, त्यों-त्यों कबीर साहब की रचनाओं की संख्या बढ़ाने की चेष्टा भी होती गई है और अब कबीर-पंथ के अनुयायी लोगों में उन्हें सहस्रों वा लक्षों तक की संख्या में बतलाने की परंपरा चल निकली है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने "सहस छानबे औ छव लाखा। जुग परमान रमैनी भाखा"[1], अर्थात् युगधर्मानुसार छह लाख छियानबे हजार की संख्या में केवल रमैनियों की रचना की थी। इसके सिवाय अन्यत्र यहाँ तक भी कहा गया है—"जेते पत्र वनास्पति, औ गंगा की रेन। पंडित विचारा क्या कहै कबीर कही मुख बैन[2]"। इधर खोज करने पर डॉ० पारसनाथ तिवारी को कबीर साहब की कही जाने वाली रचनाओं में से लगभग १६ सौ पद, साढ़े चार सहस्र साखियाँ और १३४ रमैनियाँ मिली हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी ऐसी रचनाएँ मिली हैं जिन्हें कबीर कृत कहा जाता है, किंतु उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ कई हस्त-लिखित प्रतियों को प्रामाणिक मान कर और उनकी छानबीन करके इनके २०० पद, २० रमैनियों, १ चौंतीसी रमैनी, ७०० साखियों को ठीक माना है।[3]

कृतियों का रूप

'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का रूपांतर है और इसका मूल अर्थ है वह पुरुष जिसने किसी वस्तु वा घटना को अपनी आँखों देखा है। ऐसे साक्षात् अनुभव द्वारा ही किसी बात या यथार्थ ज्ञान होना संभव है जिस कारण 'साक्षी' वा 'साखी' शब्द से अभिप्राय उस पुरुष से ही होगा जो उक्त बात के विषय में कोई विवाद खड़ा होने पर निर्णय करते समय प्रमाण-स्वरूप समझा जा सके। इस कारण कबीर साहब की दोहे, सोरठे आदि के रूपों में पायी जानेवाली छोटी-छोटी रचनाओं के साखी कहे जाने का अभिप्राय भी यही हो सकता है कि उनका प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में कभी-कभी नैतिक, आध्यात्मिक वा व्यावहारिक उलझनों के सामने

---

१. हिंदुस्तानी, भा० २, अं० १४, पृ० ३७।
२. बीजक साखी २६१।
३. कबीर ग्रंथावली, प्रयाग, १९६१ ई०।

आने पर उन्हें सुलझाने समय सांकेतिक प्रमाणों के रूप में किया करते हैं। इन साखियों के लिए 'बीजक' में "साखी आँखी ज्ञान की" भी कहा गया है और इनके द्वारा ही संसार के झगड़े का छूटना संभव समझा गया है। कबीर साहब की साखियों को सिक्खों के 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत 'सलोक' के नाम से संगृहीत किया गया है। कबीर साहब के पदों को भी 'शब्द', 'बानी', 'बचन' वा 'उपदेश' कहा जाता है और तदनुसार भिन्न-भिन्न संग्रहकर्ताओं ने इनके संग्रहों के भिन्न-भिन्न नाम दे दिये हैं। ये पद वास्तव में भजनों के रूप में गाने योग्य रचनाएँ हैं जिनमें इनके भिन्न-भिन्न उपदेशों के सारांश बतलाये गए रहते हैं। इन्हीं में अधिकतर इनकी उल्टबासियाँ भी पायी जाती हैं जिनके गूढ़ार्थ को पूर्ण रूप से समझ लेना सर्व-साधारण का काम नहीं है।

कबीर साहब की 'रमैनियों' का प्रचार अधिकतर कबीर-पंथ के अनुयायियों तक ही सीमित है और इनकी रचना दोहे तथा चौपाइयों में होने के कारण ये विशेषकर नित्य पाठ की वस्तु मानी जाती हैं। 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत आयी हुई कबीर साहब की रमैनियों के एक संग्रह को 'बावन अखरी' कहा गया है और प्रायः उसी प्रकार की एक रचना को 'बीजक' में 'ज्ञान चौंतीसा' नाम दिया गया है। इन रमैनियों की रचना वर्णमाला के अक्षरों को लेकर की गई है। वैसी ही तिथियों को लेकर की गई रचनाओं को 'गुरुग्रंथ साहब' में 'थिती' (अर्थात् तिथि) तथा दिनों के अनुसार बनी हुई को 'वार' कहा गया है। उक्त सभी प्रकार की रचनाओं की परंपरा बहुत पहले संभवतः सिद्धों तथा नाथों के समय से ही चली आ रही थी। कबीर साहब ने भी उनका आवश्यकतानुसार अनुसरण किया था तथा समय-समय पर इनमें से भी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की गई थीं जो आजकल उनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

३. कबीर साहब का मत

(१) ये क्या थे ?

हिन्दू-मतावलंबी

कबीर साहब को एक भक्त के रूप में समझने की परंपरा प्रारंभिक काल से ही चली आ रही है। इनके समसामयिक वा निकट समकालीन संतों ने सदा इन्हें एक भक्त के रूप में ही देखा। भक्त चरितों के रचयिताओं ने इन्हें भक्तों की श्रेणी में ही रखा। इनके नाम से प्रचलित कबीर-पंथ के अनुयायियों ने भी इन्हें हंसों के उद्धारार्थ अवतीर्ण होनेवाले सत्य कबीर का रूप देकर अधिकतर उसी ओर खींचने का यत्न किया। इनकी वैष्णवों के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा तथा इनके द्वारा

भगवान् के लिए प्रयुक्त 'राम', 'हरी', 'नारायण', 'मुकुंद' जैसे शब्दों के बाहुल्य से भी इसी धारणा की पुष्टि होती दीखती है। विशेषकर इस प्रसिद्धि के कारण कि इन्हें स्वामी रामानंद ने दीक्षित किया था तथा ये उनके प्रमुख १२ शिष्यों में से एक थे। उक्त प्रकार के कथन में किसी प्रकार के संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। फिर भी इनकी रचनाओं में बहुधा तीर्थ, व्रत, भेष, मूर्तिपूजा जैसी बाह्य बातों के प्रति इनकी अनास्था लक्षित होती है और अवतारवाद तथा शास्त्र-विहित नियमों के प्रति इनका विरोधभाव भी दीख पड़ता है। इसके सिवाय उनमें इनका निर्गुण ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन भी स्पष्ट शब्दों में किया हुआ मिलता है। इस कारण इन्हें सगुणोपासक न मानकर निर्गुणोपासक ठहराने की प्रवृत्ति अधिक लोगों की समझ पड़ती है। कुछ लोग तो इनकी गणना भी इसी कारण महाराष्ट्रीय 'वारकरी सम्प्रदाय' के संत ज्ञानदेव, नामदेव आदि की श्रेणी में करना चाहते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगों की यह भी धारणा है कि ये भक्त न होकर वास्तव में एक शुद्ध विचारक या दार्शनिक थे। इनके अनेक सिद्धांतों मे शांकर-अद्वैतवाद की गंध पाकर वे अनुमान करते हैं कि ये एक पूरे 'वेदांती' थे तथा इनकी बहुत-सी रचनाओं के वेदांतपरक अर्थ करते हुए भी दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार इनकी कुछ उपलब्ध बानियोंमें योग-साधना की बातें पाकर इन्हें एक पूर्ण योगी वा कम से कम नाथ-पंथी सिद्ध करने की ओर भी लोग प्रवृत्त होते हैं। इसके विपरीत कुछ लोगों का इनके विषय में केवल इतना ही कहना भी मिलता है कि ये एक सच्चे सुधारक-मात्र थे जिन्होंने अपने समय की प्रचलित अनेक धार्मिक तथा सामाजिक बुराइयों की खरी आलोचना की और उन्हें दूर करने की चेष्टा में ये अपने जीवन भर निरत रहे।

मुस्लिम मतावलंबी

इन उक्त मतवालों के अनुसार कबीर साहब की विचारधारा का मूल स्रोत हिन्दू-धर्म वा हिन्दू-संस्कृति के ही भीतर ढूँढ़ने का यत्न करना चाहिए परन्तु इसके विरुद्ध कुछ लोग बहुत दिनों से यह भी समझते आ रहे हैं कि इन्हें हिन्दू-धर्मानुयायियों में गिनना सत्य से कहीं दूर चलेजाने के समान होगा। उनके अनुसार इनके जीवन का आरंभ ही इस्लाम धर्म के वातावरण में हुआ था और इनके सारे संस्कार उसी मत के द्वारा प्रभावित थे। इसकारण इनके विचारों में भी उन्हीं बातों की प्रधानता दीख पड़ती है जो उसके सिद्धांतों के अधिक मिलती-जुलती हैं। उदाहरण के लिए इनका ईश्वर के लिए 'कर्ता' शब्द का अधिक प्रयोग करना, एक 'जोति' मात्र से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति बतलाना, 'गोर', 'अंबर', 'चौदह चंदा' आदि जैसी इस्लामी भाव-प्रदर्शक बातों के हवाले देना, योग-साधना का मुख्य-

लक्ष्य भी 'प्रेमधियान' को ही मानना आदि अनेक बातों से यही प्रतीत होता है कि ये इस्लाम धर्म के अधिक निकट अवश्य रहे होंगे। इनके कर्मवाद वा जन्मांतरवाद के भी वास्तविक रूप यही सिद्ध करते हैं कि इनके मुख्य सिद्धांतों के मूल आधार इस्लामी धर्मग्रंथ ही रहे होंगे। कर्नल मालकन ने इन्हीं कारणों से कबीर साहब को सूफ़ी सम्प्रदाय का होना बतलाया है और ग़ुलाम सरवर ने इन्हें स्पष्ट शब्दों में शेख तक़ी का शिष्य तक मान लिया है। आजकल कुछ लोग इन्हें 'जिंद' का रूप देकर उक्त प्रमाणों के आधार पर इन्हें सूफ़ी मानने के लिए तैयार जान पड़ते हैं। इसके सिवाय मगहर जैसे स्थानों में पाये जानेवाले कुछ कबीर-पंथी इनके मुस्लिम पीर होने में आज भी आस्था रखते हैं और इनकी क़ब्र पर कहीं-कहीं आज तक भी फ़ातिहा पढ़ा जाता है।

सारग्राही

इस प्रकार भिन्न-भिन्न परंपराओं तथा इनकी रचनाओं के उपलब्ध संग्रहों में यत्र-तत्र पाये जानेवाले विविध पद्यों के आधार पर एक ही व्यक्ति को दो नितांत भिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों का अनुयायी मान कर उसी के अनुसार उसके सिद्धांतों के निरूपण की भी परिपाटी पृथक्-पृथक् देखी जा रही है। तदनुसार बहुत-से विद्वानों का इनके विषय में यह भी अनुमान है कि ये किसी मत-विशेष के अनुयायी न होकर भिन्न-भिन्न मतों से अच्छी-अच्छी बातें लेकर उनके आधार पर एक नया सम्प्रदाय खड़ा करने वाले व्यक्ति थे। इन्होंने हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धांत, वैष्णव सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मांतरवाद आदि बातें ग्रहण कीं; बौद्ध धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यम मार्ग आदि अपनाये तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफ़ी सम्प्रदाय से प्रेम-भावना को लेकर सबके सम्मिश्रण से एक नया पंथ चला देने की चेष्टा की। इन्होंने जिन-जिन धर्मों में जो-जो बुराइयाँ देखीं उनकी आलोचना की और उन्हें दूर करने के लिए लोगों को उपदेश दिये। उनकी महत्त्वपूर्ण बातों को एक में समन्वित कर उनके आधार पर एक ऐसे मत की नींव रखी जो सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य हो सके। इनके इस नये मत में इसी कारण कोई मौलिकता नहीं दीख पड़ती, न ऐसी कोई भी बात लक्षित होती है जो इनकी ओर से हमारे लिए एक 'देन' कही जा सके। क्या सिद्धांत, क्या साधना, सभी पर प्रचलित मतों तथा सम्प्रदायों की गहरी छाप लगी हुई है जो इन्हें अधिक से अधिक एक 'सारग्राही' मात्र ही सिद्ध करती है। इन्होंने पुरानी परंपरागत बातों की छानबीन कर उनमें से उत्तम बातें ग्रहण कर ली हैं और शेष को अग्राह्य ठहरा दिया है।

पुनर्विचार

परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं पर एक बार फिर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय, तो उक्त तीनों प्रकार की धारणाएँ केवल आंशिक रूप में ही सत्य जान पड़ेंगी और उनसे वास्तविकता कहीं दूर जाती हुई दीख पड़ेगी। कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत विविध प्रकार के सिद्धांतों के उदाहरण अवश्य बिखरे पड़े हैं। उनमें वाह्यत: दीख पड़नेवाली विभिन्नताओं के कारण इनके वास्तविक मत के विषय में सहसा निर्णय कर लेना सरल नहीं है। इनके कथनों तथा उपदेशों में प्राप्त प्रचलित मतों वा मान्यताओं के भिन्न-भिन्न उदाहरणों के आधार पर इन्हें भिन्न-भिन्न वर्गों में रखने की प्रवृत्ति अवश्य होने लगती है[1] और हम उनके द्वारा सत्य के प्रति निश्चित किये गए वास्तविक दृष्टिकोण के पता लगाने का कार्य एकदम भूल-से जाते है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को जिसने सदा अपने को वर्तमान मत-मतांतरों से अलग रखने की ही चेष्टा की थी, हम एक निश्चित साम्प्रदायिक सीमा के भीतर अवरुद्ध कर देने को उद्यत हो जाते हैं। प्रत्यक्ष है कि कबीर साहब अपने समय में प्रचलित मत-मतांतरों को सत्य से दूर गया हुआ मानते है और अपने अनुयायियों को भ्रम का त्याग कर फिर से उसे ही अपनाने का उपदेश दिया करते थे। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' बतलाया था। इन्होंने कहा था कि हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों के माननेवाले मूल की ओर ध्यान न देकर वाह्य बातों के जंजाल में ही फँसे हुए दीख पड़ते हैं, जिस कारण उनमें परस्पर द्वेष, विरोध और शत्रुता के भाव लक्षित होते हैं। यदि वाह्य प्रपंचों तथा विडंबनाओं को भ्रमजनित मात्र मान कर कोई सबके आधारभूत मौलिक सत्य तक पहुँच सके, तो सारा झगड़ा शीघ्र दूर हो जाय। उसका अनुभव एक बार भी हो जाने पर सारे मतभेद निरे काल्पनिक जान पड़ने लगते हैं। मन स्वयं स्थिर तथा शांत हो जाता है और उसे किसी सम्प्रदाय की परिधि के भीतर जाकर उसे केवल संकीर्ण मार्गों पर चलते रहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

(२) वास्तविक प्रश्न

कलुषित वातावरण

कबीर साहब के सामने वास्तव में एक बहुत बड़ी समस्या थी जिसका निराकरण करना इनके लिए अत्यंत आवश्यक था। धर्म के क्षेत्र में न केवल हिन्दू तथा

---

१. जैसी 'श्रीमद्भागवद्गीता' पर भिन्न-भिन्न प्रकार की टीकाएँ देख कर उसे सम्प्रदाय-विशेष का ग्रंथ मान लेने की प्रवृत्ति कभी हो जाती है।

मुसलमान दो वर्गों में बँट कर आपस मे लड़-भिड़ रहे थे, अपितु यती, जोगी, संन्यासी, साकत, जैन, शेख तथा काज़ी भी सर्वत्र अपनी-अपनी हाँक रहे थे। सभी अपने-अपने को सत्य मार्ग का पथिक मान कर एक-दूसरे के प्रति घृणा तथा द्वेष के भाव रखते थे। इस प्रकार वर्गों के भीतर भी उपवर्गों की सृष्टि हो रही थी जो प्रत्येक दूसरे को नितांत भिन्न तथा विधर्मी तक समझने की चेष्टा करता था। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी एक ओर जहाँ वर्ण-व्यवस्था के कारण हिन्दुओं के भीतर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं एक-दूसरी को अपने से अलग मानती थी, वहीं दूसरी ओर इन्हीं के भीतर ऊँच-नीच तथा कुलीन-अकुलीन होने का भाव यहाँ तक बढ़ गया था कि एक मनुष्य दूसरे को अछूत तक मानने लगा था।

आश्चर्य तो यह है कि इन सूक्ष्म विभाजनों तथा वर्गीकरणों के कारण झगड़े और अशांति के होते रहने पर भी कोई इन्हें हानिकारक नहीं ठहराता था, अपितु भिन्न-भिन्न धर्मग्रंथों के आधार पर इन्हें आवश्यक तथा धर्म-संगत बतला कर पारस्परिक अनैक्य की भावना को और भी पुष्ट करता रहता था। इन धर्म-ग्रंथों के बल पर केवल सामाजिक विशृंखलता ही नहीं बढ़ रही थी, बल्कि इनमें कथित अगणित वाह्याचारों तथा विधानों के कारण लोगों का समय व्यर्थ के झमेले में ही अधिक लगा रहता था। उन्हें किसी वास्तविक तत्त्व की खोज तथा प्राप्ति की कभी चिता ही नहीं होती थी। उनकी बहिर्मुखी वृत्ति उन्हें अपने विहित कर्मों की समुचित समीक्षा करने का कभी अवकाश नहीं देती थी और इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य सदा बाहरी तथा दिखाऊ बातों में ही व्यस्त रहने के कारण अपने हृदय की सचाई की क्रमशः उपेक्षा करता जा रहा था। उक्त धर्मग्रंथों की बातों में उनके अनुयायी पूरी आस्था रखते थे। उनकी व्याख्या करनेवालों के प्रति श्रद्धा तथा अंधभक्ति तक प्रदर्शित करते थे। इसलिए पोथियों के प्रपंचों के साथ-साथ नकली धार्मिक नेताओं की भी संख्या में वृद्धि होती जा रही थी और वाह्याडंबर तथा धोखा बढ़ता जा रहा था। लोगों का मन जहाँ भ्रांतियों से भरता जा रहा था, वहाँ उनके हृदय कपट के कारण कलुषित हो रहे थे। इस प्रकार सामाजिक आचार-व्यवहारों की दुर्व्यवस्था भीषण रूप धारण कर रही थी। ऐसी स्थिति में किसी सर्वमान्य सुझाव का प्रस्तुत करना सरल काम नहीं था।

कठिन समस्या

कबीर साहब उक्त समस्या द्वारा कितने प्रभावित थे और उसे हल करने की चेष्टा में ये कितने व्यग्र तथा बेचैन रहा करते थे, इस बात का पूरा संकेत हमें इनकी अनेक रचनाओं में दीख पड़नेवाले उन फुटकर उद्‌गारों में भी मिल जाता है जो

वहाँ पर विविध दार्शनिक प्रश्नों के रूप में प्रकट किये गए प्रतीत होते हैं[१]। उक्त समस्या इनके सामने कोरे परमार्थ की भावना से ही प्रेरित होकर नहीं आती, अपितु जान पड़ता है कि उसे इन्होंने निजी वा अपने स्वार्थ का प्रश्न भी बना लिया है जिसका निबटारा किये बिना इन्हें किसी प्रकार भी कल नहीं पड़ती। ये अपनी आंतरिक वेदना से उद्विग्न होकर दर-दर की खाक छानते फिरते हैं। ये जहाँ कहीं भी किसी महापुरुष का पता पाते हैं, वहाँ दौड़ पड़ते हैं। उसके साथ सत्संग करते हैं, उससे उपलब्ध बातों की छानबीन करने के लिए संभवतः एकांत में विचार करते हैं और अपने भीतर किसी अंतिम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर लेने की चेष्टा भी करते हैं। इन्हें उक्त सामाजिक वा धार्मिक पहेली का सुलझाव अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति पर ही निर्भर जान पड़ता है। सभी समस्याएँ मूलतः एक हैं। यदि सब की तह तक पहुँच कर उनके रहस्य को समझने का यत्न किया जाय, तो सबका उत्तर भी एक ही तत्त्व के अंतर्गत निहित दिखलायी देगा। कबीर साहब ने इसी कारण सर्वप्रथम उसी सत्य को जान लेने और उससे भली भाँति परिचित होकर उसे अपना लेने का यत्न किया और तब कहीं जाकर इन्हें शांति मिली सकी।

(३) सत्यान्वेषण

सत्यान्वेषण पद्धति

कबीर साहब के उक्त सत्यान्वेषण की पद्धति निगमनविधि-परक न होकर पूर्णतः व्याप्तिविधि-परक है। ये किसी भी सिद्धांत को निभ्रांत रूप से सर्व मान्य मानकर नहीं चलते, न उसके आधार-स्वरूप किसी धर्म-ग्रंथवा आप्त वाक्य की ही प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। इनकी धारणाहै कि प्रचलित वेद-क़ुरानादि मान्य ग्रंथ, जिनका आश्रय लेकर सर्वसाधारण अपने-अपने मतों का अनुसरण करते हैं, बहुत-सी भ्रमात्मक बातों से भी भरे हैं। उनकी व्याख्या करने वालों ने उनके वाग्जाल को और विस्तृत बना दिया है। चारों वेदोंके जानकारसमझे जानेवाले पंडित उन्हीं में उलझकर मरते रहते हैं[२]; वे उनकी व्याख्या तो करते हैं, किंतु भीतरी बातों से वे स्वयं अनभिज्ञ रह जाते हैं[३]। वे दूसरों परउनके रहस्य प्रकट करने के लिए उपदेश

---

१. उदाहरण के लिए दे० कबीर ग्रंथावली, काशी संस्करण, पद २७, पृ० ९७; ३२, पृ० ९८; ३७, पृ० १००; ४४, पृ० १०२-३; १४१, पृ० १३१; १५४, पृ० १३८ और १६४, पृ० १४२-३ आदि।

२. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी १०, पृ० ३६।

३. वही, पद ४२, पृ० १०२।

देते फिरते हैं, किंतु स्वयं उनसे भली भाँति परिचित नहीं रहा करते। उक्त वेदों की व्याख्या में जिन स्मृतियों की रचना हुई है, वे भी इसी कारण हमारे भ्रम-रूपी बंधन के लिए साँकल तथा रस्सी लिए फिरती हैं। इनकी जंजीर टूटती नहीं, न काटने से कटने योग्य ही दीख पड़ती है, यह सारे संसारको सर्पिणी बन कर खाया करती है[1]। इसी प्रकार 'षट् दर्शन' और 'छानबे पाषंडों' के आधार पर तर्क-वितर्क करने वाले भी सदा व्याकुल तथा बेचैन रहा करते है। उन्हें सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता, न उनके संशय का निराकरण ही होता है[2]। काजी तो अपनी किताब 'क़ुरान' के पढ़ने में पूरा समय देने पर भी किसी गति से परिचित नहीं हो पाता[3]। सच्ची बात तो यह है कि उक्त पंडित तथा काज़ी जितना ध्यान अपने धर्म-ग्रंथों के शब्दों की ओर देते हैं, उतना उनके अर्थों की ओर नहीं देते। उन्हें पढ़ कर वे न तो स्वयं विचार करने का कष्ट उठाते हैं, न उनके मर्म को समझने की चेष्टा ही किया करते हैं। अतएव धर्म-ग्रंथों के वाग्जाल का आश्रय न लेकर यदि सत्य की जानकारी के लिए स्वतंत्र रूप से अपने निजी अनुभव के बल पर ही विचार किया जाय, तो उनसे अधिक सफल होना संभव है। क्योंकि वैसी दशा में जिज्ञासु जो कुछ भी सोच सकेगा, अपनी पूरी शक्ति लगा कर समझ-बूझकर सोचेगा। जहाँ तक सोच-विचार करता जायगा, वहाँ तक उसका अनुभव गहरा तथा विस्तृत होता जायगा और सच्चा होने के कारण वही उसके जीवन का अंग भी बन सकेगा। इसके विपरीत धर्म-ग्रंथों के वाक्यों का अंधानुसरण अनुभवाश्रित न होने के कारण सदा बाहरी प्रभाव तक ही डाल सकता है।

उसका स्वरूप

वास्तव में कबीर साहब की विचार-पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर ही खड़ी है और इसी कारण ये जहाँ कहीं भी अवसर पाते हैं, वहाँ निजी अनुभव के महत्त्व का गान करते नहीं अघाते, न कभी परावलंबन द्वारा प्राप्त तथाकथित ज्ञान की निंदा करने से ही चूकते हैं। इनका अपने विषय में भी यही कहना है कि मैंने पराश्रय ग्रहण करने की अभिलाषा से कहीं भी दौड़-धूप नहीं लगायी, "मेरे स्वयं विचार करते-करते अपने मन ही मन सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि हो गई[4]"। इसी प्रकार "मेरे धीरे-धीरे चिंतन करते-करते ही उस निर्मल

---

१. आदिग्रंथ, राग गउड़ी, पद ३० ।

२. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ३४, पृ० ९९ ।

३. वही, पद ५९, पृ० १०७ ।

४. 'करत विचार मनही मन उजी, ना कहीं गया न आया' ।
—कबीर ग्रंथावली, पद २३, पृ० ९६ ।

जल की प्राप्ति हो गई, जिसका कथन अपने शब्दों में करने की चेष्टा कर रहा हूँ।[1] उस 'रामजलु' का वर्णन इन्होंने अपने एक पद में बड़े सुंदर ढंग से किया है। उसे अपनी जिज्ञासा की पिपासा तृप्त करनेवाला अक्षय आनंद का भांडार 'सुख-सागर' भी बतलाया है[2]। यही सबका मूल आधार है, यही सब कुछ है और यही वह सत्य स्वरूप, नित्य तथा एकरस तत्त्व है जिसे इन्होंने भिन्न-भिन्न स्थलों पर विविध नामों द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। यहाँ जिस प्रकार इनके उसे 'जल' वा 'रामजल' कहने मात्र से इसका सहज स्वरूप भौतिक जल-तत्त्व नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार उसे ही अन्यत्र इनके 'राम' शब्द द्वारा अभिहित करने से प्रसिद्ध अवतार दाशरथि राम का बोध नहीं हो सकता, न हम उसे कहीं अन्य स्थल पर इनके 'ब्रह्म' कह देने मात्र से ही निर्गुन परमात्मतत्त्व मान सकते हैं। वह इनके अपने निजी अनुभव की वस्तु है जिसे ये स्वभावतः दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं पाते और इन्हें विवश होकर इसे रहस्यमय तथा अकथनीय तक कह देना पड़ता है। वह इनकी अपनी 'भीतर की चीज' है जो पहले इन्हीं के हृदय में एक तीव्र जिज्ञासा के रूप में इन्हें बेचैन किये हुए थी और वहीं फिर जैसे परि-वर्तित-सी होकर इन्हें पूर्ण शांति प्रदान कर रही है। अब इनकी अपनी ज्वालामयी वेदना ही शीतल जल की भाँति अनुभूत हो रही है और इनका "मन मान गया" है। आग बुझ गई है, किंतु वे अपने उक्त अनुभव-विशेष का चित्रण उसी रूप में 'बाहर' करने में असमर्थ हैं[3]। इनके अनुसार इस अनुभव की कथा किसी के भी द्वारा कहीं नहीं जा सकती। जिसके भीतर यह 'सहजभाव' से उत्पन्न होता है, वह उसमें रमण करता हुआ उसी में लीन हो जाता है[4]।

---

१. चेतत चेतत निकसिओ नीरु। सो जलु निरमलु कथत कबीरु'॥
—आदिग्रंथ, राग गउड़ी, पद २४।

२. 'अब मोहि जलत रामजलु पाइआ। राम उदिकि तनु जलत बुझाइआ'॥
—वही, पद १।

३. 'तन भीतरि मन मानियां, बाहरि कहा न जाई।
ज्वाला तैं फिर जल भया, बुझी बलंती लाई॥'
—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, सा० ३१, पृ० १५।

४. 'कहै कबीर यहु अकथ है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥'
—वही, पद १४, पृ० ६३।

(४) परमतत्त्व का स्वरूप

धर्म-तत्त्व तथा निजी अनुभव

इस प्रकार कबीर साहब के अनुसार परमतत्त्व की अनुभूति का वास्तविक रूप सामूहिक वा साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत ही हो सकता है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य के स्वरूप का ज्ञान भी केवल उतना ही हो सकता है जितना उसके निजी अनुभव में आ सके। वेद, कतेब वा अन्य मान्य ग्रंथ उनके रचयिताओं के अपने अनुभव-विशेष पर ही अवलंबित हैं और वे भी उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं। यदि किसी अन्य व्यक्ति के भी विचारपूर्ण अनुभव में ठीक वैसी ही बातें आ सकें, तो कोई हानि नहीं; किंतु कोरे अंधविश्वास के बल पर उन्हें वैसा मान बैठना अपने साथ भी छल तथा धोखा करने के समान है। कबीर साहब पूर्ण सत्य को पूर्ण रूप में जान लेने का स्वयं कहीं भी दावा नहीं करते, न दूसरों द्वारा ऐसा किया जाना ये पसंद ही करते हैं। इनके मतानुसार "वह जैसा वस्तुतः हो सकता है, वैसा किसी को भी ज्ञात नहीं। सब अपनी-अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं"।[१] "वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नहीं"।[२] "जैसा कहा जाता है, वैसा ही उसका पूर्ण रूप में होना संभव नहीं, वह जैसा है वैसा ही है"।[३] परन्तु अपने वास्तविक रूप में "वह चाहे जैसा भी हो, रहा करे, हमें इसकी आवश्यकता नहीं, हमें तो केवल अपनी पहुँच भर उसे जान कर ही आनंद में मग्न होना है"।[४] "वह जिस किसी भी व्यक्ति के अनुभव में जिस प्रकार को व्यक्त कर उसे अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार वह उसका वर्णन किया करता है[५]" और "जो जैसा उसे जानता है उसी के अनुसार

---

१. 'जस तूं तस तोहि कोई न जांन। लोग कहैं सब आनहि आंन'॥
—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, पद ४७, पु० १०३।

२. 'वोहै तैसा वोही जानैं, ओही आहि आहि नहीं आंनैं'॥
—वही, रमैणी ६, पृ० २४१।

३. 'जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ'।
—वही, रमैणी ३, पृ० २३०।

४. 'हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरिषि गुण गाय'।
—वही, साखी २, पृ० १७।

५. 'जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा'।
—वही रमैणी ३, पृ० २३०।

उसे लाभ भी होता है"।[१] सारांश यह कि यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किये गए वर्णन अंततः अपूर्ण ही कहे जा सकते हैं, किंतु उनके आधारभूत निजी अनुभव का आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है।

वह भी अनिर्वचनीय

कबीर साहब ने अपने विषय में स्पष्ट कहा है कि "सद्गुरु ने मुझे तत्त्व की ओर विचारपूर्वक संकेत कर दिया और मैंने उसे अपने अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया"[२] तथा "अपने अनुमान के अनुसार ही स्मरण करते हुए मैंने राम को कुछ हद तक जान लिया"।[३] वह 'अनुभूत', 'अविगत', 'अगम' तथा 'अकलप' तो है ही, जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका, वहाँ तक भी उसे 'अनुपम', 'निराला', 'अकथ' तथा 'अगोचर' ही इन्हें कहना पड़ा। उसे निजी अनुभव द्वारा आत्मसात कर लेने पर जो दशा हो जाती है, उसका भी वर्णन करने में ये अपने को असमर्थ पाते हैं। ये कहते हैं कि उस समय मेरे हृदय-स्थित 'त्रिभुवन राइ' ने मेरे शरीर में 'अनिन कथा' ला दी अर्थात् एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी[४]। जिस प्रकार पानी से हिम बन कर फिर 'हिम पानी में ही परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार मैं जो कुछ पहले था वही फिर से हो गया, अब उसे कहा क्या जा सकता है"[५]। उस समय जैसी शोभा का मैंने अनुभव किया, वह वर्णन करने योग्य नहीं, वह शोभा देख कर ही समझी जा सकती है"।[६] मैंने अविगत, अकल तथा अनुपम को देखा जिसका वर्णन यदि करना चाहूँ तो मैं उसी प्रकार नहीं कर सकता, जिस प्रकार कोई

---

१. 'जिहि हरि जैसा जांणियां, तिनकं तैसा लाभ'।
—वही, साखी २१, पृ० ६।

'सतगुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार'।
—कबीर ग्रंथावली, का० सं०, पद ३८६, पृ० २१६।

३. 'सुमिरत हूँ अपनैं उनमाना, क्यंचित जोग रांम मैं जाना।'
—वही, रमैणी ४, पृ० २३५।

४. 'अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ'।
—वही, साखी २६, पृ० १४।

५. पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥'
—वही, साखी १७, पृ० १३।

६. 'कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवांन।'
—वही, साखी ३, पृ० १३।

गूँगा व्यक्ति मिठाई का स्वाद पाकर उसका माधुर्य किसी दूसरे पर प्रकट नहीं कर पाता, अपितु मन ही मन आह्लादित होता हुआ सैन वा संकेत-मात्र करके रह जाता है।"[१] "अपनी स्वप्न-जैसी स्थिति में मैंने उस निधि का जो 'यत्किंचित्' पाया, उसकी शोभा कहीं गुप्त रखने योग्य नहीं थी, वह अपार थी और अपने हृदय में मानो समा नहीं पाती थी। अतएव लोभ और अहंकार की प्रवृत्तियाँ आपसे आप नष्ट हो गई।[२]" ये उक्त दशा में आकर आनंदातिरेक द्वारा विभोर-से हो जाते हैं और अपनी तन्मयता की लहरों के वेग में उस तत्त्व के विषय में विविध प्रकार के उद्गार प्रकट कर उसका वर्णन करने की चेष्टा करते हैं।

सत्य का स्वरूप : निर्गुण

तदनुसार कभी-कभी ये उसे 'गुनअतीत', 'गुनबिहूँन', 'निरगुन' तथा 'निराकार' बतला कर उसके वर्णन में कहते हैं कि "वह अलख, निरंजन है जिसे कोई लख नहीं सकता; वह नरभै तथा निराकार है, वह न शून्य है, न स्थूल है। उसकी कोई रूपरेखा नहीं। वह न दृश्य है, न अदृश्य; उसे न तो गुप्त ही कह सकते हैं और न उसे प्रकट कह कर पुकार सकते हैं।"[३] इसी प्रकार ये "उस 'अविगत' की गति क्या बतलाऊँ, जिसके नाम-ग्राम का कोई ठिकाना नहीं, 'गुनबिहूँन' को कैसे देखा ही जा सकता और उसका नाम ही क्या दिया जा सकता है"[४] भी कहते हैं। ये कभी उसे तत[५]' परम तत[६], अनूप तत[७], निज तत[८] आदि

---

१. 'अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैंन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥'
—कबीर-ग्रंथावली, पद ६।

२. 'क्यंचिति ह्वै सुपिनें निधि पाई। नहीं सोभा कौं धरौं लुकाई॥
हिरदै न समाइ जानियै नहीं पारा। लागै लोभ न और हकारा'॥
—वही, रमैणी ४, पृ० २३४।

३. 'अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुनि असूथल रूप नहीं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा'॥
—वही, का० सं०, रमैणी ३, पृ० २३०।

४. अविगत की गति क्या कहूँ, जसकर गांव न नांव।
गुन बिहून का पेखिये, काकर धरिये नांव'॥
—वही, रमैणी ५, पृ० २३८।

५. वही, सा० ३२, पृ० १५; १, पृ० ५४; पद ५२, पृ० १०५; ३८६, पृ० २१६ तथा रमैणी ३, पृ० २३०।

६. वही, पद १६६, पृ० १५६।

७. वही, सा० ४, पृ० ६०; पद २२०, पृ० १६३।

८. वही, पद १६२, पृ० १४२।

कहते हैं, कभी आतम[1] आत्मा[2], आप[3] वा आपन जैसे शब्दों द्वारा उसे अभिहित करते हैं। कभी सार[4], कभी सबद[5], अनहद[6] वा अंतरधुनि कह कर उसका संकेत करते हैं, तो कभी परमपद[7], 'निजपद'[8], चौथापद'[9], 'अभैपद[10]' बतला कर उसकी सूचना देते हैं। ये उसे कभी-कभी 'सहज'[11], 'सुनि'[12], सति'[13], 'ग्यान'[14], 'अनंत'[15], 'अमृत'[16], 'उन्मन'[17], 'गगन'[18], 'ज्योति'[19], 'सीव'[20], 'ब्रह्म'[21] भी कहते हैं। उनके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार करते हुए अनेक प्रकार के रूपक भी बाँधते हैं। ऐसे शब्द वास्तव में इनके द्वारा अनुभूत सत्य के उन प्रतीकों के ही द्योतक हैं जिन्हें इन्होंने अपनी अनुभवाश्रित धारणाओं के अनुसार निर्धारित

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पद १६०, पृ० १५२।
२. वही, पद ३६१, पृ० २१८।
३. वही, सा० ३०, पृ० १५, पद ६, पृ० ६०, तथा रमैणी ३, पृ० २३१।
४, वही, रमैणी ४, पृ० २३४ तथा पृ० २४१।
५. वही, सा० २, पृ० ६३, पद ३६, पृ० १००।
६. वही, पद २०२, पृ० १५७, ३६६, पृ० २११।
७. वही, पद १८४, पृ० १५०, १६६, पृ० १५४, २२८, पृ० १६५। २५६, पृ० १७६ तथा २६६, पृ० १८०।
८. वही, पद ३६, पृ० १००। ९. वही, पद ३६५, पृ० २१०।
१०. वही, पद ३४६, पृ० २०५।
११. वही, पद ६०, पृ० ६०; २५, पृ० ६६; ४४, पृ० १०२; ६१, पृ० १०७; ११५ पृ० १२५ तथा १७६, पृ० १४२।
१२. वही, पद ८, पृ० ६१, १५०, पृ० १३७, १७६, पृ० १४८।
१३. वही, पद ५८, पृ० १०६, ४०२, पृ० २२२।
१४. वही, रमैणी ६, पृ० २४१।
१५. वही, सा० ३, पृ० १, १, पृ० १२, पद ११०, पृ० १२३।
१६. वही, पद १८, पृ० ६४।
१७. वही, सा० १६, पृ० १३।
१८. वही, पद २६३, पृ० १८७, ४४, पृ० १०३।
१९. वही, सा० ४, पृ० १२, पद ३२८, पृ० १६६, ३६२, पृ० २०६, ३१, पृ० ६८, ५५, पृ० १०५, तथा ७२, पृ० १११।
२०. वही, पद १८८, पृ० १५१।
२१. वही, सा० २०, पृ० २६, ५, पृ० ८१, पद ४२, पृ० १०२।

किया है। इस प्रकार के नामों की लंबी सूची से भी स्पष्ट जान पड़ता है कि इन्होंने उस वस्तु के रहस्य को व्यक्त करने के लिए कितने प्रकार की चेष्टाएँ की हैं।

सगुण तथा विराट् रूप

परन्तु ये इतने से ही संतुष्ट होते नहीं जान पड़ते। ये उस वस्तु को सगुण तथा साकार रूप में भी दिखलाने के यत्न करते हैं। ये उसे सृष्टिकर्ता कहते हैं और बतलाते हैं कि "उसने स्वयं कर्ता बन कर कुंभार की भाँति विविध सृष्टि की रचना की और सामग्रियों को एकत्र कर जीव के रूप में उसके भीतर प्रतिबिंबित हो गया, तब उसके पालन-पोषण में लग गया।... जिसने इस चित्र-रूपिणी सृष्टि की रचना की, वही इसका सच्चा सूत्रधार भी है, वे भले हैं जिन्होंने इस सृष्टि को चित्रवत् मान लिया है।"[१] "वही गढ़ने वाला, सुधारनेवाला तथा नष्ट करनेवाला भी है।"[२] ये उसे विराट् रूप में भी देखते हैं और कहते हैं कि "करोड़ों सूर्य वहाँ प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलास पर्वत के सहित वर्तमान हैं, करोड़ों दुर्गाएँ सेवा करती हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं...., करोड़ों चंद्रमा वहाँ दीपक की भाँति प्रकाश कर रहे हैं और तैंतीस करोड़ देवता भोजन कर रहे हैं, नवग्रह के करोड़ों समूह उसके दरबार में खड़े रहते हैं और करोड़ों धर्मराज उसके प्रतिहारी स्वरूप हैं, करोड़ों पवन उसके चौवारों में घूम रहे हैं और करोड़ों वासुकि उसकी सेज लगा रहे हैं, करोड़ों समुद्र उसके यहाँ पानी भर रहे हैं और अठारहों करोड़ पर्वत उसकी रोमावली बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर उसका भांडार भरते हैं और करोड़ों लक्ष्मियाँ उसका श्रृंगार करती हैं। पाप तथा पुण्य का हरण करनेवाले करोड़ों इन्द्र उसकी सेवा में निरत हैं, उसके प्रतिहारियों की संख्या छप्पन करोड़ है और नगर-नगर में उसकी अपार रचना दीख रही है। वह मुक्तकेशी बन कर विकराल-सी लक्षित होनेवाली करोड़ों कलाओं के साथ क्रीड़ा करता है, करोड़ों संसार उसका दरबार बने हुए हैं और करोड़ों गंधर्व उसकी जय-जय मना रहे हैं।

---

१. 'आपन करता भये कुलाला। बहु बिधि सृष्टि रची दर हाला॥
बिधना कुंभ कीये द्वै बानां। प्रतिबिंब ता मांहि समाना॥
बहुत जतन करि बांनक बाना, सौंज मिलाय जीव तहां ठाना॥
... ...
जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार।
कहे कबीर ते जन भले, जो चित्रवत लेहि विचार॥'
—कबीर-ग्रंथावली, रमैणी, ५ पृ० २४०।

२. 'भांनड़ घडण संवारण सोई।' वही, पद २७३, पृ० १८१।

करोड़ों विद्याएँ उसके गुणगान में लगी हुई हैं, किंतु फिर भी उस परब्रह्म का अंत नहीं पाती हैं" आदि।[१] "अष्टकुल पर्वत उसके पग की धूल हैं, सातो समुद्र उसके नेत्र के अंजन रूप हैं, अनेक मेरु पर्वत उनके नखों पर स्थित हैं और धरती तथा आकाश को उसने अधर में ही रख छोड़ा है। भला उसे केवल 'गोवर्धनधारी' मात्र कह देना कितने आश्चर्य की बात है।"[२] ये इसी प्रकार कभी विष्णु के पौराणिक रूप की कल्पना करते हैं[३] और कभी नरसिंह[४] तथा कृष्णावतार[५] की चर्चा भी कर जाते हैं। ये उस 'हरि' के गुणों की प्रशंसा करते नहीं अघाते और कहते हैं कि "यदि सातों समुद्रों में स्याही घोल दी जाय, सभी जंगलों के पेड़ों की लेखनियाँ तैयार कर ली जायँ और सारी पृथ्वी को ही कागज बना कर उस पर लिखने लगें, तो भी उसकी गुणावली लिखी नहीं जा सकती।[६]"

निरपेक्ष रूप

इस प्रकार कबीर साहब की रचनाओं के अंतर्गत निर्गुण तथा सगुण दोनों का ही वर्णन करनेवाले अनेक उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे कथनों को हम अनुभूत सत्य के स्पष्टीकरण के यत्न में प्रकट किये गए इनके उद्‌गारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। इनके कारण ये न तो निर्गुणवादी कहे जा सकते हैं, न सगुणवादी ही माने जा सकते हैं। इनके अपने सिद्धांतों के अनुसार सत्य निर्गुण तथा सगुण इन दोनों से परे है और अनुभव में आ जाने पर भी अनिर्वचनीय है। "उसे किसी भी उक्त वर्ग का मान कर अपना मत निर्धारित करना असली मार्ग को छोड़ कर भटकना और धोखा खाना है। उसे लोग अजर और अमर कह देते हैं, किंतु वास्तव में 'अलख' के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वह तो बिना रूप तथा वर्ण का होकर सर्वत्र विद्यमान है। जब उसका आदि तथा अंत कुछ भी नहीं, तो उसे पिंड वा ब्रह्मांड के रूप में भी कहना अनुचित है। हाँ, यदि पिंड तथा ब्रह्मांड को छोड़ कर सबके परे के संबंध में वर्णन किया तो उसी को हरि का स्वरूप कह सकते हैं"[७]। सच तो यह है कि सत्य के

---

१. आदिग्रंथ, रागु भैरउ, पद २०।

२. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ३३५, पृ० २०१।

३. वही, पद ३९०, पृ० २१८। ४. वही, पद ३७६, पृ० २१४।

५. वही, साखी १, पृ० ५७। ६. वही, साखी ५, पृ० ६२।

७. 'संतौ धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है, बाट छाड़ि क्यूं बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।

वर्णन में हम उसे निश्चित रूप से 'है' मात्र ही कह सकते हैं। इसके सिवाय उसे 'केवल', 'नित्य', 'पूर्ण', 'एकरस' वा 'सर्वव्यापी' आदि बतलाना भी उसके उक्त परिचय की व्याख्या कर उसे अधिक स्पष्ट करना मात्र है। सत्य के रूप वह वस्तुतः 'निर्विशेष' अथवा 'निरपेक्ष' है और उसके लिए उस दशा में आत्मा, ब्रह्म जैसे नामों का प्रयोग करना भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। 'नाम' का स्वरूप ही सापेक्षिक है और उसके नामी के बिना अनुभवगम्य हुए हम उसका व्यवहार कर नहीं सकते। हमारी अनुभूति की अंतिम सीमा अधिक से अधिक विश्व की कल्पना तक ही परिमित रह सकती है, अतएव सत्य का जो भी नाम होगा विश्व-सापेक्ष्य होगा। परमात्मा अथवा परमेश्वर नाम भी उसके लिए तभी यथार्थ होगा और उसी दशा में हम अपनी कल्पना के अनुसार उसे अन्य नाम भी देंगे। इसीलिए कहा भी है कि "निरपेक्ष परमेश्वर का वह स्वरूप है जो जगत् के पूर्व का है और परमेश्वर नाम हम निरपेक्ष को ही जगत्-संबंधी दृष्टिकोण से दिया करते हैं।"[१]

सृष्टि की लीला

कबीर साहब ने उसे प्रायः उन सभी नामों से पुकारा है जो इनके समय में हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, वेदांती वा नाथ-पंथी समाजों में प्रचलित थे। ये किसी भी ऐसे नाम का प्रयोग करते समय उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की ओर विशेष ध्यान देते नहीं जान पड़ते। इसी कारण जिन-जिन को ये सत्य के भिन्न-भिन्न प्रतीकों के रूप में भी व्यवहृत करते हैं, वे भी कभी-कभी इनके 'राम' वा 'साहिब' की भाँति सजीव तथा सचेष्ट दीखने लगते हैं। फिर भी इन्होंने सृष्टि वा जगत्-संबंधी बातों का वर्णन करते समय उसे किसी क्रियाशील पुरुष के नामों से ही सूचित किया है। ये कहते हैं कि "मैंने अपने दो-दो नेत्रों से इस जगत् के भीतर देखने की चेष्टा की है, मुझे हरि के बिना और कुछ भी नहीं दीख पड़ा है। मेरे नेत्र उसी के अनुराग में अरुण हो गए हैं, अब उसके सिवाय

नाति स्वरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यो समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥'
—कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद १८०, पृ० १४६।

१. "The absolute is the Precosmic nature of God and God is the absolute from the Cosmic point of view"—Dr. S. Radhakrishnan : An Idealist view of life, P. 345

मुझसे और कुछ भी नहीं कहा जा सकता...। जिस प्रकार बाजीगर अपना ढोल पीट कर तमाशे आरंभ कर देता है और सभी लोग उसे देखने जुट जाते हैं तथा फिर वह अपने सारे स्वांग इकट्ठा कर लेता है, उसी प्रकार इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय का भी रहस्य है। उस हरि ने ब्रह्मांड के रूप में अपनी लीला का ही विस्तार कर रखा है, वह इसे सकेल कर फिर अपने रंग में रमण करने लगता है"[१]। उस नट ने ही यह सभी अभिनय कर रखा है, वह जो कुछ खेलता है वहीं उसकी नटबाजी दीख पड़ती है"[२]। उसने यह सारा संसार कहने-सुनने मात्र के लिए रचा है और वह इसी में छिपा हुआ भी है, उसे कोई पहचान नहीं पाता। उसने सत, रज तथा तम नामक तीनों गुणों के द्वारा यह मायात्मिका सृष्टि रच रखी है और अपने ही भीतर उसने अपने को गुप्त भी कर लिया है। वह स्वयं आनंद-स्वरूप है और यह सारी सृष्टि उस आनंद-तरु के पल्लव-रूपी गुणों का विस्तार मात्र है, पंचतत्त्व उसकी शाखाएँ हैं तथा रामनाम उसके सुंदर फल के रूप में हैं"[३]। सृष्टिकर्ता की दृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्तिविशेष-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में वह और सारी सृष्टि मूलतः एक ही है; क्योंकि "सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओतप्रोत है"[४]। दोनों में स्वभावतः अंतर नहीं।

---

१. 'दुइ दुइ लोचन पेखा। हउ हरि बिनु अउरु न देखा ॥
नैन रहै रंगु लाई। अब वेगल कहनु न जाई ॥
... ...
बाजीगर डंक बजाई। सम खलक तमासे आई ॥
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला ॥'
—आदिग्रंथ, रागु सोरठि ४।

२. 'जिनि नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी ॥
—क० ग्रंथा०, का० सं०, रमैणी २, पृ० २२७।

३. 'कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हां। जग भुलान सो किनहुं न चीन्हां ॥
सत रज तम थैं कीन्हीं माया। आपण माँझैं आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनंद सरूपा। गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ॥
साखा तत थैं कुसम गियांनां। फल सो आछा रांम का नांमा ॥
—वही, पृ० २२५।

४. 'खालिकु खलक, खलक महि खालिकु परि रहिओ सब छाईं।'
आदिग्रंथ, राग विभास प्रभाती, पद ३।

आत्म-तत्त्व

मनुष्य उक्त सृष्टि के ही अंतर्गत है और यह उसका सर्वश्रेष्ठ नमूना है, इसलिए यह भी उसी प्रकार सृष्टिकर्ता का अंग है। देखने पर इसका शरीर और इसके भीतर का जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किंतु कबीर साहब इस बात पर विचार करते हुए कहते हैं, "पंचतत्त्वों को मिला कर तो शरीर का निर्माण किया है, किंतु सोचने की बात है कि तत्त्व किस वस्तु से निर्मित है और उसी प्रकार यदि जीव को कर्मबद्ध कहा जाता है तो फिर उसे कर्म दिया किसने होगा। सच तो यह है कि हरि में ही पिंड है और इस पिंड वा शरीर में ही हरि है और वही सर्वमय तथा निरंतर है"[1]। यह शरीर के भीतर का जीवात्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है और न तो तपस्वी है, न शेख ही है। यह तो उस राम वा परमेश्वर का एक अंश स्वरूप है और यह उसी भाँति नहीं मिट सकता जिस प्रकार कागज पर से स्याही का चिह्न नहीं मिटा करता"[2]। वह मूलतः वही है जो पूर्ण सत्य है, अतएव उसमें दीख पड़नेवाली विभिन्नताएँ मिथ्या हैं। ये उसके 'भरम-करम' अर्थात् उसके भ्रमात्मक दृष्टिकोण तथा उस कर्म के कारण हैं जो उसके जन्मांतरों का आधार है। इन दोनों ने संसार-मात्र को भुला रखा है; क्योंकि इनके ही कारण मनुष्य ज्ञान से रहित हो जाता है और अपनी 'मति' गँवा बैठता है[3]।

माया-तत्त्व

उक्त 'भरम-करम' का मूल कारण इन्होंने अपनी रचनाओं में कदाचित्

---

१. 'पंच तत मिलि काइआ कीनी, ततु कहां ते कीनु रे।
करम बध तुम जीव कहत हौ, करमहि किनि जीउ दीनु रे।
हरि महि तनु है, तन महि हरि है सरब निरंतर सोई॥'
—आदिग्रंथ, राग गौड़, पद ३।

२. 'ना इहु मानस ना इहु देउ। ना इहु जती कहावै सेउ॥
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता'॥ आदि

... ...

'कहै कबीर इहु राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु॥'—वही, पद ५।

३. इन दोऊ संसार भुलावा। इनके लागे ग्यांन गवांया॥

... ...

भरम करम दोऊ मति गवाई॥—कबीर-ग्रंथावली, रमैणी ४, पृ० २५६।

कहीं-कहीं बतलाया है। किंतु यत्र-तत्र बिखरे हुए उनके फुटकर विचारों से अनुमान किया जा सकता है कि ये दोनों अनादि काल से ही चले आते हैं। इनकी मूल प्रेरणा परमेश्वर की लीलामयी अभिव्यक्ति की उस 'इच्छा' में ही निहित हो सकती है जिसे इन्होंने कहीं-कहीं 'माया' का नाम प्रदान किया है। उस माया-तत्त्व का वर्णन करते हुए उसे इन्होंने किसी विश्वविमोहिनी सुंदरी के रूप में चित्रित किया है और उसका स्वभाव इन्होंने सबको प्रलोभन देना, ठगना तथा फँसाना दिखलाया है। "उसका त्याग करने की कोई कितनी भी चेष्टा किया करे, वह पिंड नहीं छोड़ती और फिर-फिर उसे पकड़ती ही रहा करती है। वह जल, स्थल तथा आकाश सर्वत्र व्याप्त है और कभी माता-पिता, कभी स्त्री-पुत्र, कभी आदर-मान तथा कभी जप, तप तथा योग के रूपों में ही बंधन डाल देती हैं"[१]। इतना ही नहीं, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो माया का प्रभाव सारी सृष्टि में ही दृष्टि-गोचर होगा। "पानी में मछली को माया ने ही आबद्ध कर लिया है, दीपक की ओर पतंग माया के ही कारण आकृष्ट होता है। हाथी को माया ने ही काम-वासना दी है। कुत्ते, सियार, बंदर, चीते, बिल्ली, लोमड़ी और भेड़ माया में ही रँगे हुए हैं और वृक्ष की जड़ें तक वास्तव में माया द्वारा ही फँसायी गई हैं। छह यती, नव नाथ तथा चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंचों से नहीं बच पाये और देवगण, सूर्य, चंद्र, सागर, पृथ्वी आदि सभी इसके प्रभावों से प्रभावित हुए"[२]। ये उसे एक स्थल पर सर्पिणी के रूप में भी दिखलाते हैं। वे कहते हैं कि यह "निर्मल जल के समान शुद्ध जीवात्मा में प्रवेश कर उसे विषैला-सा बना देती है। फिर भी यह वस्तुतः मिथ्या तथा सारहीन है और जिस परमेश्वर की इच्छा के रूप में इसका आविर्भाव हुआ है, उसी के किये वह शक्ति संपन्न होती वा नष्ट होती है। अपने शरीर की बस्ती में उसे बसी हुई पाकर भी केवल अपने बूते पर उसे हम निकाल नहीं सकते"[३]। इसके विषय में उनका यह भी कहना है कि "यह हमारे मन में एक 'डाइनि' के रूप में रह कर हमें नित्यशः डँसती अर्थात् अभिभूत करती रहती है। उसके पाँच पुत्र हैं जो हमें सदा नाच नचाया करते"[४] और हमारे शरीर-रूपी गढ़ को रात-दिन चोरों की भाँति लूटा भी करते हैं। ये पाँच माया-पुत्र काम, क्रोध, मोह, मद तथा मत्सर जान पड़ते हैं; क्योंकि इन्हीं की सहायता से 'भरम-करम' का भी बल पाना संभव है।

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ८४, पृ० ११४-५।

२. गुरुग्रंथ साहब, रागु भैरउ, पद १३, पृ० ११६१।

३. वही, रागु आसा, पद १६, पृ० ४८०-१।

४. कबीर-ग्रंथावली का० सं०, पद २३६, पृ० १६८।

सारांश

अतएव कबीर साहब के दार्शनिक मतानुसार सबसे अंतिम तत्त्व वा परम-तत्त्व सति (सत्य) है जिसका वास्तविक स्वरूप अगम तथा अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है और दूसरा उसे 'है' मात्र से अधिक नहीं कह सकता। फिर भी उसके विषय में अपने विचार प्रकट करने के यत्न में हम उसे विविध नामों से पुकार दिया करते हैं और उसके स्वभाव का कुछ परिचय भी देने लगते हैं। तदनुसार हम उसे 'केवल' अर्थात् 'वही मात्र है' कहते हैं, 'अविनासी' अर्थात् नित्य तथा 'अविगत' अर्थात् अव्यक्त बतलाते हैं। इसी प्रकार उसके 'चौथे पद' अर्थात् परात्पर, किंतु साथ ही साथ "जत पेखउ तत अंतरजामी"[1] अर्थात् सर्व-व्यापक होने का भी अनुमान करते हैं। हम उसे अपने निजी अनुभव के बल पर, किंतु उसके बतलाने से ही यत्किंचित् मात्र जान पाते हैं। तभी निश्चय करते हैं कि हम और वह स्वभावत: एक ही हैं तथा अब तक जो हमने उसके साथ अपनी एकता पहचान नहीं पायी थी, वह केवल 'भरम-करम' अर्थात् हमारी भ्रांति और हमारे कर्मों के कारण था जिससे हमें आज तक अनेक जन्म लेकर भटकता रहना भी पड़ा था। इस भरम-करम का भी मूल कारण वास्तव में 'उसी' की नटसारी वा लीला है जिसके द्वारा उसने अपने को विविध प्रकार से व्यक्त कर रखा है। इसके मनोमोहक रूप ने हमारे भीतर आसक्ति का भाव उत्पन्न करके हमें धोखे के जंजाल में फँसा रखा है। यही सत, रज, तम-रूपिणी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है जिसका 'पसारा' समस्त जगत् के रूप में लक्षित होता है और यही उसकी 'मात्रा' भी है जो 'अहेडे' वा शिकार खेलने निकली हुई है।

तुलनात्मक परिचय

इस प्रकार कबीर साहब का जो सति है वही वेदांत की परिभाषा के अनुसार ब्रह्म है, जो उनका कर्ता है वही उपाधिगत ईश्वर है, जो उनका जीव है वही आत्मा है तथा जो उनकी माया है वही त्रिगुणमयी होने के कारण उसकी भी माया वा प्रकृति है और भरम-करम का मूल कारण होने के कारण उसकी अविद्या है। इसके सिवाय जिस प्रकार वेदांत के अनुसार आत्मा तथा परमात्मा दोनों स्वरूपत: अभिन्न हैं, उसी प्रकार कबीर साहब के जीव अथवा 'सुरति' का भी निजस्वरूप ही है जो सति का है। इसका पूर्ण अनुभव होते ही वह जल में जल वा गगन में गगन की भाँति लीन होकर तदाकारता प्राप्त कर लेता है। फिर भी कबीर साहब का 'सति' वेदांत के ब्रह्म की भाँति कोरा चैतन्य वा अधिक से

---

१. गुरुग्रंथ साहब, रागु बसंत, पद १, पृ० ११६३।

अधिक निरा भावात्मक सच्चिदानंद मात्र ही नहीं है, अपितु उनके 'साहेब' के रूप में एक व्यक्ति-सा भी है। वह अपने खेल में सृष्टि का एक ताना-बाना खड़ा कर उसमें अपने को छिपा देता है जिस कारण सभी भ्रांति में पड़ जाते हैं और जिस किसी को चाहता है वही उस आवरण की असलियत पहचान उससे मिल पाता है। उसे एक अकेला तथा सर्वशक्तिमान हम कह सकते हैं, किंतु इस्लाम के अल्लाह की भाँति उसे एक अनियंत्रित शाहंशाह वा शासक भी नहीं ठहरा सकते। वह न्यायी है, किंतु चतुर तथा सहृदय भी है। ये उसके गुण भी वास्तव में जीवों की काल्पनिक सापेक्षता के ही कारण उसमें आरोपित किये जाते हैं। उसका सहज रूप तो निर्गुण, सगुण, निर्गुणातीत निरंजन का है जो सभी प्रकार के विकारों से रहित नित्य तथा निराकार भी है।

परिणाम : नया जीवन

कबीर साहब कोई दार्शनिक नहीं थे, न इसी कारण, इनका उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा किसी अंतिम परमतत्त्व की खोज कर उसका निरूपण करना मात्र रहा। इनकी विचार-पद्धति कोरे तर्कों के बल पर आश्रित न होकर अनुभवों का भी अनुसरण करती थी और इनकी जाँच-पड़ताल किसी प्रयोगशाला की केवल वाह्य परीक्षा न होकर इनके आभ्यंतरिक परिचय के रूप में भी चला करती थी। ये स्वभावतः एक धार्मिक व्यक्ति थे। इनकी समस्याएँ सार्वभौम होती हुई भी व्यक्तिगत थीं। इनके यत्न कोरे शास्त्रीय न होकर सोद्देश्य भी थे। इन्होंने जो कुछ भी दार्शनिक विवेचन किया, उसे अपना अंतिम साध्य मानकर नहीं किया। इनके समक्ष केवल द्वेष, दुःख, भ्रांति, प्रपंच आदि के मूल कारण को जान लेने का ही प्रश्न नहीं था। इनका मुख्य कार्य सारे दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए एक शुद्ध जीवन का आदर्श स्थिर करने के रूप में इनके सामने पड़ा हुआ था। वस्तु-स्थिति के ज्ञान ने इन्हें अपना दृष्टिकोण बदल देने में सहायता की और इस प्रकार 'दर्शन' इनके लिए एक जीवन-दर्शन बन गया। उसके द्वारा इन्होंने सारी बातों को एक बार फिर अपने नये ढंग से देखा और इस प्रकार आगे उस आदर्श-जीवन को निश्चित करने में प्रवृत्त हुए जो संतों की सच्ची 'रहनी' के नाम से आज तक प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने जीवन को एक प्रकार से दो भागों में विभक्त करके देखा है जिनमें से पहला नितांत सारहीन पहला निरर्थक है। इनका वास्तविक जीवन अपनी मनोवृत्ति निश्चित कर उसके अनुसार व्यवहार करने से आरंभ होता है। यही इनकी 'भगति' का जीवन है जिसे ये संशय-रहित होकर पूरे आनंद के साथ व्यतीत करते हुए जान पड़ते हैं और जिसकी अपेक्षा इन्हें अपने पहले जीवन के दिन

कभी केवल स्मृति-मात्र में आ जाने पर भी कष्टदायक प्रतीत होते हैं।[1] नये जीवन को ये पहले का अंत हो जाने के अनंतर अथवा इन्हीं के शब्दों में उसकी दृष्टि से 'मृतक' हो जाने के पीछे उपलब्ध करते हैं। इस प्रकार इनका पिछला अथवा दूसरा जीवन इनके पुनर्जन्म का महत्त्व रखता है। इस जीवन में ही उन्हें अमरत्व का अनुभव होता है।

(४) आध्यात्मिक जीवन

नवीन समस्या : माया का प्रभाव

वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार अपना दृष्टिकोण निश्चित कर लेने पर भी प्रश्न होता है कि उसे उसी प्रकार का चिरस्थायी रूप कैसे दिया जाय। अपने 'भरम-करम' को हम कैसे निर्मूल कर डालें और किस प्रकार उस माया के बंधन से भी सदा के लिए छुटकारा पा सकें जो उन दोनों के मूल में रहा करती है। "माया की बेलि सर्वत्र फैली हुई है और उसकी जड़ ऐसी विचित्र है कि सारी टहनियों को काट-छाँट देने पर भी वह फिर से कोंपल देकर हरी-भरी हो जाती है। इसे ज्ञान-रूपी अग्नि में एक बार भस्म कर देने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि जब तक इसके मोह-रूपी फल का एक भी वासना-रूपी बीज अवशेष है, इसके एक बार फिर अंकुरित होकर लहलहा उठने का भय बना हुआ है"[2]। जब तक हम इसे सबीज नष्ट कर अपने भरम-करम का पूर्णतः निराकरण नहीं कर डालते, तब तक कौन कह सकता है कि हमें अपनी पुरानी स्थिति में फिर लौटना नहीं पड़ेगा। अतएव आवागमन के चक्कर से अपने को सदा के लिए मुक्त कर लेने के लिए हमें चाहिए कि जब तक अपने शेष जीवन की अवधि बनी हुई है, अपने उक्त दृष्टिकोण के अनुसार ही सदा व्यवहार भी करते चलें ताकि उसके किसी प्रकार भी विचलित हो जाने का कोई अवसर उपस्थित न हो और संतुलन की दिशा बिगड़ जाने के कारण हम फिर उसी गर्त में आकर गिर न जायँ। हमारी भव-सागर की जीवन-यात्रा भरम-करम के विविध झंझावातों से सदा आक्रांत होती रहती है और हमारे पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती है। अतएव, जब तक हमारे निश्चित दृष्टिकोण का कुतुबनुमा अपने ध्येय के उत्तरी ध्रुव की ओर उसी भाँति कायम नहीं रहता,

---

१. **'कबीर केसौ की दया, संसा डाल्या खोह।**
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालैं मोहिं'॥
—कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी ११, पृ० ७६।

२. **वही, का० सं०, साखी २ तथा ६, पृ० ८६।**

हमारा कल्याण होना संभव नहीं, न हमारा जीवन ही सार्थक हो सकता है।

मन की चंचलता

इसके सिवाय जिन इन्द्रियों के द्वारा हम अपने विविध कार्यों का संपादन किया करते हैं, उनका शासक हमारा मन है। उसका स्वभाव अत्यंत चंचल है और वह एक ही स्थिति में रहना कभी पसंद नहीं करता। वह सदा इधर-उधर बहकता फिरा करता है और कभी-कभी तो जान-बूझकर भी ऐसा काम कर बैठता है जिसका परिणाम दीपक हाथ में लेकर कुएँ में गिरने की भाँति आत्मघातक तक हो जाता है[1]। फिर मन तथा विषय का कुछ ऐसा संबंध भी जान पड़ता है कि एक-दूसरे को स्वभावतः छोड़ना नहीं चाहता और दोनों अर्थों में एक-दूसरे से अधिक अनर्थ कर डालने की होड़ में लगे रहते हैं[2]। साथ ही मन को दबा कर मार डालने की चेष्टा करना भी व्यर्थ होता है, क्योंकि विषय-विकार तनिक भी हवा लग जाते ही यह मर कर भी जी उठता है[3]। इसकी दशा वास्तव में उस मछली की-सी है जिसे काट-कूट कर छीके के ऊपर सँभाल कर रख दिया जाय और फिर भी वह किसी आंतरिक प्रेरणा से बाध्य होकर एक बार दह में आ गिरे[4]। हमारे मन की अनस्थिरता के कारण हमारे दैनिक व्यवहार में कभी एकतानता नहीं रहने पाती, न ऐसी स्थिति के लाने की लाख चेष्टा करने पर भी हम कभी कृतकार्य हो पाते हैं। हमारे उक्त दृष्टिकोण की बुनावट में हमारे मन का मानो ताना-बाना लगा हुआ है जिसका रंग प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसी कारण हमारे भीतर वास्तव में एक प्रकार का 'सूषिम जनम' वा सूक्ष्म जन्म-मरण भी बारंबार होता रहता है जिसे हम कभी लख नहीं पाते। किंतु जिससे हमारी सुरति वा जीवात्मा को उस पद में लीन हो जाने के लिए कभी अवकाश ही नहीं मिल पाता[5]। अतएव अपने दृष्टिकोण को सदा एकरूप तथा एकरस बनाये रखने के लिए यत्न करते समय हमें इस मन की ओर भी समुचित ध्यान देना परमावश्यक है।

सुरति शब्द-योग

कबीर साहब ने मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने तथा इस प्रकार उक्त

---

१. कबीर-ग्रंथावली, साखी ७, पृ० २८।

२. वही, साखी ९, पृ० ५६।

३. वही, का० सं०, साखी २३, पृ० ३०।

४. वही, साखी २४, पृ० ३०।

५. वही, साखी १ तथा २, पृ० ३२।

दृष्टिकोण का संतुलन ठीक बनाये रखने के लिए हमारे सामने एक 'सहज-समाधि' का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसे इनके अनुसार प्राप्त कर लेने पर हमारी सारी समस्या हल हो सकती है और उसकी प्राप्ति के लिए कुछ साधनाएँ अपेक्षित हैं। हमारी 'सुरति' हमारे जीव का वह निर्मल रूप है जिसमें हमारे मूल सत्य का प्रतिबिंब बराबर झलका करता है। यह सुरति हमारे भीतर कबीर साहब के 'सति' के एक सूक्ष्म, किंतु उससे भिन्न दशा में अवशिष्ट अंशवत् वर्तमान है। मन की बहुरंगिनी बहिर्मुखी वृत्तियाँ जब तक उसके सामने घनी मेघमाला की भाँति घिरी रहती हैं, हम उनसे उपलब्ध विषयों के रसास्वादन में निमग्न रहते हैं। किंतु ज्योंही कभी किसी संकेत-रूपी वायु के झोंके से वे एक क्षण के लिए छिन्न-भिन्न होती हैं, उस परम ज्योतिमय 'सति' की छाया हमारी सुरति को एक बार स्वभावतः जागृत तथा उत्तेजित कर देती है'। हमें समझ पड़ने लगता है कि जिस स्थिति में हम अभी तक पड़े हुए थे वह वास्तव में हमारे मौलिक सहज-स्वभाव से नितांत भिन्न है। इसी क्षणिक स्मृति वा जागरण को स्थिरता प्रदान करने के लिए कबीर साहब ने सुरति को किसी सद्गुरु की बतलायी युक्तियों द्वारा उस अनाहत नाद वा 'अनहद सबद' के साथ जोड़ देना परमावश्यक बतलाया है। वह हमारे भीतर अपने आप उठा करता है और जो 'हरि की कथा'[1] अथवा भगवत्संकेत के रूप में निरंतर इसे संकेत भी किया करता है। इसीलिए उन्होंने अपने विषय में भी कहा है कि "सद्गुरु की वाणी रूपी वज्र ने मेरे हृदय को युक्ति-पूर्वक बेध दिया जिससे उस वस्तु का रहस्य हमारी समझ में आ गया। शक्ति (माया) के अंधकार में बंधन डालनेवाली भ्रम की 'जेवड़ी' छिन्न-भिन्न हो गई और शिव-स्थान (उस पद) में मेरा निश्चल निवास हो गया।. . .मेरा मन उन्मत्त होकर शून्य में प्रवेश कर गया, द्विविधा की दुर्मति भाग खड़ी हुई और इस प्रकार 'रामनाम' (अनाहत शब्द) में लीन हो जाने पर मैंने एक विचित्र अनुभव प्राप्त किया"[2]। फिर "सदगुरु ने हमें इन्द्रियों के वे मार्ग सुझा दिये जिनसे होकर विषयों के मृग चोरी-चोरी चर जाया करते हैं। इसलिए हमने उन दरवाजों को बन्द कर दिया और ऐसा करते ही अनाहत का बाजा सुन पड़ने लगा। इस प्रकार हमारे मन में पवन-साधन वा प्राणायाम से ही सुख मिला है और हम इसे योग का परिणाम समझते हैं"[3]। 'सुरति' को कभी-कभी आत्म-

१. गुरुग्रंथ साहब, रागु आसा, पद ३१, पृ० ४८३।—दे० 'हरि की कथा अनाहद बानी'।

२. वही, रागु गौड़ी, पद ४६, पृ० ३३२।

३. वही, रागु सोरठि, पद १०, पृ० ६५५।

स्मृति (आत्म-रति) भी कहा गया मिलता है जिस दशा में इसकी स्थायी परिणति को हम 'निरति' का नाम देते हैं। इस प्रकार 'सुरति' वस्तुतः मन की सूक्ष्मतम दशा को प्रकट करती है और 'निरति' उस स्थिति को सूचित करने लगती है जब वह आत्म-केन्द्रित वा आत्म-लीन हो जाने के कारण अन्य ओर से नितांत निरवलंब बन जाती है।

कुंडलिनी-योग

कबीर साहब ने इस प्रसंग का अपनी रचनाओं के अंतर्गत जहाँ-तहाँ कुंडलिनी योग वा लय योग के अनुसार भी वर्णन किया है जिसकी चर्चा बहुधा योग-साधना-संबंधी अनेक ग्रंथों में पायी जाती है। योग-मतानुसार हमारे शरीर के भीतर हमारे मेरुदंड अर्थात् रीढ़ की हड्डी की भिन्न-भिन्न ग्रंथियों के रूप में नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा नामक छह चक्र पाये जाते हैं जिनकी बनावट भिन्न-भिन्न संख्या के दलों वाले कमल-पुष्पों की भाँति होती है। इन सबके ऊपर अर्थात् हमारे मस्तिष्क के सर्वोच्च भाग में एक सातवाँ चक्र भी वर्तमान है जो अपने दलों की अधिकता के कारण सहस्रार कहलाता है। इसी प्रकार सबसे निचले चक्र मूलाधार के भी नीचे और हमारे मेरुदंड के निम्नतम अंश में किसी सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन फेंटों में सिकुड़ी हुई एक शक्ति भी रहा करती है। यह यदि वायु को उलट कर प्राणायाम किया जाय, तो उसकी गर्मी से प्रबुद्ध होकर मेरुदंड के भीतर उक्त छह चक्रों को क्रमशः बेधती हुई ऊपर की ओर बढ़ने लगती है और अंत में उक्त सहस्रार के निकट जाकर लीन हो जाती है। प्राणायाम की साधना द्वारा कुंडलिनी के उक्त प्रकार से उन्मुख होकर बढ़ते ही हमारी इन्द्रियों की सारी शक्तियाँ क्रमशः सिमटती हुई एक केन्द्र में आ जाती हैं। हमारे मन की बिखरी हुई वृत्तियाँ भी संकुचित होने के कारण उसे स्थिर तथा अंतर्मुख होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा पातीं। सारी शक्तियों का केन्द्रीकरण तथा एकीकरण हो जाने से हमारे भीतरी वातावरण का प्रत्येक अंश किसी दिव्य ज्योति से आलोकित हो उठता है और पूर्ण शांति तथा आनंद का अनुभव होने लगता है।

मेरुदंड के उस भीतरी मार्ग को, जिससे होकर उक्त कुंडलिनी ऊपर की ओर बढ़ती है, 'सुषुम्ना' नाड़ी कहा जाता है जिसके क्रमशः बाएँ तथा दाहिने 'इड़ा' (चंद्रनाड़ी) और 'पिंगला' (सूर्यनाड़ी) नाम की दो अन्य नाड़ियाँ भी उससे लगी हुई रहती हैं। इन तीनों का संधि-स्थान आज्ञाचक्र के निकट है जिसे कबीर साहब ने 'त्रिकुटी' के नाम से अभिहित किया है। अतएव कुंडलिनी के लय हो जाने की स्थिति का वर्णन सूर्य तथा चंद्र के संयोग द्वारा भी किया जाता

है जिसके परिणाम-स्वरूप केन्द्रित शक्तियों से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो उठती है। चंद्र की ओर से अमृत-स्राव होने लगता है और शून्य में अनाहत नाद की ध्वनि स्फुटित हो जाती है। कबीर साहब ने इसी कारण कहा भी है कि "प्राणायाम-द्वारा पवन को उलट कर षट्चक्रों को बेधते हुए सुषुम्ना को भर दिया, जिस कारण सूर्य तथा चंद्र का संयोग होते ही सद्गुरु के कथनानुसार ब्रह्माग्नि भी प्रज्वलित हो गई और सारी कामनाएँ, वासनाएँ, अहंकार आदि जल कर भस्म हो गए।[१]" इसी प्रकार "जब चंद्र तथा सूर्य का संयोग कर दिया, तब अनाहत शब्द होने लगा और जब अनाहत बजने लगा, तब स्वामी के साथ विराजने लगा... जब चित्त निश्चल हो गया, तब राम-रसायन पीने को मिल गया और जब राम-रसायन पिया, तब काल का अंत हो गया और अमरत्व की प्राप्ति हो गई।[२]" इसीलिए इनका उपदेश भी है कि "हे वैरागी, पवन को प्राणायाम द्वारा उलट कर षट्चक्रों का कुंडलिनी द्वारा भेदन कर अपनी सुरति में शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर। इस प्रकार उसकी खोज कर ले जो न तो जाता है, आता है और न जी ता है, न मरता ही है।[३]"

मनोमारण

मन के शांत तथा निश्चल करने के अभ्यास को इसी प्रकार कबीर साहब ने उसे 'उलट देना', 'खूंटे से बाँध देना', उसे 'मूँड़ देना', 'बेध देना', 'नन्हा-नन्हा करके पीस देना,' 'विभूति बना देना' अथवा उसका 'मारना' आदि कह कर कई प्रकार से व्यक्त किया है। इस क्रिया में उसका अनुसरण करना बिलकुल छोड़ देना चाहिए और उसके बहकने पर उसे बार-बार अपने लक्ष्य की ओर मोड़ने का ही यत्न करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते उसका चंचल स्वभाव क्रमशः नष्ट हो जाय। स्थिर तथा शांत होते ही उसका रूप नितांत भिन्न हो जाता है और वही मन जो पहले अपनी रंगीली वृत्तियों के कारण सविकार होकर हमारे सामने जाल बिछाया करता था, अब निर्मल तथा निर्विकार होकर हमारी सहायता करने लगता है। इस रहस्य को जान कर यत्न करने से वही हमारे लिए 'गोरख', 'गोविंद' वा स्वयं 'करता' तक बन सकता है[४] तथा 'मधुसूदन' और 'त्रिभुवन देव' तक हो सकता है।[५] ऐसी स्थिति

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ७, पृ० ९० ।
२. वही, का० सं०, पद १७३, पृ० १४५ ।
३. गुरुग्रंथ साहब, रागु गउड़ी, पद ४७, पृ० ३३३ ।
४. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी १०, पृ० २९ ।
५. गुरुग्रंथ साहब, रागु गउड़ी, पद २२, पृ० ३२८ ।

में सुरति तथा शब्द के बीच का भ्रमजनित व्यवधान आप-से-आप नष्ट हो जाता है। वह अपने आप जाकर उसमें लीन हो जाती है और दोनों के एकाकार हो जाने के कारण दृष्टिकोण के संतुलन की समस्या आप-से-आप हल हो जाती है। अब जिस दशा को स्थिर करने के लिए हमें सावधान रहना पड़ता था, वह सहज ही उपलब्ध हो जाती है और हमारे पूर्वस्वभाव का आमूल परिवर्तन हो जाता है।

सहज-समाधि

कबीर साहब ने उक्त साधना के अनंतर होनेवाले परिणाम को 'ब्रह्मगियान' वा ब्रह्मज्ञान की भी संज्ञा दी है। उस आत्मानुभूति की स्थिति में निरंतर टिके रहने को ही सहज समाधि में रहना कहा है। यह अपने अनुभव का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि "इस प्रकार मुझे ब्रह्मज्ञान उपलब्ध हो गया और अब मैं करोड़ों कल्पों तक भी इसी प्रकार सहज-समाधि में विश्राम करूँगा। दयालु सद्गुरु की कृपा द्वारा अब हृदय कमल विकसित हो गया और परम ज्योति का प्रकाश होते ही भ्रम के निराकरण से दसों दिशाएँ सूझने लगीं। जान पड़ा जैसे रात्रि का अंत हो गया, सूर्योदय हो चला। नींद टूट गई, मृतक हाथ में धनुष लेकर उठ खड़ा हुआ और काल अहेरी स्वयं भाग चला। उस अज्ञात, अखंड तथा अनुपम रूप के दर्शन का अनुभव वैसा ही अकथनीय है जैसा मिठाई खाकर माधुर्य के कारण, मन ही मन प्रसन्न हो संकेत-मात्र करनेवाले गूँगे का हुआ करता है। उक्त सहजरूप के प्राप्त होते ही वृक्ष में मानो बिना फूल के फल दीख पड़े। बिना हाथ के तुरही बजती सुन पड़ी और बिना पनिहारिन के गागर भर गई। देखते ही देखते काँच कंचन में परिणत हो गया और बिना मनाये मन मान गया। पक्षी (सुरति) ऐसा उड़ा कि उसका अंत में पता ही न चला और जल जैसे जल में प्रवेश कर जाय, वैसे ही उसमें जाकर मिल गया। अब न पहले की भाँति देवों की पूजा करनी है, न वैसे तीर्थ-स्थान की ही आवश्यकता रह गई। अब तो भ्रम के नष्ट होने से आवागमन तक भी नहीं हो सकता। अब अपने में आपको देख लिया, आप ही आप सूझने लगा, अपने आप ही कहना-सुनना रह गया और अपने आप ही समझना-बूझना भी रह गया। अब अपने परिचय की ही तारी लग गई और अपने आप में सदा के लिए प्रवेश कर गया," आदि[1]।

स्थायी आत्म-शुद्धि

इस प्रकार कबीर साहब की सहज-समाधि का स्वरूप केवल मानसिक

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ६, पृ० ८६-६०।

परिवर्तन का नहीं, न वह किसी काल-विशेष तक सीमित ही है। उसमें सदा के लिए अपनी प्रकृति परिवर्तित हो जाती है और अपना आगे का जीवन पूर्णतः और का और हो जाता है। मन, पवन तथा सुरति के एकत्र होते ही ज्ञानाग्नि द्वारा काया की प्रकृति उसी प्रकार जलकर नष्ट हो जाती है जिस प्रकार स्वर्ण के सारे विकार उसे तपाने पर भस्म हो जाते हैं। शरीर के शुद्ध स्वर्णवत्[1] बन जाते ही मन भी निर्विकार तथा निश्चल बन जाता है। "मन की शांति से गोविंद का ज्ञान संभव होता है जिससे तन की सारी उपाधियाँ सुख में परिवर्तित हो जाती हैं। जो शत्रु थे, वही मित्र हो जाते हैं; जो 'साकत' वा दुष्ट थे, वे ही हितचिंतक बन जाते हैं और जो 'मन' था, वही अपने राम का रूप धारण कर लेता है। अपने आपको पहचानते ही यह चंचल मन उलट कर नित्य तथा सनातन हो जाता है। समझ पड़ने लगता है कि अब मैं 'जीवत मूआ' अर्थात् अपने पिछले जीवन की दृष्टि से मरा हुआ, किंतु अपने इस नवीन जीवन के विचार से बिलकुल जीता-जागता बन गया। अब स्वयं डरने वा अन्य को डराने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया"।[2] सहज-समाधि कोई अल्पकालीन वा चिरकालीन मानसिक स्थिति नहीं, वह अपने स्वभाव का ही सर्वदा के लिए कायापलट है। वह अपने जीवन का ही एक नितांत नवीन, किंतु साथ ही वास्तविक तथा विशुद्ध संस्करण है जिसके द्वारा अपना कुल वातावरण तक बदल जाता है। यही स्थिति उस वास्तविक आत्म-शुद्धि की है जिसे कबीर साहब ने 'सोधी' (शुद्धि) नाम देकर उसे सभी 'दाति' वा सद्गुरु द्वारा दातव्य वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ ठहराया है।[3]

अमर जीवन

अतएव अपने मन को संबोधित करते हुए कबीर साहब अपने एक पद[4] में कहते हैं कि "अरे मन, अब तू जहाँ चाहे वहाँ जाने को स्वतंत्र है, अब तुझे किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं। अब तो मैं हरिपद का परिचय पाकर वहीं विश्राम करने लगा, इसलिए जहाँ कहीं भी तू जायगा तुझे राम ही राम दीख पड़ेंगे। जब तक शरीर की प्रकृति बहुरंगिणी बनी हुई थी, द्वैत का अनुभव होता रहता था। अब तो ज्ञान की उपलब्धि के होते ही जहाँ न तहाँ वही एकमात्र दृष्टिगोचर हो रहा है। अब सदा उसी में लीन रहने के कारण मुझे अपने शरीर तक की सुध भूल

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद १७, पृ० ६४।
२. गुरुग्रंथ साहब, राग गउड़ी, पद १७, पृ० ३२६।
३. 'सोधी सई न दाति', क० ग्रं०, सा० १, पृ० १।
४. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद १४६, पृ० १३६।

गई और मैं सदा के लिए सुख के समुद्र में मग्न हो गया। स्वभाव के उक्त प्रकार से पूर्णतः परिवर्तित होते ही अपनी स्थिति सभी प्रकार से सुरक्षित जान पड़ने लगती है और आगामी आवागमन की आशंका भी निर्मूल हो जाती है। अब अपने मन में इस बात का दृढ़ विश्वास जम जाता है कि मैं फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि पंचतत्त्वमयी काया से विमुक्त होते ही पृथ्वी-तत्त्व का गुण जल-तत्त्व में निहित होकर अग्नि-तत्त्व के साथ मिल जायगा और अग्नि-तत्त्व पवन-तत्त्व से मिल कर आकाश-तत्त्व में लीन हो जायगा और अपनी सहज-समाधि लगी रह जायगी। तब जिस प्रकार स्वर्ण से बने हुए अनेक भूषण भी गलाये जाने पर एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार मैं भी लोक तथा वेद की उपाधियों से रहित होकर शून्य में प्रवेश कर जाऊँगा अथवा जिस प्रकार तरंगिणी (नदी) में उसकी तरंगें (लहरें) दीख पड़ती हैं, उसी प्रकार मैं भी समझ पड़ने लगूँगा"।[1] यही वह अमरत्व का जीवन है जिसमें अपने पंच भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, न इसी कारण किसी काल की भयंकरता का कोई प्रभाव ही रह जाता है।

भाव-भगति

सहज-समाधि के उक्त परिचय से लक्षित होता है कि उसका रूप स्वानुभूति-परक होने के कारण केवल ज्ञानात्मक ही होगा, किंतु बात ऐसी नहीं है। कबीर साहब ने जो इस प्रसंग में अनेक स्थलों पर चर्चा की है, उससे स्पष्ट है कि उक्त स्थिति का स्वरूप वास्तव में भक्तिमय भी है। इस दृष्टि से उस दशा को ये 'भाव-भगति' नाम देते हुए समझ पड़ते हैं। कबीर साहब के अनुसार 'भगति' वा भक्ति से मुख्य तात्पर्य 'हरिनाम का भजन' मात्र है और अन्य बातें अपार दुःख से भरी हुई हैं। इसी कारण ये नाम स्मरण को ही, यदि वह मनसा, वाचा तथा कर्मणा किया जाय तो सबसे बढ़ कर साधना मानते हैं।[2] किंतु 'रामनाम' वस्तुतः एक 'अगोचर' पदार्थ है जिसका ऊपर से वर्णन नहीं किया जा सकता, उसके भीतरी अनुभव द्वारा ही हम आनंद उठा सकते हैं। उसका रहस्य उससे परिचित होने पर ही मिल सकता है।[3] उस 'बसतु अगोचर' को प्राप्त करने के लिए हमें अंधकार के अंदर दीपक की आवश्यकता पड़ती है और वह दीपक हमें अपने 'घट' वा शरीर में ही समाया हुआ दीख पड़ता है।[4] "जब षट्चक्र की कनक कोठड़ी में लगे ताले

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद १५०, पृ० १३६-७।
२. वही, साखी ४, पृ० ५।
३. वही, पद २१८, पृ० १६२।
४. गुरुग्रंथ साहब, रागु सोरठि, पद ७।

को युक्तिपूर्वक कुंडलिनी की कुंजी द्वारा खोल देते हैं, तब उसमें निहित भाव-रूपिणी उक्त वस्तु के प्रकट हो जाते देर नहीं लगती।[१] इस प्रकार पूर्वोक्त 'अनाहत बानी' ही वह भाव-रूपिणी वस्तु है जिसे हम ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते है और वही दूसरे शब्दों में हरिनाम वा रामनाम भी है जिसका भजन यहाँ पर विवक्षित है। उसके साथ सुरति का संयोग होने पर जब तन्मयता आ जाती है और दोनों एकाकार हो जाते हैं, तब सारी स्थिति ही भावमयी हो जाती है और तभी भजन (भज् = भाग लेना अथवा भाग लेकर 'उसमें' लीन हो जाना) की सार्थकता भी संभव होती है। भाव-भगति को कबीर साहब ने इसी कारण 'हरि सूं गठजोरा'[२] भी कहा है और एक अन्य स्थल पर सच्ची भगति की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "जिस प्रकार मृग वीणा के स्वर को सुनते ही बिंध जाता है और शरीर त्याग करने पर भी उसका ध्यान नहीं टूटता, जिस प्रकार मछली जल के साथ ऐसा प्रेम कर लेती है कि प्राण छोड़ने पर भी अपना स्वभाव नहीं भूलती तथा जिस प्रकार कीट भृंगी में इतना लीन हो जाता है कि वह अंत में भृंगी ही बन जाता है, उसी प्रकार इस 'अमृत-सार' नाम का स्मरण करके भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं"।[३] इस प्रकार की भक्ति का ही नाम 'प्रेम भगति' भी है जिसमें "चंद्रमा की ओर से अमृतस्राव हुआ करता है, आप ही आप विचार करते समय अपार आनंद मिला करता है"।[४]

उसका स्वरूप

कबीर साहब द्वारा निर्दिष्ट उक्त भाव-भगति का भी रहस्य इसी कारण किसी बाहरी पूजन वा गुणगान में निहित न होकर एक स्थिति-विशेष में सदा निरत रहने तथा उसी के अनुसार निरंतर चेष्टा करने में ही लक्षित होता है। इसका संबंध उक्त भाव-विशेष से है। इसे वैसी किसी भावना वा प्रतीक से प्रयोजन नहीं जिस पर सगुणोपासना के लिए निर्भर रहना पड़ता हो। अतएव हम यदि साधारण भक्ति की भिन्न-भिन्न नवधा पद्धतियों की इसमें खोज करें, तो उनके प्रचलित रूपों का यहाँ सर्वथा अभाव ही मिलेगा। उदाहरण के लिए यहाँ 'श्रवण' की यह विशेषता है कि सबद के सुनते ही जी निकलने-सा लगता है और देह की सारी सुध भूल जाती है।[५] 'कीर्तन' में हरिगुण का स्मरण कर उन्हें गाने की ज्यों-ज्यों चेष्टा

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद २३, पृ० ९६।
२. वही, पद २१३, पृ० १६०।
३. वही, पद ३९३, पृ० २१८। ४. वह, पद ५, पृ० ८९।
५. वही, का० सं०, साखी ३३, पृ० ७१।

की जाती है, त्यों-त्यों एक तीर-सा लगने लगता है।[१] 'स्मरण' तथा 'वंदन' में क्रमश: "मेरा मन राम को स्मरण करता है और वही हो भी जाता है" और "जब मेरा मन राम का ही रूप हो गया, तब शीश किसे नवाया जाय"[२] की दशा का अनुभव होता है। 'पाद-सेवन' में "चरण कँवल मन मानियाँ" की स्थिति ऐसी आ जाती है कि हम सुख तथा दुःख दोनों को बिलकुल भूल जाते हैं[३] और वैसी सेवा करने लगते हैं कि जिसके बिना रहा नहीं जाता।[४] इसी प्रकार 'अर्चन' में भी "माँहैं पाती माँहि जल माँहैं पूजणहार[५]" होने से अवस्था ही कुछ विचित्र-सी रहा करती है तथा "साच सील का चौका" देकर हमें आरती के समय अपने प्राणों को ही उस 'तेजपुंज' के समक्ष उतार देना पड़ता है।[६] 'दास्य' में "गले राम की जेवड़ी जित खिंचे तित जाऊँ"[७] की दशा रहती है और कबीर साहब को इसी कारण कह देना पड़ता है कि "हे स्वामी, मैं तेरा गुलाम हूँ, तू मुझे जहाँ चाहे बेच डाल तथा तूने तो मुझे ऐसी हाट में उतार दिया है जहाँ पर तू ही गाहक है और बेचनेवाला भी तू ही है"।[८] 'सख्य' में भी इसी भाँति, "सौ दोसत किया अलेख"[९] के कारण सदा "अंक भरे भरि"[१०] भेंटना होता रहता है और 'आत्मनिवेदन' की स्थिति में भेद-रहित होने से अपनी दशा की सुध ही नहीं रहा करती। ऐसा अनुभव होता है कि "पाला गलि पांणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि"।[११] फिर तो ऐसी अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो आती है कि बूँद समुद्र में खो जाती है और लाख यत्न करने पर भी नहीं मिलती, न ढूँढ़नेवाले का ही पता चलता है।[१२] अतएव अंत में यही कह कर मौन धारण करना पड़ा है कि "मेरा तो मुझमें कुछ था ही नहीं, जो कुछ था उसी का था, इसलिए उसकी ही वस्तु को उसे सौंपते मेरा लगा ही क्या।"[१३] सारांश यह है कि उक्त सारे व्यापार भीतर ही होते रहते हैं और आप-से-आप स्वभावतः चलते हैं।

सहजसील

सहज-समाधि की स्थिति में भाव-भगति से ओतप्रोत स्वभाव को इसी कारण

---

१. कबीर-ग्रंथावली, साखी, ६, पृ० ६३। २. वही, साखी ८, पृ० ५।
३. वही, पद ४, पृ० ८८।
४. वही, रमैणी, पृ० २४१।
५. वही, साखी ४२, पृ० १३।
६. वही, रमैणी, पृ० २४०।
७. वही, साखी १४, पृ० २०।
८. वही, पद ११३, पृ० १२४।
९. वही, साखी १२, पृ० १३।
१०. वही, साखी २५, पृ० १४।
११. वही, साखी १८, पृ० १४।
१२. वही, का० सं०, साखी ३, पृ० १०।।
१३. वही, साखी ३, पृ० १६।

कबीर साहब ने 'सहजसील' की संज्ञा दी है और बतलाया है कि किस प्रकार उक्त श्रेणी तक पहुँचे हुए महापुरुष की प्रकृति एक निराले ढंग की हो जाती है जिसमें कुछ विशिष्ट गुणों का समावेश रहा करता है। इस सहजसील का संक्षिप्त परिचय देते हुए ये एक स्थान पर कहते हैं कि इसके लिए कम से कम सती, संतोषी, सावधान, सबदभेदी तथा सुविचारवान् होने की आवश्यकता है जो सद्गुरु के प्रसाद अथवा अपार कृपा पर निर्भर है"[1]। इस बात को इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं द्वारा स्पष्ट करने की भी चेष्टा की है। 'सतीत्व' गुण के लिए इनके अनुसार शुद्ध भावना तथा एकांत निष्ठा के साथ ही अपने प्रिय उद्देश्य की प्राप्ति के विषय में ऐसी उत्कट अभिलाषा भी अपेक्षित है जिसमें वियोग की तनिक भी संभावना असह्य हो उठती है। 'संतोष' गुण के लिए हरि में अटूट विश्वास तथा उसके प्रति पूर्ण निर्भरता तो चाहिए ही, अपने अमल में इस प्रकार निरंतर मत्त भी रहना चाहिए ताकि उसमें अपने को नितांत मग्न कर दें। 'सावधानी' के लिए इसी प्रकार संयमी, त्यागी, निर्भय तथा निःशंक होने की आवश्यकता है और एक शूरवीर की भाँति पूर्ण दृढ़व्रती होना भी अपेक्षित है। 'सबदभेदी' का गुण इनके अनुसार शब्द के रहस्यों से पूरा परिचय तथा नामस्मरण में सदा निरत रहने का स्वभाव उत्पन्न कर देता है। 'सुविचार' का गुण भी एक सारग्राहितापूर्ण सच्चे तथा निष्कपट हृदय को वह बल प्रदान कर देता है जिससे कथनी और करनी में कोई विषमता नहीं आ पाती। यह सहजसील सतत अभ्यास का फल होता है और अपने निजी चरित्र विशेष के रूप में सदा प्रकट हुआ करता है। इस सहजसील की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उक्त सारे गुण आप-से-आप उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे जीवन के स्वरूप को इस प्रकार परिवर्तित कर देते हैं कि वह पार्थिव अथवा सांसारिक बने रहने की जगह आध्यात्मिक वा स्वर्गीय हो जाता है।

सहजावस्था

अतएव उक्त प्रकार से हृदयस्थित कपट की गाँठ सदा के लिए खुल जाती है; अंतःकरण निर्मल तथा विशुद्ध हो जाता है। आत्मा की निर्मलता अलौकिक आनंद ला देती है। अब कथनी तथा करनी में कोई अंतर नहीं रह जाता। मुख से जैसा निकलता है, वैसा ही अपना दैनिक व्यवहार भी चलता है। परमात्मा सदा 'नेड़ा' वा निकट वर्तमान जान पड़ता है और अपने भीतर इस बात का अनुभव होने लगता है कि मैं अब कृतकार्य हो गया हूँ।[2] यही वह सहज की अवस्था है जब "अपनी

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी २, पृ० ६३।

२. वही, साखी २, पृ० ३८।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कहने में पूर्णतः आ जाती हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमें परमात्मा का स्पर्श वा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है"।[1] हमारे भीतर मानो अव्यक्त व्यक्त हो जाता है। 'प्रेमध्यान' की तारी लग जाती है और अंतःपट के खुलते ही सारी वेदनाएँ सुखमयी बन जाती है। उस समय संसार-मात्र के साथ आत्मीयता का बोध होने लगता है और किसी के प्रति वैर वा विद्वेष के भाव जागृत नहीं होते। सारी सृष्टि के अंतर्गत उस आत्मतत्त्व वा सति का प्रत्यक्ष आभास होते रहने से वृक्ष तथा वनस्पति के भीतर भी वही लक्षित होता है। उसके पत्ते में ब्रह्मा, पुष्प में विष्णु तथा फल में साक्षात् महादेव के दर्शन होने लगते हैं, उसका सारा अंग सजीव हो उठता है और पूजा के लिए भी उसके किसी अंश का तोड़ना असह्य प्रतीत होता है।[2] यह किसी व्यक्ति के विकास की पूर्ण अवस्था है जिसमें मनुष्यत्व तथा देवत्व के बीच कोई अंतर नहीं रह जाता। कबीर साहब ने इस स्थिति को पहुँचे हुए महापुरुषों को ही भगत, हरिजन, साधू अथवा अधिकतर संत कहा है और उन्हें 'प्रत्यक्ष देव' रूप माना है।

संत

उक्त संतों के लक्षण बतलाते हुए एक साखी द्वारा ये कहते हैं कि वे 'संत' लोग 'निरबैरी' अर्थात् किसी से किसी प्रकार की भी शत्रुता न रखनेवाले होते हैं। 'निह काम' होने के कारण किसी वस्तु की कामना न रखते हुए निःस्वार्थ होते हैं। उन्हें 'साईं सैती नेह' अर्थात् परमात्मा के प्रति पूर्ण प्रेम की 'भावना' रहा करती है और वे सारे 'बिषिया सूं न्यारा' अथवा अलग रहने के कारण निर्लिप्त तथा अनासक्त रहा करते हैं।[3] इनकी ये बराबर प्रशंसा करते हैं और उन्हें आदर्श के रूप में परिचित कराने के लिए निरंतर सचेष्ट रहते है। संतों के हृदय को उन्होंने उजाला वा प्रकाशपूर्ण बतलाया है, उन्हें तत्त्वज्ञ तथा विवेकी हंस की उपमा दी है। उनके त्याग, संतोष व निर्भीकता का वर्णन किया है। कबीर साहब के अनुसार संत-जन दूर से ही "तन षीणां मन उन मनां"[4] अर्थात् क्षीण शरीरधारी व अन्यमनस्क दीख पड़ते हैं और उनका संतपन करोड़ों के समाज में रहते हुए भी उसी प्रकार एकरस तथा एकभाव बना रहना है जिस प्रकार सर्पो द्वारा वेष्ठित रहने पर

---

१. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, साखी २, पृ० ४२। दे० 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'।—श्री मद्‌भगवद्‌गीता, अध्याय ६, श्लोक २८ भी।

२. वही, पद १६८, पृ० १५५।

३. वही, साखी १, पृ० ५० (दे० प्रथम अध्याय भी)।

४. वही, साखी ३, पृ० ५१।

भी चंदन वृक्ष की शीतलता बनी रहती है। उनके स्वभाव में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता।[1] कबीर साहब राम का भजनेवाला उसी को मानते हैं जो किसी प्रकार से 'आतुर' वा अशांत नहीं होता जिसमें सच्चा संतोष होता है और जो धैर्यवान् होता है। जिस पर काम तथा क्रोध अपने प्रभाव नहीं डाल सकते, जिसे तृष्णा नहीं जलाया करती और जो इसी कारण प्रफुल्लित मन के साथ गोविंद के गुण गाता रहता है, उसे दूसरों की निंदा नहीं भाती, न वह असत्य भाषण करता है। वह काल की कल्पना का भी त्याग करता हुआ परमात्मा में निरंतर लीन रहा करता है। वह सदा सम-दृष्टि तथा सबके प्रति 'सीतल' अर्थात् एकभाव के साथ उपकारी हुआ करता है और किसी प्रकार की 'दुबिधा' वा दो प्रकार की धारणा नहीं रखता। अतएव कबीर साहब का कहना है कि इनका मन ऐसे ही भक्तों में विश्वास करता है।[2] सारांश यह कि भक्ति के लिए शुद्धाचरण भी परमावश्यक है।

समष्टिगत सुधार

उक्त शुद्धाचरण का व्यापार मानव-समाज में ही चलता है और उक्त नैतिक गुणों के प्रयोग समाज के अंतर्गत ही संभव हैं। अतएव व्यष्टि के पूर्णतः सुधरते ही समष्टि का भी सुधर जाना अनिवार्य-सा है। कबीर साहब कदाचित् इसी कारण किसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे सामने रखते हुए नहीं दीख पड़ते। इनके अनुसार जीवात्मा सर्वात्मा का अंश है और व्यक्ति का ध्येय उसके साथ एकाकार होना है। अतएव समाज, राष्ट्र अथवा विश्व के सामंजस्य की भी प्रक्रिया उसी यत्न में आप-से-आप विकसित होती चलेगी। इनका संत शाश्वत सत्य को अपने नित्य के जीवन तथा दैनिक प्रश्नों के संबंध में उतारते रहने की चेष्टा स्वभावतः किया करेगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मानवीय संस्कारों में सदा परिवर्तन होता ही रहेगा, अतः इस प्रकार किसी दिन भूतल पर स्वर्ग तक लाने का भी अवसर आ सकता है।

कबीर सामाजिक समस्याओं पर इसी कारण आर्थिक, राजनीतिक आदि दृष्टियों से अलग-अलग विचार करते हुए नहीं दीख पड़ते। ये पूरे समानतावादी हैं। किंतु इनके यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक वा राजनीतिक प्रेरणाओं से नहीं जागृत होते, अपितु ठेठ 'समाज धर्म' के आदर्शानुसार उठा करते हैं। इनके अनुसार मानव-समाज के सभी अंग मूलतः एक हैं, अतएव केवल उनके 'अधिकार' मात्र में ही समानता का देखना अधूरा कार्य समझा जा सकता है। इनकी क्रांति अपनी सामाजिक व्यवस्था वा परिस्थिति के उलट-फेर की ओर उतना ध्यान नहीं देती जितना समाज के व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन से संबद्ध है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, साखी २, पृ० ५१। २. वही, पद ३६३, पृ० २०६।

सामाजिक साम्य

मानव-समाज की मौलिक एकता की ओर सर्वसाधारण का ध्यान दिलाते हुए कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत कई स्थलों पर जाति, कुल, धन तथा धर्म-संबंधी वैषम्य को लेकर कुछ फुटकर विचार भी प्रकट किये हैं। ये कहते हैं कि "गर्भावस्था में तो कोई जाति वा कुल का चिह्न नहीं रहा करता और सबकी उत्पत्ति एक ब्रह्म विंदु से ही हुआ करती है। फिर पंडित ब्राह्मण कब से हो गया? यदि वह ब्राह्मण वा ब्राह्मणी का उत्पन्न किया हुआ है तो उसकी उत्पत्ति के ढंग में भी कुछ विभिन्नता होनी चाहिए थी। परन्तु यदि वह भी सभी की भाँति जन्म लेता है, तो फिर वह किस प्रकार ब्राह्मण हो गया और दूसरे शूद्र बन गए अथवा वे किस प्रकार साधारण रक्त रह गए और वह पवित्र दूध हो गया? सच्ची बात तो यह है कि जो ब्रह्म का विचार कर सकता है, वही ब्राह्मण है।"[१] इसी प्रकार "सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई, अतएव मूलतः हम किसी एक को अच्छा और दूसरे को बुरा नहीं कह सकते। मिट्टी एक ही है, न तो पात्र में कोई बुराई है, न उसके कुम्हार में ही कोई कमी है। सभी प्राणियों में वही एक अदृश्य रूप से विद्यमान है।"[२] फिर "हम तो सबको एक ही एक समझते हैं। यह सारा जगत् एक ही पानी, एक ही पवन तथा एक ही ज्योति का बना है। सभी बर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनानेवाला भी एक ही है तथा सबके भीतर वही एक काठ के भीतर अग्नि की भाँति व्याप्त है[३]।"

आर्थिक तथा धार्मिक साम्य

धनी तथा निर्धन के संबंध में भी ये कहते हैं कि इस समय कोई निर्धन को आदर नहीं देता। वह लाख यत्न करे तो भी उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। यदि निर्धन धनवान् के पास जाता है, तो निर्धन को आगे बैठा देख कर धनवान् पीठ फेर लेता है। परन्तु यदि धनवान् निर्धन के पास जाता है, तो निर्धन धनवान् को आदर देता है और उसे अपने निकट बुला लेता है। फिर भी वस्तुतः निर्धन और धनवान् दोनों भाई-भाई हैं और जो दोनों में अंतर दीख पड़ता है, वह प्रभू का नित्य कौतुक मात्र है। कबीर साहब के अनुसार सच्चा निर्धन उसी को कहना चाहिए जिसके हृदय में रामनाम का धन न हो।[४] ये स्वयं किसी से भी

---

१. गुरुग्रंथ साहब, रागु गौड़ी, पद ७, पृ० ३२४।
२. वही, रागु विभास प्रभाती, पद ३, पृ० १३४९।
३. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद ५५, पृ० १०५।
४. आदिग्रंथ, रागु भैरऊ, पद ८, पृ० ११६०।

कोई वस्तु अपने लिए माँगना नहीं चाहते अपितु अपना काम करते हुए संतोष-पूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।[१] इन्हें धार्मिक वा साम्प्रदायिक विषमता अधिक असत्य प्रतीत होती है और इसके विरुद्ध ये बार-बार लोगों का ध्यान आकृष्ट करते रहते हैं। ये हिन्दू और मुसलमान में कोई मौलिक भेद नहीं देखते और सुन्नत तथा यज्ञोपवीत इन दोनों को ही कृत्रिम ठहराते हैं।[२] इन दोनों धर्मों तथा जैन, बौद्ध, शाक्त, चार्वाक आदि के भी वाह्य नियमों को ये पाखंडपूर्ण तथा व्यर्थ बतलाते हैं और उन सबके अनुयायियों से कहते हैं कि मूल धर्म की ओर अपना ध्यान दें।

उपसंहार

संक्षेप में कबीर साहब का उद्देश्य कभी किसी प्रचलित धर्म वा सम्प्रदाय का अनुसरण करना नहीं रहा, न इन्होंने किसी नवीन पंथ के प्रचार की कोई बुनियाद ही डाली। इनके अनुसार धर्म का स्वरूप सत्य के प्रति किसी व्यक्ति की पूर्ण आस्था, उसके साथ तादात्म्य की मनोवृत्ति तथा उसी के आदर्शों पर निश्चित व्यवहार की प्रवृत्ति में भी देखा जा सकता है। इन्होंने सत्य को ही ईश्वरवत् माना और उसे ही सर्वत्र एकरस से ओतप्रोत भी बतलाया है। इन्होंने इसी प्रकार समाज के भीतर निर्द्वंद्व रह कर कतिपय व्यापक नैतिक नियमों के पालन की ओर ही विशेष ध्यान दिलाया। ये कपट, पाखंड, वाग्जाल तथा अत्याचार के घोर विरोधी थे। उसी प्रकार शुद्ध हृदय, सादगी, स्पष्टोक्ति तथा प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनकी क्रांति बाहरी विप्लव न होकर अंतर्मुखी थी और मानवी हृदय से ही सीधा संबद्ध थी। ये जीवन के किसी विशेष पहलू के सुधार पर ही अधिक जोर न देकर उसका पूर्णतः कायापलट कर देना चाहते थे। इन्हें किसी परलोक-जैसे काल्पनिक प्रदेश में भी आस्था नहीं थी। ये इहलोक को ही आदर्श व्यक्तियों के प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना दिये जाने में विश्वास रखते थे। वे जिस पद को 'हरिपद', 'निजपद', 'परमपद', 'अभैपद' वा 'चौथापद' कहा करते थे। वह स्थान-विशेष का बोधक न होकर स्थिति-विशेष का निर्देश करता है[३] जिसे उपलब्ध कर कोई भी व्यक्ति संत पदवी के योग्य बन सकता है। वास्तव में 'संत' शब्द का सार्थक होना भी तभी संभव है जब उसके द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ब्रह्म वा सत्य के अस्तित्व का पूर्णतः अनुभव कर चुकने वाला हो जाय।[४]

---

१. गुरुग्रंथ साहब, रागु सोरठि, पद ११, पृ० ६५५।
२. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, अष्टपदी रमैणी, पृ० २३६।
३. कबीर-ग्रंथावली, का० सं०, पद १८४, पृ० १५०।
४. 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद संतमेनं विदुर्बुधाः' (दे० प्रथम अध्याय भी)

तृतीय अध्याय

कबीर साहब के समसामयिक संत, कबीर-शिष्य और कबीर पंथ

संवत् १४०० : संवत् १५००

१. सामान्य परिचय

धार्मिक वातावरण

कबीर साहब के आविर्भाव का समय ऐसा था जिसमें धार्मिक विचार-धारा पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते जा रहे थे और उनसे अछूता रह कर किसी धार्मिक व्यक्ति का जीवन-यापन करना सरल न था। इसलिए इनके समसामयिक महापुरुषों में से कई ने इन्हें प्रभावित किया तथा बहुत से अन्य ऐसे लोग इनके द्वारा प्रभावित हुए। फिर उन्होंने भी अपने सिद्धांतों तथा साधना द्वारा दूसरों को प्रभावित किया। इन महापुरुषों में उन दिनों सर्वप्रसिद्ध स्वामी रामानंद कहे जा सकते थे जो कबीर साहब से अवस्था में बड़े थे और जिन्हें उनका गुरु होना भी समझा जाता है। उन्होंने संभवतः प्रसिद्ध भक्ति-प्रचारक आचार्य श्री रामानुज स्वामी के 'श्री' सम्प्रदाय' से अपना पूर्व संबंध विच्छिन्न करके स्वतंत्र रूप से 'रामावत सम्प्रदाय' को पृथक् जन्म दिया था। अपने इस नवीन मत के प्रचार द्वारा तत्कालीन सुधार-आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने एक ऐसे इष्टदेव की कल्पना की जो सर्वसाधारण के लिए भी कल्याणकारी प्रतीत हो सके। उन्होंने एक ऐसी सर्वसुलभ उपासना भी चलायी जिसके अधिकारी मनुष्य मात्र तक समझे जा सकें। उनकी इस विशेषता को ही आधार स्वरूप ठहरा कर पीछे तुलसीदास जी ने अपने अपूर्व ग्रंथ 'रामचरितमानस' की रचना की जो कम से कम हिन्दू जाति के लिए अपने आदर्श पारिवारिक जीवन का पथ-प्रदर्शक बन गया। फलतः उन महापुरुष का अपने इन छोटे समसामयिक अर्थात् कबीर साहब को प्रभावित कर देना कुछ भी कठिन नहीं था। यद्यपि इन दोनों के बीच किसी प्रत्यक्ष संबंध का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, इनके लिए उनका कुछ बातों में ऋणी होना कभी असंभव नहीं कहा जा सकता।

सेन नाई पीपाजी आदि

स्वामी रामानंद के ही समान उस समय कुछ ऐसे अन्य व्यक्ति भी थे जिनका

संबंध कबीर साहब के साथ बतलाया जाता है। संत सेन नाई, पीपाजी, रैदास तथा धन्ना की गणना भी स्वामी रामानंद के शिष्यों में की जाती है। प्रसिद्ध है कि ये सभी कबीर साहब की भाँति उनसे दीक्षित थे और उनके साथ रहते हुए उनकी विविध यात्राओं में भी सम्मिलित हुए थे। स्वामी रामानंद तथा इन शिष्यों के संबंध में बहुत-सी कथाएँ भी कही जाती हैं और इनके परस्पर गुरुभाई होने की अनुश्रुति प्रचलित है। यह प्रायः निर्विवाद-सा है कि ये सभी किसी एक स्थान के निवासी नहीं थे, न इनका समवयस्क होना ही असंदिग्ध रूप में स्वीकृत है। फिर भी इतना मान लेने में किसी प्रकार की अड़चन लक्षित नहीं होती कि इन सबकी विचारधारा लगभग एक समान प्रवाहित हुई थी। इनमें से किसी पर भी साम्प्रदायिकता की छाप लगी हुई हमें नहीं दीख पड़ती, न उसमें उदार, हृदयता की कोई कमी जान पड़ती है। सभी प्रायः एक ही रंग में रँगे, उन्मुक्त तथा स्वच्छंद आध्यात्मिक व्यक्ति समझ पडते हैं और सभी न्यूनाधिक एक स्वर में गान करते पाये जाते हैं। इन ऐसे लोगों की कोटि में ही हम उन संत मतिसुंदर की भी गणना कर सकते हैं जिनके नाम के कबीर साहब की एक रचना में उल्लिखित होने का अनुमान किया जाता है तथा जिनके नाम से कतिपय पद भी उपलब्ध हैं।

विशेषता

स्वामी रामानंद को छोड़ कर इस काल के उक्त सभी अन्य संत प्रायः अशिक्षित और अधिकार-शून्य व्यक्ति समझे जाते हैं। स्वामी रामानंद का संबंध चाहे स्वामी रामानुजाचार्य से आती हुई आचार्य-परंपरा के साथ रह भी चुका हो और उन्होंने कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों पर भाष्य-रचना तक भी की हो, किंतु सेन, कबीर साहब, पीपाजी, रैदास अथवा धन्ना जैसे व्यक्तियों के ऊपर हम वैसी बातों का कदाचित् लेशमात्र भी प्रभाव नहीं ठहरा सकते। इन संतों की एक यह विशेषता भी देखी जाती है कि इनमें से कदाचित् किसी भी ने अपने पीछे किसी नवीन पंथ के चलाने का प्रयास नहीं किया। इन सबका लक्ष्य कबीर साहब की भाँति किसी एक सार्वभौम तथा व्यापक धर्म का प्रचार करना था जो सब किसी के लिए मान्य बन सके। फिर भी हमें पता चलता है कि पंथ-निर्माण की योजना का आरंभ होते ही लगभग इन सभी के नामों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय चल पड़ा। उदाहरण के लिए सेन-पंथ, पीपा-पंथ तथा रैदासी सम्प्रदाय के नाम आज भी सुनने में आते हैं। कबीर-पंथ के नाम से अभिहित की जानेवाली एक संस्था की तो अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ तक बन गई हैं। स्वामी रामानंद के उक्त 'रामावत सम्प्रदाय' का भी किसी समय 'श्री सम्प्रदाय' की कतिपय रूढ़ियों के विरुद्ध स्थापित होना ही कहा जाता है। किंतु पीछे वह फिर वैसी बातों के ही समर्थन में निरत जान पड़ने लगा और उसमें तथा

वैसे अन्य सम्प्रदायों में मौलिक अन्तर नहीं रहा। इसके सिवाय, जहाँ तक उपर्युक्त सेन, पीपाजी, आदि के विषय में हमें विदित है, वे लोग विभिन्न श्रेणियों के कुलों में उत्पन्न हुए व्यक्ति थे। अपने वंश-परंपरानुसार जीवन-यापन करते हुए, उन्हें एक आध्यात्मिक आदर्श का अनुसरण करना अभीष्ट रहा। उन्होंने कभी पूर्ण संन्यास भी नहीं अपनाया, प्रत्युत उनमें से अधिकांश ने अपने परिवार में रह जीविकोपार्जन करते रहने को ही उत्तम समझ कर उसका सर्वथा त्याग करना उचित नहीं माना। उनके द्वारा स्वीकृत साधना की भाँति ही उनका जीवन भी सरल, शांत, निर्द्वंद्व, निष्कपट तथा आडंबरहीन था। उन्हें सभी प्रकार के प्रपंचों तथा विडंबनाओं से घृणा थी। कबीर साहब के इन समसामयिक संतों का ऐसा कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता जिसे असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर लिया जा सके। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इनके आविर्भाव-काल के संबंध में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

संत कमाल और अन्य कबीर शिष्य

साम्प्रदायिक भावनाओं से सर्वथा मुक्त समझे जाने वाले एक अन्य संत कमाल भी इसी समय उत्पन्न हुए थे। ये कबीर साहब के औरस पुत्र तथा दीक्षित शिष्य समझे जाते हैं और इनके संबंध में भी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि इन्होंने कबीर साहब के अनेक भक्तों के आग्रह करने पर भी, उनके नाम का कोई पंथ नहीं चलाया। इन्होंने अपने पीछे स्वयं अपने नाम से भी किसी पृथक् पंथ के प्रवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझी और कदाचित् इस प्रकार के साम्प्रदायिक बखेड़ों के ही भय से इन्होंने अपना विवाह तक नहीं किया और सदा एक संयत जीवन व्यतीत करते रहे। कबीर साहब के जिन इस प्रकार के अन्य शिष्यों की चर्चा की जाते है उनमें कमाली, पद्मनाभ, तत्त्वा तथा जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागोदास, सुरतगोपाल और धर्मदास आदि के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। परन्तु जहाँ तक पता चलता है, हमें अभी तक इन लोगों के विषय में भी, कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है जिसके आधार पर हम इनका कोई प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत कर सकें। इन सभी के संबंध में, कबीर साहब के पूर्णत: समकालीन होने तथा उनसे दीक्षा लेकर अथवा उनके किसी परामर्श वा आदेश के आधार पर कबीर-पंथ की स्थापना करने का हम इन्हें कोई श्रेय दे सकें। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनके संबंध में कतिपय चमत्कारपूर्ण बातें मात्र सुनी जाती हैं। उन्हें किसी न किसी प्रकार की अलौकिकता प्रदान करने की चेष्टा की गई मिलती है तथा अन्य इस प्रकार के व्यक्ति हैं जिनके आविर्भाव-काल को कबीर साहब के समय से पीछे भी लाया जा सकता है। फिर भी परंपरानुसार इन सभी के लिए

प्रसिद्ध है कि इन्होंने इस समय 'कबीर-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध धार्मिक वर्ग की किसी न किसी शाखा का कभी प्रवर्तन किया था अथवा कम से कम वैसी किसी न किसी संस्था के साथ इनका मूल संबंध जोड़ने का ही प्रयास किया जाता है।

कबीर-पंथ का महत्त्व

'कबीर-पंथ' की कदाचित् किसी भी शाखा का संगठन कबीर साहब के जीवन-काल में नहीं हुआ होगा। इस बात को आजकल कई कबीर-पंथी तक भी किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हुए दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसके अनुयायियों द्वारा स्वीकृत मत का इनकी विचार-धारा के साथ पूरा मेल भी बैठता नहीं जान पड़ता। परन्तु इनके विषय में अध्ययन करते समय उसकी चर्चा कर लेना केवल इसलिए आवश्यक समझ पड़ता है कि इस प्रकार हम इनके विचारों के क्रमिक विकास तथा उनमें कालक्रमानुसार लक्षित होते जाने वाले विभिन्न परिवर्तनों की एक रूपरेखा प्रस्तुत कर लेते हैं तथा उसके आधार पर किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम तक पहुँचने में समर्थ भी हो जाते है। हमें इस प्रकार न केवल कतिपय मनोरंजक तथ्यों का पता चल जाता है, प्रत्युत हम उनके द्वारा कई मनोवैज्ञानिक रहस्यों का समुचित विवेचन भी कर सकते हैं। अतएव कबीर साहब अथवा कबीर-शिष्यों के साथ प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध न हो सकने पर भी उसका मूल्य कम नहीं हो पाता, प्रत्युत ऐसे अध्ययन के आधार पर हम उस प्रवृत्ति-विशेष को कुछ समझ पाने की स्थिति में भी आ जाते हैं। इसके अनुसार पीछे नानक, दादू आदि संतों के नामों से विभिन्न संगठनों के बढ़ते जाने की एक निश्चित परंपरा ही चल पड़ी।

युगीन मनोवृत्ति

परन्तु कबीर साहब के कुछ पूर्व काल से लेकर उनके अनंतर तक भी हमें सब कहीं प्रायः उन्हीं की जैसी मनोवृत्ति प्रदर्शित की जाती हुई दीख पड़ती है। हमें ऐसा लगता है जैसे यह उस युग की अपनी कोई विशेषता ही बन गई थी। जैसा हम इसके पहले भी देख आये हैं लगभग उन्हीं दिनों पूरब की ओर सुदूर बंगाल प्रांत में उन प्रेमोन्मादी साधकों की संख्या बढ़ती जा रही थी जिन्हें 'बाउल' कहा जाता था। इनके जीवन पर सूफ़ी-मत तथा वैष्णव धर्म का एक ऐसा सम्मिलित प्रभाव दीखने लगा था जो अपने ढंग का निराला था और जिसके कारण वे लोग किसी असाधारण कोटि के व्यक्ति समझे जाने लगे थे। इसके सिवाय उधर एक ऐसा ही दूसरा वर्ग उन वैष्णव सहजिया लोगों का भी पाया जाने लगा था जिन्होंने सहज तत्त्व की व्याख्या करके उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान

किया था। इनके धार्मिक मत की भी सार्वभौमिकता उससे कम नहीं कही जा सकती थी।

इसी प्रकार उत्कल प्रांत में भी ठीक इसके कुछ ही दिनों पीछे उन 'पंचसखा' कहे जाने वाले वैष्णव भक्तों का प्रादुर्भाव हुआ जिन पर बौद्ध धर्म का अवशिष्ट प्रभाव लक्षित होता था। इन्होंने क्रमशः महाप्रभु के प्रभाव में भी आकर किसी ऐसे उन्मुक्त जीवन का आदर्श सबके सामने रखा जिसमें भेद-भाव अथवा संकीर्णता का लेशमात्र भी नहीं पाया जा सकता था। बंगाल तथा उत्कल की भाँति हम सुदूर उत्तर वाले कश्मीर प्रांत में भी, प्रायः इसी प्रकार की प्रवृत्ति को बल ग्रहण करती हुई पाते हैं। वहाँ की महिला संत लाल-देद संभवतः कबीर साहब के कुछ पहले ही अपना जीवन व्यतीत कर चुकी थीं। इनके समकालीन शेख नूरुद्दीन कहे जा सकते थे जो अपने जीवनादर्श की महत्ता और अनुपम लोकप्रियता के कारण, वहाँ पर 'नंद ऋषि' कहला कर प्रसिद्ध थे। इनका मूलतः सूफ़ी-मत का अनुयायी होते हुए भी, उसके द्वारा पूर्णतः अभिभूत न होना तथा अंत में लालदेद के प्रभाव में आकर उनकी मनो-वृत्ति को अपना लेना और इसी कारण, किसी ऐसे धर्म का प्रचार करने लगना जिस पर साम्प्रदायिकता का रंग न हो, कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

लौंकाशाह का संक्षिप्त परिचय

जहाँ तक साम्प्रदायिकता के स्तर से ऊपर उठने तथा विभिन्न वाह्याचारों के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करते हुए विशुद्ध आध्यात्मिक जीवनादर्श को सामने रखने की बात है, हमें इसके कुछ उदाहरण उन दिनों के जैन धर्म में भी मिलते हैं। उस समय के धार्मिक इतिहास को देखने से पता चलता है कि उसी युग में उन दो प्रसिद्ध सुधारकों का भी आविर्भाव हुआ था जो लौंकाशाह तथा तारण स्वामी के नामों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम का पूर्व संबंध जैन धर्म के श्वेतांबर सम्प्रदाय से था और द्वितीय का उसके दिगंबर सम्प्रदाय से रहा। लौंकाशाह के लिए कहा जाता है कि इनका जन्म सं० १४७२ की कार्त्तिक शुक्ला १५ के दिन 'अरहट वाड़ा' में हुआ था जो सिरोही राज्य के अंतर्गत रहा है। इनकी जाति के लिए प्रसिद्ध है कि वह 'पोरवाड़ों' (प्राग्वाटों) की थी, किंतु उनके नामादि का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। वास्तव में इनके जीवन से संबद्ध अनेक बातों का पता हमें केवल इनके विरोधियों की रचनाओं से ही चल पाता है।[1] इस कारण हमें जो कुछ भी विदित होता

---

१. श्रीमद्राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ, आहोर, राजस्थान, सं० २०१३, पृ० ४७१-५।

है उसे भी असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर लेना सदा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इनकी अपनी रचनाओं का हमें अभी तक वैसा कोई परिचय नहीं मिल सका है जिसके आधार पर किसी तथ्य का निरूपण किया जा सके। कहते हैं कि इनका प्रारंभिक जीवन किसी ऐसे 'बहिये' अर्थात् प्रतिलिपिक का रहा जो उन दिनों उपलब्ध ग्रंथों को लिख दिया करते थे। इनके अक्षर सुन्दर होते थे और अपने कार्य की सफलता के कारण, इनकी प्रसिद्धि भी थी। परन्तु एक बार, संभवतः सं० १५०८ में जब ये गुजरात के अहमदाबाद में किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि कर रहे थे इन्होंने उसके ७ पन्नों के न लिख पाने की भूल कर दी। फलतः उसके स्वामी 'मुणिवर' के साथ झगड़े बढ़ जाने पर इन्होंने न केवल स्वयं उस यति के शिथिलाचार, अपितु ऐसे लोगों द्वारा स्वीकृत मूर्तिपूजा जैसी बातों के भी विरुद्ध प्रचार करना आरंभ कर दिया जिसने पीछे एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया। ऐसे कार्य में इन्हें फिर किसी पारख लखमसी का सहयोग मिल गया। सं० १५३० के लगभग इन्होंने किसी 'भाणा' नामक व्यक्ति को दीक्षित भी कर लिया जिसके परिणामस्वरूप इनके प्रचार में और भी अधिक बल मिल गया। तब से प्रायः एक सौ वर्ष के ही भीतर इनके मत की १३ शाखाएँ प्रतिष्ठित हो गई जिनमें से कम-से-कम चार अभी तक भी जीवित हैं।

इनकी प्रचार-पद्धति

लौंकाशाह के कार्यक्रम में पीछे मूर्तिपूजा से लेकर अन्य अनेक प्रचलित विडंबनाओं के प्रति भी विरोध सम्मिलित होता गया। इन्होंने उस समय दीख पड़ने वाले उन सभी वाह्याचारों के विरुद्ध प्रचार किया जो केवल जैन धर्म तक ही सीमित नहीं थे। उस युग के तथाकथित पंडितों और पुजारियों से लेकर इस्लाम के शेखों और पीरों तक का भी कार्य इन्हें जैन यतियों और मुनियों की मान्यताओं की अपेक्षा कम हेय नहीं प्रतीत हुआ जिस कारण इन्होंने इन सभी की खबर ली। इन्होंने अपने समकालीन गुरु नानक देव जैसे अन्य सुधारकों की भाँति हीअपने मत को तर्काश्रित रखने की चेष्टा की और ये सफल भी होते गए। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि इन लौंकाशाह द्वारा प्रतिपादित बातों का रूप अधिकतर खंडन-मंडनात्मक ही रह गया। इनकी ओर से कोई ऐसा यत्न कदाचित् कभी नहीं किया जा सका। इससे इनकी विचार-धारा को कोई सुव्यवस्थित रूप मिल सके अथवा उसके द्वारा किसी ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा हो सके जो किन्हीं स्पष्ट आदर्शों पर आधारित हो। इनके प्रचार-कार्य का प्रमुख लक्ष्य उन पतनशील प्रवृत्तियों की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट कर देना मात्र जान पड़ा जो उन दिनों के धार्मिक समाज में प्रायः सर्वत्र लक्षित होने लगी थी तथा जिनकी

ओर स्वयं कबीर साहब ने भी संकेत किया था। हो सकता है कि इन्होंने भी उन्हीं की भाँति सब कहीं उपदेश दिये हों तथा ऐसा करते समय इन्होंने उन्हीं के जैसे शब्दों में प्रसंगवश, किन्हीं ऐसे व्यापक सिद्धांतों का भी प्रतिपादन कर दिया हो जो इनके मत के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हों। इनका पता हमें इनकी रचनाओं के इस समय उपलब्ध न हो सकने के कारण, नहीं चलता।

तारणस्वामी का संक्षिप्त परिचय

तारणस्वामी के संबंध में हमें लोंकाशाह से कहीं अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित सामग्री मिलती है। इनका जन्म सं० १५०५ के अगहन मास शुक्ला ७ के दिन किसी पुष्पावती नगरी में हुआ था और इनकी जाति 'परवार' की थी। इनके पिता 'गाढ़ा सूरी वासल्ल' गोत्र के गढ़ाशाह थे और इनकी माता का नाम विमलश्री देवी था। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इनकी वृत्ति, अपनी बाल्यावस्था से ही बराबर वैराग्यपरक रही। ये एक प्रतिभाशाली तथा संयमशील पुरुष थे और इन्होंने अपने जीवन में आ जाने वाले विविध कष्टों को बड़ी धीरता के साथ सहन किया। इन्होंने अपने जीवनादर्श को सदा उच्च स्तर का बनाये रखा और तदनुसार इन्होंने सर्वसाधारण को भी उपदेश दिये। इन्होंने प्रत्येक प्रकार की रूढ़िवादिता तथा मिथ्याचार का घोर विरोध किया तथा इसके लिए इनकी स्पष्टवादिता भी प्रसिद्ध रही। इनका प्रारंभिक जीवन 'सेमरखेडी' के निर्जन वन में जैनमतानुसार तपःसाधना करते हुए बीता और ये उसके दिगंबर सम्प्रदाय के सदस्य रहे। ये बेतवा नदी के तटवर्त्ती तथा मुगावत्ती (मध्यप्रदेश) के निकट अवस्थित निसई (मल्हार मठ) में निवास करते हुए १४ ग्रंथ लिखते रहे। अंत में 'मुनि-दीक्षा' ग्रहण कर और अनेक व्यक्तियों को पूर्ण प्रभावित कर इन्होंने सं० १५७२ की ज्येष्ठ कृष्णा ६ को समाधि ले ली। इन्होंने अपने उपदेश-काल में पूरा देश-भ्रमण किया था तथा अनेक 'मंडलों' की स्थापना करके 'तारण मंडलाचार्य' की उपाधि प्राप्त की थी। इनके अनुयायियों की संख्या आज भी कम नहीं, किंतु वे अधिकतर मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में ही पाये जाते हैं।

इनके मत की विशेषता

तारण स्वामी द्वारा रचे गए १४ ग्रंथों का संग्रह 'अध्यात्मवाणी' के नाम से प्रकाशित है और इनमें से अधिकांश जैनमत की ही बातों से संबद्ध हैं तथा इनमें से कई के अनेक स्थलों की भाषा कुछ विचित्र-सी लगती है। परन्तु इनका अध्ययन कर लेने पर पता चलता है कि इसमें स्वानुभूति को कदाचित् सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इनके अनुसार स्वानुभव ही वास्तविक मोक्ष-मार्ग है तथा

इसी पर चल कर हमें केवल 'ज्ञान' का प्रकाश मिलता है। यहाँ पर 'ममल' शब्द वस्तुतः 'अमल' शब्द का पर्याय जान पड़ता है और इसका अर्थ वह विशुद्धात्मा है जिस 'अपने आपको' पहचान लेना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए तथा हमें यह भी चाहिए कि उसकी भक्ति के माध्यम द्वारा स्वयं अपने आपकी भक्ति उपलब्ध कर लें। इस प्रकार हम आप ही जहाज रहते हैं, आपही समुद्र बन जाते हैं तथा स्वयं आप ही उस 'मुक्ति-द्वीप' का भी स्थान ग्रहण कर लेते हैं जिसे 'मोक्ष' कहा जाता है। 'तारण तरण' शब्द का अभिप्राय भी दूसरे को पार करते हुए स्वयं पार होना है जिसमें तारण स्वामी के उपदेशों का सार तत्त्व-सा आ जाता है। 'अध्यात्मवाणी' के अंतर्गत सर्वत्र यही स्वर प्रधान है और इसके विपरीत मत को यहाँ पर वस्तुतः हेय ठहराया गया है। इस ग्रंथ के अनेक स्थलों पर जो पाखंड तथा मिथ्याचार की पूरी भर्त्सना की गई पायी जाती है वह भी हमें कबीर साहब की कथन-शैली का स्मरण दिलाती है। हमें इस बात के स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसमें निहित मत किस दिशा की ओर इंगित कर रहा है।

२. कबीर साहब के समसामयिक संत

(१) स्वामी रामानंद

महत्त्व

उत्तरी भारत की संत-परंपरा के इतिहास में स्वामी रामानंद का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये एक सहृदय तथा स्वाधीन-चेता व्यक्ति थे जो किसी प्रश्न पर विचार करते समय एक व्यापक दृष्टिकोण का उपयोग करते थे। किसी भी बात को सिद्धान्त-रूप में ये स्वीकार कर लेने पर उसे यथावत् व्यवहार में लाने का भी यत्न पूरी निर्भीकता के साथ किया करते थे। इनके चरित्र-बल तथा असाधारण व्यक्तित्व के कारण इनके समकालीन हिन्दू-समाज का वातावरण इनसे प्रभावित हो उठा और सर्वत्र एक प्रकार की क्रांति की लहर फैल गई। ये अपने समय के एक प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक के रूप में दीख पड़ते हैं। उस युग के प्रायः प्रत्येक विशिष्ट सुधारक का इनका किसी न किसी प्रकार से आभारी होना आज तक स्वीकार किया जाता आया है। इस बात की चेष्टा की जाती आई है कि अमुक व्यक्ति के साथ इनका संबंध अमुक रूप में सिद्ध किया जा सके। वास्तव में जिस भक्ति-साधना का प्रचार हम आज उत्तरी भारत में देख रहे हैं उसके प्रधानप्रवर्त्तक स्वामी रामानंद ही थे और इन्हीं की प्रेरणा से उसे वर्तमान रूप मिला है। हरि-भजन के आधार पर जाति तथा वर्ण-संबंधी कड़े नियमों को शिथिलकर सर्वसाधारण को भी कुलीनवत् अपनाने की प्रथा चला कर इन्होंने मनुष्य-मात्र की वास्तविक एकता

की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। सबकी समझ तथा सुभीते के विचार से इन्होंने धर्म-प्रचार के लिए संस्कृत की अपेक्षा हिंदी-भाषा को अधिक उपयुक्त ठहराया। लोक-संग्रह की दृष्टि से जनता के बीच कार्य करने वाले संयमशील साधुओं की एक टोली संगठित करके और उसे 'वैरागी' वा 'अवधूत' नाम देकर उन्हें सर्वत्र भ्रमण करते रहने के लिए प्रेरित किया।

संक्षिप्त परिचय

स्वामी रामानंद का प्रसिद्ध स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में होना बतलाया जाता है। कहा जाता है कि इनका जन्म प्रयाग के किसी कान्य-कुब्ज-कुल में पुण्य सदन शर्मा के घर उनकी स्त्री सुशीला देवी के गर्भ से हुआ था। इनका जन्म-काल भी 'अगस्त्यसंहिता' ग्रंथ के आधार पर कलियुग के ४४००वें वर्ष अर्थात् विक्रम संवत् १३५६ में होना समझा जाता है जिसे अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया है। प्रसिद्ध है कि लड़कपन में इन्हें पढ़ने के लिए काशी भेजा गया था, जहाँ पर ये संभवतः शांकराद्वैत मत के प्रभाव में अपनी शिक्षा समाप्त कर अंत में विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानंद के शिष्य हो गए। परन्तु कहीं से तीर्थ-यात्रा करके लौटने पर खाने-पीने के संबंध में कुछ मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण इन्हें अपने उक्त गुरु का साथ छोड़ देना पड़ा। तब से इन्होंने अपने स्वतंत्र विचारों के आधार पर एक भिन्न मत का प्रचार करना आरंभ कर दिया जो आजकल 'रामावत' वा 'रामानंदी सम्प्रदाय' कहलाता है। ये अधिकतर काशी में पंचगंगा के आसपास किसी गुफा के भीतर रहा करते थे और केवल ब्राह्मवेला में कुछ समय के लिए बाहर निकला करते थे। फिर भी इनके संपर्क में आनेवाले उत्साही तथा उद्योगशील अनुयायियों ने इनके सिद्धांतों का प्रचार दूर-दूर तक कर दिया।

स्वामी राघवानंद

स्वामी रामानंद के गुरु स्वामी राघवानंद के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण कर भक्तों को मान प्रदान किया था तथा सारी पृथ्वी पर अपनी धाक जमा कर वे स्थायी रूप में काशी में बस गए थे।[1] जनश्रुति के अनुसार यह भी कहा जाता है कि वे योग-विद्या में भी पारंगत थे और अपने शिष्य रामानंद को भी पूर्ण योगी बना उन्होंने इन्हें अल्पायु होने से बचा लिया था। भक्त नाभादास के समकालीन तथा सहतीर्थ जानकी दास के पोते-चेले तथा वैष्णव-दास के चेले मिहींलाल (अनुमानतः १७वीं शताब्दी) ने भी अपने 'गुरु प्रकारी'

१. नाभादास : भक्तमाल, ३५।

नामक ग्रंथ में लिखा है :

'श्री अवधूत वेष को धारे, राघवानंद सोई ।
तिनके रामानंद जग जाने, कलि कल्यानमई'।[1]

जिससे इस बात की कुछ पुष्टि होती हुई जान पड़ती है । इन्ही राघवानंद द्वारा रचित कही जानेवाली 'सिद्धांत पंचमात्रा' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है । इसके आधार पर डॉ० बर्थ्वाल ने इनके साधना-मार्ग का योग और प्रेम का समन्वित रूप होना अनुमान किया हैं ।[2] उक्त ग्रंथ की योग-संबंधी बातें अधिकतर हठयोग-प्रणाली का अनुसरण करती हैं और उसमें वैष्णव-धर्म द्वारा स्वीकृत माला, तिलक, सुमिरनी-जैसे विषयों का भी पूरा समावेश है जिससे सिद्ध है कि उस काल का वातावरण नाथयोगि-सम्प्रदाय के सिद्धांतों तथा साधनाओं द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित रहा । इसी कारण वारकरी-सम्प्रदाय की भाँति रामावत-सम्प्रदाय में भी हमें योग तथा भक्ति का समन्वय दीख पड़ता है ।

रामानंद के शिष्य

परंपरा से प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानंद के बारह शिष्य थे जिनमें से पाँच, अर्थात् सेन नाई, कबीर साहब, पीपाजी, रमादास (रविदास) तथा धन्ना के साथ 'पद्मावती' नाम की एक शिष्या को भी सम्मिलित करके 'रहस्यत्रयी' के टीकाकार ने उन्हें छह मान लिया है और 'जितेन्द्रियाः' भी कहा है । शेष सात में अनंतानंद, सुर-सुरानंद, नरहर्यानंद, योगानंद, सुखानंद, भवानंद तथा गालवानंद को गिना कर उन्हें 'नंदनाः' बतलाया है । इस प्रकार वस्तुतः तेरह जान पड़नेवाले व्यक्तियों को 'सार्द्धद्वादश शिष्याः' ही कहा है ।[3] परन्तु स्वामी रामानंद के उक्त शिष्यों की नामावली में बहुधा मतभेद भी पाया जाता है । सर्वसम्मत नामों में सेन नाई

---

१. डॉ० बर्थ्वाल : योगप्रवाह, श्री काशी विद्यापीठ, बनारस, सं० २००३, पृ० २-३ ।

२. वही, पृ० ८ ।

'राघवानन्द एतस्य रामानन्दस्ततोऽभवत् । सार्द्धद्वादश शिष्याः स्युः रामानन्दस्य सद्गुरोः । द्वादशादित्य संकाशाः संसार-तिमिरापहा । श्रीमदनन्तानन्दस्तु सुरसुरानन्दस्तथा ॥१६॥ नरहरियानन्दस्तु योगानन्दस्तथैवच सुखाभावागालवंच सप्तैते नाम नन्दनाः ॥१७॥ कबीरश्च रमादासः सेना पीपा धनास्तथा ॥ पद्मावती तदर्द्धश्च षडेते च जितेन्द्रियाः ॥१८॥ भक्ति-सुधाबिन्दुस्वाद, रूपकलाजी, पृ० २६४ पर उद्धृत ।

आदि के उक्त पाँच के अतिरिक्त केवल भवानंद, सुरसुरानंद तथा सुखानंद के ही नाम लिये जाते हैं; अन्य चार नाम प्रायः भिन्न-भिन्न दीख पड़ते है। इसके सिवाय उक्त आठ नामवाले संतों की समकालीनता का प्रश्न भी आज तक किसी संतोषप्रद ढंग से हल नहीं हो पाया है। हाँ, उक्त भवानंद, सुरसुरानंद तथा सुखानंद नामों के अंत में जुड़े हुए 'आनंद' शब्द के संकेत और कुछ उपलब्ध ग्रंथों तथा प्रसंगों के आधार पर उन्हें स्वामी रामानंद के शिष्यों में निश्चित रूप से सम्मिलित करने की परिपाटी बहुत दिनों से चली आती है और संभव है यह बात सत्य भी हो। किंतु उक्त अन्य पाँच व्यक्तियों के विषय में भी वैसा ही परिणाम निकालने के लिए यथेष्ट साधन की आवश्यकता है। इस कारण उन्हें भी इनके शिष्यों में यों ही गिन लेना उचित नहीं कहा जा सकता।

सेन नाई, कबीर तथा रामानंद

जहाँ तक पता है, उक्त पाँच में से केवल सेन नाई ने ही स्वामी रामानंद का नाम अपने एक पद[1] में लिया है और उन्हें 'रामभगति का जानकार' भी बतलाया है। उनके इस कथन से जान पड़ता है कि संभवतः अपने समय में वर्तमान रामानंद के ही संबंध में ऐसा कह रहे हैं। इसके आधार पर सेन नाई तथा स्वामी रामानंद का समकालीन होना मान लिया जा सकता है। परन्तु केवल इस प्रशंसात्मक परिचय के ही सहारे सेन नाई को इनका शिष्य भी मान लेना ठीक नहीं जान पड़ता। कबीर साहब की उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओं में स्वामी रामानंद का नाम कहीं भी नहीं आता। कबीर-पंथियों के मान्य धर्मग्रंथ 'बीजक' में एक स्थल पर रामानंद शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है[2] जिसे स्वामी रामानंद के ही लिए व्यवहृत मान कर तथा उक्त ग्रंथ को कबीर साहब की कृति भी समझते हुए कुछ लोगों ने इन दोनों के गुरु-शिष्य संबंध का प्रामाणिक हो जाना मान लिया है। परन्तु क्या 'बीजक' में संगृहीत सारी रचनाएँ वास्तव में कबीर साहब की ही कृति मानी जा सकती हैं अथवा क्या उक्त पद का ही सीधा-सादा-सा अर्थ लगाने पर ऐसा परिणाम कभी निकाला जा सकता है[3] ? किसी भी रचना का वास्तविक

---

१. 'रामाभगति रामानंदु जानै, पूरन परमानंदु बखानै।'—ग्रंथसाहब, धनासरी १।

२. 'आपन आस कीजै बहुतेरा, काहु न भरम पाव हरि केरा।
इन्द्री कहा करै बिसरामा, सो कहाँ गये जो कहते रामा॥
सो कहाँ गये जो होत सयाना, होय म्रितक वोहि पदहिं समाना॥
रामानंद रामरस माते, कहहि कबीर हम कहि कहि थाके'॥ बीजक, शब्द ७७।

३. डॉ० बर्थ्वाल : दि निरगुन स्कूल ऑफ हिंदी पोइट्री, पृ० २०३, टिप्पणी।

मर्म जानने के लिए उसमें प्रयुक्त वाक्यों में लक्षित भावों की संगति बैठा लेना परमावश्यक होता है। अतएव उक्त पद की प्रथम पंक्ति के 'आपन आस कीजै' को यदि कोई अपने पूर्वग्रह के अनुसार 'आपन अस किये' मान कर उसका अर्थ 'अपने समान कर लिया' कुछ देर के लिए लगा भी लें और 'रामनंदु रामरस माते' का भी अभिप्राय उक्त स्वामी रामानंद की प्रशंसा में ही ढूँढ़ने लगें, फिर भी उक्त प्रथम वाक्य के आगे का कथन तथा दूसरे के अनंतर आनेवाले अंतिम वक्तव्य 'कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके' उसे इस पद का उचित अर्थ एक बार फिर से समझ लेने के लिए बाध्य करने लगेंगे। पूरे पद को निष्पक्ष रूप से ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट विदित हो जाता है कि उसके रचयिता का उद्देश्य हरि वा राम के सच्चे रहस्य को बिना समझे-बूझे केवल रामनाम की ध्वनि में ही मग्न रहनेवाले भक्तों को सचेत कर देना मात्र है। उसमें आये हुए अन्य प्रसंग भी उसी मूल भाव के समर्थन में व्यवहृत समझे जा सकते हैं।

कबीर, पीपा, रैदास तथा धन्ना

इसके सिवाय उक्त 'बीजक' ग्रंथ के ही एक पद में आये हुए प्रसंग 'ब्रह्मा, वरुण, कुवेर, इन्द्र, पीपा तथा प्रह्लाद सभी कालग्रस्त हो गए'[1] से विदित होता है कि यदि वह कबीर साहब की रचना हो, तो भी कम से कम पीपाजी की मृत्यु उनके पहले अवश्य हो चुकी होगी। उक्त पौराणिक भक्तों के साथ एक ही श्रेणी में उनके गिने जाने के कारण उनका बहुत पहले ही मर जाना भी समझा जा सकता है। परन्तु जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इन्हीं पीपाजी की एक रचना[2] कबीर साहब के संबंध में प्रस्तुत की गई समझी जाती है। इनके एक अन्य पद[3] से यह भी सूचित होता है कि ये कबीर साहब के एक बहुत बड़े प्रशंसक थे। इनका यहाँ तक कहना था कि "कबीर साहब ने जिस 'सत्यनाम' का प्रचार किया था उसी से मैंने भी लाभ उठाया है"। इस प्रकार उक्त दो भिन्न-भिन्न प्रसंगों के कारण हमें सहसा न तो स्वामी रामानंद, कबीर साहब तथा पीपाजी को पूर्ण सम-कालीन मानने का साहस होता है, न उनके गुरु-शिष्य-संबंध को ही स्वीकार

---

१. बीजक, शब्द ८६।

२. 'जाके ईद बकरीद नित गऊ रे बध करं, मानिये सेख सहीद पीरा।
बापि वैसी करी पूत ऐसी धरी, नांव नवखंड परसिध कबीरा।'
—दि निर्गुण स्कूल, पृ० ३०२।

३. 'नाम कबीर सत्य परकास्या, तहाँ पीपै कछु पाया।'
—संत कबीर, पृ० ४४।

कर लेने का। फिर इसी प्रकार संत रैदास ने भी कबीर साहब के विषय में अपने कुछ पदों के अंतर्गत 'हरि नाम के द्वारा जन्म-जन्म के बंधन तोड़ देने वाला'[1], नामदेव, तिलोचन, सधना तथा सेन नाई की भाँति संसार-सागर से पार हो गया हुआ[2] तथा नीच कुलोत्पन्न होने पर भी तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गया हुआ[3] कहा है। एक अन्य स्थल पर उन्हें संदेह-मुक्त होकर निर्गुण भक्ति का महत्त्व प्रदर्शन करनेवाला[4] तक माना है जिससे स्पष्ट है कि कबीर साहब उनसे पहले ही मर कर प्रसिद्ध हो चुके होंगे और सेन नाई की भी मृत्यु हो चुकी होगी। इसके सिवाय इसी रैदासजी को धन्ना ने अपने एक पद[5] द्वारा नाम देव, सेन नाई वा कबीर साहब के समान ही माया का त्याग कर हरि-दर्शन पा चुकनेवाला बतलाया है। अंत में यह भी कहा है कि उक्त संतों की कथाएँ सुन कर ही मुझ जाट के हृदय में भक्ति का भाव जागृत हुआ और मैं भी सौभाग्यवश भगवान् के दर्शन कर सका। रैदासजी की प्रशंसा पीपाजी ने भी एक पद में की है।

निष्कर्ष

अतएव उक्त सभी बातों पर विचार करते हुए यही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन पाँच व्यक्तियों में से कदाचित् किसी ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वामी रामानंद को अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है और उनमें से सभी ने उनका नाम तक नही लिया है। कम-से-कम पीपाजी ने अपने को कबीर साहब द्वारा तथा धन्ना ने नामदेव, कबीर साहब, रैदास तथा सेन नाई की कथाओं द्वारा प्रभावित होना स्वीकार किया है। संभव है कि उक्त सभी संत एक ही समय और एक ही साथ ऐसी स्थिति में वर्तमान भी न रहे होंगे जिससे उनका स्वामी रामानंद का शिष्य और आपस में गुरु भाई होना किसी प्रकार सिद्ध किया जा सके।

---

१. 'हरिकै नाम कबीर उजागर, जनम जनम के काटे कागर।'
—ग्रंथ साहब, आसा ५।

२. 'नामदेव कबीर तिलोचनु सधना सैनु तरै'। वही, राग मारु, पद १।

३. 'जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहूँरे लोक परसिध कबीरा।'
—वही, राग मलार, पद २।

४. 'निरगुन का गुन देखो आई, देही सहित कबीर सिधाई।'
रैदासजी की बानी, पृ० ३३।

५. 'रविदास ढुवँता ढोरनी, तितिनी तिआगी माइआ, परगटु होआ साध संगि हरिदरसन पाइआ। इतिविधि सुनि कै जाटरौ उठि भगती लागा, मिले प्रतषि गुसाइआ धन्ना बड़भागा। —ग्रंथ साहब, राग आसा २।

रचनाएँ

स्वामी रामानंद की रचनाएँ कुछ संस्कृत तथा कुछ हिंदी में बतलायी जाती हैं। किंतु कई विद्वानों को उन सबकी प्रामाणिकता में संदेह जान पड़ता है। इनकी कही जानेवाली संस्कृत रचनाओं में से 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' इनके प्रमुख सिद्धांतों का परिचायक ग्रंथ जान पड़ता है। इसी प्रकार 'श्री रामार्चन पद्धति' इनकी पूजन-प्रणाली का पता देनेवाली पुस्तक कही जा सकती है। इन दोनों के इनके द्वारा रचित होने में मतभेद भी कम दीख पड़ता है। हिंदी की उपलब्ध फुटकर कृतियों में एक हनुमान के विषय में है और दूसरी उनका बाह्य पूजन-अर्चनादि की ओर से विरक्ति-भाव प्रकट करती है। इस दूसरी रचना में कहा गया है कि "मुझे मंदिरादि में पूजन के लिए अब कहाँ जाना है, अब तो मेरे घट के भीतर हृदय में ही रंग चढ़ गया है। मेरा चित्त अब चलायमान होने की जगह पंगु बन कर स्थिर हो गया। कोई दिन था जब मैं पूरे उमंग के साथ चोआ, चंदन प्रभृति सुगंधित द्रव्य लेकर ब्रह्म का स्थान-विशेष पर पूजन करने जाया करता था। अब तो मेरे गुरु ने मुझे उस ब्रह्म का परिचय मन के भीतर ही करा दिया। अब मैं जहाँ कहीं भी मंदिर-तीर्थादि में जाता हूँ, वहाँ जल तथा पत्थर ही दीख पड़ता है। वेदों और पुराणों का अध्ययन कर लेने पर भी मेरी यही धारणा है कि वह (ब्रह्म) सर्वत्र एक ही समान व्याप्त है। इसलिए हमें उसके पूजन के लिए वहाँ मंदिरादि में तभी जाना चाहिए जब वह यहाँ (अपने हृदय में) विद्यमान न हो। मैं अपने उस सत्गुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने मेरे सारे बिखरे हुए भ्रमों के जंजाल को नष्ट कर दिया। रामानंद इस समय केवल ब्रह्म में ही लीन हैं। सद्गुरु के शब्दों ने इसके कर्म के करोड़ों बंधन छिन्न-भिन्न कर डाले हैं।"[१] यदि वास्तव में यह पद स्वामी रामानंद का है, (और इस बात में संदेह करने का कोई प्रत्यक्ष कारण भी नहीं दीखता तो) हमें इन्हें संत-मत के आदि प्रचारकों तथा उन्नायकों में निर्विवाद रूप से सम्मिलित कर लेना चाहिए।[२]

डॉ० फर्कुहर का अनुमान

डॉ० फर्कुहर ने लिखा है कि स्वामी रामानंद के मत का मूल आधार श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धांतों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में वर्तमान है।[३] उनके अनुसार जान पड़ता है कि राघवानंद ने (जो मूलतः दक्षिण भारत से

१. ग्रंथसाहब, राग बसंत, पद १।

२. इनकी हिन्दी रचनाओं के लिए दे० स्वामी रामानंद की हिंदी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

३. डॉ० जे० एन० फर्कुहर : दि हिस्टारिकल पोजिशन ऑफ रामानंद, दि

एक 'रामावत वैरागी' के रूप में आये थे और जिनके प्रधान मान्य ग्रंथ 'वाल्मीकीय रामायण', 'अध्यात्म रामायण' तथा 'अगस्त्य-संहिता' थे) उत्तरी भारत में रामानंद को अपने मत में खींच लिया। इस प्रकार ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी में एक नये आंदोलन का सूत्रपात किया। सोलहवीं ईसवी शताब्दी में किसी समय उत्तरी भारत के उक्त 'श्री सम्प्रदाय' के साथ इसका अधिक संपर्क बढ़ा और तभी से दोनों एक तथा अभिन्न समझे जाने लगे तथा रामानंद-विषयक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गई। ये सभी बातें भक्त नाभादास के पहले अस्तित्व में आ चुकी थीं और तब से आज तक उनमें बराबर विश्वास किया जाता आ रहा है। परन्तु डॉ० फर्कुहर की इस धारणा को अभी उनके अनुसार भी कोई प्रामाणिक रूप नहीं दिया जा सकता। इसका अंतिम सत्य होना कुल सामग्रियों के उपलब्ध होने तथा उन पर पूर्ण रूप से विचार किये जाने पर ही निर्भर है।

श्री सम्प्रदाय तथा रामावत सम्प्रदाय

स्वामी रामानंद के दार्शनिक सिद्धांतों का आधार कदाचित् विशिष्टताद्वैत की मूल बातों में ही निहित है। अतएव इस दृष्टि से दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं जान पड़ता। परन्तु साम्प्रदायिक मान्यताओं के विचार से रामानुजीय 'श्रीसम्प्रदाय' तथा रामानंदीय 'रामावत सम्प्रदाय' में कई प्रकार के भेद भी लक्षित होते हैं। सर्व-प्रथम 'श्री सम्प्रदाय' के उपास्य देव 'नारायण' के स्थान पर रामावत वाले 'राम' को स्वीकार करते हैं जो सर्वसाधारण की मनोवृत्ति के कहीं अधिक अनुकूल है। राम के आदर्श में एक ओर जहाँ परमात्मा के सर्वव्यापी होने की भावना छिपी हुई है, वहीं उनके लौकिक चरित्र में हमें मानवीय व्यक्तित्व का भी पूर्ण विकास दीख पड़ता है। क्षीरसागरशायी चतुर्भुजी नारायण वा विष्णु को हम एक अलौकिक स्थिति में पाकर तथा उन्हें अपनी पहुँच के दूर समझ कर उनके प्रति केवल श्रद्धा के भाव प्रकट करते हैं। किंतु अपने अपूर्व मानवीय गुणों के कारण द्विभुजधारी राम हमें उनसे अधिक निकट जान पड़ते हैं और उनके लिए हमें अपना प्रेम प्रदर्शित करते भी संकोच नहीं होता। यही कारण है कि 'श्री सम्प्रदाय' के नियमों में जहाँ कर्मकाण्ड तथा अर्चन-विधियों का बाहुल्य है, वहाँ 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुसार भक्त का हृदय अपने इष्टदेव के भजन तथा गुणगान से ही अधिक तृप्त होता रहता है और यह अपेक्षाकृत अधिक सरल भी है। उसे वाह्य विधानों के अक्षरशः पालन की विशेष चिंता नहीं करनी पड़ती। 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुयायी का कुछ

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, १९२२ ई०, पृ० ३७३-८०।

लगाव स्मार्त्त धर्म की ओर भी रहा करता है जिस कारण उसका व्यवहार हिन्दू-धर्म के अन्य सम्प्रदायों के साथ कटुता तथा संघर्ष का न होकर उदारता और सहृदयता का हुआ करता है ।

रामावत सम्प्रदाय

स्वामी रामानंद की मृत्यु का संवत् १४६७ वि० में होना कहा जाता है जिस दृष्टि से इनकी आयु १११ वर्षों की ठहरती है। इनके दीर्घ काल तक जीवित रहने की ओर भक्त नाभादास ने भी संकेत किया है[1] और परंपरा से यही बात पुष्ट होती जान पड़ती है। इनके 'रामावत सम्प्रदाय' का प्रचार उत्तरी भारत में प्राय: सर्वत्र हो चुका है और आज तक उसके नाम पर अनेक मठ तथा अखाड़े स्थापित हो चुके हैं। ये संस्थाएँ प्रदेश-विशेष के मुख्य आचार्यों के निवास-स्थानों वा उनकी संगठित मंडली के केन्द्रों के रूप में होती हैं। इनमें कम-से-कम एक मंदिर सीताराम का होता है जिसमें कभी-कभी अन्य देवताओं के भी विग्रह रखे जाते हैं। एक छोटो-सी धर्मशाला भी रहा करती है जिसमें समय-समय पर सम्प्रदाय के अनुयायी ठहरते वा एकत्र होते रहते हैं। साधारणत: इनके प्रबंध के व्यय का भार इनके आसपास की हिन्दू-जनता पर रहता है, किंतु कहीं-कहीं इसके लिए कुछ भूमि अलग निकाली हुई भी पायी जाती है। इन मठों वा अखाड़ों में कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी प्रतिष्ठा अन्य ऐसी संस्थाओं से बढ़ कर समझी जाती है। किसी समय पारस्परिक मतभेद उत्पन्न होने पर अथवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण अवसर पर भी उनके अंतिम निर्णय की प्रतीक्षा की जातो है। सम्प्रदाय के बहुत-से लोग वैराग न बनकर गृहस्थ रूप में ही पाये जाते हैं और उनके लिए जो नियम हैं 'वे अधिक सरल तथा सुगम हैं।' इन सबके लिए मूल मंत्र केवल 'राम' वा 'सीताराम' है और उनके इष्टदेव श्रीरामचंद्र हैं जिन्होंने ब्रह्म की दशा में निर्गुण और निराकार होते हुए भी भक्तों के लिए तथा विश्व का संकट दूर करने की भी इच्छा से नरदेह धारण किया था।

(२) सेन नाई

प्रथम मत

सेन नाई के संबंध में दो भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार ये बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे। प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के ये समकालीन थे और उन्हीं की शिष्य-मंडली में सम्मिलित थे। इनके बनाये हुए अनेक मराठी अभंग आज भी प्रचलित हैं जिनमें इन्होंने पंढरपुर के भगवान् विट्ठलनाथ की स्तुति की है

---

१. 'बहुत काल बपु धारिकैं, प्रणत जनन कौं पार दियो।'
—नाभादास कृत भक्तमाल, पृ० ३६ ।

एक सच्चे वारकरी-भक्त की भाँति उनसे अपने ऊपर कृपा करने की प्रार्थना भी की है। एक अभंग में ये अपने को स्पष्ट शब्दों में 'जन्मलो न्हावीय चें उदरी' अर्थात् 'एक नाइन माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ' भी बतलाते हैं और एक दूसरे अभंग द्वारा ये यह भी कहते हुए दीख पड़ते हैं कि किस प्रकार एक दिन ये देव-पूजा में लगे रहने के कारण राजा के निकट समय पर उपस्थित नहीं हो सके और इन्हें बुलाने के लिए दूतों को आना पड़ा। ध्यान टूटते ही ये उनके साथ राज-दरबार में शीघ्र पहुँचे, राजा के हाथ में दर्पण दिया और उसके बाल बनाने लगे। परन्तु राजा को दर्पण में अचानक भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति दीख पड़ी और तैल-मर्दन कराते समय भी तैल की कटोरी में उसी प्रतिबिंब के दर्शन हुए जिससे प्रभावित होकर उसने विरक्ति-भाव के साथ भक्ति-मार्ग स्वीकार कर लिया। सेन नाई के उक्त अभंगों में उनकी भगवान् के प्रति एकांत निष्ठा, शुद्धहृदयता और प्रगाढ़ भक्ति सर्वत्र लक्षित होती है। अपने कीर्तन, प्रेम तथा ज्ञानेश्वर-परिवार के प्रति अटूट श्रद्धा के कारण ये एक पक्के 'वारकरी-भक्त' ही प्रतीत होते हैं। इनके जीवन-काल के विषय में कोई स्पष्ट प्रसंग इनके उक्त अभंगों में नहीं दीख पड़ता। केवल मृत्यु-काल का निर्देश 'श्रावण बदि द्वादशी के दिन दोपहर के समय' द्वारा किया गया है जो किसी भी संवत् में संभव है। प्रो० रानडे के अनुसार इनका समय संवत् १५०५ : सन् १४४८ ई० में समझना चाहिए।

द्वितीय मत

दूसरा मत सेन नाई को बांधोगढ़-नरेश का सेवक होना बतलाया है और साथ ही इन्हें स्वामी रामानंद का शिष्य भी ठहराया है। इसके अनुसार सेन के राज-दरबार में यथासमय उपस्थित न हो सकने पर स्वयं भगवान् ने ही जाकर उनकी जगह तैल-मर्दन कर दिया था। जब सेन को इस बात का पता चला, तब इन्हें बड़ी ग्लानि हुई। इसके मर्म को समझ लेने पर स्वयं राजा भी इतना प्रभावित हुआ कि उसने सेन का शिष्यत्व तक स्वीकार कर लिया। स्वामी रामानंद के तथाकथित अन्य शिष्यों में से धन्ना भगत ने सेन के लिए भगवान् द्वारा उसका रूप धारण करने की कथा को अपने समय में घर-घर प्रसिद्ध होना बतलाया है।[1] आगे चल कर नाभादास ने भी अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में सेन नाई के विषय में एक छप्पय दिया है। इसमें कहा है कि भगवान् ने इस भक्त के लिए नाई का रूप धारण किया था और शीघ्र ही छुरेबाजी वा नाइयों की पेटी तथा दर्पण लेकर उसने राजा का तैल-मर्दन भी किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा अपने नाई का ही शिष्य

---

१. आदिग्रंथ, रागु आसा, पद २।

बन गया।[1] इसी प्रकार सेन नाई को 'रामानंद का समकालीन' तथा जबलपुर के निकटवर्त्ती 'बांदूगड़ के राजा का नौकर' बतलाते हुए, श्री शं० पु० जोशी ने शोध करके यह मत निश्चित किया है कि वह नामदेव का समकालीन न होकर उनका परवर्त्ती था तथा महाराष्ट्रीय न होकर उत्तर का निवासी था। वह पंढरपुर का एक विशिष्ट 'वारकरी' था और उसके कुछ मराठी 'अभंग' भी मिलते हैं।[2]

तृतीय मत

श्री बी० एम० पंडित नामक एक सज्जन ने अभी कुछ दिन हुए अपने एक निबंध में बतलाया है कि सेनजी की कथा का परिचय हमें मराठी कवि महीपति की 'भक्ति-विजय' नामक रचना में मिलता है जो नाभादास की 'भक्तमाल' पर आश्रित है[3]। महीपति ने इनके अनुसार नाभादास के कथन को भली भांति नहीं समझ पाया है और उन्होंने कई भूलें कर दी हैं। सेनजी वास्तव में बांधोगढ़ के ही निवासी थे और वहाँ के शासक 'राजाराम' के यहाँ नियुक्त थे। अतएव उनके लगभग १५० की संख्या में उपलब्ध मराठी अभंगों के विषय में यही अनुमान किया जा सकता है कि या तो उन्हें किसी अज्ञात कवि ने उनके नाम से लिख दिया होगा अथवा उन्होंने स्वयं महाराष्ट्र में कुछ दिनों तक ठहर कर उन्हें उसी प्रकार बनाया होगा जिस प्रकार संत नामदेव ने पंजाब में रह कर अपने हिन्दी पदों की रचना की थी। परन्तु श्री पंडित अपने उक्त अनुमानों के लिए कोई प्रामाणिक आधार देते हुए नहीं जान पड़ते। महीपति ने क्यों और किस प्रकार भूलें की हैं तथा सेनजी के नाम से प्रसिद्ध मराठी अभंगों को उचित महत्त्व क्यों न दिया जाय, इसके लिए वे कोई कारण नहीं देते। इसके सिवाय उनके अनुसार अपने राजाराम (सं० १६११-४८) के यहाँ नियुक्त होने पर ये स्वामी रामानंद के समकालीन भी सिद्ध नहीं होते। अतएव, संभव है ये राजाराम बांधवेश न होकर वस्तुतः वे राजाराम हों जो सेन के इष्टदेव थे। उनकी ओर इन्होंने स्वयं "नित मंगलु राजा राम राइ को" द्वारा निर्देश किया है तथा जिसके भ्रमवश ही इस प्रकार का अनुमान संभव हो सका है।

परिणाम

गुरु अर्जुन देव द्वारा संगृहीत सिक्खों के प्रसिद्ध मान्य ग्रंथ 'आदिग्रंथ' में सेन

१. नाभादास : भक्तमाल, ६३।

२. पंजाबातील नामदेव।

३. दे० Proceedings of the Oriental Conference, Bombay.

नाई का भी एक पद आता है जिसमें इन्होंने स्वामी रामानंद का नाम लिया है। जैसा हम इसके पहले भी कह चुके हैं इन्होंने यहाँ पर बतलाया है कि राम की भक्ति का रहस्य वे ही जानते हैं और पूर्ण परमानद की व्याख्या करते हैं[1]। उस पद में प्रयुक्त 'जानै' तथा 'बखानै' शब्द के रूप से अनुमान होता है कि उक्त कथन का निर्देश वर्तमान काल की ओर है। अतएव सेन नाई उक्त स्वामीजी के समकालीन माने जा सकते हैं, किंतु वाक्य के प्रशंसात्मक होने पर भी इतने से ही इन्हें उनका शिष्य भी होना आवश्यक नहीं। जान पड़ता है कि ये अपने जीवन के पूर्व भाग में 'वारकरी-सम्प्रदाय' द्वारा ही अधिक प्रभावित रहे। पीछे इनका आना उत्तरी भारत में भी हुआ जहाँ पर स्वामी रामानंद के दर्शनों का भी इन्हें अवसर मिला। ये एक सरल हृदय के व्यक्ति थे और सत्संग-प्रेमी होने के कारण स्वभावतः पर्यटन भी किया करते थे। इसलिए अपने जीवन के पिछले दिनों में इनका उत्तरी भारत में भी संत नामदेव की भाँति कुछ काल तक रम जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ता। संत नामदेव ने जिस प्रकार मराठी अभंगों के साथ-साथ हिंदी पदों की रचना भी की थी, उसी प्रकार इन्होंने भी किया होगा। स्वामी रामानंद का समकालीन होने से इनका संत ज्ञानेश्वर का भी समसामयिक होना संभव नहीं कहा जा सकता। इनका समय चौदहवीं विक्रमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा पंद्रहवीं के पूर्वार्द्ध में समझा जा सकता है। किंतु इनकी जन्म-भूमि आदि के संबंध में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं है।

सेन-पंथ

सेन नाई के नाम पर किसी सेन-पंथ का भी प्रचलित होना प्रसिद्ध है। डॉ० ग्रियर्सन का अनुमान है कि उक्त पंथ का अलग अस्तित्व में आना इस बात के कारण संभव था कि सेन तथा उनके वंशजों का प्रभाव बांधोगढ़ के नरेशों पर बहुत काल तक कायम रहा[2]। परन्तु सेन-पंथ के अनुयायियों अथवा उनके मत-विशेष का कोई पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है।

(३) पीपाजी

समय

पीपाजी की भी गणना स्वामी रामानंद के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में की जाती है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में जो छप्पय इनके संबंध में दिया है, उसमें

---

१. "रामाभगति रामानंद जानै, पूरन परमानंद बषानै", रागु धनासरी पद १।

२. सेन पंथीज : एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एंड एथिक्स, भा० २, पृ० ३८४।

उन्होंने इस बात का उल्लेख स्वतंत्र रूप से भी कर डाला है।[1] परन्तु जहाँ तक पता है, इनके विषय में स्वामी रामानंद के शिष्य समझे जानेवाले सेन, कबीर, रैदास वा धन्ना ने इनकी कुछ भी चर्चा नहीं की है। इनका कदाचित् सबसे पहला प्रसंग मीराँबाई के एक पद में आता है जहाँ पर इनके भगवान् के परिचय पाने तथा खजाने के पूर्ण किये जाने की ओर संकेत किया गया है।[2] इनका जन्म-काल डॉ० फर्कुहर के अनुसार सं० १४८२ : सन् १४२५ बतलाया जाता है, किंतु कनिंघम ने[3] गागरौन राज की वंशावली के आधार पर इनका समय सं० १४१७ तथा १४४२ : सन् १३६० और १३८५ के बीच ठहराने का यत्न किया है, जैसा एक भ्रमण-वृत्तांत से भी प्रकट होता है[4] और उक्त दोनों निश्चयों में मेल खाता नहीं दीख पड़ता। इनकी अपनी दो रचनाओं[5] से केवल यही प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के एक बड़े प्रशंसक थे और उन्हें गुरु-तुल्य अथवा मार्ग-प्रदर्शक भी मानते थे। इस प्रकार इनका भी समय प्रायः वही हो सकता है जो कबीर साहब का होना चाहिए। उस दशा में ये उनसे कुछ पीछे तक भी जीवित मान लिये जा सकते हैं। इस अनुमान की संगति कनिंघम के मत के साथ तभी बैठेगी, जब पीपाजी द्वारा अपनी राजगद्दी का बीच ही में त्याग भी हुआ हो । और वे विरक्त की दशा में कुछ काल तक भ्रमण तथा सत्संग करते फिरे हों। डॉ० फर्कुहर का निश्चय कुछ अधिक आगे तक पहुँच जाता है जो ठीक नहीं जान पड़ता । फिर भी राजस्थान के इतिहास से पता चलता है कि पीपाजी के बड़े भाई राजा अचलदास खीची के साथ राणाकुंभा (सं० १४७५-१५२५) की बहन लाला का व्याह हुआ था और यह उनकी प्रथम रानी थी। अतएव सभी बातों पर विचार करते हुए पीपाजी का जन्मकाल सं० १४६५-१४७५ के लगभग अथवा इसके कुछ पहले तक भी मान लिया जा सकता है।

---

१. नाभादास : भक्तमाल, पृ० ६१ ।

२. मीराँबाई की पदावली, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, पद २१, पृ० ११ ।

३. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २, पृ० २६५-७ और भा० ३, पृ० १११ ।

४. ट्रैवेल्स ऑफ ए हिन्दू, वाल्यूम १, पृ० ५७ ।

५. 'श्री पीपाजी की बानी', 'सरब गुटिका' और रज्जबजी की 'सर्वंगी' में संगृहीत। ये दोनों पद 'दादु-ग्रंथावली' की नराणे वाली हस्तलिखित प्रति, सं० १७१० में भी आये हैं और इनमें से एक में रैदास विषयक प्रशंसात्मक उल्लेख की है। —लेखक ।

जीवनी

कहते हैं कि पीपाजी के हृदय में बाल्यावस्था से ही भक्ति-भावना अंकुरित हो चुकी थी, जो उनके सिंहासनासीन होने पर भी कम न हुई। अपने गगरौन गढ़ में उनकी बारह रानियाँ थीं। सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद की सामग्री वर्तमान थी, किंतु उनकी साधु-सेवा बराबर चलती रहती थी। वे पहले भवानी के उपासक थे, किंतु कतिपय वैष्णव-भक्त अतिथियों की प्रेरणा से स्वामी रामानंद के संपर्क में आकर ये उनसे प्रभावित हो गए। प्रसिद्ध है कि अपनी राजधानी में लौट कर इन्होंने अपना सारा ठाट-बाट बदल डाला और साधु-वेश में रहने लगे। इनका स्वामी रामानंद के साथ एक बार तीर्थ-यात्रा करते हुए द्वारकापुरी तक जाना भी बतलाया जाता है। इस यात्रा में इनके साथ इनकी रानी सीता देवी भी गई थीं और उन्होंने मार्ग के विविध कष्टों में इनकी सच्ची सहधर्मिणी बन कर इनके साथ सहयोग किया था। द्वारकापुरी की एक यात्रा में इनके किसी परिचित भक्त श्रीधर ने इनका सत्कार अपनी धोती तक बेंच कर किया था जिसके उपलक्ष में इस वैष्णव-दंपति ने जनता के बीच गा-बजा कर धन-संग्रह किया और उस अकिंचन मित्र की सहायता की। सीता देवी ने उक्त अवसर पर लज्जा का त्याग कर सबके सामने नृत्य के साथ गान किया था और पीपाजी ने सारंगी बजायी थी। इनकी यात्रा के स्मारक-रूप में 'पीपा वट' का वृहत् मठ आज भी वर्तमान है जहाँ यात्रियों के सेवा सत्कार का बहुत अच्छा प्रबंध है।

निवास-स्थान

पीपाजी की राज-दंपति को द्वारकापुरी के प्रति इतना प्रेम हो गया था कि अंत में ये वहाँ जाकर ठहरने भी लग गए थे। एक अन्य स्थान पर जहाँ ये विशेष रूप से रहा करते थे, कोई गुफा थी जो अहू तथा काली सिंध नामक नदियों के संगम पर आज भी मौजूद है। गुफा इतनी भयावनी है कि उसमें प्रवेश करने का साहस किसी को नहीं होता। कहते हैं कि वह नदी के जल तक भीतर ही भीतर चली गई है। वहीं स्नान कर पीपाजी अपने मंदिर में आ जाते थे जो गुफा के निकट ही बना हुआ है। उक्त स्थान पर आज भी पर्व के दिनों पर एक मेला लगा करता है जिसमें स्नान के लिए अनेक यात्री प्रति बार एकत्र हुआ करते हैं। यह स्थान झालावाड़ राज्य में पड़ता है। पीपा-दंपति के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए लालायित होकर एक बार भावावेश में समुद्र में कूद पड़े थे। वहाँ इन्हें भगवान् के युगल-रूप के साथ साक्षात् हो गया और इस बात के प्रमाणार्थ ये अपने शरीरों पर छाप लगा कर निकले थे। उक्त प्रकार की छाप आज भी द्वारकापुरी के तीर्थ यात्रियों के शरीरों पर वहाँ के 'पीपा मठ' में उसी की स्मृति में दी जाती है। इनके

विषय में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से सिंह जैसे हिंस्र पशु को भी उपदेश देने के वृत्तांत का एक उल्लेख नाभादास के भक्तिमाल में हुआ है। इनकी उदारता तथा निस्पृहता से संबंध रखनेवाली अनेक घटनाओं के भी वर्णन बहुत-सी पुस्तकों में लिखे मिलते हैं[१]। पीपाजी की द्वारा गद्दी का रामद्वार (द्वारका) तथा गागरौनगढ़ में भी होना बतलाया जाता है।

रचना

पीपाजी की रचनाओं में 'श्री पीपाजी की बानी' नामक दो-एक संग्रह अभी तक हस्तलिखित रूप में वर्तमान सुने जाते हैं। जहाँ तक पता है, इनमें से किसी के प्रकाशित होने का अवसर अभी तक उपस्थित नही हुआ है। एक संग्रह बहुत दिनों पहले काशी से निकला था जो अब उपलब्ध नहीं है, न यही पता है कि उसमें संगृहीत पदों की हस्तलिखित प्रतियों की रचनाओं के साथ कहाँ तक समानता है। इनका एक पद गुरु अर्जुन देव द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध 'आदिग्रंथ' में 'रागु धनासरी' के रूप में संगृहीत है। इसमें इनके ७ रागों में २१ पद तथा ११ साखियों का प्रकाशन हुआ है और इनके नाम से एक 'चिंतामणि योग' नाम की रचना भी छपी है[३], जो निरंजनी सम्प्रदाय के पीपाजी की भी कही जाती है[४]। 'जो पिंड में हैं वही ब्रह्मांड में है' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है और जो सभी प्रकार से संत-मत की ही बातों का समर्थन करता है। उक्त पद में लिखा है[५] कि मानव शरीर के ही भीतर अपना इष्टदेव, देवालय तथा सारे चर जीव हैं। उसी में धूप तथा नैवेद्य हैं और उसी में कुल पूजन की सामग्रियाँ भी हैं। काया के ही भीतर खोज करने पर नवों निधियाँ राम की कृपा से बिना कहीं आये-गये ही प्राप्त हो सकती हैं। जो कुछ भी ब्रह्मांड में है, वह सभी पिंड में भी वर्तमान है और जो कोई खोजता है, वह उन्हें उपलब्ध भी कर सकता है। पीपा परमतत्त्व को प्रणाम करता है वा उसके प्रति निवेदन करता है और कहता है कि उक्त वस्तु को कोई सद्‌गुरु ही लखा सकता है।[६]

१. दे० अनंतदास कृत पीपाजी की परचई।
२. डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानंद सम्प्रदाय, प्रयाग, १९५७ ई०, पृ० ३९७।
३. संतवाणी, आरा, वर्ष ६ के ७ और ९ अंक।
४. दे० श्री महाराज हरिदास जी की वाणी : स्वामी मंगलदास। १९६१ ई० में जयपुर से प्रकाशित।
५. ग्रंथसाहब, धनासरी, रागु, पद १।
६. इनके २ पद रामकली, ८ राग आसावरी, ५ राग सोरठि और १ राग सारंग के अंतर्गत ११ साखियों के साथ 'नराणे' प्रति में भी उपलब्ध हैं।

(४) संत रविदास वा रैदासजी

जाति

संत रविदास वा रैदासजी के विषय में धन्ना भगत ने कहा है कि इन्होंने नित्य प्रति ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का त्याग कर दिया, ये साधुओं के साथ प्रत्यक्ष रूप में रहने लगे और इस प्रकार भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में सफल हो गए[1]। स्वयं रविदास के पदों से भी इस बात का समर्थन होता है कि इनके कुटुंबवाले 'ढेढ' लोग बनारस के आस-पास इनके समय में ढोरों वा मृत पशुओं को ढो-ढोकर ले जाया करते थे। इस प्रकार उन ढेढों का वंशज होते हुए भी इन्हें भक्त तथा महात्मा मान कर सदाचारी विप्रों तक ने इन्हें प्रणाम किया।[2] अपनी जाति को इन्होंने कई स्थलों पर 'ओछी' तथा 'कमीनी' कहा है। अपने को 'खालस चमार' अथवा 'चमइया' भी बतलाया है जिससे सिद्ध है कि इनके चमार जाति का होने में कुछ भी संदेह नहीं। कहा तो यहाँ तक भी जाता है कि इनका जन्म वर्तमान काशी नगर के पश्चिम और मंडुआडीह के निकटवाले लहरतारा तालाब के पास किसी चमार कुल में हुआ था। इनके दादा का नाम हरनंदन था, इनके पिता राहू थे तथा इनकी दादी और माता के नाम क्रमशः चतर तथा करमा थे। इनकी पत्नी का नाम भी लोना चमाइन ही बतलाया जाता है। फिर भी प्रसिद्ध भक्तचरित-लेखक अनंतदास ने इनका कम से कम पूर्वजन्म में ब्राह्मण होना बतलाया है। उन्होंने कहा है कि मांस खाने के कारण इनका जन्म चमार जाति में हो गया था। वर्ण-व्यवस्थानुसार ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माननेवालों के लिए आज भी यह समझना कठिन है कि सिवाय उनके और दूसरा कोई, और विशेषकर चमार-जैसी नीच समझी जानेवाली जाति का मनुष्य किस प्रकार भक्त कहला कर इतना प्रतिष्ठित बन सकता है। इसी मनोवृत्ति के कारण वे रविदास के विषय में एक ऐसी घटना की कल्पना भी करते हैं जिसमें इन्होंने अपने शरीर पर चमड़े के नीचे यज्ञोपवीत का होना प्रमाणित किया था। उसके कारण उस समय के ब्राह्मण अत्यंत लज्जित हुए थे। नाभादास की 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास का यह भी कहना है कि संभवतः पूर्वजन्म में ब्राह्मण रह चुकने के ही कारण इन्होंने चमार के घर उत्पन्न होकर भी अपनी चमारिन माता का दूध पहले नहीं पिया। स्वामी

---

१. ग्रंथसाहब, रागु आसा, पद २।

२. 'मेरी जाति कुटवां ढला ढोवंता नितहि बानारसी आसपासा।
अब बिप्र परधान तिहि करहि डंडउति तेरे नाम सरणाई रविदासुदासा'।
—वही, रागु मलार, पद १।

रामानंद ने जब जाकर उपदेश दिया तथा इन्हें अपना शिष्य बना लिया, तब ये स्तन-पान करने लगे। इस प्रकार अपनी छोटी-सी अवस्था में ही ये उक्त कथन के अनुसार स्वामी रामानंद के शिष्य भी हो गए थे। 'भविष्य पुराण' के अनुसार तो ये मानदास नामक पुत्र के रूप में अवतार ग्रहण किये थे और इन्होंने कबीर साहब को शास्त्रार्थ में हराया था। ये स्वयं शंकराचार्य से पराजित हो गए और तत्पश्चात् इन्होंने स्वामी रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।[1]

गुरु

परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्वामी रामानंद के शिष्य समझे जानेवाले रविदास-जैसे अन्य संतों का भी पूर्णत: समसामयिक होना प्रमाणित नहीं होता। धन्ना भगत रविदास से कहीं छोटे जान पड़ते हैं और स्वयं इनकी भी कुछ रचनाओं से सिद्ध हो जाता है कि सेन नाई और कबीर साहब इनके समय तक मर कर प्रसिद्ध हो चुके थे। इन्होंने स्वामी रामानंद को अपना गुरु किसी भी उपलब्ध पद में स्वीकार नहीं किया है, न इनकी किसी भी पंक्ति से ऐसा प्रकट होता है कि ये उनके सम-कालीन थे। कबीर साहब के साथ इनकी भेंट की एकाध कथाएँ अवश्य प्रचलित हैं। किन्तु सेन नाई के साथ इनका संपर्क में आना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, न पीपाजी के ही साथ इनका कोई संबंध प्रमाणित होता है। परन्तु इनका काशी में रहना यदि कम से कम उक्त पद में आये हुए 'बनारस के आसपास ढोरों के ढोने वाले कुटुंबों' से सिद्ध किया जा सके, तो वहीं दीर्घकाल तक निवास करनेवाले कबीर साहब के साथ इनकी भेंट इनकी युवावस्था में ही सही अवश्य हुई होगी और ये उनसे बहुत कुछ प्रभावित भी हुए होंगे। इसी प्रकार काशी में ही कुटी वा गुफा के भीतर निवास करके साधना में निरत रहनेवाले दीर्घजीवी स्वामी रामानंद से भी इनका किसी समय प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हो जाना असंभव नहीं कहा जा सकता। किंतु इसमें संदेह नहीं कि स्वामी रामानंद द्वारा इनका दीक्षित होना सिद्ध करने के लिए सेन नाई, कबीर साहब तथा पीपाजी से भी कहीं अधिक प्रमाणों की आवश्यकता होगी। भक्त व्यासजी (सं० १५६७-१६६६) ने इनका नाम स्वामी रामानंद के शिष्यों में गिनाया है जो अवश्य विचारणीय है।

जीविका तथा स्वभाव

संत रविदास संभवत: काशी में ही रहा करते थे और इन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय को भक्त के रूप में अपनी प्रसिद्धि हो जाने पर भी कदाचित् कभी नहीं

---

१. दे० चतुर्थ खण्ड, अध्याय १७-१८ ।

छोड़ा। वे उसे अपनी जीविका मान कर सदा चलाते रहे और जो कुछ भी इन्हें उसके द्वारा प्राप्त होता रहा, उससे अपना भरण-पोषण करते रहे। कहा जाता है कि इन्हें अपने लड़कपन में ही सत्संग का चसका लग चुका था और १२ वर्ष की अवस्था से ये मिट्टी की बनी 'राम जानकी' की मूर्ति पूजने लगे थे।[1] इस कारण इनके सांसारिक भविष्य को उज्वल न होता देख कर इनके पिता ने इन्हें बहुत समझाया-बुझाया और इनसे सुधार के कोई लक्षण न पाकर इन्हें अंत में अपने से अलग भी कर दिया। तब से ये अपने पूर्वजों के गृह के पिछवाड़े एक छप्पर डाल कर बस गए और वहीं रह कर अपनी जीविका चलाने लगे। 'रविदास पुरान' के रचयिता परमानंद स्वामी ने लिखा है कि इनके एक पुत्र भी थे जिनका नाम विजय दास था। संत रविदास अपने स्वभाव से परम निस्पृह तथा संतोषी थे और उदार भी होने के कारण अपने बनाये जूते ये बहुधा साधु-संतों को यों ही पहना दिया करते थे। इनकी निस्पृहता के संबंध में बहुधा एक प्रसंग का भी उल्लेख किया जाता है। प्रसिद्ध है कि एक बार इन्हें किसी साधु ने पारस पत्थर लाकर दिया और इनके जूता सीनेवाले लोहे के औजारों से छुला कर उन्हें सोना बना पत्थर का उपयोग भी इन्हें बतला दिया। परन्तु रविदास ने उस बहुमूल्य वस्तु को ग्रहण करने से इनकार कर दिया और साधु के बहुत आग्रह करने पर उसे अपने छप्पर में कहीं खोंस देने के लिए कह दिया। तब से तेरह महीनों के अनंतर जब वह साधु वहाँ वापस आया और इनसे उस पत्थर का हाल पूछा, तब इन्होंने कहा, "देख लीजिए, जहाँ था वहीं पड़ा होगा।"

मीराँबाई तथा रैदासजी

इनके बहुत-से अनुयायी महाराष्ट्र तथा राजस्थान में भी पाये जाते हैं, इस कारण कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि ये किसी पश्चिमी प्रांत के रहे होंगे। किंतु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता है। जान पड़ता है कि इनके अनुयायियों का उधर होना इनके भ्रमण वा प्रचार के कारण संभव होगा। मीराँबाई की कुछ रचनाओं के अंतर्गत 'गुरु मिलिया रैदासजी दीन्ही ग्यान की गुटकी'[2] तथा 'रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी'[3]-जैसे वाक्यों के आने से जान पड़ता है कि वे इन्हें अपना गुरु स्वीकार करती हुई इन्हें दीक्षागुरु भी कह रही हैं। उनके ये कथन अब तक प्रामाणिक समझे जानेवाले प्रायः सभी पद-संग्रहों में पाये जाते हैं, इसलिए

१. जी०डब्ल्यू० ब्रिग्स : दि चमार्स, रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया, पृ० २०८।
२. मीराँबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पद २४, पृ० १०।
३, पद १५६, पृ० ५५।

उन्हें सहसा प्रक्षिप्त ठहरा देना कठिन प्रतीत होता है। इस कारण या तो रविदास और मीराँबाई को समकालीन मानना होगा या उक्त रैदासजी वा 'रैदास संत' को किसी और के लिए प्रयुक्त संकेत समझना पड़ेगा। इनमें से पहली धारणा को ठीक मानते समय हमें यह कठिनाई दीख पड़ती है कि जिस धन्ना भगत का उल्लेख स्वयं मीराँबाई ने ही किसी प्राचीन पौराणिक भक्त की भाँति किया है,[1] वे संत रविदास को एक प्रसिद्ध भक्त तथा अपना एक आदर्श समझते हैं। इस प्रकार जब धन्ना भगत ही संत रविदास के अनंतर आते है, तब मीराँबाई को उनसे और भी पीछे तक लाना पड़ेगा। हाँ, दूसरी धारणा में कदाचित् कुछ अधिक तथ्य जान पड़ता है। संत रविदास के अनुयायियों को बहुधा 'रविदास' वा 'रैदास' कहते हुए आज तक भी सुना जाता है। इस कारण अनुमान किया जा सकता है कि मीराँबाई के गुरु संभवतः रैदासी सम्प्रदाय के कोई ऐसे आचार्य रहे होंगे जो उनके समय में जीवित रहे होंगे। इस धारणा की पुष्टि एक और बात से होती है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने अपने एक पद में[2] बीठलदास भक्त को 'रैदासी' कहा है और उन्हें पद-गान करते हुए मृत्यु को प्राप्त होनेवाला तथा जगत्-प्रसिद्ध भी बतलाया है। इस बीठलदास रैदासी का समय ज्ञात नहीं, न निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि मीराँबाई के साथ इनकी भेंट संभव थी वा नहीं। फिर भी इतना अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है कि मीराँबाई की उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित 'रैदासजी' वा 'संत रविदास' शब्द किन्हीं ऐसे ही रैदासी के लिए व्यवहृत हुए होंगे। यों तो संतर विदास का मीराँबाई का गुरु होना इनके वा इनके मत द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होने पर भी सिद्ध किया जा सकता है।[3]

झालीरानी तथा रैदासजी

नाभादास की 'भक्तमाल' पर टीका लिखनेवाले प्रियादासजी ने संत रविदास की शिष्या के रूप में किसी 'झालीरानी' का नाम लिया है। 'झाली' शब्द उक्त रानी की व्यक्तिगत संज्ञा न होकर उसके पितृवंश का द्योतक है। यह शब्द उसी प्रकार का है जैसा मीराँबाई के लिए बहुधा प्रयुक्त होनेवाला 'मेड़तणी' शब्द कहला सकता है। झालीरानी भी प्रसिद्ध चित्तौड़ की ही थीं और वहाँ के महाराणा की महारानी

१. मीराँबाई की पदावली, हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ४८।
२. नाभादास : भक्तमाल, छप्पय १७७, पृ० ८८८-९।
३. मीराँबाई की पदावली, पृ० ७२-७३।

थीं। इस कारण उनका भी संबंध मीराँबाई के श्वसुर-कुल से था। कहते हैं कि उन झालीरानी ने काशी जाकर संत रविदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था और चित्तौड़ लौट कर इन्हें उन्होंने अपने यहाँ निमंत्रित किया था। उनके समक्ष संत रविदास का ठाकुरजी की मूर्ति को अपनी ओर आकृष्ट करना, पंडितों का शास्त्रार्थ में इनसे पराजित होना, भोजन करते समय ब्राह्मणों की पंक्ति में अनेक स्थलों पर इनका स्वयं भी दीख पड़ना तथा उल्लिखित प्रसंगानुसार इनका अपने शरीर के चमड़े के नीचे से यज्ञोपवीत प्रदर्शित करना-जैसी घटनाएँ[1] इनकी चित्तौड़-यात्रा से ही संबद्ध हैं। इन चमत्कारपूर्ण बातों की सत्यता के विषय में जो भी संदेह किया जा सके, इन्हें झालीरानी का गुरु मान लेने में अधिक कठिनाई न होगी। काशी जैसे प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान का निवासी होने के कारण इनकी ख्याति दूर तक सरलतापूर्वक फैल गई होगी। इस प्रकार उक्त झालीरानी को भी इनके उपदेश ग्रहण करने के लिए आना पड़ गया होगा। इन झालीरानी को कुछ लोग महाराणा साँगा (सं० १५३६-१५८४ वि०) की धर्मपत्नी समझते हैं। इस विचार से संत रविदास का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रायः अंत तक चला जाता है जो असंभव नहीं जान पड़ता। यों तो यदि झालीरानी को कुछ लोगों के अनुसार राणा कुंभा (सं० १४६०-१५२५) की पत्नी मान लिया जाय तो यह समय इसके पहले भी लाया जा सकता है। श्री रामचरण कुरील ने इनके जीवन-काल का सं० १४७१ (माघी पूर्णिमा रविवार) से लेकर सं० १५०७ (चैत्र बदी चतुर्दशी) तक होना माना है, किंतु वे इसके लिए किसी ऐतिहासिक तथ्य को आधार-स्वरूप प्रस्तुत करते नहीं जान पड़ते।[2]

रचनाएँ

संत रविदास की शिक्षा आदि के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता और अधिकतर यही संभव जान पड़ता है कि ये अशिक्षित रहे होंगे। फिर भी इनकी रचना समझे जानेवाले अनेक पद कई भिन्न-भिन्न संग्रहों में पाये जाते हैं। इनसे इनके विचारों के विषय में अनुमान करने के लिए हमें यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। कहा जाता है कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ राजस्थान की ओर अभी तक हस्त-लिखित रूप में पड़ी हुई हैं और उनकी संख्या कम नहीं है। किंतु अभी तक उन्हें एकत्र कर किसी प्रामाणिक संग्रह के रूप में प्रकाशित नहीं किया गया है, न जहाँ तक पता है, कोई योग्य पुरुष इसके लिए यत्न करते हुए ही सुने जाते हैं।

---

१. नाभादास : भक्तमाल, कवित्त २९६-६७ प्रियादास।

२. दे० भगवान् रविदास की सत्यकथा (विशेष कथन)

इनकी कुछ फुटकर रचनाओं का एक संग्रह प्रयाग के 'वेलवेडियर प्रेस' से 'रैदासजी की बानी' के नाम से प्रकाशित हुआ है जो संभवत: अधूरा है। इसमें संगृहीत अनेक पद 'गुरुग्रंथ साहब' में आये हुए पदों से मिलते हैं। परन्तु सावधानी के साथ मिलान करने पर कई रचनाओं में बहुत कुछ अंतर भी दीखने लगता है। इन दोनों संग्रहों में आयी हुई रचनाओं की भाषा में भी कहीं-कहीं बहुत अंतर है जो संग्रहकर्ता वा लिपिकर्त्ता की अपनी भाषा के कारण भी संभव समझा जा सकता है। फिर भी गुरु 'ग्रंथ साहब' में आये हुए पदों को उसकी प्राचीनता के कारण कुछ अधिक प्रामाणिक समझा जाय, तो अनुचित न होगा। संत रविदास की उपलब्ध रचनाओं में कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें फ़ारसी भाषा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और उन्हें इनकी रचना मानते समय कुछ संदेह भी होने लगता है। किंतु फ़ारसी-मिश्रित भाषा वा पूर्णत: फ़ारसी में लिखे गए अनेक पद कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं में भी मिलते हैं और इस भाषा में शब्द-रचना करने की प्रवृत्ति इन दोनों संतों के अनंतर आनेवाले कई संतों में दीख पड़ती है। इन सभी संतों का फ़ारसी भाषा से परिचित होना अभी तक प्रमाणित नहीं किया जा सका है, न बहुतों के साधारण प्रकार से भी शिक्षित होने का कुछ पता चलता है। ऐसी स्थिति में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे कुछ संतों की फ़ारसी-मिश्रित रचनाएँ उनके बहुश्रुत होने के कारण भी प्रस्तुत हुई होंगी। हाँ, यह और बात है कि ऐसी अनेक कृतियों का इन संतों के साथ कुछ भी संबंध न हो और वे किन्हीं अन्य व्यक्तियों की रचना होने पर भी इनके संग्रहों में प्रक्षिप्त रूप में आ गई हों। फिर भी जब तक ऐसी रचनाओं की पूरी छान-बीन नहीं हो जाती और उन संतों की बानियों के प्रामाणिक संग्रह प्रकाश में नहीं आते, तब तक इस विषय में कोई भी कथन अंतिम नहीं कहा जा सकता। संत रविदास की एक रचना 'प्रह्लाद लीला' नाम से प्रसिद्ध है, किंतु अभी तक अप्रकाशित रूप में ही है। इनकी भाषा तथा रचना-शैली द्वारा इसका उनकी रचना होना सिद्ध नहीं होता।

सिद्धांत

संत रविदास हिन्दू-समाज के नियमानुसार नीच कुलोत्पन्न तथा नीच व्यवसाय से अपना जीवन-यापन करनेवाले व्यक्ति थे और इनका दारिद्रय देख कर लोग बहुधा इनकी हँसी भी उड़ाया करते थे।[1] फिर भी इनके विचार अत्यंत उच्च तथा उदार थे। ये हृदय के सच्चे थे और इसी कारण इन्हें तर्क-वितर्क द्वारा उपलब्ध कोरे ज्ञान से कहीं अधिक सत्य की पूर्ण अनुभूति में ही आस्था थी। ये कहा करते

१. गुरुग्रंथ साहब, रागु बिलावल, पद १।

थे कि इस प्रकार ही 'राम' का परिचय पाने पर 'दुविधा' नष्ट होती है। पिंड का रहस्य जान लेने पर मनुष्य जल के ऊपर तूँबे की भाँति संसार में सदा विचरण करता है। जब तक यह 'परम बैराग' की स्थिति प्राप्त नहीं होती, तब तक 'भगति' के नाम पर की जानेवाली सारी साधनाएँ केवल भ्रम-मात्र कही जा सकती हैं। स्वर्ण की शुद्धि उसके पीटे जाने, काट कर टुकड़े-टुकड़े किये जाने, सुरक्षित रखे जाने वा केवल तपाये जाने से ही नहीं, प्रत्युत उसका संयोग सोहागे के साथ कर देने पर हुआ करती है। उसी प्रकार हमारे भीतर का निर्मलत्व भी सत्य की पूरी पहचान हो जाने पर ही निर्भर है। जब तक नदी समुद्र में जाकर प्रवृष्ट नहीं हो जाती, तब तक उसमें बेचैनी रहा करती है। समुद्र के साथ मिलन होते ही उसकी 'पुकार' मिट जाती है और उसे शांति तथा स्थिरता का अनुभव लगता है। तभी उसके जीवन की सफलता की सिद्धि होती है। हमारे भीतर भ्रम का दोष आ गया है जिस कारण हम अपनी वास्तविक दशा की पहचान नहीं कर पाते। उस राजा की भाँति दुःख का अनुभव करते रहते हैं जिसने स्वप्न में अपने को भिखारी समझ कर अनेक प्रकार के कष्ट झेले और जिसकी स्थिति उसके जग जाने पर ही सुधर सकी।

सत्य का परिचय

परन्तु वह 'सत्य' वा 'राम' कौन-सी वस्तु है जिसे हम अपने भ्रम का निवारण हो जाने पर उपलब्ध करते हैं। संत रविदास ने सत्य का रूप बतलाते हुए उसे 'जस हरि कहिये तस हरि नाहीं, है अस जस कछु तैसा' अर्थात् अनुपम तथा अनिर्वचनीय कहा है। फिर भी ये उसका परिचय कई प्रकार से देते हुए दीख पड़ते हैं। इनका कहना है कि वह आदि, मध्य तथा अंत अर्थात् सर्वत्र एकरस है और चर, अचर आदि सभी में एक ही प्रकार किसी मणिमाला में अनुस्यूत सूत्र की भाँति ओत-प्रोत है। वास्तव में वही एकमात्र है और सारा दृश्यमान संसार उसके भीतर वैसा ही लक्षित होता है जैसा जल-राशि में उसकी तरंगें समझ पड़ती हैं। एक ही स्वर्ण के भिन्न-भिन्न अलंकार पृथक्-पृथक् जान पड़ते हैं और किसी पत्थर में गढ़ दी गई अनेक प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट ही होता है, अपितु नित्य तथा निराकार बना हुआ सबके भीतर अलक्षित और निर्विकार की दशा में वर्तमान रहता है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंब दीख पड़ता है, समुद्र में आकाश-स्थित वस्तुओं की छाया प्रतिभासित होती है तथा गंध का अनुभव वायु से हुआ करता है, किंतु इन सबके होते हुए भी उक्त दर्पण, समुद्र तथा वायु क्रमशः प्रतिबिंब, छाया और गंध में अछूते तथा निर्लिप्त रहा करते हैं, उसी प्रकार समूचे दृश्यमान संसार का मूल आधार होने पर भी ब्रह्म सदा उनसे अप्रभावित रहा करता है। इस नित्य-वस्तु में प्रतिभासित होने पर भी वे अनित्य

तथा मिथ्यामात्र हैं। वही एकमात्र अक्षर तथा अविनश्वर है और हमारे भीतर वही जीवात्मा के रूप में स्थित है, किंतु भ्रम के कारण हमें उसका बोध नहीं होता।

भक्त की समस्या

उक्त भ्रम वा अज्ञान ही सब दुःखों का कारण है और उसे निर्मूल करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परन्तु यह किस प्रकार किया जाय।[1] कभी-कभी हम देखते हैं कि लोग इसके लिए धर्म का निरूपण किया करते हैं और वेद-पुराणादि के आधार पर कर्म-अकर्म पर विचार करते हुए विधि-निषेधों के नियम स्थिर करते हैं। किंतु वाह्य बातों में व्यवस्था आ जाने पर भी केवल इसी के द्वारा भीतरी शांति नहीं मिलती और हृदय का संशय ज्यों का त्यों बना रह जाता है।[2] इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि इस ससार में अपना जीवन-यापन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सदा काम, क्रोध, लोभ तथा मोह की प्रवृत्तियों से काम लेना पड़ता है जिन सभी के मूल में भ्रम वर्तमान है। इसलिए मानव-समाज में रहते हुए जब कभी हम उसकी उपेक्षा कर भक्ति की शरण में जाना चाहते हैं, तब इसकी प्रतिक्रिया के रूप में आसक्ति प्रबल हो उठती है। जब आसक्ति के प्रभाव में आ जाते हैं, तब उससे छुटकारा पाकर भक्ति की ओर भाग पड़ने को जी चाहता है। इन दो परस्पर विरोधी बातों के फेर में पड़ कर हम कष्ट झेला करते हैं और समझ में नहीं आता कि क्या करें। सबसे बड़ी समस्या तो हमारे सामने तब आती है, जब उक्त द्वंद्व से बचने के लिए विवश होकर हम अपने को सभी प्रकार से भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहते हैं और हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो पाता। आश्चर्य है कि सबके भीतर और सबके बाहर निरंतर विद्यमान रहता हुआ भी वह हमारे अनुभव में क्यों नहीं आया करता।[3]

साधना

संत रविदास की उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत हमें इनकी किसी साधना-विशेष के स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। जहाँ-तहाँ प्रसंगवश संकेतों के रूप में व्यक्त किये गए इनके विचारों से जान पड़ता है कि इनकी 'प्रेम भगति' का वास्तविक मूलाधार अहंकार की निवृत्ति है। ये अभिमान वा साधारण मान तथा 'बड़ाई' तक को भक्ति का एक प्रबल बाधक मानते हैं। कहते हैं कि दोनों एक साथ कदापि नहीं रह सकते, न 'अहं' के किसी रूप में भी रहते हमें

---

१. रैदासजी की बानी, बे० प्रे०, प्रयाग, शब्द ५४, पृ० २५।

२. वही, पद २३, पृ० १४।

३. वही, पद ७५, पृ० ३७।

भगवान् की कभी उपलब्धि हो सकती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए हमें चाहिए कि सभी बातों की आशा का त्याग कर केवल उसी एक में अपनी सारी वृत्तियों को केन्द्रित कर दें। उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के उपलक्ष में अपना सर्वस्व तक अर्पित कर अपने आपको भूल जायँ। हम उसके लिए आर्त्त तथा बेचैन हो उठें और अपनी सारी ज्ञानेन्द्रियों को उसी एक की टोह में लगा कर मन को भी उसी की प्रतीक्षा में बद्ध कर दें। तदनुसार एकांतनिष्ठा के फलस्वरूप हमें क्रमशः तादात्म्य का अनुभव होने लगेगा और अंत में हमें अपने उद्देश्य की सिद्धि हो जायगी। संत रविदास का कहना है कि "वास्तविक परिचय प्राप्त करने का रहस्य केवल सच्ची 'सोहागिन' ही जानती है जो अपना तन-मन सभी कुछ न्योछावर कर देती है और अभिमान का कुछ भी अंश अपने भीतर नहीं रखती, न भेद-भाव को ही कभी प्रश्रय देती है। अपने पति के साथ निरंतर एक भाव से प्रेम न करनेवाली स्त्री सदा दुःखिनी तथा 'दुहागिन' हुआ करती है।[1]"

अष्टांग साधना

प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने रैदासजी को 'संतनि में रविदास संत हैं', कह कर किसी समय इनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की थी। उन्होंने संत-मत के अनुसार सच्चे मार्ग का पता देनेवाला भी इन्हीं को बतलाया था जिसके आधार पर कभी-कभी इनके उनसे अवस्था में बड़े होने तक का अनुमान कर लिया जाता है।[2] कुछ लोग इसी प्रसंग के आधार पर संत रविदास की मुख्य साधना का पता लगाने की भी चेष्टा करते हैं। 'गुरु-परंपरा-क्रम' से प्रचलित उसके अंगों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि उसका नाम कदाचित् 'अष्टांग-साधन' था और उसके आठ अंग इस प्रकार थे: १. गृह, २. सेवा, ३. संत उसके वाह्य अंग थे, ४. नाम, ५. ध्यान, तथा ६. प्रणति उसके भीतरी अंग थे और ७. प्रेम तथा ८. विलय अथवा समाधि उसकी अंतिम अवस्था को सूचित करते थे जिनके द्वारा साधक ब्रह्म में लीन होकर पूर्ण सिद्ध वा संत बन जाता है।[3] इस अष्टांग-साधन का अधिक परिचय नहीं मिलता, न इस विषय में विस्तार के साथ कहने के लिए कोई संकेत ही उपलब्ध है। फिर भी स्पष्ट है कि उक्त मार्ग का प्रत्येक अंग अत्यंत

---

१. गुरुग्रंथ साहब, तरणतारण संस्करण, राग सूही, पद १।

२. स्वामी रामानंद शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय : संत रविदास और उनका काव्य, ज्वालापुर १९५५ ई०, पृ० ८१।

३. विश्वभारती पत्रिका, कार्तिक-पौष, सं० २०२२, पृ० २१५।

महत्त्वपूर्ण है और उसके अनुसार गार्हस्थ्य-जीवन में लगे हुए लोग भी क्रमशः अग्रसर होते हुए एक अनुपम आदर्श की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। संत रविदास को एक दीर्घजीवन की साधना का अनुभव प्राप्त था और इन्होंने सभी प्रकार की चेष्टाएँ करके अपना मार्ग अंत में निश्चित किया था।[1] दुःख की बात है कि इनकी शिष्य-परंपरा में अब कोई वैसा श्रेष्ठ साधक नहीं मिलता, न इनकी सभी प्रामाणिक रचनाएँ ही उपलब्ध हैं।

महत्त्व

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने संत रविदास के विषय में लिखते हुए कहा है कि इन्होंने सदाचार के जिन नियमों के उपदेश दिये थे, वे वेद-शास्त्रादि के विरुद्ध न थे और उन्हें नीर-क्षीर-विवेकवाले महात्मा भी अपनाते थे। इन्होंने भगवत्कृपा के प्रसाद से अपनी जीवितावस्था में ही परमगति प्राप्त कर ली थी। इनके चरणों की धूलि की वंदना लोग अपने वर्णाश्रमादि का अभिमान त्याग कर भी किया करते थे। रविदास की विमल वाणी संदेह की गुत्थियों के सुलझाने में परम सहायक हैं।[2]

रैदासी सम्प्रदाय : महत्त्व

संत रविदास के नाम पर एक रविदासी तथा रैदासी सम्प्रदाय का भी प्रचलित होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु इस प्रकार के किसी सुसंगठित पंथ का कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है, न उसके प्रसिद्ध मठों वा मठधारी महंतों का ही कोई ऐतिहासिक परिचय मिलता है। जहाँ तक पता है स्वयं रविदास ने किसी ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी, किंतु ब्रिग्स साहब ने किसी रैदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों का पंजाब राज्य के गुड़गाँव तथा रोहतक जिलों और दिल्ली राज्य के भी अनेक भागों में एक बड़ी संख्या में वर्तमान होना लिखा है। उन्होंने गुजरात में उनका 'रविदासी' कहला कर प्रसिद्ध होना भी बतलाया है।[3] परन्तु वे इनका परिचय इससे अधिक देते हुए नहीं जान पड़ते। इतना अवश्य प्रसिद्ध है कि काठियावाड़ में जूनागढ़ से तीस मील की दूरी पर 'चांवड़' स्टेशन के पास एक रविदास कुंड है और उस क्षेत्र में इनके बहुत-से अनुयायी भी पाये जाते हैं तथा

---

१. नाभादास : भक्तमाल, छप्पय ५६।

२. वही, छप्पय ५६।

३. जी डब्ल्यू० ब्रिग्स : दि चमार्स, रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज, पृ० २१०।

जैसा मैंने अन्यत्र भी कहा है, वहाँ के 'रविभाण सम्प्रदाय' के साथ इनका कोई स्पष्ट संबंध भी नहीं सूचित होता। साध-सम्प्रदाय के लिए प्रसिद्ध है कि उसके प्रधान प्रवर्त्तक का संबंध संत रविदास की ही शिष्य-परंपरा से था। इस प्रकार उस पर इनके न्यूनाधिक प्रभाव का भी होना अनिवार्य है। किंतु उक्त सम्प्रदाय के उपलब्ध इतिहास अथवा उससे संबद्ध किसी महत्त्वपूर्ण साहित्य से भी इस बात पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। अतएव अनुमान किया जा सकता है कि रैदासी वा 'रविदासी सम्प्रदाय' शब्द अधिकतर चमार जाति के उन व्यक्तियों के ही समूह का द्योतक है जो किसी-न-किसी प्रकार का एक धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं और जो इसी कारण साधु वा संत-कोटि के पुरुष भी माने जाते हैं। यों तो इस समय प्रायः सभी चमार अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से अपने को 'रैदास' वा 'रैदासी' कहते हुए पाये जाते हैं और अपनी जाति के संगठन तथा सुधार की प्रवृत्तिवाले इनके नेता इस प्रकार के नामों के आधार पर विविध सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलन भी किया करते हैं।

५. धन्ना भगत : समय

धन्नाजी ने अपने को अपनी एक रचना में जाट जाति का होना स्वीकार किया है और यह भी बतलाया है कि "गोविंद में सदा लीन रहने वाले छीपी नामदेव की महत्ता, तनना-बुनना छोड़कर भगवान् के चरणों में प्रीति करनेवाले जुलाहे कबीर के गुण, मृत पशुओं को ढोकर सदा व्यवसाय करनेवाले चमार रविदास के माया-त्याग तथा घर-घर जाकर बाल बनानेवाले सेन नाई की भक्ति का हाल सुन कर मैं भी भक्तिमार्ग की ओर आकृष्ट हुआ। मेरे भाग्य जगे और मुझे भी मालिक के दर्शन हो गए"[१]। इस कथन से जान पड़ता है कि उक्त नामदेव, कबीर, सेन तथा रैदास, धन्ना के समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे और उन्हीं के आदर्श पर इन्होंने सर्व प्रथम भक्ति-साधना के क्षेत्र में पदार्पण किया था। इन्होंने स्वामी रामानंद का नाम अपनी किसी उपलब्ध रचना में नहीं लिया है। फिर भी प्रसिद्ध है कि ये भी उक्त कबीर, सेन तथा रैदास की भाँति, उन स्वामीजी के बारह शिष्यों में से एक थे और इस बात का उल्लेख नाभादास ने भी अपनी 'भक्तमाल' में किया है। परन्तु जैसा उन संतों के विषय में भी कहा जा चुका है, उनमें से भी किसी के रामानंद के शिष्य होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। इसके सिवाय ये सभी लोग पूर्णतः समकालीन भी नहीं जान पड़ते और धन्नाजी

---

१. गुरुग्रंथ साहब, तरणतारण संस्करण, रागु आसा, पद २, पृ० ४८७-८।

तो इनमें सबसे छोटे और पीछे तक जीवित रहनेवाले सिद्ध होते हैं। मेकालिफ ने नके जन्म-काल का सन् १४१५ अर्थात् सं० १४७२ मे होना अनुमान किया है, जो कुछ पहले जान पड़ता है[1]। इनके स्वामी रामानंद का समकालीन होने तथा उनसे संपर्क में आने की बात का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं होता। इनके विषय में सबसे प्रथम उल्लेख मीराँबाई ने किया है।और उसमें निर्दिष्ट चमत्कार-पूर्ण बातों के कारण तथा उक्त सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए हमें उचित जान पड़ता है कि इनका समय विक्रम की सोलहवी शताब्दी के प्रथम अथवा द्वितीय चरण तक मानें।

जीवनी

ये राजस्थान के टाँक इलाके के अंतर्गत किसी धुअन वा धुवान गाँव में रहा करते थे जो छावनी देवली से बीस मील की दूरी पर है। इनका पैतृक व्यवसाय कृषि का था और इनके परिवार की स्थिति साधारण थी। गुरु अर्जुनदेव ने इनके संबंध में कहा है कि इन्होंने 'बालबुधि' के अनुसार भगवद्-भक्ति की थी[2] और यह बात प्रसिद्ध भी है कि इन्हें भगवत् के दर्शन बहुत कम अवस्था में ही हुए थे। इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के अनुसार इन्होंने भगवान् की मूर्ति को हठात् भोजन कराया था। एक अन्य प्रसिद्धि के अनुसार एकबार इन्होंने खेत डालने के लिए सुरक्षित गेहूँ के बीज को अपने घर आये हुए हरि-भक्तों को खिला दिया और अपने पिता के क्रुद्ध होने के भय से खेत में जाकर यों ही हल चला आये। नाभादास कहते हैं कि इनके भजन का प्रभाव ऐसा था कि उस खेत में बिना बोये ही बीज उग आये और उसकी फसल भी बहुत अच्छी हुई[3]। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास ने इस विषय का और भी विशद् रूप में वर्णन किया है और अन्य चरित-लेखकों ने भी धन्ना के संबंध में लिखते समय उस घटना की चर्चा की है।

स्वभाव

इनका एक सरल हृदय गृहस्थ तथा किसान होना इनके एक निज-रचित पद से भी प्रसिद्ध है। वहाँ पर ये कहते हैं कि "हे भगवन्, मैं तेरी आरती करता हूँ। तू अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण किया करता है। अतएव मैं भी तुझसे अपने लिए कुछ माँग रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तू मुझे आटा, दाल और घी दे जिसे

१. मेकालिफ : सिक्ख रिलिजन, वाल्यूम ५, पृ० १०६।

२. गुरुग्रंथ साहब, "धनैसंविया बालबुधि", पृ० ११६२।

३. "धन्य धन्ना के भगति को बिनहि बीज अंकुर भयो।" ६२।

खाकर मेरा चित्त सदा प्रसन्न रहा करे। मेरी यह भी इच्छा है कि तेरी कृपा से मुझे पहनने के लिए जूता और कपड़ा भी मिल जाय, मेरे खेत में अच्छा अन्न पैदा हुआ करे और मेरे घर अच्छी लगहर दूध देनेवाली गाय, भैंस तथा एक तेज चलनेवाली अच्छी घोड़ी भी रहा करे। मैं इन सबके साथ अपने घर में रहनेवाली एक सुंदरी स्त्री भी चाहता हूँ।"[1] इससे पता चलता है कि ये घर से कभी विरक्त नहीं रहे, अपितु सदा अपने पैतृक व्यवसाय में लगे हुए ही भगवद्भजन करने का आदर्श अपने जीवन के लिए कल्याणकारक समझते रहे। इनके सांसारिक जीवन की घटनाओं का पता हमें अभी तक नहीं चला, न आज तक यही विदित हो सका कि इन्होंने किन-किन पदों की रचना की थी। इनके केवल तीन पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं जिनमें से दो के विषयों का संकेत ऊपर दिया जा चुका है।

सिद्धांत

इनके शेष दो पदों में हमें इनके आध्यात्मिक जीवन के आदर्श की भी एक झलक मिल जाती है। ये कहते हैं कि 'आवागमन' में ही अनेक जन्म व्यतीत हो गए, किंतु अभी तक शांति नहीं मिली। लोभ तथा काम की ओर सदा प्रवृत्त रहनेवाले मन के कारण भगवान् को भी भूल गया। अपने कल्याण की बातों से अनभिज्ञ मन को विषय का फल भी मधुर प्रतीत होता है और उसकी प्रीति सद्गुणों से भी हट जाती है। वास्तविक युक्ति को जान कर उसे अपने हृदय में अपनाते नहीं बनता और यमराज के यहाँ व्यर्थ की ठोकरें खानी पड़ती हैं। जिसके हृदय में सद्गुरु की कृपा से ज्ञान का प्रकाश हो गया, उसका मन एक-निष्ठ हो जाता है और वही 'प्रेम भगति' को पहचान पाता है और वही अंत में मुक्ति का अधिकारी भी होता है। अंतर्ज्योति के प्रकट हुए बिना प्रभु धन पहचान भी कभी संभव नहीं और धन्ना भी इसी प्रकार अपने 'धरणीधर' को पाकर संतों की श्रेणी में प्रविष्ट हुआ[2]। इसी प्रकार ये अपने मन को संबोधित करके भी कहते हैं कि "अजी, तू ऐसा क्यों नहीं समझ लेता कि 'दयालु दामोदर' के अतिरिक्त अन्य को महत्त्व देकर घूमना-फिरना व्यर्थ है। समझ लो कि जो भगवान् करते हैं, वही होता है और इसमें किसी का भी चारा नहीं। वह मालिक ऐसा है जो माता के गर्भ में ही पानी से मानव-शरीर को भी रचता है। कुंभी का पौधा जल में बिना किसी आधार के भी फैलता है। भगवान्

---

१. गुरुग्रंथ साहब, तरणतारण, धनासरी पद १, पृ० ६९५।

२. वही, आसा पद १, पृ० ४८७।

की महिमा सोचने-समझने की बात है। धन्ना का कहना है कि "रे जीव, मुझे अपनी चिंता भी न करनी चाहिए; क्योंकि वास्तव में छिद्रहीन पत्थर के भीतर भी उसका कीड़ा भली भाँति सुरक्षित तथा जीवित रहता है[1]।" धन्ना के इन सीधे-सादे शब्दों से इनके सरल हृदय तथा सच्चे ईश्वर-विश्वास की एक सुंदर झाँकी मिल जाती है।

(६) संत मतिसुंदर

मतिसुंदर कौन ?

कबीर साहब के समसामयिक संतों में एक मतिसुंदर के भी होने का अनुमान किया गया है और इसके आधार-स्वरूप स्वयं उन्हीं की एक रचना प्रस्तुत की गई है जो कई प्रामाणिक संग्रहों में भी पायी जाती है। यह कबीर साहब के एक पद के रूप में है और इसका पाठ 'कबीर-ग्रंथावली' के इधरवाले एक नवीनतम संशोधित संस्करण[2] के अनुसार इस प्रकार है :

मेरी मति बउरी मै राम बिसार्यो, केहि विधि रहनि रहउँ रे।
सेजै रमत नैन नहिं पेखउँ, यहु दुख कासौं कहउँ रे।।टेक।।
सासु की दुखी ससुर की पिआरी, जेठ कै तरसि डरउँ रे।
ननद सुहेली गरब गहेली, देवर के विरह जरउँ रे।।१।।
वापु सावका करै लराई, माया मद मतवारी।
सगौ भईया लै सील चढ़ि हूँ, तबहीं नाह पिआरी।।२।।
सोची विचारि देखौ मन माहीं, औसर आइ बन्यौ रे।
कहै कबीर सुनहुँ मतिसुंदर, राजाराम रमौ रे।।३।।

यहाँ पर कहा जाता है कि अंतिम पंक्ति के द्वारा कबीर साहब ने किसी 'मति-सुंदर' नामक व्यक्ति को 'राम' के अपनाने का उपदेश दिया है। 'सभा' वाले संस्करण में 'मतिसुंदर' की जगह 'मति सुंदरि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, किंतु "राजस्थान के विभिन्न स्थलों पर अनेक पंचवाणी" प्रतियों का पाठ मिलान करने पर, "ज्ञात होता है कि अधिकांश में 'मतिसुंदरि' के स्थान पर 'मतिसुंदर' ही पाठ है।" 'मति' को यहाँ पर बुद्धि के अर्थ में ग्रहण करने पर 'सुंदर' विशेषण बाद में आने के कारण व्याकरण की असंगति का भय भी माना गया है। अतएव

---

१. गुरुग्रंथ साहब, आसा पद ३, पृ० ४८८।

२. कबीर-ग्रंथावली, सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, अक्टूबर, १६६१।

३. वही, पृ० ८०।

४. डॉ० पारसनाथ तिवारी: 'महात्मा मतिसुंदर' शीर्षक लेख, 'हिंदी-अनुशीलन'

इस पंक्ति के 'मतिसुंदर' को किसी व्यक्ति विशेष का नाम स्वीकार कर लेने में यों कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। प्रश्न केवल इतना ही है कि फिर यहाँ पर कबीर साहब के 'मेरी' मति बउरी कहने अर्थात् अपनी मति को पगली बतला कर उसके कारण पछताने तथा अपनी आंतरिक स्थिति का चित्रण कर उसके परि-वर्तनार्थ यत्न करने की सार्थकता क्या रह जाती है ? क्या यहाँ पर उनके अपनी 'मति बउरी' को संबोधित करके उसे 'सोच विचार कर मन में देखने' तथा "मै 'अपने सगौभइया' (सहजभाव) के साथ "सलि चढ़हूँ (सतीत्व साधन कर लूँगी)" कह कर उसे आश्वस्त बन कर ऐसे सुअवसर से लाभ उठाने के लिए आग्रह करने का अर्थ भी सूचित नहीं होता ? और क्या इस पद की समुचित व्याख्या के निमित्त यहाँ पर किसी व्यक्ति की कल्पना भी करना वास्तव में, आवश्यक है ? इस दूसरे प्रकार के भावार्थ को स्वीकार कर लेने पर तो, 'मतिसुदर' की अपेक्षा 'मतिसुंदरि' शब्द ही यहाँ पर अधिक उपयुक्त जँचेगा। 'मति बउरी' शब्द तक भी कदाचित्, संबोधन के लिए उद्दिष्ट समझा जाने लगेगा और 'सुंदरि' तथा 'बउरी' इन दो-दो विशेषणों के 'मति' संज्ञा के अनंतर प्रयोग में आने के कारण यहाँ पर हमें कोई उतनी व्याकरण की असंगति भी नहीं दीख पड़ेगी।

कुछ परिचय और संभावना

अतएव डॉ० तिवारी के उपर्युक्त प्रस्ताव को अन्य यथेष्ट प्रमाणों के अभाव में, निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना ठीक न होगा। 'मतिसुंदर' नाम वाले किसएक संत की उन्हें तीन रचनाएँ भी मिली हैं जो एक से अधिक संग्रहों में से ली गई हैं। इनमें से एक पद 'राग मारू' का है और दो राग गौड़ी के हैं। इन तीनों की रचना-शैली इस प्रकार की है जिससे इनके रचयिता के कोई संत-परंपरा का व्यक्ति होने में संदेह करने की हमें आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'राग मारू' वाले पद का विषय 'रामनाम' की महत्ता का प्रतिपादन जान पड़ता है और इसके द्वारा उसके स्मरण का उपदेश दिया गया भी दीख पड़ता है। इसी प्रकार 'राग गौड़ी' वाले एक पद का विषय 'प्रेम-भक्ति' का कठिन साधना होना तथा फिर उसी का राम द्वारा अधिक पसंद भी किया जाना है और दूसरे[1] का विषय, 'चंचल' तथा 'विष की बेलड़ी' माया के प्रति उपेक्षा भाव रखते

जन, १९५७ ई०, पृ० २७-८ ।

१. 'चंचलमाया रहौ भावै जाव, गोविंदो जनि बीसरौ रे ॥टेक ॥
माया विष की बेलड़ी रे, कुसुम विषै विकार ।
इस चितवनि जाकै चित रहै, जाकूँ भाई दुख सुख बारंबार ॥१॥

हुए, अपने चित्त को 'चतुर्भुज' में लीन करने की सराहना है। परन्तु, इनमें से किसी के भी द्वारा हमें इनके रचयिता का कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं प्राप्त होता, न इनके आधार पर हमें इतना कहने का भी कोई सूत्र मिल पाता है कि उसका आविर्भाव अमुक समय में हुआ होगा। उक्त 'राम-भक्ति' वाले पद का जिन तीन हस्तलिखित प्रतियों में पाया जाना बतलाया गया है उनमें से सर्वाधिक प्राचीन प्रति सं० १७१५ की है[1]। इसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका निर्माता, अधिक से अधिक उस समय से पहले रहा होगा जिस दशा में उसका १७ वीं अथवा कबीर साहब का समसामयिक होने की दृष्टि से उसका १६वीं शताब्दी तक में भी वर्तमान रहना कोई असंभव बात नहीं है। किसी 'मतिसुंदर' के कुछ पदों का एक 'वाणी-संग्रह' (लिपि-काल सं० १८२५ वृहस्पतिवार, शुक्लपक्ष, पौष सुदी १२) के अंतर्गत संगृहीत होना भी बताया गया है[2]। किंतु उनके उद्धरण न देख पाने के कारण, इस विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, एक रचना 'विक्रम वेलि' के कवि 'मतिसुंदर' के संबंध में भी, कहा जा सकता है कि उसके संत मतिसुंदर होने की संभावना अधिक नहीं है। सर्वप्रथम वह "कलियुग मांहि विक्रमरायनो सोहग सुंदर महिमा" गाने वाला है। इसके सिवाय, उसकी उक्त रचना में दिये गए समय सं० १७२४ आषाढ़ कृष्ण १०[3] से भी ऐसा लगता है कि यह कोई भिन्न व्यक्ति रहा होगा। ऐसी दशा में उपर्युक्त तीनों पदों के रचयिता 'मतिसुंदर' को कबीर-कालीन मान लेने का भी कोई आधार हमें अभी तक उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह असंभव नहीं कि इस नाम के कोई संत १६-१७ वीं शताब्दी में हुए हों

एक कनक अरू कामिनी सूं, कर अधिक पियार।
यूँ कलहूं नरहरि, भज ताकैं दरसन पर उपगार ॥२॥
अष्टसिद्धि नवनिधि सदा, हरिभजन के आधीन।
कह मतिसुन्दर सोई आतमा जाक चितारे चत्रभुज लीन ॥३॥
—हिन्दी अनुशीलन, पृ० २८ पर उद्धृत १५।

१. इन तीन प्रतियों में से एक सं० १८५६ में लिखी गई है और शेष दो के लिपि-काल क्रमशः सं० १८५४ तथा सं० १७१५ है। दे० अनु० पाद टिप्पणी, पृ० २८।

२. राजस्थान में हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, 'साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, पृ० २०८।

३. वही, पृ० २०९।

और वे कबीर साहब के सपर्क तक में भी कभी आये हों। इस अनुमान का समर्थन इस प्रकार भी होता जान पड़ता है कि नाभादास की 'भक्तमाल' (रचना-काल संभवत: सं० १६४२) के छप्पय, सं० ९७ के अंतर्गत उल्लिखित नाम में भी हमें किसी ऐसे भक्त मतिसुंदर का नाम आ गया प्रतीत होता है जिन्होंने सांसारिक प्रपंचों की कोई परवा न की होगी।[1]

(७) संत नंद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन

संक्षिप्त परिचय

संत नंद ऋषि वा शेख नूरुद्दीन का पूरा नाम सहजानंद बतलाया जाता है और कहा जाता है कि इनका जन्म सं० १४३४ में ठीक 'बकरीद' के दिन श्रीनगर कश्मीर प्रदेश से २८ मील पूर्वोत्तर बसे हुए किसी 'कैमूह' नामक गाँव में हुआ था जिसे उस समय 'कटीमुश' कहा जाता था और नके पिता का नाम 'सालार साँज' था जो किस्तवार के क्षत्रिय राजा के कुल के थे। सहजानंद की माता सदरा वा सदरा मोजी (देद्दी) भी राजपूत वंश की ही थी तथा सालार साँज के साथ उनका विधवा-विवाह हुआ था। इन दोनों ने क्रमश: किसी याशमन ऋषि से इस्लाम धर्म ग्रहण किया और तदनंतर मुस्लिम हो गए। कहते हैं कि एक बार जब ये दोनों अपने रुग्ण पीर को देखने गये तो वहाँ पर संत लालदेद पहले से ही उपस्थित थी। इनके उस आभिभावक ने उनका कोई 'पुष्पगुच्छ' लेकर इन्हें प्रदान कर दिया जिसके फलस्वरूप इनके घर सहजानंद का जन्म हुआ। शिशु ने लालदेद का स्तन पान भी किया जिसका प्रभाव उसके सारे जीवन भर बना रहा और वह पीछे एक 'पहुँचा हुआ फ़क़ीर' कहला कर भी प्रसिद्ध हुआ। बालक सहजानंद को प्रारंभिक जीवन में अपने वैमात्र भाइयों के कारण बहुत कष्ट पहुँचा और वह उनके द्वारा बार-बार सताया गया। कहते हैं कि उन्होंने एक बार न्हें कोई गाय चुरा कर घर ले जाने को दी, किंतु कुत्तों के भूँकने लगने पर इन्होंने उसे मार्ग में ही छोड़ दिया तथा उनके 'भों-भों' करने को अपने लिए चेतावनी समझ कर इन्होंने उक्त घटना द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर ली। प्रसिद्ध है कि ये अपनी कुछ ही वर्षों की अवस्था में किसी गुफा में वैठ कर एकांत-चिंतन की साधना १२ वर्षों तक करते रह गए। इन्होंने मीर मुहम्मद हमदानी के यहाँ दीक्षित होकर इंस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और तब से कुछ कविताएँ भी रचने लगे। इनकी मृत्यु सं० १४९५ में हुई जब ये ६३ वर्ष की अवस्था के थे और इनकी शव-यात्रा में सुंल्तान, जैनुल आबदीन तक सम्मिलित हुए। इनकी

१. "मतिसुंदर धी धागै श्रम, संसार चाल नाहिन नचे।" ॥९७

समाधि का स्थान इस समय 'चरार शरीफ़' नाम से प्रसिद्ध है और इन्हें कश्मीर का संरक्षक संत भी कहा जाता है। संत नंद ऋषि वा 'बाबानंद' ने एक सर्वथा संयत तथा सात्त्विक जीवन व्यतीत किया था और ये अत्यंत लोकप्रिय भी बने रहे। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं की चर्चा 'नूरनामा' वा 'ऋषिनामा' में की गई मिलती है जिसे बाबा नसीबुद्दीन गाज़ी (सं० १६२६-६४) ने लिखा है तथा जिसके अंतर्गत उन्होंने इनके पद्यात्मक उपदेशों को भी सम्मिलित कर दिया है। उससे पता चलता है कि इन्होंने अपना विवाह भी किया था तथा इनके दो पुत्र थे और एक पुत्री भी थी जो सभी मर गए।

स्वभाव तथा विचार-धारा

संत नंद ऋषि स्वभावत: प्रकृति-प्रेमी थे और इन्हें उद्यानों तथा जंगलों तक में निवास करना बहुत पसंद था। इन्होंने अपने जीवन के संभवत: ३०वें वर्ष से ही एक भ्रमणशील जीवन स्वीकार कर लिया था। ये अपनी निर्धनता के कारण प्राय: फटे-पुराने कपड़े ही पहना करते थे जिससे कभी-कभी इन्हें पहचान पाना तक भी कठिन हो जाता था। कहते हैं कि एक बार जब ये निमंत्रित होकर किसी भोज में सम्मिलित होने गये, इनकी वेशभूषा से अपरिचित रहने के कारण, वहाँ के नौकरों ने इन्हें गृह के भीतर प्रवेश करने नहीं दिया। ये वहाँ से सीधे लौट आये, किंतु फिर जब वे वहाँ पर दोबारा कोई चोग़ा पहन कर गये और इन्हें वहाँ पर उपस्थित महान व्यक्तियों में स्थान मिल गया तो, इन्होंने अपने सामने परसी गई थालियों पर अपने लंबे पहनावे की बाँह वाली छोर डाल दी जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य हुआ। उनके पूछने पर इन्होंने कहा, "यह भोज वास्तव में, शेख नूरुद्दीन के लिए न होकर इस चोग़े के ही लिए है" जिसका रहस्य जान कर सभी लज्जित हो गए। इनका कहना है, "केवल नम्रता प्रदर्शित करने मात्र से ही कोई ऋषि नहीं बन जा सकता, क्योंकि धान कूटते समय तो उसकी कुटाई करने वाले का भी सिर नीचे की ओर रहा करता है। केवल गुफा में रहने के ही कारण किसी को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती, क्योंकि चूहे और नेवले भी अधिकतर बिलों में ही रहा करते हैं। इसी प्रकार, केवल स्नान करते रहने से ही शरीर पवित्र नहीं बन जाता, क्योंकि मछली और ऊदबिलाव भी सदा जल में ही रहा करते हैं। उपवास करना भी तो किसी महत्त्व का नहीं है।[1] एक अन्य स्थल पर इन्होंने कहा है, "परमात्मा की ओर से छोड़े गये विपत्ति के वाणों से अपनी रक्षा का यत्न न करो, न उसकी तीक्ष्ण

---

१. कशीर, पृ० १०२ पर उद्धृत।

तलवार से अपने को बचाने के लिए ही उसकी ओर से अपना मुँह फेर लो। विपत्ति को सदा चीनी जैसी मिठास की वस्तु समझो और यह मान लिया करो कि चाहे यहाँ पर अथवा किसी दूसरी दुनिया में ही क्यों न हो, सब कहीं हमारे लिए इसी में सच्ची भलाई है।"[1] इसी प्रकार "यदि कोई चाहे तो किसी सर्प से बचने के लिए वह एक बाँस की दूरी तक भग जा सकता है और ऐसे ही किसी शेर से अपना बचाव करने के लिए वह कोसों दूर तक जा सकता है। वह अपने ऋणदाता (महाजन) से मुक्ति पाने की आशा से कुछ दिनों के लिए कहीं बाहर समय काट सकता है, किंतु अपने दुर्भाग्य से वह एक निमिष तक भी नहीं टल सकता।[2]" इन्होंने प्रेम की चर्चा करते हुए भी कहा है "प्रेम किसी माता के अपने इकलौते पुत्र की, मृत्यु के समान है; क्या किसी प्रेमी को कभी नींद आ सकती है? प्रेम कीड़ों के विषैले डंक की-जैसी टीस पहुँचाने वाला है; क्या किसी प्रेमी को कभी कोई शांति मिल पाती है? प्रेम किसी के उस पहनावे के समान है जिससे रक्त की बूँदें टपक रही हों– क्या कभी उसे धारण करने वाला एक आह भी भर सकता है?"[3] जिससे पता चलता है इनकी अनुभूति कितनी गहरी रही होगी। इनके शिष्यों के से चार प्रमुख थे और उनमें भी इनके लिए सर्वाधिक प्रिय शेख नसीरुद्दीन थे जिन्हें ये प्रेम से केवल 'नसरो' मात्र कहा करते थे। नंद ऋषि की प्रतिष्ठा तथा इनकी लोकप्रियता के प्रमाण में एक यह बात कही जा सकती है कि इनके 'नूरुद्दीन' नाम से कश्मीर के पठान गवर्नर अता-मुहम्मद खाँ ने सन् १८०८ ई० से १८१० ई० तक कई सिक्के भी प्रचलित किये थे। इनके संत लालदेद के प्रभाव में आने तथा उनकी विचार-धारा से प्रेरणा पाकर अपनी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करने का भी श्रेय दिया जाता है। कहा जाता है कि इनका जीवन किसी एक मुस्लिम फ़क़ीर का ही-जैसा न रह कर महान् संतों की उच्चकोटि तक पहुँच गया था।

३. कबीर-शिष्य

(१) प्रस्तावना : प्रासंगिक समस्या

कबीर साहब के जीवन-काल में, उनके अनुपम व्यक्तित्व द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित हो जाना अथवा उनके सारगर्भित उपदेशों का महत्त्व स्वीकार करते हुए उनके सुझाये पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा करने लगना कोई असंभव-सी

---

१. कबीर, पृ० ४३० पर उद्धृत। २. वही, पृ० ४३० पर उद्धृत।
३. वही, पृ० ६५ पर उद्धृत।

बात नहीं थी। इसमें संदेह नहीं कि उस समय के बहुत-से लोगों ने ऐसा किया होगा तथा वे इनके अनुयायी भी बन गए होंगे। परन्तु आश्चर्य की बात है कि आज ऐसे व्यक्तियों का हमें प्राय: कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं है, न हम किन्हीं प्रामाणिक सूत्रों के आधार पर इस समय केवल इस प्रकार भी कह पाते हैं कि उनकी वास्तविक संख्या अमुक रही होगी। इतना ही नहीं, हमें तो कभी-कभी यह देख कर पूरा दुख भी होने लगता है कि बहुत से लेखकों ने इस संबंध में, अनेक भ्रमात्मक बातें तक फैला दी हैं। कतिपय चामत्कारिक प्रसंगों का वर्णन करने के प्रलोभन में पड़ कर उन्होंने कई काल्पनिक बातों को तथ्य का रूप दे डाला है। इस कारण हम न तो सदा उनकी समुचित परीक्षा कर पाते हैं, न इस प्रकार उनकी छान-बीन करके किसी ऐसे परिणाम तक पहुँचने में समर्थ होते हैं जिसे किसी ऐतिहासिक तथ्य का-जैसा मूल्य प्रदान किया जा सके। जहाँ तक पता चलता है अभी तक हमें अधिकतर ऐसी ही सामग्री मिलती आई है जिसमें या तो धार्मिक व्यक्तियों द्वारा लिखे गए प्रशंसात्मक उल्लेखमात्र सम्मिलित हैं अथवा उन लोगों के लिखे 'भक्तमाल' वा 'परचई' कहे जाने वाले ग्रंथ हैं जिनमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का प्रभाव पाया जाना अनिवार्य-सा रहता है। ऐसे लोगों ने कबीर साहब के विषय में चर्चा करते समय कहीं-कहीं तो उनसे प्रभावित होने वालों में, गुरु गोरखनाथ-जैसे उनके पूर्ववर्ती महापुरुषों की कथाएँ गढ़ ली हैं अथवा अन्यत्र संत गरीबदास-जैसे बहुत-से धार्मिक पुरुषों तक के नाम ले लिये हैं जिनके संबंध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये उनके परवर्त्ती थे। ऐसी दशा में हमें स्वभावत: उन कतिपय लोगों को भी उनका सम-सामयिक होना स्वीकार करते समय, कभी-कभी पूरी हिचक होने लगती है जिनके साथ उनका प्रत्यक्ष संपर्क रहा होगा अथवा जो वास्तव में उनके शिष्य तक भी रहे होंगे।

कबीर शिष्यों के उल्लेख

पुराने 'भक्तमाल'-रचयिताओं में से प्रसिद्ध नाभादास ने कबीर साहब के शिष्यों की चर्चा किसी एक स्थल पर नहीं की है। जहाँ तक जान पड़ता है उन्होंने इनमें से केवल एक मात्र पद्मनाभ के ही विषय में लिखा है कि जिस प्रकार उन्होंने कबीर साहब की कृपा से परमतत्त्व का परिचय उपलब्ध किया तथा रामनाम को विशेष महत्त्व प्रदान किया था।[1] इसके अतिरिक्त, उनके द्वारा रचित अगले (अर्थात् ६९वें) छप्पय पर टीका लिखते समय, प्रियादासजी

१. छप्पय ६८।

ने उसके तत्त्वा तथा जीवा नामक भक्तों का भी कबीर साहब का शिष्य होना बतलाया है तथा उनका दक्षिण देश का निवासी होना तक स्वीकार किया है।[1] परन्तु एक अन्य 'भक्तमाल' के रचयिता दादू-पंथी राघोदास ने अपने एक छप्पय में कहा है कि कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों की संख्या नव थी तथा उन्होंने उनके नाम, क्रमशः कमाल, कमाली, पद्मनाभ, रामकृपाल, नीर, षीर, ग्यानी, धर्मदास तथा हरदास-जैसे लेते हुए उन्हें मनुष्यों के लिए भव-सागर पार करने के निमित्त निर्मित नौकाओं के समान बतलाया गया है।[2] उन्होंने इनमें से पद्मनाभ, कमाल, कमाली, ग्यानी तथा धर्मदास के विषय में फिर अन्यत्र भी लिखा है।[3] फिर एक छप्पय द्वारा स्वयं धर्मदास तक के कतिपय शिष्यों और प्रशिष्यों के नामों का उल्लेख कर दिया है।"[4] इस प्रकार इनके अनुसार कहे गए नामों के अंतर्गत, केवल उपर्युक्त 'पद्मनाभ' का ही समावेश किया गया दीख पड़ता है। यदि हम इनके 'नीर' तथा 'षीर' जैसे शब्दों को किसी प्रकार उक्त 'तत्त्वा' और 'जीवा' के पर्याय मान सकें तो, दो अन्य को भी स्थान मिलता जान पड़ता है। इसके सिवाय, हम यहाँ पर यह भी देखते है कि जिन कमाल, कमाली, धर्मदास, जागू, भागो तथा सुरतगोपाल का कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में उल्लेख किया जाता है उनमें से नाभादास ने किसी एक का भी नाम नहीं लिया है। राघोदास ने इनमें से प्रथम तीन के तथा एक अन्य ग्यानी के विषय में भी पृथक्-पृथक् छप्पयों की रचना कर डाली है। इनमें से शेष तीन को अन्यत्र धर्मदास के शिष्यों तथा प्रशिष्यों तक में गिना दिया है।

निष्कर्ष

अतएव हमें ऐसा लगता है कि या तो नाभादास को सभी प्रमुख कबीर

---

१. कवित्त ३१२।

२. "ज्यूं नाराइन नव निरमये त्यूं श्रीकबीर किये सिष नव।
प्रथमहि दास कमाल, दुतियह दास कमाली।
पद्मनाभ पुनि तृतीय, चतुरथम रामकृपाली।
पंचम षष्टम नीर षीर, सप्तम पुनि ग्यानी।
अष्टम है ध्रुवदास, नवम हरदास प्रमानी।
नव का नव नवतिरनकौं, जन राघो कयो पयोध भव।
ज्यूं नाराइन नव निरमये, त्यूं श्रीकबीर किये सिष नव ॥३५३॥"

३. दे० छप्पय संख्या क्रमशः १८१, १८३, ३५४, ३५५ और ३५७।

४. दे० छप्पय ३५८ जिसमें धर्मदास के शिष्यों तथा प्रशिष्यों में चूड़ामनि, कुलपति, साहेब दास, दल्हण, जागू, भगता और सुर्ति-गुपाल के नाम गिनाये गए हैं।

शिष्यों का पता न होगा अथवा उन्होंने उनमें से केवल ऐसे ही लोगों की चर्चा करना उचित समझा होगा जिन्हें वे विशेष महत्त्व प्रदान करना चाहते होंगे। इसी प्रकार हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि राघोदास अथवा उनकी 'भक्तमाल' की टीका लिखने वाले चक्रदास के समय तक भी, ठीक उसी प्रकार नहीं समझा जाता रहा होगा जिस प्रकार आजकल दीख पड़ता है। इस प्रकार की बातों का अधिकतर परंपरानुसार ही प्रचार होते आने के कारण इस विषय में बहुत से मनमाने कथन भी किये जाते आये होंगे। इसी कारण हम यहाँ पर कोई ऐसा निर्णय नहीं दे सकते जिसे सर्वथा प्रामाणिक कहा जा सके, न ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में, हम अभी कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों की कोई निश्चित संख्या ही ठहरा सकते अथवा उनका साधारण परिचय तक भी दे सकते हैं। ऐसी दशा में हम यहाँ पर केवल उन्हीं १० व्यक्तियों के विषय में विचार करना चाहते हैं जिनके नाम इस संबंध में विशेष रूप से लिये जाते हैं। ये क्रमशः कमाल, कमाली, पद्मनाभ, तत्त्वा, जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागोदास, सुरत गोपाल तथा धर्मदास हैं।

२. संत कमाल : संक्षिप्त परिचय

संत कमाल कबीर साहब के औरस पुत्र, शिष्य तथा एक पहुँचे हुए फ़क़ीर थे, किंतु इनके जीवन की घटना बहुत कम ज्ञात है। कबीर-पंथी ग्रंथ 'बोध सागर' से पता चलता है कि कबीर साहब का आदेश पाकर ये संत-मत का प्रचार करने अहमदाबाद की ओर गये थे।[1] दादू दयाल की गुरु-परंपरा में भी इनका नाम उनके ऊपर पाँचवीं पीढ़ी में लिया जाता है, जिससे इस बात की कुछ पुष्टि होती जान पड़ती है। इनकी कई रचनाओं द्वारा यह भी प्रकट होता है कि इनका भ्रमण महाराष्ट्र प्रांत तथा पंढरपुर के प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र तक भी अवश्य हुआ होगा। ये विट्ठल की मूर्ति, भीमा नदी और कुछ वारकरी-भक्तों के विषय में यत्र-तत्र उल्लेख करते हैं और उनकी प्रशंसा भी करते हैं। इनका अपने एक पद में यह भी कहना है कि जिस प्रकार 'दखन म्यांने नामा दरजी" अर्थात् दक्षिण भारत में संत नामदेव हुए, उसी प्रकार "उत्तरम्यांने भयो कबीर, रामचरण का बंदा है। उनों का पूत कहे कमाल दोनों का बोलबाला है"। इसी प्रकार इन्होंने एक दूसरे स्थल पर "हम यवन तुम तो हिन्दू" कह कर अपना मुसलमान होना

---

१. **'चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुँचे जाई ॥'**
—बोधसागर, बंबई, पृ० १५१५।

स्वीकार किया है । इनकी भाषा, शैली तथा 'मुरशिद मौला' आदि-जैसे शब्दों के अधिक प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है।[1] संभव है ये सूफ़ियों के संपर्क में भी कुछ दिनों तक रह चुके हों और इनके विचारों पर उनका भी प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा हो। इनकी कुछ रचनाएँ अभी तक प्रकाशित नहीं है और जो कुछ संग्रहों के अंतर्गत फुटकर पदों के रूप में मिलती हैं, वे भी बहुत कम हैं।

कबीर तथा कमाल

संत कमाल के विषय में जो अनेक बातें प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक कबीर साहब के साथ इनके कुछ मतभेद की ओर संकेत करती है। कहा जाता है कि कबीर साहब इन्हें 'सपूत' नहीं समझते थे, अपितु उनकी धारणा थी कि हरि-स्मरण से अधिक संपत्ति की ओर ही ध्यान देकर इन्होने उनके कुल का नाम डुबो दिया और इस प्रकार 'कपूत' बन गए। इस विषय की एक रचना[2] 'सलोक' के रूप में 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत कबीर साहब की ही कृति मान कर संगृहीत हुई है। उक्त 'सलोक' के अनुसार कबीर का वंश डूब गया, क्योंकि उसमें कमाल-जैसा पुत्र उत्पन्न हो गया। कारण यह कि उसने हरि का स्मरण छोड़ कर घर में माल वा धन ला एकत्र कर दिया। संत कमाल के लिये ये शब्द वास्तव में अत्यंत कठोर हैं। यदि ये सचमुच कबीर साहब के ही हैं, तो इनके लिए कोई-न-कोई आधार भी अवश्य रहा होगा। किंतु भिन्न-भिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाओं का सहारा लिया गया जान पड़ता है जिससे निश्चित रूप से कुछ कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

वही

उक्त घटना के संबंध में कहा जाता है कि एक समय जब संत कमाल अपने मत के प्रचारार्थ ग्वालियर गये हुए थे, तब किसी श्रद्धालु महाराज ने इन्हें बहुत-सा द्रव्य देना चाहा, किंतु इन्होंने अपनी विरक्ति के नियमानुसार उसमें से एक पैसा भी लेने से स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। परन्तु जब ये विश्राम करने के लिए गये और उक्त महाजन ने इन्हें गाढ़ी नींद में पाया, तब हीरे का एक टुकड़ा लेकर उसने चुपके से इनकी पगड़ी की पेच में बाँध दिया। संत कमाल ने जग जाने पर भी इस ओर ध्यान नहीं दिया और वहाँ से चल पड़े। जब ये काशी वापस

---

१. श्री संत गाथा, इंदिरा प्रेस, पूना, पृ० ७५, ७६, ७९ तथा ८७।

२. 'बूड़ा बंसु कबीर का उपजिओ पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाड़िकै, घरि लै आया मालु।'
—गुरुग्रंथ साहब, तरणतारण संस्करण, पृ० ११५।

आये और इनकी पगड़ी की गाँठ की ओर कबीर साहब की दृष्टि गई, तब इसका पता चला। गिरह के खुलते ही हीरा निकल आया जिस पर कबीर साहब ने कहा :

'नाम साहब का बेंच कर, घर लाया धन-माल ।
बूड़ा बंस कबीर का, जनमा पूत कमाल ।'

और फिर महाजन के आने पर जब उसका भेद खुला, तब उन्हें पूर्ण संतोष हुआ। इसी प्रकार इस विषय में एक दूसरा अनुमान यह भी किया जाता है कि संत कमाल अपने बचपन में अपनी लंगोटी कुछ ढीली-ढाली पहना करते थे जिस कारण वह कभी-कभी नीचे की ओर खिसक जाती थी । एक बार कबीर साहब का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और इन्होंने अपनी लंगोटी कस कर बाँध लेने का आदेश दिया। संत कमाल ने उनकी आज्ञा का पालन करते समय पीछे से उसका वास्तविक अभिप्राय 'लंगोटबंद रहना' मान लिया और अपने जीवन भर अविवाहित रह गए। अतएव कबीर साहब को अंत में इनके विषय में किसी समय प्रसंगवश कह देना पड़ा :

'बूड़ा बंस कबीर का, जनमा पूत कमाल ।[1]
वही

परन्तु एक 'भक्तमाल' नामक ग्रंथ में हमें उक्त पंक्तियों के संबंध में एक तीसरी ही घटना का पता मिलता है[2]। इस ग्रंथ के रचयिता का कहना है कि एक बार कोई राजा कबीर साहब का शिष्य बनने के लिए बहुत-सा धन लेकर काशी आया। कबीर साहब को यह बात पसंद न थी, इस कारण उस अतिथि से आँख बचा कर ये कहीं अन्यत्र जाकर छिप रहे । राजा ने जब कबीर साहब को नहीं पाया, तब उसने उनके योग्य सुत्र संत कमाल का ही शिष्य बन कर इन्हें सारा धन सपर्पित कर दिया और वह अपने घर वापस चला गया। कबीर साहब को जब घर लौटने पर इसका पता चला, तब वे संत कमाल पर बहुत बिगड़े और उन्होंने इनके लिए उन शब्दों के प्रयोग किये जो उक्त 'सलोक' में आये हुए हैं । परन्तु संत कमाल अपनी बातों पर पूर्ववत् ही दृढ़ रहे और इन्होंने अपने पिता से कहा कि इस प्रकार धन लेने से वस्तुतः कुछ भी हानि नहीं हुई है । मैंने राजा से धन लेकर हरि-नाम को कदापि नहीं बेचा है। राम के नाम

---

१. महर्षि शिवब्रतलाल वर्मा : संतमाल, लाहोर, १६२३ ई०, पृ० ५८-६ ।

२. दुखहरनकृत भगतमाल, हस्तलिखित प्रति : ये संत दुखहरन, संभवतः संत शिवनारायण के गुरु थे। देखिए इस संबंध में आगे शिवनारायणी सम्प्रदाय, अध्याय ६ ।

का तो, यदि सच पूछा जाय तो कोई 'मोजो' अर्थात् माविजा वा मूल्य हो ही नहीं सकता। फिर वह वेचा कैसे जा सकता है।[1] इस उत्तर को पाकर कबीर साहब चुप हो रहे ।

वही

इसी संबंध में उक्त ग्रंथ के अंतर्गत एक अन्य घटना का भी उल्लेख इस प्रकार किया गया मिलता है। कबीर साहब के उक्त प्रकार से रुष्ट हो जाने के अनंतर अवसर पाकर कमाल ने यह भी कहा था कि यों तो धन लेकर शिष्य बनाने के कारण मुझमें कोई कमी भी नहीं आयी है । आप 'कउड़ी' से 'हीरा' बने हैं और मैं 'हीरा' से भी 'लाल' बन गया हूँ । अतएव, यदि विचार किया जाय, तो आप 'आधा भगत' ही कहला सकते है और मैं 'सारा भगत' वा पूर्ण भक्त बन गया हूँ।[2] इस कथन का तात्पर्य "संत कमाल ने उस ग्रंथ के अनुसार इस प्रकार समझाया कि कबीर साहब के माता-पिता निरे 'साकठ जोलहा' थे जिनके पुत्र कबीर साहब एक भक्त के रूप में प्रकट हुए थे, किंतु संत कमाल उन कबीर साहब के ही पुत्र 'इन्द्रियजीत' वा ब्रह्मचारी भी थे। इस कारण ये 'कउड़ी' से 'हीरा' मात्र न बन कर 'हीरा' से भी 'लाल' हो गए थे। इस प्रकार संभव है कि इस 'इन्द्रिय जीत' शब्द के ही भीतर कबीर साहब के वंश के डूबने का भी रहस्य छिपा हो, क्योंकि जैसा कि ऊपर भी संकेत किया गया है, संत कमाल के विवाहित होने का कहीं पता नहीं चलता और उन्हें अधिकतर एक विरक्त के ही रूप में अब तक समझा गया है। इनके शिष्य किसी जमाल का नाम सुना जाता है, किंतु इनके किसी पुत्र वा पुत्री का पता नहीं चलता।

वही

जो लोग उक्त 'सलोक' को किसी दूसरे की रचना मानते हैं, उनका अनुमान है कि कबीर साहब की मृत्यु हो जाने पर बहुत-से लोगों ने संत कमाल से अनुरोध किया कि ये उनके नाम पर किसी नवीन पंथ की स्थापना करें। किंतु इन्होंने ऐसा करने से स्पष्ट शब्दों में इनकार कर दिया और कहा कि इस प्रकार का कार्य

---

१. 'कहहु तो राम के नाम को, मोजो कछुवै आहि।
तो मैं बेचा होइहै मोंही बतावहु ताहि ।।"
—दुखहरन : भगतमाल, पृ० १५१ ।

२. 'कउड़ी शे हीरा भये । हीरा से भये लाल ।
आधा भगत कबीर थे, शारा भगत कमाल ।।'
—वही, पृ० १५० ।

करना गला घोंटने के समान होगा जिसे मेरे पिता कबीर साहब ने अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया है तथा उनके सिद्धांतों को नष्ट करने का यत्न करना भी उनकी ही हत्या करने के तुल्य होगा, जो मेरे लिए कदापि संभव नहीं है। कहते हैं कि इनके इस प्रकार स्पष्ट कह देने पर कबीर साहब के अनेक अनुयायी इनसे बहुत रुष्ट हो गए और इनके प्रति विरुद्ध भाव प्रकट करते हुए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि कमाल के उत्पन्न होने के कारण कबीर की वंश-परंपरा ही लुप्त हो रही है।[1] अतएव इस घटना के अनुसार 'गुरुग्रंथ साहब' में आया हुआ 'सलोक' इस अवसर पर ही कहा गया माना जा सकता है। परन्तु इस अनुमान का समर्थन उक्त रचना के केवल पूर्वार्द्ध से ही हो सकता है। उसके उत्तरार्द्ध की संगति इसके साथ नहीं लगती। |

सिद्धांत तथा साधना

संत कमाल की विचार-धारा का मूल स्रोत कबीर साहब के ही निर्मल जलाशय से लगा हुआ प्रतीत होता है। ये उन्हीं की भाँति सच्चे हृदय को वाह्य साधनाओं से कहीं अधिक महत्व देते हैं और भ्रांतिवश इधर-उधर भटकनेवालों को सचेत भी करते हैं। उन्हीं के समान ये राजा तथा रंक दोनों को एक समान देखते हैं, सभी साधनाओं से बढ़ कर रामनाम को ही ठहराते हैं और बाहर-भीतर सब कहीं उसी एक की ज्योति के दर्शन पाते हुए समझ पड़ते हैं ; जैसे :

'काहे कूं जंगल जाता बच्चा, अपना दिल रखो रे सच्चा।'

'राजा रंक दोनों बराबर, जैसे गंगाजल पानी।
मान करो कोई मूंपर मारो, दोनों मीठा बानी।'

'सुख से बैठो अपने महेल मो, राम भजन नहीं अच्छा है।
अंतर भीतर भई भरपूर, देखूं सब ही उजाला'[2]। आदि

इनकी वाणी में भी कहीं-कहीं प्रायः वही खरापन तथा चुटीलापन लक्षित होता है जो कबीर साहब की रचनाओं की विशेषता है। इनमें गर्व की मात्रा कहीं भी नही दीख पड़ती। इसके विपरीत इनकी नम्रता तथा दैन्यभाव के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

संत कमाल के जीवन-काल की निश्चित तिथियोंका ठीक पता नहीं चलता; न इनकी आयु के संबंध में ही अनुमान करने के लिए कोई आधार मिलता है।

---

१. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, ल्यूज़क एंड कंपनी, १९३० ई०, पृ० ९१।

२. श्री संत गाथा, इंदिरा प्रेस, पूना।

इनकी समाधि का होना कोई कड़ा-मानिकपुर में बतलाते हैं[1], तो कोई उसका पता झूँसी के निकटवर्ती किसी स्थान के संबंध में देते हैं। किन्तु इनकी एक समाधि मगहर में कबीर साहब के रौजे के पास भी वर्तमान है[2] जो संभवतः इन्हीं की हो सकती है। कमाल नामधारी कतिपय सूफ़ी साधकों के भी होने के कारण उक्त वा अन्य ऐसी समाधियों के विषय में उतने निश्चित रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता।

(३) संत कमाली

कमाली और कबीर साहब

कमाली के विषय में कहा जाता है कि यह कबीर साहब की औरस पुत्री थी। इसका नाम भी संभवतः उन संत कमाल के नाम का आधार लेकर ही प्रसिद्ध हुआ था जिन्हें उनका औरस पुत्र ठहराने की परंपरा चली आ रही है। कबीर-पंथी लोगों का साधारणतः कहना है कि कबीर साहब ने न तो विवाह किया था, न उनकी कोई संतान ही थी। परन्तु उनकी रचनाओं के ही अंतर्गत पाये जाने वाले कतिपय प्रसंगों के आधार पर इसके विरुद्ध अनुमान कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में उनके नाम से संगृहीत एक पद से पता चलता है कि उनकी स्त्री लोई, उनकी अपने व्यवसाय के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा के कारण, उन्हें कभी-कभी यह कह कर कोसा करती थी कि "हमारे लड़कों और लड़कियों के लिए तो यथेष्ट भोजन का सामान मिल नहीं पाता और उधर 'मुडिया' साधु आकर हमारे यहाँ मौज उड़ा जाते हैं।"[3] अतएव, यदि कबीर साहब वास्तव में विवाहित रहे और उन्हें कोई 'कमाल' नाम का औरस पुत्र भी रहा उस दशा में यह स्वीकार कर लेनें में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि उनकी कोई एक पुत्री कमाली भी हो सकती है। इसको कबीर साहब की पुत्री स्वीकार न करने वालों के किसी कथन के अनुसार डॉ० की ने कहा है कि यह वास्तव में, उनके किसी पड़ोसी की पुत्री थी जिसके मर जाने के उपरांत उन्होंने इसे पुनर्जीवन प्रदान किया था अथवा यह शेख़ तक़ी की ही संतान थी जिसके आठ दिनों तक कब्र में रह चुकने के भी अनंतर उन्होंने जीवन-दान दिया था।[4] इन दोनों में से किसी भी दशा में इसके पुनर्जीवित होने पर इसका कबीर साहब

---

१. डॉ० मोहनसिंह : कबीर एंड दि भक्ति मूवमेंट, १९३४ ई०, भा० २, पृ० ९३।
२. डॉ० एफ० ई० की : कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, १९३१ ई०, पृ० ९६।
३. 'लरकी लरिकन खैबो नाहिं। मुंड़िया अनुदिन धाये जाहिं', राग गौड़, पद ६
४. डॉ० एफ० ई० की : कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० १६।

द्वारा अपनी पोष्य-पुत्री के रूप में रख लेना प्रसिद्ध है ।

कमाली का परिचय

कहते हैं कि एक बार जब कमाली पानी भरने के लिए किसी कुएँ पर गई थी उधर से कोई पंडित आ निकले। प्यासे होने के कारण उन्होंने इससे पानी पीने को माँगा जिस पर उन्हें इसने अपने पात्र से जल पिला कर उनकी प्यास बुझा दी। परन्तु जब उन पंडितजी को यह पता चला कि मैंने भूलवश किसी जोलाहे की लड़की के हाथ का पानी पी लिया है तो उन्हें इसके कारण बड़ा संताप हुआ और वे इसके समाधानार्थ कबीर साहब के यहाँ पहुँचे। कबीर साहब वहाँ से कहीं निकट ही रहा करते थे। पंडितजी की उनकी ख्याति का पता पाकर उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा थी। अतएव दोनों के बीच छुआ-छूत जैसे प्रश्नों पर पूरा विचार-विमर्श हुआ और अंत में पंडितजी को कबीर साहब का लोहा मान लेना पड़ा। प्रसिद्ध है कि उन पंडितजी का नाम 'सर्वाजीत' था जो बड़े उद्भट विद्वान् थे और जिन्होंने बहुत लोगों को शास्त्रार्थ में हरा कर विजय प्राप्त की थी। रे० वेस्टकाट ने लिखा है कि कबीर साहब से पराजित हो जाने पर पंडित ने उनसे संभवतः दीक्षा ग्रहण कर ली और उन्होंने इन पर प्रसन्न होकर अपनी उस कन्या कमाली का इनसे पाणि-ग्रहण भी करा दिया।[1] परन्तु इस प्रकार के किसी भी कथन की पुष्टि के लिए हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है, न हम उपलब्ध सामग्री के आधार पर केवल इतना भी कह पाने की स्थिति में हैं कि इसका कोई भी अंश किसी प्रकार स्वीकार योग्य है भी अथवा नहीं। रे० वेस्टकाट ने उस समय कमाली की अवस्था २० वर्ष की बतलायी है और ब्रह्मलीन मुनि ने कहा है कि उन दिनों वह काशी-नरेश के दिये हुए किसी छोटे-से आश्रम में रह कर भक्ति आदि आत्म-कल्याण के साधनों में निरत रहा करती थी। इससे उसके कबीर साहब की शिष्या होने का अनुमान किया जा सकता है तथा उसके साथ 'सर्वाजित' पंडित की हुई बातचीत से भी ऐसा मान लिया जा सकता है कि वह बहुत योग्य रही होगी।[2] परन्तु इस कबीर-कन्या कमाली के विवाह का मुलतान में भी होना कहा जाता है। कहते हैं कि वहाँ पर मुल्तानी बोली में उसकी बहुत-सी काफियाँ भी

---

१. ई० जी० एच० वेस्टकाट : कबीर ऐंड दि कबीरपंथ, कलकत्ता, १९५३ ई०, पृ० ९-१० ।

२. "एकान्ते ध्यान भक्त्यादि साधनं कर्त्तुमादरात् ।
काशीनरेश दत्तेहि, कमाल्यतिष्ठदाश्रमे ।" —सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ३८७ ।

मिलती हैं जिसके आधार पर भी इसकी योग्यता के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।[1] फिर भी जहाँ तक पता है, अभी तक हमें इस बात का कोई संकेत मिल नहीं सका है कि वास्तव में वे काफियाँ उसी की है तथा वहाँ उसने अपनी ओर से कोई नया पंथ चलाया भी था वा नही।

(४) संत पद्मनाभजी : पद्मनाभ कौन ?

संत पद्मनाभ का नाम कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में लिया जाता है। इनके विषय में प्रसिद्ध 'भक्तमाल' ग्रंथ के रचयिता नाभादास ने कहा है, 'पद्मनाभजी ने कबीर की कृपा द्वारा परमतत्त्व का परिचय प्राप्त किया था। इनके लिए नामोपासना सभी कुछ थी और 'नाम' स्वयं रघुनाथ से भी बढ़ कर था।"[2] एक अन्य 'भक्तमाल' के रचयिता दादू-पंथी राघोदास ने भी अपनी प्रायः वैसी ही प्रसिद्ध रचना में, नाभादास का अक्षरशः समर्थन किया है।[3] इससे जान पड़ता है कि ये एक योग्य साधक और महान् पुरुष रहे होंगे तथा इनके द्वारा अपने गुरु के मत का संभवतः बहुत कुछ प्रचार भी हुआ होगा। परन्तु हमें इनका कोई जीवन-वृत्त अभी तक विदित नहीं है, न इनके जीवन-काल के संबंध में ही हमें कुछ भी पता चल पाता है। कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में इनका नाम आने से अनुमान किया जा सकता है कि ये उनके समकालीन अवश्य रहे होंगे। कबीर साहब से इन्होंने कहाँ पर सर्वप्रथम, उपदेश ग्रहण किया होगा तथा किस प्रदेश को इन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया होगा इसका पता इस कारण भी नहीं चलता कि न तो इनकी अभी तक अपनी रचनाएँ मिल सकी हैं, न इनके विषय में किसी ने इस रूप में कहा है जिसके आधार पर इनका कोई ऐतिहासिक परिचय किसी प्रकार प्रस्तुत किया जा सके। कबीर साहब के न्यूनाधिक समसामयिक समझे जाने वाले ऐसे दो पद्मनाभों का पता चलता है जो पश्चिमी भारत के निवासी थे। इनमें से प्रथम पद्मनाभ की 'कान्हडदे प्रबन्ध' नामक एक रचना सं० १५१२ में निर्मित की गई मिली है जो प्रधानतः वीर-रस की कृति जान पड़ती है।[4] इसके आधार पर कबीर-शिष्य पद्मनाभ का परिचय उपलब्ध कर पाने की कोई संभावना नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार इस युग के एक अन्य पद्मनाभ का नाम भी लिया जा सकता है जिन्होंने 'डूँगर बावनी' नाम की एक पुस्तक लिखी है। इसका रचना-काल सं० १५४३

---

१. डॉ० चन्द्रकान्त बाली : पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६० ।
२. 'कबीर कृपातें परमतत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यौ' आदि, छप्पय, ६८।
३. 'कबीर कृपाकौ धारि उर पद्मनाभु परचै भयो' आदि, छप्पय, १८१।
४. शोधपत्रिका, उदयपुर, पौष सं० २००८, पृ० ५१-७२।

बतलाया जाता है और इसके विषय का नीति, व्यावहारिकता तथा आत्म-दर्शन से संबंद्ध होना कहा गया है तथा इसके रचयिता का कोई जैनी होना भी ठहराया जाता है।[१] इस कारण हम इन्हें भी कबीर-शिष्य पद्मनाभ से भिन्न ही मान ले सकते हैं। इसके सिवाय नाभादास की 'भक्तमाल' के एक छप्पय से जान पड़ता है कि स्वामी अनंतानंद के शिष्य कृष्णपयहारी के भी एक शिष्य का नाम पद्मनाभ था[२] जो इसी कारण, कबीर साहब का किसी न किसी रूप में, समसामयिक भी हो सकता है। परंतु इन तीनों में से किसी एक का भी न तो उनके साथ कभी मिलना प्रमाणित है, न उनसे किसी प्रकार प्रभावित होना ही कहा जा सकता है।

पद्मनाभ का परिचय

कबीर-शिष्य पद्मनाभ के लिए कहा गया है कि ये अपने गुरु के साथ काशी में रहा करते थे। उनसे दीक्षित होकर अपनी साधना पूरी कर लेने के अनंतर इन्होंने स्वयं किसी नीलकंठ को दीक्षित किया था। इस प्रकार यदि ये नीलकंठ कहीं वे ही हों जिनका देश-भ्रमण करते-करते गुर्जर देश की ओर चला जाना तथा वहाँ पहुँच कर कहीं रघुनाथ नामक एक व्यक्ति को दीक्षित करना और इसी प्रकार, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा 'रामकबीर-पंथ' तथा 'रविभाण सम्प्रदाय' का भी उधर प्रचार होना प्रमाणित किया जा सके तो, इसके आधार पर हम इनके आविर्भाव-काल का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। रघुनाथ दास के पोता-शिष्य षष्टमदास (षट्प्रज्ञ स्वामी) का हमें जीवन-काल सं० १६६८-१७८६ ज्ञात है।[३] इसके आधार पर यदि हम उनके गुरु यादवदास, दादागुरु रघुनाथ दास तथा उनके भी गुरु नीलकंठ दास के गद्दी-काल की अवधि को मोटे-तौर पर पचीस वर्षों की स्वीकार कर लें।

समस्या तथा समाधान

संत-परंपरा के सभी पंथों वा सम्प्रदायों की गुरु-गद्दियों के महंतों की नाम तालिका नहीं मिलती और जो मिलती है उनमें भी अधिकतर किसी समय का उल्लेख नहीं दीख पड़ता। केवल नानक-पंथ के प्रथम दस गुरुओं के जीवन-काल तथा बावरी-पंथ के अंतिम ९ महंतों का मृत्यु-काल विदित है और प्रामाणिक भी समझा जाता है। इसके सिवाय 'रामसनेही सम्प्रदाय' की 'सिंहथल-खेड़ापा'

---

१. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी भाषा और साहित्य, कलकत्ता, १९६० ई०, पृ० २५२।

२. छप्पय संख्या ३९।

३. कल्याण, गोरखपुर, संत अंक।

शाखा तथा उसकी शाहपुरा वाली शाखा के भी महंतों के समय का कुछ संकेत किया गया मिलता है। इसी प्रकार सत्तनामी सम्प्रदाय की कोटवा शाखा के प्रथम चार महंतों तथा राधास्वामी सत्संग के प्रथम चार संतों के विषय में भी कहा जा सकता है। तदनुसार, यदि केवल इतने उदाहरणों पर तब तक विचार किया जाय तो, हमें पता चलेगा कि नानक-पंथ के अंतिम ६ गुरुओं का गद्दी-काल कुल १७० वर्ष ठहरता है जिसका माध्यम लगभग १६ वर्षों का पड़ता है। इसी प्रकार, 'बावरी-पंथ' के वर्तमान को छोड़ कर शेष अंतिम ७ गुरुओं का गद्दी-काल २१५ व्रर्ष आता है जिसका माध्यम यहाँ पर लगभग ३१ वर्षों का निकलता है। फिर इसी ढंग से उक्त अंतिम ३ सत्तनामी महंतों के कार्य-काल ८२ वर्षों का माध्यम २७ वर्ष के लगभग आता है। 'सत्संग' के भी वर्तमान को छोड़ कर शेष ३ गुरुओं का समय ५६ वर्ष होता है जिसका माध्यम लगभग १६ वर्षों का पड़ता है। परन्तु 'धरनीश्वरी सम्प्रदाय' के विनोदानंद (मृ० सं० १७३१) के अनंतर बाबा रघुपति दास (मृ० सं० १६६०) तक वाले ६ संतों के समय २५६ वर्षों का यदि माध्यम निकालते हैं तो वह ४३ वर्षों के ऊपर तक चला जाता है जो १६ से कहीं अधिक है। किंतु यदि 'राम सनेही-सम्प्रदाय' की 'सिंहथल खेडापा' वाली शाखा के संतों के गद्दी-काल का माध्यम, हरिरामदास (मृ० सं० १८३५) के अनंतर लालदास (मृ० सं० १६८२) तक के ६ महंतों के अनुसार निकालते हैं तो यह कुल १४७ वर्ष की दृष्टि से केवल २४ वर्ष के ही लगभग आता है। उसकी शाहपुरा वाली शाखा के रामचरणदास (मृ० सं० १८५५) के अनंतर, निर्भयराम (मृ० सं० २०१२) तक जोड़ते हैं तो ११ महंतों के कारण यह माध्यम १४ वर्षों तक ही जाता है। अतएव इन ७ विभिन्न उदाहरणों द्वारा हम किसी निश्चित परिणाम तक पहुँचते नहीं जान पड़ते। यदि हम एक बार उपर्युक्त संख्याओं अर्थात् क्रमशः १६, ३१, २७, १६, ४३, २४ तथा १४ का भी माध्यम निकालते हैं तो इसके फल-स्वरूप हमें कोई एक ऐसी संख्या मिलती है जो २५ से कुछ ही अधिक दीख पड़ती है।

पता नहीं इस प्रकार हिसाब लगाने का ढंग कहाँ तक ठीक समझा जा सकेगा, किंतु इतना निश्चित है कि इसकी सहायता से हम किसी अनुमान तक पहुँचने योग्य हो सकते हैं। तदनुसार कह सकते हैं कि २५ वर्षों का समय मान कर चलना अनुचित नहीं है। यहाँ पर एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि रामसनेही सम्प्रदाय की शाहपुरा वाली शाखा के महंतों का औसत गद्दी-काल केवल १४ वर्षों का ही आता है। इसका कोई कारण नहीं समझ पड़ता, न इस संबंध में कहीं कोई बात कही गई ही पायी जाती है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि

पंजाब, राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश वाले अर्थात् पश्चिम के महंतों का कार्य-काल जहाँ अधिक से अधिक २४ से लेकर १४ वर्षों तक आ जाता है वहाँ पूर्व वाले अर्थात् अवध (कोटवा), माँझी (बिहार) तथा भुरकुडा (पूर्वी उत्तरप्रदेश) के महंतों की दशा में यह ४३ से लेकर २४ तक ही रह जाता है।

उक्त दशा में हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पद्मनाभजी का जीवन-काल कहीं विक्रम की १७वीं शताब्दी के मध्यकाल तक जा सकता है जिससे कबीर साहब के युग के साथ उसका पूरा मेल खाता नहीं प्रतीत होता। ऐसा तभी संभव हो सकेगा जब वैसी अवधि को पचीस वर्षों से अधिक की कर दिया जाय। पद्मनाभजी के लिए नाभादास ने कहा है, "पद्मनाभजी रामनाम के मंत्र को 'महानिधि' माना करते थे और नाम को ही सेवा-पूजा भी ठहराते थे। इनके लिए जप, तप, तीर्थ आदि सभी कुछ 'नाम' के ही अंतर्गत आ जाते हैं। इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यही प्रीति है, यही वैर है और नाम ही के द्वारा नामी अभिहित किया जाता है। अजामिल की साक्षी है कि नाम से संसार के बंधन खुल जाते हैं और जैसा हनुमानजी ने कहा है, यह स्वयं रघुनाथ से भी बढ़ कर है। इस कारण नाम संबंधी ऐसी धारणा के दृढ़ीकरण की कृपा द्वारा कबीर साहब ने इन्हें परमतत्त्व का परिचय करा दिया।"[1] तदनुसार इनका 'रामकबीर-पंथ' जैसे किसी धार्मिक वर्ग का मूल प्रवर्त्तक होना सर्वथा स्वाभाविक भी हो सकता है। संभव है कबीर साहब से प्रेरणा प्राप्त कर के इन्होंने राम मंत्र की अमोघ आध्यात्मिक शक्ति का विशेष प्रचार किया हो। उसकी किसी साधना-विशेष के विषय में अनेक व्यक्तियों को दीक्षित भी किया हो जिनमें उपर्युक्त नीलकंठ भी रहे हों। उन्होंने इसके अनुसार उपदेश देते हुए बाहर जाकर किसी ऐसे सम्प्रदाय का संगठन कर दिया हो जो 'रामकबीर-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो। यों तो 'रामकबीर-पंथ' के संबंध में प्रायः इस प्रकार भी कहा जाता है कि इसका प्रवर्त्तन किसी रामकबीर नाम के व्यक्ति ने ही किया था जिसका पूर्व नाम 'रामयश' रहा तथा जिसकी चर्चा यथास्थल आगे की जायगी।

---

१. 'नाम महानिधि मंत्र, नाम ही सेवापूजा।
जप तप तीरथ् नाम, नाम बिन और न दूजा॥
नाम प्रीति नाम वैर, नाम कहि नामी बोलै।
नाम अजामिल साहिब, नाम बंधन ते खोलै॥
नाम अधिक रघुनाथ ते, राम निकट हनुमत कह्यो।
कबीर कृपातें परमतत्त्व, पद्मनाभ परचो लयो॥६८॥"
—नाभादास कृत भक्तमाल।

(५-६) संत तत्त्वा-जीवा : संक्षिप्त परिचय

'तत्त्वा' और 'जीवा' शब्द दो ऐसे व्यक्तियों के नाम सूचित करते हैं जो आपस में भाई-भाई कहे गए हैं । इन दोनों के विषय में नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में कहा है : 'तत्त्वाजी और जीवाजी ये दोनों अमृतमय भक्ति समुद्र के दो दृढ़ तट के समान रहे और इन दोनों की पारस्परिक प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। इनका स्वभाव प्रसिद्ध रघुवंशियों का-जैसा था । दोनों शिष्ट पुरुष थे, धर्म में निरत रहा करते थे, शूरवीर, धीर, उदार और दयालु थे, लोक-व्यवहार में पटु थे, तथा अनन्यव्रती थे । श्री सम्प्रदाय कमल को प्रफुल्लित कर देने वाले दो सूर्यों के समान उदित जान पड़ते थे । ये दोनों ही दक्षिण देश में उत्पन्न हुए थे ।"[१] इनके छप्पयों पर टीका लिखने वाले प्रियादासजी ने बतलाया है कि, "तत्त्वाजी और जीवाजी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, दोनों भाई भाई थे, दोनों का व्रत संतों की सेवा करना था । इन दोनों ने ही किसी गुरु से दीक्षा ग्रहण करने के संबंध में एक प्रण कर लिया था । दोनों ने मिलकर अपने द्वार पर कोई एक शुष्क ठूंठा-सा वृक्ष गाड़ रखा था जिसकी जड़ में ये लोग, वहाँ पर अतिथि रूप में आये संतों का चरणोदक लेकर डाल दिया करते थे । इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि जिस किसी के ऐसे जल से वह लकड़ी हरी-भरी हो जायगी उसी को हम दोनों अपने गुरु के रूप में स्वीकार करेंगे । तदनुसार कबीर साहब के आने पर इन्हें वैसी सफलता मिली ।"[२] परन्तु केवल इतना ही

---

१. "भक्तिसुधाजल समुद भये, वेलावलि गाढ़ी ।
पूरबजा ज्यों रीति प्रीति, उत्तरोत्तर बाढ़ी ॥
रघुकुल सदृश सुभाव, सिष्ट, गुन सदा धर्मरत ।
सूर धीर उदार दयापर, दच्छ अनन्यव्रत ॥
पदम खंड पदमा पधति, प्रफुलित कर सविता उदित ।
तत्त्वाजीवा दछिन देस, वसोद्धर राजत विदित ॥६६॥"—'भक्तमाल'

२. "तत्त्वाजीवा भाई उभै विप्र साधु सेवापन, मनधरी बात ताते शिष्य नहीं भये हैं ।
गाड्यो एक ठूंठ डार, होयहो हरी डार, संत चरणामृत को लेके डारि नये हैं ।
जबही हरित देखैं, ताको गुरु करि लेखै, आये श्री कबीर पूजि आस पाँव लये हैं ।
नीठ नीठ नाम दियो दियो परिचाय धाम, काम कोऊ होय जो वै आवो कहि गये हैं ॥३१२॥" वही ।

उल्लेख कर देने से हमें यह नहीं पता चल पाता कि इनका और जीवन-वृत्त क्या रहा होगा। इनका परिचय देते समय अन्यत्र यह भी कहा गया है कि ये दोनों गुजरात प्रांत में नर्मदा नदी के तट पर वर्तमान शुक्लतीर्थ नामक तीर्थ-स्थान के सामने दूसरे तट पर बसे हुए किसी ग्राम के निवासी औदीच्च ब्राह्मण थे। वहाँ पर कबीर साहब के जाने तथा उपर्युक्त घटना के संपन्न होने और सूखे ठूंठे काठ के 'कबीर वट' के रूप में परिणत हो जाने आदि को सूचित करने वाले किसी शिलालेख का भी उल्लेख किया गया मिलता है। वह कदाचित्, वहीं पर विद्यमान है तथा जिसमें सं० १४६५ का समय भी उल्लिखित है। कहते हैं कि उक्त कबीर वट के निकट बराबर प्रत्येक कार्त्तिकी पूर्णिमा को एक मेला लगा करता है तथा वहाँ पर कबीर साहब की एक मूर्ति भी है।[1]

आविर्भाव-काल

इस प्रकार यदि उक्त शिलालेख वास्तव में, तत्त्वा-जीवा वाली घटना का ही स्मारक है उस दशा में वह बड़े महत्त्व का है। वह न केवल तत्त्वा-जीवा के जीवन-काल पर प्रकाश डालता है, अपितु वह इस बात की ओर भी संकेत करता है कि कबीर साहब ने किस समय उधर की ओर देश-भ्रमण किया था तथा उन्होंने किस प्रकार अपने मत का प्रचार भी किया होगा। 'कबीर वट' का तो वहाँ पर आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान रहना कहा जाता है, किंतु उक्त शिलालेख का यथेष्ट विवरण नहीं मिलता। इसके सिवाय न तो अभी तक हमें तत्त्वा-जीवा की किसी रचना का पता चला है, न यही जान पड़ता है कि उनकी विचार-धारा क्या थी। नाभादास के छप्पय से हमें ऐसा लगता है कि ये लोग स्वामी रामानुजाचार्य के श्रीसम्प्रदाय (पदमापधति) के अनुयायी रहे होंगे। किंतु कबीर साहब से संबद्ध उपर्युक्त घटना के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इन्होंने पीछे उनका भी अनुगमन स्वीकार कर लिया होगा। कुछ लोग यहाँ तक भी अनुमान करते हैं कि इन दोनों में से तत्त्वाजी वा जीवाजी ने वर्तमान फतुहामठ (जिला पटना,

---

१. "गुर्जरे शुक्लतीर्थस्थावौदीच्य कुलसम्भवौ ।
तत्वाजीवेति नामावावास्तां सहोदरा वुभौ ॥१॥"
वट्टवकेषु व्यतीतेषु, साध महान् वटोऽभवत् ।
ख्यातोउसयो माशाखी, 'कबीर वट' नामतः ॥१२२॥"
"वाणरसश्रुतीन्द्वब्दे, समागतोऽत्र सद्गुरुः ।
इति तत्रशिलालेखा प्रत्कीर्तिः सूच्यतेऽधुना ॥११४॥"
—सद्गुरु श्रीकबीर चरितम् ।

बिहार) का सर्वप्रथम प्रवर्तन किया होगा जिसकी कुछ पुष्टि वहाँ के २२ महंतों के कालानुसार भी की जा सकती है।

(७) संत ज्ञानीजी

कबीर शिष्य ज्ञानी जी

संत ज्ञानीजी के विषय में राघोदास की 'भक्तमाल' के अंतर्गत कहा गया मिलता है कि ये कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में थे। इनके लिए उन्होंने एक पृथक् छप्पय भी लिखा है जिसमें बतलाया गया है, "इन्होंने कबीर साहब से ज्ञान प्राप्त करके परमार्थ के प्रचार के उद्देश्य से पश्चिम दिशा में जाकर उपदेश दिये थे। ये भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य में सर्वोपरि थे। इन्हें काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मात्सर्य इनमें से कुछ भी नहीं था, प्रत्युत धर्म, शील, संतोष, दया और दीक्षा के गुण इनमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। इनमें रत्ती भर भी अभिमान नहीं था, न क्रोध ही था।"[1] परन्तु इनके संबंध में अन्यत्र प्रायः कुछ भी कहा गया नहीं मिलता, न इनकी उपलब्ध पंक्तियों द्वारा ही हमें यथेष्ट संकेत मिलता है। अपनी 'सबदियों' में इन्होंने केवल इतना कहा है, "मुझ ज्ञानी का गुरु कबीर इस प्रकार कहता है"[2] तथा "सद्गुरु कबीर के मिल जाने पर 'जनज्ञानी' का संदेह दूर हो गया।"[3] इन्होंने इस बात को इस प्रकार भी कहा है, "सद्गुरु ने मुझे यह सुझा दिया कि 'शब्द' का रहस्य जान लेना वास्तविक परीक्षा का आधार है जिसके अनुसार मैंने सभी संतों के मतों का सारतत्त्व ग्रहण कर लिया। इस प्रकार निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर लेते ही मेरे भ्रम का अंधकार मिट गया और मेरे भीतर सूर्य का-जैसा प्रकाश हो गया।"[4] इनके जीवन-काल की तिथियों अथवा इनके जन्म-स्थानादि का कुछ

---

१. "श्री कबीर साहेब पै ग्यानी पायो ग्यान को।
पच्छिम दिसि उपदेश कियौ, परमारथ कीजै।
भक्ति ग्यान वैराग सहित सर्वोपरि राजै।
काम क्रोध, मद, लोभ, मोह मच्छर नहि काई।
धरम, सील, संतोष दया दीनता सुहाई॥
राधो रोस रतीनउर, दूर कियो अभिमानको।" श्री कबीर आदि, छप्पय ३५५।

२. "ग्यानी का गुरु कहे कबीरा"—सबदी ३

३. "वटक बीज की माँझ में देखि भया मन भौर।
जय ग्यानी का संसा मिटैया, सतगुरु मिल्या कबीर॥"—हस्तलिखित प्रति

४. "सबद परिख की परिषा होई। ऐसा जो जन उघरे सोई॥
सतगुर मिलि मोह दिया विचार, सर्व संत का लीया सार॥

भी पता नहीं चलता, न इनके किसी जीवन-वृत्त का ही कोई प्रामाणिक विवरण अभी तक उपलब्ध हो सका है। इनके केवल कबीर-शिष्य कहे जाने के ही नाते, अनुमान किया जा सकता है कि इनका आविर्भाव-काल किसी समय विक्रमी संवत् की १६वीं शताब्दी के अंतर्गत अथवा इसके आस-पास रहा होगा।

प्रारंभिक जीवन और समाधि

संत ज्ञानीजी के लिए कहा जाता है कि जब कबीर साहब तत्त्वा-जीवा के यहाँ, नर्मदा तट पर शुक्ल तीर्थ में गये हुए थे, उस समय उनके विषय में लोगों के मुख से प्रशंसात्मक बातें सुन कर इन्होंने वहाँ पर उनसे भेंट की तथा ये उनसे प्रभावित भी हुए। इनका उसके पहले किसी 'खोजीजी' का शिष्य रहना भी कहा गया है।[1] ये खोजीजी कौन थे इस बात की ओर कोई संकेत किया गया नहीं पाया जाता। किंतु ये यदि वे ही भक्त खोजी हों जिनकी चर्चा नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' (छप्पय ६७)[2] में की है, उस दशा में इनका भी कबीर साहब का समकालीन ठहरना कोई असंभव बात न होगी। उसकी एक इधर की गई टीका में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख तक कर दिया गया मिलता है कि उनसे इनकी भेंट भी हुई थी।[3] कहते हैं कि ज्ञानीजी ने कबीर साहब के साथ सत्संग कर लेने पर उनसे भी दीक्षा ग्रहण कर ली और ये तभी से उनके शिष्य हुए। प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने इन्हें वहाँ पर 'कबीर वट' के निकट "विहंगम मार्ग" का उपदेश दिया तथा इनसे यह भी कह दिया कि तुम्हारा कोई सम्प्रदाय चलेगा। तदनुसार उन्हें इन्होंने स्वयं 'रम' का ही स्वरूप मान कर पीछे 'राम-कबीर' शब्द का उच्चारण करना आरंभ कर दिया।

कहै ग्यानी यह निर्मल ग्यान, मिटि गया तिमिर उदै भया भान।"
—हस्तलिखित प्रति से।

१. सद्‌गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० २५१-२। इस संबंध में हमें यह भी पता चलता है कि ज्ञानी जी का जन्म, वास्तव में जेसलमीर के किसी 'भाटीक' वंश वाले राजपूत के घर हुआ था। इन्होंने अपने गुरु खोजी जी के प्रभाव में आकर अपना राजकाज छोड़ दिया था। उनके साथ भ्रमण करते हुए ये गुजरात प्रदेश के 'कानम' जिले की ओर चले आये थे। दे० "जेसल-मेर वाहीतरे, भाटीक कुल राजपूत। गुर्जर देश पावन कियो, ग्यानी ग्यान अवधूत॥ उ० ध० भं० सागर, पृ० १२।—लेखक।

२. दे० "जती, राम रावल, स्याम, खोजी, संत सीहा" आदि।

३. नाभाजी कृत श्री भक्तमाल, 'भक्तिरस बोधिनी टीका' तथा 'भक्ति रसायनी व्याख्या' सहित, श्री वृंदावन, सन् १९६० ई०, पृ० ६१५।

इसके आधार पर इस नाम से 'रामकबीर-पंथ' की स्थापना हो गई तथा इनके शिष्य गोपालदास तथा प्रशिष्य जीवनदास ने उसका प्रचार किया। कहते हैं कि संत ज्ञानीजी की समाधि नर्मदा नदी के दक्षिण तट पर बसे हुए किसी 'साजापुर' ग्राम में आज तक भी वर्तमान चली आती है[१]। इस प्रकार, यदि इन संत ज्ञानीजी तथा उपर्युक्त सबदियों आदि के रचयिता ज्ञानीजी को एक और अभिन्न सिद्ध किया जा सके, उस दशा में हम कह सकते हैं कि कबीर-शिष्य ज्ञानीजी अमुक प्रदेश के निवासी तथा अमुक प्रकार के पंथ-प्रवर्त्तक भी रहे होंगे।

संत ज्ञानीजी की रचनाएँ

इधर की खोज-संबंधी सूचनाओं द्वारा संत ज्ञानीजी की एक रचना 'शब्द पारखी' का पता चला है।[२] इनकी एक अन्य पुस्तक 'ब्रह्मस्तुति' का भी उल्लेख किया गया है, किंतु उसकी प्रति का खंडित होना भी बतलाया गया है। इसी प्रकार 'ज्ञानीजी की साखी' नाम का भी कोई एक ग्रंथ मिला है जिसमें इनकी विविध साखियाँ संगृहीत है।"[३] इनकी तीस सबदियों का पता विभिन्न संतों के बानी-संग्रहों से भी चलता है जिन्हें प्रकाशित कर दिया गया है।[४] परन्तु इस सामग्री की छानबीन करने पर जान पड़ता है कि ये सबदियाँ, संभवतः उक्त 'शब्द पारखी' ग्रंथ से ही लेकर संग्रह-ग्रंथों में समाविष्ट कर ली गई होंगी। क्योंकि इनका जो पाठ हमें उक्त खोज-संबंधी सूचनाओं में मिलता है वह इनके पाठ से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होता। परन्तु 'ज्ञानीजी की साखी' का उल्लेख करते समय उसके रचयिता का नाम वहाँ पर 'जसवंत (संभवतः ज्ञानी)'—जैसा दिया गया दीख पड़ता है। उसमें से उद्धृत की गई पंक्तियों में से कुछ में 'ज्ञानी' की जगह 'जसवंत' नाम भी पाया जाता है। उसकी एक साखी से तो हमें ऐसा भी लगता है कि 'ज्ञानी' तथा 'जसवंत' दोनों एक ही व्यक्ति के नाम न होकर किन्हीं दो भिन्न-भिन्न कवियों के भी हो सकते हैं। 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग वहाँ पर किसी 'मिथ्या ज्ञानी' के लिए भी किया गया हो सकता है।[५] इसी प्रकार, यदि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के सूचक हों तो,

१. 'सदगुरु श्री कबीर चरितम्', पृ० २५४।

२. हस्तलिखित हिंदी-ग्रंथों की खोज संबंधी त्रयोदश त्रैवार्षिक रिपोर्ट, सन् १९२६-२८ ई०, सं० २०१०, पृ० ३४२-३, काशी ना० प्र० सभा।

३. वही, सं० १००वीं।

४. 'संतवाणी' पृ० १०-१ में डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग का 'ज्ञानी' और उनकी सबदियाँ' शीर्षक लेख।

५. 'जसवंत को चित चल्यो, सुनि ग्यानी को ग्यान।
रहनी करनी तिल भर नहीं, कथनी मेरु समान।'

'जसवंत' शब्द ज्ञानी के पूर्व नाम के रूप में व्यवहृत किया गया भी हो सकता है। यदि ये दोनों किन्हीं दो व्यक्तियों की ओर निर्देश करते हों, उस दशा में यह भी संभव है कि यह (जसवंत) शब्द इनके किसी शिष्य का इनके द्वारा प्रभावित व्यक्ति को सूचित करता हो। उसने इनकी साखियों को संगृहीत करते समय इनकी ऐसी रचनाओं के साथ अपनी कुछ कृतियों को भी मिला दिया हो। उपर्युक्त तीसरी रचना 'ब्रह्मस्तुति' के अधूरी पाये जाने तथा उसके कोई उद्धरण न मिल सकने के भी कारण, उस पर कोई विचार प्रकट नहीं किया जा सकता। ज्ञानीजी के ग्रंथ 'शब्द पारखी' के प्राप्त अंशों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें प्रधानतः गुरु, जोगी, मुनि, संन्यासी, जंगम, पंडित, ब्राह्मण, हिन्दू, शेख, मुसलमान, मुल्ला, पीर, सैयद, गृही, भक्त, दास, मुक्त, स्वामी, दास, सेवक, वैरागी, जैनी, जिंद, ग्यानी, नागा आदि जैसे शब्दों द्वारा सूचित किये जाने वाले विविध प्रकार के आदर्श रूपों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए गुरु के विषय में ज्ञानीजी ने कहा है, "जो अलख का अनुभव स्वयं कर ले, शब्द का विचार करे, अपनी ही भाँति औरों को भी मुक्त कर देने में समर्थ हो, पक्षपात रहित हो, लोक-वेद के प्रतिकूल भी चल सके तथा आत्मचिंतन में लीन रहे वही मेरा गुरु है।"[1] इसी प्रकार जोगी, जंगम, शेख आदि के विषय में भी जो यहाँ पर कहा गया है वह भी अधिकतर उसी रूप में मिलता है जिसमें कबीर साहब ने प्रकट किया है। 'ज्ञानीजी की साखी' ग्रंथ से उद्धृत रचनाओं से पता चलता है कि उनका भी निर्माता प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करता है जो कबीर साहब आदि संतों के यहाँ पायी जाती हैं तथा उसकी कथन-शैली भी उनसे किसी प्रकार भिन्न नहीं ठहरायी जा सकती।

---

१. "अदेष देषै शब्द विचारै। आप तरै औरनकूं तारै॥
पषा पषी की पष न झालै। लोकवेद से उलटा चालै।
आतम तत का करै बिचारा। कहै ग्यानी सो गुरू हमारा'—रिपोर्ट, पृ० ३४२।

२. "गहवर वन में ढूँढ़िया, ढूँढ़या देस विदेस।
ग्यानी राम न पाइया, बिन सतगुर उपदेस॥
पाप ताप सब कल्पना, सतसंगति ते जाय।
ग्यानी दुख सहजे मिटे, सुख में रहे समाय॥
ना हरि बैकुंठ में बसै, ना कहुँ जोगी माँहि।
ग्यानी हरिजन जहाँ हरि, दूजा ठाम जो नाँहि॥'

—साधु महातम।

(८) संत जागूदास : प्रारंभिक जीवन

कबीर-शिष्य जागूदास का जागोदास के लिए प्रसिद्ध है कि इनका जन्म किसी उत्कल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे वर्तमान उड़ीसा प्रांत के कटक नगर में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम जगरदत्त था तथा इनकी माता कमलेश्वरी कही जाती थी। इनका जन्म संवत् १५३८ विक्रमी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि शिशु-काल में ये अधिक रोया भी करते थे। इस कारण इनके माता-पिता ने इन्हें काशीपुरी के निकट 'बनकटा' जंगल में लाकर कबीर साहब को अर्पित कर दिया।[1] परन्तु एक अन्य मत के अनुसार इन्हें इनके माता-पिता ने वहीं कटक में ही कबीर साहब को दे दिया था जहाँ वे घूमते-घामते आये थे। इसके अनंतर ये कुछ दिनों तक कोई कुटी बना कर वहाँ निवास भी करते रहे। फिर कुछ साधना कर लेने के अनंतर ये पीछे बिहार प्रांत की ओर निकल पड़े, जहाँ पर इन्होंने राज-नगर नामक किसी ग्राम से कुछ दूरी पर 'अंधरागढ़ी' कहे जानेवाले स्थान में रहना आरंभ किया। वहाँ पर इनके लिए वहाँ की रानी ने एक भवन भी बनवा दिया। कहते हैं कि जागूदास ने फिर अपने उस निवास-स्थान का भी त्याग कर दिया। वहाँ पर अपने किसी शिष्य को बिठला कर ये स्वयं किसी बसंतपुर नामक ग्राम में चले आये जो वर्तमान समस्तीपुर नगर से प्रायः ७ कोस की दूरी पर विद्यमान है। इस स्थान के निकट भी उक्त रानी की ओर से इनके लिए कुछ भूमि का प्रबंध कर दिया गया जो आज तक सुरक्षित है। परन्तु कहते हैं कि जागूदास फिर वहाँ पर भी अधिक काल तक नहीं ठहर सके। ये अंत में बिद्दूपुर आ गए। बिद्दूपुर चले आने के अनंतर इनका वहीं पर देहांत हो जाना भी बतलाया जाता है, किंतु इनके इस मृत्यु-काल का कोई निश्चित समय ज्ञात नहीं है।[2]

इनके कबीर साहब द्वारा काशीपुरी के निकट दीक्षित होने का समय सं० १५४५ दिया गया मिलता है जिससे पता चलता है कि इनकी अवस्था उस समय केवल ७ वर्ष की ही रही होगी। इसके उपरांत इनका वहाँ पर उनके द्वारा ध्यान मार्ग की साधना में नियुक्त किया जाना भी बतलाया जाता है। इसके लिए कोई अन्य प्रमाण भी अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसके सिवाय हमें अभी तक यह भी ज्ञात नहीं कि कबीर साहब की उपर्युक्त उत्कल-यात्रा किस समय हुई थी। इस कारण, वर्तमान सामग्री के आधार पर यह निश्चय किया जाना संभव नहीं कि इन दोनों

---

१. सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४१४-५।

२. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन।

की प्रथम भेंट वस्तुतः कहाँ पर हुई होगी। यदि कबीर साहब का निधन-काल सं० १५०५ स्वीकार किया जाय उस दशा में उक्त सं० १५४५ में इनका उनके द्वारा दीक्षित किया जाना कभी संभव नहीं कहला सकता, न तब इनके उक्त जन्म काल सं० १५३८ को ही तर्क-संगत समझा जा सकता है। कहते हैं कि जागूदास को बिद्‌दूपुर के मठ वाले तथा बनकटा वा शिवपुर के मठवाले दोनों ही अपने अपने पंथ का मूल प्रवर्त्तक स्वीकार करते हैं। किंतु इसके साथ ही अपने स्थान को प्रधान तथा दूसरे को उसकी शाखा भी ठहराया करते हैं। ये लोग इसके लिए कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर पाते जिसके आधार पर इसका निर्णय किया जा सके। उसी के प्रसंग में इस बात का भी निश्चय किया जा सके कि उन दोनों मठों में से प्रथम की स्थापना कब हुई होगी। केवल बिद्‌दूपुर वाले मठ के गद्दीधारियों की उपलब्ध नामावली से प्रकट होता है कि उसके स्थापना-काल से जागूदास को लेकर १७ महंत हो चुके हैं जहाँ शिवपुर के मठ में कोई ऐसी तालिका सुरक्षित नहीं कही जाती।[1] अतएव, यदि बिद्‌दूपुर वाली सूची के अनुसार विचार किया जाय तथा प्रत्येक महंत के गद्दी-काल की औसत २५ वर्ष का मान ली जाय, उस दशा में कहा जा सकता है कि इसकी स्थापना कहीं १६वीं विक्रमी शताब्दी के मध्यकाल के लगभग हुई होगी। यह घटना, संभवतः उसके पहले भी हो सकती है जिस दशा में जागूदास का जन्म-काल सं० १५३८ न होकर कभी और भी पहले चला सकता है। वैसी दशा में, हमारा उन्हें कबीर-शिष्य कहना अधिक ठीक भी माना जा सकेगा।

(९) संत भागोदास : संक्षिप्त परिचय

कबीर-शिष्य कहे जाने वाले संत भागोदास को कभी-कभी 'भागूदास' नाम द्वारा भी अभिहित किया जाता है। कहा जाता है कि ये संत जागूदास के सहोदर भाई थे। कबीर साहब का देहांत हो जाने पर जब उनके ग्रंथ 'बीजक' को अपनाने के विषय में दोनों के बीच कोई झगड़ा खड़ा हुआ तो इन दोनों की माता ने उस पुस्तक में किंचित् पाठभेद करके निपटारा किया था। परन्तु ऐसी किसी घटना

---

१. १. जागूदास, २. मथुरादास, ३. गर्बूदास, ४. वल्लभदास, ५. प्रेमदास ६. धरणीदास, ७. हरिदास, ८. हाथीदास, ९. प्रियतम दास, १०. प्रेमदास, ११. संतोषदास, १२. मनसादास, १३. गरीबदास, १४. सुखराम दास, १५. मूनमकदास, १६. अमृतदास और श्री रामलखन दास। —कबीर और कबीरपंथ : तुलनात्मक अध्ययन।

की प्रामाणिकता का समर्थन अन्य प्रकार से होता नहीं जान पड़ता जिस कारण इसका कोई महत्त्व नहीं है। संत भागोदास का एक अन्य नाम 'भगवान् गोसाईं' भी प्रसिद्ध है कहा जाता है कि ये पहले किसी हरिव्यासी भक्त के शिष्य थे।[1] किंतु जब इन्हें उस दशा में पूरी शांति मिलती नहीं प्रतीत हुई तो ये कबीर साहब के शरणापन्न हो गए। गोसाईं नाम के अंत में 'गोसाईं' (गोस्वामी) शब्द जुड़े रहने के कारण तथा इनके अनुयायियों की वेशभूषा में कतिपय निंबार्क सम्प्रदायानुमोदित तिलकादि के पाये जाने के कारण भी, इस मत की पुष्टि होती कही जाती है, किंतु केवल इतना यथेष्ट नहीं जान पड़ता। कहा जाता है कि कबीर साहब का शिष्यत्व ग्रहण कर लेने के अनंतर ये प्रायः उन्हीं के साथ रहा करते थे। इस प्रकार, समय-समय पर उनके मुख से निकलने वाले शब्दों अथवा उपदेशों को लिपिबद्ध भी कर लिया करते थे। फलतः उनका देहांत हो जाने के अनंतर इन्होंने वैसी बानियों को संगृहीत करके एक पृथक् 'गुटका' तैयार किया जिसे कुछ लोगों ने वर्तमान 'कबीर बीजक' ग्रंथ का मूल रूप तक ठहराया है। कहा गया है कि पीछे उसमें केवल कुछ ही वृद्धि की गई है। प्रसिद्धि तो यहाँ तक भी है कि उक्त गुटके को भागोदास ने कहीं दूर ले जाकर उसे छिपा रखा था जो पीछे प्राप्त किया जा सका। महर्षि शिवव्रतलाल के अनुसार भागोदास ने उक्त गुटके में 'छ सौ वचन मुंतखिब करके' उसे तैयार किया था।[2]

आविर्भाव-काल

संत भागोदास को कुछ लोगों ने अपने जन्म से अहीर जाति का होना भी कहा है और बतलाया है कि ये मूलतः पिशौराबाद (बुंदेलखंड) के निवासी थे फिर पीछे बिहार की ओर चले आये थे। ऐसे लोगों का यह भी कहना है कि ये समय के लिए बांधोगढ़ भी चले गये थे जहाँ पर धर्मदास ने इनके 'गुटके' को इनसे लेना चाहा। किंतु इन्होंने उन्हें उसे देना स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उसे लेकर ये बिहार की ओर चले आये। इधर आ जाने पर इन्होंने अपने अनुयायियों का संगठन करके एक नया पंथ चलाने का यत्न किया जो आजकल 'कबीर-पंथ' की 'भगताही शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसकी स्थापना पहले पहल दानापुर में हुई और जो पीछे धनौती में जाकर अधिक प्रचलित हुई। परन्तु इस प्रकार की जनश्रुतियों के आधार पर इनके जीवन-काल को निर्धारित करने में हमें कोई सहायता नहीं मिलती, न हमें यही जान पड़ता है कि इनका वास्तविक जन्म-स्थान कौन-सा

१. सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४०६।

२. कबीर और कबीर पंथ, संत समागम, पृ० २१-२।

रहा होगा तथा इनके माता-पितादि कौन रहे होंगे। इनके जीवन-वृत्त की कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर इससे कोई भी स्पष्ट प्रकाश पड़ता नहीं प्रतीत होता, न केवल इतने मात्र से ही हम इनके व्यक्तित्व अथवा विचार-धारा का ही कोई मूल्यांकन कर पाते हैं। जनश्रुति इन्हें कभी-कभी धर्मदास के १७५ वर्ष पीछे तक ले जाती हुई भी जान पड़ती है जिससे इनका कबीर-शिष्य होना तक संदिग्ध बन जाता है। परन्तु इस प्रकार का कथन हमें निर्मूल-सा लगने लगता है, जब हम इनके द्वारा स्थापित की गई उक्त 'भगताही शाखा' के गद्दीधारी महंतों की तालिका पर विचार करते हैं। जब हमें 'भक्तिपुष्पांजलि' के अंतर्गत लिखित उनकी सूची के आधार पर पता चलता है कि 'भागोदास' से लेकर आज तक उनकी संख्या २० तक पहुँच गई है।[1] अतएव, उस दशा में हमें यह अनुमान कर लेने की प्रवृत्ति होती है और हम इस निष्कर्ष तक भी पहुँच जाते हैं कि इनका समय संभवतः सं० १५५० के लगभग रहा होगा जिसकी ओर हम अभी जागूदास के संबंध में भी संकेत कर चुके हैं।

(१०) संत सुरत गोपाल : उपलब्ध परिचय

संत सुरतगोपाल के लिए कहा गया है कि इनका पूर्व नाम 'सर्वाजीत' रहा और ये एक महान् पंडित भी थे। कबीर साहब से शास्त्रार्थ में हार कर इन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार ली और तब से इनके नाम में इस प्रकार का परिवर्तन आ गया।[2] परन्तु यह सुरतगोपाल अथवा श्रुतिगोपाल ही नाम इन्हें क्यों दिया गया दूसरा कोई नहीं दिया जा सका इस बात का प्रत्यक्ष समाधान हमारे देखने में नहीं होता, न इसके संबंध में किये गए किसी अनुमान से ही हमें पूरा बोध हो पाता है। कहते हैं कि 'सर्वाजीत' नाम भी इनकी कोई पदवी मात्र ही थी और इनका वास्तविक नाम 'सर्वानंद' था। ये काशी के रहनेवाले थे और यहीं से अपने धर्मशास्त्रादि ग्रंथों को बैल पर लाद कर ये सब कहीं बाहर गये थे। सर्वत्र शास्त्रार्थ में पंडितों को परास्त कर इन्होंने 'सर्वाजीत' कहलाना आरंभ

---

१. भगवान् गोस्वामी, २. घनश्याम, ३. उद्धोरण, ४. श्रीदमन, ५. गुणाकर, ६. गणेश, ७. कोकिल, ८. वनवारी, ९. श्री नयन, १०, भीष्म, ११. भूपाल, १२. परमेश्वर, १३. गुणपाल, १४. शेषमणि, १५. जयमन, १६. हरिनाम, १७. स्वरूप, १८. रामरूप, १९. रामनंदन तथा २०. रामधारी।—कबीर और कबीर पंथ।

२. हरिशरण गोस्वामी के ग्रंथ भक्ति पुष्पांजलि, पृ० ५ के आधार पर 'कबीर और कबीर पंथ', पृ० ६० पर लिखित मत।

किया था और तत्पश्चात् अपनी माता के परामर्श से ये कबीर साहब के यहाँ गये थे तथा वहाँ पर उनके द्वारा इन्हें अपनी हार माननी पड़ी थी।[1] इस प्रकार के कथनों में जो कुछ भी अंश तथा तथ्य का रहा हो अथवा न भी रहा हो,इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये एक दक्षिणात्य ब्राह्मण थे। कबीर साहब का शिष्यत्व ग्रहण कर लेने तथा उनका पूर्णरूपेण अनुयायी बन जाने के अनंतर इन्होंने काशी में वर्तमान कबीर-पंथ की 'कबीरचौरा' नामक शाखा की स्थापना करके उनके मत का प्रचार करने की चेष्टा की थी। तदनुसार कहा जा सकता है कि ये कबीर साहब के समसामयिक अवश्य रहे होंगे तथा अधिक से अधिक उनका देहांत हो जाने के अनंतर इन्होंने काशी में अपनी गद्दी स्थापित की होगी अथवा इस प्रकार का कोई संगठन किया होगा। परन्तु इस प्रकार के किसी भी अनुमान की पुष्टि में हमारे पास यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आविर्भाव-काल

संत सुरतगोपाल के आविर्भाव-काल का अनुमान इनकी कही जानेवाली रचना 'अमर सुखनिधान' के आधार पर किया जाता है। कहा जाता है कि उसका रचना-काल सं० १७८६ : सन् १७२९ ई० रहा होगा। इसके संबंध में बतलाया गया है कि उस पुस्तक की भाषा १५० वर्षों से इधर की नहीं है। परन्तु डॉ० की का कथन है कि उक्त ग्रंथ के रचयिता का सुरत गोपाल होना संभव नहीं है, क्योंकि ये उक्त काल से पूर्व रह चुके होंगे।[2] उनके ऐसे अनुमान का समर्थन इस बात से भी होता प्रतीत होता है कि जिस 'कबीर चौरा' गद्दी की स्थापना इनके द्वारा की गई कही जाती है उसके महंतों वाले नामों की संख्या से इस बात का बहुत कुछ मेल खा जाता है। रे० वेस्टकाट ने तो इस शाखा की गुरु-परंपरा की तालिका में सुरतगोपाल का नाम-क्रम से चौथा दिया है और किसी श्यामदास को सर्वप्रथम रखा है। इनकी गद्दी का भी होना वे सं० १६१६ : सन् १५५९ ई० में बतलाते हैं और इनकी समाधि का समय सं० १६५१ : सन् १५९४ ई० देते हैं।[3] परन्तु उनकी ऐसी तालिका का निर्माण किसी वैरागी के आधार पर किया गया कहा गया है और यह परंपरा विरुद्ध भी ठहरता है। इसके विपरीत कबीर-पंथी ग्रंथ 'गुरु महात्म्य' से पता चलता है कि 'कबीर चौरा' द्वारा स्वीकृत गुरु-परंपरा के अनुसार कबीर साहब के अनंतर प्रथम नाम

१. सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ३८४-४०९।
२. कबीर ऐंड हिज फालोवर्स, पृ० ११३।
३. कबीर ऐंड दि कबीर पंथ, पृ० ९२।

सुरतगोपाल का ही आना चाहिए जिस कारण श्यामदास का नाम उसके अनंतर तीसरा पड़ जाता है।[1] इस दूसरी नाम सूची के विचार से कबीर साहब के अतिरिक्त, २०वें गुरु रामविलासदास सिद्ध होते हैं जो अभी वर्तमान हैं। अतएव, यदि हम कबीर साहब का मृत्यु-काल सं० १५०५ स्वीकार करते हैं, उस दशा में उनके अनंतर इधर लगभग ५०० वर्षों का समय हो जाता है और प्रत्येक गुरु के गद्दी-काल का माध्यम २५ वर्ष मान लेने पर उक्त संख्या प्रायः ठीक हो जाती है।

(११) संत धर्मदास : आविर्भाव काल

कबीर-शिष्यों में संत धर्मदास को प्रायः सर्वप्रमुख मानने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर इनके लिए उनका ठीक सम-सामयिक होना तक भी सिद्ध होता नहीं जान पड़ता। संत धर्मदास द्वारा स्थापित कहे जाने वाले कबीर-पंथ अथवा वस्तुतः उसकी 'छत्तीसगढ़ी' शाखा की गुरु-परंपरा वाली तालिका पर यदि विचार करते हैं और यहाँ पर भी हम पूर्ववत् प्रत्येक गुरु के गद्दी-काल का औसतन २५ वर्ष होना स्वीकार कर लेते हैं, तो, इनका आविर्भाव-काल विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के द्वितीय वा प्रथम चरण तक आता है[2]। अतएव इस प्रकार देखने पर इनका कबीर साहब (मृ० सं० १५०५) का गुरुमुख शिष्य होना संभव नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रसिद्ध है तथा इस बात का समर्थन कबीर-पंथ के अनेक प्रसिद्ध ग्रंथों द्वारा भी किया जा सकता है कि ये अपने प्रारंभिक जीवन में जिस समय में बांधोगढ़ से मथुरा-वृंदावन की ओर तीर्थ-यात्रा करने गये थे, इन्हें कवीर साहब के प्रथम दर्शन हुए थे और फिर दूसरी बार इन्होंने उन्हें काशी में भी देखा था। अंत में फिर कबीर सहाब ने इन्हें बांधोगढ़ जाकर भी कृतार्थ किया था। इनका आतिथ्य ग्रहण करके

---

१. १. कबीर, २. सुरतगोपाल, ३. ज्ञानदास, ४. श्यामदास, ५. लालदास, ६. हरिदास, ७. सीतलदास, ८. सुखदास, ९. हुलास दास, १०. माधोदास, ११. कोकिलदास, १२. रामदास, १३. महादास, १४. हरिदास, १५. शरण-दास, १६. पूरनदास, १७. निर्मलदास, १८. रंगीदास, १९. गुरुप्रसाद, २०. प्रेमदास और २१. रामविलास दास।—गुरु माहात्म्य, पृ० १-२।

२. १. धर्मदास, २. चूड़ामणि नाम, ३. सुदर्शन नाम, ४. कुलपति नाम, ५. प्रबोध नाम, ६. केवल नाम, ७. अमोल नाम, ८. सुरतसनेही नाम, ९. हक्क नाम, १०. पाक नाम, ११. प्रगट नाम, १२. धीरज नाम, १३. उग्रनाम, १४. दया-नाम और १५. काशीदास।

उन्होंने इन्हें उपदेश भी दिये थे जिससे स्वभावतः हमारी ऐसी धारणा होने लगती है कि इन्होंने उन्हें जीते-जागते शरीरधारी के रूप में देखा होगा तथा उनसे आशीर्वाद लिया होगा। परन्तु कबीर-पंथ के ही एकाध ग्रंथों की पंक्तियों को पढ़ने पर हमें इस बात को तथ्यवत् स्वीकार करने में हिचक भी होती है। उदाहरण के लिए जब हम देखते हैं कि 'अमरसुखनिधान' में कबीर साहब का इनसे 'जिंद' रूप में ही मिलना कहा गया[1] है तथा स्वयं इनकी भी रचना में उनका इनके साथ 'विदेही' बन कर मिलना और अपना 'झीना दरस' दिखाना ही बतलाया गया है[2] तो, हमें इस बात में सन्देह करने का आधार मिल जाता है। हम कभी-कभी इस प्रकार का अनुमान तक करने लग जाते हैं कि संत धर्मदास और संत कबीर साहब का भी मिलन कदाचित् वैसा ही रहा हो जैसा संत चरणदास तथा शुकदेव मुनि का था अथवा जैसा यह संत गरीबदास और स्वयं कबीर साहब के संबंध में भी लिखा हुआ पाया जाता है।[3] इसके सिवाय बिहार वाले संत दरिया साहब की रचना 'ज्ञानदीपक' से तो यहाँ तक भी स्पष्ट हो जाता है कि कबीर साहब ने दो सौ वर्ष अनंतर स्वयं धर्मदास के रूप में पुनः जन्म ग्रहण किया था, कंठी तोड़ कर फेंक दी थी तथा एक नवीन पंथ की स्थापना भी की थी।[4]

जीवन-वृत्त तथा कार्य

कहा जाता है कि संत धर्मदास का पूर्व नाम जुड़ावन था। इनकी पत्नी आमीन थी और इनके दो पुत्र नारायणदास तथा चूड़ामणि थे। यह भी प्रसिद्ध है कि इनमें से नारायणदास ने कबीर साहब का विरोध किया था, किंतु आमीन तथा चूड़ामणि ने उनके प्रति श्रद्धा के भाव प्रकट किये थे तथा ये धर्मदास की ही भाँति उनके शिष्य भी बन गए थे। जुड़ावन की जाति कसौंधन बनिया की थी और इनका निवास-स्थान बांधोगढ़ (वर्तमान मध्यप्रदेश) था। ये शालग्राम के उपासक थे, उनकी मूर्ति का विधिवत् पूजन किया करते थे, गीतादि के पाठ को विशेष महत्त्व देते थे तथा तीर्थ-भ्रमण भी करते थे। इन्होंने पहले से किसी वैष्णव से दीक्षा

---

१. 'जिंद रूप जब धरे सरीरा। धरमदास मिलि गये कबीरा'—अमर सुख निधान

२. 'साहेब कबीर प्रभु मिले विदेही, झीना दास दिखाइया'—'बानी'—पृ० ५२।

३. 'व्यास पुत्र तुम मम गुरु देवा। करूँ मानसी तुम्हरी सेवा ॥—भक्तिसागर, पृ० ७८ तथा दास गरीब कबीर का चेरा। सत्तलोक अमरापुर डेरा'॥ बानी, पृ० १४८।

४. ज्ञानदीपक, १५६-१—१६०, दे० संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, पृ० १७।

भी ग्रहण कर ली थी तथा ये उसके उपदेशानुसार धार्मिक आचरण किया करते थे। कहते हैं कि कबीर साहब की विचार-धारा द्वारा प्रभावित हो जाने पर इनके मत में आमूल परिवर्तन आ गया और ये उनके अनुयायी बन गए। इनके शेष जीवन-वृत्तों का वर्णन अनेक मान्य कबीर-पंथी ग्रंथों के अंतर्गत प्रायः विस्तार के साथ किया गया मिलता है। बहुत-से वैसे ग्रंथों की रचना तो, कबीर साहब तथा धर्मदास के बीच 'संवाद' के रूप में भी की गई कही जाती है। उनमें पौराणिक रचना-शैली का अनुगमन किया गया-सा मिलता है। अनेक चामत्कारिक बातों के उल्लेख भी किये गए पाये जाते हैं जिनके कारण संत धर्मदास के किसी ऐतिहासिक परिचय का हमें कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिल पाता। कबीर साहेब के एक आधुनिक जीवनचरित के अंतर्गत संत धर्मदास के लिए कहा गया है कि ये "विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में समृद्ध द्रव्यवान थे। ये अपनी आयुष के तृतीय भाग में अपने गृह-कार्य से निवृत्त हुए।"[१] वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि इनके अपने गुरु उस समय रूपदास थे जिनकी आज्ञा से ये सदा तीर्थाटनादि किया करते थे। तदनुसार इनका मथुरा जाना वहाँ पर अपने भोजन की तैयारी करते समय, चूल्हे की जलती हुई लकड़ी में सहस्रों चीटियों को देख कर इसके कारण खिन्न हो जाना तथा वहाँपर संयोगवश कबीर साहब से भेंट हो जाने पर उनसे परामर्श लेना, घर लौटने पर अपने उक्त प्रथम गुरु से अपनी मुक्ति के लिए प्रश्न करना और अंत में फिर उनसे संतुष्ट न होकर इन्हीं की शरण में आने की इच्छा से साधु-सम्मेलन करना आदि भी वहाँ पर न्यूनाधिक विस्तार के साथ कहा गया है जिससे पता चलता है कि इनके भीतर उत्कट जिज्ञासा बनी रहती होगी। परन्तु ऐसी सारी बातों का वर्णन तथा उपर्युक्त पंद्रहवीं शताब्दी के इनके जीवन-काल होने का उल्लेख भी उस ग्रंथ में संभवतः "कबीर-पंथी जगत् में तथा कबीर साहित्य में ऐसी प्रसिद्धि होने के ही कारण, किये गए जान पड़ते हैं।"[२] संत धर्मदास की मृत्यु के संबंध में वहाँ पर कहा गया है कि यह घटना पुरी में हुई जहाँ पर कबीर साहब ने इनके पुत्र मुक्तामणि नाम द्वारा अन्त्येष्ठि-क्रिया करायी और वे स्वयं वहाँ से अपने स्थान काशी लौट आये।[३] इसका कोई निश्चित समय नहीं दिया है।

---

१. "पञ्चदश शताब्दान्ते, समृद्ध द्रव्यवान सौ।
तृतीय आयुषो भागे, निवृत्तो गृह कर्मतः॥६॥"—सद्गुरु कबीर चरितम्।

२. वही, पृ० २७६।

३. वही, श्लोक १६६, पृ० ३२०।

स्वभाव और साधना

संत धर्मदास की अनेक रचनाएँ इनके बानी-ग्रंथ में संगृहीत पायी जाती हैं। इनमें ये अनेक स्थलों पर अपने को कबीर-शिष्य होना बतलाते हैं तथा ये उनसे अपने कल्याणार्थ प्रार्थना करते तक भी दीख पड़ते हैं। इनकी पंक्तियाँ सर्वत्र भक्तिरस द्वारा ओतप्रोत हैं और उनसे स्पष्ट है कि उनके प्रति इनकी प्रगाढ़ श्रद्धा रही होगी। इनकी कुछ पंक्तियों द्वारा तो हमें ऐसा भी लगता है कि कबीर साहब को ये न केवल एक गुरु, अपितु इष्टदेव के रूप में भी देखते हैं। इनकी ऐसी रचनाओं में हमें इनका सगुणोपासक भक्तों का-जैसा आर्त्तभाव भी लक्षित होता है। इनकी भक्ति का रूप प्रायः सर्वत्र दास्यभाव-विशिष्ट जान पड़ता है जिसके कई उदाहरण वहाँ से सरलता पूर्वक उद्धृत किये जा सकते हैं। इनकी भाषा पर कहीं-कहीं पूर्वीपन का प्रभाव भी दीख पड़ता है जो संभवतः इनके इधर के प्रांतों में कुछ दिनों तक रहने के कारण भी हो सकता है। कबीर साहब के लिए इन्होंने कहीं-कहीं 'पिया' और 'पीव'-जैसे शब्दों का व्यवहार किया है। उन्होंने कहा है कि "उस अनुपम 'सत ज्ञानी' का रूप देख कर मैं उसकी ओर आकृष्ट हो गया तथा उसे 'अपना' पहचान लेने पर उसके द्वारा अपना लिया भी गया। मेरे सारे कर्म जल कर भस्म हो गए, मैंने 'प्रेम की बानी' पढ़ ली तथा मेरा 'आवा-ज़ानी' भी मिट गई।"[1] इसी प्रकार इन्होंने एक स्थल पर अपने को 'नाम पदा-रथ' को लाद कर चलने वाला 'व्यापारी' बतलाया है। उन्होंने यह भी कहा है कि किस प्रकार यह 'सत्तनाम' का व्यापार किया जाता है तथा कैसे इसमें सदा लाभ ही लाभ हुआ करता है और 'अपनी कोठारी' भरी रहा करती है।[2] इनके द्वारा किया गया अंतःसाधना का वर्णन भी बहुत स्पष्ट और सुंदर जान पड़ता है और हमें ऐसा लगता है कि ये उसका प्रत्यक्ष अनुभव अवश्य कर चुके होंगे।[3] अतएव,

१. मोरे पिया मिले सतज्ञानी ॥टेक ॥
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत रूप लुभानी ॥१॥
आपन रूप जब चीन्हा विरहिन, तब पिया के मन मानी ॥२॥
कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की बानी ॥४॥
धर्मदास कबीर पिय पाये, मिट गइ आवा जानी ॥५॥
—धनीधर्मदास की बानी, पृ० ३।

२. वही, पृ० ७।

३. "झरि लागै महलिया, गगन घहराय ॥टेक ॥
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ॥१॥

इसमें संदेह नहीं कि ये एक बहुत योग्य पुरुष रहे होंगे और इनके व्यक्तित्व से भावी कबीर-पंथ को विशेष प्रेरणा भी मिली होगी। इनके द्वारा स्वयं उसके प्रवर्तित किये जाने के विषय में हमें यथेष्ट विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं है।

शिष्यों के नाम

राघोदास ने अपनी 'भक्तमाल' के अंतर्गत इनके जिन सात शिष्यों की चर्चा की है[1] उनमें से प्रथम दो अर्थात् चूड़ामणि तथा कुलपति को उन्होंने संभवतः इनका 'नाती' शिष्य अथवा शिष्य होने के साथ-साथ इनका संबंधी होना भी कहा है। चूड़ामणि तो इनके पुत्र कहे ही जाते हैं। कुलपति उनके पुत्र सुदर्शन नाम के पुत्र थे जिस कारण उन्हें हम संत धर्मदास का प्रपौत्र कह सकते हैं। इसी आधार पर उन्हें इनका 'नाती' वा संबंधी भी होना बतलाया गया जान पड़ता है। इनके शेष पाँच शिष्यों में से जागू, भगता तथा सुर्तिगुपाल हमें प्रत्यक्षतः वे ही समझ पड़ते हैं जिनके नाम हमने कबीर-शिष्यों के प्रसंग में क्रमशः जागूदास, भागोदास तथा सुरतगोपाल के रूपों में लिये हैं जिस कारण यहाँ पर ठीक संगति नहीं बैठ पाती। उस दशा में वे तीनों इनके गुरुभाई ठहरते हैं तथा इसके विरुद्ध कोई अन्य प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार अन्य दो अर्थात् साहिबदास तथा दल्हण में से प्रथम को हम नाम साम्य के कारण उन साहेब दास से अभिन्न कह सकते हैं जिनके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने कटक (उड़ीसा प्रांत) में कोई 'मूल निरंजन-पंथ' चलाया था तथा जिसमें 'झंग' के स्मरण की साधना की जाती थी। किंतु उनके भी संबंध में हमें प्रायः कुछ भी विदित नहीं जिस कारण हम उनके साथ इनकी भेंट को किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। उक्त सातवें शिष्य दल्हण को यदि हम किसी प्रकार 'दल्हा' मान लें, उस दशा में वैसे किसी भक्त के विषय में नाभादास द्वारा किया गया उनका एक उल्लेख हमें अवश्य मिलता है। किंतु उससे भी हमें यहाँ पर पर्याप्त सहायता नहीं मिल पाती। कहा गया है कि इन सातों शिष्यों ने गुरु धर्मदास के 'धर्मधन' को भलीभाँति 'धारण किया' जिसका तात्पर्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता।

सुन्न महल में अमृत बरसै, प्रेम आनंद ह्वो साध नहाय ॥२॥
खुली किवरिया मिटी अँधरिया, धन सतगुरू जिन दिया है लखाय ॥३॥
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय ॥४॥
—वही शब्द ५, पृ० ३३।

१. "गुर धर्मदास कौ धर्म धन, नीकै धार्‌यौ सिष इन।
चूड़ामनि चित चतुर पुत्र, कुलपती वंस के।

कबीर-पंथ

(१) इसकी शाखा-प्रशाखाएँ : साम्प्रदायिक उल्लेख

(क) प्रस्तावना

इसमें संदेह नहीं कि कबीर साहब के जीवन-काल में ही उनके अनेक अनुयायी बन चुके होंगे। किंतु फिर भी इतना निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी सहायता से उन्होंने किसी पंथ-विशेष के निर्माण का आयोजन भी अवश्य किया होगा। जहाँ तक जान पड़ता है उन्होंने सदा एक सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश दिया था जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की कोई आवश्यकता नहीं थी, न इसी कारण उनका उसके आधार पर किसी पंथ का चलना अथवा उसे संगठित करके उसके प्रचारार्थ अपने शिष्यों को नियुक्त करना कोई अर्थ ही रख सकता था। इसके सिवाय, उनके शिष्यों में से कम-से-कम एक अर्थात् संत कमाल का भी उन्हीं की भाँति पंथ-रचना के विरुद्ध होना बतलाया जाता है। जैसा हम इसके पहले देख चुके हैं, संभवतः इसी कारण उनके द्वारा कबीर-वंश का 'बूड़ना' वा नष्ट होना तक भी माना जाता है। परन्तु कबीर-पंथी साहित्य के अंतर्गत इस बात का उल्लेख मिलता है कि कबीर साहब ने अपने चार प्रमुख शिष्यों को चारों दिशाओं में इस निमित्त भेजा था कि ये उधर जाकर इनके मत का प्रचार करें। इन चारों के नाम वहाँ पर क्रमशः चत्रभुज, बंकेजी, सहतेजी और धर्मदास दिये गए मिलते हैं[1] जिनमें से प्रथम तीन के विषय में

सर्वंगि साहिब दास, मूल दल्हण अंस के ॥
जागू जगरू तरक, भगति भगता कौ प्यारी ।
सुर्ति गुपाल श्रुति संधि, सकल सत संगति प्यारी ॥
सिष पाँच प्रसिध या कवित मैं, राघो नाती द्वै कहिन ।
गुर धर्मदास को धर्मधन, नीकै धार्यौ सिष इन ॥३५८॥"
—हस्तलिखित प्रति से ।

१. उदाहरण के लिए देखिए,
"चत्रभुज बंकेजी सहतेजी और चौथे तुम सही ।
चारही कडिहार जग में, वचन यह निश्चय कही ॥
चार गुरु संसार में हैं, जीवन काज प्रगटाइया ।
काल के सिर पाँव दे, सब जीव बंदि छुड़ाइया ॥"—अनुरागसागर, पृ० ८६
जहाँ पर धर्मदास के प्रति कबीर साहब द्वारा इस प्रकार का कथन कराया गया है । —लेखक ।

हमें प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। केवल चौथे अर्थात् धर्मदास द्वारा कबीर पंथ की 'धर्मदासी' वा 'छत्तीसगढ़ी' शाखा का मध्यप्रदेश में चलाया जाना प्रसिद्ध है। उसका समय पाकर विविध उप शाखाओं में विभक्त होना और वहाँ से दूर तक फैल कर दूसरों को प्रभावित करना भी कहा जाता है। उसके अतिरिक्त अथवा उससे पृथक् प्रचार करने वाली किसी वर्तमान कबीर पंथी शाखा का संबंध उन तीनों शेष कबीर-शिष्यों में किसी के साथ सिद्ध नहीं होता। वास्तव में इस समय हमें केवल 'कबीर पंथ' मात्र नाम से प्रचलित कोई भी एक समुदाय दीख पड़ता। इस प्रकार की जितनी भी संस्थाएँ आजकल विद्यमान पायी जाती हैं उनमें से प्रायः प्रत्येक का संबंध किसी न किसी ऐसे व्यक्ति के ही साथ जोड़ा जा सकता है जिसके लिए या तो कबीर साहब का एक प्रमुख शिष्य होना कहा गया है अथवा वह उनका परवर्त्ती ही रहा करता है।

द्वादस-पंथ

'अनुराग सागर' ग्रंथ के अंतर्गत धर्मदास के प्रति कबीर साहब की ओर से कहा गया मिलता है, "कलियुग में मेरा नाम 'कबीर' है जिसका उच्चारण करनेवाले के निकट यमराज नहीं जाता।" ऐसी बात सुन कर कोई अन्यायी बोल उठता है, "हे कबीर, मैं कहे देता हूँ कि तुम्हारे नाम से मैं पंथ चलाऊँगा तथा इस प्रकार सभी को धोखा दूँगा। 'द्वादस पंथ' का आयोजन किया जायगा और इसके द्वारा हम लोग तुम्हारे नाम को प्रसिद्ध करेंगे"[1] आदि। तदनुसार वहाँ पर ऐसे 'बारह पंथों' के नाम उनके प्रवर्तकों के संक्षिप्त परिचय देकर सूचित कर दिये गए हैं तथा उनकी कुछ न कुछ आलोचना तक भी कर दी गई है। इन बारह प्रवर्तकों को वहाँ पर, क्रमशः 'मृत्यु अंधा', 'तिमिर दूत', 'अंध अचेत', 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी', 'मकरंद', 'चित्तभंग', 'अकिलभंग', 'बिसंभर', 'नकटा', 'दुरगदानि' तथा 'हंसमुनि'–जैसी संज्ञाएँ देकर अभिहित किया गया है और इनमें से किसी को भी सत्य का अनुसरण करनेवाला नहीं माना गया है।[2] इन बारह विचित्र नामों का कुछ अधिक स्पष्टीकरण हमें तुलसी साहेब के 'घट रामायण' तथा परमानंद के 'कबीर मंशूर' नामक ग्रंथों की सहायता

---

१. "नाम कबीर हमार कलि माँही। कबीर कहत जम निकट न जाँही॥
इतना सुनत बोल अन्याई। सुनौ कबीर मैं कहौं बुझाई॥
तुम्हरे नाम लै पंथ चलायब। इहिविधि जीवन धोख लगायब॥
द्वादस पंथ करब हम साजा। नाम तुम्हार करब आवाजा॥"—पृ० ८६।

२. वही, पृ० ६०-२।

से होता जान पड़ता है। इससे पता चलता है कि ये वास्तव में क्रमशः नारायण-दास, भागोदास, सुरत गोपाल, साहेबदास, टकसारी-पंथ-प्रवर्त्तक, कमाली, भगवानदास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, तत्त्वा-जीवा तथा गरीबदास की ओर संकेत करते हैं।[1] इनमें से प्रायः प्रत्येक के नाम से आज भी किसी न किसी पंथ का चलाया जाना बतलाया जाता है और ये कहीं-न-कहीं प्रचलित भी हैं। परन्तु इस नाम-सूची में धर्मदास का नाम नहीं आता, न उसकी शाखा का यहाँ पर किसी प्रकार उल्लेख किया गया ही दीख पड़ता है। इसके आधार पर यह स्वभावतः अनुमान किया जा सकता है कि इनका मत उनसे किसी-न-किसी प्रकार भिन्न पड़ता होगा तथा ग्रंथकर्त्ता का उद्देश्य इनके द्वारा प्रचलित कही जानेवाली शाखा को उन बारहों से बढ़ा कर बतलाने का भी हो सकता है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक पता है, इन बारहों में से किसी के भी द्वारा, स्वयं कबीर साहब की कोई कटु आलोचना की जाती हुई नहीं पायी जाती प्रत्युत सबके यहाँ इनके प्रति यथेष्ट श्रद्धा का ही भाव प्रदर्शित किया गया मिलता है। यह 'द्वादस पंथ' विषयक भावना कब और किस प्रकार जागृत हुई होगी इस बात का हमें कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। यों जहाँ तक 'द्वादस'-जैसे संख्यावाचक शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, इसके कुछ उदाहरण हमें स्वामी रामानंद के 'द्वादस' शिष्यों तथा निरंजनी-सम्प्रदाय के 'द्वादस' महंतों में भी मिलते हैं।

कबीर-पंथ का आरंभ

इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कबीर साहब का विचार किसी नवीन पंथ के निर्माण के विपरीत होने पर भी उनके शिष्यों तथा प्रशिष्यों के हृदय में उनके नाम पर कोई न कोई पंथ चलाने की प्रवृत्ति अंत में जागृत हो ही गई। उनकी बानियों का संग्रह उन के सिद्धांतों का प्रचार और उनके द्वारा निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न साधनाओं की व्याख्या के रूप में विभिन्न प्रकार के उद्योग भी जहाँ तक जान पड़ता है, बहुत पहले ही आरंभ हो गए। तदनुसार हम देखते हैं कि कबीर साहब के देहांत हो जाने के कारण संभवतः कुछ काल अनंतर 'कबीर-पंथ' के नाम से अनेक संस्थाएँ चल पड़ीं और उनके मठ भी स्थापित होने लगे। 'अनुराग सागर' में की गई उपर्युक्त 'द्वादस पंथ' की चर्चा के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि उसके रचना-काल अर्थात् संभवतः विक्रमी अठारहवीं शताब्दी के अंत तक वर्तमान उत्तर प्रदेश से लेकर मध्यप्रदेश, उड़ीसा,

---

१. घटरामायन, पृ० २३४-५ और कबीर मंशूर, पृ० २६६।

गुजरात-काठियावाड़, बड़ौदा, बिहार आदि विभिन्न प्रदेशों तक के क्षेत्रों में इस प्रकार के सम्प्रदाय पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गए होंगे। उनके प्रचार-कार्य में प्रगति के आ जाने पर उनके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के भाव भी उत्पन्न होने लगे होंगे। परन्तु उनमें से कौन सबसे पहले स्थापित हुआ होगा और उसका अनुसरण दूसरों ने किया होगा अथवा उनमें से एक से अधिक की स्थापना लगभग एक ही समय हुई होगी जैसे प्रश्नों का समाधान करने के विषय में अभी तक हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। यह बात इस समय स्वयं कबीर-पंथियों द्वारा भी स्वीकृत कर ली जाती हुई दीख पड़ती है कि "सद्‌गुरु श्री कबीर स्वामी के अंतर्धान होने के पश्चात् ही कबीर-पंथ का जन्म हुआ?[1]" तथा "श्री कबीर स्वामी ने कहीं पर भी अपने आश्रम की स्थापना नहीं की थी।" किंतु इसके साथ यह भी कह दिया गया मिलता है कि "यह पद उन्होंने केवल धर्मदास के वंश को ही प्रदान किया।"[2] इस प्रकार इनके पुत्र "श्री मुक्तामणि नाम ने पुरी से लौट कर सर्वप्रथम, कुघ्रमाल (कुदरमाल, मध्यप्रदेश) में ऐसे आचार्य-आश्रम की स्थापना की।" परंपरागत कबीर-पंथ का मूलस्थान कुदरमाल को ही मानना चाहिए, क्योंकि अन्यान्य मठ भी उसी के अवांतर विभाग हैं।"[3] फिर भी, जब तक सारी ऐसी संस्थाओं के उदय तथा क्रमिक विकास का सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाता, न उनसे संबद्ध सभी ऐतिहासिक तथ्यों की उचित समीक्षा कर ली जाती, हमारा इस संबंध में अंतिम निर्णय देना ठीक न होगा।

प्रमुख शाखाएँ

कबीर-पंथ इस समय अनेक विभिन्न शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभाजित पाया जाता है। उसका क्षेत्र भी कम विस्तृत नहीं कहा जा सकता, जिस कारण जब तक उनमें से कम-से-कम केवल प्रमुख संस्थाओं के भी संबंध में कुछ-न-कुछ विचार नहीं कर लिया जाता, तब तक उसकी हमें कोई स्पष्ट

---

१. सद्‌गुरु श्री कबीर चरितम्, प्रस्तावना, पृ० २३।

२. "सद्‌गुरुर्नाश्रमं क्वाप्यस्थापयदिति निश्चितम्।
केवलं धर्मदासस्य वंशाय तत्पदं ददौ ॥८४॥"—वही, पृ० ४०६।

३. "अथ मुक्तामणिर्नाम सदृश्ये सति सद्‌गुरौ।
कुघ्रमाला श्रमं चक्रे, पुरीतः समुपावृतः ॥८५॥
मूलस्थानन्तु तज्जेयं, परंपरागतं गुरोः।
अवान्तर विभागेन, सर्वमन्यैर्विनिर्मितम् ॥८६॥
—वही, पृ० ४०७।

धारणा नहीं बन सकती। ऐसी शाखाओं की ओर ध्यान देने पर भी हमें पता चलता है कि उन सभी का आरंभ ठीक एक ही प्रकार से नहीं हुआ। उनमें से केवल कुछ ही ऐसी हैं जिन्हें हम आप-से-आप स्वतंत्र रूप में स्थापित की गई कह सकते हैं। क्योंकि उनमें से कई एक ऐसी भी हो सकती हैं जिन्होंने या तो किसी मूल संस्था से पीछे संबंध-विच्छेद कर लिया होगा अथवा जो केवल उससे प्रभावित मात्र ही रही होंगी। तदनुसार इस समय तक प्रचलित कबीर-पंथ की शाखाओं में से जो स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित समझी जाती है उनमें से प्रायः प्रत्येक का संबंध किसी न किसी ऐसे व्यक्ति के साथ जुड़ा हुआ भी माना जाता है जिनकी गणना हम कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में कर आये हैं। इनकी चर्चा करते समय हमने प्रसंगवश ऐसी किसी न किसी शाखा का नामोल्लेख भी कर दिया है। अतएव इस प्रकार की शाखाओं में हम क्रमशः १. राम कबीर पंथ, २. फतुहा मठ, ३. बिद्दूपुर मठ; ४. भगताही शाखा; ५. कबीर चौरा, काशी; और ६. छत्तीसगढ़ी वा धर्मदासी शाखा के नाम ले सकते हैं। इसी प्रकार जिन शाखाओं का छत्तीसगढ़ी शाखा से संबंध-विच्छेद करके पृथक् मठ की स्थापना कर लेना बतलाया जाता है उनमें क्रमशः १. कबीर चौरा, जगदीशपुरी; २. हटकेसर मठ; ३. कबीर-निर्णय मंदिर, बुरहानपुर; तथा ४. लक्ष्मीपुर मठ की गणना की जा सकती है। शेष प्रमुख शाखाओं में या तो कुछ ऐसी हैं जिन्हें उपर्युक्त स्वतंत्र शाखाओं में से किसी न किसी की केवल उपशाखा मात्र ठहरा सकते हैं अथवा अन्य इस प्रकार की हैं। इनमें से १. आचार्य गद्दी, बड़ैया और २. महादेव मठ, रुसड़ा आदि कुछ को हम कबीर-पंथी विचार-धारा द्वारा प्रभावित कह सकते हैं तथा कुछ को १. पनिका कबीर-पंथियों तथा २. कबीर वंशियों की-जैसी विशिष्ट जातियों के रूप में परिणत होकर तदनुसार जीवन-यापन करनेवाले संघ विशेष की कोटि में रख सकते हैं। कबीर-पंथ के स्वरूप उसके सिद्धांत और साहित्य तथा उसके अनुयायियों पर विचार करते समय हमें इन सभी की चर्चा करनी होगी।

(ख) स्वतंत्र प्रतिष्ठित समझी जाने वाली शाखाएँ

१. रामकबीर-पंथ : संक्षिप्त परिचय

रामकबीर-पंथ के मूल प्रवर्त्तक के रूप में कबीर-शिष्य पद्मनाभ का नाम लिया जाता है। यह कहा जाता है कि इनके एक शिष्य नीलकंठ ने इनसे दीक्षित होकर गुजरात तथा कठियावाड़ की ओर यात्रा की थी। उधर के लोगों में अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होंने कुछ ऐसे शिष्यों को भी दीक्षित किया था जिनके द्वारा इसकी स्थापना हो सकी। परन्तु

'रविभाण सम्प्रदाय' के एक प्रमुख प्रचारक मोरार साहेब (मु० सं० १६०२) के शिष्य दलुराम साहेब द्वारा रची गई एक 'परंपरा' से प्रकट होता है कि ये नीलकंठ वास्तव में, पद्मनाभ के शिष्य न होकर किसी ऐसे धीरदास के शिष्य रहे होंगे जो कबीर साहब की छठी पीढ़ी में थे। उनके अनुसार "कबीर साहब स्वामी रामानंद के शिष्य थे और वे स्वयं ज्योतिस्वरुप तथा अलखरूप थे। संत लोग उन्हें 'रामकबीर' कह कर उनका गुणगान करते हैं तथा वे स्वयं भी अपने आपको यही कहते थे। उनके शिष्य 'नीर-षीर' दास हुए जिनके शिष्य फिर 'षरदास' हुए तथा इन षरदास के भी शिष्य तुलादास थे जिनके शिष्य रामदास के शिष्य धीरदास थे जो उक्त नीलकंठ के गुरु थे।"[1] इस नीलकंठ के शिष्य रघुनाथदास के पोता शिष्य षष्टमदास वा षट्प्रज्ञ स्वामी का जीवन-काल सं० १६६८-१७८६ कहा जाता है। इसके आधार पर ऊपर की ओर गणना करने से नीलकंठ का समय अनुमानतः सत्रहवीं विक्रम शताब्दी से लेकर उसकी अठारहवीं के प्रथम चरण तक ठहराया जा सकता है। इसको ठीक मान लेने पर ये कबीर-शिष्य पद्मनाभ के समकालीन नहीं सिद्ध होते। उस पद्मनाभ का जीवन-काल सोलहवीं विक्रम शताब्दी से आगे जाता नहीं जान पड़ता। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके साथ 'रामकबीर-पंथ' का कोई संबंध होना भी प्रमाणित नहीं होता। इसके सिवाय,

---

१. "कहे दास कबीर ते नाम सिखं, एही जोति स्वरूपं आपे अलखं।
कहे राम कबीर सो संत गावे, सोहु आप ही आप आपे कहावे।
हरि रंग सु षीर नीरमल नीरदासं, रदे कोमलं निर्मल प्रेमरासं।
सीखं नाम ताके कहे दास षरं, सरं ब्रह्म उजागर हंस तीरं।
तुलादास तुलसी कहे ताही सीखं, महिमा गहन कवी कोन लाखं।
तनय नाम ताके कहे रामदासं, रसं राम लोलीन न आन आशं।
सीखं नाम धीरदासं कहीजे, मत क्रम वेराग अंग बदीजे।
तनय नाम ता निलकंठ कहावे, बुद्धिवेत महंत सो संत गावे॥"
—रविभाण सम्प्रदाय की वाणी, पूना, सं० १६८६,
पृ० २८६-७।
—इसमें बतलाये गए 'नीर' तथा 'षीर' नामक व्यक्तियों के ही नाम संभवतः राघोदास ने भी अपनी 'भक्तमाल' में लिये हैं। उन्होंने इनकी गणना कबीर साहब के नव शिष्यों में करते हुए इन्हें उनमें क्रमशः पाँचवाँ तथा छठा स्थान दिया है। दे० भक्तमाल, छप्पय ३५३।

यदि 'रामकबीर' शब्द स्वयं कबीर साहब के ही लिए व्यवहृत होता आया हो उस दशा में, 'रामकबीर-पंथ' की संज्ञा तथा उसके मूल प्रवर्तन के ऊपर भी इस प्रकार कुछ प्रकाश पड़ता नहीं प्रतीत होता है। कहते हैं कि नीलकंठदास इधर संभवतः काशी की ओर से उधर गुर्जर देश में घूमते-घामते चले गए। वहाँ पर 'धारा' नामक गाँव में कोई रघुनाथ नाम का ब्राह्मण रहता था और वह इनसे दीक्षित हो जाने पर रघुनाथदास कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इसके कुछ दिनों पश्चात् ये दोनों गुरु-शिष्य भ्रमण करते हुए सौराष्ट्र देश पहुँचे, जहाँ पर सुरेन्द्रनगर के समीप वर्तमान 'मदावत' पर्वत के उपवन में जाकर इन्होंने वहाँ की उमा नदी के निकटस्थ किसी तालाब के तीर पर विश्राम किया। उसके 'दुग्धवत् श्वेत तथा स्वच्छ जल' को देख कर नीलकंठ दास ने उस रमणीय स्थान का ही नाम 'दुग्धस्थल' रख दिया जो अब 'दुधरेज' कहलाता है[१]। यह दुधरेज ही संभवतः वह प्रधान केन्द्र है जहाँ पर षष्टमदास के शिष्य लब्धरामदास की शिष्य-परंपरा आज तक भी चली आई है। उनके दूसरे शिष्य भाण साहब की शिष्य परंपरा 'शापर ग्राम' आदि केन्द्रों से 'रविभाण सम्प्रदाय' का प्रचार करती है। किंतु जयमल्ल परमार नामक एक गुजराती लेखक के अनुसार 'भाण साहब सौराष्ट्र में कबीर-पंथ के आदि स्थापक गिने जाते हैं। कबीरजी के दो पंथ चले एक 'राम कबीरिया' और दूसरा 'संत कबीरिया'। राम कबीरिया भगवा धारण करते हैं, कनटोप पहनते हैं और गले में 'श्रवणी' बाँधते हैं। भाण साहब राम कबीरिया थे"[२] जिसके लिए कोई अन्य आधार उपलब्ध नहीं है।

अन्य रामकबीर-पंथ

'रामकबीर-पंथ' के नाम से किसी एक अन्य सम्प्रदाय का अयोध्या के प्रसिद्ध स्थान 'हनुमान निवास' में भी प्रधान केन्द्र होना कहा जाता है। वहाँ के लोग अपने को 'रामानंदीय वैष्णव' बतलाते हैं तथा अपने पंथ के प्रधानाचार्य के रूप में रामकबीर का नाम लेते हैं। उनके अनुसार ये रामकबीर स्वामी रामानंद के सगुणमार्गी शिष्य थे और उनके प्रियपात्र भी थे। रामानंदी भगवदाचार्य का तो यहाँ तक भी कहना बतलाया जाता है कि स्वामी "रामानंद के शिष्य कबीर प्रसिद्ध संत कबीर नहीं थे, बल्कि रामकबीर थे जिन्हें भ्रमवश संत कबीर समझ लिया गया है।" इस बात की भी संभावना प्रकट की जाती

---

१. सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ४२७-६।

२. जयमल्ल परमार: आपणी लोक संस्कृति, अहमदाबाद, १९५७ ई०, पृ० ११७।

है कि "रामकबीरजी के अनुयायियों ने ही बाद में चल कर उनको प्रसिद्ध निर्गुण संत कबीर से एक कर दिया होगा।"[1] रामकबीरजी की किसी गादी वा 'द्वारागादी' का कदमखण्डी (ब्रजगोवर्द्धन के पास) वर्तमान रहना कहा गया है। इसके साथ यह भी बतलाया गया है कि नर्मदा तट पर भडौंच के पास शुक्लतीर्थ में रामानंदजी ने एक दतवन गाड़ दी थी जो एक विशाल वटवृक्ष हो गया और वहीं किसी रामयश ब्राह्मण का पंचम संस्कार करके उन्हीं को उसका 'रामकबीर' नाम दिया।[2] इसी प्रकार जैसा हम इसके पहले कबीर-शिष्य तत्त्वा-जीवा के प्रसंग में अथवा ज्ञानीजी की चर्चा करते समय भी देख आये हैं, शुक्लतीर्थ में जाकर कबीर साहब ने इन दोनों व्यक्तियों को दीक्षित किया था। इनमें से दूसरे अर्थात् ज्ञानीजी को उन्होंने इतना प्रभावित कर दिया था कि वे "सद्गुरु कबीर स्वामी ही मेरे भीतर निर्गुण ब्रह्म 'राम' के रूप में रमण करते हैं," ऐसा मानने लग गए थे। तदनुसार उन्होंने 'रामकबीर' शब्द का अपने मुख से सदा उच्चारण करते रहने की साधना की जिससे 'रामकबीर-पंथ' का आरंभ हुआ[3]। ये तीनों मत एक-दूसरे से प्रत्यक्षतः भिन्न दीख पड़ते हैं। इनमें से किसी के भी समर्थन में हमें कोई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता, न ऐसी किसी सामग्री के अभाव में हम इन तीनों में कोई निश्चित संबंध ही स्थापित करने में समर्थ हैं। यों, साधारणरूप में विचार करने पर हमें स्वामी रामानंदजी का किसी व्यक्ति को दीक्षित करके उसे उसके ब्राह्मण रहने पर भी 'रामकबीर'-जैसा नाम देना उतना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता जितना स्वयं कबीर का ऐसा कहा जाना समझ पड़ता है। किसी एक तीसरे व्यक्ति का भी इस नाम द्वारा अभिहित किया जाना असंभव नहीं है, न यही सत्य से अधिक दूर हो सकता

---

१. डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव। रामानंद-सम्प्रदाय, प्रयाग, १९५७ ई०, पृ० १६९-७०।

२. वही, पृ० १६६।

३. "ततस्त्वचिन्तिते नेदं रमते मयि सैवतत्।
तद्दर्शनन्त्वभूत्साक्षात्तद्रानो रमते मयि ॥१३४॥
तद्दर्शकः कबीरोऽस्ति, निश्चित्येति जगाद सः।
वाणी 'राम कबीरे' ति, शिष्योयोऽप्यादिशत्तथा ॥१३५॥
ततस्तत्सम्प्रदायोऽप्यचलत्तेनैव नामतः।
राम कबीर नाम्ना ते, शिष्यानुपर्दि शन्तिहि॥"१३६
—सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० २५३।

है कि ऐसा नाम कल्पित मात्र करके उसके आधार पर कोई वैसा ही रामकबीर-पंथ भी चला दिया गया हो जैसे 'सत्य कबीर', 'नाम कबीर', 'दान कबीर', 'मंगल कबीर' तथा 'हंस कबीर' शब्दों द्वारा सूचित किये जाने वाले कतिपय अन्य पंथ भी प्रचलित कहे जाते हैं।[1] रामकबीर-पंथ का हमें अभी तक ऐसा कोई साहित्य भी नहीं मिल सका है जिसके प्रकाश में इसके विशिष्ट मत का कोई परिचय प्राप्त हो।

रामकबीर-पंथ और उदाधर्म

रामकबीर-पंथ की चर्चा करते समय कभी-कभी 'उदाधर्म' का भी नाम लिया जाता है जिसका प्रचार सर्वप्रथम जीवनजी ने बड़ौदा के निकट वर्तमान 'पुनियाद' नामक स्थान में किया था। इसके अनुयायी इस समय सूरत जिला तथा 'छोटा उदयपुर' में हैं। कहा जाता है कि कबीर साहब के शिष्य कहे जाने वाले ज्ञानीजी के एक शिष्य गोपालदासजी थे। गोपालदासजी ने अपने गुरु द्वारा सतत स्मरण किये जाने वाले 'राम कबीर' शब्द के आधार पर किसी 'रामकबीर-पंथ' का प्रचार किया तथा फिर उनके शिष्य जीवनजी ने उसी के मत को पीछे 'उदाधर्म' के नाम से प्रसिद्ध किया। उदाधर्म की मूल गद्दी पुनियाद में है, किंतु इसकी एकाध शाखाओं का हांसापुरा-जैसे स्थानों में भी प्रचलित होना वतलाया जाता है। जीवनजी के शिष्य श्यामदास हुए जिनके शिष्य द्वारका-दास के शिष्य नाना पारेख ने बड़ौदा में गद्दी चलायी। इनके गुरुभाई राघोदास के शिष्य बीठलदास के समय से हांसापुरा की गद्दी प्रतिष्ठित हुई और तब से इन दोनों स्थानों पर उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परंपरा चली आई है। राघोदास के एक अन्य शिष्य बसंतदास हुए जिनकी गद्दी अभी तक उक्त पुनियाद में प्रति-ष्ठित है। इसके महंतों की 'वंशावली' के देखने से पता चलता है कि जीवनजी से लेकर सन् १९२६ ई० में वर्तमान जदुनाथदास तक ये लोग १० की संख्या में हो चुके हैं।[2] इसके अनुसार गणना करने पर उनका आविर्भाव-काल किसी समय सं० १७५० के आसपास ठहरता है। इसी प्रकार उनके दादागुरु ज्ञानीजी का जीवन-काल सं० १७०० अथवा उसके कुछ पहले तक भी ले जाया जा सकता

१. अनुराग सागर, पृ० ९२ में "राम कबीर पंथकर नाऊँ। निरगुन सरगुन एक मिलाऊँ" कह कर इसके द्वारा एक विचित्र मत का प्रचलित किया जाना बतलाया गया है तथा वहाँ पर यह भी संकेत कर दिया गया है कि इसके अनुसार पाप तथा पुण्य में कोई भेद नहीं है।—लेखक।

२. उदाधर्म भजन सागर, भूमिका, अहमदाबाद, सन् १९२६ ई०, पृ० १३।

है। परन्तु इस समय के साथ उस ज्ञानीजी के समय से पूरा मेल खाता नहीं जान पड़ता जिसे कबीर-शिष्य समझा जाता है। जो हो, उदाधर्म के अनुयायी आज तक भी 'कबीर वट' के प्रति विशेष श्रद्धा प्रकट करते हैं तथा इन्होंने वहाँ पर उनका एक मंदिर भी स्थापित किया है। ये लोग अधिकतर गृहस्थ हुआ करते हैं तथा इनकी जाति भी उस ओर 'उदाजाति' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] इनके द्वारा स्वीकृत किए गये मत की अधिकांश बातें सगुण-पंथियों के मत का अनुसरण करती हैं। इस कारण इन्होंने अपने लिए वैसे ही नियम भी अपना लिए हैं और इनके मान्य ग्रंथों से भी इनके विषय में किसी वैसी विशेषता का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

२. फतुहा मठ, जिला पटना

संक्षिप्त परिचय

कबीर-पंथ शाखा 'फतुहा मठ', बिहार प्रांत के पटना जिले में स्थापित है और इसके मूल प्रवर्त्तक तत्त्वा-जीवा कहे जाते हैं।[2] परन्तु जहाँ तक पता चलता है, कबीर-शिष्य कहे जाने वाले प्रसिद्ध तत्त्वा तथा जीवा में से किसी का भी वहाँ पर कभी आना अथवा वहाँ रह कर अपनी ओर से किसी मठ-विशेष का स्थापित करना सिद्ध नहीं किया जा सका है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि फतुहा मठ की स्थापना वस्तुतः किसी गणेशदास द्वारा की गई थी जो पटना जिले के ही किसी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे और जो अपने प्रारंभिक जीवन में घोड़ों के क्रय-विक्रय तथा उनकी सवारी में भी बहुत कुशल थे। जब इनके यहाँ एक पुत्र तथा एक पुत्री के रूप में दो संतानें हो चुकीं और इन्होंने कुछ धनोपार्जन भी कर लिया तो इनके हृदय में किसी प्रकार वैराग्य के भाव जागृत हुए और 'इन्होंने फतुहा मठ के कबीर-पंथी महंत की शिष्यता स्वीकार कर ली। कहते हैं कि उस समय जो वहाँ पर उस पंथ की शाखा चल रही थी उसका संबंध छत्तीसगढ़ी शाखा से था। छत्तीसगढ़ वालों की ओर से इस बात पर विशेष बल भी दिया जाता है, किंतु स्वयं फतुहा मठ के लोग इसे स्वीकार करते नहीं जान पड़ते।" छत्तीसगढ़ वाले

---

१. सद्‌गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० २५४-५।

२. तत्त्वाजी, सत्त्वाजी, पुरुषोत्तम, कुंतादास, सुखानंद, संबोधदास, देवादास, विश्वरूपदास, विक्रोधदास, मुकुंददास, स्वरूपदास, निर्मलदास, कोमलदास, गणेशदास, गुरुदयाल दास, घनश्याम, भरतदास, मोहनदास, रघुवरदास, दयालदास, ज्ञानीदास, केशवदास तथा हरिनंदनदास (वर्तमान)—
—कबीर और कबीर पंथ, अप्रकाशित, पृ० २९५।

कबीर पंथी लोगों के अनुसार गणेशदासजी का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब 'हक्कनाम' साहब (गद्दीकाल संभवतः सं० १८५० के आसपास) 'धमधा' ग्राम से हट कर 'कवर्धा' चले आये थे और इन्होंने वहाँ पर उनके 'मुख्तार आम' का भी काम किया था। किंतु वहाँ के अनेक प्रबंधकों की ओर से इनके प्रति रागद्वेष की भावना प्रकट होने लगने पर इन्हें अपने उस पद का त्याग कर देना पड़ा और तब से इन्होंने अपने यहाँ लौट कर सदा के लिए फतुहा मठ को ही उन्नत बनाये रखने के यत्न किये। इस प्रकार, यदि गणेशदासजी का संबंध छत्तीस-गढ़ी शाखा के साथ कुछ काल के लिए सिद्ध भी किया जा सके, उस दशा में भी इस बात का पूरा निर्णय नहीं हो पाता कि फतुहा मठ का मूल प्रवर्त्तक कौन रहा होगा। चाहे इसके लिए तत्त्वा-जीवा का नाम लेना सर्वथा प्रामाणिक न भी कहा जा सके, इसमें सन्देह नहीं कि यथेष्ट सामग्री के अभाव में हमारा यह भी मान लेना कभी तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता कि यह मूलतः छत्तीसगढ़ वाली गद्दी से ही संबद्ध रहा होगा। फतुहा मठ गणेशदासजी के समय से बहुत पहले से प्रतिष्ठित है जिस कारण इसके मूल प्रवर्त्तक का निर्णय उनकी गुरु-परंपरा के अनुसार भी किया जा सकता है। उसी दशा में इस बात का भी पता लगाया जा सकता है कि इस शाखा को कितना प्राचीन कहा जाय। इसके १५वें महंत का नाम दयाल साहब बतलाया जाता है जो 'कबीर परिचय साखी' ग्रंथ के रचयिता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। किंतु इनके जीवन-काल का हमें कोई पता नहीं जिसके आधार पर भी इस संबंध में विचार किया जा सके।

कतिपय विशेषताएँ

फतुहा मठ की ओर से प्रकाशित किसी ऐसे साहित्य का हमें अभी तक पूरा ज्ञान नहीं जिससे इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालने में सहायता ली जा सके, न इसके संबंध में हमें कहीं अन्यत्र ही कुछ लिखा मिलता है। इधर की खोज द्वारा[1] केवल इतना ही पता लगाया जा सका है कि यह मठ सुव्यवस्थित रूप में चलता दीख पड़ता है। इसकी उप-शाखाओं के रूप में बहुत-सी गद्दियाँ बिहार प्रांत के गया, छपरा, मुजफ्फरपुर-जैसे कई जिलों में वर्तमान हैं। इसकी एक ऐसी ही शाखा का वाराणसी में भी होना कहा जाता है जिसके विषय में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। कहते हैं कि इस मठ के अनुयायियों में 'विरक्त' तथा 'गृहस्थ' दोनों प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं और वे पुरुष तथा स्त्री इन दोनों में से किसी

---

१. डॉ० केदारनाथ द्विवेदी : कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० २९६-७।

४. भगताही शाखा : धनौती, जिला सारन

संक्षिप्त परिचय

कबीर-पंथ की 'भगता ही शाखा' के मूलप्रवर्त्तक भागोदास वा भगवान गोसाईं कहे जाते हैं जो कबीर साहब के प्रमुख शिष्यों में भी गिने जाते हैं तथा जिनके विषय में इसके पहले हम विचार कर चुके हैं। भागोदासने 'भगता ही शाखा' का प्रवर्तन कब और किस रूप में किया तथा इसके मठादि का प्रारंभिक संगठन करते समय उन्हें किन-किन व्यक्तियों से किस प्रकार की सहायता मिली और फिर इसका क्रमिक विकास कैसे होता गया, आदि बातें विदित नहीं हैं। इसका प्रधान केन्द्र धनौती में प्रतिष्ठित है जहाँ पर भी इसके दो मठ क्रमशः 'बड़ा' और 'छोटा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। इसकी उप-शाखाओं के रूप में अनेक मठ विहार प्रांत में स्थापित हो चुके हैं, किंतु उनके संबंध में भी अभी तक हमें यथेष्ट सामग्री नहीं मिली है। ऐसे मठों में कुछ तो सारन जिले में हैं, कुछ मुजफ्फरपुर जिले में हैं तथा कुछ का चंपारन जिले में भी होना बतलाया जाता है। किंतु हमें अभी तक इस बात का पूरा पता नहीं चल सका है कि उनका आपस में कोई विशिष्ट संबंध है वा नहीं। धनौती का 'बड़ा' मठ, इन सभी से कहीं अधिक सुव्यवस्थित रूप में पाया जाता है। कहते हैं कि इसके वर्तमान महंत रूपधारी गोस्वामी किसी 'लहेजी' नामक मठ में रहा करते हैं तथा स्वयं बड़े धनौती मठ का संचालन वहाँ के अधिकारी किया करते हैं।[1] भगताही शाखा के किसी मठ का बिहार प्रांत के बाहर पाया जाना अभी तक हमें विदित नहीं है, न हमें यही ज्ञात हो सका है कि जिस पिशौरागढ़ (बुंदेल खंड) के विषय में कहा जाता है कि वह इसके प्रवर्त्तक भगवान गोसाई का निवास-स्थान रहा होगा उसकी निश्चित भौगोलिक स्थिति क्या है अथवा वहाँ पर इसकी कोई उप-शाखा है भी वा नहीं।

कतिपय विशेषताएँ

भगताही शाखा की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में पायी जाती है कि इसके यहाँ बाह्योपचारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, प्रत्युत इसके अनुयायियों का ध्यान विशेषकर भक्ति-भावना की ही ओर केन्द्रित जान पड़ता है। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इसके प्रवर्त्तक भागोदास का प्रारंभिक जीवन संभवतः निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों के वातावरण में बीता था जिस कारण उसका प्रभाव पीछे चल कर भी सर्वथा नष्ट नहीं हो सका होगा। अतएव हम देखते हैं कि इस शाखा से संबद्ध कबीर-पंथियों में अब तक भी अधिकतर उस विशिष्ट धार्मिक

---

१. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित, पृ० २६८।

वेशभूषा अथवा आचरण को ही महत्व दिया जाता आ रहा है जो उक्त सम्प्रदाय वालों में प्रचलित है। इसके अनुयायी वैसा ही तिलक धारण करना पसंद करते हैं, उनकी जैसी ही भक्ति-साधना को प्रश्रय देते सुने जाते है तथा अपने नामों के समय ये लोग उस 'गोस्वामी' पदवी का भी उपयोग करना चाहते हैं जिसका प्रयोग निंबार्क सम्प्रदाय वालों में होता आया है। तदनुसार इस शाखा के त्यागियों अथवा पंडितों को जहाँ 'गोस्वामी' कह कर अभिहित किया जाता है, वहाँ इसके अनुयायी गृहस्थ उस नाम के विकृत रूप 'गोसाई' शब्द का ही अपने लिए प्रयोग करते दीख पड़ते हैं। भगताही शाखा वालों की प्रवृत्ति साहित्य-रचना की ओर उतनी नहीं देखी जाती। ये लोग 'कबीर-बीजक' ग्रंथ को विशेष श्रद्धा के साथ देखते हैं तथा कभी-कभी इनकी एक ऐसी मान्यता भी सुनी जाती है कि उसका विशेष संबंध उनकी शाखा से ही रहता आया है। कबीर-पंथ की अन्य शाखाओं और विशेषकर छत्तीसगढ़ी वालों का तो कहना है कि उस ग्रंथ का मूल-रूप किसी न किसी प्रकार भागोदास के ही हाथ लगा था तथा 'अनुराग सागर' में उसका इनके द्वारा 'चुरा लिया जाना' तक भी बतलाया गया है[१]। इसके सिवाय, जहाँ तक पता है भगताही शाखा के अनुयायी कबीर साहब को उस प्रकार का अवतारी रूप देना पसंद नहीं करते, जैसा छत्तीसगढ़ी वालों के यहाँ देखा जाता है और ये उन्हें अधिक से अधिक एक आदर्श रूप में ही स्वीकार करते हैं।

५. कबीर-चौरा शाखा, काशी

स्थापना का समय

कबीर-पंथ के अनेक अनुयायियों की धारणा है कि कबीर-चौरा वाली शाखा कदाचित् सभी अन्य शाखाओं से अधिक प्राचीन होगी। इसका मुख्य कारण, इसके कबीर साहब के जन्म-स्थान में पाये जाने पर भी आधारित हो सकता है। परन्तु जैसा हम इसके मूल प्रवर्त्तक समझे जाने वाले संत सुरत गोपाल वाले प्रसंग में देख आये हैं, इसको तथ्य मान लेने के लिए हमारे पास अभी तक यथेष्ट साधन उपलब्ध नहीं हैं। इसके सिवाय स्वयं कबीर-पंथ के अनुयायियों में से ही बहुत-से लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि उसका प्रारंभ वस्तुतः मध्यप्रदेश की ओर से हुआ होगा। इनके अनुसार कबीर-पंथ के स्थापित करने की प्रेरणा सर्वप्रथम कबीर साहब की ओर से उनके शिष्य धर्मदास को मिली थी। फलतः उनके उत्तराधिकारी मुक्तामणि नाम ने उसे कुदरमाल में सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस प्रकार, "यह निश्चित है कि इस देश में कबीर-पंथ के जितने भी मठ हैं वे सब

---

१. 'बहुतक ग्रंथ तुम्हार चुरैहैं। आपन पंथ निहार चलैहैं।' पृ० ६१।

उसी के शाखा मठ कहे जा सकते हैं।"[1] ऐसी दशा में इस बात का अंतिम निर्णय कर पाना केवल तभी संभव हो सकता है, जब हमारे पास कबीर-पंथ की सभी शाखाओं का प्रामाणिक इतिहास मिल सके तथा जब हम उनके क्रमिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन करके किसी स्पष्ट परिणाम तक पहुँच पाने में समर्थ हो सकें। कबीरचौरा शाखा की स्थापना का ठीक समय निर्धारित करने के लिए सर्वप्रथम इसके मूल प्रवर्त्तक संत सुरत गोपाल का जीवन-काल विदित होना चाहिए जिसके विषय में हम देख चुके हैं कि यह अधिक से अधिक १६वीं शताब्दी के अंत तक पहुँचता है। परन्तु हम केवल इसी के आधार पर कबीर-चौरा शाखा की स्थापना का भी समय निश्चित नहीं कर सकते जब तक हमें उसका कोई स्पष्ट उल्लेख न मिल जाय अथवा जब तक उसकी पुष्टि किन्हीं अन्य प्रमाणों के आधार पर भी न की जा सके। संत सुरत गोपाल तथा उनके शिष्य महंत ज्ञानदास की समाधियों का जगन्नाथ-पुरी में होना बतलाया जाता है। इसके अनंतर श्यामदास, लालदास, हरिदास तथा सीतलदास अर्थात् यहाँ के सातवें महंत तक की समाधियों का यहाँ पर कोई पता नहीं चलता। सुरत गोपाल से सातवें महंत सुखदास की समाधि नीरू टीले में वर्तमान है। कहा जाता है कि सर्वप्रथम उन्हीं के समय अर्थात् संभवतः किसी समय १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में यह स्थान पंथ के अधिकार में आया था। 'कबीर-चौरा' की भूमि इसके भी पीछे कदाचित्, काशी-नरेशों की सहायता से प्राप्त की गई तथा यहाँ के महंतों की समाधियों का निर्माण उनसे १४वें महंत शरण-दास से आरंभ हुआ। इस दशा में हमें इस प्रकार के प्रमाणों से भी पूरी सहायता नहीं मिलती।

कबीर-चौरा का मठ

कबीर-चौरा शाखा का मठ, काशी-नगर के अंतर्गत उसी नाम के एक मुहल्ले में इस समय भी वर्तमान है। मुख्य स्थान पर इस समय एक मंदिर का निर्माण कर दिया गया है जहाँ पर कबीर साहब के उपदेश देने का पवित्र स्थल दिखलाया जाता है। इसके पास ही उनकी एक प्रस्तर-मूर्ति भी स्थापित की गई है, जहाँ पर उनकी आरती ली जाती है और स्तोत्र पढ़े जाते हैं। कबीर चौरा के आँगन की चहार-दीवारी के दक्खिन वाली गली के भी पीछे दो और आँगन घिरे हुए हैं जिनमें से पश्चिम वाले में 'नीरू टीला' पड़ता है तथा पूर्ववाले का रूप किसी धर्मशाला का

---

१. "दृश्यन्ते साम्प्रतंदेशे, मठा येऽस्य पथः खलु ।
शाखा मठाहि तस्यैव, सर्वे सन्तीति निश्चितम् ।।२०५
—सद्गुरु श्री कबीर चरितम्, पृ० ३२२ ।

जैसा है और उसमें 'कबीर-महाविद्यालय' नाम से एक संस्था भी चला करती है। नीरू टीला वाले विभाग में बहुधा कबीर-पंथ की कुछ स्त्रियाँ भी रहा करती हैं जिन्हें 'माई लोग' की संज्ञा प्रदान की जाती है। कबीर-चौरा शाखा का सारा प्रबंध यहाँ के महंत के अधीन है जो दीवान, कोतवाल तथा पुजारी नामक भिन्न-भिन्न कर्मचारियों द्वारा उसकी व्यवस्था कराया करते है और जो बाहर से आनेवाले यात्रियों से प्राप्त भेंट तथा मठ की संपत्ति के मालिक भी कहे जाते हैं। इस मठ के तत्वावधान में एक साम्प्रदायिक मेला भी प्रतिवर्ष लगा करता है जो एक सप्ताह तक चला करता है। इस अवसर पर यहाँ 'जोत प्रसाद' की विधि संपन्न की जाती है तथा कबीर-पंथ में नवीन व्यक्ति सम्मिलित भी किये जाते हैं। कहते हैं कि कबीर मठ का जीर्णोद्धार करने के उद्देश्य से यहाँ पर कुछ खोदाई का भी काम हुआ है। इसके परिणाम स्वरूप कुछ लकड़ी के पतले खंभों, पत्थर की मूर्तियों, पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों की प्राप्ति हुई है और ये अंतिम वस्तुएँ किसी पत्थर की संदूक में सुरक्षित मिली हैं।

उप-शाखाएँ : लहरतारा और मगहर

कबीर-पंथ की कबीर-चौरा शाखा, काशी की कुछ उप-शाखाएँ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें से लहरतारा, मगहर तथा 'कबीर-बाग', गया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और इनका हमें कुछ न कुछ परिचय भी उपलब्ध है। इन तीनों में से लहरतारा वाली उप-शाखा का संबंध उस प्रसिद्ध स्थान के साथ समझा जाता है, जहाँ पर कबीर साहब अपने शिशु-रूप में नीरू और नीमा को मिले थे और जो उक्त कबीर-चौरा से लगभग दो मील उत्तर पश्चिम की ओर वर्तमान है। इस उप-शाखा का मठ साधारण है और इसका प्रबंध भी संभवत: इसकी मूल शाखा कबीर-चौरा की ही ओर से होता है। परन्तु मगहर वाली उप-शाखा जिसका संबंध कबीर साहब के मृत्यु-स्थान के साथ जोड़ा जाता है, इससे कहीं अधिक बड़ी है और वह गोरखपुर नगर से लगभग १६ मील पश्चिम की ओर बस्ती जिले में स्थित है। इसके वहाँ पर दो भाग हैं और इन दोनों के बीच एक दीवार निर्मित कर दी गई है तथा इनमें से एक का संबंध हिन्दू कबीर-पंथियों से है और दूसरे का मुस्लिम कबीर-पंथियों के साथ और इन दोनों में इसी के अनुसार प्रबंध भी किया गया दीख पड़ता है। मुस्लिम कबीर-पंथियों वाले भाग में एक 'रौजा' बना हुआ पाया जाता है जिसे कबीर साहब की समाधि कहते हैं तथा जिसके पूरब की ओर एक समाधि संत कमाल की भी बतलायी जाती है और जो एक छोटी-सी कोठरी के भीतर बनी हुई है। इस रौजे पर इसके अनुयायियों की ओर से पुष्पादि चढ़ाये जाते हैं और इसके अधिकारी को 'गनी करन कबीर' कहा जाता है जो अपना उत्तराधिकारी अपनी मृत्यु

के पहले ही चुन लेता है। इसके साथ संबद्ध कबीर साहब को वे किसी एक 'पीर' विशेष से अधिक महत्व देना नहीं चाहते। परन्तु मगहर के मठ वाले हिन्दू अधिकृत भाग का निर्माण अधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसका अपना एक आँगन है जिसमें कबीर साहब की समाधि एक पक्के कुएँ के पास बनी हुई है और जिसका जीर्णोद्धार भी सं० १६५५ में किया जा चुका है। यहाँ का प्रबंध कबीर-चौरा, काशी की ओर से होता है और यहाँ के पुजारी की नियुक्ति भी वहीं से होती है तथा वह प्रति वर्ष वहाँ जाया करता है। इस मठ के उपलक्ष में वहाँ पर एक मेला लगा करता है और इसके निकट के ही एक स्थान को कबीर साहब का साधना-स्थल भी कहा जाता है।

कबीर-बाग तथा अन्य उप-शाखाएँ

कबीर-चौरा शाखा, काशी की 'कबीर बाग' वाली उप-शाखा की विशेष प्रसिद्धि रामरहसदासजी के कारण है जिनका पूर्व नाम रामरज द्विवेदी था तथा जिनका जन्म सं० १७८२ के अंतर्गत गया से २५ मील दूर 'टेकारी' नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता वहाँ के महाराजा मित्रजीत के मंत्री थे और बचपन में इन्होंने अपनी माँ से संस्कृत पढ़ी थी। इन्होंने फिर वहीं की गयावाली पाठशाला में अध्ययन किया तथा सं० १८१२ में एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में वैराग्य भी ले लिया। प्रसिद्ध है कि पहले इनकी विशेष रुचि वेदांत दर्शन की ओर थी, किंतु किसी कबीर-पंथी के प्रभाव में आकर ये पीछे फतुहा मठ के आचार्य गुरुदयाल जी से 'कबीर-बीजक' का अध्ययन करने लगे। कदाचित् इसमें इन्होंने कबीर-चौरा, काशी के आचार्य गुरुशरण साहब से भी परामर्श लेकर अपने 'पंचग्रंथी'-जैसे श्रेष्ठ ग्रंथों का निर्माण किया। इनकी कुछ पंक्तियों से हमें ऐसा लगता है कि इनकी श्रद्धा उक्त दोनों आचार्यों के प्रति रही होगी तथा इन्होंने उन दोनों के ही पाण्डित्य से पूरा लाभ उठाया होगा। इन्होंने सं० १८६६ में शरीर-त्याग किया और ये आज तक भी एक मेधावी कबीर-पंथी पंडित के रूप में विख्यात हैं। इनका गयावाला निवास-स्थान इस समय अपने पूर्वरूप में विद्यमान नहीं है, किंतु वह 'कबीर बाग' के नाम से आज भी कम प्रसिद्ध नहीं है। काशी की कबीर-चौरा वाली शाखा की उप-शाखाओं में नडियाद, बड़ौदा तथा अहमदाबाद आदि के मठों के नाम लिये जाते हैं। परन्तु उनके संबंध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, न उनकी ऐसी कोई विशेषताएँ ही सुनी जाती हैं जो उल्लेखनीय हों। इतना अवश्य है कि कबीर साहब के शिष्य सुरत गोपाल जी अथवा किसी अन्य ऐसे पुरुष की अपेक्षा स्वयं उन्हीं के जीवन की घटनाओं के साथ अधिक संबद्ध समझे जाने के कारण, इस शाखा का महत्त्व और भी बढ़ जाता जान पड़ता है। फिर भी 'अनुराग सागर' के देखने से पता चलता

है कि इसके प्रवर्त्तक संत सुरत गोपाल को वहाँ धर्मदासजी के निकट 'खवास' के रूप में आनेवाला तथा 'अंध अचेत' कहा गया है। उनकी निंदा इस रूप में भी की गई है कि उन्होंने 'अक्षर जोगजीव' को भ्रम में डाल दिया था[1]।

६. 'छत्तीसगढ़ी' वा 'धर्मदासी' शाखा

प्रारंभिक परिचय

कबीर-पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसका सभी अन्य शाखाओं से कही अधिक प्रचार है। इसके अनुयायियों द्वारा एक विशाल साहित्य की रचना भी की जा चुकी है। कदाचित् इन्हीं दो कारणों से यह अपने रूप में, उसका मुख्य स्थान तक ग्रहण कर लेती प्रतीत होती है। इस शाखा के मूल प्रवर्त्तक धर्मदासजी समझे जाते है जिनका परिचय कबीर-शिष्यों की चर्चा करते समय दिया जा चुका है। कहते है कि उन्होंने अपने यहाँ अतिथि रूप में उपस्थित कबीर साहब की आज्ञा से अपने द्वितीय पुत्र 'चूडामणि नाम' को विधिवत् गद्दी पर बिठला दिया। तभी से ये इस शाखा के प्रमुख आचार्य 'मुक्तामणि नाम' कहला कर प्रसिद्ध हो गए। धर्मदासजी का इस घटना के अनंतर कबीर साहब के साथ जगन्नाथपुरी की ओर जाना तथा वहीं पर शरीर-त्याग करना भी कहा गया है। मुक्तामणि नाम के बड़े भाई नारायण द्वारा उनकी गद्दी के प्रति विरोध भाव प्रकट किये जाने पर उन्हें पीछे वहाँ से पहले 'कोर्बा' तथा उसके भी अनंतर 'कुदरमाल' मे चला जाना पड़ा। इस कारण यह अंतिम स्थान ही शाखा का प्रधान केन्द्र हो गया और तब से उनके शिष्य-प्रशिष्य उत्तराधिकारियों की एक नयी परंपरा ही प्रतिष्ठित हो चली। परन्तु यह घटना कब हुई इसका ठीक समय हमें ज्ञात नहीं है। इधर की गई कुछ खोज के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इसके आज से लगभग ३५० वर्ष हुए होंगे। इस काल को यदि दो भागों में विभक्त किया जाय तो, यह भी बतलाया जा सकता है कि इसके पूर्वार्द्ध वाले समय की घटनाओं का वर्णन, जहाँ बहुत कुछ पौराणिक-शैली में ही किया गया मिलता है, वहाँ उत्तरार्द्ध में संघर्ष की प्रधानता रहती है[2]। तदनुसार हम देखते हैं कि मुक्तामणि नाम से लेकर 'सुरत सनेही नाम' तक ७ आचार्यों के संबंध में अनेक चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। उन्हें पहले के महा-

१. "पंथ तीसरे तोहि बताऊँ। अंध अचेत दूत चल आऊँ॥
होय खवास आय तुम पासा। सुरत गोपाल नाम पर वासा॥
आपन पंथ चलावे न्यारा। अक्षर जोग जीव भ्रम डारा॥"—पृ० ९१।

२. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

पुरुषों का-जैसा स्थान दिया जाता है, किंतु हक्कनाम (गद्दीकाल सं० १८५३) से संबंध-विच्छेद की भी प्रथा चल निकलती है। महंत हक्कनाम का सुरत सनेही नाम का औरस पुत्र न होकर केवल दासीपुत्र ही होना बहुत लोगों की दृष्टि में उनकी गद्दी के लिए प्रत्यक्ष बाधा उपस्थित करता जान पड़ा, जिस कारण हटकेसर के-जैसे मठों के कबीर-पंथियों ने अपनी नयी उप-शाखा बना ली। इसी प्रकार, फिर हक्कनाम के अनंतर तीसरे गुरु प्रगट नाम (गद्दीकाल सं० १९२०) के मरने पर भी उत्तराधिकार का झगड़ा चला। इसमें मुकदमेबाजी तक हो गई। बंबई हाईकोर्ट के निर्णयानुसार उनकी वैध पत्नी से उत्पन्न धीरज नाम (गद्दीकाल सं० १९५१) को गद्दी मिली। इसी प्रकार धीरज नाम के अनंतर तीसरे गुरु दया नाम की मृत्यु हो जाने पर भी सं० १९८४ से लेकर सं० १९९४ तक अनेक प्रकार के झगड़े होते रह गए। अंत में, धर्मदासजी के ४२ वंश वाले 'वंश' शब्द की अनेक व्याख्याएँ हो जाने पर उसके 'विंद वंश' और 'नाद वंश' नाम के दो वर्ग बन गए। तदनुसार 'विंद वंश' के अंतर्गत जहाँ सं० १९९५ में गृंध्र मुनि नाम साहब प्रतिष्ठित हुए वहाँ 'खरसिया' में 'नाद वंश' की गद्दी आरंभ हुई[1]। अतएव 'विंद-वंश' के महंतों में पैतृक अधिकार को विशेष महत्त्व प्राप्त है, किंतु 'नाद वंश' वा 'वचन वंश' में इसे कोई मान्यता प्राप्त नहीं। इसके महंत विवाह नहीं करते और यह पद केवल उनकी योग्यता के ही आधार पर मिला करता है। छत्तीसगढ़ प्रदेश में तथा अन्यत्र भी इन दोनों की उप-शाखाएँ पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी हैं जिन्होंने अपने मूल से संबंध विच्छेद कर लिया है।

कतिपय प्रमुख उप-शाखाएँ

छत्तीसगढ़ी की जिन उप-शाखाओं का उसके साथ संबंध-विच्छेद का होना नहीं कहा जा सकता उनकी भी संख्या कम नहीं है। जैसा हम इसके पहले भी देख चुके हैं, यदि कुदरमाल को हम इसकी सर्वप्रमुख शाखा रूप में स्वीकार करें तो, जान पड़ेगा कि मुक्तामणि नाम द्वारा उसके प्रतिष्ठित हो जाने पर उनके अनंतर तीसरे महंत प्रमोद नाम (गद्दीकाल सं० १७५०) के समय ऐसी एक शाखा की स्थापना 'मांडला' में की गई। वहाँ पर उनकी तथा अमोल नाम (गद्दीकाल सं० १७९४) की समाधियाँ बनी हुई हैं तथा वहाँ हक्कनाम

---

१. नीति लखायी सत्य की, वचन-वंश परकाश ॥
वचन भाउ सो वंश है, प्रकट कहा अविनाश ॥
—कबीर-पंथी शब्दावली, भूमिका पृ० २ ।

के समय ऐसे महंत गुरुओं की स्मृति में उनके पूजनादि की विधियाँ भी संपन्न की जाती हैं। इसी प्रकार धर्मदासी शाखा के रूप में इस समय एक मठ दामाखेडा में प्रतिष्ठित है जिसके महंत बड़ी सजधज के साथ रहा करते हैं। उसे वस्तुतः उसके प्रधान केन्द्र का जैसा महत्त्व भी कभी-कभी दे दिया जाता सुना जाता है। दामाखेड़ा वा धामखेड़ा में प्रति वर्ष माघ के महीने में वसंतपंचमी के अवसर पर एक मेला भी लगा करता है, जहाँ पर दूर-दूर के कबीर-पंथी आकर सम्मिलित होते है। कहते हैं कि यह मेला तीन दिनों तक चलता है और इस अवसर पर यहाँ ३८ महंत आकर यहाँ के महंत से आदेश ग्रहण किया करते है। इसके सिवाय एक छोटी-सी गद्दी बमनी का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ पर धीरज नाम के वंशजों की परंपरा चली आ रही है। जिन अन्य ऐसे मठों को इस प्रकार न्यूनाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है उनमें महंत सुदर्शन नाम (गद्दीकाल सं० १७००) के ननिहाल वाले स्थान रतनपुर का है। प्रमोद गुरु के एक शिष्य संतजी द्वारा प्रतिष्ठित मऊ, छतरपुर वाला मठ है, केवल नाम (गद्दीकाल सं० १७७६) के समय से आने वाला धमधा का मठ है। योगराज साहब (जंगली बाबा) वाला पूना का मठ है तथा कबीर आश्रम मठ जामनगर वाला है। इसी प्रकार कुछ ऐसे आधुनिक मठों में हक्कनाम के समय में प्रतिष्ठित कवर्धा मठ, कबीर-मंदिर सीय बाग बड़ौदा, कबीर-मंदिर सूरत, साँपा, नागपुर वाले मठ और कबीर-मंदिर तेरा, बिहार नाम से प्रचलित मठ के-जैसे कई नाम लिये जाते हैं।

(ग) संबंध-विच्छेद के कारण प्रतिष्ठित शाखाएँ

हटकेसर तथा कबीर-चौरा, जगदीशपुरी

संबंध-विच्छेद की प्रवृत्ति, वस्तुतः उसी समय जागृत हुई जिस समय धर्मदासजी के प्रथम पुत्र नारायणदास तथा उनके द्वितीय पुत्र चूड़ामणि अथवा मुक्तामणि नाम की दो गद्दियाँ क्रमशः बाँधोगढ़ तथा कुदरमाल में प्रतिष्ठित हुईं। बाँधोगढ़ वाली गद्दी, कदाचित् इस समय भी वर्तमान है और वहाँ नारायणदास के उत्तराधिकारी रहते आये है। परन्तु कुदरमाल की गद्दी के बहुत महत्त्वपूर्ण होने पर भी अनेक मठों ने उससे पृथक् बने रहना ही अधिक उचित समझा है। ऐसी उप-शाखाओं में एक 'हटकेसर' का मठ है। इसने मुक्तामणि नाम की मृत्यु के अनंतर उनके दो पुत्रों के बीच संघर्ष उत्पन्न होने के समय उन दोनों से पृथक् होकर ही रहना आवश्यक मान लिया और तब से इसकी एक पृथक् परंपरा चली आ रही है। इस मठ के उपलब्ध इतिहास में कोई वैसी उल्लेखनीय बात नहीं दीख पड़ती। इसी प्रकार हम उस एक अन्य ऐसी शाखा कबीर-चौरा, जगदीशपुरी के संबंध में भी कह सकते हैं। वहाँ के महंतों की नाम-सूची के देखने पर तो पता चलता है कि यह

अत्यंत प्राचीन होगी, किंतु जिसके लिए प्रस्तुत की जाने वाली सामग्री के आधार पर ऐसा कोई स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाता। इसके संबंध में लिखित समझे जाने वाले किसी पुराने हस्तलिखित ग्रंथ 'आसा सागर' से जहाँ ऐसा लगता है कि इसकी स्थापना कदाचित् स्वयं कबीर साहब के जीवन-काल के आसपास हुई होगी, वहाँ छत्तीसगढ़ी शाखा की अनेक बातों के यहाँ पर प्राय: पूर्ण रूप से अनुसरण होते आने से कभी-कभी यह भी अनुमान होने लगता है कि यह संभवत: कहीं पीछे ही अस्तित्व में आयी होगी[1]।

कबीर निर्णय मंदिर, बुरहानपुर

परन्तु एक ऐसी ही अन्य शाखा कबीर-निर्णय-मंदिर, बुरहानपुर के विषय में हमें इस प्रकार का कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसके सर्वप्रमुख प्रवर्त्तक माने जाने वाले प्रसिद्ध पूरन साहब (मृ० सं० १८६४) के लिए कहा जाता है कि इन्होंने छत्तीसगढ़ी शाखा वाले महंत पाकनाम साहब (गद्दीकाल सं० १८६०) से 'पंजा' लिया था और ये उससे पूर्णत: संबद्ध भी थे। परन्तु इनकी विद्वत्ता तथा अनुपम व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित होकर जब अनेक व्यक्तियों ने इनसे दीक्षित होना आरंभ कर दिया तो, इन्हें दंड के रूप में किसी कोठरी में बंद कर दिया गया और ये उसके बाहर बहुत कहने-सुनने पर ही लाये जा सके। इसके सिवाय इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि उनके द्वारा की गई 'कबीर बीजक' की 'त्रिज्या' नाम की टीका कदाचित् छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुरूप सिद्धांत प्रकट करती हुई नहीं जान पड़ी, जिस कारण इन्हें उसका कोप-भाजन हो जाने पर उससे पृथक् हो जाना पड़ा। जहाँ तक इनके उस शाखा के साथ पहले संबद्ध रहने की बात है इसे इन्होंने अपने 'निर्णय सार' ग्रंथ के अंतर्गत स्वयं स्वीकार किया है। वहाँ बतलाया है कि किस प्रकार इनके गुरु सुखलाल थे जिनके गुरु अमरदास ने स्वयं धर्मदास द्वारा 'पारखपद' प्राप्त किया था[2]। पूरन साहब द्वारा रचे गए ग्रंथों से जान पड़ता है कि ये एक बहुत योग्य पुरुष थे। कहते हैं कि इनका देहांत केवल ३२ वर्ष की आयु पाकर हो गया। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में भी श्रीराम साहब, काशी साहब तथा छोटे बालक साहब जैसे कई अच्छे विद्वान्

---

१. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

२. पारखगुरू कबीर कहाये। पारख धर्मदास बतलाये।
पारख में सब संत कहाई। पारख अमरदास गुरू पाई।
तहवाँते सुखलाल कृपानिधि। पारख पाई सकल बीजक विधि।
पूरण तिन का चरण को चेरो। कृपादृष्टि उनहिन प्रभु हेरो॥
—निर्णयसार, चौ० ५७।

और ग्रंथ रचयिता हो चुके हैं। पूरन साहब और विशेषकर इनके उक्त उत्तराधिकारियों की रचनाओं से पता चलता है कि कबीर-पंथ की इस उप-शाखा के अंतर्गत विचार-स्वातंत्र्य तथा तार्किक चिंतन-प्रणाली को विशेष महत्त्व दिया गया है और इसके सिद्धांत अधिकतर दार्शनिक भी कहे जा सकते हैं। इसका प्रधान केन्द्र बुरहानपुर में ही स्थित है, किंतु इसके तत्त्वावधान में अन्य कई मठ भी प्रचलित हैं। इनके यहाँ आचार्यो की गद्दी उनके पूर्ण योग्य होने पर ही निर्भर रहती है, जिस कारण किसी जन्मजात अधिकारादि के प्रश्नों को उतना प्रश्रय नहीं मिलता।

वंशावली
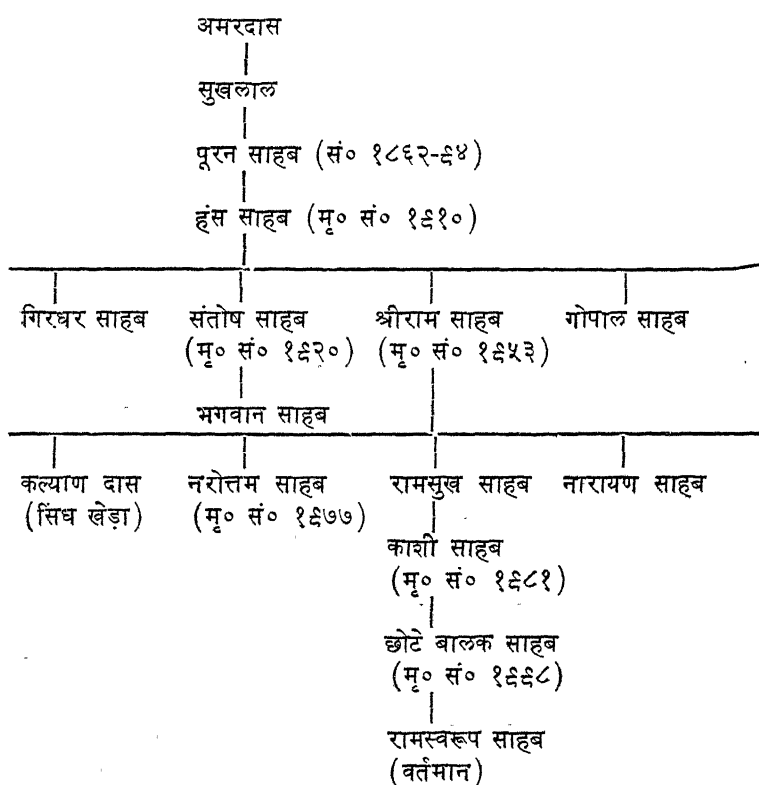
कबीर मठ लक्ष्मीपुर-बागीचा

छत्तीसगढ़ी शाखा से संबंध-विच्छेद करके अपना प्रचार-कार्य पृथक् कर लेने वाली उसकी प्रमुख उप-शाखाओं में से कबीर साहब का मठ 'लक्ष्मीपुर बागीचा', रुसड़ा, जिला दरभंगा का भी नाम लिया जा सकता है। इसकी स्थापना का समय

उक्त शाखा के संभवतः प्रमोद गुरु (गद्दीकाल सं० १७५०) का जीवन-काल होगा। दया नाम साहब (गद्दीकाल सं० १९७१) के समय वाले संघर्षों के कारण इसने अपनी मूल शाखा से संबंध तोड़ लिया और यह स्वतंत्र शाखा बन गई। परन्तु, जहाँ तक वहाँ के प्रचलित नियमादि के पालन का प्रश्न है, इस विषय में यहाँ पर कोई शिथिलता नहीं प्रदर्शित की जाती। इसका संबंध-विच्छेद वैसे बौद्धिक स्तर पर किया गया नहीं जान पड़ता, जैसा कबीर-निर्णय मंदिर, बुरहानपुर का कहा जा सकता है। इसकी कतिपय उप-शाखाएँ बिहार प्रांत के मुंगेर, मुजफ्फरपुर आदि के जिलों तथा नेपाल तक में भी पायी जाती हैं। इसके महंत द्वारा रचित किसी साहित्य का कोई पता नहीं चलता, न इसकी वैसी किसी विशेषता का ही परिचय उपलब्ध है।

(घ) कबीर-पंथी-विचार-धारा द्वारा प्रभावित स्वतंत्र मठ

आचार्य गद्दी, बड़ैया

कबीर-पंथी विचार-धारा द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित समझे जानेवाले मठों में भी कई के नाम लिये जा सकते हैं। किंतु उन सभी के विषय में हमें इतनी सामग्री उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर उनका परिचय दिया जा सके। इनमें से केवल दो अर्थात् आचार्य गद्दी, बड़ैया तथा आचार्य गद्दी महादेव मठ, रुसड़ा की ही कुछ चर्चा की जा रही है। आचार्य गद्दी बड़ैया, वाराणसी नगर से लगभग ३७ मील पश्चिम सुरियावाँ रेलवे स्टेशन से तीन मील पर बरुना नदी के किनारे स्थित है। इसकी स्थापना मदन साहब ने की थी जो पहले "वंशगद्दी की चार गद्दियों में से किसी एक के कबीर-पंथी थे।"[१] आध्यात्मिक रहस्य के प्रति इनकी जिज्ञासा इतनी प्रबल थी कि ये एक बार अपने भीतर शांति न मिलती देख कर आत्महत्या तक कर डालने की ओर प्रवृत्त हो गए। कहते हैं कि उसी अवसर पर इन्हें कबीर साहब के 'राधापत' रूप में दर्शन हो गए। कहा जाता है कि उन 'राधापत' ने इन्हें उस समय 'चार भेद' तथा 'सार शब्द' के रहस्यों से पूर्ण परिचित करा दिया। इसके फलस्वरूप इन्हें भीतरी शांति मिल गई और इन्होंने, वहीं अपने जन्म-स्थान 'खरौना', जि० जौनपुर में रह कर उपदेश देते हुए सं० १९११ में इह-लीला संवरण की। तत्पश्चात् इनके प्रमुख शिष्य आचार्य 'दुलम पति' इनके उत्तराधिकारी हुए जिनका देहांत श्रावण शुक्ला ४ सं० १९३९ बुधवार को हुआ। फिर उनके शिष्य आचार्य 'विवेक पति' को वह स्थान मिला जिन्होंने सं० १९७८ की अगहन बदी ३ को अपना शरीर-त्याग किया। मदन साहब का देहांत

---

१. सत्य दर्शन : कोठीरामदास नागपुर, सन् १९४९ ई०, पृ० १७४।

संभवत: शाहाबाद जिले (बिहार प्रांत) के डुमराँव स्थान पर हुआ था, जहाँ पर उनकी समाधि बनी हुई है। परन्तु, 'दुलम पति' साहब के समय से यह गद्दी उनके जन्म-स्थान बड़ैया में स्थापित की गई, जहाँ पर वह आज भी वर्तमान है। 'विवेक पति' साहब के अनंतर उनके शिष्य गुरुशरण साहब उनकी गद्दी पर आसीन हुए जो सं० २०१३ की फाल्गुन सुदी १३ गुरुवार तक जीवित रहे। अंत में, वहाँ पर 'प्रकाश पति' जी बैठे जो अभी तक प्रचार-कार्य में निरत हैं। बड़ैया के मूल प्रवर्त्तक मदन साहब के दो ग्रंथ क्रमश: 'नाम प्रकाश' तथा 'शब्द विलास' के नामों से प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से प्रथम के अंतर्गत उपयुक्त 'चार भेद' का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है तथा दूसरे में इनकी विविध विषयों वाली बानियाँ संगृहीत हैं।

आचार्य गद्दी महादेव मठ, रुसड़ा

आचार्य गद्दी महादेव मठ, रुसड़ा (जिला दरभगा) में स्थित है जिसके संस्थापक श्री कृष्णदास कारख बतलाये जाते हैं। इनका जन्म सं० १८६४ की ज्येष्ठ शुक्ला ५ को रुसड़ा में ही ब्रजमोहन कारख के घर हुआ था। इनका व्यवसाय बैल लादने का था। कहते हैं कि इन्हें भी कबीर साहब ने अपने दर्शन दिये थे तथा इन्हें उन्होंने शिष्यवत् स्वीकार किया था। इनके द्वारा रचित कई ग्रंथ बतलाये जाते हैं, किंतु अभी तक उनमें केवल एक पांजी पंथ प्रकाश का ही कुछ अंश प्रकाशित हो पाया है। कहते हैं कि इन्होंने स्वयं कबीर साहब के ही आदेशानुसार अपनी गद्दी की स्थापना की जो कृष्ण कारखी शाखा भी कही जाती है। इनके ग्रंथ 'पांजी पंथ प्रकाश' द्वारा पता चलता है कि इनका मृत्यु संवत् १८९६ रहा होगा। उसके आधार पर अथवा उसके अंतिम पृष्ठ पर लिखित वंशावली के अनुसार इस गद्दी के महंतों की परंपरा इस प्रकार दी जा सकती है :

कृष्णदास कारख (मृ० सन् १२४६ फ० : सं० १८९६)
|
डँवरदास (मृ० सन् १२७० फ० : सं० १९२०)
|
झकरीदास (मृ० सन् १२८३ फ० : सं० १९३३)
|
रामभरोसदास (मृ० सन् १३१० फ० : सं० १९६०)
|
रामटहलदास (मृ० सन् १३३० फ० : सं० १९८०)
|
बलदेवदास (वर्तमान)

इस तालिका के संबंध में इस शाखा के अनुयायियों में कुछ मतभेद भी बतलाया जाता है, किंतु वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके मूल प्रवर्त्तक कृष्णदास कारख की जाति संभवत: शौण्डिक वा कलवार की थी। इसका प्रचार करनेवालों में भी अधिकतर वैसी ही जातियों के व्यक्ति पाये जाते हैं जिनमें मुसलमानों के भी कुछ वर्ग सम्मिलित किये जा सकते हैं। कृष्णदास कारख के चार प्रमुख शिष्य खुशियालदास, कादिरशाह, देवीदास तथा सनफूलदास कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उन्होंने क्रमशः हरदिया, विष्णुपुर तथा निसिहारा, जिला दरभंगा तथा नवला, भागलपुर में अपने मठ बनाये थे। इस शाखा के विषय में यथेष्ट साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इसके मतादि की विशेषताओं का परिचय नहीं मिलता।

(ङ) विशिष्ट जातियों के रूप में परिणत कबीर-पंथी वर्ग

कबीर वंशी और पनिका जातियाँ

उपर्युक्त मठों तथा संस्थाओं के अतिरिक्त हमें कुछ ऐसे वर्ग-विशेष भी मिलते हैं जो अपने को कबीर-पंथी कहते हैं। इनमें से एक का संबंध कबीर साहब की पुत्री कही जाने वाली कमाली के वंशज कहला कर प्रसिद्ध है और इसी कारण उन्हें साधारणतः 'कबीर-वंशी' नाम से भी अभिहित किया जाता है। एच० ए० रोज साहब ने उन्हें हिन्दू जोलाहा बतलाया है और कहा है कि इनका व्यवसाय सूत कातने और कपड़े बुनने वाले गृहस्थों का-जैसा होता है।[1] ये लोग अधिकतर पंजाब की ओर लुधियाना तथा होशियारपुर में तथा उत्तरप्रदेश के मेरठ जिले में भी पाये जाते हैं। इस शाखा के कुछ अनुयायियों के मुल्तान की ओर पाये जाने का भी अनुमान किया जा सकता है, जहाँ पर संत कमाली का ब्याहा जाना प्रसिद्ध है। वहाँ के लिए यह भी कहा जाता है कि उधर इनके द्वारा रची गई बहुत-सी 'काफियाँ' भी प्रचलित हैं जिनकी भाषा मुल्तानी ही बतलायी जाती है। किंतु हमें इसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ की ओर एक जाति-विशेष पनिका 'कबीर-पंथियों' की भी पायी जाती है जिसका संबंध पहले संभवतः कबीर-पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के साथ रहा, किंतु पीछे वह पूर्ववत् बना नहीं रह सका। इस वर्गवालों के लिए प्रसिद्ध है कि ये अपनी धार्मिक वृत्तियों के विषय में बड़े कट्टर हुआ करते हैं। इसी कारण ये कभी 'प्रणिका' वा 'प्रण'

---

१. ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पंजाब ऐंड नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्राविंसेज' भाग १, पृ० १६८।

पर दृढ़ रहनेवाले भी कहलाते थे, किंतु समय पाकर इनका वह नाम केवल 'पनिका' रूप में ही प्रचलित हो गया। इस जाति के लोगों में अधिकतर निम्न श्रेणी के तथा सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अविकसित समझे जानेवाले ही पाये जाते हैं। इस समय इनके प्राय: दो भिन्न-भिन्न समुदाय मिलते हैं जिनमें से वस्तुत: अपने को 'मानिकपुरी पनिका' कहनेवालों का ही संबंध कबीर-पंथ से हो सकता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह है कि जहाँ तक धार्मिक जीवन के किसी प्रकार नियमानुसार निर्वाह करने का प्रश्न है, इन दोनों जातियों के विषय में हम उतना भी नहीं कह सकते जितना रामकबीर-पंथी उदाजाति वालों की चर्चा करते समय बतला चुके हैं।

कबीर-पंथ का प्रचार-क्षेत्र

कबीर-पंथ के आरंभ तथा क्रमिक विकास के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसका प्रचार किसी न किसी रूप में उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात तथा पंजाब में विशेष प्रकार से सफल कहा जा सकता है। परन्तु, जहाँ तक पता है इसके अनुयायियों की संख्या उत्कल, महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत तक में भी किसी प्रकार कम नहीं होगी। इसी प्रकार भारत के शेष प्रांत जैसे असम, बंगाल तथा कश्मीर तक में भी कुछ न कुछ कबीर-पंथियों का पाया जाना कहा जाता है। इनके कुछ मठों में सुरक्षित सूचियों द्वारा यह भी प्रकट होता है कि ऐसे लोगों का पता हमें नेपाल, फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान, लंका, बर्मा, भूटान, फिजी द्वीपसमूह, दक्षिण अफ्रीका, मारिशस-जैसे विदेशों तक में लगाया जा सकता है। ये बाहर के कबीर-पंथी किसी-न-किसी भारतीय शाखा के साथ अपना संबंध जोड़ते जान पड़ते हैं तथा ये साधारणत: उनके नियमानुसार व्यवहार करते भी पाये जाते हैं।

(२) कबीर-पंथी साहित्य और मत

कबीर-पंथी साहित्य

कबीर-पंथी साहित्य का अधिकांश जो पौराणिक कथाओं, कर्मकांडों अथवा गोष्ठियों-संवादों से सबद्ध है वह छत्तीसगढ़ी शाखा के अनुयायियों द्वारा निर्मित जान पड़ता है। उसके अंतर्गत 'सुख निधान', 'गुरु माहात्म्य', 'अमर मूल', 'गोरख गोष्ठी', 'अनुराग सागर', 'निरंजन बोध' और 'कबीर मंशूर'-जैसी रचनाएँ आती हैं। ऐसी पुस्तकों में कबीर साहब के विविध चरित्रों तथा उनके पूजनादि से संबद्ध वाली उपासना-पद्धतियों की भी गणना की जा सकती है। कबीर-पंथी साहित्य के शेष भाग में वे ग्रंथ आते हैं जिनमें पंथ के मत की कोई न कोई दार्शनिक व्याख्या की गई है। ऐसी पुस्तकें विशेषकर वे हैं जो पंथ के सर्वमान्य ग्रंथ 'कबीर-

बीजक' के भाष्यों के रूप में हैं अथवा जिनके अंतर्गत उनके लेखकों ने पंथ के मौलिक सिद्धांतों का विवेचन करते हुए अपनी निजी तर्क-पद्धति का सहारा लिया है। इस कोटि के ग्रंथों के निर्माण में अधिक हाथ 'रामकबीर-पंथ', 'कबीर-चौरा शाखा', 'फतुहामठ' अथवा 'कबीर निर्णय-मंदिर' बुरहानपुर, और 'आचार्य गद्दी', बड़ैया-जैसी कतिपय शाखाओं के अनुयायियों का रहा है और आज भी वे ही इस ओर विशेष ध्यान देते दीख पड़ते हैं। फिर भी इनमें से कुछ के अनुयायियों ने अपने मान्य वा 'खास' ग्रंथों में न्यूनाधिक स्थान उन पुस्तकों को भी दिया है जो छत्तीसगढ़ी शाखावालों द्वारा निर्मित हैं तथा जिनमें अधिकतर पौराणिक पद्धति का ही अनुसरण किया गया मिलता है। ऐसे ग्रंथों में कई एक बहुत बड़े-बड़े हैं और उनमें प्रायः सभी प्रकार की बातों का समावेश किया गया पाया जाता है। इनमें 'अमर मूल' तथा 'कबीर मंशूर'-जैसी उपलब्ध पुस्तकों के नाम लिये जा सकते हैं। 'अमर मूल' के वास्तविक रचयिता का नाम हमें विदित नहीं, किंतु उसके देखने से पता चलता है कि वह संभवतः सुरत सनेही नाम (गद्दी-काल सं० १८२५) के समय में लिखा गया ग्रंथ है। उसे लिखनेवाले ने अपना परिचय कदाचित् उसी प्रकार नहीं दिया है, जैसा पौराणिक ग्रंथों में भी देखा जाता है। 'कबीर मंशूर' के रचयिता स्वामी परमानंद थे जिनका जन्म-स्थान आजमगढ़ अथवा उसके निकट का कोई नगर रहा। वहीं से उन्हें कदाचित् शिक्षा भी मिली थी और वे साधु होकर पर्यटन कररते फीरोजपुर, पंजाब की ओर जाकर रहने लगे थे। 'कबीर मंशूर' पहले सं० १९३७ में उर्दू में लिखा गया था और इसका हिंदी अनुवाद पीछे किया गया तथा इसे 'स्वसंवेदार्थ प्रकाश' भी कहा गया।

कबीर-पंथी साहित्य की रचना-शैली

कबीर साहब के मत का परिचय देते समय बतलाया जा चुका है कि वे निजी अनुभव-जन्य ज्ञान को ही विशेष महत्त्व देते थे। उन्हें कोई शब्द-प्रमाण स्वीकृत न था, जिस कारण उनका 'स्वसंवेद्य' सत्य को 'परसंवेद्य' से अधिक मानना स्वाभाविक भी था। परन्तु पीछे आने वाले कबीर-पंथियों ने 'स्वसंवेद्य' शब्द के विकृतरूप 'स्वसंवेद' का एक भिन्न अर्थ भी निकाल लिया और वे यहाँ तक भी कहने लगे कि उसका अर्थ कबीर साहब का अपना 'वेद' अथवा उनकी स्व-रचित वाणियाँ हैं, जहाँ इसी प्रकार, 'परसंवेद' अथवा 'परसंवेद्य' के विकृत रूप का अभिप्राय भी 'दूसरों का वेद' अर्थात् प्रसिद्ध वेदादि ग्रंथ होना चाहिए। कहीं-कहीं तो उक्त 'स्वसंवेद्य' अथवा 'स्वसंवेद' का एक अन्य रूप 'सुषमवेद' वा 'सूक्ष्मवेद' तक भी जान पड़ने लगा। उसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों को

केवल 'स्थूलवेद' अथवा मोटी-मोटी बातों को प्रकट करने मात्र का ही श्रेय दिया जाने लगा। तदनुसार 'कबीर-बीजक'-जैसे ग्रंथ में संगृहीत बानियों पर भाष्य लिखते समय उसके भिन्न-भिन्न अंशों का स्पष्टीकरण बड़ी सावधानी के साथ किया जाने लगा। इसके लिए अधिकतर तर्क-संगत तथा पांडित्यपूर्ण विवेचन-शैली का ही प्रयोग किया गया। परन्तु 'कबीर मंशूर'-जैसे स्वतंत्र ग्रंथों की रचना करते समय बहुत कुछ कल्पना से भी काम लिया गया। इस कारण इनके अंतर्गत अनेक ऐसी बातों तक का भी समावेश हो गया जिन्हें हम कबीर साहब के वास्तविक मत से दूर जाती हुई भी ठहरा सकते हैं। इसी प्रकार जहाँ तक पूजन-पद्धति प्रधान ग्रंथों के संबंध में कहा जा सकता है, हमें वहाँ पर अधिकतर उस रचना-शैली का उदाहरण मिलता है जो प्राय: तांत्रिक ग्रंथों में अपनायी गई दीख पड़ती है। जीवन-चरितों पर भी बौद्ध 'जातकों' अथवा ऐसे पौराणिक ग्रंथों का प्रभाव लक्षित होता है जिनकी वर्णन-शैली कदाचित् कबीर साहब के जीवन-वृत्त के कभी उपयुक्त नहीं हो सकती।

कबीर मंशूर का सिद्धांत

'कबीर मंशूर' के अंतर्गत बतलाये गए सिद्धांतों के अनुसार जीव पहले अपने सत्य स्वरूप में था और उसकी देह पाँच 'पक्के' तत्त्वों अर्थात् धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य तथा तीन गुणों अर्थात् विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु-स्वभाव की बनी हुई थी। यही देह 'हंसा की देह' कही जाती थी जिसका प्रकाश तथा स्वभाव अलौकिक और अद्वितीय भी था। परन्तु सर्वगुण-संपन्न देवी शरीर को पाकर हंसा को स्वभावत: आनंद के कारण, कुछ आत्म-विस्मृति हो गई और वह 'कच्ची देह' वाला बन गया। फलत: उक्त धैर्य आकाश में परिणत हो गया, शील अग्नि हो गया, विचार जल में परिवर्तित हो गया, दया ने वायु का रूप धारण कर लिया और सत्य पृथ्वी बन गया। इन पाँच तत्त्वों के साथ-साथ प्रकृति के भी पचीस आकार कच्चे रूप में आ गए। तदनुसार जिस समय हंसा आनंद-विभोर होकर अपनी आँखें शून्य की ओर किये हुए था उसकी छाया ने स्त्री-रूप धारण कर लिया। इन दोनों के संयोग से समस्त संसार की रचना आरंभ हो गई तथा अहंकार के कारण एक से बहुत्व का प्रादुर्भाव हो गया। कहना न होगा कि स्त्री-पुरुष का उक्त संयोग, वास्तव में माया तथा ब्रह्म का संयोग सिद्ध हुआ और उस ब्रह्म को ही 'सच्चिदानंद' की संज्ञा दी जाती है। अतएव उनका यह वर्णन वाह्य रूप से किया गया स्थूल वर्णन ही कहा जा सकता है। इसका भीतरी रहस्य केवल 'स्वसंवेद्य' को ही विदित है। सूक्ष्मदेह से स्थूल-देह में आ जाने पर जीव स्वभावत: भ्रम में पड़ गया था, जिस कारण उसे वेदादि

का निर्माण करना पड़ा। स्वसंवेद की सहायता से वह पुनः अनेक से एक वा अद्वैत की ओर उन्मुख होकर प्रकाश में आ जाता है।

वही : 'पारखपद'

फिर भी जब तक जीव में वासना का अंकुर विद्यमान है, वह अद्वैत की ओर उन्मुख होकर भी, शीघ्र मुक्त नहीं हो पाता। वह 'बारंबार' आवागमन के चक्कर में फँसा रह कर जन्म लेता और मरता रहा करता है। बेद-वेदांतादि केवल ब्रह्मत्व की प्राप्ति के उपाय बतला कर ही रह जाते हैं। उन्हें पता नहीं कि यह स्थिति भी जीव को आत्यंतिक नित्यसुख देने में असमर्थ ही है। वास्तविक स्थिति अथवा 'पारखपद' की उपलब्धि बिना सद्गुरु की सहायता के संभव नहीं है। केवल कबीर साहब में ही यह सामर्थ्य है कि जीव का सारा भ्रम छुड़ा कर उसे अपने सत्य-स्वरूप की अनुभूति करा दें तथा उसकी बुद्धि को सदा के लिए स्थिर भी कर दें। यह स्थिति 'सत्यपद' वा 'परमपद' भी कहलाती है और यह 'तत्त्व-मसि'-जैसे महावाक्यों वाली स्थिति से नितांत भिन्न और उच्चकोटि की भी है इसे प्राप्त कर लेने पर ही कोई 'पारखी' वा सच्चा गुरु कहला सकता है और वही, वास्तव में 'वंदीछोर' कहलाने के भी योग्य होता है। उसे प्रत्येक रहस्य की वास्तविक अनुभूति बनी रहती है और इस प्रकार, सत्य का परखनेवाला भी वही एकमात्र हो सकता है। तदनुसार इन सारी बातों को देखते हुए ऐसे दैवी महापुरुष केवल कबीर साहब ही ठहरते हैं जिन्होंने हंसों को उबारने के लिए शरीर धारण किया था तथा जिनकी शरण में गये बिना किसी जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। 'कबीर-मंशूर' के रचयिता ने इस बात को बड़े विस्तार के साथ ग्रंथ के प्रायः पचास पृष्ठों में कहा है जो अधिकांशतः साम्प्रदायिक विचारों से ही पूर्ण है। 'पारखपद' का वर्णन, कहीं-कहीं 'तत्' 'त्वं' तथा 'असि'-जैसे तीनों के वेदांत में बतलाये गए पदों से भिन्न और 'चौथे पद' के रूप में किया गया भी मिलता है।[1] वहाँ 'गुरुतत्त्व' तथा 'पारखतत्त्व' भी अभिन्न माने गये हैं तथा सद्गुरु को 'पारखगुरु' कहा गया है। वास्तव में प्रत्येक जीव मूलतः पारख-स्वरूप है, क्योंकि उसमें 'मोटी' और 'झीनी' दोनों प्रकार की माया के परखने के लिए विवेकादि गुण रहा करते हैं।[2]

सृष्टि क्रम

'कबीर-मंशूर' के अंतर्गत सृष्टि-क्रम का वर्णन भी किया गया मिलता है।

---

१. दे० जीवधर्मबोध, पृ० ७६।

२. दे० पारख विचार, पृ० ४७।

वहाँ पर बतलाया गया है कि किस प्रकार, सर्वप्रथम ब्रह्म की सृष्टि हो गई जिसने 'सहज', 'अंकुर', 'इच्छा', 'सोहं', 'अचिंत' और 'अक्षर' नामक छह पुत्रों को उत्पन्न किया। इन छहों द्वारा सृष्टि-रचना न होती देख फिर उसने एक सातवाँ पुत्र 'काल पुरुष' के रूप में भी उत्पन्न किया जो 'निरंजन' कहा गया। इसने 'कूर्म' के मुंड काट कर उसके पेट से सामग्री निकाली और 'आद्या' के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये। निरंजन के ही श्वास से चारों वेदों की भी उत्पत्ति हुई जिनको पढ़ लेने पर ब्रह्मा को विराट् पुरुष का बोध हुआ। परन्तु वे इसको प्राप्त नही कर सके और इसमें सफल होनेवाले विष्णु के साथ निरंजन तथा आत्मा के एकरूप हो जाने पर सृष्टि-क्रम का मूल स्थिर हुआ। अतएव इन तीनों के पृथक्-पृथक् होने पर सृष्टि की प्रक्रिया का आरंभ होता है और इनके एक बन जाने पर यह तिरोहित हो जाती है। इस वर्णन का मेल 'अनुराग सागर' वाले सृष्टि-क्रम के साथ भी होता जान पड़ता है। दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि वहाँ पर 'सत्य पुरुष' के १७ पुत्रों के नाम लिये गए हैं जिनमें से निरंजन वा धर्मराज भी एक है। यहाँ पर जीवों के कष्ट को देख कर सत्य पुरुष के द्वारा 'योगजीत' वा 'ज्ञानी' का भेजा जाना तथा इनका सत्य युग, द्वापर और कलियुग में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करके उन्हें बचाने का यत्न करना और इस प्रकार इन तीनों ही दशाओं में इनका स्वयं कबीर साहब ही होना बतलाया गया है। ऐसे सृष्टि-क्रम के वर्णन 'ज्ञान सागर'-जैसे अनेक अन्य कबीर-पंथी ग्रंथों में भी किये गए मिलते हैं। परन्तु ये सभी ठीक एक से ही नहीं पाये जाते और 'ज्ञान सागर' वाला वर्णन जहाँ अधिकतर पौराणिक रूप धारण करता जान पड़ता है, वहाँ 'वंश पांजी' तथा 'कबीर निर्णय मंदिर' वाली पुस्तकों के अनुसार उस पर क्रमशः या तो प्रतीक योजनावाली शैली का प्रभाव लक्षित होता है अथवा उसे सांख्यादि शास्त्रों में पाये जानेवाली व्याख्याओं का रूप मिल जाता है।

पूर्ववर्त्ती प्रभाव

इस प्रसंग में यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कबीर-पंथी विचार-धारा के क्रमिक विकास पर विभिन्न मतों का प्रभाव भी पड़ता गया है। इस प्रकार स्थान-भेद के अनुसार इसकी विभिन्न शाखाओं की मान्यताओं तक में भी, महान् अंतर आ गया दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए कबीर-पंथ के इतिहास पर विचार करते समय हमें पता चलता है कि इसे साधारण पौराणिक धर्म से लेकर 'धर्म सम्प्रदाय', तांत्रिक वाह्योपचार-पद्धति और दार्शनिक ग्रंथों तक ने बहुत कुछ प्रभावित किया है जिसका एक परिणाम यह हुआ है कि इसके अंतर्गत कई ऐसे

सिद्धांतों का भी प्रवेश हो गया है जो सर्वथा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। इसकी छत्तीसगढ़ी शाखा तथा अन्य अनेक ऐसी शाखाओं में प्रचलित मत के अनुसार परमतत्त्व की सत्ता में किसी प्रकार का संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। किंतु कबीर निर्णय-मंदिर तथा 'फतुहा मठ' वाले ग्रंथों के अध्ययन से भी हमें प्राय: ऐसा लगता है कि ये ब्रह्म को कदाचित् केवल कल्पना-प्रसूत मात्र ही ठहराते हैं। इसी प्रकार, ऐसी विभिन्न शाखाओं द्वारा साधना के रूप में ज्ञान-भक्ति तथा कभी-कभी कर्मकांड-के जैसे कृत्यों को प्रश्रय दिये जाने में भी बहुत अंतर दीख पड़ता है। जहाँ तक इनमें से कुछ पर 'धर्म सम्प्रदाय' का प्रभाव पड़ने की बात है, वह विशेषकर इनके सृष्टि-सिद्धांत के ऊपर लक्षित होता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसे उन्होंने उत्कल प्रदेश वाले 'पंचसखा' कवियों के माध्यम से अपनाया होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि भारतवर्ष के कतिपय पूर्वोत्तरीय प्रांतों में पहले कोई प्राचीन 'ब्रह्मा-सम्प्रदाय' (Cult of Brahma) प्रचलित था जो कदाचित् वैदिक धर्म से भी प्राचीनतर था। इसकी ओर कुछ संकेत करने वाला 'ब्रह्माण्ड पुराण' नामक ग्रंथ है जिसके आधार पर हमें इसकी विभिन्न 'रात्र' नामक शाखाओं का भी पता चलता है। 'ब्रह्मा-सम्प्रदाय' का प्रधान देवता ब्रह्मा जो सृष्टि का विधायक भी था क्रमशः 'काल' रूप में परिणत हुआ। अंत में उसने 'धर्म' का भी रूप धारण कर लिया जिसके नाम पर उक्त 'धर्म सम्प्रदाय' की सृष्टि हुई।[1] उत्कलीय 'पंचसखा' नामक वैष्णव कवियों की रचनाओं के अंतर्गत उस 'धर्म' वा 'काल' को ही 'निरंजन' अथवा 'शून्य-पुरुष' भी कहा गया जान पड़ता है जो उनकी मान्यता के अनुसार उनके इष्टदेव श्रीकृष्ण से अभिन्न भी बन जाता है। अतएव जिस सृष्टि-क्रम का वर्णन वहाँ 'धर्म-सम्प्रदाय' के 'शून्यपुराण'-जैसे ग्रंथों में पाया जाता है उसे ये वैष्णव कवि भी स्वीकार कर लेने से नहीं हिचकते। उसके कई अंशों में पौराणिक साहित्यवाले वर्णनों के समान भी होने के कारण, उसका उधर की कबीर-पंथी शाखाओं द्वारा अपना लिया जाना बहुत सरल हो जाता है।

चौका-विधान आदि कृत्य

जिस प्रकार सृष्टि-रचना तथा त्रिदेवों के जन्मादि-संबंधी उपर्युक्त विवरण के विषय में 'धर्म-सम्प्रदाय' तथा कबीर-पंथ में बहुत कुछ साम्य है और जान पड़ता है कि पंथ के अनुयायियों ने अपनी तत्संबधी कथाओं की कल्पना करते

---

१. तारापद भट्टाचार्य : दि कल्ट ऑफ ब्रह्मा, जर्नल ऑफ दि बिहार रिसर्च सोसायटी पटना, भाग ४०, ४१ और ४२।

समय शून्यपुराणादि के अतिरिक्त हिन्दू पुराणों की भी सहायता ली होगी, उसी प्रकार उनकी 'चौका-विधि' आदि कतिपय कर्मकांडी उपचारों पर भी हमें 'सेकोद्देश विधि'[1] का प्रभाव लक्षित होता है। हमें तो यहाँ तक दीख पड़ता है कि अपने 'चौका-विधान' का श्रीगणेश करते समय कबीर-पंथियों ने तांत्रिकों के 'भैरवी-चक्र' को भी अवश्य ध्यान में रखा होगा। 'चौका-विधान' का परिचय देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार विभिन्न जड़ प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है, उसी प्रकार पंथ के अंतर्गत सद्गुरु की चैतन्य मूर्ति का पूजन भी आवश्यक समझा गया है। इसके द्वारा मानवीय अंतःकरण के मल-विक्षेपादि विविध दोषों का परिहार किया जाता है। इस प्रकार, इसे किसी 'सात्त्विक यज्ञ' का-जैसा महत्त्व भी दिया गया है। यदि हो सका तो प्रत्येक रविवार को नहीं तो प्रत्येक पूर्णिमा को वा कम से कम फाल्गुन तथा भाद्रपद की ही पूर्णिमाओं के अवसर पर इसका विधान है। इसके लिए उपवास किया जाता है और संध्या-समय कुछ रात व्यतीत होते ही किसी समतल तथा स्वच्छ की हुई भूमि पर आटे के चूर्ण द्वारा पाँच तथा साढ़े सात हाथ का लंबा-चौड़ा एक समकोण चतुर्भुज बनाते हैं। फिर उसके भीतर भी एक वैसा ही चतुर्भुज ढाई हाथ लंबा-चौड़ा बनाते है तथा इस दूसरे को आटे से भर कर उसके बीच में कुछ फूल भी रख दिया करते हैं। महंत के आ जाने पर उन्हें बाहरी चतुर्भुज की एक ओर बीच में बिठलाकर उसकी दाहिनी ओर चरणामृत का पात्र, एक अन्य पात्र जिसमें १२५ पान सजाये गए रहते हैं तथा कपास की पूरी हुई फूल बत्ती एक पंक्ति में रखते हैं। इसी प्रकार, उनकी बायीं ओर भी दूसरी पंक्तियों में एक बताशे आदि मिष्ठान्न का पात्र, एक नारियल और एक जलपूर्ण कलश की स्थापना करते हैं। इस प्रकार, सामग्रियों के ठीक हो जाने पर उपस्थित महंत पंथ के मान्य ग्रंथ के कतिपय स्थलों का पाठ करते हैं। फिर फूल-बत्ती द्वारा आरती कर लेने पर कर्पूर भी जला कर उसे किसी पत्थर के टुकड़े पर रख देते हैं। इसके उपरांत नारियल को फोड़ कर उसके टुकड़े कर दिये जाते हैं और फिर उक्त पानवाले पात्र में रखे कर्पूर को भी जला कर आरती कर दी जाती है। इस आरती को फिर उपस्थित कबीर-पंथियों के सामने भेज कर वे नारियल के अर्द्धभाग को अपने पास रख लेते हैं और द्वितीय अर्द्ध भाग को चाकू से छोटा-छोटा करके उसमें से एक टुकड़ा

---

१. दे० सिद्ध नाड़पाद की सेकोद्देश टीका, गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज १६४१ ई०, पृ० २४-५।

२. साधु बंसूदास कबीर-पंथी : चौकाविधान, बड़ौदा, भूमिका, पृ० १२।

नारियल, एक पान तथा बताशादि सबको बाँट दिया करते हैं जिसे प्रसाद मान कर सभी श्रद्धा के साथ खाते हैं। प्रसाद का कुछ भी अंश नीचे नहीं गिरने दिया जाता तथा महंत की ओर से प्रवचन किये जाने पर यह विधि संपन्न हो गई समझी जाती है।

वही

'चौका-विधि' के पश्चात् प्राय: 'जोत प्रसाद' की भी व्यवस्था की जाती है। उक्त रूई की बनी फूल बत्ती के नीचे जो गुँथा हुआ आटा रखा रहता है उसे कुछ और भी आटे में मिला कर तथा उसमें घी तथा गरी मिश्रित करके महंत का सेवक उन्हें अर्पित करता है और वे उसकी छोटी-छोटी टिकरियाँ बना लिया करते हैं। इसी प्रकार, फिर महंत के चरणोदक द्वारा महीन मिट्टी गूँथ कर उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ भी बना ली जाती हैं। महंत इन गोलियों तथा उन टिकरियों में से एक-एक अपने अनुयायी प्रत्येक व्यक्ति को पान के पत्ते के साथ दिया करते हैं। उस पान को 'परवाना' कहते हैं। वह भी एक विशेष प्रकार से सजायी गई तथा रात के समय आकाश से गिरने वाली ओस की बूँदों से प्रक्षालित तथा पवित्र की गई पान की पत्तियों में से ही लिया गया रहता है, जिस कारण उसका विशेष महत्त्व रहा करता है। इन सभी सामग्रियों को कबीर-पंथी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते हैं और अपने समक्ष की गई विधियों को अपने लिए कल्याणकारी मानते हैं। वास्तव में उक्त सभी बातें उनके लिए संस्कार वा कृत्य-विशेष के प्रभावपूर्ण प्रतीक हैं। वे उन्हें उसी प्रकार आवश्यक समझा करते हैं जिस प्रकार तांत्रिक व्यवस्थानुसार किये गए कर्मों को कोई हिन्दू वा बौद्ध कर्मकांडी मान लिया करता है। उनके यहाँ नारियल तथा पान को कितना महत्त्व दिया जाता है यह बात उनके द्वारा की जानेवाली ऐसी विधियों में उनके प्रयोग से ही सिद्ध है। 'चौका-विधान' की उक्त सारी विधि सामान्य रूप से बरती जाती है। इसके विशेष रूपों के उदाहरण उन चार प्रकार के कृत्यों में मिलते हैं जिन्हें क्रमश: १. 'आनंदी चौका' अर्थात् दीक्षा-काल अथवा आनंदोत्सवादि के अवसर का चौका २. 'जन्मौती चौका' अर्थात् पुत्र जन्म के उपलक्ष में किया जाने वाला चौका, ३. 'चलावाचौका' अर्थात् किसी मृत कबीर-पंथी के शांत्यर्थ किया जानेवाला चौका और ४. एकोत्तरी चौका-अर्थात् अपने एक सौ एक पूर्वजों के कल्याणार्थ किया जानेवाला चौका-विधान-पृथक् नाम दिये गए मिलते हैं।[1]

---

१. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

आध्यात्मिक व्याख्या

कबीर-पंथी साहित्य के अंतर्गत कहीं-कहीं उपर्युक्त कृत्यादि की रहस्यपूर्ण व्याख्या भी की गई मिलती है। उदाहरण के लिए 'नारियल का तोड़ना' एक प्रकार का अहिंसात्मक बलिदान समझा गया दीख पड़ता है जो 'काल' वा 'निरंजन' के उपलक्ष में कबीर-पंथियों द्वारा अपने लिए सत्यलोक की प्राप्ति के निमित्त किया गया कहा जाता है। इसके स्पष्टीकरण में बतलाते हैं कि नारियल की ऊपरी कड़ी खोल जहाँ काल-स्वरूप है, वहाँ उसके भीतर की कोमल तथा मधुर गरी कल्याण का भाव प्रकट करती है। इसे कभी-कभी 'श्रीफल' की संज्ञा भी दी जाती है तथा यह भी कहा जाता है कि इसका कठोर अंश जहाँ मस्तिष्क रूप है, वहाँ इसका कोमल अंश उसके भीतर का मन रूप है। इसी प्रकार 'चौका-विधान' वाली चतुष्कोण रचना के लिए कहा जाता है कि उसका मध्यवर्त्ती अंश स्वयं सत्यपुरुष के स्थान को सूचित करता है। उसके भीतर बनाये गए सप्तदल कमल से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किस प्रकार यह उस ओर संकेत करता है। यह कल्पना कर ली जाती है कि वह सप्तदल कमल सत्य पुरुष का सिंहासन है जिसके चतुर्दिक बनायी गई कमलों की आकृतियों से प्रकट होता है कि वे वस्तुत: चौरासी की संख्या में रहने के कारण, उतनी योनियों की ओर इंगित करती हैं अथवा वे उन चौरासी लाख द्वीपों का प्रतीक होती हैं जहाँ मुक्त होने के अनंतर किसी को परम शांति उपलब्ध होती है[1]। इसके सिवाय 'चौके' के ऊपर तना चंदोवा सत्यपुरुष के श्रेष्ठ छत्रपति होने का प्रतीक है तथा आरती की ज्योति प्रत्येक कबीर-पंथी के लिए वह आत्म-प्रकाश रूप है जिसकी उपलब्धि उसका ध्येय रहा करती है। कबीर-पंथी 'पान परवाना' की पद्धति भी इसी प्रकार संभवत: उस अनुग्रह-पत्र का प्रदान सूचित करती है जो किसी महंत की ओर से इसलिए दिया जाता है कि इस परिचय-पत्र को लेकर वह सत्यलोक तक पहुँच जा सके।

शेष साम्प्रदायिक साहित्य

कबीर-पंथी साहित्य के उस अंश में जो कबीर साहब के जीवन-चरित से संबद्ध है, उनके जन्म तथा मरण की घटनाओं से लेकर उनके जीवन-वृत्त की अनेक बातों तक को किसी-न-किसी अलौकिकता के साथ प्रकट किया गया मिलता है। उनके पढ़ने पर पता चलता है कि वे न केवल 'महामानव' अपितु 'अतिमानव' भी रहे होंगे। कबीर-पंथियों की धारणा के अनुसार 'सत्यपुरुष'

१. कबीर और कबीर-पंथ : तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित।

ने उन्हें 'ज्ञानी' के रूप में समय-समय पर भेजा था। तदनुसार वे सत्ययुग में 'सत सुकृत' कहला कर, त्रेता में 'मुनीन्द्र' के रूप में, द्वापर में 'करुणामय' के नाम से तथा कलियुग में 'कबीर' होकर अवतरित हुए थे। प्रत्येक युग में उन्होंने भिन्न व्यक्तियों के ऊपर विशेष कृपा की। अपने अनुपम चरित्रों द्वारा उन्होंने सबके समक्ष आदर्श की स्थापना करके सभी के लिए मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शन भी किया था। तदनुसार घोंघल राजा, मधुकर ब्राह्मण, रानी इंदुमती, राजा चंद्रविजय, सुदर्शन श्वपच, इन्द्र दमन-आदि की कथाएँ 'अनुराग सागर'-जैसे ग्रंथों में दी गई मिलती हैं और उनके साथ कबीर साहब के विविध उपदेशों को भी प्रसंगवश, समाविष्ट किया गया रहता है। इस प्रकार की कथाएँ एक ओर जहाँ बौद्ध जातकों की कथाओं-जैसी लगती हैं, वहाँ ये दूसरी ओर हिन्दू पुराणों का भी स्मरण दिलाती हैं। कबीर-पंथी साहित्य के अंतर्गत अनेक स्तोत्र तथा मंत्रादि से संबंद्ध पुस्तकें भी पायी जाती हैं और इनका उपयोग दैनिक प्रार्थनाओं तथा नित्य कर्मों के अवसर पर किया जाता है। परन्तु इस प्रकार की रचनाओं को महत्त्व अधिकतर उन्हीं शाखाओं में दिया जाता है, जहाँ कबीर साहब को अपने इष्टदेव का-जैसा पद प्रदान किया गया है। इसके विपरीत जिन शाखाओं की मान्यता के अनुसार उन्हें केवल किसी महा-मानव की कोटि का ही समझा जाता है तथा जहाँ पर उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, वहाँ पर बहुधा ऐसे ग्रंथों की ही संख्या अधिक है जो गूढ़ दार्शनिक रहस्यों का उद्घाटन करते हैं अथवा तर्क-संगत व्याख्या की ओर प्रवृत्त होते हैं।

'कबीर बीजक' की व्याख्या

कबीर-पंथियों के यहाँ 'कबीर-बीजक' सर्वमान्य ग्रंथ समझा जाता है और इसे वहाँ पर कभी-कभी एक ऐसे धर्म-ग्रंथ तक का पद प्रदान किया गया दीख पड़ता है जो साम्प्रदायिक दृष्टि से सर्वथा आदरणीय तथा पूज्य तक भी ठहराया जा सकता है। इसके ऐसे विशिष्ट महत्त्व के ही कारण इसकी विविध टीकाओं का निर्माण हो चुका है, इस पर गंभीर भाष्य लिखे गये हैं तथा इसके गूढ़ मर्म का प्रकाशन करने के उद्देश्य से कहीं-कहीं इसके अध्यापन की व्यवस्था की जाती हुई भी सुनी जाती है। इसके अंतर्गत बहुत-सी फुटकर रचनाएँ संगृहीत जान पड़ती हैं और उनके रचयिता के रूप में कबीर साहब का नाम लिया जाता है। इस संबंध में ऐसा अनुमान किया गया है कि 'बीजक' के मूल रूपांतर का संकलन सं० १६५० विक्रमी शताब्दी के पश्चात् अथवा उसकी सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ होगा[1] जिस समय तक कबीर साहब का देहांत

[1] हिंदुस्तानी (त्रैमासिक) प्रयाग, भा० १० अं० २, १६५८ ई०, पृ० ८६।

हुए संभवतः एक सौ वर्ष से भी अधिक नहीं व्यतीत हो चुके थे। परन्तु अभी तक यह प्रश्न निर्विवाद रूप में हल नहीं किया जा सका है कि इसके कितने तथा किन-किन अंशों के लिए इस प्रकार निश्चित रूप से कह सकते हैं। इस संबंध में केवल इतना कदाचित् सभी को मान्य है कि जहाँ तक साम्प्रदायिक विचार-धारा के प्रकट करने की बात है, इस दृष्टि से इसे 'कबीर-पंथ' के अन्य सभी ग्रंथों से कहीं अधिक महत्त्व दिया जा सकता है। परन्तु 'कबीर-बीजक' की टीका अथवा भाष्य के रूप में आजतक उपलब्ध लगभग डेढ़ दर्जन ग्रंथों में से किस एक को उसके रहस्य का वास्तविक उद्घाटन करनेवाला माना जाय, यह एक बहुत बड़ी समस्या है और इसका पूरा समाधान अभी कदाचित् नहीं हो पाया है। इस पर भाष्य लिखनेवालों में इसके अनेक स्थलों पर मतभेद की गुंजाइश दीख पड़ती है। इस कारण एक ओर जहाँ महाराजा विश्वनाथ सिंह-जैसे कुछ लोग इसकी पंक्तियों का अर्थ अपने ढंग से वैष्णव सम्प्रदाय के अनुकूल करते दीख पड़ते हैं, वहाँ साधु विचारदास तथा हनुमानदास-जैसे पंडित इसमें निहित सिद्धांतों का दार्शनिक विवेचन करते हुए उन्हें वेदांती विचार-धारा के मेल में लाना चाहते हैं। इसी प्रकार पूरन साहब तथा राघोदास-जैसे कतिपय व्यक्ति इसके भीतर किसी ऐसे मत का पता लगाना आवश्यक समझते हैं जिसकी अनेक बातें हमें नितांत नवीन प्रतीत होती हैं, किंतु जिनके कबीर साहब की मौलिक देन होने में उन्हें पूर्ण विश्वास जान पड़ता है। इसके सिवाय महर्षि शिवव्रत लाल, सदाफलदास आदि टीकाकारों के लिए भी कहा जा सकता है कि उनको भी इस ग्रंथ का साम्प्रदायिक अर्थ करते समय इसके शब्दों में बहुत कुछ, कदाचित् अपने ढंग की ही बातें सूझ पड़ी हैं। तदनुसार उन्होंने भी कहीं-कहीं इसके द्वारा संभवतः स्वयं अपना मत ही व्यक्त किया है।

(३) कबीर साहब और कबीर-पंथ

कबीर साहब और कबीर-पंथ

कबीर-पंथ के ऐसे एक संक्षिप्त परिचय से भी हमें यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसकी बहुत-सी बातें उन कबीर साहब की उन रचनाओं में निहित विचार-धारा से बहुत कुछ भिन्न हैं जिन्हें आजकल उनकी प्रामाणिक 'बानी' के रूप में मान लेने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इनमें कुछ ऐसी भी आ गई जान पड़ती हैं जिनके साथ उसका मेल नहीं है। कबीर साहब हमें अपनी उन रचनाओं के अंतर्गत एक स्वाधीन-चेता विचारक के रूप में दीख पड़ते हैं। हमें ऐसा लगता है कि उनका मत सर्वथा सार्वभौम कहलाने योग्य है तथा उसके कारण किसी प्रकार का भेदभाव नहीं उत्पन्न हो सकता। उसका रूप किसी

ऐसे 'सहज धर्म' का जैसा है जिसे प्रायः सभी मानवों के लिए उपयुक्त ठहराया जा सकता है। उनकी पमरतत्त्व जीवतत्त्व, तथा जगत्तत्व-संबंधी धारणाओं तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट सहज-साधना का महत्त्व स्वीकार कर लेने में कदाचित्, किसी भी प्रकार की अड़चन का अनुभव करना अनिवार्य नहीं है, न तदनुसार अपना जीवन-यापन करने के विषय में ही किसी को कोई आपत्ति होनी चाहिए। क्योंकि इसमें सामंजस्य का बिठा लेना उतना असंभव नहीं प्रतीत होता। सभी कुछ हमें मानवीय स्तर के उपयुक्त जान पड़ता है और इसका आधार भी एक ऐसी स्वानुभूति रहती है जिसमे आस्था का बन जाना स्वाभाविक है। किंतु फिर भी जिसके कारण, किसी एक के लिए दूसरे को पृथक् समझ लेने की आवश्यकता नहीं पड़तो। परन्तु कबीर-पंथ द्वारा प्रचारित मत के अंतर्गत अनेक ऐसी लोकोत्तर बातों का समावेश कर दिया गया दीख पड़ता है जिन्हें स्वीकार करने के लिए हमें या तो किन्हीं प्रमाणभूत सिद्धांतों की शरण लेनी पड़ सकती है अथवा किसी वर्ग-विशेष द्वारा किया गया पथ-प्रदर्शन ही स्वीकार करना पड़ सकता है। इसी कारण, जिन पर आश्रित जीवन-पद्धति के लिए यह सदा संभव नहीं रहा करता कि उसमें कभी कोई सामंजस्य भी आ सकेगा। इसके सिवाय कबीर-पंथ की मान्यताओं में कतिपय ऐसे वाह्योपचारों तथा काल्पनिक बातों तक को महत्त्व दे दिया गया जान पड़ता है जिन्हें कबीर साहब की वास्तविक विचार-धारा के प्रतिकूल जाती हुई तक बतलाया जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय

पंथ-निर्माण का सूत्रपात

सं० १५५० : १६००

१. सामान्य परिचय

कबीर साहब का आदर्श

कबीर साहब की रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने किसी विशिष्ट धार्मिक वर्ग के सिद्धांतों का अंधानुसरण नहीं किया था, न किसी पूर्व कालीन मत का पुनरुद्धार कर उसके आधार पर किसी नये पंथ की नींव ही डाली थी। उनका प्रधान उद्देश्य प्रचलित धर्मों के अनुयायियों की विविध विडंबनाओं की आलोचना करके उनका ध्यान मूल प्रश्न की ओर आकृष्ट करना था जिससे उन्हें अपनी भूल का ज्ञान हो सके। उनका कहना था कि धर्म के नाम पर जितने भी बाह्य कृत्य किये जाते हैं अथवा जो-जो धारणाएँ साधारणत: बनायी जाती हैं वे प्राय: सभी निरर्थक और निराधार हैं। इस प्रकार की बातें हमारे लिए लाभदायक होने की जगह बहुधा हानिकर ही सिद्ध होती हैं और उनके कारण पारस्परिक द्वेष और पाखंड की प्रवृत्ति बढ़ती है। उनके विचार से अपने धार्मिक सिद्धांतों का अनुसरण करने के लिए किसी भी ऐसे धार्मिक जन-समूह का सदस्य होना भी अनिवार्य नहीं। धर्म का मूल तत्त्व सब किसी के व्यक्तिगत चिंतन तथा उसके अपने विश्वास के अनुसार कोई स्वरूप ग्रहण करता है और सभी को अपनी-अपनी पहुँच के अनुपात से उसकी अनुभूति हुआ करती है। इस कारण हृदय के शुद्ध तथा सच्चा रहने पर उसमें प्रेम तथा संतोष के भाव आप-से-आप जागृत हो उठते हैं और उसके लिए किसी वर्ग-विशेष का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक नहीं रह जाता। तदनुसार जहाँ तक पता चलता है तथा जैसा हम इसके पहले देख भी आये हैं, कबीर साहब के जीवन-काल तक संभवत: किसी भी वैसे पंथ वा सम्प्रदाय का उदय नहीं हुआ, न ऐसे संगठन की ओर कोई विशेष प्रवृत्ति ही पायी गई। उनके स्वयं नाम पर प्रचलित किये गए कबीर-पंथ अथवा उनके प्रमुख शिष्यों की ओर से स्थापित समझे जाने वा उसकी विभिन्न शाखाओं तक का आरंभ कदाचित्, उनकी मृत्यु के समय (सं० १५०५) के पहले नहीं हो सका।

पंथ-निर्माण की प्रवृत्ति

कबीर साहब के मत में विश्वास रखनेवाले साधु अथवा उनकी-जैसी विचार-

धारा को प्रश्रय देने वाले बहुत-से लोग पहले उन्हीं की भाँति इधर-उधर घूमकर उपदेश दिया करते थे और उनकी कोई सुव्यवस्थित संस्था नहीं थी। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि इस प्रकार का कार्यक्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। ऐसे प्रचारकों के भीतर पीछे क्रमशः कुछ इस प्रकार की अभिलाषा भी जागृत होने लगी कि मेरा सिद्धांत किस प्रकार अधिक-से-अधिक सफलता के साथ प्रचलित हो तथा मेरे मत के अनुयायियों की संख्या में किस प्रकार वृद्धि की जा सके। फलतः इनमें से कुछ लोगों का ध्यान ऐसे संगठन-कार्य की ओर भी आकृष्ट हुआ जिससे इसमें पूरी सहायता मिल सके तथा उसे स्थायी रूप देने के लिए उन्हें कभी-कभी यह भी आवश्यक जान पड़ा कि हम आगे के लिए अपना कोई-न-कोई योग्य उत्तराधिकारी तक को नियुक्त कर दें। यह युग ऐसा था जिसमें नाथ-पंथी योगियों की साधनाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता आ रहा था। इस प्रकार उन दिनों के साधकों के लिए व्यक्तिगत काया-साधन तथा निवृत्ति-मार्ग ही कहीं अधिक अनुकूल पड़ते कहे जा सकते थे। परन्तु भक्ति के प्रचारक आचार्यों का प्रभाव बढ़ते जाने के साथ-साथ, ऐसी बातों का महत्त्व क्रमशः घटने लग गया। अब इनके आदर्शानुसार कभी-कभी ऐसा भी समझा जाने लगा कि यदि किसी अपनी विचार-धारा को सर्वसाधारण तक पहुँचाना हो तो, यह केवल तभी संभव हो सकता है जब उसे न केवल कोई स्पष्ट और सुसंगत रूप दिया जाय, अपितु उसके उचित प्रचार ओर प्रसार के लिए किसी स्थायी संगठन को भी काम में लाया जाय।

पंथ-निर्माण का सूत्रपात

कबीर साहब-जैसे संत-मत के प्रचारकों में से किसको यह बात सर्वप्रथम सूझ पड़ी इसका हमें कोई निश्चित पता नहीं। परन्तु, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर हमें ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रवृत्ति का उदय पहले-पहल भारत के किसी पश्चिमी अंचल में ही हुआ होगा, जहाँ पर उन दिनों धार्मिक आंदोलनों की हलचल अधिक रही। नाथ-पंथियों द्वारा अपना प्रचार-कार्य अधिक होते आने से से उधर धार्मिक जागृति को विशेष बल मिलता आ रहा था। वैसे लोगों में से भक्तिपरक आंदोलनों में भी सबसे पहले भाग लेने वाले वे ही लोग निकले जो पश्चिमी प्रांतों के निवासी थे। उदाहरण के लिए राजस्थान प्रदेश के जोधपुर राज्य के अन्तर्गत निवास करने वाले संत जंभनाथ ने सं० १५५० के कुछ पहले ही अपने नवीन 'विश्नोई सम्प्रदाय' का प्रवर्त्तन किया, उसके कुछ ही दिनों पीछे बीकानेर राज्य के निवासी संत जसनाथ के तत्त्वावधान में 'सिद्ध सम्प्रदाय' का आरंभ हुआ। इसी प्रकार लगभग इसी के आसपास, डीडवाणे के स्वामी हरिदास के नेतृत्व में 'निरंजनी सम्प्रदाय' की भी एक विशिष्ट परंपरा चल निकली जिसका प्रचार

कदाचित् इन दोनों से ही अधिक सफल सिद्ध हुआ। इसके सिवाय पंजाब प्रांत के गुरु नानकदेव तथा मध्यप्रांत के संत सिंगाजी की गणना भी हम इस युग के उन महापुरुषों में ही कर सकते हैं जिन्होंने संकीर्ण साम्प्रदायिकता के स्तर से उठते हुए भी, किसी-न-किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया। इन दोनों में से गुरु नानकदेव ने तो न केवल 'नानक पंथ' का सूत्रपात किया, प्रत्युत उन्होंने उसे भविष्य में सुव्यवस्थित रूप देने की दृष्टि से अपने पीछे सुयोग्य गुरुओं की एक परंपरा भी प्रतिष्ठित कर दी जो कम-से-कम तीन शताब्दियों तक चलती रही। नानक-पंथ को एक पृथक् वर्ग के रूप में रखने की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। अंत में, शुद्ध आध्यात्मिक साधकों का एक समुदाय 'सिक्ख' नामक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गया। कबीर-पंथ का आरंभ इन उपर्युक्त पंथों वा सम्प्रदायों के ही साथ किसी समय हुआ अथवा उसे इनका परिवर्त्ती भी कहा जा सकता है। इसके निर्णय का अभी हमें तक कोई साधन नहीं है।

परंपराओं का रूप और फुटकर संत

उपर्युक्त पंथों वा सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों में से सभी के द्वारा अपनी-अपनी संस्था का एक ही प्रकार स्थापित किया जाना सिद्ध नहीं होता, न सभी किसी के यहाँ ठीक एक ही प्रकार की सुव्यवस्था के पाये जाने का कोई पता चलता है। कम से कम संत जसनाथजी तथा संत सिंगाजी की ओर से किये गए किसी स्पष्ट यत्न का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता, न इसी प्रकार गुजरात प्रांत की सूरत वाली उस 'हीरादासी परंपरा' की स्थापना करनेवाले हीरादास के ही किसी ऐसे कार्य की ओर किया गया कोई संकेत मिलता है जिसके कुछ अनुयायियों का परिचय अभी आज तक भी उपलब्ध है। संत हीरादास के गुरु निर्वाण साहब को तो प्रायः कबीर-पंथी भी कह दिया गया मिलता है, किंतु यह कथन प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में संत सिंगाजी तथा संत हीरादासजी इन दोनों के नाम से प्रचलित परंपराओं का वैसा नामकरण इनके कतिपय शिष्य-प्रशिष्यों के क्रमशः अपनी-अपनी गद्दियों पर कुछ दिनों तक बैठते आने मात्र से भी हो गया समझा जा सकता है। इसी प्रकार पंजाब प्रांत में स्थित किसी ऐसी ही परंपरा का गुसाँई वा 'गोसाँई परंपरा' के नाम से अभिहित किया जाना भी कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि उसका प्रवर्त्तन 'संत साँईदास' ने किया होगा। परन्तु हमें आज तक इस प्रकार की कोई भी ऐसी सामग्री नहीं मिल सकी है जिसके आधार पर उसका विवरण दिया जा सके। अतएव हम संत साँईदास का भी उपलब्ध परिचय यहाँ उन फुटकर संतों के ही साथ देना चाहते हैं जिनमें शेख फ़रीद तथा संत भीषनजी के नाम आते हैं। इन अंतिम दो संतों में से प्रथम अर्थात् शेख फ़रीद 'ब्रह्म' वस्तुतः सूफ़ी थे। इसी

प्रकार, संत भीखनजी के लिए भी हम नहीं कह सकते कि इनका मूल संबंध किसी संत विशेष के साथ रहा होगा वा नहीं। परन्तु जहाँ पक पता चलता है, इन दोनों ने अपने निजी व्यापक सिद्धांतों को संभवतः बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से ही निश्चित किया होगा तथा उस काल के अनेक अन्य संतों की भाँति ये लोग भी अपनी साधनाओं में प्रवृत्त रहे होंगे।

भक्त सूरदास

इस युग के वातावरण पर विचार करते समय हमें यह भी पता चलता है कि इस काल के अनेक भक्त कवियों तथा साधकों पर भी तत्कालीन संत-मत का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ गया था। फलतः उनकी उपलब्ध रचनाओं में केवल भाव-साम्य ही नहीं मिलता, प्रत्युत कहीं-कहीं शब्द तथा वाक्य तक भी अपना लिये गए जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे लोगों में हम विशेषकर महाकवि भक्त सूरदास और प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराँबाई के नाम ले सकते हैं। भक्त सूरदास का जीवन-काल साधारणतः सं० १५४० से १६२० तक समझा जाता है, जिस कारण इनके रचना-काल को भी हम अधिकांशतः इस युग के ही अंतर्गत ठहरा सकते हैं। ये एक विशुद्ध सगुणोपासक भक्त थे और 'मन बानी को अगम, अगोचर', 'अविगत' की 'गति' को अनिर्वचनीय समझा करते थे। इन्होंने अपने 'भ्रमरगीत' वाले पदों में 'निर्गुन' के प्रति व्यंग भरी बातें कहला कर और उसके विषय में 'निर्गुन कौन देस को वासी'-जैसे प्रश्न करा कर उपहास भी कराया था, जिससे स्पष्ट है कि इनकी धारणा किस प्रकार की रही होगी। परन्तु हमें इनकी रचनाओं के अंतर्गत वहुत-से ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं जिनमें इनके संत-मत द्वारा प्रभावित होने के विषय में कतिपय स्पष्ट प्रमाण पाये जाते हैं[1]। ऐसे चार उदाहरणों में से तीसरे का

---

१. "रे मन आपुकौ पहिचानि !
सब जनम तैं भ्रमत खोयो, अजहुँ तौ कछु जानि ॥
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै, सुतौ ताके पास।
भ्रमतही वह दौरि ढूंढै, जबहिं पावै वास।" आदि
'जौ लौं सतसरूप नहिं सूझत।
अ. तौलौं मृगमद नाभि विसारैं, फिरत सकल वन बूझत॥"
"अपुन पौ अपुन ही विसरायो।
ब. जैसे स्वान काँच मंदिर में, भ्रमि भ्रमि भूँकि मरयो।"
"अपुन पौ आपुन ही में पायौ।
स. सब्दहि सब्द भयौ, उजियारौ, सतगुर भेद बतायो।"
सूर रत्नाकर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १६३४ ई०, पद ७० पृ० ३८ २. पृ० १६७। ३. पृ० १६७-८। ४. पृ० २४०-१।

पूरा पद प्राय: वही मिलता है जो 'कबीर-बीजक' में 'अपनपौ आपुही बिसरौ' से आरंभ होता है[1]।

मीराँबाई

मीराँबाई का जीवन-काल, इसी प्रकार सं० १५५५ से १६०३ तक समझा जाता है और यह भी इस युग के ही अंतर्गत पड़ता है। मीराँबाई के इष्टदेव गिरधर नागर नामधारी श्रीकृष्णचंद्र हैं जो सगुण रूप भगवान् माने जाते हैं और जिनकी सुंदर छवि के वर्णन तथा जिनके गुणों के गान में ये सदा लीन रहना पसंद करती हैं। उनकी भावना से अलग रह कर इनका किसी एक क्षण के लिए भी जीना असंभव-सा है। ये उन्हें अपने पूर्व जन्म का साथी भी बतलाती हैं और उन्हें 'पिव', 'साजण' सा 'सैंया'-जैसे शब्दों द्वारा ये अभिहित करती हुई भी दीख पड़ती हैं। फिर भी वे 'गोपाल' इनके लिए कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं, न वह शब्द उक्त सगुण रूप भगवान् के एक अवतार-मात्र का बोधक है। ये अपने अनेक पदों के अंतर्गत उस प्रियतम को 'निर्गुण', 'निरंजन' अविनासी आदि भी कहती हैं जिस कारण इनका उसे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा मान लेना भी लक्षित होता है तथा कहीं-कहीं पर हमें ऐसा भी लगता है कि ये उसे निर्गुण से परे अनिर्वचनीय समझ रही हैं। इन्होंने अपने कई पदों में संत रैदास को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है तथा इनकी कुछ रचनाओं में हमें कबीर साहब तथा रैदासजी की भाँति 'पिंड के रहस्य' का परिचय भी दिया हुआ मिलता है। ये भी प्राय: उन्हीं के शब्दों में वहाँ 'त्रिकुटी-महल' के झरोखे से झाँकी लगाने तथा 'सुन्न महल में सुरत सजा कर सुख की सेज बिछाने की चर्चा करती हुई दीख पड़ती है"[1] अथवा "सेझ सुषमणा'[2] तथा 'गगन-मंडल'[4] की सेज पर प्रियतम के साथ मिलने के प्रसंग का वर्णन करती हुई भी जान पड़ती हैं। उसी 'सेझ' वाले पद को इन्होंने अन्यत्र 'अगम अटारी'[5], 'अगम का देश' वा 'अमरलोक' का भी नाम दिया है। उसकी स्थिति से प्रभावित होकर इन्होंने बिना करताल के पखावज का बाजा तथा 'अणहद की झंकार' सुनने का पता बतलाया है[6]। मीराँबाई को इसप्रकार संतों के प्रसिद्ध 'सुरत शब्दयोग' का भी

१. दे० कबीर बीजक, शब्द ७७, पृ० ५५, हरक, जिला बाराबंकी; संस्करण सं० २००७।

२. मीराँबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पद १२, पृ० ५।

३. वही, पद ३२, पृ० १४। ४. वही, पद ७२, पृ० २७।

५. वही, पद १५२, पृ० ५५ ६. वही, पद १५१, पृ० ५२।

परिचय प्राप्त है[1]। इसके संबंध में इन्होंने 'सुरत निरत', 'सबद, 'निजनाम', 'सुमिरन' तथा 'अमर रस-जैसे शब्दों के प्रयोग किये हैं जिनसे भी इनके संत-मत के साथ घनिष्ट संपर्क का पता चल सकता है[2]। इससे हमें इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता है कि ये उस मत की ही अनुयायिनी रही होंगी।

क्या मीराँबाई संत थीं ?

परन्तु क्या केवल इतने मात्र से ही मीराँबाई को संत-परंपरा के अंतर्गत सम्मिलित कर लेना भी उचित कहला सकता है ? मीराँबाई परमात्मा को निर्गुण तथा सगुण दोनों से परे कहती हुई भी अपने उस इष्टदेव की किसी मूर्ति की उपासना को ही अपनी साधना का आधार समझती थीं। उनके हृदय में श्रीकृष्णचंद्र के सौंदर्य तथा गुण तथा लीलाओं के ही प्रति विशेष आकर्षण दीख पड़ता है। उनकी प्रगाढ़ रागानुगा भक्ति का विकास उस लोक-संग्रह के उच्च स्तर तक पहुँचता हुआ नहीं लक्षित होता जिसे संतों के कार्यक्रम में प्रधानता दी जाती है। इसके सिवाय 'गुरुग्रंथ साहब' के कुछ संस्करणों में मीराँबाई के अतिरिक्त भक्त परमानन्द तथा भक्त गोविंद-जैसे लोगों की भी रचनाएँ संगृहीत हैं जिन्हें संत-परंपरा में कभी सम्मिलित नहीं किया जाता। भक्त सूरदास की कतिपय रचनाएँ उसके प्रारंभिक संस्करणों में भी पायी जाती हैं और ऐसा होने पर भी उन्हें सदा सगुण भक्तों में ही गिना जाता है। अतएव मीराँबाई को यदि संतों की कोटि में रखा भी जाय तो, उन्हें अधिक से-अधिक पहले के पथ-प्रदर्शकों के ही साथ गिनेंगे और उन्हें सगुणवाद को स्वीकार करने वालों तक की ही श्रेणी में रखना अधिक उचित समझेंगे।

२. बिश्नोई सम्प्रदाय

संक्षिप्त परिचय

बिश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जानेवाले संत जंभदेव, जंभऋषि, जंभेश्वर, सिद्धेश्वर वा जांभीजी का जन्म सं० १५०८ की भादों बदी ८ सोमवार के दिन जोधपुर राज्य के नागोर परगने के पयासर (पीपासर) नामक गाँव में हुआ था

१. मीराँबाई की पदावली, पद १९२, पृ० ६४-६५।

२. "रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मेरी पीर बुझानी॥"
—वही, पद १५९, पृ० ५५।

और इनकी जाति परमार वा पँवार राजपूत की थी। इनके पिता का नाम लोहट (लोहित) था तथा इनकी माता हाँसा देवी अथवा केशर के नाम से प्रसिद्ध थीं। ये अपनी माता की एकमात्र संतान थे, जिस कारण इनके परिवार के सभी लोग इन्हें बड़े प्रेम-भाव के साथ देखा करते थे। किंतु, प्रसिद्ध है कि ये अपनी प्रायः ३४ वर्षों तक की अवस्था तक किसी से कभी एक शब्द तक भी बोला नहीं करते थे और अपने चमत्कारों के कारण जंभाजी (अचंभा) कहे जाते थे[१]। कहा जाता है कि बचपन में जब ये गायें चराते थे, इन्होंने राव दूदाजी (सं० १४९७-१५७२) को एक लकड़ी देकर उन्हें सफल बनाया था। इसी प्रकार पाखंडी साधु लोहा पाँगल का पथ-प्रदर्शन करना और सिकंदर लोदी को चमत्कार दिखलाना आदि प्रसिद्ध है। इनके पढ़ने-लिखने के विषय में कुछ पता नहीं चलता, किंतु इतना प्रसिद्ध है कि इन्हें स्वयं गुरु गोरखनाथ ने आकर दीक्षित कर दिया था। परन्तु राजस्थान में एक बाला गोरखनाथ का होना भी बतलाया जाता है। जंभ-देव चरित्र के स्वामी ब्रह्मानन्द ने जंभोजी से मिलने वाले महात्मा बाला गोरख यतीन्द्र का नाम लिया है[२]। किंतु इनके जीवन-काल का पता नहीं चल सका है। इस बात की चर्चा उस घटना के संबंध में भी की जाती है जब सं० १५५७ में इनकी सिद्ध जसनाथ से 'कतरियासर' में भेंट हुई थी। इन्होंने उनसे मिलते समय उनके प्रति अपने गुरुभाई का-जैसा व्यवहार किया था[३]। कहते हैं कि सं० १५४२ में इनका गूँगापन दूर करने के उद्देश्य से इनके पिता ने नागोर की देवी की पूजा १२ दीप जला कर करानी चाही। किंतु इन्होंने उन दीपों को बुझा दिया। उसी समय से ये न केवल उपदेश देने लग गये, प्रत्युत इन्होंने एक नये संगटन का भी सूत्रपात कर दिया जो 'विश्नोई सम्प्रदाय' कहलाया। ये अपने समय के एक पहुँचे हुए साधक माने जाते थे और कदाचित् इसी कारण, इन्हें कभी-कभी 'मुनीन्द्र जंभ ऋषि' भी कहा जाता था। इनकी एक जीवनी इनके अनुयायी सुरजन दास ने लिखी है जिसमें इनके अनेक चमत्कारों की चर्चा भी की गई है[४]।

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी आदि, भाग २, पृ० ११०।

२. स्वामी ब्रह्मानंद : जंभदेव चरित्र भानु पृ० ३६।

३. "जांभो कहे जसनाथ ने, मम गुरु गोरखनाथ।
गुरु भाई हम जानके, ताहि मिलायो हाथ।"—रामनाथ : यशोनाथ पुराण।

४. श्री जांभाजी महाराज का जीवन चरित, प्रकाशक रामदास, कोलायत, सं० २००७।

रचनाएँ और विचार-धारा

इनकी रचनाओं में लगभग १२० सबद मिलते हैं। इनका एक संग्रह 'जंभ गीता' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। जिसमें इनकी फुटकर रचनाएँ एकत्र कर दी गई जान पड़ती हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इनका प्रधान विषय देहभेद, योगाभ्यास, कायासिद्धि-आदि से संबद्ध है। इससे स्पष्ट है कि इनकी विचार-धारा अधिकतर नाथ-पंथ से प्रभावित है। इन्होंने कहा है, "अरे अवधू, अजपा जाप करो, निरंजन की पूजा करो जो ज्योति के रूप में गगन-मंडल में विराजमान है तथा उसी देव का ध्यान धरो[1]।" "गगन में हमारा बाजा बजता है और मूलमंत्र का फल अपने हाथ में है। संशय की शक्ति जाती रही और पंचेन्द्रियाँ अपना साथी बन गई। गुरु की कृपा से अपनी 'जुगति' के सिंहासन पर आसीन रहने वाला तथा आकाश में मंदिर की रचना करने वाला पुरुष बिरला होता है[2]" परन्तु इनकी कतिपय पंक्तियों द्वारा यह भी पता चलता है कि इनका इष्टदेव अथवा आराध्य परमात्म तत्त्व 'विष्णु रूप' है। इनका कहना है, "जो भीतर अजपा जाप करता है और सोहं शब्द के आधार पर घाट को पार कर जाता है वह फिर योनि-द्वार से जन्म नहीं लिया करता। वह परात्पर विष्णु के अमृत रस का पान करके अमर बन जाता है, क्योंकि ॐ विष्णु है, सोहं विष्णु है और वही तत्त्व स्वरूपी तारक विष्णु भी है[3]।" इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र भी कहा है "अरे प्राणी, तू 'विष्णु'-'विष्णु' का जप किया कर, प्रति क्षण आयु बीत रही है और मरण-तिथि निकट आ रही है"[4] संत जांभोजी द्वारा

---

१. "अजपा जपोरे अवधू, अजपा जपो।
पूजो देव निरंजन थान, गगन मंडल में जोति लखाऊँ।
देव धरो वा ध्यान।" —संतमाल, इलाबाद, पृ० १५६।

२. "गगन हमारा बाजा बाजै, मूल मंतर फल हाथी।
संसै का बल गुरु मुख मोड़ा, पाँच पुरुष मेरे साथी॥
जुगति हमारी छत्र, सिंघासन, महासक्ति की वाँसे।
जंभनाथ वह पुरुष बिलच्छन, जिन मंदिर रचा अकासे।"—वही।

३. "ओं सबद सोंह आप, अंतर जपे अजपा जाप।
सत्त सबद ले लंघे घाट, फिर न जावे जोनी बाट॥
परे विश्नु अम्रित रस पीवे, जरा न व्यापे जुग जुग जीवे।
ओं विश्नु, सोहं विश्नु, तत्त सरूपी तारक विश्नु॥—वही, पृ० १५७।

४. "विष्णु विष्णु तू त्रण रे प्राणी, इस जीवन के हावै।
क्षण क्षण आव घटती जावै, मरण दिने दिन आवै॥"—जंभ गीता, पृ०४२२।

प्रवर्तित 'विश्नोई सम्प्रदाय' के २९ नियमों में से भी १५वाँ 'विष्णु की नित्य सेवा करनी' है[1]। इससे नाथपंथ के साथ कोई संबंध नहीं जोड़ा जा सकता, न तो उसके 'ध्येय' को कभी 'विष्णु' की संज्ञा दी जाती है, न वहाँ पर वैसी 'सेवा' का ही महत्त्व है। इसके सिवाय जहाँ पर सिद्ध जसनाथजी तथा जांभोजी की भेंट का विवरण दिया गया मिलता है, वहाँ पर भी इनके प्रति यही कहलाया गया है, "आप चतुर्भुज विष्णु का जप करते हैं और मैं शिव का, जो युग-युगों तक सृष्टि के प्रत्येक क्षण में व्यापक है।"[2] इससे यही जान पड़ता है कि यद्यपि संत जांभोजी गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रभावित रहे, इनकी कुछ रुझान विष्णु के प्रति भी अवश्य थी। यदि 'विश्नोई सम्प्रदाय', 'वैष्णव सम्प्रदाय' का समानार्थक न भी रहा हो और 'विश्नोई' शब्द का अर्थ, उसके अपने २९ नियमों के अनुसार 'बीस और नव' से बनी उस संख्या की ओर संकेत करता हो उस दशा में भी, हमें यहाँ 'विष्णु' का प्रयोग निरर्थक नहीं जान पड़ता, न 'कबीर' द्वारा प्रस्तुत किये गए वातावरण में अपने मत की मूल धारणाएँ निश्चित करने वालों में[3] संत जांभोजी का नाम इस दृष्टि से लेना कदाचित् किसी प्रकार अनुचित ही ठहराया जा सकता है। संत जांभोजी की रचनाओं के अंतर्गत कहीं-कहीं जो भक्ति-भाव का पुट आ गया मिलता है उसके द्वारा भी हमें इसी बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है। विश्वनोई समाज में इन्हें 'प्रह्लाद पंथी विश्नोई' कहा जाता है। पंथ के २९ नियम परवर्त्ती भी हो सकते हैं, क्योंकि स्वयं उनकी वाणी में उक्त नियमों का कहीं उल्लेख नहीं है।

समाधि तथा सम्प्रदाय

जनश्रुति के आधार पर संत जांभोजी के ब्रह्मलीन होने का समय सं० १५८० के लगभग बतलाया जाता है, किंतु इनके अनुयायियों में प्रसिद्ध है कि यह घटना सं० १५९३ की अगहन कृष्णा ९ की है जो लालासर गाँव के निकट जंगलों में हुई थी। इनके किसी वील्हाजी नामक शिष्य ने अपने एक छप्पय द्वारा इनकी जीवनी का परिचय देते हुए कहा है[4], "सात वर्षों तक इन्होंने बाल-लीला की, सत्ताईस

१. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : राजस्थानी भाषा और साहित्य, कलकत्ता, १९६० ई०, पृ० २७८ पर उद्धृत।

२. "जापत आप चतुर्भुज ईसर देवजी जुग जुग री गैंलाई ॥"
—सूर्यशंकर पारीक : सिद्ध चरित्र, पृ० १३९ पर उद्धृत।

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २७७।

४. "वर्ष सात संसार बाल लीला निरहारी।
वर्ष पाँच बाईस पाल बहुता ब्रह्मचारी।

वर्ष की अवस्था तक अर्थात् अपनी चौंतीस वर्ष की वय तक ये संभवतः गोचारण-जैसे कार्यों में निरत रहे। फिर सवा पचासी वर्ष के हो जाने पर इन्होंने अपना शरीर त्याग किया तथा यह समय सं० १५९३ के मार्गशीर्ष मास की कृष्णा नवमी का दिन था जब इनकी ज्योति अंतर्हित हो गई।" इनकी समाधि का स्थान 'संभ-राथल' नाम से प्रसिद्ध है और वह संभवतः एक बहुत बड़ा टीला (धोरा) है जो 'मुकाम' में वर्तमान है और जहाँ प्रत्येक फाल्गुन मास में एक मेला लगा करता है। यही स्थल इनका साधना-स्थल भी समझा जाता है और इसको इनके अनुयायियों द्वारा सर्वाधिक प्रधानता भी दी जाती है। वार्षिक मेले के अवसर पर यहाँ पर एक बहुत बड़ा होम (हवन) हुआ करता है जिसमें सैकड़ों मन सामग्री की आहुति की जाती है। वास्तव में इस सम्प्रदाय के २९ नियमों में भी 'हवन' की चर्चा की गई है और इसे प्रतिमास की अमावस्या को संपादित किया जाता है। इसी प्रकार 'विश्नोई सम्प्रदाय' वालों के यहाँ अहिंसा को भी बहुत बड़ा महत्त्व दिया जाता दीख पड़ता है। इनके यहाँ कोई खेजड़े वा शमी वृक्ष की हरी डाल काट नहीं सकता, न इनके आसपास कोई हिरणों का आखेट ही कर सकता है। कहते हैं कि राजस्थान तथा पंजाब के अनेक स्थानों पर इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इस अहिंसा व्रत के उपलक्ष में अपना बलिदान तक कर दिया है। इनके यत्नों द्वारा ऐसे अनेक स्थलों पर राजाज्ञा प्रचलित करके हिरण के शिकार का स्पष्ट निषेध तक करा दिया गया है। फिर भी इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में तगड़े नौजवानों तथा तेजस्विनी स्त्रियों की कमी नहीं जो उनके संयत जीवन का परिणाम है। सम्प्रदाय के गद्दी-धारियों की कोई वंशावली हमें उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि संत जांभोजी ने अधिकतर राजस्थान के क्षेत्र में ही अपने उपदेश दिये थे, किंतु इनके द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय का पंजाब तथा उत्तरप्रदेश आदि में भी वर्तमान रहना बतलाया जाता है। स्वामी रामानंद गिरि के अनुसार मुकाम, तालाब, पीपासर, जाँगलू, रोटू, लालासर और संभराथल नामक इनके सात तीर्थ-स्थान हैं। किंतु स्वामी ब्रह्मदास ने इनमें रामदास तथा जांगली की साथरी-जैसे दो अन्य नामों को भी जोड़ दिया है। इस सम्प्रदाय में मांगलिक अवसरों पर कलश-स्थापना करनेवाले

ग्यारह ऊपरि चालीस, शब्द कथिया अविनाशी।
बाल ग्याल गुरु ज्ञान सकल पूजा सवा पचासी।
पनरासै तिरानवें बदी मंगसर नौ आगले पालटियो।
रूप रहिया ध्रुवर अडिग, ज्योति संभार चले।"
—उसी पृष्ठ पर उद्धृत।

को 'थापण' और मृत्यु आदि संस्कार करानेवाले को 'गायण' कहा जाता है।[१] जंभोजी ने वाह्याडंबर का तीव्र विरोध करते हुए ऐसे धार्मिकों को फटकार बतायी है।[२]

३. निरंजनी सम्प्रदाय

प्रासंगिक प्रस्तावना

'निरंजन' वा 'निरंजनी' कहे जानेवाले किसी सम्प्रदाय-विशेष को एक ऐसी धार्मिक परंपरा बतलाया गया है जिसका मूल स्रोत नाथ-पंथ है। कहते हैं कि इसका बहुत कुछ प्रभाव उड़ीसा प्रांत के अंतर्गत किसी-न-किसी रूप में अभी तक वर्तमान है। सत्रहवीं विक्रमी शताब्दी के मध्यकाल में स्थापित सिलहट के कतिपय पंथ भी इससे अनुप्राणित कहे गए हैं। अनुमान किया जाता है कि यह सम्प्रदाय सर्वप्रथम, कदाचित् उड़ीसा से ही आरंभ होकर पूर्व की ओर भी पहुँचा होगा। इसका प्रचार कभी राजपूताना तथा पश्चिमी पंजाब में था। यह इस समय भी कम-से-कम पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर भारत से चला गया नहीं कहा जा सकता।[३] फिर भी वैसे किसी 'निरंजनी सम्प्रदाय' का कोई प्रामाणिक इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है। इस कारण यह कहना संभव नहीं कि उसका उद्भव, विकास तथा प्रसार क्रमशः किस प्रकार हुआ, न निश्चित रूप से यही बतलाया जा सकता है कि उक्त उड़ीसा वाले 'मूलरूप' तथा पश्चिमी भारत में आज कल पाये जाने वाले इस नाम के पंथ में कहाँ तक समानता अथवा भिन्नता है। कहा तो यह भी गया है कि राजस्थान वाले ऐसे मत के मूल प्रवर्तक स्वामी निरानंद निरंजन भगवान् निर्गुण के उपासक थे।[४] किंतु हमें उनका भी कोई परिचय नहीं मिलता, न यही पता चलता है कि उनका आविर्भाव कब हुआ। उनके मौलिक सिद्धांतों का रूप क्या था और उनका प्रचार किस ओर तथा किस प्रकार संभव हुआ। यदि इन निरानंद निरंजन भगवान् का जीवन-काल कहीं विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक तथा विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के युग में सिद्ध किया जा सके और इनकी रचनाओं तथा साधना-पद्धति आदि का पूरा पता चल सके तो, उसे हम नाथ-पंथियों तथा संतों के बीच की एक लड़ी भी ठहरा सकते हैं।[५] परन्तु इस

---

१. श्री चंद्रदान चारण : विश्नोई पंथ, राजस्थान भारती, भाग ७ अंक ४ अगस्त १९६१, पृ० ५७-६२।
२. जंभ-सागर, शब्द ११।
३. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० ७० तथा १७०।
४. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, बम्बई, सन् १९४२ ई०, पृ० ५२।
५. "It (Niranjan School) is in a way, midway between the

प्रकार की संभावना को भी केवल उसी दशा में प्रश्रय दिया जा सकता है, जब इस विषय में पूरी छान-बीन की जा सके तथा ऐसी यथेष्ट सामग्री के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करके कोई निश्चित निर्णय करने का कभी यत्न किया जाय।

राघोदास का मत

राघोदास दादू पंथी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' के अंतर्गत, कहा है कि जिस प्रकार मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, रामानुजाचार्य तथा निंबार्क ने 'महंत चक्कवै' के रूप में सगुणोपासना का प्रचार करने वाले चार भिन्न-भिन्न मतों का प्रवर्तन किया था, उसी प्रकार कबीर, नानक, दादू और जगन ने भी पीछे चल कर 'अगुन, अरूप तथा अकल' की निर्गुणोपासना प्रचलित की तथा इन चारों ही की पद्धतियों का संबंध 'निरंजन' से रहा।[1] उनके ऐसे कथन द्वारा, यह भी प्रकट होता

Nath School and the Nirgun School, Preface, pp. II & III to the "Nirgun School of Hindi Poetry by Dr. P.D. Badathwal.

१. "सगुन रूप गुन नाम ध्यान उन विविध बतायौ ॥
इन इक अगुन अरूप अकल जग सकल जितायौ ॥
नूर तेज भरपूरि जोति तहाँ बुद्धि समाई ॥
निराकार पद अमिल अमित, आतमा लगाई ॥
निरलेप निरंजन भजन कौं, सम्प्रदाइ थापी सुघट ॥
वै च्यारि महंत ज्यूं चतुरव्युह, त्यूं चतुर महंत नृगुणी प्रगट ॥३४१
नानक सूरजरूप, भूप सारे परकासे ॥
मधवा दास कबीर ऊसर सूसर वरषासे ॥
दादू चंद सरूप अमी करि सबको पोषै ॥
वरन निरंजन मनो त्रिषा हरि जीव संतोषै ॥
ये च्यारि महंत चहूँ चक्कवै, च्यारि पंथ निरगुन थपे ॥
नानक कबीर दादू जगन, राघो परमातम जपे ॥३४२
रामानुज की पधित चली लक्ष्मी सूं आई ॥
विष्णु स्वामि की पधित सुतौ संकर तै जाई ॥
मध्वा चारज पधित ग्यांन ब्रह्मा सुविचारा ॥
नीवादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा ॥
च्यारि सम्प्रदा की पधित, अवतारनसूं ह्वै चली ॥
इन च्यारि महंत नृगुनीन की पधित निरंजन सूं मिली ॥"३४३
ग्रंथ की एक हस्त लिखित प्रति से जो लेखक को पुरोहित हरिनारायण शर्मा, जयपुर से मिली थी।

है कि ऐसे चौथे मत वा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक 'जगन' नामक व्यक्ति को भी हम उसी प्रकार महत्त्व प्रदान कर सकते हैं, जिस प्रकार अन्य तीन मतों वालों को। इसी कारण, उन्होंने इनके विषय में आगे एक अन्य पंथ भी लिखा है और इन्हें वहाँ पर 'लपट्यौ जगन्नाथ'-जैसा नाम देकर इनके निवास-स्थान आदि का परिचय देने की चेष्टा भी की है। परन्तु 'निरंजनी पंथ बरनन' के शीर्षक से उन्होंने इस सम्प्रदाय का एक विवरण पृथक् रूप में भी दिया है। इससे पता चलता है कि इसके मुख्य प्रचारक संख्या में १२ थे। उन्होंने इनके नाम भी, क्रमशः १. लपट्यौ जगनाथ दास, २. श्यामदास, ३. कान्हड़दास, ४. ध्यानदास, ५. षेमदास, ६. नाथ, ७. जग-जीवन, ८. तुरसीदास, ९. आनंदास, १०. पूरणदास, ११. मोहनदास और १२. हरिदास-जैसे बतला दिये हैं। इन सभी बारहों को ही वहाँ पर उन्होंने 'महंत' की संज्ञा प्रदान की है और यह भी कहा है कि ये कबीर का भाव रखनेवाले वा उनसे प्रभावित थे।[1] उन्होंने इनमें से किसी के भी जीवन-काल का कोई उल्लेख नहीं किया है, न इनके पारस्परिक संबंध की ही ओर कोई संकेत किया है। इससे हमें न तो यह प्रकट हो पाता है कि ये सभी समसामयिक भी थे वा नहीं, न यही कि इनमें से किसे सर्वप्रमुख समझा जाय। उन्होंने अपने एक छप्पय द्वारा इतना कह दिया है कि इनमें से जगनाथ 'थरोली' के रहनेवाले थे, श्यामदास 'दत्तवास' के निवासी थे, कान्हड़दास 'चाड़स' में रहते थे, आनंदास का स्थान 'लिवाली' था तथा क्रमशः मोहनदास का स्थान 'देवपुर' में, तुरसीदास का 'सेरपुर' में, पूरण-दास का 'मंभोर' में, षेमदास का 'सिवहाड़' में, नाथ का 'टोड़ा' में, ध्यानदास का 'झारि' में तथा हरिदास का उसी प्रकार 'डीडवाणें' में था।[2] इसके सिवाय उन्होंने अन्यत्र यह भी बतलाया है कि इनमें से जगन्नाथ दास बड़े संयमशील थे और नाम-स्मरण में निरत रहते थे। श्यामदास ऊँची स्थिति तक पहुँचे हुए साधक थे जिनके रोम-रोम से 'रंकार' की ध्वनि उठा करती थी। आनंदास इन्द्रियजीत और विरक्त थे, कान्हड़दास कलाल-कुल में उत्पन्न हुए थे, किंतु अपने रहने की कुटी तक भी उन्होंने नहीं बनवायी। पूरणदास ने पिंड और ब्रह्मांड के रहस्य को जान लिया था और कबीर को अपना गुरु स्वीकार करके वे निरंतर नाम-स्मरण में लीन रहे। षेमदास हिन्दू-मुस्लिम अथवा ब्राह्मण तथा अंत्यज सभी को एक समान देखते हुए सदा सत्संग में प्रवृत्त रहा करते थे। इसी प्रकार ध्यानदास ने परब्रह्म विषयक अनेक रचनाएँ साखी, कवित्त और पदों के रूप में, प्रस्तुत कीं। किसी रामदास के

---

१. 'अब राखहि भाव कबीर के इन येते महंत निरंजनी' आदि छप्पय ४२६।
२. छप्पय ४४४।

साथ 'झारि' नामक स्थान में रह कर ये अत्यंत प्रसिद्ध हो गए। मोहनदास ने अपने अनुभव की बात ठीक उसी प्रकार व्यक्त कीं जिस प्रकार काशी के कबीर ने की थीं। नाथ सदा निरंजन में ही लीन रहने वाले साधक थे, तुरसीदास एक ब्रह्म-जिज्ञासु योगी थे और संयमशील जीवन व्यतीत करते थे। जगजीवनदास बड़े ही सच्चरित्र और त्यागी थे। हरिदास की विशेषता यह थी कि उनकी कथनी और करनी दोनों उच्च कोटि की थीं तथा अपनी निर्मल वाणी द्वारा वे निराकार की उपासना करके 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए।[1]

मूल प्रवर्त्तक कौन ?

परन्तु राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में जिन उपर्युक्त स्थानों का उल्लेख किया है उनमें से सिवाय एक डीडवाणा के हमें अन्य किसी का भी कोई भौगोलिक परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इसके सिवाय उन्होंने जो कुछ परिचय हमें उक्त १२ निरंजनी महंतों का दिया है उसमें भी कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिल पाता जिससे हम उनके किसी जीवन-वृत्त का अनुमान कर सकें। उनके द्वारा किये गए 'लपटचौ जगन्नाथ' अथवा 'जगन्नाथ'-जैसे नामों का प्रयोग यह अवश्य सूचित कर सकता है कि ये कदाचित् उसी पुरुष के लिए व्यवहृत हुए हैं जिसे 'जगन' कहा गया है। इसके कबीर, नानक तथा दादू-जैसे निर्गुणी पंथ-प्रवर्त्तकों के नामों के साथ आने के कारण, इतना और भी अनुमान कर लेना संभव है कि कहीं इसके द्वारा अभिहित किया जाने वाला ही व्यक्ति निरंजनी सम्प्रदाय का सर्वप्रधान प्रवर्त्तक भी न हो।[2] 'जगन' का नाम सम्प्रदाय के उपर्युक्त १२ महंतों में सबसे पहले लिया गया है। इसी प्रकार 'जगन्नाथ दास' अथवा केवल 'जगनाथ' नाम के प्रयोग भी, क्रमशः वहाँ-वहाँ पर किये गए हैं, जहाँ सर्वप्रथम उनका स्वभावगत परिचय दिया गया है अथवा जहाँ उनके वास-स्थान 'थरोली' की चर्चा की गई मिलती है। इससे उक्त अनुमान को और भी बल मिल सकता है, यद्यपि इस बात की पुष्टि किसी अन्य प्रमाणों से भी नहीं होती। इसके विपरीत इस संबंध में बहुत-से लोगों की धारणा यह भी पायी जाती है कि वास्तव में इस सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्त्तक हरिदास निरंजनी थे जिन्हें राघोदास ने उक्त महंतों की तालिका में १२वाँ अथवा अंतिम स्थान दिया है। ऐसे मत के समर्थकों में प्रसिद्ध दादू-पंथी संत सुंदरदास (सं० १६५३-१७४२) तथा रामसनेही संत रामदास (सं० १७८३-१८५५)-

---

१. छप्पय ४२६-४४१ तक।

२. 'जगन नामक किसी भक्त का नाम नाभादास की 'भक्तमाल' छप्पय ९९ में भी आया है जहाँ पर एक अन्य नाम किसी हरिदास का भी है।—लेखक

जैसे लोगों के भी नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने इस बात की चर्चा अपनी रचनाओं में की है। तदनुसार इनमें से प्रथम ने जहाँ इन्हें दत्तात्रेय, गोरखनाथ, कंथड़ और कबीर तक की श्रेणी में स्थान दिया है,[१] वहाँ द्वितीय ने इन्हें न केवल पंथ का प्रवर्त्तक जैसा बतलाया है, प्रत्युत इनके ऐसे बावन शिष्यों की भी चर्चा की है जिन्होंने 'निरंजन की छाप' लेकर माया का त्याग कर दिया और जो इस प्रकार अत्यंत भाग्यशाली भी सिद्ध हुए। परन्तु संत सुंदरदास के ऐसे कथन से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निरंजनी सम्प्रदाय वालों में स्वामी हरिदास श्रेष्ठ महापुरुषवत् अपना लिये गए थे, यद्यपि इस संबंध में उनके यहाँ कोई 'विवाद' का चलना भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार संत रामदास द्वारा यहाँ प्रयुक्त 'द्वादसपंथ'-जैसे शब्द से भी ऐसा सूचित होता है जैसे कदाचित् निरंजनी सम्प्रदाय की १२ भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रचलित रही हों तथा ये इनमें से केवल किसी एक के ही प्रवर्तक रहे हों। फिर भी इस समय हमें जो कुछ सामग्री उपलब्ध होती जा रही है उससे स्वामी हरिदास को ही इस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्त्तक मानने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में, किसी 'जगन' को यह श्रेय प्रदान करने के विषय में राघोदास का कथन केवल भ्रमात्मक भी बन जाता है। उसका विचार तभी हो सकता है, जब उसके समर्थन में कोई और भी प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकें।

हरिदास का जीवन-काल

स्वामी हरिदास के संबंध में चर्चा करते समय पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है, "ये हरिदासजी प्रथम प्रागदासजी के शिष्य हुए, फिर दादूजी के।[२] फिर कबीर और गोरख-पंथ में हो गए। फिर अपना निराला पंथ

---

१. "कोउक गोरख कौं गुरु थापत, कोउक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कंथर कोउ भरथ्थर, कोउक कबीर कोउ राषत नादू।
कोउ कहै हरदास हमारै जु, यौं कहि ठानत वाद विवादू।
और तो संत सबै सिर ऊपर, सुन्दर कै उरहै गुरू दादू ॥५"
—सुंदर ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८५।

२. "हरीदास पूरा गुरु पाया, नाम निरंजन पंथ चलाया।
बावन शिष्य मिल्या सुख माँई, पादू माता चेली क्वाई॥
द्वादस पंथ संत बड़भागी, छाप निरंजन माया त्यागी।
अंजन छाड़ निरंजन ध्याये, मन निरमल निश्चै कर पाये ॥६६
—श्री श्री रामदासजी महाराज की वाणी, पृ० २०१।

चला दिया।"[1] उनका कहना है कि यह बात केवल दादू-पंथियों में प्रसिद्ध है, निरंजनी इसे नहीं मानते। प्रागदासजी दादू दयाल के प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। इनका देहांत कार्त्तिक बदी ६ बुधवार सं० १६८८ को डीडवाणे में हुआ था। कुछ पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों से यह भी जान पड़ता है कि हरिदासजी ने इनसे सं० १६५६ के जेठ में दीक्षा ली थी।[2] इस प्रकार, यदि दादू-पंथियों का उक्त कथन स्वीकार कर लिया जाय तो, हमें यह भी अनुमान कर लेना पड़ सकता है कि इन्होंने अपना नया निरंजनी पंथ, इसके कुछ काल अनंतर अर्थात् संभवतः दादू-पंथ में कुछ दिनों रह कर तथा फिर क्रमशः कबीर-पंथ तथा गोरख-पंथ का भी अनुयायी रह चुकने के उपरांत ही चलाया होगा और ये इसके पीछे तक भी जीवित रहे होंगे। इस बात की पुष्टि स्वयं इनकी भी एक साखी से होती जान पड़ती है जिसमें इन्होंने अकबर का नाम लिया है। इन्होंने वहाँ पर कहा है, "छः चक्रवर्ती मुचकुंद, विक्रम, भोज, सामंत पृथ्वीराज चौहान अब कहाँ रहे और अकबर 'नौरोज' भी नहीं रह गया।"[3] इसका 'अकबर नौरोज' यदि सम्राट् अकबर (मृ० सं० १६६२) से अभिन्न हो तो हमें यह भी स्वीकार कर लेना पड़ सकता है कि इनका देहांत सं० १६६२ के कुछ काल पीछे ही हुआ होगा। 'अकबर' शब्द के साथ यहाँ पर प्रयुक्त 'नौरोज' शब्द के संबंध में यह कहा जा सकता है कि इसकी उपयुक्तता, सम्राट् अकबर द्वारा प्रचलित किये गए पारसियों के 'नौरोज' नामक वार्षिकोत्सव के आधार पर सिद्ध की जा सकेगी। इसके सिवाय, निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों की ओर से प्रकाशित की गई 'हरिपुरुषजी की वाणी' की 'भूमिका' में भी, स्वामी हरिदास के जीवन की कतिपय घटनाओं का उल्लेख करके इनकी मृत्यु का सं० १७०० की फाल्गुन सुदी ६ को होना लिखा है।[4] इससे भी इस मत का ही समर्थन होता जान पड़ता है और इनका जीवन-काल, अधिक-से-अधिक विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंत तक चला जाता है।

बानी

परन्तु, इधर उपलब्ध कतिपय सामग्रियों के आधार पर यह समय इससे पहले

---

१. सुंदर-ग्रंथावली, प्रथम खंड, जीवन चरित्र, पृ० ६२।

२. वही, पृ० २७-८।

३. "छ चकवै मुचकंद कहाँ, कहाँ विक्रम कहाँ भोज।
सावंत पृथी चौहाण कहाँ, कहाँ अकबर नौरोज ॥१८
—महाराज श्री हरिदास जी की वाणी, जयपुर, पृ० ८२।

४. संपादक सेवादास, जोधपुर, सं० १९९८, पृ० 'त'।

भी ले जाया जा सकता है। उदाहरण के लिए हरिरामदास (संभवतः १८वीं विक्रमी शताब्दी) द्वारा रचित 'हरिदासजी की परचई' से पता चलता है कि स्वामी हरिदास का जन्म सं० १५१२ की फाल्गुन सुदी ६ को हुआ था। इन्होंने सं० १५५६ की वसंत पंचमी को दीक्षा-ग्रहण की थी तथा सं० १६०० के फाल्गुन मास की शुक्ला षष्ठी को डीडवाणे में इनका देहांत हो गया।[1] इसी प्रकार किसी पूर्णदास (संभवतः २०वीं विक्रमी शताब्दी) द्वारा नवलगढ़ में किये गए एक उल्लेख से जान पड़ता है कि इन्होंने सं० १४७४ में जन्म लिया था तथा सं० १५९५ की फाल्गुन सुदी ६ को इनका देहांत हुआ।[2] इस बात का समर्थन 'मंत्रराज प्रभाकर' के एक अन्य ऐसे प्रसंग से भी हो जाता है।[3] इसके सिवाय स्व० जगद्धर शर्मा गुलेरी द्वारा बतलाये गए हरिदासजी के रचना-काल सं० १५७७-९७ : सन् १५२०-४० ई०[4] की भी संगति इस मत के साथ बैठ जाती है और हमारा यह अनुमान कर लेना उचित हो जाता है कि ये सं० १६०० के पहले रहे होंगे। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि इनके मृत्यु-काल के मास तथा तिथि का उल्लेख इन चारों मतों में एक ही प्रकार किया गया मिलता है। सभी के अनुसार महीना फागुन का था और तिथि उसके शुक्ल पक्ष की षष्ठी रही। केवल पुरोहित हरिनारायण द्वारा उद्धृत पत्रों में लिखा मिलता है "श्री

---

१. "पन्दर से बारोत्तरे फागुन सुदि छठ सार।
बैराग्य ज्ञान भगति कूं लीयौ हरि अवतार।"
"पन्दरह सै छप्पन समै वसंत पञ्चमी जान।
तब हरि गोरख रूप धरि, आप दियो ब्रह्मज्ञान॥"
"सोलह सौ को छट्ठि सुदि फागुण मास।
परमधाम भै प्रापती नगर डीड हरिदास॥"
—सूरपूर्व ब्रजभाषा : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, वाराणसी, सन् १९५८ ई० पृ० १९९ पर उद्धृत।

२. "चौदह सै चौहोत्तरे जन्म लियो हरिदास।
पन्दरह सौ पिञ्चाणवे, कियो जोति में वास।
फागुन सुदि की छट्ठ को, परम जोति परकास।" —वही, पृ० १९९।

३. "चवदा शत संवत् सप्तचार, प्रगटे सुदेस सुरधर मझार।
पंचासौ पञ्चानवे शुद फागुण छठि जाण।
विंशासो वपु राखिकै पहुंचे पद निर्वाण॥" —वही।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९९७, पृ० ७७ पर उद्धृत।

स्वामी प्रागदासजी का सिष हरिदासजी निरंजनी संवत् १६७० के मिति फागण सुदि ६ रामसरणि हुवा"[1] तथा 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में यह सं० १७०० और 'हरिदास की परचई' में सं० १६०० और पूर्णदास तथा 'मंत्रराज प्रभाकर' के अनुसार, सं० १५९५ हो जाता है जिससे भ्रांति उत्पन्न होने लगती है। यदि तिथि के साथ यहाँ पर किसी वार का भी उल्लेख कर दिया गया होता तो इस बात की परीक्षा सरलतापूर्वक हो जाती कि इनमें से किस संवत् को स्वीकार किया जाय। ऐसी दशा में, यदि स्वामी हरिदास के जीवन-काल को विक्रम की १६वीं शताब्दी में स्वीकार करना चाहें, तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिन पुराने पत्रों की प्रतिलिपियों के आधार पर इनका प्रागदास का शिष्य होना तथा इनकी मृत्यु का सं० १६७० में होना कहा जाता है उनकी सम्यक् छान-बीन होनी चाहिए। इनके द्वारा स्वयं रचित कही जाने वाली उपर्युक्त साखी को या तो प्रक्षिप्त मान लेना चाहिए अथवा इस बात की ओर भी ध्यान दे लेना चाहिए कि सम्राट् अकबर को कहीं अन्यत्र भी इस प्रकार 'अकबर नौरोज' कहा गया नहीं मिलता, जिस कारण हम इसे किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रयुक्त भी ठहरा सकते हैं। इसी प्रकार हम पंद्रहवीं शताब्दी में इनके जन्म-ग्रहण करने के आधुनिक उल्लेखों को भी अधिक महत्त्व न देकर ऐसा कह सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के पक्षवाले मत को उसके इस सम्प्रदायवालों द्वारा अधिकतर मान्य होने के कारण, तब तक मान लिया जा सकता है। स्वामी हरिदास का जीवन-काल सं० १५१२-९५ स्वीकार कर लेने पर संत सुंदरदास द्वारा इनके लिए किसी प्राचीन मत-प्रवर्त्तक-जैसा कहा जाना सुसंगत बन जाता है क्योंकि वे यों अपने समकालीन के संबंध में नहीं कह सकते थे। इसके साथ ही स्वयं इनकी कतिपय मान्यताओं में लक्षित होनेवाली उस विचार-धारा का भी कुछ-न-कुछ समाधान हो जाता है जो हमें पुरानी-सी लगती है।

उनका जीवन-वृत्त

कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जन्म से शाखला गोत्र के क्षत्रिय थे। ये डीडवाणा परगने के 'कापड़ोद' नामक गाँव में जो वर्तमान 'कोलिया' के उत्तर-पूर्व दो कोस की दूरी पर आज भी स्थित है, उत्पन्न हुए थे। इनके माता-पिता के नाम हमें विदित नहीं, किंतु पता चलता है कि इन्होंने आरंभ में वैवाहिक जीवन भी व्यतीत किया था। इनका अपना पूर्व नाम हरिसिंह था। प्रसिद्ध है कि ये लगभग ४५ वर्ष की अवस्था तक कभी-कभी दुर्भिक्ष आ जाने पर

---

१. सुंदर ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २८ पर उद्धृत।

लूटपाट का काम भी किया करते थे। एक दिन, जब ये अपने कुछ साथियों के साथ ऐसे कार्य में प्रवृत्त थे, इनकी भेंट किसी महात्मा से हो गई जिनके द्वारा केवल इन्हें किसी वैसे कुकृत्यों से विरत होने की शिक्षा मिल गई, अपितु जिन्होंने इन्हें आध्यात्मिक चिंतन की ओर प्रवृत्त भी कर दिया। इन्होंने उसी समय अपने शस्त्रादि पास के 'खोसल्ये कुएँ' में डाल दिये और फिर ये 'तीखी डूँगरी' नाम की पहाड़ी की ओर चल पड़े। ये वहाँ की किसी गुफा में रहते हुए निरंतर बहुत दिनों तक साधना करते रहे और इनके भोजनादि का प्रबंध किसी-किसी प्रकार हो जाता रहा। कुछ दिनों तक तो वहाँ डीडवाणे के निवासी गाढ़ा वियाणी नामक एक श्रद्धालु पुरुष ने इनके लिए भोजनादि की व्यवस्था की। उन्हीं के विशेष आग्रह पर ये फिर वहाँ से उस नगर की ओर पधारे और उसके उत्तर-वाले जंगल में निवास करने लग गए। तत्पश्चात् ये फिर वहाँ से भी कुछ दिनों के लिए देश-भ्रमण की इच्छा से निकले और क्रमशः नागोर, अजमेर, टोडा, जयपुर तथा शेखावाटी जैसे कई स्थानों से होते हुए, अंत में वहीं पर लौट आये। इनके पर्यटन-काल वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण राघोदास की 'भक्तमाल', उस पर की गई चक्रदास की टीका तथा अन्यत्र कई स्थलों पर भी पाया जाता है। वह अधिकतर चमत्कारों से भरा हुआ अथवा विविध काल्पनिक बातों से पूर्ण भी कहा जा सकता है। रघुनाथदास द्वारा रचित 'परचई' से पता चलता है कि इनका जन्म सं० १५१२ में, गृह-त्याग तथा साधना का आरंभ सं० १५५६ में, साधना की पूर्ति सं० १५७० में, देश-भ्रमण के अनंतर डीडवाणे में निवास सं० १५८० में तथा लगभग ८८ वर्ष की आयु पाकर वहीं पर देहावसान सं० १६०० में संभव है।[१] स्वामी हरिदास ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, उनका एक अंश इनकी उपलब्ध रचनाओं में प्राप्त होता है। ये रचनाएँ इनकी 'वाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं और इनमें इनके ४७ 'लघु ग्रंथ' भी संगृहीत हैं जिनमें से केवल दो गद्य में और शेष पद्य में हैं। इनके अतिरिक्त उसमें इनके बहुत-से पद हैं जो रागों के अनुसार दिये गए हैं। इनके कवित्त, कुंडलियाँ और चांद्रायण-जैसे छंदों के अनंतर इनकी साखियों को भी स्थान मिला है जिनकी संख्या कम नहीं है।

शिष्य-प्रशिष्य और थांवे

स्वामी हरिदास के उपदेशों के प्रभाव में आकर अनेक व्यक्तियों ने इनसे दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार इनके द्वारा दीक्षित अथवा किसी-न-किसी प्रकार पूर्णरूप से प्रभावित शिष्यों की गणना ५२ तक की जाती है। यह

१. महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, भूमिका, पृ० ७६।

संख्या ५२ ही क्यों हो सकती है और इससे कम वा अधिक क्यों नहीं ठहरायी जाती। इस बात का समाधान करते हुए कहा गया है कि "वैष्णवों में बावन' द्वारा' माने ज़ाते हैं" तथा "इन बावन द्वारों का अनुकरण वैष्णव सम्प्रदाय से पीछे बनने वाले सम्प्रदायों ने बावन शिष्यों के रूप में किया[1] होगा और इस अनुमान की पुष्टि अन्यत्र से भी होती है।[2] कुछ 'परंपराओं' के अनुसार हमें इनके इन ५२ शिष्यों के नाम दिये गए भी मिलते हैं, किंतु उनकी ऐसी तालिकाएँ आपस में पूरा मेल नहीं खातीं जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषय में कुछ-न-कुछ मतभेद भी चला आ रहा होगा। 'भाऊदासजी की गूदड़ी' से जान पड़ता है कि निरंजनी सम्प्रदाय के जिन अन्य ११ 'महंतों' की चर्चा राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में की है उनका भी महत्त्व कुछ कम नहीं था, किंतु उन्हें वहाँ पर स्वामी हरिदास (हरिपुरुषजी) की अपेक्षा किंचित गौण स्थान प्रदान किया गया है।[3] उन्हें अन्यत्र इनका अनुगामी होना अथवा उनमें से कम-से-कम षेमजी, नाथजी, मोहनदासजी, पूर्णदासजी और जगजीवनदासजी-जैसे कुछ लोगों का तो इनका शिष्य होना 'सिद्ध' तक बतलाया गया है।[4] इस प्रकार के कथन का समर्थन, कुछ अंशों तक उनकी रचनाओं द्वारा अवश्य हो जाता है, किंतु जब तक में कोई ऐसा ऐतिहासिक तथ्य भी न उपलब्ध हो, न उसके आधार पर किसी प्रकार कोई प्रामाणिक 'वंशावली' निर्मित की जा सके, तब तक इस विषय में अंतिम निर्णय संभव नहीं है। अभी तक केवल उतना ही कहा जा सकता है जितना उनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर अनुमान किया जा सकता है। तदनुसार जगजीवनदास के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने कबीर को स्पष्टरूप से अपना 'गुरु' स्वीकार किया है,[5] ध्यानदास ने

१. महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, पृ० १०१।

२. दे० स्वामी दादू दयाल, रामसनेही, रामदास आदि के ५२ शिष्यों का प्रसंग भी। —लेखक।

३. "श्री हरिपुरुष महाराजा गूदड़ी तुमारी पातक जारणी ॥टेक
कानड़, मोहन, खेम हजूरी, आनदास, पूरण मत पूरी।
श्याम साँकड़े ध्यान लगाया, जग जीवण तुरसी तत पाया ॥
नाथ ध्यानजी है अवधूता, जगन्नाथ केवल पद पहुँता।
जिनकी पदरज जे कोई धारे, जन्म जन्म अघ जारणी ॥७"

४. महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, भूमिका, पृ० १०१।

५. 'गुरकबीर प्रताप तें, कहै जगजीवन दास' चितावणी, जोग, ४०।
'गुर कबीर प्रताप तें, कहै जगजीवन सार', प्रेमनामोजोग ग्रंथ, ५६।

'गोपाल' को गुरु कहा है।[1] षेमदास ने अपना गुरु हरिदास जी को बतलाया है[2] तथा शेष लोग भी कदाचित् इसी प्रकार कथन करते दीख पड़ते हैं। केवल इसी के आधार पर सभी को एक दूसरे का गुरु-भाई ठहराना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता।

गद्दी

कहा गया है कि स्वामी हरिदासजी का देहावसान हो जाने के अनंतर प्रायः एक शताब्दी के समय तक इनके शिष्य-प्रशिष्य अधिकतर पूरी वैराग्य-वृत्ति को अपनानेवाले हुआ करते थे। उनकी 'साज-सज्जा' केवल एक गूदड़ी और पात्र तक ही सीमित रही तथा जहाँ तक पता चलता है ऐसा कोई स्थान कदाचित् ही मिल सके जो इसके पहले बना हो। डीडवाणे में निर्मित इनकी समाधि तथा एकाध अन्य शालाएँ भी संभवतः १७वीं शताब्दी के अंत वा १८वीं के आरंभ की बनी होनी चाहिए। इसके अनंतर सम्प्रदाय के अंतर्गत अपने प्रचार तथा विस्तार की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत हुई। इसके अनेक योग्य आचार्यों ने संभवतः इसी काल में अपनी विविध रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इस समय तक हमें इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि स्वामी हरिदास का कोई उत्तराधिकारी बना हो अथवा इनकीऐसी कोई आचार्य-परंपरा चली हो जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि इनकी किसी गद्दी पर अमुक-अमुक महंत क्रमशः रहते चले आए हैं। जहाँ तक पता है ऐसा एक 'परिवार' वा वंशानुक्रम डीडवाणे के प्रसिद्ध 'विरक्त वाडे' में पाया जा सकता है जो अमर पुरुषजी के पीछे चला है। ये अमर पुरुषजी स्वामी हरिदास के शिष्य बड़े षेमजी की छठी पीढ़ी में हुए थे और इनका जीवन-काल सं० १७५५ से १८४२ तक रहा। ये एक सिद्ध पुरुष कहे जाते हैं और इनके शिष्यों की संख्या ६६ तक बतलायी जाती है। इसी प्रकार, कहते हैं कि डीडवाणे के अतिरिक्त नागौर, बीकानेर तथा जोधपुर के अंतर्गत भी कुछ ऐसी परंपराएँ स्थापित हो गई जो अभी तक चल रही हैं। इस प्रकार के स्थानों को प्रायः 'मण्डल' की संज्ञा दी जाती है जिनमें से दो शेखावटी तथा एक मेड़ता को भी लेकर ७ विशेष प्रसिद्ध हैं। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में क्रमशः ह्रास होता जा रहा है जो १९वीं शताब्दी के अंत से दीखता है।[3]

---

१. सषीरी वधावणो आज म्हानें गुरु मिलिया गोपाल', पद संग्रह।
२. 'गुरु मेरे हरिदास, जिन किया बुधि प्रकाश', विराग लछण ग्रंथ।
३. महाराज श्री हरिदासजी की वाणी, भूमिका, पृ० १०६-१०।

साम्प्रदायिक साहित्य

निरंजनी सम्प्रदाय की विशेषताओं में इसके विशाल साहित्य का भी उल्लेख किया जा सकता है। स्वामी हरिदासजी की रचनाओं की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है और हमने यह भी देखा है कि उनमें कितनी विविधता लक्षित होती है। उनकी 'वाणी' के अतिरिक्त हमें तुरसीदास, मोहनदास, ध्यानदास, कल्याण-दास, सेवादास, नरीदास आत्माराम, रूपदास-आदि अनेक अन्य निरंजनी लोगों की वाणियाँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। इनमें से तुरसीदास की रचनाओं में से केवल साखी भाग में ही दो सौ प्रकरण (अंग) पाये जाते हैं जिनमें ४२०२ साखियाँ संगृहीत हैं। इसी प्रकार, इनके चार 'लघु ग्रंथ' हैं, ४४१ पद हैं जो २९ राग-रागिनियों में विभाजित हैं तथा उनकी कुल संख्या प्रायः ६ सहस्र तक पहुँच जाती है। सेवादासजी (सं० १६९७-१७६८) की वाणियों की संख्या तो इससे भी बड़ी जान पड़ती है, क्योंकि इनकी ५७ अंगों में विभाजित साखियाँ ३५६१ हैं। इनके 'लघु ग्रंथ' १० हैं, कुंडलियाँ ३९९ हैं। इसी प्रकार इनके २० छप्पय, ४ सवैये, १३४ चांद्रायण, ४४ रेखतों तथा ४०२ पदों को लेकर इनकी कुल रचनाओं का जोड़ दोहे छंद के ८ सहस्र से भी अधिक तक पहुँचता है। इसी प्रकार उपर्युक्त अन्य ऐसे निरंजनी संत कवियों की उपलब्ध रचनाओं के संबंध में भी कुछ न कुछ विवरण उपस्थित किये जा सकते हैं। इसके सिवाय इन वाणियों के साथ-साथ कुछ ऐसी अन्य प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं जिन्हें अनुवाद-साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया जा सकता है। इनमें प्रसिद्ध भगवानदास निरंजनी की-जैसी उपलब्ध पुस्तकें गिनी जा सकती हैं। इन भगवानदास निरंजनी के कतिपय ग्रंथ 'अमृतधारा', 'विचार माला' तथा 'अनभै हुलास'-जैसे भी मिलते हैं। इनमें दादू-पंथी निश्चलदास की भाँति वेदांत-संबंधी विषयों पर मत प्रकट किया गया है। इस कोटि की अन्य रचनाओं में षेमजी, मनोहर-दासजी (संभवतः सं० १७१७ के आसपास) तथा हरिरामदासजी आदि की कुछ पुस्तकों के भी नाम लिए जा सकते हैं। हरिरामदासजी की एक पुस्तक 'छंद रत्नावली' भी बतलायी जाती है जिसका संबंध छंदःशास्त्र से है। इसी प्रकार प्यारेरामजी, रघुनाथदासजी, पूर्णदासजी तथा जानकीदासजी-आदि कुछ लोगों ने ऐसे ग्रंथ भी लिखे हैं जिन्हें 'भक्तमाल', 'परचई' अथवा जीवन-चरित कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में एक नाम निपट निरंजन स्वामी का भी लिया जाता है। इनका जन्म संवत् कहीं १५९६[1] और कहीं

---

१. शिवसिंह सरोज, नवीन संस्करण, लखनऊ सन् १९२६, पृ० ४३८।

१६५० [1] तक दिया गया मिलता है तथा जिन्हें महर्षि शिवव्रत लाल ने दौलताबाद का रहनेवाला बतलाया है।[2] कहते हैं कि ये मूलत: गौड़ ब्राह्मण थे, अधिकतर काशी में रहा करते थे और स्वभाव के बड़े अक्खड़, स्पष्टवादी और निर्भीक थे। इनकी दो रचनाएँ 'शांत सरसी' तथा 'निरंजन संग्रह' प्रसिद्ध हैं जिनमें से प्रथम को कहीं-कहीं 'संत-सरसी' जैसा नाम दिया गया भी मिलता है।

हरिदास के पथ-प्रदर्शक

स्वामी हरिदास की 'वाणी' के देखने से प्रकट होता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती महात्माओं में से गुरु गोरखनाथ तथा संत कबीर साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा और निष्ठा प्रदर्शित की है। इनमें से प्रथम को तो इन्होंने अपना 'गुरु' तक स्वीकार करके स्वयं उनका 'बालक' होना तथा उनके 'हाथ' का अपने 'सिर पर' होना बतलाया है।[3] इन्होंने उन्हें 'गोरखमुनि' की संज्ञा दी है और कहा है कि उनकी गति-मति को सुर-मुनि में से भी कोई नहीं जानता।[4] वास्तव में जिन महात्मा द्वारा इनके लूटपाटवाले प्रारंभिक जीवन के स्वभाव का छूट जाना कहा जाता है उन्हें भी प्रायः गोरखनाथ ही माना गया है। विश्वास किया जाता है कि स्वयं उन्हीं ने आकर इनका पथ-प्रदर्शन किया होगा। इसी प्रकार इन्होंने कबीर साहब की दृढ़ टेक और निर्भीकता की प्रशंसा की है। इन्होंने कहा है कि वे राम के रंग में रँगे जाकर सभी वर्गों में श्रेष्ठ हो गए, पंचेन्द्रियों को वश में कर लिया और निःशंक बन कर अपनी कथनी तथा करनी में सदा सामंजस्य बनाये रहे। ये जल में कमल की भाँति संसार में रहते रहे और समुद्र रूपी हरि में बूँद रूपी कबीर ठीक उसी प्रकार लीन रहे, जिस प्रकार एक साधारण बूँद समुद्र में मिल कर एक हो जाती है।[5] इन्होंने इन दोनों महापुरुषों को काल पर विजय प्राप्त करने वाले उस अमर की पदवी प्रदान की है जो निरंजन में लीन होकर दूसरे पार पहुँच गया हो।[6] इसी प्रकार प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए

---

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद सन् १६३८ ई०, पृ० ७१८।

२. संतमाल, पृ० २६१-३।

३. दे० 'गोरष हमारा गुरु बोलिये' (४) 'जन हरिदास नाथ का बालक' (६) तथा 'सिदि गोरष का हाथ' (५) वाणी, पृ० ३५६-७।

४. वाणी, जोधपुर संस्करण, पद १२, पृ० ३०५।

५. वही, पद २, पृ० ३०२-३।

६. वही, साखी ३७, पृ० १८२।

इन्होंने गोपीचंद, नामा, पीपा तथा रैदास के भी नाम लिये हैं।[1] इनका कहना है कि जिस नाथ निरंजन को अंतिम अभीस्ट वस्तु मान कर उन लोगों ने सिद्धि प्राप्त की थी, उसी को मैं भी अपने लिए अनुभवगम्य समझता हूँ। मेरी धारणा है कि जो लोग उसमें विश्वास न रखने की दुर्बलता दिखलाते हैं वे असफल सिद्ध होते हैं।

साधना

स्वामी हरिदासजी ने इसी कारण उसे प्राप्त करने की रीति भी वही अपनायी है जो कबीर साहब की थी। इनका कहना है कि मुझे इसी में आनंद है, इसलिए मैंने अपने मन को समझा-बुझा कर उसी पंथ वा मार्ग को ग्रहण किया है जो कबीर का है। यह पंथ 'करडा' है और इसकी रीति भी कुछ उलटी-सी जान पड़ती है। इसके लिए मैं संसार की ओर से उपेक्षा-भाव रखने लगा हूँ और मैं केवल परमेश्वर के ही साथ प्रीति का बनाये रहना अपने लिए श्रेयष्कर मानता हूँ।[2] तदनुसार इन्होंने अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को अंतर्मुखी बनाने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। ये दूसरों को भी यही उपदेश देते दीख पड़ते हैं कि यदि सत्य की खोजी हों तो तुम्हें भी चाहिए कि ऐसी उलटी नदी ही बहा दें तथा बराबर इस उलटे मार्ग पर ही चला करें। सेवादास निरंजनी का भी यही कहना हैं कि, "उस 'अलख' वस्तु की पहचान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक हैं कि उलटा गोता लगाया जाय जिसके परिणाम स्वरूप अपनी आत्मा क्रमशः गुह्य, इन्द्रिय, मन तथा वाणी से अपने आप परे हो जाय।"[3] इन लोगों का भी अन्य

---

१. "नाथ निरंजन देखि, अंति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचंद सहज सिधि नव निधि पाई॥
नामदेव कबीर राम भजताँ रस पीया।
पीवे जन रैदास बड़े छकि होहा लीया॥
अणभै बस्त संभालि करि, जन हरीदास लागा तही।
राम विमुष दूविध्या करै, तै निरबल पहुँचै नहीं॥१३॥" —वाणी, पृ० २६५।

२. जन हरिदास आनंद दूहै, अपना मन परमोधि।
करड़ा पंथ कबीर का, सो हम लीया सोधि॥१॥
पीठि दई संसार सूं परमेश्वर सूं प्रीति।
जन हरीदास कबीर की, या कछु उलटी रीति॥२॥
—वाणी, महिमाकौ अंग, पृ० ३८८

३. "सहजि सहजि सब जाहिगा, गुण यंद्री मन वाणि।
तूँ उलटा गोता मारि करि, अंतरि अलख पिछाणी।

संत-मत वालों की भाँति, मुख्य उद्देश्य यही है कि इडा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्य वर्तमान सुषुम्ना को जागृत कर अनाहत नाद को श्रवण करें और बंकनालि के द्वारा शून्य मंडल की ओर से आते हुए अमृत का पान करें। ये लोग नाम-स्मरण को भी उसी प्रकार महत्त्व देते हैं, क्योंकि जैसा स्वामी हरिदास ने कहा है यही वह 'डोरा' वा धागा है जो हमें उस निरंजन के साथ जोड़ सकता है।[१] हमारा मन इसी के सहारे परात्पर ब्रह्म में जाकर लीन हो जाता है तथा इस प्रकार का उद्यम हमारे अन्य उद्यमों को ग्रस भी लेता है।[२] नाम-स्मरण की क्रिया एक ऐसी विचित्र साधना है जिसमें भक्ति के साथ-साथ योग का पूर्ण समन्वय रहा करता है। संत-मत में इसी को 'सुरतिशब्द योग' नाम से अभिहित किया गया है जिसके द्वारा हमारी अंतर्मुखी वृत्ति परमात्मा में आप-से-आप लीन हो जाती है। तदनुसार हम अपने प्रियतम के चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। उसके अतिरिक्त हमारा अन्य कुछ भी नहीं रह जाता। यह वास्तव में अपने आप की ही अपरोक्षानुभूति है जिस दशा को प्राप्त करने वाले को उसके वर्णन की कोई क्षमता नहीं रह जाती। अतएव स्वामी हरिदास का कहना है "अब मैं हरि के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के पाने की इच्छा नहीं करता और उसका ही भजन करता हुआ मग्न होकर नाच रहा हूँ। हरि मेरा कर्त्ता है, मैं उसी की कृति मात्र हूँ और अपने मन को उसे समर्पित कर देता हूँ।"[३] "जब मैंने ज्ञान ध्यान तथा प्रेम की उपलब्धि की तो इस प्राप्ति के फलस्वरूप मैंने अपने आपको खो डाला।"[४] आदि।

परमात्म-तत्त्व

स्वामी हरिदासजी ने उस परमात्म-तत्त्व को साधारणतः 'रामनिरंजन', 'हरि निरंजन' वा 'अलखनिरंजन'-जैसे शब्दों द्वारा अभिहित किया है, किंतु उसकी व्याख्या करते समय इन्होंने सदा प्रायः वही शक्ति शैली अपनायी है जो अन्य संतों की है। इनका कहना है कि वह न तो उत्पन्न होता है, न नष्ट हुआ करता है। वह सदा और सर्वत्र एकरस बना हुआ वर्तमान है तथा वह आकाश की भाँति सब कहीं व्याप्त भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी सं० १९९७, पृ० ८२ में उद्धृत।

१. वाणी, जोधपुर संस्करण, पद १, पृ० २२।

२. "अब मैं हरि बिन और न जाँचू, भजि भगवंत मन ह्वै नाचूँ ॥टेक॥
हरि मेरा करता, हूँ हरि कीया, मैं मेरा मन हरि कूँ दीया।"—वाणी, पृ० २२४।

३. 'ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गँवाया। वही।

के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी अग्नि के टुकड़े नहीं हो जाते, उसी प्रकार हमारा परम गुरु काठ की आग की भाँति सर्वत्र एक भाव से व्याप्त तथा वर्तमान रहता है।[१] जिस प्रकार फूल की गंध को तेल में निहित करने पर तिल का तेल फुलेल बन जाता है, उसी प्रकार हरि तथा हरिजन एक हो जाया करते हैं।[२] उस तत्त्व का न तो कोई रूप है, न रेखा है, न वह घना है और न थोड़ा है, न पृथ्वी है, न आकाश ही है। वह कला रहित रूप में सबके साथ निरंतर उसी प्रकार का विद्यमान है, जिस प्रकार चंद्रमा जल में प्रतिबिंबित होकर बना रहता है। वह अगम्य है और उसकी थाह का पता किसी को भी नहीं है, जिसका जैसा भजन-भाव रहता है उसी के अनुसार वह उसको मान लिया करता है। अपना वह निराकार वैसा ही है जैसा घड़े में जल हो और वह स्वयं समुद्र में हो। इस कारण जब हम उसी के हैं तो उसका रूप क्योंकर बतलाया जा सकता है।" इसी प्रकार सेवादास ने भी एक स्थल पर कहा है "हरि सबमें है और सभी हरि में अंतर्हित हैं। यह संबंध उसी प्रकार का है जैसा जल तथा बुदबुदे का है, तरंग तथा बुदबुदा दोनों जल के ही अंग हैं और पवन के मिल जाने के कारण, उनका जल में अस्तित्व हो गया है।"[३] स्वामी हरिदास ने एक स्थल पर अवतारवाद के प्रसंग में भी कहा है, "हरि का दस अवतार धारण करना ही क्यों स्वीकार किया जाय, वह तो अनंत अवतार धारण करके वर्तमान है। जल-थल के जितने भी प्राणी हैं वे सभी उसके अवतार स्वरूप हैं इसका रहस्य जल में पड़े चंद्रमा के प्रतिबिंब द्वारा समझ लो।"[४] इस प्रकार की उक्तियों द्वारा इनकी धारणा का पता चल जाता है।

निर्गुण भक्ति

ऐसे अनुपम परमात्म-तत्त्व के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन भी, स्वभावतः कुछ विचित्र ढंग से हो सकता है। ऐसी निर्गुण-भक्ति के सगुण-भक्ति वाले नवधा रूपों का वर्णन तुरसीदास निरंजनी ने बड़े सुंदर ढंग से किया है। इन्होंने उसकी

---

१. "लकड़ी काटी कटत है, अगनिन काटी जाय।
दार अगनि ज्यों परमगुरु, जहाँ तहाँ समियाइ।"—वाणी, मंत्र मूल जोग ग्रंथ, सा० ६, पृ० ७।

२. फूल वास तिल में दुरी, तिल का तैल फुलेल।
हरिजन हरि ऐसे मिल्या, अरस परस यहु षेल ॥७॥—वही।

३. तत्त्वनिर्णय ग्रंथ, संग्रह, पृ० ११६।

४. वाणी, जोधपुर संस्करण, पृ० २८८।

व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है। उसी के अनुसार उसमें प्रेमा-भक्ति को भी जोड़ते हुए उसे दशधारूप तक दे डाला है जिसका एक परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है। इनके कथनानुसार श्रवण तथा कीर्तन क्रमशः सारमत का श्रवण कर उसे अपने हृदय में धारण करना तथा उसी को नित्यशः आत्मसात् करने की चेष्टा करता है।[१] इन्होंने इसी प्रकार ब्रह्म-भावना के जागृत करने को 'स्मरण' की संज्ञा दी है।[२] इनके अनुसार, हृदयस्थित परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म का समस्त ब्रह्मांड के अंतर्गत ध्यान,[३] 'अर्चन', 'ॐ' का प्रतिरूप देखना तथा 'वंदन'; साधु, गुरु तथा गोविंद इन तीनों की अभेद भाव के साथ वंदना करना है।[४] इसी प्रकार 'दास्य' से अभिप्राय हरि गुरु तथा साधु की निष्काम-भाव से निरंतर सेवा करना,[५] 'सख्य' का अर्थ भगवान के प्रति बराबरी का अभिमान न रखते हुए भी, उसे जिस किसी भी मार्ग द्वारा प्राप्त कर लेने में विश्वास करते हुए उसको मित्रवत् समझने की भावना[६] तथा 'आत्मनिवेदन', राम के प्रति तन, मन तथा[७] आत्मा सब कुछ उसी की वस्तु मान कर समर्पित कर देना और इस प्रकार, उससे उऋण हो जाना है।[८] तुरसीदास इस नवधा भक्ति के वृक्ष को सींच कर उससे प्रेमा-भक्ति का फल प्राप्त करने की ओर भी संकेत करते हैं जिससे

---

१. "सार सार मत स्रवन सुनि, सुनि राषै रिद माँहि।
ताहीकौ सुनिवौ सुफल, तुरसी तपति सिराहि।।"—ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८६।

२. "तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नाम कहोवै सोय।
यह सुमिरन संतन कह्या, सारभूत संजोय।।" —वही, पृ० ८६-७।

३. "तुरसी तेजपुंज के चरन वे, हाड़ चाम के नाहिं।
वेद पुराननि बरनिये, रिदा कवल के माहि।।"—वही, पृ० ८७।

४. "तुरसीदास तिहुंलोक में, प्रतिमा है ऊंकार।
वाचक निर्गुण ब्रह्म की, वेदनि बरन्यो सार।"—वही।

५. "गुरु गोविंद संतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं वंदन करै, तौ पाप न रहई काय।।"—वही।

६. "तुरसी बनै न दास कूं, आलस एक लगार।
हरि गुरू साधू सेव में, लगा रहै इक तार।।"—वही।

७. "बराबरी कौ भाव न जानै, गुन औगुन ताकौ कछू न आवै।
अपनो मिंत जानिबौ राम, ताहि समापै अपना धाम।।—वही।

८. "तुरसी तन मन आतमा, करहु समर्पन राम।
जाकी ताहि के उरन होहु, छंड्डिहु सकल सकाम"—वही।

भक्ति का दसथापन सिद्ध किया जा सके।[1] निरंजनी सम्प्रदाय के संतों ने सगुणोपासना के प्रति किसी प्रकार का उपेक्षा-भाव प्रदर्शित न करके उसे अपने ढंग से अपनाया है। इसी प्रकार उन्होंने मूर्ति-पूजा-जैसी साधना का भी तिरस्कार न करते हुए, उसे उसके सच्चे रूप में स्वीकार करने का परामर्श दिया है। उदाहरण के लिए स्वामी हरिदास के अनुसार किसी देवल के प्रति वैर वा प्रीति का भाव रखने की वैसी आवश्यकता नहीं है।[2] उसी प्रकार तुरसीदास के अनुसार यह मूर्ति हमारे लिए अमूर्त की ओर ले जाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी बन जा सकती है।[3]

सम्प्रदाय की विशेषताएँ

डॉ० बडथ्वाल ने निरंजनी सम्प्रदाय की साधना में वेदांत-प्रभावित योग के कतिपय उदाहरण पाकर इसे नाथ-पंथ का एक विकसित रूप समझा है। कबीर-पंथ तथा राधास्वामी-सत्संग के विचारानुसार निरंजन को काल-पुरुष मानने की प्रवृत्ति को देख कर इसे निर्गुण-पंथ (संत-मत) से भिन्न भी ठहराया है।[4] परन्तु इस प्रकार के वेदांत प्रभावित योग के अनेक उदाहरण संत-मत के कई अन्य पंथों वा सम्प्रदायों में जैसे दादूपंथ, बावरीपंथ आदि की साधनाओं में भी न्यूनाधिक पाये जाते हैं। निरंजन को काल-पुरुष कहने की प्रवृत्ति भी उक्त कबीर वा राधास्वामी वाले पंथों के अंतर्गत पीछे चल कर ही दीख पड़ती है, जिस कारण केवल इन्हीं दो बातों के आधार पर वैसा मत निश्चित करना ठीक नहीं है। निरंजनी सम्प्रदाय का मत तथा उसकी साधना उसी प्रकार के हैं, जैसे संत-मत में सामान्य रूप में भी दीख पड़ते हैं। यहाँ तक कि स्वयं इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास ने कबीर साहब के 'पंथ' वा मार्ग को ही अपने लिए उपयुक्त माना है। ऐसी दशा में, यदि हम इस सम्प्रदाय की किन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करना ही चाहें तो, इसके लिए हमें इसे नाथ-पंथ तथा संत-मत के बीच की किसी

---

१. "तुरसी यहु साधन भगति, तर लौं सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइया, प्रेम मुक्ति फल जोय॥" —वही, पृ० ८८।

२. "नहि देवन सूँ वैरता, नहिं देवल सूँ प्रीति।
कृत्रिम तज गोविंद भजै, या साधाँ की रीति॥" वाणी, जोधपुर सं०। पृ० ८।

३. "मूरति में अमूरति बसै, अमल आतमा राम।
तुरसी भरम बिसरायकै, ताही को ले नाम।"—ना० प्र० पत्रिका, पृ० ८५।

४. 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री' प्रीफेस, पृ० २-३।

कड़ी की कल्पना करने की कोई आवश्यकता न होगी। इसकी एक विशेषता हम इस रूप में देख आये हैं कि निरंजनियों के यहाँ किसी प्रकार के साम्प्रदायिक संगठन को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। इसी प्रकार इसके अनुयायियों में सगुणोपासना अथवा मूर्ति-पूजा तक को किसी विरोध की भावना के साथ देखने की प्रवृत्ति नहीं है। इसी प्रकार इनके यहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रति भी किसी घोर तिरस्कार का भाव लक्षित नहीं होता। यह सम्प्रदाय वस्तुतः किसी दलबंदी की भावना से प्रेरित न होकर सामंजस्य के अनुसार चलना चाहता है और यहाँ पर अविरोध (Toleration) की मात्रा भी अधिक है। जहाँ तक इसके ऊपर नाथ-पंथ के प्रभाव की बात है इसकी यह विशेषता 'विश्नोई सम्प्रदाय', 'जसनाथी वा सिद्ध सम्प्रदाय' आदि कई अन्य ऐसे धार्मिक वर्गों में भी देखी जा सकती है जिनके यहाँ भी गुरु गोरखनाथ को आदि गुरु का महत्त्व मिला है।

साम्प्रदायिक वेशभूषादि

निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों की वेशभूषा अधिकतर बहुत सादी ही पायी जाती है। इनके लिए जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, केवल एक गूदड़ी मात्र तथा एक पात्र तक ही पर्याप्त रहा है। परन्तु इस समय इनमें से सभी केवल विरक्त भाव के साथ रहते ही नहीं दीख पड़ते, प्रत्युत इनमें साधारणतः दो वर्ग भी बन गए पाये जाते हैं जिनमें से एक अर्थात् विरक्तों के समुदाय को 'निहंग' तथा गृहस्थों वाले को 'घरबारी' कहा जाता है। निहंग लोग कोई खाकी रंग की गूदड़ी गले में डाले रहते हैं और प्रायः भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं। ये लोग कभी-कभी ऐसी गूदड़ी के साथ-साथ नाथों की-जैसी 'सेली' भी गले में बाँधा करते हैं। इस समय बहुत-से निरंजनी मूर्ति-पूजा करते हुए भी पाये जाते हैं। इस प्रकार कभी-कभी ऐसे लोगों तथा साधारण सगुणोपासक भक्तों में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता। जोधपुर वाले प्रांत के डीडवाणे के निकट 'गाढ़ा' नामक गाँव में प्रतिवर्ष फागुन सुदी १ से १२ तक एक मेला लगा करता है जहाँ पर सम्प्रदाय के अनुयायियों की एक बहुत बड़ी भीड़, वहाँ पर सुरक्षित स्वामी हरिदासजी की गूदड़ी के दर्शन करने आती है। सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर राजस्थान प्रदेश में ही पाये जाते हैं और अन्यत्र इनकी संख्या कम कही जाती है। उड़ीसा में प्रचलित किसी ऐसे पंथ का संबंध अभी तक इसके साथ सिद्ध नहीं किया जा सका है, प्रत्युत राघोदास की स्वामी हरिदास के लिए लिखित पंक्ति

'नृमल नृवांणी निराकार कौ उपासवान,
नृगुणी उपासिकै निरंजनी कहायौ है'

से यह भी प्रकट होता है कि अपनी उपासना की शैली विशेष के कारण ये स्वयं सर्वप्रथम, 'निरंजनी' कहला कर प्रसिद्ध हुए होंगे। इसी कारण, यदि इनके अतिरिक्त अन्य ११ व्यक्ति भी इस सम्प्रदाय के 'महंत' कहे गये होंगे तो उन्हें ऐसी पदवी संभवतः इनके साथ सहयोग के आधार पर ही मिली होगी।]

वंशावली

नानक-पंथ वा सिक्ख-धर्म

(१) उपलब्ध सामग्री

गुरु नानक देव की जीवनी और उनके अनंतर प्रचलित 'सिक्ख-धर्म' तथा 'खालसा-सम्प्रदाय' के इतिहास की सामग्री बहुत कुछ अंशों में उपलब्ध है।

कबीर साहब के विषय में कदाचित् आरंभ से ही लिखने-पढ़नेवालों का अभाव-सा रहा। तदनुसार हमें दीख पड़ता है कि एक ओर जहाँ कबीर साहब का नाम पहले-पहल केवल प्रसंगवश ही सुनने में आता है, जिस कारण वैसी साधारण बातों की ओर से सहसा आँखें मूँदते हुए एच० एच० विल्सन-जैसे खोजी विद्वानों को भी उन्हें कोई काल्पनिक व्यक्ति मात्र मान कर उनके नाम 'कबीर' का किसी अन्य मनुष्य का केवल उपनाम-मात्र होना अनुमान करना पड़ता है,[1] तो दूसरी ओर गुरु नानक देव का देहांत होते ही उनके सम-कालीन व्यक्तियों द्वारा उनके जीवन की छोटी-छोटी-सी बातें भी लिखी जाने लगती है और कालांतर में उनके आधार पर अनेक 'जनम साखियों' की सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार हमें यह भी पता चलता है कि एक ओर जहाँ कबीर साहब के द्वारा किये गए किसी ऐसे यत्न का संकेत नहीं मिलता जिससे उन्होंने अपने उपदेशों का प्रचार करने का कभी निश्चय किया हो, वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गुरु नानकदेव ने अपने अंतिम समय में अपने स्थान पर गुरु अंगद को स्वयं बिठलाया था। उनके सामने पाँच पैसे तथा एक नारियल अर्पित कर अपने सारे अनुयायियों को उन्हें अपनी जगह अगला गुरु मानने का अनुरोध भी किया था। इसके सिवाय हमें यह भी विदित है कि गुरु नानकदेव की वाणियों को संग्रह कर उन्हें सुरक्षित रखने की परिपाटी भी उनकी मृत्यु के कुछ ही पीछे आरंभ हो गई थी और इस नियम का पालन अन्य गुरुओं की कृतियों के संबंध में भी होता आया। किंतु कबीर साहब की रचनाओं की प्रामाणिकता में आज भी अनेक प्रकार का संदेह किया जाता आ रहा है और किसी पंक्ति-विशेष को उनकी कृति मान लेने वा ऐसा न करने के लिए अभी तक कोई निश्चित आधार वा आदर्श प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। वास्तव में गुरु नानकदेव को एक ऐतिहासिक व्यक्ति, उनके द्वारा प्रवर्तित मत को एक सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित सम्प्रदाय का सिद्धांत तथा उनके अनुयायियों को ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार विकसित एक धार्मिक समाज हमें मान लेना ही पड़ता है।

(२) गुरु नानकदेव : दो प्रकार के नानक

फिर भी गुरु नानकदेव तथा उनके अनंतर आनेवाले अन्य सिक्ख गुरुओं के जीवन-चरित्रों पर अभी तक पौराणिकता की छाप बहुत अंशों तक लगी हुई दीख पड़ती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे सामने इस समय कम से कम दो प्रकार के नानक दीख पड़ रहे है जिनमें एक तो ऐतिहासिक

१. एच० एच० विल्सन : रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ६९ की टिप्पणी।

हैं और दूसरे वे हैं जिन्हें देवत्व अथवा ईश्वरत्व तक की भावना से युक्त करके 'निरंकारी' वा निराकार बना डाला गया है। ऐसे नानक संदेह कार्य करने-वाले होते हुए भी कभी-कभी इस प्रकार की अलौकिक घटनाएँ उपस्थित कर देते हैं जिनके सामने स्तब्ध हो जाना पड़ता है और जिन्हें सिवाय श्रद्धा-जनित काल्पनिक चमत्कार कहने के और कोई दूसरा मार्ग नहीं दीखता। जो हो, वर्तमान सामग्रियों से अधिक प्रामाणिक आधार जब तक उपलब्ध नहीं होते और हमारे यहाँ महापुरुषों की जीवनियों का आलोचना-पद्धति के अनुसार लिखा जाना आरंभ नहीं होता, तब तक हमें ऐसी ही बातों पर संतोष करना पड़ेगा और उन्हीं में से तथ्य को छान-बीन के साथ निकाल कर स्वीकार करना होगा।

जन्म-काल तथा जन्म-स्थान

सिक्खों के पुराने धार्मिक साहित्य-संग्रहों के अनुसार गुरु नानकदेव का जन्म विक्रमी संवत् १५२६ के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया, तदनुसार १५ अप्रैल, सन् १४६९ ई० को राइ भोई के तलवंडी नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव वर्तमान लाहौर नगर के दक्षिण-पश्चिम लगभग तीस मील की दूरी पर एक ऐसी जगह स्थित है, जो गुजरानवाला तथा मांटगुमरी जिलों की सीमा के पास ही पड़ती है। इस भू-भाग के इर्द-गिर्द पहले एक बहुत घना जंगल था जो पंजाब प्रांत के मध्यवर्त्ती वन-खंड का एक अंश था। तलवंडी का वातावरण अधिकतर जन-शून्य और सुनसान था और प्राचीन भारत की वन-भूमि का स्मरण दिलाता था। गुरु नानकदेव के पिता कालूचंद उसी गाँव के पटवारी थे जो खेती-बारी का धंधा भी करते थे। उनकी माता का नाम तृप्ता था, जो रावी तथा व्यास नामक दो प्रसिद्ध नदियों के बीचवाली 'माँझ' वा दोआबे की भूमि के निवासी किसी राम नामक व्यक्ति की पुत्री थी। उस समय पंजाब प्रांत में प्रचलित प्रथा के अनुसार माता को अपनी संतान की उत्पत्ति के समय अपने मायके जाना पड़ता था। इस कारण तृप्ता को भी अपनी प्रथम संतति को जन्म देते समय माँझ में जाना पड़ा था और उनकी पुत्री नाना के घर उत्पन्न होने के कारण 'नानकी' कहलायी थी। नानक का नाम भी उक्त नानकी बहन के नाम के अनुसरण में ही रखा गया और इसी नाम से ये आगे चल कर प्रसिद्ध भी हुए।

तलवंडी वा नानकाना

उक्त गाँव को 'राइभोई' के तलवंडी नाम दिये जाने का कारण यह था कि वहाँ का प्रथम जमींदार राइभोई नाम का ही था। वह किसी चट्टी नाम की जाति का राजपूत था और मुसलमानों के आक्रमण के अनंतर इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुका था। गुरु नानकदेव के जन्म के समय राइभोई का वंशज

राय वुलर वर्तमान था और उसने उक्त गाँव की रक्षा के लिए उस
एक दुर्ग भी बना लिया था। राय वुलर में धार्मिक सहनशीलता
मात्रा में विद्यमान थी। उसके द्वारा शासित ग्रामीण समाज में विद्वेष की भावना
की जगह प्रेम और सद्भाव सदा बना रहता था और वहाँ के लोग पूरे सुख
तथा शांति का जीवन व्यतीत करते थे। गुरु नानकदेव के प्रारंभिक जीवन का
वातावरण भी इसी कारण बहुत शात तथा निरापद रहा और उनके बचपन की
सुखद स्मृतियाँ इन्हें आगे चल कर सदा उत्साहित भी करती रहीं। तलवंडी गाँव
का नाम कुछ दिनों के अनंतर रामपुर भी रखा गया था, किंतु गुरु नानकदेव
का जन्म-स्थान होने के कारण वह आजकल अधिकतर 'नानकाना' करके ही
प्रसिद्ध है।

बचपन

अपने बचपन की अवस्था में गुरु नानकदेव बड़े शांत स्वभाव के थे। इन्हें
पाँच वर्ष की वय में जब अक्षरारंभ कराया गया, तब इन्होंने अपनी अलौकिक
प्रतिभा दिखलायी और अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण सबको चकित कर दिया।
क्रमानुसार इन्हें पंजाबी, हिंदी, संस्कृत तथा फ़ारसी की शिक्षा दी गई और प्रत्येक
अवसर पर इनके शिक्षकों ने इन्हें असाधारण बालक पाया। कहा जाता है कि
सय्यद हुसेन नाम के किसी ग्रामीण मुसलमान ने इनके प्रति बाल्यावस्था में अपनी
संतान की भाँति स्नेह प्रदर्शित किया और कई बार एकांत में ले जाकर इन्हें इस्लाम-
धर्म के सुन्नी सम्प्रदाय की अनेक बातों से अवगत भी कराया था। परन्तु बालक
नानक का ध्यान जितना पुस्तकों अथवा शिक्षकों की बातों में नहीं लगता था,
उतना अपने एकांतवास और चिंतन की ओर आकृष्ट होता था। ये बहुधा अपने
पासवाले जंगल के किसी भाग में जाकर घंटों तक कुछ न कुछ विचार किया करते
थे। कहा जाता है कि उक्त वन के भीतर कभी-कभी इन्हें एकाध ऐसे महात्माओं
का साक्षात् भी हुआ था जिनके दर्शन तथा सत्संग का इनके ऊपर आश्चर्यजनक
प्रभाव पड़ा और जिनके कारण इन्हें एक आध्यात्मिक मार्ग ग्रहण करने में पूरी
सहायता मिली। उस समय के बालक वा युवा नानक को दर्शन देकर प्रभावित
करनेवाले किसी महापुरुष का इस समय कोई पता नहीं लगता। फिर भी इतना
निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त भू-खंड के प्राकृतिक वातावरण ने भी
इन्हें अपने आध्यात्मिक चिंतन की प्रवृत्ति को जागृत कर उसे शक्ति प्रदान करने
में कम सहायता नहीं पहुँचायी होगी। इस प्रकार पढ़ने-लिखने के विचार से तो
इन्हें कुछ हिंदी, कुछ संस्कृत तथा फ़ारसी की काफी शिक्षा मिली ही, इसके साथ
ही इन्हें स्वयं सोचने तथा विचार करने का भी पूर्ण अभ्यास हो गया और आत्म-

चिंतन के आवेश में कभी-कभी ये एक प्रकार की मस्ती का जीवन भी व्यतीत करने लगे ।

नौकरी

परन्तु उक्त सभी बातें इनके सांसारिक माता-पिता को प्रिय नहीं जान पड़ती थीं और वे इन्हें क्रमशः बहकता हुआ समझने लगे । उन्होंने इन्हें इसी कारण कई बार किसी न किसी कारोबार में लगा देना भी चाहा, किंतु कभी सफलता न मिली। ये अपनी भैंसें चराने अथवा खेत की रखवाली करने में भी कभी सावधानी नहीं दिखलाते थे और बहुधा इनके द्वारा हानि भी हो जाया करती थी । कालांतर में जब इनकी बड़ी बहन नानकी का विवाह हो गया और वह विदा होकर अपनी ससुराल सुलतानपुर चली गई, तब एक बार अपने माता-पिता की झिड़की पाकर ये भी उसके यहाँ गये और उसके पति जयराम की सहायता पाकर दौलत खाँ लोदी के किसी कर्मचारी की देख-रेख में इन्होंने मोदीखाने की नौकरी कर ली ।

गार्हस्थ्य जीवन

अपनी बहन के विवाह के अनंतर इनका भी विवाह बटाला जिला गुरदासपुर-निवासी मुला नामक व्यक्ति की पुत्री सुलक्खनी के साथ हो गया था, किंतु इनकी स्त्री अधिकतर अपने मायके में ही रहा करती थी। गुरु नानकदेव के गार्हस्थ्य-जीवन के विषय में अधिक पता नहीं चलता । इतना ही प्रसिद्ध है कि पत्नी और पति के पारस्परिक भाव आदर्श कहे जाने योग्य न थे, न कभी एक साथ बहुत काल तक दोनों रहते ही रहे । कालपाकर इन्हें दो पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से एक का नाम श्रीचंद था और दूसरे का लक्ष्मीचंद था । पत्नी तथा पति का वियोग किसी कारण उक्त पुत्रों के बाल्यकाल में ही हो गया जिससे माता उन्हें लेकर अपने मायके में रहने लगी और पिता घर छोड़ कर भ्रमण करने लगे ।

भाव-परिवर्तन

कहते हैं कि मोदीखाने की नौकरी करते समय एक बार जब गुरु नानकदेव आटा तौल रहे थे, तब तराजू का क्रम गिनते समय तेरह तक आते-आते इन्हें अचानक भावावेश हो आया और वे बड़ी देर तक 'तेरा', 'तेरा' ही करते रह गए। परिणाम-स्वरूप इन्होंने उचित से कहीं अधिक आटा तौलकर दे डाला और इनके स्वामी को इनकी भूल के कारण हानि उठानी पड़ गई । तत्पश्चात् इन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा और विरक्त होकर ये देश-भ्रमण के निमित्त वहाँ से निकल पड़े । इसके पहले एक दिन नहाने जाकर ये तीन दिनों के लिए कहीं जंगल में गुम हो गए थे । कहा जाता है कि वहाँ पर इन्हें किसी ज्योति वा ज्योतिमान पुरुष के दर्शन हुए थे । उस दर्शन से प्रभावित होकर इन्होंने और भी मस्ती

दिखलायी, घर आकर अपनी वस्तुएँ दूसरों को बाँटने लगे और इन्होंने अपनी वेश-भूषा में भी परिवर्तन कर लिया। ये अब अधिकतर 'ना हिन्दू ना मुसलमान' के भाव से भरे उपदेश देने लगे और अपनी उदाराशयता द्वारा इन्होंने सभी लोगों को चकित कर दिया। इन्हें अब संसारी वा घरेलू बातों में तनिक भी जी नहीं लगता था और ये सदा उदासीन बने रह कर बातचीत भी किया करते थे। इनका इस अवसर पर सबसे पक्का साथी 'मर्दाना' नाम का एक गवैया था, जो इनकी नौकरी के समय में इनके साथ रहने तलवंडी से आ गया था। वह इनके भजन गाते समय रबाब नामक बाजा बजा कर इनका साथ दिया करता था।

भ्रमण तथा पूर्व की यात्रा

भ्रमण करने जाते समय मर्दाना भी इनके साथ हो लिया और दोनों वहाँ से चल कर पहले-पहल सैयदपुर (वर्तमान अमीनाबाद) पहुँचे। वहाँ पर ये लोग किसी लालो नामक बढ़ई के घर ठहरे और उसके यहाँ भोजन किया। बढ़ई की गणना शूद्रों में की जाती थी, इसलिए वहाँ के समाज में उक्त व्यवहार के विषय में बुरा-भला कहा गया। किंतु गुरु नानकदेव इससे विचलित नहीं हुए और वर्ण-व्यवस्था को अनावश्यक ठहरा कर इन्होंने बढ़ई के परिश्रम से कमाये गए अन्न को अत्यंत पवित्र बतलाया। बढ़ई के यहाँ दो-चार दिनों तक आतिथ्य ग्रहण कर तथा जनता में अपने सिद्धांतों का प्रचार करते हुए ये मर्दाना के साथ फिर कई अन्य गाँवों में भी पहुँचे। अंत में कुरुक्षेत्र में ग्रहण के अवसर पर उपदेश देते हुए हर-द्वार गये जहाँ मेला लगा हुआ था। वहाँ पर प्रातःकाल स्नान करते समय लोग पितरों का तर्पण कर रहे थे। गुरु नानकदेव ने उनके सामने पूर्व की जगह पश्चिम ओर ही जल उलीचना आरंभ कर दिया। लोगों के पूछने पर बतलाया कि जिस प्रकार तुम्हारा दिया हुआ जल तुम्हारे पितरों तक पहुँच सकता है, उसी प्रकार यह मेरा उलीचा हुआ जल भी मेरे बोये हुए दूर के खेतों को सींचने के लिए पहुँचाया जा सकता है। इस उक्ति को सुन कर पहले तो लोगों ने इन्हें पागल समझा, किंतु फिर इनके दिये हुए अन्य उपदेशों को सुन कर इनसे प्रभावित हो गए।

वेश-भूषा

गुरु नानकदेव अपनी इस यात्रा के अवसर पर अपने सिर पर मुसलमान कलंदरों वा संन्यासियों की टोपी वा पगड़ी धारण करते थे। अपने ललाट पर हिन्दुओं की भाँति केशर का तिलक लगाते थे और गले में हड्डियों के मनकों की एक माला डाल लेते थे। इनके शरीर पर इसी प्रकार एक लाल वा नारंगी के रंग की जैकेट रहा करती थी जिस पर ये एक सफेद चादर डाले रहते थे। इनकी वेष-भूषा से लोगों को सहसा पता न चलता था कि वे इन्हें किस धर्म वा सम्प्रदाय

में दीक्षित समझें, इन्हें हिन्दू मानें अथवा मुसलमान । हरद्वार से वे दोनों साथी देहली और पीलीभीत होते हुए काशी पहुँचे । फिर वहाँ से गया होते हुए कामरूप तथा जगन्नाथपुरी जाकर लौट आए ।

गुरु नानकदेव तथा शेख़ फ़रीद

पूर्व की यात्रा समाप्त कर पंजाब लौट आने के अनंतर ये लोग अजोधन वा पाकपट्टन की ओर शेख़ फ़रीद से मिलने गये । ये शेख़ फ़रीद प्रसिद्ध बाबा फ़रीद 'शकरगंज' की वंश-परंपरा के थे और इनका नाम शेख़ ब्रह्म (इब्राहिम) वा शेख़ फ़रीद द्वितीय था । गुरु नानकदेव तथा शेख़ फ़रीद के बीच बड़ी देर तक सत्संग होता रहा और वे दोनों रात को एक साथ जंगल में ठहरे भी रहे । वहाँ से गुरु नानकदेव ने अपने निवास-स्थान तलवंडी लौट कर अपने माता-पिता से भेंट की । फिर वहाँ से पश्चिम की ओर चल कर घूमते-घामते ये लोग दुबारा पाकपट्टन गये और शेख़ फ़रीद द्वितीय के साथ इनका पुनर्वार सत्संग हुआ । कहते हैं कि इसी यात्रा के अवसर पर उत्तर की ओर लौटते समय गुरु नानकदेव के साथ बाबर बादशाह से भी भेंट हुई थी । फिर ये लोग सियालकोट होते हुए काबुल तक भी गये थे । वहाँ से लाहौर की ओर लौट कर किसी दुनीचंद को श्राद्ध के अवसर पर उपदेश दिये थे । गुरु नानकदेव ने फिर वहाँ से उत्तर-पूर्व की ओर जाकर किसी लखपती खत्री को इतना प्रभावित किया कि उसने रावी के किनारे करतारपुर नामक एक नगर बसाना आरंभ कर दिया और एक सिक्ख मंदिर वहाँ पर बनवा कर उसे गुरु को अर्पित कर दिया ।

भजन-गान

गुरु नानकदेव ने रात्रि के पिछले पहर में भजन गाने की प्रथा चलायी । उनके पीछे खड़ा होकर भजनों को प्रेमपूर्वक श्रवण करनेवाला एक सात वर्षों का 'बूरा' नामक बालक वहाँ नियमपूर्वक आने लगा । गुरु के प्रश्न करने पर उसने अपने वहाँ उपस्थित होने का कारण इस प्रकार बतलाया, "एक दिन मेरी माँ ने मुझे आग जलाने के लिए कहा था । जब मैंने लकड़ियाँ जलाने के लिए लगायीं, तब देखा कि छोटी-छोटी टहनियाँ पहले जल जाती हैं और बड़ी-बड़ी लकड़ियों की बारी पीछे आया करती है । यह देखकर मुझे भय हो गया कि कम अवस्थावाले पहले मर जायँगे और बड़ों की बारी पीछे आयेगी । यही विचार कर मैंने आपके भजनों का श्रवण करना उचित समझा ।" गुरु नानकदेव इसे सुन कर बहुत प्रसन्न हुए और वैसे गंभीर कथन के कारण उस बालक का नाम 'बूरा' की जगह 'बुड्ढा' रख दिया । यह भाई बुड्ढा अंत में १०७ वर्षों का होकर मरा और अपने समय में उसने पाँच गुरुओं को अपने हाथ से उनके आसन पर तिलक द्वारा अभिषिक्त

किया। करतारपुर में गुरु नानकदेव के निवास-स्थान पर प्रति दिन 'जपुजी' तथा 'असा दी बार' का पाठ हुआ करता था और तब इनके अन्य भजनों का गान होता। भजनों तथा पदों की व्याख्या हो जाने पर 'गगन मैं थाल' आदि पंक्तियों द्वारा आरती की जाती और तब जलपान किया जाता। तीसरे पहर फिर गान होता और तब संध्या समय 'सोदर' का पाठ हो जाने पर सभी सिक्ख एक साथ भोजन किया करते। गाने का क्रम उसके अनंतर भी एक बार चला करता था और अंत में 'सोहिला' का पाठ समाप्त हो जाने पर लोग सोने जाते थे। गुरु नानकदेव ने अब यात्रावाली वेश-भूषा का त्याग कर दिया था और अपनी कमर में एक दुपट्टा, कंधे पर एक चादर तथा सिर पर एक पगड़ी-मात्र धारण करने लगे थे। उस समय तक वहाँ तथा कतिपय अन्य स्थानों पर भी भिन्न-भिन्न सिक्खों की समितियाँ बनने लगी थीं और वे एक पृथक् समाज के रूप में अपने को समझते हुए अपने मत का यत्र-तत्र प्रचार भी करने लग गए थे।

अन्य यात्राएँ

ऐसे ही समय में गुरु नानकदेव एक बार दक्षिण की ओर भी यात्रा करने निकल गये थे। मार्ग में जैनियों तथा मुस्लिम फ़क़ीरों के साथ सत्संग करते हुए इन्होंने उनके प्रति अनेक उपदेश दिये। प्रसिद्ध है कि अंत में किसी प्रकार सिंहल द्वीप तक पहुँच गए सिंहल द्वीप में इन्होंने राजा शिवनाम के उद्यान में अपना डेरा डाला और फिर वहीं पर इन्हें उस राजा से भेंट भी हुई। यहीं पर निवास करते समय, कहा जाता है कि इन्होंने 'प्राणसंगली' नामक ग्रंथ की रचना की थी और सैदो तथा घट्टो ने उसे पीछे से लिपिबद्ध किया था। सिंहल द्वीप से लौटने पर गुरु नानकदेव ने अचल बटाला नामक स्थान पर लगनेवाले शिवरात्रि के मेले की यात्रा की, जहाँ पर इन्होंने अनेक योगियों के साथ सत्संग किया। वहाँ से फिर ये कश्मीर की ओर भी गये, जहाँ से लौटने पर इनकी यात्रा पश्चिम की ओर आरंभ हुई। प्रसिद्ध है कि पश्चिम दिशा में ये मुसलमानों के पवित्र स्थान मक्के तक पहुँचे थे और वहाँ पर काबे की ओर अपने पैर फैला कर लेट गए थे। इन्हें ऐसी विचित्र स्थिति में पाकर किसी अरब देश-निवासी पुजारी ने इन्हें ठोकर लगा कर जगाया और डाँट कर पूछा कि तुम अल्लाह की ओर अपने पैर क्यों फैलाते हो। गुरु नानकदेव ने इसके उत्तर में उससे कहा कि जिस ओर अल्लाह न हो, उस ओर मेरी टाँग घुमा कर छोड़ दो। परन्तु कहा जाता है कि अरबों ने इनकी टाँग पकड़ कर जिस-जिस ओर घुमाया, उसी ओर काबे का रुख भी फिरता गया। अंत में उसे हार मान लेनी पड़ी। गुरु नानकदेव के साथ वहाँ पर अनेक मुस्लिम फ़क़ीरों का सत्संग हुआ और फिर ये मदीना जाकर बग़दाद होते हुए लौट आये।

अंतिम समय

गुरु नानकदेव ने अपना अंतिम समय निकट जान कर अपने प्रिय शिष्य 'लहिना' को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। इन्होंने अपने दोनों पुत्रों की उनकी अयोग्यता के कारण उपेक्षा कर दी और इस प्रकार उन्हें असंतुष्ट भी कर दिया। इन्होंने लहिना को आसन पर बिठला कर उसके सामने विधिपूर्वक पैसे तथा नारियल की भेंट अर्पित की। उसके प्रति स्वयं सिर झुका कर अन्य सिक्खों को भी उसे गुरु मानने का उपदेश किया। गुरु नानकदेव ने आत्मीय होने के नाते 'लहिना' का नाम गुरु 'अंगद' रख दिया और आगे चल कर उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। गुरु नानकदेव अपने अंतिम समय में एक वृक्ष के नीचे जा बैठे और भजन गानेवाली सिक्खों की मंडली के मध्य आत्म-चिंतन में मग्न हो गए। जब 'जपुजी' की अंतिम पंक्तियों का पाठ हो रहा था, उसी समय इन्होंने अपने शरीर पर चादर ओढ़ ली और 'वाह गुरु' कहते-कहते शांत हो गए। इनकी मृत्यु आश्विन शुक्ल १० को करतारपुर के निवास-स्थान पर संवत् १५९५ : सन् १५३८ ई० में हुई थी।

रचनाएँ

गुरु नानकदेव ने समय-समय पर अनेक पदों की रचना की थी, जो आगे चल कर अन्य गुरुओं की रचनाओं के साथ 'आदि ग्रंथ' में संगृहीत हुए और जो आज तक उनके अनुयायियों द्वारा बड़ी भक्ति तथा श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। उनकी मुख्य रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'जपुजी' है जो प्रत्येक सिक्ख को प्रिय है और जिसे वह प्रति दिवस प्रातःकाल शांतिपूर्वक पढ़ा करता है। इसमें कुल ३८ छंद हैं और इसके आदि तथा अंत में भी एक सलोक है जिसके अंतर्गत उनके उपदेशों का सार आ जाता है। यह सिक्ख धर्म के अनुयायियों के लिए वैसा ही महत्त्वपूर्ण है, जैसी हिन्दुओं के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' की पुस्तक समझी जाती है। इसी प्रकार इनकी एक दूसरी प्रसिद्ध रचना 'असा दी बार' है जो ईश्वर की स्तुति के रूप में है और जो उक्त 'जपुजी' के अनंतर पढ़ी जाती है। इसके अंतर्गत २४ 'पौडियाँ' हैं जिनके बीच-बीच में गुरु नानकदेव तथा कहीं-कहीं पर गुरु अंगद के भी कुछ सलोक सम्मिलित कर लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं के से कुछ 'रहिरास' नामक पद-संग्रह में आयी हैं। वे अन्य गुरुओं की भी वैसी ही रचनाओं के साथ सूर्यास्त के समय पढ़ी जाती हैं। कुछ को 'सोहिला' नामक संग्रह में स्थान मिला है जिनका 'सोवन वेला' अर्थात् सोने के समय पाठ हुआ करता है। इस संग्रह में भी अन्य गुरुओं की रचनाएँ रखी गई हैं। गुरु नानकदेव की शेष रचनाएँ फुटकर पदों आदि के रूप में 'गुरुग्रंथ साहब' के अंतर्गत भिन्न-भिन्न रागों में

महला १ के नीचे संगृहीत हैं। इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषय-जैसे ब्रह्म, माया, नाम गुरु, आत्म-ज्ञान, भक्ति, नश्वरता आदि का वर्णन वा प्रतिपादन किया गया है। कहीं-कहीं पर इनकी विनती, चेतावनी तथा प्रेमोद्धार से संबद्ध अनेक सुंदर पंक्तियों के भी नमूने दीख पड़ते हैं। इन पदों में सांसारिक मनुष्यों की झूठी विडंबना, सच्चे भक्तों तथा संतों की वास्तविक साधना तथा उनकी रहनी वा व्यवहार का भी एक अच्छा परिचय मिलता है। गुरु नानकदेव ने अपनी ओर जहाँ कहीं भी संकेत किया है, वहाँ अपनी नम्रता तथा हृदय की सचाई ही प्रदर्शित की है। इनकी रचनाओं में कुछ ऐतिहासिक प्रसंग भी आये हैं जो बहुत संक्षिप्त रूप में हैं।

(२) गुरु अंगद

प्रारंभिक जीवन

गुरु अंगद का प्रथम नाम लहिना था और जैसा पहले कहा जा चुका है, गुरु नानकदेव ने इन पर प्रसन्न होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। इनके पिता का नाम फेरू था और वे वर्तमान फ़ीरोज़पुर जिले के 'मत्ते दी सराय' नामक स्थान के रहनेवाले एक व्यापारी थे। अपनी व्यापारिक उन्नति के उद्देश्य से वे अपना जन्म-स्थान छोड़ कर हरिके नामक गाँव में चले आए और उन्होंने दया कुँवरि के साथ विवाह कर लिया। इसी दया कुँवरि के गर्भ से लहिना का जन्म मिती ११ वैशाख संवत् १५६१ वि० : सन् १५०४ ई० को हुआ था। लहिना ने भी समय पाकर 'मत्ते दी सराय' की खीबी नाम की स्त्री के साथ विवाह किया और ये दोनों परिवार फिर अपने उस पहले गाँव को ही वापस चले आए। इसी गाँव में रहते समय लहिना को दातू और दासू नामक दो पुत्र और अमरू नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई। परन्तु मुग़लों का आक्रमण होने के अवसर पर 'मत्ते दी सराय' नष्ट-भ्रष्ट हो गया और फेरू के उक्त दोनों परिवार वहाँ से विवश होकर अमृतसर जिले की तरणतारण तहसील के खडूर गाँव में चले आए।

नानकदेव से भेंट तथा लहिना से अंगद

लहिना शक्ति के उपासक थे, किंतु खडूर में एक बार किसी जोधा नामक सिक्ख के मुँह से 'असा दी बार' की कुछ पंक्तियाँ गायी जाती सुनकर उनके द्वारा इतने प्रभावित हुए कि इन्होंने उसके पास जाकर उसके रचयिता बाबा नानक के विषय में पूछताछ आरंभ की। जब इन्हें उससे पता चला कि वे रावी नदी के किनारे बसे हुए करतारपुर में रहते हैं, तब ये उनके दर्शनों के लिए बेचैन हो गए। जब ये अपने गाँववालों के साथ ज्वालामुखी भगवती की तीर्थ-यात्रा के लिए निकले, तब मार्ग में करतारपुर ठहर गए। वहाँ गुरु नानकदेव का प्रभाव इनके ऊपर

इतना गहरा पड़ा कि इन्होंने वे घूँघरू आदि जिन्हें पहन कर ये भगवती के सामने नाचने जा रहे थे, फेक दिये और आर्त्त हो उनके चरणों पर गिर कर अपनी शरण में ले लेने की बार-बार प्रार्थना करने लगे। गुरु नानकदेव ने इन्हें अपने घर जाकर एक बार देखभाल कर आने का आदेश दिया, किंतु ये वहाँ अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके और कुछ कपड़े तथा एक बोरी नमक लेकर फिर गुरु के घर आ गए। गुरु नानकदेव उस समय अपने पशुओं के लिए घास लाने खेत में गये थे। लहिना वहीं पर पहुँच गए और वहाँ बँधी हुई तीन गट्ठरों को एक साथ अपने सिर पर लेकर उनमें लगी हुई मिट्टी के कारण मैले-कुचैले बनते हुए अपने गुरु के घर आये। गुरु ने इनकी भक्ति की परीक्षा और भी कई बार ली तथा अपने पुत्रों की तुलना में इन्हें सभी अवसरों पर अधिक योग्य और सच्चा पाया। एक बार जब अति वृष्टि के कारण गुरुनानकदेव की कच्ची दीवार गिर पड़ी थी, तब इन्हें अपने गुरु की आज्ञा से उसे तीन बार तक गिरा-गिराकर फिर से उठाना पड़ा था। अंत में गुरु नानकदेव इनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्र श्रीचंद तथा लक्ष्मीचंद के अधिकार की ओर ध्यान न देकर इन्हें ही अपनी जगह बिठा दिया। गुरु अंगद बन कर बैठते समय भाई बुड्ढा ने इनके ललाट पर तिलक लगाया और गुरु नानकदेव की आज्ञा से ये खडूर में जाकर रहने लगे।

गुरु का विरह तथा दैनिक कार्यक्रम

गुरु नानकदेव का देहांत हो जाने पर इन्हें उनके वियोग का इतना गहरा अनुभव हुआ कि ये बहुत उदास रहने लगे। इन्होंने एक जाट की लड़की से उसका एक कमरा लेकर उसमें अपने को छिपा लिया और बाहर की बाधा के भय से उसमें एक ताला भी डलवा दिया। ये उस समय सिवाय एक प्याला दूध के और कुछ भी खाते-पीते नहीं थे और भीतर बैठ कर सदा गुरु के ध्यान तथा चिंतन में लगे रहते थे। जब इनके सिक्ख अनुयायियों को इनका पता न चला और वे बहुत घबड़ाने लगे, तब बुड्ढा ने यत्न करके इनकी खोज की और इन्हें बाहर निकाला। तब से ये बराबर बाहर रहने लगे और अपने दैनिक जीवन का क्रम निश्चित करके नियमानुसार सिक्खों को उपदेशादि देने लगे। ये नित्य प्रातःकाल तीन घड़ी रात शेष रहे उठ जाया करते, ठंडे पानी से स्नान करते, कुछ समय तक ध्यान तथा आत्म-चिंतन करते। संगीतज्ञों द्वारा 'असा दी बार' का गान सुनते, फिर जाकर रोगियों और विशेषकर कोढ़ियों की देख-भाल करते। गुरु नानकदेव की शिक्षाओं पर उपदेश देते, उपस्थित जनता को भोजन कराते, कभी-कभी बच्चों के खेल देखा करते और अंत में अपने दरबार में बैठा करते थे। इनका कहना था कि बच्चों का हृदय सदा शुद्ध तथा सरल रहा करता है और उन पर किसी प्रकार के शोक वा

विषाद की छाप नहीं लगी रहती। इस कारण उनका जीवन औरों के लिए भी अनुकरणीय है।

गुरु अंगद तथा हुमायूँ

इनके समय में ही बाबर बादशाह मर गया और उसका पुत्र हुमायूँ उसकी जगह गद्दी पर बैठा। उसने गुजरात तथा दक्षिण भारत पर आक्रमण करने के अनंतर बंगाल की ओर शेरशाह के विरुद्ध भी चढ़ाई की, किंतु उससे हार मान कर पश्चिम की ओर भागने को विवश हुआ। उसने मार्ग में सुना कि गुरु नानकदेव के आसन पर गुरु अंगद उपदेश दे रहे हैं और एक सच्चे फ़क़ीर हैं। अतएव उसने इनके निकट आशीर्वाद के निमित्त भेंट लेकर उपस्थित होना अपने लिए उचित समझा। जब वह इनके निकट पहुँचा, तब ये ध्यान-मग्न थे और उसे कुछ काल तक खड़ा रहना पड़ा। इस पर स्वभावतः उसे अपमान के कारण क्रोध हो आया और उसने अपनी तलवार म्यान से निकाल कर इनपर वार करना चाहा। परन्तु कहा जाता है कि उसकी म्यान से तलवार निकल नहीं सकी और उसे लज्जित होकर स्तब्ध रह जाना पड़ा। उस समय तक गुरु अंगद का ध्यान टूट चुका था। इन्होंने उसे वैसी दशा में पाकर बहुत फटकारा और कहा कि तुम्हें शेरशाह के आगे हार मान कर एक फ़क़ीर के सामने शक्ति-प्रदर्शन करना किसी प्रकार भी उचित नहीं था। फिर भी मुझे इसके लिए कोई खेद नहीं है और मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि कुछ कष्ट झेलने के उपरांत तुम्हें विजय अवश्य मिल जायगी। हुमायूँ फिर काल पाकर विजयी हुआ और उसने गुरु अंगद के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की इच्छा भी की। किंतु उस समय तक इनका देहांत हो चुका था और इनके स्थान पर गुरु अमरदास बैठ चुके थे।

गुरु अंगद तथा अमरू

अमृतसर से कुछ ही दूरी पर बसरका नाम का एक गाँव था। वहाँ पर खत्रियों की भल्ला शाखा के एक तेजभान नाम के व्यक्ति रहते थे। उन्हीं की स्त्री बखत कुँवरि के गर्भ से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें से सबसे बड़े का नाम अमरू वा अमरदास था। अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४ संवत् १५३६ : सन् १४७६ ई० को हुआ था और वे खेती तथा व्यापार से जीविका उपार्जित करते थे। उनका विवाह २३ वर्ष की अवस्था में मनसा देवी के साथ हुआ और उससे उन्हें मोहरी तथा मोहक नाम के दो पुत्र हुए और रानी तथा भानी नाम की दो पुत्रियाँ पैदा हुईं। वे वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे और नियमानुसार नित्य प्रति पूजा किया करते थे। किंतु उन्हें इन बातों से पूरा संतोष न था, वे किसी को गुरु मान कर उससे पूर्ण शांति लाभ करने के उपाय पूछने के फेर में सदा

रहा करते थे। एक दिन जब वे इसी प्रकार की बातें सोच रहे थे कि उनके भतीजे के साथ हाल ही की व्याही गई बीबी अमरू के सुरीले कंठ से निकलता गुरु नानकदेव के एक पद का कुछ अंश सुनायी पड़ा। बीबी अमरू गुरु अंगद की ही पुत्री थी और वह बाबा नानक द्वारा रची गई मारू राग की कुछ पंक्तियाँ[1] गा रही थी। उस संगीत ने अमरदास के ऊपर एक विचित्र जादू डाल दिया और इन्होंने उसके निकट जाकर उसे बार-बार दुहराने की प्रार्थना की। उसे सुन कर और याद कर ये बहुत प्रसन्न हुए और गुरु अंगद से भेंट करने का निश्चय किया। बीबी अमरू ने इन्हें ले जाकर गुरु अंगद के निकट पहुँचा दिया और अमरदास उनके यहाँ शिष्यवत् रहने लगे।

अमरू की गुरु-भक्ति

एक बार किसी गोविंद नामक व्यक्ति ने किसी मुकदमे में सफलता पाने के उपलक्ष में व्यास नदी के किनारे एक नया नगर बसाने की इच्छा प्रकट की। उसमें काम लगा कर गुरु अंगद से आवश्यक सहायता प्राप्त करनी चाही। गुरु अंगद ने अपने शिष्य अमरदास को अपनी छड़ी देकर भेज दिया। अमरदास ने गोविंद को नगर-निर्माण में अनेक प्रकार के परामर्श दिये और कृतज्ञ गोविंद ने गुरु अंगद के लिए वहाँ पर एक सुंदर महल भी बनवा दिया। अमरदास तब से उसी मकान में गुरु अंगद की आज्ञा पाकर निवास करने लगे। वह नगर पहले 'गोविंदवाल' कहला कर, फिर गोइंदवाल नाम से प्रसिद्ध हो गया। अमरदास गोइंदवाल में नित्य प्रति पहर भर रात शेष रहे उठा करते और व्यास नदी से पानी लेकर गुरु अंगद को स्नान कराने खडूर तक जाते। रास्ते में 'जपुजी' का पाठ भी करते जाते जो गोइंदवाल तथा खडूर के आधे मार्ग में ही बहुधा समाप्त हो जाया करता था। खडूर में वे 'असा दी बार' का भजन सुन कर फिर गुरु की रसोई के लिए भी पानी भरते थे और उनके बर्तनों को माँज कर जंगल से लकड़ी भी ला दिया करते थे। इस प्रकार संध्या समय भी 'सोदर' का भजन श्रवण कर वे नित्यशः अपने गुरु के पैर दबाया करते थे और उन्हें सुला कर फिर पीठ की ओर से ही गोइंदवाल वापस चले जाते थे। खडूर के निकट ही जुलाहों का एक गाँव था और उनके घरों के आसपास बुनते समय उनके पैर रखने के लिए कई गढ़े खुदे हुए थे। एक

१. 'करणी कागद मनु मसवाणी, बुरा भला दुइ लेख पये।
जिस जिस किरतु चलाए तिउ चलिए तउ गुण नाहीं अंतुइरे ॥१॥
चित चेतसि की नहीं बावरीआ, हरि विसरत तेरे गुणगलिआ ॥'
इत्यादि रागुमारू, पद २, पृ० ९९१-२॥

दिन पानी लाते समय इन्हीं में से किसी गढ़े में अमरदास का पैर भूल से पड़ गया और ये गिर पड़े। इसकी आवाज सुन कर जुलाहे घर से निकल आये और 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। परन्तु बाहर आते ही उन्होंने अमरदास को 'जपुजी' का पाठ करते हुए पाया और इन्हें वही 'नियांवा अमरू' समझकर अपनी दया दिखलायी।

अंतिम समय

अमरदास, इस प्रकार सेवा करते-करते गुरु अंगद के प्रिय शिष्य हो गए और इन पर उनकी बड़ी कृपा दिखलायी देने लगी। अमरदास इनके हाथों से प्रति वर्ष दो बार कुछ कपड़े पाया करते थे, जिन्हें वे श्रद्धा के साथ अपने सिर पर बाँध लेते थे। अंत में उनके ऐसे वस्त्र बारह की संख्या तक पहुँच गए थे और उनके सिर पर एक बहुत बड़ी पगड़ी तैयार हो गई थी। अमरदास ने एक बार भक्ति के आवेश में अपने गुरु की बिवाई से मुँह लगा कर उसका खून तक चूस लिया था और इसमें तनिक भी घृणा वा कष्ट का अनुभव नहीं किया था। वे अब तक स्वयं भी वृद्ध हो चले थे और उनकी अनेक दुःसाध्य सेवाओं को देख कर औरों का हृदय द्रवित हो जाता था। इसी कारण गुरु अंगद ने एक बार जुलाहों वाली उक्त घटना के अनंतर उन्हें प्रेमपूर्वक अपने निकट बुलाया, नहलाया, नवीन वस्त्र धारण कराया और अपने स्थान पर उन्हें बिठला कर पाँच पैसे और एक नारियल उनके सामने भेंट के रूप में रख दिया। भाई बुड्ढा से कहा कि उन्हें नियमानुसार ललाट पर तिलक देकर अभिषिक्त कर दें। फिर अमरदास तो उस दिन से गुरु अमरदास के नाम से प्रसिद्ध हो गए और चैत सुदी ३, संवत् १६०६ : सन् १५५२ ई० को गुरु अंगद का देहांत हो जाने पर गुरु अंगद की भाँति ही गुरु के रूप में उपदेश देकर अनुयायियों का कल्याण करने लगे।

गुरु अंगद के कार्य

गुरु अंगद ने अपने समय में कुछ नयी प्रथाएँ चलायीं और पहले से आनेवाली बातों में भी अधिक योग दिया। इन्होंने सर्वप्रथम गुरु नानकदेव की रचनाओं को एकत्र करा कर उन्हें 'गुरुमुखी' नाम की लिपि में लिखवाना आरंभ किया।[1] इस

१. राथुड़ गाँव, जिला लुधियाना में गुरु नानकदेव से भी पहले के किसी चौधरी राथ फिरोज के समय निर्मित टूटे-फूटे मक़बरे के तोरणवाले प्लास्टर पर जो वहाँ आने वाले यात्रियों के कुछ विवरण मिल रहे हैं वे गुरुमुखी लिपि में हैं। इससे प्रकट होता है कि यह लिपि सिक्ख धर्म के पहले से वर्तमान थी और यह अशोक के शिलालेख की लिपि का एक परिवर्तित रूप है। —आज, काशी, ५-६-६२ —लेखक

लिपि के आधार विशेषकर शारदा तथा लहंदी लिपियों के प्रचलित रूप मान लिये गए। इसमें देवनागरी की लिपिवाले बावन अक्षरों की जगह केवल ३५ अक्षर ही सम्मिलित किये गए। तदनुसार इसके अक्षरों के रूपों में भी बहुत-से परिवर्तन किये गए। उदाहरण के लिए देवनागरी का 'म' गुरुमुखी का 'स', उसका 'भ' इसका 'म', उसका 'ड' इसका 'व', उसका 'प' इसका 'ध' और उसका 'घ' इसका 'ब' थोड़े-से ही फरफार के साथ बना लिया गया। तब से अर्थात् संवत् १५८९ : सन् १५३२ ई० से गुरुमुखी-लिपि सिक्खों की धार्मिक लिपि समझी जाने लगी। इसी प्रकार गुरु अंगद ने गुरुओं की जीवनी लिखाने की परिपाटी भी सर्वप्रथम आरंभ की। उसी के अनुसार कदाचित् संवत् १६०१ में 'जन्म साखी भाई वाले की' रचना हुई। गुरु अंगद ने इसके अतिरिक्त गुरु नानकदेव के समय से चलनेवाली लंगर वा भंडारे की प्रथा को भी और विस्तार दिया। इनका लंगर प्रतिदिन नियमपूर्वक चला करता और उसमें सिक्खों के अतिरिक्त अन्य अतिथि भी बहुत बड़ी संख्या में एक साथ सम्मिलित हुआ करते थे। गुरु अंगद की रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं और जो हैं, वे सभी 'गुरुग्रंथ साहब' में 'महला २' के नीचे भिन्न-भिन्न रागों में संगृहीत हैं। इनमें माझ, सोरठ, सूही, रामकली और मलार की वारें तथा सारंग नाम की रचना मुख्य हैं। सारंगवाले पद को गुरुमुखी का आविष्कार करने के अनंतर उन्होंने प्रसन्न होकर गाया था।

(४) गुरु अमरदास

शिष्य-परंपरा का क्रम

गुरु अंगद शाक्त-सम्प्रदाय में तथा गुरु अमरदास वैष्णव सम्प्रदाय में बहुत काल तक रह कर सिक्ख-धर्म में दीक्षित हुए थे। इनसे अपने-अपने गुरुओं अर्थात् क्रमशः गुरु नानकदेव तथा गुरु अंगद से कभी पहले का कोई परिचय वा संबंध न था। उक्त दोनों पहले से ही धार्मिक भावनाओं से भरे हुए व्यक्ति थे और उन्हें उच्च धार्मिक भावोंवाले गीतों ने प्रभावित करके उनका मत-परिवर्तन करा दिया था। उनकी अपने-अपने गुरुओं के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा स्वतंत्र रूप से जागृत हुई थी और वह अंत तक एक ही प्रकार से उनके हृदयों में बनी रही। इनमें से प्रत्येक के जीवन में अवस्था अधिक हो जाने पर ही नवीन प्रकार के भावों का उदय हुआ था और उसे आगे के लिए नवीन मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा मिली थी। परन्तु अमरदास के अनंतर इस प्रकार गुरु-परंपरा चलने का नियम बंद हो गया और तब से आगे का गुरु बराबर कोई न कोई अपने परिवार वा संबंध का ही बिठाया जाने लगा। इस कारण गुरु बनने का अधिकार कभी-कभी पैतृक तक समझा जाने लगा। इसका परिणाम आगे चल कर यहाँ तक बुरा हुआ कि एक भाई के

गुरु बन जाने पर उसका दूसरा भाई उसके प्रति बहुधा द्वेष का भाव रखने लगा और शत्रुओं से मिल कर उसे नीचा तक दिखाने पर प्रवृत्त हो गया। गुरुओं की उदारता के कारण ऐसी स्थिति में यद्यपि कोई कटुता नहीं आ पायी, किंतु फिर भी उसे सँभालने में उनका कुछ समय लगता ही रहा।

गुरु अमरदास का स्वभाव

गुरु अंगद की गद्दी प्राप्त करने के समय गुरु अमरदास की अवस्था लगभग ७३ वर्ष की हो चुकी थी। ये अधिकतर गोइंदवाल में रहा करते थे। इसी कारण गुरु अंगद के पुत्र दातू ने खडूर के स्थान को रिक्त पाकर अपने पिता की जगह पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने लोगों से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अमर-दास हमारा नौकर रह चुका है और अब अधिक बुड्ढा भी हो चुका है, वह गुरु नहीं कहला सकता। परन्तु सिक्खों को यह बात अप्रिय जान पड़ी और उन्होंने गुरु अंगद के वचनों को स्मरण कर के गुरु अमरदास के पास जा उनसे अपना दुःख प्रकट किया। दातू इस बात से और भी क्रुद्ध हो उठा और उसने गोइंदवाल पहुँचकर वृद्ध गुरु अमरदास को गाली देते हुए उन्हें ठोकर मार कर गिरा दिया। गुरु अमर-दास ने सँभल कर दातू के पैर पकड़ते हुए पूछा, "आपके चरणों में चोट तो नहीं लगी। कृपापूर्वक मुझे क्षमा कर दीजिए।" उससे इतना कहते हुए ये गोइंदवाल से भी हट कर अपने जन्म-स्थान बसरका चले आये और वहीं रहने लगे। इनके सिक्ख अनुयायियों को यह सुन कर और भी खेद हुआ और वे इन्हें फिर से गोइंदवाल लाने का यत्न करने लगे। दातू को इसी बीच में किसी डाकू ने पैर में चोट पहुँचा दी। वह लंगड़ा होकर खडूर वापस चला आया और भाई बुड्ढा आदि सिक्खों ने गुरु अमरदास को समझा-बुझाकर इन्हें फिर गोइंदवाल की गद्दी पर बिठा दिया। गुरु अमरदास क्षमा तथा सहनशीलता की मूर्ति थे और ये इसी बात के उपदेश भी बहुधा दिया करते थे, किंतु इनके शत्रु बराबर इस बात से लाभ उठाते रहे।

लंगर की प्रथा

गुरु अमरदास का लंगर भक्त अनुयायियों की भेंटों के आधार पर चलता रहा। जो कोई भी इनके यहाँ आता, भर पेट भोजन पाता। बिना इनके लंगर में भोजन किये किसी को भी इनके दर्शन करने का अधिकार नहीं था। जो कुछ भेंट में प्राप्त होता, वह प्रति दिन व्यय हो जाता था, बचता न था। ये अपने कपड़े भी बहुत कम बदला करते थे और जब बदलते थे, तब पुराना कपड़ा किसी योग्य सिक्ख को ही दे दिया जाता था। इनके लंगर में अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बना करते थे, किंतु ये स्वयं सदा रूखे-सूखे अन्न पर ही निर्भर रहा करते थे। जो कोई भी इनके यहाँ आता, खाने अथवा उपदेश सुनने के समय बराबर एक पंक्ति में

और एक भाव के साथ बैठा करता था। कहा जाता है कि एक बार अकबर बादशाह को भी यही करना पड़ा था। इस प्रकार ये समानता के भाव के भी बहुत बड़े पक्ष-पाती थे और संसार में रहते हुए ही ईश्वराराधन करने का बराबर उपदेश दिया करते थे। इनका कहना था कि जिस प्रकार कमल कीचड़ में उत्पन्न होकर भी अपनी पंखुड़ियों को सूर्य की ओर विकसित किये रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि सांसारिक व्यवहार में लगे रहने पर भी अपना मन सदा ईश्वर की ओर लगाये रहे।

दामाद शिष्य जेठा

गुरु अमरदास की पत्नी मनसा देवी को अपनी पुत्री भानी की अवस्था देख कर ऐसा विचार हुआ कि वह व्याह करने योग्य हो गई है। उन्होंने गुरु अमरदास से यह बात प्रकट की और एक दिन अपने घर के बाहर से गुजरते हुए किसी खोंचे-वाले लड़के को दिखला कर बतलाया कि वर की अवस्था उसी के समान होनी चाहिए। इस पर गुरु ने उस लड़के को अपने निकट बुला कर उसे देखा-भाला और उसी को पसंद कर लिया। उस लड़के का नाम जेठा था और वह लाहौर नगर के चुन्नी मंडी मुहल्ले के निवासी किसी हरिदास नामक खत्री का पुत्र था। उसका जन्म मंगलवार मिती २, कार्तिक कृष्ण पक्ष संवत् १५९१ : सन् १५३४ ई० में दया कुँवरि के गर्भ से हुआ था। वह देखने में सुंदर था और सदा मुसकराया करता था। वह बचपन से ही साधुओं की संगति पसंद करता था, किंतु माता-पिता ने उसे चने उबाल कर घुघनी बेचने का काम सौंप दिया था। उन्हीं चनों को लेकर वह बहुधा रावी के किनारे चला जाता और वहाँ पर स्नान करनेवाले साधुओं को उसका जलपान करा दिया करता। एक बार वह ऐसे ही साधुओं के साथ-साथ लगा हुआ गोइंदवाल पहुँच गया था, जहाँ पर गुरु अमरदास ने उसे अपनी पुत्री के वर के रूप में स्वीकार कर लिया। गुरु अमरदास ने लड़के के पिता हरिदास को अपनी बातें कहला भेजीं और उसने अपने बिरादरी के सोढी खत्रियों की बारात लाकर विवाह कर लिया। तब से जेठा गुरु अमरदास के निकट उनके दामाद तथा शिष्य के रूप में भी रहने लगा और वही पीछे गुरु रामदास कहलाया।

हरद्वार-यात्रा

एक बार कतिपय ब्राह्मणों ने अकबर बादशाह के निकट इस बात की शिकायत की कि गुरु अमरदास के कारण हिन्दू-धर्म का अपमान हो रहा है। इस पर अकबर ने गुरु अमरदास को अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया। परन्तु अति वृद्ध होने के कारण गुरु अमरदास वहाँ नहीं जा सके। इन्होंने कहला भेजा कि मेरा पुत्र मोहन सदा ध्यान में लगा रहता है और मोहरी को दरबार में जाने का अभ्यास

नहीं, अतएव जेठा को भेज रहा हूँ। इस पर जेठा अकबर के यहाँ पहुँचे और उसके साथ बहुत समय तक सत्संग करते रहे। अकबर को उनकी बातें सुन कर पूरा संतोष हो गया और उसने उन्हें यह कह कर लौटा दिया कि गुरु अमरदास एक बार हरद्वार जैसे तीर्थों में पर्यटन करके हिन्दुओं को कुछ आश्वासन प्रदान कर दें। तदनुसार गुरु अमरदास ने अपने मत के प्रचार के लिए भी हरद्वार की यात्रा उचित समझा और अपने अनुयायियों को लेकर वहाँ के लिए चल पड़े। तब तक यह प्रसिद्ध हो गया था कि उनके साथ जानेवालों को तीर्थ-यात्रा का प्रचलित कर नहीं देना पड़ेगा। अतएव इनके साथियों की संख्या बढ़ गई। वे इनके लंगर में भोजन करते थे, इनकी गायक-मंडली में मिलकर भजन गाया करते थे तथा स्नानादि के लिए मिले विशेष सुभीत से भी लाभ उठाया करते थे। गुरु अमरदास इस प्रकार सबके साथ भ्रमण करते हुए तथा मार्ग में अपने मत के संबंध में उपदेश देते हुए हरद्वार की यात्रा से लौट आये।

तालाब-निर्माण

एक बार गुरु अमरदास ने जेठा से कहा कि तुम कहीं जाकर अपने लिए कोई स्थान चुन लो और वहाँ एक मकान बना कर तालाब भी खोदवा लो। स आज्ञा के अनुसार जेठा ने गोइंदवाल से २५ मील की दूरी पर एक जगह पसंद की और वहीं पर अपना स्थान निश्चित कर लिया। फिर क्रमशः वहाँ पर औरों की भी बस्तियाँ बन गईं और एक तालाब 'संतोष सर' नाम का तैयार हो गया। फिर उसी के पूरब की ओर उन्होंने एक दूसरा तालाब भी बनवाने की आज्ञा दी और बतलाया कि पूरा हो जाने पर वही आगे 'अमृतसर' नाम से प्रसिद्ध होगा। गुरु अमरदास ने इसी बीच में जेठा की भक्ति की अनेक प्रकार से परीक्षा ली और एक बार तो इन्होंने उनसे एक ही चबूतरे को सात बार गिरा-गिराकर बनवाया। प्रत्येक बार प्रसन्नतापूर्वक अपनी आज्ञा का पालन किया जाता हुआ देख कर इन्होंने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे वंश में सात पुश्त तक गुरु की गद्दी मिलेगी। इसके सिवाय एक दिन संध्या समय जब गुरु अमरदास ध्यान में मग्न थे, उनकी पुत्री तथा जेठा की पत्नी बीबी भानी ने देखा कि उनके पलँग का एक पाया टूटा हुआ है। यह समझ कर कि पलँग के गिर जाने से उनका ध्यान कहीं भंग न हो जाय, उन्होंने टूटे पाये की जगह अपने हाथ का सहारा दे दिया। जब गुरु ने आँखें खोलीं और उन्हें ऐसा करते देखा, तब प्रसन्न होकर उनसे कोई वर माँगने को कहा। बीबी भानी ने उनसे निवेदन किया कि अब से गुरु-परंपरा मेरे ही वंश में चलती रहे। गुरु अमरदास ने इस पर 'एवमस्तु' कर दिया, किंतु इसके साथ ही यह भी बतलाया कि तुमने बिना सोचे-समझे गुरु की परंपरा के बहते हुए स्रोत को बाँध द्वारा बाँधने

की चेष्टा की है, अतएव इसका परिणाम संकटों से रहित न होगा। गुरु अमरदास का यह कथन आगे चल कर सत्य निकला।

इनके कार्य तथा अंतिम दिन

गुरु अमरदास ने अपना मरण-समय निकट जान कर एक दिन मिती भादो सुदी १३, संवत् १६३१ : सन् १५७४ ई० को जेठा को रामदास के नाम से अपनी गद्दी पर बिठा दिया। उनके सामने नियमानुसार पाँच पैसे और एक नारियल अर्पण कर उन्हें भाई बुड्ढा द्वारा तिलक भी करा दिया। गुरु अमरदास का देहांत संवत् १६३१ के भादो को पूर्णिमा के दिन १० बजे दिन को हुआ था। गुरु अमरदास ने अपने मत के प्रचारार्थ २२ केन्द्र (मंजे)[1] स्थापित किये थे और स्त्री-शिक्षा के निमित्त ५२ उपदेशिकाएँ भी भिन्न-भिन्न स्थानों में नियत की थीं। इनकी रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'आनंद' है जो विशेषकर उत्सवों के अवसर पर गाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ वारों, पदों तथा सलोकों की भी इन्होंने रचना की है जो सभी 'गुरु ग्रंथसाहब' में संगृहीत हैं।

(५) गुरु रामदास

गुरु रामदास तथा श्रीचंद

गुरु रामदास कुछ ही दिनों में एक प्रसिद्ध महापुरुष हो गए और इनकी प्रशंसा चारों ओर फैलने लगी। गुरु नानकदेव के बड़े लड़के श्रीचंद, 'उदासी सम्प्रदाय' की स्थापना की थी और नग्न भेष में इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। उन्होंने गुरु अंगद वा गुरु अमरदास से भी भेंट नहीं की थी। किंतु गुरु रामदास की ख्याति को सुन कर वह इनसे मिलने आए और गोइंदवाल की सीमा तक पहुँच गए। गुरु रामदास ने उनके आगमन की सूचना पाकर कुछ मिष्ठान्न तथा पाँच सौ रुपयों के साथ उनकी अगवानी की। श्रीचंद ने इन्हें देख कर कहा कि आपकी दाढ़ी बहुत लंबी हो गई है, जिसके उत्तर में गुरु रामदास ने बतलाया कि हाँ, आपके चरणों को पोंछने के लिए मैंने इसे बढ़ा रखा है। श्रीचंद को इस उत्तर ने प्रभावित किया और वे प्रसन्न हो गए।

मंसदों की नियुक्ति

गुरु रामदास ने तालाब के निर्माण का कार्य पूर्ववत् जारी रखा और उसके निमित्त द्रव्य संग्रह करने तथा धर्म-प्रचार के लिए इन्होंने कई व्यक्तियों को नियुक्त किया। ये लोग 'मंसद' कहे जाते थे जो पूर्वकाल में प्रचलित मनसद शब्द का विकृत रूप था। अफ़ग़ान बादशाहों के समय में 'मनसदे अली' कुछ विशेष प्रकार के दरबारियों की पदवी थी और सिक्खों के सच्चे बादशाह होने के नाते गुरु रामदास के

१. मंजा—मंजी (चारपाई) का पुंल्लिंग-रूप—साम्प्रदायिक केन्द्र।

उक्त कर्मचारियों का नाम भी उनके शब्दों में मंसद ही रखा गया। इनका काम भिन्न-भिन्न प्रदेशों के रहनेवाले अनुयायियों तथा अन्य लोगों से भी द्रव्य लेकर उसे गुरु के पास व्यय करने के लिए भेजना था। तालाब के खोदाने का कार्य चल ही रहा था कि उसके निकट अनेक मनुष्यों की घनी बस्ती जमने लगी और वह रामदासपुर के नाम से प्रसिद्ध हो चली।

गुरु रामदास तथा पुत्र अर्जुन

एक बार गुरु रामदास के एक प्राचीन संबंधी ने उनसे जाकर निवेदन किया कि मेरे लड़के का विवाह होने जा रहा है, उसमें सम्मिलित होने चलिए। परन्तु गुरु रामदास के सामने बहुत-सा काम था, इसलिए उन्होंने वहाँ पर स्वयं न जाकर किसी को अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजना उचित समझा। गुरु रामदास के उस समय तीन पुत्र पृथीचंद, महादेव और अर्जुन वर्तमान थे। उन्होंने उनमें से बड़े अर्थात् पृथीचंद वा प्रिथिया से पहले कहा कि तुम जाकर उक्त उत्सव में सम्मिलित हो जाओ, किंतु उसने कई प्रकार के बहाने बनाये और अंत में जाने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार महादेव ने भी कहा कि मुझे सांसारिक बातों में कुछ भी रुचि नही और मैं ऐसा करना अपने स्वभाव के विरुद्ध समझता हूँ। परन्तु गुरु ने उक्त प्रस्ताव को ज्योंही अर्जुन के सामने रखा, उसने उसे तुरंत स्वीकार कर लिया और 'जैसी आज्ञा' कह कर वहाँ से चल दिया। लाहोर पहुँचने पर अर्जुन को उत्सव के उपरांत भी बहुत दिनों तक रह जाना पड़ा और वह अपने पूज्य पिता के वियोग में क्रमश: अधीर होने लगा। अतएव उसने अपने पिता के नाम एक पत्र भेज कर कुशल-क्षेम पूछा और उनके दर्शनों की इच्छा प्रकट की। परन्तु प्रिथिया ने उस पत्र को दूत के हाथ से ले लिया और उसे छिपा कर अर्जुन के यहाँ कहला भेजा कि जब तक बुलावा न जाय, उसे वहीं रहना होगा। प्रिथिया ने अर्जुन के एक दूसरे पत्र के संबंध में भी जब यही चाल चली और उसे ये सब बातें विदित हो गईं, तब उसने अपना तीसरा पत्र 'नं० ३' करके लिखा और उसे बड़ी सावधानी के साथ भेजा। अब की बार अंतिम पत्र गुरु को मिल गया और उस पर संदेह करके उन्होंने प्रिथिया के पहनावे के पाकेट से अन्य दो पत्र भी हस्तगत कर लिए। प्रिथिया इस घटना के कारण अत्यंत लज्जित हुआ और भाई बुड्ढा ने इस बात की चर्चा सर्वत्र फैला दी। गुरु रामदास ने भी अपने छोटे पुत्र अर्जुन से ही प्रसन्न होकर उसे सबसे योग्य माना और पाँच पैसे तथा एक नारियल की भेंट उसके सामने अर्पित कर उसे भाई बुड्ढा द्वारा तिलक दिला दिया।

मीन प्रिथिया

उक्त गुरुगद्दी के कारण प्रिथिया की लज्जा क्रोध में परिणत हो गई और उसने

आवेश में आकर अपने पिता के प्रति भी दुर्वचन कहे। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं गुरु अर्जुन को हटा कर ही छोड़ूँगा और उसकी जगह स्वयं बैठ कर इस बात की स्वीकृति बादशाह से भी करा लूँगा। रामदास ने तब उसे बहुत समझाया-बुझाया, किंतु उसने उनकी एक न सुनी और अंत में रुष्ट होकर उन्हें उसे 'मीन' अथवा दुष्ट स्वभाव का मनुष्य तक कहना पड़ा। गुरु रामदास इस घटना के कुछ ही पीछे अर्जुन को लेकर गोइंदवाल आये और वहाँ की बावली में स्नान करके प्रातःकाल के समय 'जपुजी' और 'असा दी बार' का पाठ करते हुए ध्यान-मग्न हो गए। फिर सूर्योदय होते-होते उन्होंने सभी सिक्खों को बुला कर उन्हें गुरु अर्जुन को समर्पित कर दिया। उनसे कहा कि अमृतसर का तालाब शीघ्र बनवा देना तथा सिक्ख-धर्म के सिद्धांतों के अनुसार चलने के लिए सबको उपदेश देते रहना। गुरु रामदास का देहांत मिती भादो सुदी ३, संवत् १६३८ : सन् १५८१ ई० को हुआ था।

रचनाएँ

गुरु रामदास की सभी उपलब्ध रचनाएँ 'गुरुग्रंथ साहब' में संगृहीत हैं। इनमें भी भिन्न-भिन्न रागों के अंतर्गत पाये जानेवाले अनेक पद तथा 'बार' हैं जो कतिपय 'सलोकों' के साथ 'महला ४' के नीचे दिये गए हैं और इनकी संख्या काफी बड़ी है।

(६) गुरु अर्जुनदेव

जन्म तथा बाल्य-काल

गुरु अर्जुनदेव का जन्म गुरु रामदास की पत्नी बीबी भानी के गर्भ से मिती वैशाख कृष्ण ७ मंगलवार संवत् १६२० : सन् १५६३ ई० को गोइंदवाल में हुआ था। इनके नाना गुरु अमरदास इन्हें बहुत मानते थे और प्रसिद्ध है कि एक बार उन्होंने इन्हें गुरु-गद्दी तक देने की इच्छा प्रकट की थी। कहा जाता है कि बचपन में एक बार ये अपने सोये हुए नाना की पलँग तक चले गए और उन्हें सोते से जगा दिया। सोते समय उन्हें कोई कभी छेड़ा नहीं करता था और नकी माता को भय हुआ कि पिताजी कहीं न पर रुष्ट न हो जायँ। परन्तु उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उठते ही उठते गुरु अमरदास कह रहे हैं, "आने दो, मेरे पास उसे आने दो। यह मेरा दोहित पानी का बोहित होवेगा।" ऐसा कहने का तात्पर्य उनका यह था कि समय पाकर वह बच्चा एक दिन सांसारिक जीवों को भव-सागर से पार उतारनेवाला होगा। अर्जुन इन दिनों बराबर गुरु अमरदास के ही निकट अपनी माता के साथ रहा करते थे और बचपन से ही इनके कोमल हृदय पर उस महा-पुरुष का प्रभाव सदा पड़ता रहा। कुछ दिनों के अनंतर इनका विवाह वर्तमान जिला जालंधर के मेओ गाँव में रहनेवाले किसनचंद की पुत्री गंगा से हुआ।

प्रारंभिक कार्य

गुरु रामदास का देहांत हो जाने पर जब ये गद्दी पर बैठे, तब इनके मामा मोहरी ने परंपरानुसार अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में इन्हें एक साफा अर्पित किया जिस पर इनके सबसे बड़े भाई प्रिथिया ने आपत्ति की। गुरु अर्जुनदेव ने हर्षपूर्वक उस कपड़े को प्रिथिया के हवाले कर दिया और स्वयं गोइंदवाल से हट कर अमृतसर चले आए। यहाँ आने पर भी कतिपय चौधरियों के कहने पर इन्होंने गुरु-गद्दी को मिलनेवाले कुछ कर तथा मकान के किराये की आय प्रिथिया को दे दी। इसी प्रकार अपने दूसरे भाई महादेव को भी कुछ प्रबंध करके दे डाला। अब इनके लिए आमदनी के रूप में केवल वही द्रव्य रह गया जो भक्त अनुयायियों द्वारा भेंट में इन्हें मिल जाया करता था। ऐसे ही साधनों के सहारे इन्होंने सर्वप्रथम अपना ध्यान अमृतसर का निर्माण पूरा करने की ओर लगाया। तालाब की खोदाई गुरु रामदास के ही समय में पूरी हो चुकी थी। गुरु अर्जुनदेव ने उसके बँधाने आदि का कार्य भी समाप्त कर दिया और उसके बीच में 'हरमंदर' नाम के एक मंदिर का भी बनाना आरंभ किया। इस 'हरमंदर' की ऊँचाई गुरु की आज्ञा के अनुसार आसपास के मंदिरों से बढ़ने नहीं दी गई। उनका कहना था कि जो नम्र वा नीचा बन कर रहता है, वही ऊँचा हो जाता है। वृक्ष जितने ही फले रहते हैं, उतने ही नीचे झुके भी रहते हैं। इसी प्रकार मंदिर का द्वार भी चारों ओर से खुला रहने दिया गया। गुरु अर्जुनदेव का कहना था कि यह सभी प्रकार के लोगों की पूजा का स्थान बनेगा। इसके बीच में 'गुरुग्रंथ साहब' रखा रहता है और उसके प्रति भक्ति प्रकट की जाती है। इस मंदिर की बुनियाद संवत् १६४५ : सन् १५८९ के माघ महीने के प्रथम दिवस को ही डाली गई थी और पहली ईंट इन्होंने स्वयं रखी थी। ईंट के एक बार अकस्मात् कुछ हट जाने पर इन्होंने कहा था कि बुनियाद फिर कभी डाली जायगी। यह बात सं० १८१९ में अहमदशाह के आक्रमण के समय सच्ची निकली, जब दो वर्ष पीछे खालसा फौज ने इसे फिर से जीत कर अपने अधिकार में लिया और टूटे-फूटे मंदिर को दूसरी बार बनवाया।

द्वेष का सामना

अकबर बादशाह के मंत्री राजा बीरबल गुरु के साथ धार्मिक मतभेद होने के कारण इनसे द्वेष रखते थे और इनकी उन्नति को भी नहीं देख सकते थे। अतएव कई बार उन्होंने इन्हें अपमानित करने तथा कष्ट पहुँचाने के यत्न किये। किंतु संयोगवश वे कभी कृतकार्य न हो सके और कुछ ही दिनों के अनंतर यूसुफ़-जाइयों के विरुद्ध लड़ते समय मार डाले गए। इधर गुरु का बड़ा भाई प्रिथिया भी इनके नाश के लिए षड्यंत्र रचने में सदा लगा रहा। बादशाह के कर्मचारी

सुलही खाँ के साथ मिल कर उसने कई उद्योग किये, किंतु वजीर खाँ की सहायता के कारण उसकी दाल नहीं गलने पायी और वह सदा असफल ही होता रह गया। गुरु अर्जुनदेव ने इसी बीच सन् १५९० ई० के किसी महीने में तरनतारन की भी बुनियाद डाल कर वहाँ पर एक तालाब खोदवा दिया। इसी प्रकार व्यास तथा सतलज नदियों के बीच जलंधर दोआब के अंतर्गत एक दूसरे नगर का निर्माण किया जो कर्तारपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु अर्जुनदेव की पत्नी गंगा ने उनसे कई बार किसी पुत्र के लिए प्रार्थना की। इन्होंने प्रत्येक अवसर पर यही परामर्श दिया कि तुम जाकर भाई बुड्ढा से अशीर्वाद लाओ, तो तुम्हें पुत्र उत्पन्न हो सकेगा। अंत में बीबी गंगा भाई बुड्ढा के पास भोजन तैयार करके ले गई और उनकी परसी हुई थाली को माता का दिया हुआ प्रसाद कह कर भाई बुड्ढा ने बड़े प्रेम के साथ खाया। उन्होंने भोजन के उपरांत कहा कि मुझ भूखे को तृप्त कर देने के उपलक्ष में आपको एक पुत्र रत्न होगा जो अपने शत्रुओं के सिर उसी प्रकार कुचलेगा, जिस प्रकार अभी मैंने प्याज कुचले हैं। तदनुसार मिती आषाढ़ बदी ६, संवत् १६५२ : ता० १४ जून सन् १५९५ ई० को बड़ाली गाँव में बीबी गंगा के गर्भ से हरगोविंद का जन्म हुआ। अपने पिता के ये एकलौते पुत्र थे तो भी प्रिथिया तथा उसकी स्त्री को इनका जीना बहुत खला करता था। इस कारण बच्चे हरगोविंद के प्राण लेने के लिए उन दोनों ने दास-दासियों तथा कर्मचारियों को मिला कर अनेक बार भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ कीं। किंतु उन्हें सफलता कभी नहीं मिल सकी और बालक हरगोविंद उनके सामने खेलता और व्यायाम करता हुआ अधिकाधिक बलिष्ठ और रूपवान् ही होता गया।

आदिग्रंथ का निर्माण

गुरु अर्जुनदेव को एक बार इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि उनके अनुयायी सिक्खों के पथ-प्रदर्शन के लिए कुछ नियम निर्धारित कर देने चाहिए ताकि आगे चल कर किसी धार्मिक प्रश्न केउठने पर किसी प्रकार की कठिनाई न उपस्थित हो और अपने सिद्धांतों में सामंजस्य भी आ जाय। इसलिए इन्होंने गुरुओं द्वारा दिये गए उपदेशों को उनके वास्तविक रूप में संगृहीत कर उनका एक ग्रंथ निर्माण करा देना उचित समझा। इसका एक और कारण यह भी था कि प्रिथिया उन दिनों कुछ पदों की रचना कर उन्हें गुरु नानकदेव के उपदेश बतला कर प्रचलित कर रहा था। वास्तव में इस प्रकार की प्रवृत्ति अन्य अनेक व्यक्तियों में भी पायी जाती रही। इस कारण उनकी ऐसी रचनाओं को वास्तविक 'गुरु बाणी' वा 'साची वाणी' की जगह 'कच्ची बाणी' नाम से अभिहित करने की एक परंपरा ही पीछे चल

पड़ी। इसके सिवाय गुरु अमरदास ने भी अपना रचना 'आनंद' की २३वीं-२४वीं पौड़ियों में बतलाया था कि गुरुओं की केवल असली रचनाएँ ही पढ़ी जानी चाहिए। अतएव गुरु अर्जुनदेव गुरु अमरदास के बड़े लड़के मोहन के पास गोइंदवाल में स्वयं गये और वहाँ सुरक्षित गुरु-पदों को माँग कर उठा लाये। इसके उपरांत इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध भक्तों के अनुयायियों को आमंत्रित करके उनसे अपने-अपने श्रेष्ठ भजनों को चुनवाया। उनमें से भी अपने संग्रह में उन्हीं पदों को स्थान दिया जो सिद्धांत की दृष्टि से अपने गुरुओं की रचनाओं से मेल खाते थे। कुछ लोगों का मत है कि कम से कम शेख़ फ़रीद, बेनी, जयदेव तथा रैदासजी की बानियों को स्वयं गुरु नानक ने ही संगृहीत किया था और अन्य ऐसी अनेक रचनाएँ गुरु अमरदास के समय संगृहीत की गई होंगी। 'गुरु मत प्रकाश' में साहेब सिंह का तो यहाँ तक कथन है कि अधिकांश भक्तों की रचनाएँ गुरु नानक द्वारा ही संगृहीत हो चुकी थीं।[1] इसमें संदेह नहीं कि उच्चारण आदि की कठिनाई के कारण उक्त चुने हुए पदों में कुछ परिवर्तन हो गया और कहीं-कहीं एकाध पंजाबी शब्दों का उनमें प्रवेश तक हो गया, किंतु फिर भी इन्होंने उन्हें शुद्ध रखने की ही भरसक चेष्टा की। पदों का चुनाव समाप्त हो जाने पर गुरु अर्जुनदेव ने स्वयं बैठ कर उन्हें भाई गुरुदास से लिखवाया। इस प्रकार वह ग्रंथ संवत् १६६१ : सन् १६०४ ई० के भादो महीने की पहली तिथि को तैयार हुआ तथा भाई बुड्ढा के संरक्षण में उन्हें अर्पित कर दिया गया। ग्रंथ के अंत में जो 'रागमाला' दी गई है और जिसमें भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों की चर्चा की गई है, वह वास्तव में किसी आलम नामक मुसल-मान कवि की 'माधवानल' संगीत नामक रचना का एक अंश है। यह रचना हिजरी सन् ९९१ : सन् १५८३ ई० में तैयार की गई थी और वह ग्रंथ में किसी प्रकार छंद ६३ से लेकर ७२ तक के रूप में सम्मिलित कर ली गई है। यहाँ पर उल्लेखनीय यह है कि संग्रह करते समय गुरु अर्जुनदेव के प्रति लाहोर के छज्जू, कन्ह, शाह हुसेन तथा पीलू द्वारा अनुरोध किया गया था कि कुछ उनकी भी रचनाएँ ले ली जायँ, किंतु गुरु ने उन्हें अनुपयुक्त ठहरा कर अस्वीकार कर दिया।[2]

गुरु अर्जुनदेव तथा चंदूशाह

गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध शत्रुता-भाव रखनेवाला एक व्यक्ति चंदूशाह भी था जो कुछ काल तक बादशाह का दीवान वा अर्थमंत्री था। वह पंजाब का निवासी था, किंतु कर्मचारी हो जाने के अनंतर देहली में रहने लग गया था। वह कुलीन, विद्वान्, धनी तथा प्रतिष्ठित था। उसे एक कन्या का विवाह करना था और उसे

१. गुरुमत प्रकाश, पृ० २५।

२. The Missionary. Delhi, Vol II No. 8, pp 26-7.

योग्य वर कहीं ढूँढ़ने पर नहीं मिलता था। उसके आदमियों ने उससे प्रस्ताव किया कि उसकी कन्या के लिए सबसे अच्छा वर गुरु अर्जुनदेव का लड़का हरगोविंद ही हो सकता है और उसी के लिए यत्न किये जाने चाहिए। चंदूशाह को यह बात पहले पसंद न आयी और उसने अपने ब्राह्मण को तिरस्कारपूर्वक यह कह कर टाल दिया कि राजमहल की अटारी की सुंदर खपरैल कभी नाले में नहीं डाल दी जाती। परन्तु अंत में हार मान कर उसने अपनी पत्नी करमी के परामर्शानुसार उक्त बात मान ली और गुरु अर्जुनदेव के पास पत्र भेज दिया। इधर गुरु के अनुयायियों को चंदूशाह के उक्त तिरस्कारपूर्ण कथन का पता चल गया था और उन्होंने गुरु के निकट इस वैवाहिक संबंध का घोर विरोध कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि चंदूशाह के दूतों के सामने ही गुरु अर्जुनदेव ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा कर हरगोविंद का विवाह नारायनदास तथा हरिचंद नामक सिक्खों की दो लड़कियों के साथ करना स्वीकार कर लिया और वे हताश होकर अपने मालिक के पास लौट गए। इस घटना के कारण चंदूशाह ने अपने को बहुत अपमानित हुआ समझ लिया और वह भी गुरु अर्जुनदेव का नाश करने पर तुल गया।

शत्रुओं का षड्यंत्र

इसके अनंतर चंदूशाह तथा प्रिथिया ने मिल कर गुरु अर्जुनदेव के विरुद्ध कई प्रकार के जाल रचे, किंतु अकबर बादशाह की उदारता के सामने उनकी एक न चल पायी। परन्तु जब सन् १६०५ ई० में अकबर का देहांत हो गया और उसकी जगह जहाँगीर गद्दी पर बैठा, तब इन लोगों को नया अवसर हाथ लग गया। अकबर जहाँगीर के लड़के खुसरो को बहुत मानता था। कहा जाता है कि उसने इसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन दिया था। इस कारण उसके मरते ही खुसरो ने पंजाब तथा अफ़ग़ानिस्तान पर अपना अधिकार जमा लेना चाहा और इस बात पर जहाँगीर अत्यंत रुष्ट हो गया। जहाँगीर ने खुसरो को पकड़ने के लिए शाही फौज भेजी और वह आगरे से भागता हुआ तरनतारन चला आया। वहाँ पर उसने गुरु से कुछ आर्थिक सहायता के लिए प्रार्थना की, जिस पर गुरु ने उसे यह कह कर टाल देना चाहा कि सिक्खों का धन गरीबों के लिए ही सुरक्षित है। परन्तु अंत में उसकी दीनता देख कर इन्हें दया आ गई और उसके पितामह द्वारा अपने प्रति किये गए उपकारों को ध्यान में रखते हुए इन्होंने उसे काबुल की ओर सुभीते के साथ भाग जाने के लिए पाँच सहस्र रुपये दे दिये। फिर भी खुसरो मार्ग में ही पकड़ लिया गया।

बंदी

इधर प्रिथिया के पुत्र मिहरबान ने चंदूशाह को उक्त खुसरो वाली घटना

की ब्योरेवार सूचना दे दी। जब जहाँगीर बादशाह पंजाब की ओर अपने किसी दौरे में आया, तब अवसर पाकर चंदू ने उससे गुरु की बड़ी निंदा की और इन्हें पकड़वा मँगाने की भी उसे सलाह दे दी। तदनुसार गुरु अर्जुनदेव जहाँगीर के सामने बुलाये गए और इनसे कई प्रकार के प्रश्न करके इन्हें अपराधी ठहराना चाहा। अंत में इन पर दो लाख रुपये जुर्माना के रूप में लगाये गए और यह भी कहा गया कि 'आदिग्रंथ' में से ये उन पंक्तियों को निकाल भी दें जो अनुचित हों। गुरु अर्जुनदेव ने दोनों ही बातें अस्वीकृत कर दीं जिस पर बादशाह बहुत बिगड़ कर उठ गया और उसके अधिकारी ने इन्हें कैद करा दिया। बंदीगृह में इन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दीं गई। इनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गई, इन्हें जलती हुई लाल कड़ाही में बिठाया गया और इन्हें उबलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। गुरु ने सब कुछ सहन कर लिया और आह तक नहीं निकाली। कर्मचारियों द्वारा बार-बार कहे जाने पर भी इन्होंने उसकी एक भी बात स्वीकार नहीं की और उसी भाँति नाम-स्मरण करते हुए धैर्यपूर्वक बैठे रहे।

अंतिम समय

पाँच दिन इसी प्रकार व्यतीत हो जाने पर इन्होंने एक बार नदी रावी में जाकर स्नान कर आने की अनुमति माँगी और अपने साथ पाँच सिक्खों को भी ले जाने के लिए अनुरोध किया। इन्हें इस बात की अनुमति मिल गई और इनके साथ कुछ शस्त्रधारी सिपाहियों को लगा दिया गया जिससे इन्हें कोई लेकर कहीं चला न जाय। गुरु ने जाते समय एक लंबी चादर ओढ़ ली और नदी की ओर की एक खिड़की से निकल कर धीरे-धीरे चल पड़े। इनके शरीर में फफोले पड़ गए थे और इनके पैरों के तलवों में कई घाव हो गए थे। ये लँगड़ाते हुए अपने एक सेवक पीराना के कंधों पर हाथ रख कर धीरे-धीरे चलने लगे। इन्हें ऐसी दशा में पाकर लोग बहुत दुखी होते थे, किंतु ये बराबर उसी प्रकार ध्यान में मग्न चले जा रहे थे। रावी तक पहुँच कर इन्होंने पहले अपने हाथ-पैर धोये, फिर स्नान किया और 'जपुजी' का पाठ किया। अंत में इन्होंने सिक्खों को हरगोविंद को गुरु मान कर चलने का आदेश दिया और वहीं पर जेठ सुदी ४, संवत् १६६३ : जून सन् १६६ ई० को अपनी इहलीला संवरण की। अपने मृत शरीर के संबंध में इन्होंने कह रखा था कि उसका कोई भी संस्कार न किया जाय, अपितु ज्यों-का-त्यों उसे रावी नदी में बहता हुआ छोड़ दिया जाय।

इनके कार्य

गुरु अर्जुनदेव की मृत्यु केवल ४३ वर्ष की अवस्था में ही हो गई, किंतु इन्होंने इतने ही दिनों में सिक्ख-धर्म के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। अमृतसर, तरन-

तारन-जैसे नगरों तथा उनके तालाबों तथा मंदिरों का निर्माण करने के अतिरिक्त इन्होंने सिक्ख-धर्म में सुव्यवस्था लाने के लिए 'आदिग्रंथ' के संग्रह का आयोजन किया, सिक्खों की शिक्षा का प्रबंध किया और उनके वाणिज्य-व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया। इन्होंने सिक्खों को तुर्किस्तान-जैसे दूर-दूर देशों में घोड़े का व्यापार करने के लिए भेजा जिसमें उनका एक मुख्य उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना भी था। इनके उपदेश देने का ढंग भी एक अपना ही था जिसका प्रभाव इनके अनुयायियों पर बहुत अच्छा पड़ा करता था। एक बार किसी चूहर नामी चौधरी के पूछने पर कि सदा सत्य बोलना किस प्रकार संभव हो सकता है, इन्होंने बतलाया था कि अपने झूठ और सत्य बोलने का लेखा अलग-अलग रखा करो और देखो कि किस प्रकार प्रति दिन मीलान करते जाने पर आपसे आप सुधार होने लगता है। इसी भाँति कोरे शास्त्रादि के पंडितों की धोखा देनेवाली प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए इन्होंने एक बार किसी नानू और कालू को इस प्रकार समझाया था कि जिस सर्प के सिर में मणि रहा करती है वह उसकी सहायता से रात को उजेले में कीड़ों-मकोड़ों को खाया करता है, वैसे ही जो शास्त्रादि में पारंगत विद्वान् भर होता है, वह उनके प्रदर्शन द्वारा साधारण जनता को आकृष्ट कर उनसे अनुचित लाभ उठाया करता है।

रचनाएँ

गुरु अर्जुनदेव ने रचनाएँ भी बहुत-सी प्रस्तुत कीं। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'सुखमनी' अथवा चित्त की शांति है जिसमें २४ अष्टपदियाँ १०-१० पंक्तियों की संगृहीत हैं। इसका पाठ प्रातःकाल के समय 'जपुजी' के अनंतर किया जाता है। इसके सिवाय 'बावन अखरी', 'बारामासा' तथा कई फुटकर पद भिन्न-भिन्न रागों में रचे गए, महला ५ के नीचे 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत दिये गए हैं। इसमें इनकी संख्या ६००० से भी कहीं अधिक है। गुरु अर्जुनदेव को अपनी गुरु-गद्दी के २५ वर्षों में अनेक भीतरी तथा बाहरी समस्याओं को हल करने के अवसर प्राप्त हुए और इन्होंने प्रत्येक बार बड़े धैर्य और शांति के साथ सभी कठिनाइयों का सामना किया। अंत में उन्होंने धर्म के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी।

(७) गुरु हरगोविंद सिंह

प्रथम गुरुओं का दृष्टिकोण

गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिक्ख गुरुओं का ध्यान विशेषकर अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति तथा सिक्ख-मत के प्रचार की ओर ही केन्द्रित रहा। यदि ये किसी सांसारिक बात की व्यवस्था आदि पर विचार भी किया करते, तो उसका भी उद्देश्य मुख्यतः सिक्ख-धर्म से ही संबद्ध रहा। देश की राजनीतिक परिस्थिति अथवा

उसके तात्कालिक शासन-प्रबंध के सूत्रधार बादशाहों के कार्यों की ओर से भी ये सदा उदासीन रहे। वास्तव में अपने धार्मिक जीवन में सदा लगे रहने के कारण ये उन्हें ऐसा अवसर ही न देते जिससे उन्हें कोई हस्तक्षेप करना पड़े। परन्तु गुरु अर्जुनदेव के समय उनके शत्रुओं के प्रपंचों के कारण कुछ ऐसी घटनाएँ आ उपस्थित हुई कि बादशाहों ने अमानुषिक अत्याचार तक कर डाले। उनके आगे आनेवाले सिक्ख-गुरुओं को बाध्य होकर उसके विरोध में कुछ करने की ओर स्वभावतः प्रवृत्त होना पड़ा।

क्रांतिकारी परिवर्तन

तदनुसार गुरु हरगोविंद ने अपने पिता की मृत्यु के विषय में आवश्यक बातों का पता लगा कर 'आदिग्रंथ' का पाठ कराया और दस दिनों तक बराबर नाम-स्मरण तथा कीर्तन की भी धूम रही। इसके अनंतर भाई बुड्ढा ने इन्हें अंत्येष्टि-क्रिया संपन्न हो जाने पर नवीन वस्त्र पहनाये और इनके सामने सेली वा दुपट्टा समर्पित करके उन्हे धारण करने का परामर्श दिया। परन्तु गुरु हरगोविंद ने उन्हें बतलाया कि परिस्थिति में विशेष परिवर्तन आ जाने के कारण इनका सेली वा दुपट्टे का अपने शरीर पर डालना उचित नहीं कहला सकता। आज का राजनीतिक वातावरण इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि मुझे अब से सेली की जगह अपनी कमर में तलवार बाँधनी चाहिए और अपने साफे के ऊपर कोई राजसी चिह्न स्वीकार कर लेना चाहिए। इसी कारण इन्होंने सेली को अपने संग्रहालय में सुरक्षित रखवा दिया और स्वयं अपने को युद्धोपयोगी वस्त्रों से सुसज्जित कर लिया। इन्होंने सारे सिक्खों तथा अमृतसर के मुख्य-मुख्य नागरिकों को निमंत्रित कर उनका सह-भोज कराया और मंसदों को आदेश भेजा कि वे आगे द्रव्य न भेज कर भेंट में सदा शस्त्र तथा घोड़ों का ही उपहार दिया करें। इसी प्रकार संवत् १६६३ की आषाढ़ सुदी ५ को सोमवार के दिन इन्होंने अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर के एक गलियारे में 'तख्त अकाल बुंगे' की नींव डाली जहाँ पर आज भी अकाली सिक्ख बैठा करते हैं और अपने महत्त्वपूर्ण शस्त्रों को सुरक्षित रखते हैं। अब इनकी सेवा में दूर-दूर तक के अनेक योद्धा और पहलवान भी उपस्थित होने लगे जिनमें से ५२ को चुन कर इन्होंने अपने आत्मरक्षक नियुक्त किया। ये ही सेवक आगे चल कर गुरुओं की सिक्ख-सेना के प्रथम सिपाही बने जिन्होंने अपने अपूर्व साहस तथा वीरता के साथ प्रचंड शाही फौज का अनेक अवसरों पर सामना किया। गुरु हरगोविंद उक्त समय से अपना ध्यान मृगया वा आखेट की ओर भी विशेषरूप से देने लगे। ये नित्यप्रति सूर्योदय के पहले उठ जाते, स्नान करते, अस्त्र-शस्त्रादि से अपने को सुसज्जित कर लेते, पूजन के लिए हरमंदिर में चले जाते, 'जपुजी' तथा 'असा दी बार' का

पाठ सुनते और अपने अनुयायी सिक्खों को उपदेश देते। इनके प्रवचन तथा 'आनंद' के समाप्त हो जाने पर सब लोग एक ही पंक्ति में बैठ कर जलपान किया करते और प्रायः एक घड़ी तक विश्राम कर ये आखेट के लिए चल देते थे।

गुरु हरगोविंद तथा जहाँगीर

एक बार बादशाह जहाँगीर ने इन्हें शिकार खेलने के लिए आमंत्रित किया और इनसे अनुरोध किया कि ये आगरे तक उसके साथ जायँ। परन्तु, वहाँ पर कुछ कारणवश इन्हें अपने पुराने शत्रु चंदूशाह की योजना के अनुसार ग्वालियर के किले में कुछ काल तक एक निर्वासित के रूप में रह जाना पड़ा। ये किले के भीतर कुछ दिनों तक एक प्रकार के बंदी बन कर ही रहे। अंत में वजीर खाँ की सहायता से बहुत-से बंदियों के साथ उसके बाहर आ सके। चंदूशाह तथा इनके अन्य शत्रु भी इनकी ताक में सदा लगे रहते थे, इस कारण इन्हें भी उनकी ओर से बराबर सतर्क रहना पड़ता था। बादशाह जहाँगीर को एक बार इनकी एक माला बहुत पसंद आयी और उसने इनसे उसका एक मनका भेंट करने के लिए अनुरोध किया। गुरु ने उत्तर दिया कि उक्त माला से भी कहीं अच्छी एक दूसरी माला इनके पिता गुरु अर्जुनदेव के पास थी जिसे वे सदा धारण किया करते थे जो अंत में चंदूशाह के हाथ लग गई है। चंदूशाह ने बादशाह के पूछने पर कहा कि वह माला कहीं रखी थी जहाँ से खो गई है और अब ढूँढ़ने पर नहीं मिलती। परन्तु बादशाह को उसकी बातों में विश्वास नहीं हुआ और उसे संदेह हो गया कि वह माला को देना नहीं चाहता। अतएव शाही हुक्म के अनुसार चंदूशाह गुरु हरगोविंद के हवाले कर दिया गया और उसकी पत्नी तथा लड़के भी उसी के साथ कर दिये गए। सिक्खों ने उसे किले से बाहर लाकर उसके साफे को फाड़ कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, उसकी बाहों को उलट कर उसकी पीठ के पीछे बाँध दिया और सबके सामने उसके सिर पर जूते लगाये। चंदूशाह की दशा तब से बराबर गिरती ही गई। वह अंधा हो गया, उसका शरीर अत्यंत क्षीण तथा दुर्बल दीख पड़ने लगा और उसे नगर की गलियों में घूम-घूम कर भंगियों द्वारा अपमानित होना पड़ा। अंत में उसे किसी अनाज बेचनेवाले बनिये ने लाठी मार कर घायल कर दिया और वह मर गया।

तालाब-निर्माण

बादशाह और गुरु हरगोविंद के बीच तब तक पूरी मित्रता हो गई थी और गुरु ने उसे गोइंदवाल, अमृतसर तथा तरनतारन आदि अपने मुख्य-मुख्य तीर्थों में साथ ले जाकर अपने सौहार्द का परिचय भी उसे दे दिया था। उसकी प्रेयसी बेगम नूरजहाँ ने जब गुरु को देखा, तब वह इनके सौंदर्य द्वारा बहुत प्रभावित हुई। बादशाह की अनुमति लेकर वह अन्य बेगमों के साथ कई बार इनके दर्शनों

के लिए गई। किसी काज़ी की लड़की बीवी कौलन भी इनकी सेवा में मियाँ मीर के परामर्शानुसार उपस्थित हुई थी और इनसे प्रभावित होकर उसने इन्हें अपना सब धन अर्पित कर दिया था। कहा जाता है कि उसी के द्रव्य से गुरु हरगोविंद ने अमृतसर में एक नया तालाव सं० १६७८ : सन् १६२१ मे खोदवाया जिसका नाम 'कौलसर' रखा गया। इस प्रकार उक्त नगर में इनके बनवाये एक अन्य तालाब विवेकसर को लेकर पाँच जलाशय हो गए। ये पाँचों तालाब आज भी संतोषसर अमृतसर, रामसर, कौलसर तथा विवेकसर के नाम से उक्त नगर में प्रसिद्ध हैं और वहाँ के मुख्य-मुख्य दर्शनीय स्थानों में गिने जाते हैं।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु हरगोविंद को उनकी पत्नी दामोदरी से कार्त्तिक सुदी १५, सं० १६७० : सन् १६१३ ई० को एक पुत्र गुरुदित्ता नामक उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार इनकी दूसरी पत्नी नानकी के गर्भ से बैशाख बदी ५, सं० १६७६ : सन् १६२२ ई० को एक दूसरे पुत्र तेग़बहादुर का जन्म हुआ। उक्त गुरुदित्ता से ही आगे चल कर माघ सुदी १३, सं० १६८७ : सन् १६३० ई० को गुरु हरगोविंद को एक पौत्र हुआ जिसका नाम हरराय रखा गया जो इनका उत्तराधिकारी बना।

गुरु हरगोविंद तथा शाहजहाँ

जहाँगीर बादशाह के देहांत हो जाने पर एक बार उसका पुत्र बादशाह शाह-जहाँ लाहोर से अमृतसर की ओर शिकार के लिए निकला। उसी समय गुरु हर-गोविंद भी अपने अनुचरों को लेकर आखेट के लिए उधर आ गए थे। बादशाह के पास एक बहुत सुंदर बाज था जिसे ईरान के शाह ने उसे भेंट के रूप में दिया था जो ऐसे अवसरों पर सदा उसकी कलाई पर बैठा रहा करता था। संयोग-वश बाज को बादशाह ने किसी ब्रह्मनी पंडुकी पर छोड़ दिया और वे दोनों पक्षी आपस में लड़ते-भिड़ते वा खेलते हुए दूर तक निकल गये। बादशाह के शिकारी अनुचर बाज के लिए दौड़ाये गए, किंतु वह नहीं मिल सका। अंत में पता चला कि गुरु हरगोविंद के अनुचरों ने उसे पकड़ लिया है। परन्तु माँगने पर उन्होंने बाज को लौटाया नहीं जिससे दोनों दलों में झगड़ा आरंभ हो गया। सिक्खों को एक साधारण-सी घटना के कारण बादशाह की एक फौज के साथ अमृतसर नगर के ४ मील दक्षिण की ओर सं० १६८५ : सन् १६२८ ई० में एक छोटा-सा युद्ध करना पड़ गया जिसमें वे सफल हो गए। उक्त घटना की स्मृति में उस स्थल पर आज भी एक मेला प्रति वर्ष वैशाखी पूर्णिमा को लगा करता है। एक दूसरे अवसर पर भी गुरु हरगोविंद को मुग़ल सेना का सामना करना पड़ा, जब उसने इनके द्वारा स्थापित श्री हरगोविंदपुर नामक नवीन नगर पर आक्रमण किया था।

एक तीसरी लड़ाई में सिक्खों को मुग़ल सेना के साथ लगातार १८ घंटों तक लड़ना पड़ा था और यह घटना माघ सुदी १, संवत् १६८८ : सन् १६३१ में हुई थी।

अंतिम समय

गुरु हरगोविंद ने अपने पौत्र हरराय का हाथ पकड़ कर एक दिन उसे अपने अनुयायियों की एक भीड़ के सामने अपने स्थान पर बिठा दिया। उस समय तक भाई बुड्ढा का देहांत हो चुका था। इस कारण उसके पुत्र भाई भन्ना ने उनके ललाट पर तिलक लगाया और गले में माला पहनायी। गुरु हरगोविंद ने हरराय के सामने पाँच पैसे और एक नारियल भेंट किये। उनकी चार बार प्रदक्षिणा की और उनके सामने अपना सिर झुका दिया। गुरु हरगोविंद की मृत्यु रविवार के दिन चैत्र सुदी ५, सं० १७०१ : सन् १६४४ ई० को ३७ वर्षों तक गद्दी पर बैठने के उपरांत हो गई। ये गुरु अर्जुनदेव के इकलौते पुत्र थे और अपने शौर्य तथा नीतिज्ञता के कारण इन्होंने सिक्खों की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ी वृद्धि की। इन्होंने उपर्युक्त अकाल-तख़्त के अतिरिक्त लोहगढ़ किले का भी निर्माण किया। इनके मृत्यु-स्थान को पातालपुरी भी कहा जाता है। इनकी कोई रचना 'गुरुग्रंथ साहिब' में वा अन्यत्र नहीं मिलती।

(८) गुरु हरराय

स्वभाव

गुरु हरगोविंद के पाँच पुत्र गुरुदित्ता, सूरजमल, अनीराय, बाबा अटल तथा तेग़बहादुर थे जिनमें से सबसे प्रथम अर्थात् गुरुदित्ता उनके पहले ही मर चुके थे। गुरुदित्ता के भी दो पुत्र धीरमल तथा हरराय थे जिनमें से प्रथम ने अपने को गुरु के प्रति अशिष्ट सिद्ध कर दिया था। इस कारण उन्होंने हरराय को अपनी गद्दी दी थी। हरराय अपने बचपन ही से अत्यंत कोमल हृदय के थे। कहा जाता है कि एक दिन जब ये अपनी वाटिका में टहलते थे, तब इनके १०० कलियों वाले बड़े जामे से लग कर किसी पौदे का एक फूल टूट कर गिर पड़ा। इसके कारण इन्हें इतना कष्ट हुआ कि तब से इन्होंने उस जामे को सदा समेट कर चलना आरंभ कर दिया। एक अन्य अवसर पर इन्होंने किसी अपरिचित स्त्री के हाथ का बनाया भोजन शीघ्रता में बिना हाथ धोये ही घोड़े पर चढ़े-चढ़े खा लिया था। अपने अनुयायियों के पूछने पर इसका कारण यह बतलाया था कि उक्त स्त्री ने रसोई बड़ी श्रद्धा के साथ अपने श्रमार्जित अन्न को लेकर बनायी थी जिसे इन्हें उसके प्रति संकोच करते हुए प्रेमपूर्वक ग्रहण करना ही पड़ा।

गुरु हरराय तथा औरंगजेब

एक बार जब शाहजहाँ का सबसे बड़ा और प्रिय पुत्र दाराशिकोह बीमार

पड़ा, तब किसी ने उसे सूचना दी कि गुरु हरराय के पास अच्छी-अच्छी दवाएँ हैं। इस पर बादशाह ने इन्हें सहायतार्थ लिख भेजा और इन्होंने उपयुक्त दवा भेज कर उसे अनुगृहीत कर दिया, तब से दाराशिकोह भी उसका बड़ा कृतज्ञ था। अतएव अपने धार्मिक गुरु मियाँ मीर के परामर्श से उसने हरराय के पास एक पत्र भेज कर इनसे मिलने की प्रार्थना की। वह इस कार्य के लिए कीरतपुर तक भी गया, किंतु प्रथम बार इनसे उसकी भेंट न हो सकी और दूसरी बार जाकर उसे इनसे व्यास नदी के तट पर मिलना पड़ा। इसी बीच में शाहजहाँ के पुत्रों के बीच उसका उत्तराधिकारी होने के लिए युद्ध भी छिड़ गया और अंत में औरंगजेब विजयी होकर बादशाह बना। औरंगजेब से किसी ने गुरु हरराय के विरुद्ध इस बात की शिकायत की कि वे उस दाराशिकोह के प्रति मैत्री का भाव रखा करते थे जो उसका परम शत्रु रहा। उसने जिसे इसी कारण मरवा तक डाला था और साथ-ही-साथ यह भी कहला भेजा कि ये इस्लाम के विरुद्ध प्रचार भी करते है। इसलिए औरंगजेब ने इन्हें अपने यहाँ बुला भेजा। परन्तु ये स्वयं उसके यहाँ नहीं गये और अपने पुत्र रामराय को उससे भेंट करने के लिए भेज दिया। रामराय से बातचीत करते समय औरंगजेब ने प्रश्न किया कि 'आदिग्रंथ' में दिये गए गुरु नानकदेव के सलोक "मिट्टी मुसलमान की, पेड़े पई कुंभिआर। घर भांडे ईटन किया, जल दी करे पुकार॥" में मुसलमान शब्द के आने से इस्लाम धर्म का अपमान क्यों न समझा जाय? इसके उत्तर में रामराय ने उसे बतलाया कि वास्तव में 'मुसलमान' शब्द की जगह बेईमान शब्द चाहिए, जिस पर बादशाह संतुष्ट हो गया।

अंत

परन्तु गुरु हरराय को उक्त सलोक के पाठ-परिवर्तन से बड़ा दुख हुआ और इन्होंने अप्रसन्न होकर उन्हें अपने उत्तराधिकार से वंचित कर देने का निश्चय किया। तदनुसार इन्होंने अपने छोटे पुत्र हरकृष्णराय को बुला कर उसे अपने स्थान पर बिठा दिया। उसके सामने पाँच पैसे तथा नारियल रख कर उसे तिलक दिलाया। अंत मे कार्तिक वदी ७, संवत् १७१८ : सन् १६६१ ई० को रविवार के दिन गुरु हरराय का देहात हो गया।

(८) गुरु हरकृष्णराय

गुरु तथा औरंगजेब

गुरु हरकृष्णराय का जन्म गुरु हरराय की पत्नी कृष्णकुँवर के गर्भ से मिती श्रावण बदी ८, संवत् १७१३ : सन् १६५६ ई० को हुआ था। इस प्रकार इन्हें केवल पाँच वर्ष और तीन महीने की ही अल्प अवस्था में गुरु-गद्दी मिली। इनके बड़े भाई रामराय इस समय देहली में बादशाह के यहाँ थे। उन्हें कीरतपुर

से पहुँचनेवाले इस समाचार से स्वभावत: बड़ा कष्ट पहुँचा। उन्हें उसी क्षण से ईर्ष्या और द्वेष ने प्रभावित करना आरंभ कर दिया। औरंगजेब को जब इस बात का पता चला, तब उसने ऐसे उपयुक्त अवसर से पूरा लाभ उठाने का निश्चय कर लिया। गुरु हरकृष्णराय को अपने दरबार में बुला लाने के लिए अंबर के राजा जयसिंह को भेजा। राजा जयसिंह ने जब गुरु हरकृष्णराय को इस बात की सूचना दी, तब इन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। यह भी कहला दिया कि बादशाह के दरबार में जाना हमारे पूर्व पुरुषों के मंतव्यों के प्रतिकूल पड़ेगा। फिर भी राजा जयसिंह के बहुत अनुरोध करने पर इन्होंने वहाँ जाना अंत में स्वीकार कर लिया और दिल्ली के लिए रवाना हो गए।

मृत्यु

परन्तु मार्ग के बीच में ही इन्हें अपनी यात्रा के चौथे दिन ज्वर आ गया। चैत्र का महीना था। ज्वर-ताप के कारण इनकी आँखें लाल-लाल हो गईं, श्वास अधिक वेग के साथ चलने लगी। इनके शरीर की आँच का स्पष्ट अनुभव कुछ दूर खड़े हुए लोगों को भी होने लगा। अंत में चेचक के चिह्न भी लक्षित होने लगे और ज्वराधिक्य के प्रभाव में आकर इन्हें बेहोशी तक होने लगी। इस प्रकार जब इन्होंने अपना अंत निकट आया हुआ समझा, तब पाँच पैसे और एक नारियल मँगाये उन्हें उठा न सकने के कारण अपने पास रख कर केवल हाथ हिलाये। इस प्रकार तीन बार अपने उत्तराधिकारी किसी 'बाबा बाकले' की प्रदक्षिणा की। इनका देहांत चैत्र सुदी १४ संवत् १७२१ : सन् १६६४ ई० को शनिवार के दिन केवल ७ वर्ष और कुछ महीने की अवस्था में ही हो गया। इनकी मृत्यु का स्थान 'बाला साहेब' कहलाता है।

(१०) गुरु तेग बहादुर

गुरु-गद्दी का उत्तराधिकारी

गुरु तेग़बहादुर अपने बचपन में बहुत शांतिप्रिय थे। कहा जाता है कि जब ये पाँच वर्ष के थे, तभी अपने विचारों की धुन में लगे रहते थे और उस दशा में किसी से भी बोलते न थे। कुछ बड़ा होने पर इसका विवाह जलंधर जिले के करतारपुर नगर की गूजरी नामक स्त्री के साथ हुआ। गुरु हरगोविंद की मृत्यु के अनंतर तेग़बहादुर अपनी माता तथा पत्नी के साथ बाकला नामक स्थान में रहने के लिए चले गए। जब गुरु हरकृष्णराय का अंतिम समय आया और उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का नाम बाबा बाकले बतला कर तीन-चार बार अपना हाथ हिलाया, तब इस बात की सूचना पाकर उक्त बाकला स्थान के २२ सोढ़ी खत्री अपने-अपने को गुरू घोषित कर उसके लिए यत्न

करने लग गए। अंत में जब लवाना परिवार का एक सिक्ख जिसका नाम मक्खन शाह था और जिसने अपने डूबते हुए जहाज के बच जाने के उपलक्ष में सिक्ख-गुरु की भेंट के लिए कुछ द्रव्य देने का निश्चय किया था, ५०० मुहरें लेकर आया, तब यह जान कर उसे बड़ी घबराहट हुई कि अभी तक उक्त पद के लिए कोई भी नाम निश्चित नहीं। इस कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के पास गया और उसकी परीक्षा के लिए दो मुहरें अर्पित कर उसकी गंभीरता की पहचान की। जब उक्त २२ सोढ़ियों में से उसे कोई भी उपयुक्त न जँचा, तब वह अंत में तेग़-बहादुर के पास पहुँचा और इनका अपूर्व सतोष तथा सौजन्य देख कर प्रभावित हो गया। तदनुसार सभी अनुयायियों के अनुरोध करने पर चैत्र शुक्ल १४, सं० १७७२ : सन् १६६५ ई० की २० वीं मार्च को ये गुरु गद्दी पर बैठे।

द्वेषाग्नि तथा षडयंत्र

परन्तु उक्त भेंट की बात तथा गद्दी की प्राप्ति का हाल सुनकर इनका भाई धीरमल द्वेष के कारण जल उठा। उसने कुछ मंसदों को यह कह कर इनके पास भेजा कि इन्हें वे गोली का निशाना बना दें। इस प्रकार उसके शत्रु का नाश हो जाय। मंसदों ने उसके कथनानुसार वार अवश्य किया, किंतु इन्हें अधिक चोट न आयी। सिक्खों ने उन्हें तथा धीरमल को भी इसके लिए भले प्रकार से दंडित किया। इस घटना के अनंतर भी सोढ़ी-परिवार के खत्री इन्हें अपने द्वेष के कारण सदा सताने की चेष्टा करते रहे। इसलिए इन्होंने अंत में आषाढ़ सं० १७२२ : १६६५ ई० में कीरतपुर का त्याग कर वहाँ से छह मील की दूरी पर एक नये शहर आनंदपुर की नींव डाली और वहीं पर बराबर निवास करने का विचार किया। फिर भी धीरमल तथा रामराय अपने कुचक्रों से कभी नहीं चूके और इन्हें विवश होकर धर्म-प्रचार के बहाने भिन्न-भिन्न प्रांतों में भ्रमण करना पड़ा। एक बार ऐसी ही यात्रा करते-करते ये थानेश्वर आदि तीर्थों और प्रसिद्ध नगरों से होते हुए पूर्व दिशा की ओर कड़ा मानिकपुर तक पहुँचे जहाँ पर मलूकदास नाम के एक बहुत बड़े संत रहा करते थे। मलूकदास ने पहले इनके आखेटादि का हाल सुन कर इनके प्रति बड़ी तुच्छ धारणा की थी, किंतु इनसे मिल कर वे बहुत प्रभावित हुए। वहाँ से गुरु तेग़बहादुर प्रयाग और काशी गये। काशी में इन्होंने 'रेशम कटरा' मुहल्ले के 'शबद का कोठा' नामक स्थान में निवास किया जहाँ पर इनके जूते और कोट 'बड़ी संगत' के भीतर आज तक सुरक्षित हैं। यहाँ से आगे बढ़ने पर इन्हें जयसिंह के पुत्र रामसिंह की ओर से पत्र मिला कि आप कृपापूर्वक हमें कामरूप के विरुद्ध औरंगजेब बादशाह की चढ़ाई में सहायता प्रदान करें। गुरु तेग़बहादुर ने उक्त प्रस्ताव को

स्वीकार कर लिया और शाही फौज के साथ दोनों मुंगेर, राजमहल तथा मालदा होते हुए नदी पार करके कामरूप के प्रदेश में पहुँच गए। किंतु वहाँ के राजा ने इनके परामर्शानुसार बादशाह के साथ लड़ने का विचार त्याग दिया और दोनों दलों में सद्भावना के साथ संधि हो गई। यहीं पर इन्हें पटने से समाचार मिला कि मिती पौष सुदी ७, संवत् १७२३ : सन् १६६६ ई० को एक पुत्र उत्पन्न हुआ है जिस कारण ये पटना लौट आए और वहाँ से फिर आनंदपुर पहुँच गए।

प्राणदंड

इसी बीच में इधर औरंगजेब बादशाह की ओर से धर्म-परिवर्तन की चेष्टा आरंभ हो गई थी और यह कार्य कश्मीर में धूमधाम से होने लगा था। कश्मीरी ब्राह्मणों ने उक्त आंदोलन से प्रभावित होने के कारण गुरु तेग़बहादुर के यहाँ जाकर सहायता के लिए प्रार्थना की। उन्हें गुरु ने बतलाया कि बिना किसी महापुरुष का बलिदान किये हिन्दू-धर्म की रक्षा असंभव है। उस समय इनका पुत्र गोविंद एक छोटा-सा बालक था और वहीं पर बैठा हुआ था। इनकी बातों को सुन कर वह सहसा बोल उठा, "पिताजी, यदि ऐसी ही बात है तो भला ऐसे बलिदान के लिए आपसे अधिक योग्य और कौन मिलेगा?" कश्मीरी पंडितों ने इस घटना को एक निश्चित संकेत मान कर इसकी सूचना बादशाह को दे दी। उन्होंने कह दिया कि यदि गुरु तेग़बहादुर इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लें तो हम सभी उनका अनुसरण करेंगे। तदनुसार गुरु के लिए बुलावा भेजा गया और ये मार्ग में लोगों से मिलते-जुलते दिल्ली की ओर चल पड़े। इनके धीरे-धीरे आगे बढ़ने के कारण स्वभावतः कुछ विलंब हो गया और बादशाह के दरबार में प्रसिद्ध हो चला कि ये कहीं छिप कर बैठ गए हैं। इस कारण इनकी खोज के लिए कई गुप्तचर नियुक्त हुए। अंत में किसी बालक द्वारा अँगूठी बेच कर कुछ मिठाई खरीदते समय ये पकड़ लिये गए। दिल्ली में इन्हें आते ही किसी-न-किसी प्रकार राजबंदी बना लिया गया। फिर एक दिन जब ये बंदीगृह की छत से दक्षिण की ओर खड़े-खड़े देख रहे थे, बादशाह ने इन पर इस बात का दोषा-रोपण किया कि ये पर्दे के भीतर रहनेवाली बेग़मों पर दृष्टिपात कर रहे थे। इस कारण इन्हें मर्यादा-भंग का अपराधी मानना चाहिए और इन्हें कठोर दंड देना उचित है। इसके उपरांत इन्हें अधिक कष्ट दिया जाने लगा। इनके कुछ साथियों के किसी-न-किसी प्रकार बंदीगृहसे भाग निकलने पर इन्हें लोहे के एक पिंजड़े में डाल दिया गया। उसी दशा में मिती अगहन सुदी ५, संवत् १७३२ : सन् १६७५ ई० को बुरे ढंग से इनकी हत्या भी कर डाली गई।

इनके शव को कुछ सिक्खों ने चोरी से निकाला और उसे ले जाकर किसी वस्ती में छिपा दिया जहाँ पर आग लगने के कारण वह उसके मकानो के साथ जल कर भस्म हो गया।

स्वभाव

गुरु तेग़बहादुर एक बहुत वीर और साहसी पुरुष थे और अपने पिता की भाँति इन्होंने भी पहले आखेटादि का अभ्यास किया था। किंतु यह सब कुछ होते हुए भी इनका हृदय अत्यंत कोमल था और ये स्वभावतः बड़े क्षमाशील थे। ये बहुधा कहा करते थे कि "क्षमा करना दान देने के समान है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रहती है। क्षमा के समान अन्य कोई भी पुण्य नहीं। संतों का यह अमूल्य धन है जिसे न तो कोई क्रय कर सकता है, न चुरा सकता है और न छीन ही सकता है।" गुरु तेग़बहादुर की अनेक सुंदर तथा विशुद्ध रचनाएँ 'गुरुग्रंथ साहब' में संगृहीत हैं इनमें आध्यात्मिकता और नश्वर के प्रति उदासीनता के भाव अपेक्षाकृत अधिक मुखर जान पड़ते हैं।

(११) गुरुगोविंद सिंह

प्रारंभिक जीवन

गुरु गोविंद सिंह का पहला नाम गोविंद राय था। जैसा कहा जा चुका है, इनके बचपन का कुछ समय पटने में ही बीता था। अपने पिता गुरु तेग़बहादुर के पटना छोड़ कर आनंदपुर चले जाने के कुछ दिनों पीछे इन्होंने अपनी माता के साथ वहाँ के लिए प्रयाण किया। ये मिर्जापुर से होते हुए बनारस गये जहाँ कई दिनों तक रह कर फिर अयोध्या, लखनऊ आदि की यात्रा करते हुए अपने पिता के निकट पहुँच गए। ये अपनी छोटी अवस्था से ही खेल-कूद तथा शारीरिक श्रम के अभ्यासों में बहुत भाग लेते रहे। पटना में रहते समय ही ये गंगा नदी में नाव खेते और दूसरे लड़कों को आपस में युद्ध करने के लिए उत्तेजित कर उनके द्वंद्व का बड़े चाव के साथ निरीक्षण करते। ये स्वयं तीर चलाने का अभ्यास करते और दूसरों को भी इस कला की शिक्षा देकर उनसे निशाना लगाने की चेष्टा कराते। एक बार नाव खेते समय इनके पैर पानी में फिसल भी गए थे। आनंदपुर जाने के अनंतर इन्होंने तीक्ष्ण नोकवाले तीरों को ढेर-की-ढेर कई बार लाहौर से मँगाया और बाण-विद्या में और भी दक्षता प्राप्त की। इन्होंने इसी प्रकार अपने दादा गुरु हरगोविंद की भाँति आखेट का भी अच्छा अभ्यास कर लिया। गुरु-गद्दी पर बैठ जाने के अनंतर भी ये नित्यप्रति सूर्योदय के पहले उठा करते, आवश्यक उपासना करते और विशेषकर 'असा दी बार' का पाठ सुना करते। सूर्योदय हो जाने पर ये अपने सिक्ख अनुयायियों को उपदेश देते

तथा युद्धोचित कलाओं के अभ्यास में अपना बहुत-सा समय दिया करते। तीसरे पहर ये अपने दरबार में सिक्खों से मिल-जुल कर शिकार के लिए निकल जाते अथवा कभी-कभी घुड़सवारी में अपना समय व्यतीत करते थे। अंत में संध्या समय 'रहिरास' के भजन के अनंतर शयन करते थे।

रतनराय की भेंट

असम के राजा राम का देहांत हो जाने पर उसका द्वादस वर्षीय पुत्र रतन राय इनसे मिलने के लिए आनंदपुर आया। वह अपने साथ सुनहले साजों से सुसज्जित पाँच घोड़े, एक छोटा चतुर हाथी और एक ऐसा शस्त्र लाया था जिससे पाँच हथियार अलग-अलग निकाले जा सकते थे। सर्वप्रथम एक पिस्तौल निकलती थी, फिर बटन के दबाते ही एक तलवार भी ऊपर आ जाती, फिर एक भाला निकलता और तदनंतर क्रमशः एक कटार और एक मुंद्गर भी निकल पड़ते। इनके सिवाय उक्त भेंट में वह एक ऐसा सिंहासन था जिसका बटन दबाने पर कुछ परियाँ निकल कर चौपड़ खेलने लग जातीं थीं। एक बहुमूल्य प्याला था और उसके साथ ही अनेक हीरे-जवाहरात तथा वस्त्रादि थे। उक्त हाथी तो इतना प्रवीण था कि वह गुरु गोविंदसिंह के जूते साफ कर उन्हें ठीक ढंग से रख देता। इनके चलाये हुए तीर को इनके निकट फिर पहुँचा देता। इनके पैर धोने के लिए पानी से भरा घड़ा लिये खड़ा रहता और उन्हें तौलिये से पोंछ देता। एक चामर लेकर इनके ऊपर झलता और रात के समय अपनी सूँड में दो जलती हुई मशालें लेकर इनके साथ मार्ग दिखलाता हुआ चलता। राजा रतनराय ने गुरु गोविंद सिंह से विशेष अनुरोध किया था कि हाथी को कहीं अन्यत्र न दे दीजिएगा।

प्रतिशोध की भावना

जिस प्रकार इनके पहले गुरु हरगोविंद ने अपने पिता की अकाल मृत्यु का समाचार सुन कर अपने गुरु-सुलभ जीवन में परिवर्तन ला दिया था और अपने शत्रुओं से बदला लेने का प्रण करके सिक्खों का संगठन आरंभ कर दिया था, उसी प्रकार, अपितु उनसे कहीं अधिक दृढ़ता के साथ गुरु गोविंद सिंह ने अपने पिता की हत्या करानेवाले बादशाह तथा उसके कर्मचारियों को हानि पहुँचाने का निश्चय किया। अब इनके यहाँ भी उसी प्रकार दूर-दूर तक के निवासी वीर युवक आ-आकर भरती होने लगे और इनकी सेना क्रमशः बढ़ती हुई वृहद् रूप धारण करने लगी। इन्होंने अपनी सेना के लिए एक बहुत बड़ा नगाड़ा भी बनवाया जिसका नाम इन्होंने 'रणजीत' रखा। इस नगाड़े को लेकर एक बार ये जब आखेट को निकले थे, तब इनके आदमियों ने पहाड़ी राजा भीमचंद की

राजधानी विलासपुर के निकट इसे बजा दिया और इसके शब्द के कारण वहाँ पर लोगों में धूम मच गई। राजा भीमचंद इनके यहाँ स्वयं मिलने के लिए आया और जब उसकी दृष्टि इनके हाथी पर पड़ी, तब उसे इच्छा हुई कि उस विचित्र जीव को किसी-न-किसी प्रकार ले ले। प्रायः इसी समय राजा भीमचंद के निकट गढ़वाल प्रांत के श्रीनगर-निवासी राजा फतेहशाह का दूत उसकी पुत्री के विवाह के लिए पत्र लेकर आया और बातचीत निश्चित हो जाने पर उक्त अवसर के लिए राजा भीमचंद ने गुरु गोविंद सिंह से उस हाथी को भी माँगा। किंतु गुरु ने उसके प्रस्ताव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

दुर्ग-निर्माण तथा संधि

गुरु गोविंद सिंह ने इसी समय के लगभग देहरादून से ३० मील की दूरी पर एक पौंटा नामक दुर्ग बनवाना आरंभ किया। इसी संबंध में इनके साथ देहरादून के रहनेवाले इनके चाचा रामराय से मित्रता भी हो गई। यहीं पर इन्हें किसी बुद्धूशाह नामक सैयद मुसलमान से भी परिचय हो गया और यह इनके द्वारा इतना प्रभावित हुआ कि वह इन्हें अपना गुरु तक मानने लगा। श्रीनगर के राजा फतेहशाह तक ने इनसे घनिष्ठता उत्पन्न कर ली और दोनों एक साथ कभी-कभी आखेट करने के लिए भी जाने लगे। तदनुसार गुरु गोविंद ने राजा फतेहशाह की पुत्री के विवाह के उपलक्ष में उसके निकट सवा लाख रुपये तथा कुछ बहुमूल्य रत्न भेजे। परन्तु भीमचंद ने जिसके पुत्र का विवाह होने जा रहा था, उक्त मैत्री को द्वेष की भावना के साथ देखा। उसके यहाँ इसने कहला भेजा कि मैं ऐसी स्थिति में वैसा संबंध करने पर किसी प्रकार तैयार नहीं। इस कारण राजा फतेहशाह ने गुरु गोविंद सिंह की भेंट को अस्वीकार कर दिया और लौटते हुए दूतों को मार्ग में घेर कर उनसे सभी वस्तुएँ छीन भी लीं। इसके अनंतर गुरु तथा पहाड़ी राजाओं के बीच शत्रुता के भाव स्पष्ट रूप में दीख पड़ने लगे और दोनों दलों में भगमानी के मैदान में एक युद्ध भी हुआ जिसमें राजा लोग हार गए। गुरु गोविंद इन दिनों अपने दुर्ग के निकट ही निवास करते थे। ये प्रतिदिन बहुत सवेरे उठा करते, स्नान कर लेते और तब यमुना नदी के किनारे-किनारे बड़ी दूर तक एकांत स्थान की खोज में टहलते हुए चले जाते। फिर ये कहीं बैठ जाते और कुछ घंटों तक काव्य-रचना में लगे रहते। ऐसे ही अवसरों पर इन्होंने श्रीकृष्ण के चरित से संबद्ध रासमंडल संबंधी कुछ रचनाएँ प्रस्तुत की थीं।

पुत्रोत्पत्ति

गुरु गोविंद सिंह को मिती माघ सुदी ४, संवत् १७४३ : सन् १६८७ ई०

को उनकी पत्नी सुंदरी के गर्भ से एक पुत्र हुआ जिसका नाम अजीत सिंह रखा गया। फिर इसी प्रकार इनकी दूसरी पत्नी जिता के गर्भ से एक दूसरा पुत्र जोरावर सिंह मिती चैत्र वदी ७ संवत् १७४७ को हुआ। इसी दूसरी पत्नी से ही मिती माघ सुदी १ संवत् १७५३ : सन् १६९७ ई० को एक तीसरे पुत्र जुझार सिंह की भी उत्पत्ति हुई जिसके लिए बधाई देने के उपलक्ष में बुंदेल-खंड के प्रसिद्ध कवि केशवदास के पुत्र कुँवर इनके यहाँ उपस्थित हुए। गुरु ने उन्हें अपने यहाँ दरबारी कवि के रूप में नियुक्त कर लिया। गुरु गोविन्द सिंह को अंत में एक चौथा पुत्र फतेह सिंह भी उसी जिता नामक पत्नी से मिती फाल्गुन वदी ११ संवत् १७५५ : सन् १६९९ ई० को उत्पन्न हुआ।

दुर्गा का आविर्भाव

इस घटना के लगभग किसी केशोदास ब्राह्मण ने गुरु गोविंद सिंह से आकर कहा कि मैं आपको दुर्गा देवी के दर्शन करा दूँगा और इसके लिए उसने इनसे बहुत-सी सामग्री भी एकत्र करायी। परन्तु निश्चित समय पर वह पंडित कहीं भाग गया, इस कारण गुरु ने कुल सामान लेकर होम-कुंड में डाल दिया। कुछ ही समय में एक भीषण ज्वाला के रूप में आग प्रज्वलित हो उठी। गुरु उसके प्रकाश में अपनी तलवार भाँजते हुए आनंदपुर की ओर बढ़े। उपस्थित जनता के समक्ष इन्होंने यह प्रकट किया कि उक्त चमकती हुई तलवार को इन्हें दुर्गादेवी ने ही भेंट की है। इसके अनंतर इन्होंने सभी सिक्खों को आनंदपुर में वैशाखी मेले के अवसर पर उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किया और आदेश दिया कि सभी बिना बाल बनाये ही आवें। इन्होंने एक ऊँची जगह पर कालीन बिछा दिया और निकट की कुछ जगह को कनात में घेर कर उसे वहाँ एकत्र होनेवाले लोगों की आँखों से ओझल कर दिया। फिर आधी रात को इनके आदेशानुसार एक सिक्ख ने जाकर उसके भीतर पाँच बकरे बाँध दिये। दूसरे दिन इन्होंने उपासना के अनंतर अपना कार्य आरंभ किया। पहले इन्होंने उसके बाहर खड़ा होकर उपस्थित जनता में से उसके भीतर बलिदान चढ़ने के लिए एक-एक करके आमंत्रित किया। बड़ी हिचकिचाहट तथा सोच-विचार के अनंतर इनके यहाँ लाहौर के दयाराम सिक्ख, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचंद, बीदर के साहिबचंद तथा जगन्नाथपुरी के हिम्मत ने जाना स्वीकार किया। उन्हें इन्होंने क्रमशः भीतर ले जाकर मार डाल देने का प्रदर्शन किया। प्रत्येक बार जब ये किसी एक को लेकर भीतर जाते, उसे वहीं बिठा देते और एक बकरे को मार कर उसके लहू में रंजित अपनी तलवार दिखलाते हुए बाहर निकल आते।

नवीन युग का सूत्रपात

इस प्रकार अंत में इन्होंने उपस्थित जनता के समक्ष आकर एक बहुत गंभीर भाषण दिया और बतलाया कि आज से एक नवीन युग का सूत्रपात और नवीन समाज का प्रादुर्भाव होता है जो लोग मेरी बातों का विश्वास करेंगे उनका भविष्य अवश्य उज्वल होगा।" इन्होने उक्त पाँचो व्यक्तियों का सबके सामने जीवित दशा में दिखला दिया और उन्हें उस दिन से 'पंच प्यारे' की संज्ञा दी गई। इन्होंने कहा कि आज से वर्ण-व्यवस्था नष्ट हो गई और अब से सभी सिक्ख एक समान भाई-भाई बनकर रहा करेंगे, किसी का किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं रहेगा। इन्होंने उक्त पाँचों सिक्खों को अपने हाथ से दीक्षित किया और उन लोगों ने भी इन्हें इसी प्रकार शुद्ध व खालिस बनाया। इस प्रकार 'खालसा-सम्प्रदाय' की नींव डाली गई। इन्होंने यह भी कहा कि पूर्वकाल में गुरु नानकदेव के लिए केवल एक अंगद थे, किंतु मेरे साथ इस समय पाँच प्यारे वर्तमान हैं। दीक्षा के लिए इन्होंने एक बड़े कड़ाह में कुछ पानी भर कर उसे पहले अपनी तलवार से चलाया और फिर उनकी नोक से पानी को लेकर उक्त पाँच सिक्खों के शरीर पर छिड़क दिया। इनकी पत्नी जिता ने उक्त पानी में कुछ बताशे भी लाकर डाल दिये थे जिससे वह शर्बत अथवा 'अमृत' बन गया और दीक्षा के कार्य में स्त्री पुरुष दोनों के सहयोग का आरंभ भी हुआ। कहा जाता है कि जब कड़ाह के कुछ पानी को दो गौरैयों ने पिया, तब वे पीते ही आवेश में आकर लड़ने लगे। गुरु गोविंद सिंह ने दीक्षित खालसा-पंथियों को उस दिन से कटार, कंघा, कच्छ, केश तथा कड़ा के धारण करने का आदेश दिया। 'वाह गुरुजी का खालसा' तथा 'वाह गुरुजी की फतेह' के मंत्रों को महामंत्र बतलाया। इन्होंने आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित करते समय खालसा-पंथियों को इस बात की ओर विशेष ध्यान रखने के लिए कहा कि 'कहीं भूल से भी तुम लोगों के साथी प्रिथीचंद, धीरमल, रामराय अथवा मंसदों के कुलों से किसी प्रकार का संपर्क न होने पावे। उक्त प्रथम दीक्षा बैशाख बदी १, सं० १७५६ को हुई और उसके स्थान को अब किशनगढ़ कहा जाता है।

विकट संग्राम

पहाड़ी राजाओं ने बादशाह के निकट जाकर इस बात की शिकायत की कि सिक्खों ने इस्लाम के विरुद्ध कार्य करना आरंभ कर दिया है। इस कारण उनके दमन के लिए कई यत्न किये गए। दोनों दलों में अनेक वार संघर्ष हुए जिनमें सिक्ख अपने को बड़ी वीरता के साथ बचाते गए। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती कि ये एक ओर मुग़लों की फौज तथा दूसरी ओर पहाड़ी सेना

के मध्य में पड़ जाते और इनके लिए अपने को बचा लेना बहुत कठिन हो जाता। ऐसे ही अवसरों पर एक व्यक्ति बड़े निष्पक्ष भाव से दोनों दलों के सिपाहियों को पानी भर कर पिलाता रहा। उसका नाम कन्हैया था जिसके अनुयायी इस समय 'सेवापंथी' के नाम से विख्यात हैं। वे बड़ी लगन तथा सचाई के साथ परिश्रम करते तथा लोक-सेवा में निरत रहते हैं। जब मुग़लों ने आनंदपुर को चारों ओर से घेर लिया और इनके अनुयायियों का आना-जाना बंद हो गया, तब शत्रुओं को तंग करने के लिए इन्होंने एक विचित्र उपाय निकाला। इन्होंने उन्हें कहला भेजा कि हम नगर से निकल भागना चाहते हैं, किंतु अपने आवश्यक सामान ले जाने के लिए हमें कुछ लदुवे बैल दे दिये जायँ। नगर पर शीघ्र अधिकार जमाने के लालच में आकर शत्रु-दल ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सुरक्षित निकल जाने देने के लिए शपथ भी ली। परन्तु गुरु गोविंद सिंह ने उक्त बैलों पर नगर के पुराने चिथड़े, जूते, हड्डियाँ, फूटे बर्तन, घोड़े की लीद आदि जैसी वस्तुएँ लदवा दीं और दिखलाने के लिए उनके बोरों के ऊपर कुछ कामदार कपड़े रखवा कर बैलों के सींगों में मशाले बँधवा दीं। शत्रु-सेना के सिपाहियों ने जब उन बैलों को देखा, तब समझा कि बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ लद कर जा रही हैं। इसीलिए उन्होंने पहले शपथ ले चुकने पर भी माल को लूटने के निमित्त आक्रमण किया। गुरु गोविंद सिंह के आदमियों ने ऐसा अच्छा अवसर पाकर उन पर तीर और गोलियों की बौछार आरंभ कर दी जिससे बहुत-से मार डाले गए।

निष्क्रमण

परन्तु, फिर भी गुरु गोविंद सिंह ने वहाँ और अधिक काल तक रह कर सबको कष्ट में डाले रहना उचित नहीं समझा। इन्होंने अपनी कुछ वस्तुओं में आग लगा दी और कुछ को वहीं भूमि में गाड़ कर केवल थोड़ा-सा ही सामान लेकर वहाँ से निकल पड़े। हड़बड़ी के कारण इनके दो छोटे-छोटे बच्चों के संरक्षण का उचित प्रबंध न हो सका और वे अपनी माता के साथ किसी लालची तथा दुष्ट ब्राह्मण के हाथ में पड़ गए। उस नीच ने उन्हें अपने यहाँ ठहराया, किंतु चोरी से उनका रहा-सहा द्रव्य अपहरण कर लिया। उनके संदेह करने पर दंड दिलाने के व्याज से उन्हें अपने निकट के चौधुरी को सौंप दिया, जिसने क्रमशः सरहिंद के शासक वजीर खाँ के यहाँ तक पहुँचा दिया। उक्त दोनों बच्चों अर्थात् जुझार सिंह तथा फतेह सिंह की अवस्था क्रमशः केवल ६ और ७ वर्ष की थी। इस्लाम-धर्म स्वीकार न करने पर वे मिती बदी १३, संवत् १७६२ : सन् १७०५ ई० को दीवार के भीतर चुन दिये गए।

गुरु गोविंद के शेष दो बड़े लड़के अजीत सिंह तथा जोरावर सिंह को भी भागते समय मार्ग में ही लड़ कर अपने प्राण देने पड़े और गुरु ने दीना नामक स्थान में पहुँच कर औरंगजेब के पास इसी समय अपनी एक रचना 'जफ़रनामा' फ़ारसी भाषा में लिख कर भेजी थी।

गुरु और बहादुर शाह

इसके अनंतर औरंगजेब बादशाह का देहांत हो गया और उसके पुत्रों में राज-गद्दी के लिए लड़ाई छिड़ गई। अंत में जब बहादुरशाह विजयी हुआ, तब उसने इस बात की सूचना गुरु गोविंद सिंह को भी दी और इनकी मित्रता तथा आशीर्वाद के लिए अनुरोध करते हुए इन्हें आगरा आने के लिए भी लिखा। तदनुसार गुरु देहली होते हुए आगरा पहुँचे और दोनों में बड़े सौहार्द के साथ बातचीत हुई। वहाँ से वे दोनों जयपुर, चित्तौर तथा बुरहानपुर आदि स्थानों में साथ-साथ गये और कहीं भी उनके सद्भाव में कोई अंतर आता दिखायी नहीं पड़ा। जिस समय बहादुरशाह राजस्थान में ही था, गुरु गोविंद सिंह वहाँ से गोदावरी नदी के किनारे नादेड़ चले गए और वहाँ के लोगों से भी इनका परिचय हो गया। ऐसे ही व्यक्तियों में एक वैरागी साधु भी था जिसने इनसे प्रभावित हो जाने के कारण इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली और वह 'खालसा-सम्प्रदाय' का एक प्रमुख सदस्य बन गया। यही साधु आगे चल कर 'बंदा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसने गुरु के आदेशानुसार मुसलमानों से उनके कुकृत्यों का पूरा बदला लिया।

अंतिम समय

गुरु गोविंद सिंह जिस समय वहाँ पर ठहरे थे, तभी एक बार इनके कतिपय धार्मिक उपदेशों से चिढ़ कर किसी पठान ने इनके पेट में सोते समय कटार चुभो दी जिससे बहुत बड़ा घाव हो गया। पठान को तो इन्होंने वहीं पर अपनी तलवार उठा कर मार डाला, किंतु घाव के कारण इन्हें कुछ कष्ट भोगना पड़ा। बहादुर-शाह ने इस समाचार को पाकर कई निपुण डाक्टर तथा जर्राह घाव को अच्छा करने के लिए भेजे और शीघ्र ही वह बहुत कुछ भर भी गया था। परन्तु एक दिन जब ये किसी बड़े धनुष की प्रत्यंचा खींच रहे थे, तब घाव का टाँका अचानक टूट गया और उससे रक्त की धार बह निकली। यही घटना इनके लिए प्राण-घातक सिद्ध हुई। जब इन्होंने अपना अंत निकट आया समझा, तब अपने वीर वेश में सुसज्जित हो गए, कंधे पर धनुष रख लिया और हाथ में बंदूक ले ली। इन्होंने 'आदिग्रंथ' को खोल कर उसे अपने सामने रखा और पाँच पैसे तथा एक नारियल उसके निकट रख कर उसके सम्मुख अपना सिर झुकाया और वे

उसे ही अपना उत्तराधिकारी छोड़ कर चल बसे।

गुरु गोविंद सिंह का देहांत मिती कार्त्तिक सुदी ५, संवत् १७६५ : सन् १७०८ ई० में हुआ। नादेड़ जहाँ पर ये मरे थे, अब अविचल नगर के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी मृत्यु के स्मारक रूप में महाराजा रणजीत सिंह ने यहाँ पर १८३२ ई० में कुछ इमारतें भी बनवा दी हैं।

गुरुग्रंथ साहब

जिस समय गुरु गोविंद सिंह आनंदपुर को छोड़ कर अपने अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर बढ़ते जा रहे थे, उसी समय इन्होंने दमदमा स्थान पर आदि ग्रंथ का पूरा पाठ भाई मनी सिंह को बिठला कर लिखवाया था। उसमें पहले-पहल गुरु तेग़बहादुर की कुछ रचनाएँ भी सम्मिलित करा दी थीं। इन्होंने अपनी रचनाओं में से केवल एक सलोक-मात्र को उसमें स्थान दिया।[1] इसके पहले 'आदिग्रंथ' के दो संस्करण (वीड़) भाई गुरुदास तथा भाई बन्नो द्वारा पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके थे जो आज भी क्रमशः कर्तारपुर, जिला जलंधर तथा मांगर जिला गुजरात में वर्तमान समझे जाते हैं। भाई मनी सिंह वाला उक्त दमदमा वाला तीसरा संस्करण संभवतः सबसे अधिक पूर्वरूप में था, किंतु वह अब नहीं मिलता। कहा जाता है कि उसे या तो अहमदशाह अब्दाली ने नष्ट कर दिया अथवा वह उसे अपने यहाँ उठा कर ले गया। गुरु गोविंद सिंह की रचनाओं का संग्रह 'दसवाँ पातसाह का ग्रंथ' के नाम से प्रसिद्ध है जिसे भाई मनी सिंह ने ही सन् १७३४ ई० में तैयार किया था। भाई मनी सिंह एक बहुत योग्य व्यक्ति थे और इन्हे गुरु गोविंद सिंह के परिवार के प्रति अत्यंत गहरी निष्ठा थी। इन्होंने 'जपुजी' 'असादी वार' तथा 'सिधगोष्ठ' पर टीकाएँ लिखीं। 'ज्ञान रत्नावली' तथा 'भगत रत्नावली' नामक दो अन्य सुंदर पुस्तकों की रचना भी की। इन्हें अंत में, काज़ियों के फ़तवे के अनुसार लाहोर में बोटी-बोटी काट कर मार डाला गया।[2] 'दसम ग्रंथ' के अंतर्गत गुरु गोविंद सिंह की अपनी रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कृतियाँ हैं जिन्हें इनके दरबारी कवियों ने लिखा था। गुरु गोविंद सिंह ने इन कवियों से कई

---

१. डॉ० ट्रम्प, मेकालिफ, तेजा सिंह और गंडा सिंह-जैसे कुछ लेखक उनका यह 'दोहरा' मानते हैं :

"बकु होआ बंधन छुटै, सम किछु होत उपाइ।

नानक सभ किछु तुमरैं हाथ में, तुमही होत सहाइ", ग्रं० सा०, पृ० १४२६।

२. दे० The missionary. Delhi, Vol. II No. 8, 24.

संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद भी कराये थे जिनमें 'महाभारत', 'रामायण' तथा 'सप्तशती' मुख्य हैं। ऐसी रचनाओं की संख्या पहले बहुत बड़ी थी और एक बार जब इन कुल को तौला गया था, तब इनका वजन ढाई हंडरवेट (लगभग ३ मन १५ सेर) तक पहुँचा था। इस वृहद् संग्रह का नाम इन्होंने 'विद्याधर' रखा था जिसे ये सदा अपने साथ लिये रहते थे। कहा जाता है कि इनके आनंदपुर छोड़ कर जाते समय इसका एक बहुत बड़ा अंश किसी नदी के प्रवाह में बह कर नष्ट हो गया।

योग्यता

गुरु गोविंद सिंह शास्त्र तथा शस्त्र-विद्या दोनों मे ही निपुण थे और ये गुणियों का अपने यहाँ सम्मान करना भी जानते थे। इन्होंने अपने दरबार में ५२ कवियों को आश्रय दिया था। संस्कृत-ग्रंथों का शुद्ध तथा सुदर अनुवाद कराने की इच्छा से इन्होंने पाँच व्यक्तियों को काशी में पूर्णरूप से शिक्षित हो आने के लिए भेजा था। इन्होंने अपना नाम गोविंद राय से बदल कर गोविंद सिंह रखा और आगे के लिए सभी सिक्खों को भी यही उपाधि धारण करने की अनुमति दी। ये एक दृढ़ संकल्पवाले धर्मगुरु, नीतिपरायण नेता तथा साहसी शूरवीर होने के अतिरिक्त प्रवीण कवि भी थे। इनके 'दसम ग्रंथ' में १३ ग्रंथ आते हैं जिनमें से इन्होंने अपनी रचना 'विचित्र नाटक' के अंतर्गत अपने पूर्वजन्म का इतिवृत्त संगृहीत किया है और अन्य कई रचनाओं द्वारा भी अपने अनुयायियों को अधिक साहसी तथा उन्नतिशील बनाने की चेष्टा की है। गुरु-परंपरा का अंत कर उसके स्थान पर 'ग्रंथ साहिब' को ही गुरुवत् मानने का आदेश इनके धार्मिक सुधारों में से एक था।[1] वास्तव में गुरु और उसके 'वचन' को एक और अभिन्न मानने की प्रवृत्ति पहले से ही लक्षित होती आ रही थी।[2] इसी प्रकार दूसरा सुधार मंसदों की तैनाती को भी सदा के लिए बंद कर देना था। उक्त दोनों कार्यो के कारण पारस्परिक कलह, विद्वेप तथा धन-लोलुपता का सिक्खों में बहुत कुछ मार्जन हो गया। इनकी महानता के कारण वीर बुद्धशाह-जैसे कुछ मुस्लिम फ़कीर तक इनके समर्थक और अनुयायी तक बन गए थे।

---

१. आज्ञा भई अकाल की, तभी चलायो पंथ।
सब सिक्खन को हुक्म है, गुरु मानियो ग्रंथ॥
गुरु ग्रंथजी मानियो, प्रकट गुराँ की देह।
जो प्रभु को मिलनै चहै, खोज शब्द में वेह॥

२. दे० 'सतिगुरु वचन वचन है, सतिगुरु पाधरु मुकति जनावैगो' आदि, आदिग्रंथ।

(१२) वीर बंदा बहादुर

प्रतिशोध के प्रतीक

गुरु नानकदेव से जो सिक्ख गुरुओं की परंपरा चली थी, वह दसवें गुरु गोविंद सिंह की आज्ञा से उनके अनंतर समाप्त हो गई। उनके पीछे किसी व्यक्ति-विशेष को गुरु न मान कर केवल 'ग्रंथसाहिब' अथवा अब से 'गुरुग्रंथ साहिब' द्वारा निर्दिष्ट बातों का अनुसरण करने की ही परिपाटी चल निकली। परन्तु गुरु गोविंद की मृत्यु के समय देश की दशा ऐसी विचित्र हो गई थी कि सिक्खों के लिए अपने धर्म का समुचित पालन करना अत्यंत कठिन था। मुसलमानों के विरुद्ध उनके भाव क्रमशः इस प्रकार द्वेष तथा शत्रुता से भरते गए थे कि ये उनसे प्रतिशोध के लिए निरंतर चेष्टा करते रहे। वीर बंदा बहादुर इसी प्रतिशोध की भावना के प्रतीक थे। इन्होंने अपने शौर्य तथा साहस द्वारा मुसलमानों के प्रति 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' वाले कथन को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर दिया।

प्रारंभिक जीवन

वीर बंदा का पूर्व नाम लक्ष्मणदेव था। इनका जन्म मिती कार्त्तिक शुक्ल १३, संवत् १७२७ : सन् १६७० ई० को पुणश (पंच) नामक पहाड़ी इलाके के अंतर्गत राजोरी नाम के नगर में एक कश्मीरी खत्री (अथवा डोगरा क्षत्रिय) के घर हुआ था। ये अपनी छोटी उम्र से ही अत्यंत चंचल तथा साहसी प्रकृति के थे। ये अधिकतर घोड़े की सवारी करते, आखेट के लिए जंगलों में चले जाते तथा दूसरों को तंग कर उन्हें कष्ट पहुँचाने का यत्न किया करते। एक दिन इन्होंने बिना जाने ही किसी गर्भवती हरिणी को अपने तीर से मार डाला। जब उसका पेट फाड़ा गया, तब उसमें से दो जीवित बच्चे निकल आए, जो शीघ्र ही तड़प-तड़प कर मर गए। इस घटना का लक्ष्मणदेव पर इतना प्रभाव पड़ा कि ये अपना घर-बार छोड़ कर किसी जानकी प्रसाद नामक वैरागी साधु के शिष्य 'लक्ष्मणदास' बन गए। फिर ये लाहोर प्रांत के कुसूर नामक स्थान में गये और वहाँ किसी अन्य वैरागी की शिष्यता स्वीकार कर नारायण दास हो गए तथा उसके साथ इन्होंने देश-पर्यटन आरंभ कर दिया। ये क्रमशः दक्षिण की ओर नासिक से बढ़ते हुए पंचवटी के जंगलों तक चले गये, जहाँ कुछ दिनों तक तपश्चर्या कर लेने के अनंतर इन्होंने किसी औघड़ से योग तथा तंत्र-मंत्र भी सीखा। अंत में ये वहाँ से वर्तमान हैदराबाद के अंतर्गत नादेड़ नामक स्थान में जाकर गोदावरी नदी के किनारे एक कुटी में रहने लगे और वहाँ इनके कई शिष्य भी हो गए। यहाँ पर इनका नाम भी 'माधवदास' पड़ गया और

उसी दशा में इनसे गुरु गोविंद के साथ सं० १७६४ ई० के सावन महीने में भेंट हुई तथा ये उनके शिष्य बन गए। गुरुगोविंद सिंह ने इन्हें खालसा बना कर इनका नाम गुरु बख्श सिंह रख दिया था, किंतु आगे चल कर ये केवल 'बंदा' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

दसवें गुरु की आज्ञा

अन्य उपदेशों के साथ-साथ गुरु गोविंद सिंह ने इन्हें यह भी आदेश दिया था कि तुम अब से कभी मिथ्या भाषण न करना, जितेन्द्रिय बन कर रहना, अपना भिन्न मत खड़ा न करना, किसी सिक्ख समुदाय पर कभी अपनी हुकूमत चलाने की चेष्टा न करना, न कभी किसी गुरुद्वारे के सामने अपनी गद्दी लगा कर बैठना। तुम आज से अपना यही एकमात्र कर्त्तव्य समझना कि मुसलमान जाति और दिल्ली बादशाह के क्रूर कर्मचारियों से उनके कुकृत्यों का बदला लेना परमावश्यक है और जैसे भी हो वैसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करके ही छोड़ना। इसलिए वीर बंदा उनकी आज्ञा पाकर वहाँ से उत्तर की ओर गुरु गोविंद के दिये हुए पाँच तीर, एक तलवार तथा पचीस उत्साही सिक्खों को अपने साथ लेकर आगे बढ़े और इन्होंने संगठन-कार्य आरंभ कर दिया। ये क्रमशः बुंदेलखंड, भरतपुर आदि होते हुए सायाना पहुँचे और उस पर चढ़ाई करके वहाँ के मुसलमानों को लूट लिया। फिर अन्य कई स्थानों पर भी मारकाट करते हुए इन्होंने मुसलमानों के कई अड्डों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये जहाँ भी अपने अनुयायी सिक्खों के साथ धावा बोल देते, एक खलबली-सी मच जाती और मुसलमान कर्मचारी तथा नवाब आदि वहाँ से भाग खड़े होते। ये लूट के माल को अपने सिपाहियों में बाँट देते थे। गुरु गोविंद सिंह के परिवार तथा उनके किसी भी अनुयायी के प्रति नीचता का बर्त्ताव कर चुकनेवाले व्यक्ति से पूरा बदला लेकर उसे नष्ट तक कर डालते। इस प्रकार इन्हें मुग़ल सेना के विरुद्ध भी अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और ये अनेक बार सफल होते गए।

उसका उल्लंघन

अतएव इनके पराक्रम के कारण पहले सारे सिक्ख तथा हिन्दू इनकी सहायता के लिए एक साथ जुट जाते रहे। परन्तु जब इनकी प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गई और इनके शौर्य का प्रताप का सूर्य मध्यान्ह की दशा में पहुँच गया, तब इनके विचारों में क्रमशः अभिमान तथा प्रभुत्व की भावना भी आने लगी। इन्होंने अब गुरु गोविंद सिंह के दिये गए उपदेशों का अक्षरशः पालन करना कदाचित् उतना आवश्यक नहीं समझा। इन्होंने संभवतः पहाड़ी राजा मंडी-नरेश की एक सुंदर लड़की से अपना विवाह कर लिया जिससे ६ आषाढ़ सं० १७६६ को इन्हें एक पुत्र भी

२६

उत्पन्न हुआ। फिर क्रमशः इन्होंने अमृत बना कर दीक्षा देने की प्रथा की जगह अपना चरणोदक छिड़क और पिला कर शिष्य बनाने का नियम निकाला। 'वाह गुरु की फतेह' के स्थान पर 'बंदा की दर्शनी फतेह' कहलाना भी आरंभ कर दिया। अंत में संवत् १७७४ की बैशाखी संक्रांतिवाले मेले के अवसर पर ये अपने शिर पर कलँगी सजा कर हरमंदर के भीतर गद्दी पर जा बैठे। इस बात को देख कर अमृतसर के सिक्खों को बड़ा क्रोध हुआ और बाबा काहना सिंह आदि कुछ लोगों ने आपस में मिल कर इन्हें वहाँ से शीघ्र हटा दिया। तब से सिक्खों के दो दल उत्पन्न हो गए जिनमें से बंदा के विरोधियों ने अपने को 'तत्त्व-खालसा' अथवा वास्तविक खालसा कहना आरंभ कर दिया।

पतन तथा प्राणदंड

आगे चल कर इस बात का परिणाम इतना बुरा हुआ कि दिल्ली के बादशाह ने अपने शत्रुओं के पारस्परिक विरोध से लाभ उठा करउन में अधिक-से-अधिक फूट डालने तथा उन्हें अपनी ओर अधिक-से-अधिक संख्या में आकृष्ट करने के यत्न किये। वीर बंदा की उन्नति इसके आगे रुकने लगी और उस समय के अनंतर होनेवाली लड़ाइयों में अब इनकी पराजय बहुत बार होने लगी। अंत में गुरुदासपुर के किले से चार महीनों तक लड़ कर सिक्ख लोग बुरे ढंग से पराजित हो गए। सं० १७७६ में अब्दुल समद खाँ तौरानी ने वीर बंदा को पकड़ कर इन्हें फर्रुखसियर बादशाह के यहाँ दिल्ली पहुँचा दिया। यहाँ पर ये एक लोहे के पिंजड़े में रखे गए और इन्हें बड़ी क्रूरता तथा बर्बरता के साथ कष्ट पहुँचाया गया। गर्म लोहे के मोचनों से बड़ी निर्दयता के साथ इनकी खाल शरीर से खींची गई और बराबर उस पर आघात भी पहुँचाया जाता रहा जिससे इनकी मृत्यु हो गई। इनके अनुयायियों को भी तलवार से कत्ल कर दिया गया और उनके धड़ों को प्रदर्शनार्थ नगर की भिन्न-भिन्न गलियों तक में घुमाया गया। वीर बंदा के बचे हुए अनुयायी आगे बंदई खालसा कहलाये।

(१३) सिक्ख-धर्म तथा खालसा-सम्प्रदाय

सिक्ख गुरुओं का कार्य

गुरु नानकदेव द्वारा प्रचलित किये गए सिक्ख-धर्म के कुल दस गुरुओं का जीवन-चरित्र अध्ययन कर लेने पर पता चलेगा कि उनको अपने-अपने जीवन में प्रायः निरंतर किसी-न-किसी प्रकार के विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा था। उन्हें न केवल अपने भीतरी अथवा निजी संबंधियों के कलह तथा ईर्ष्या के प्रभावों से अपने को बचाना पड़ता था, अपितु बाहरी शत्रुओं के भय से भी सुरक्षित रखना आवश्यक था। गुरु नानकदेव से लेकर गुरु रामदास के समय

तक अधिकतर उन्हें अपने लोगों के ही असंतोष तथा मनोमालिन्य के कारण संभल कर चलना पड़ा, किंतु गुरु अर्जुनदेव के अंतिम समय से लेकर गुरु गोविंद सिंह के पीछे तक उन्हें मुसलमानी शासन का कटुतापूर्ण अनुभव भी सदा होता गया। इसी कारण सिक्ख गुरुओं के जीवन में गुरु अर्जनदेव के समय तक पूर्ण संतों-जैसी शांति, सद्भावना तथा सहनशीलता के ही गुण लक्षित होते हैं, किंतु गुरु हरगोविंद के आविर्भाव-काल से उग्रम वीर-भाव, वैमनस्य तथा प्रतिशोध की भावना भी दृष्टिगोचर होने लगती है। इस दूसरे युग में राजनीतिक परिस्थिति ने तत्कालीन सिक्ख गुरुओं के ऊपर अपना प्रभाव इतने उग्र रूप मे डाला कि उन्हें बाध्य होकर अपने कार्यक्रम के अंतर्गत वाह्य बातें भी मिला लेनी पड़ीं। परिणामस्वरूप सांसारिक विषमताओं के बीच समन्वय का संदेश लाकर उन्हें पूर्णतः दूर करने की चेष्टा करनेवाला आदि गुरु नानकदेव का धार्मिक सिक्ख-सम्प्रदाय क्रमशः भिन्न-भिन्न प्रभावों द्वारा गढ़ा जाता हुआ अंत में गुरु गोविंद सिंह के नेतृत्व में आकर 'खालसा-सम्प्रदाय' के रूप में परिणत हो चला और आत्म-रक्षा, सुव्यवस्था तथा संगठन की भावनाओं ने उसे 'सिक्ख जाति' तक का एक पृथक् रूप दे डाला।

सिक्ख-धर्म का व्यावहारिक रूप

फिर भी, यदि हम सिक्ख-धर्म के मूल रूप तथा मौलिक सिद्धांतों पर कुछ ध्यान पूर्वक विचार करें, तो स्पष्ट हो जायगा कि उक्त बाहरी विभिन्नताओं के रहते हुए भी उसके भीतर किसी प्रकार की विशृंखलता नहीं आने पायी है, न उसमें कोई वैसा परिवर्तन ही हुआ है। 'सिक्ख-धर्म' कोरा सैद्धांतिक वा आदर्शवादी मत कभी नहीं रहा, न ऐसा होने पर वह कभी संत-मत के अंतर्गत समझा ही जा सकता था। आरंभ से ही यह दार्शनिकों काम तवाद न होकर सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत किया गया एक शुद्ध व्यावहारिक धर्म रहा जिसका पूर्ण अनुसरण समाज में रह कर ही किया जा सकता था। इसी कारण इसके गुरुओं ने सांसारिक जनता के बीच में रहते हुए ही अपने उपदेश दिये और साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन का आदर्श भी सबके सामने रखा। इस धर्म ने सबसे अधिक ध्यान चरित्र-बल के निर्माण की ओर दिया जिससे मुक्त होकर व्यक्ति समाज के भीतर अपने कर्तव्यों का पालन समुचित रीति से कर सके। गुरु नानक देवका वर्ण-व्यवस्था के दूर करने का मुख्य उद्देश्य भी यही था कि व्यक्ति का पूर्ण विकास संकुचित सीमाओं को हटा कर कराना है। इस धर्म के अनुसार आदर्श व्यक्ति वही हो सकता है जिसमें ब्राह्मणों की आध्यात्मिकता, क्षत्रियों की आत्मरक्षा-भावना, वैश्यों की व्यवहार-कुशलता तथा शूद्रों की लोक-सेवा एक साथ वर्तमान हो।

इसी कारण जो आत्म-चिंतन से लेकर कठिन-से-कठिन सांसारिक उलझनों तक में एक समान अविचलित तथा निर्द्वंद्व रह सके। सिक्ख गुरुओं ने सदा इसी एक बात को लक्ष्य में रख कर अपने-अपने जीवन-काल में सब कार्य किये और उन्हें उचित रूप से संपन्न करने की चेष्टा की। उनकी गुरु-परंपरा गुरु गोविंद से आगे लुप्त हो गई। किंतु उनकी वाणियाँ उनके प्रतीक बन कर आज भी वर्तमान हैं और उनके आदर्श व्यक्तित्व को सुरक्षित रख रही हैं। सिक्ख गुरुओं के संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात एक यह भी है कि गुरु नानकदेव की गद्दी पर बैठनेवाले किसी भी गुरु ने अपने को उनसे भिन्न नहीं माना। उस स्थिति में वे सदा अपने को 'नानक' समझते रहे और अपनी रचनाओं तक में उन्होंने अपने को नानक ही बतलाया। इसी कारण गुरु नानकदेव के पीछे आनेवाले शेष नव गुरु एक दीपक से जलाये गए अन्य नव दीपकों की भाँति अपने आदि-गुरु के पूर्ण प्रतिरूप समझे जा सकते हैं। उनके संगठित तथा सुरक्षित सद्वचन मणियों की माला में भी इसी भाँति उस एक ही भावना का सूत्र अनुस्यूत माना जायगा जिससे कभी गुरु नानकदेव ने पहले-पहल प्रेरणा प्राप्त की थी।

गुरु नानक हिन्दू मुसलमान वा नितांत भिन्न

गुरु नानकदेव के मत का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करते समय कुछ लोग इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि उन्हें हिन्दू, मुसलमान अथवा किसी अन्य तीसरे धर्म का अनुयायी मान लेना परमावश्यक है। इस कारण वे 'सिक्ख-धर्म' के मूल आधार को पहचान पाने में बहुधा भूल कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'ग्रंथ साहब' के अनुवाद की भूमिका में ट्रम्प साहब ने गुरु नानकदेव को उनके विचारों के कारण एक पूर्ण हिन्दू ठहराया था। इन्होंने कहा था कि उनमें दीख पड़नेवाले मुस्लिम प्रभाव उस सूफ़ी-मत के अनुरूप हैं जो मूलतः हिन्दू सर्वात्मवाद से ही अनुप्राणित कहा जा सकता है।[1] किंतु सिक्ख-धर्म के विषय में अपना निबंध लिखनेवाले फ्रेडरिक पिंकट ने इसके विरुद्ध बतलाया कि वास्तव में वे इस्लाम धर्मावलंबी थे। इस बात के प्रमाण में उन्होंने उनकी वेश-भूषा तथा रहन-सहन के ढंग तक के हवाले देकर अपने मत की पुष्टि करनी चाही।[2] इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे पश्चिमी विद्वान् मेकालिफ ने भी इसी प्रकार उन्हें एक नितांत भिन्न मत का प्रचारक माना और अपने 'सिक्ख रिलिजन' ग्रंथ की भूमिका में इस बात का पूरा समर्थन किया।[3] उक्त

१. डॉ० ट्रम्प : दि आदिग्रंथ, इंट्रोडक्शन, पृ० ६७-११८।

२. फ्रेडरिक पिंकट : दि डिक्शनरी ऑफ इस्लाम।

३. एम० ए० मेकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भा० २।

तीनों लेखों ने सिक्ख-धर्म का अध्ययन अपने-अपने ढंग से अच्छा किया था और उसके रहस्यों को समझने के उन्होंने यत्न भी किये थे। किंतु प्रचलित प्रथा का अनुसरण करने के लिए विवश होकर उन्होंने गुरु नानकदेव तथाउन के अनुयायियों को किसी धर्म-विशेष के घेरे में ही डाल रखना कदाचित् आवश्यक समझा। तदनुसार उनसे भी हठात् वैसी ही भूल हो गई, जैसी हमने कबीर साहब के विषय में लिखनेवाले कई विद्वानों की रचनाओं में देखी है।

हिन्दू-वातावरण तथा परिस्थिति

गुरु नानकदेव एक हिन्दू परिवार में उत्पन्न हुए थे और उसी वातावरण में उनका भरण-पोषण भी हुआ था। उनके जीवन-काल में मुसलमानों के आक्रमण होते जा रहे थे और देश के भिन्न-भिन्न भागों में बसते हुए वे हिन्दू-जनता के विचारों तथा आचरणों पर किसी-न-किसी प्रकार अपना प्रभाव भी डालते जा रहे थे। इसका दिग्दर्शन स्वयं गुरु नानकदेव की कुछ पंक्तियों द्वारा कराया जा सकता है, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर लिखी थीं। एक स्थल पर वे कहते हैं कि "हिन्दुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नहीं मानता, अपितु अपनी ही बड़ाई में लगा हुआ रहता है। उनके कान तथा हृदय सदा तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं द्वारा भरता जा रहे हैं और मुसलमान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निंदा करके लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे हैं। वे समझते हैं कि रसोई के लिए चौका लगा लेने मात्र से ही हम पवित्र बन जायँगे।"[1] इसी प्रकार वे अन्यत्र मुसलमानी शासन में काम करनेवाले हिन्दू कर उगाहनेवाले को लक्ष्य करके कहते हैं कि "गौ तथा ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और धोती, टीका तथा माला-जैसी वस्तुएँ धारण किये रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-देकर तुर्कों के साथ संबंध बनाये रहते हो। अरे, ये पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते? अपनी मुक्ति के लिए नाम-स्मरण को क्यों नहीं अपनाते?"[2] ये बातें देख कर गुरु नानकदेव को मार्मिक कष्ट होता था और वे उक्त प्रकार की विडंबना के कारण तिलमिला उठते थे। उनकी समझ में यह बात नहीं आती थी कि किसी एक धर्म के प्रति अपनी पूरी आस्था का दम भरनेवाले उसके विपरीत धर्म की आड़ क्यों लेते हैं। उन्हें उस समय के हिन्दुओं के धर्म-भ्रष्ट होने का उतना दुःख न था, जितना उनके नैतिक पतन के कारण था। इस प्रकार जब बाबर के समय सं० १५८३ में पंजाब के सैयदपुर नगर पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और देश

---

१. आदिग्रंथ, तरन तारन संस्करण, पृ० ३१८।

२. वही, पृ० २५५।

की जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये गए तब गुरु नानकदेव का कोमल हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने उन मारी यातनाओं का कारण परमेश्वर की इच्छा को ही समझा था और कहा था कि उसी ने हम पर मुगलों को यमराज बना कर भेजा है।"[1] गुरु नानकदेव के इन शब्दों में भी केवल हिन्दुओं के प्रति किये गए अत्याचारों के कारण उत्पन्न हुआ कोरा क्षोभ मात्र ही नहीं है, अपितु इनमें निरीह मानवता के विरुद्ध प्रदर्शित नृशसता तथा क्रूरता के कारण विचलित हुए हृदय की करुणा का उद्रेक भी स्पष्ट लक्षित होता है। उस समय जब ये सैदयपुर की लड़ाई के अवसर पर पकड़े गए थे, तब वहाँ भी उन्होंने बाबर के प्रति जो कुछ कहा था वह किसी हिन्दू होने के ही नाते नहीं कहा था, प्रत्युत एक देश-प्रेमी तथा मानव-हितैषी व्यक्ति के रूप में ही कहा था।

भ्रांति का मूल कारण

गुरु नानकदेव के प्रारंभिक जीवन का परिचय देते हुए बतलाया जा चुका है कि उन्हें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही धर्मों की शिक्षा मिली थी। अपने निवास-स्थान के निकटवर्ती जंगलों में जाकर अनेक बार उन्होंने आत्म-चिंतन तथा साधु-सत्संग भी किया था। इस प्रकार अपनी समसामयिक परिस्थिति पर कुछ तटस्थ भाव से विचार करने का भी उन्हें कभी-न-कभी समय मिल चुका था। उन्हें अपने जीवन के प्रारंभिक काल से ही क्रमशः इस बात का बोध होने लगा था कि धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत जो कुछ भी द्वेष वा पाखंड की भावनाएँ दीख पड़ती हैं, वे किसी धर्म-विशेष का अनुसरण करने से ही नहीं, किंतु उसके मौलिक उद्देश्यों के न समझ सकने के कारण उठा करती हैं। अतएव संसार में दिन-प्रति-दिन लक्षित होनेवाले धार्मिक झगड़ों अथवा पारस्परिक भेदभावों को दूर कर पूर्ण शांति स्थापित करने का एकमात्र उपाय मनुष्यों की उस समझ को ही सुधारना है। सर्व-प्रथम उन्हें यह बतला देना है कि कोई भी धर्म किसी व्यापक उद्देश्य को ही लेकर पहले चला करता है। वह कुछ दिनों तक वैसे ही ढंग से प्रचलित भी होता आता है, किंतु जब अधिक दिन व्यतीत होने लगते हैं और उसका मुख्य उद्देश्य क्रमशः विस्मृत हो जाता है, तब उसकी जगह को उसके साधन लेने लगते हैं। फिर तो अपने-अपने साधनों की विभिन्नता के कारण मूलतः एक ही समान उद्देश्यों वाले

---

१. "खुरासान खसमाना कीया, हिन्दूसतानु डराइया।
आवै दोसु न देई करता, जमुकरि मुगलु चढ़ाइया॥
एती मार पई करलाणै, तैंकी दरदु न आइया।
करता तू सभनाका सोई।" वही, पद ३९, पृ० ३६०।

धर्मों के अनुयायियों में भी भेद की भावना आ जाती है। कभी-कभी केवल पारस्परिक मनोमालिन्य के विद्वेष का रूप धारण कर लेने पर उनमें युद्ध तक होने लगते हैं। इसलिए किसी धर्म का वास्तविक रूप समझते समय उसके पहले यह आवश्यक है कि उसके प्रधान लक्ष्य को ही हृदयंगम करा दिया जाय। इस प्रकार धर्म को उसके व्यापक रूप में पूरी उदारता के साथ एक बार समझ-बूझ लेने पर फिर कभी किन्हीं साधनों की विभिन्नताएँ हमें धोखा नहीं दे सकतीं। गुरु नानकदेव ने इसी मुख्य सिद्धांत को लेकर पहले आगे बढ़ना आरंभ किया और उनकी सभी प्रारंभिक उक्तियाँ भी इसी भाव से अनुप्राणित होकर व्यक्त हुईं।

विकृत मनोवृत्ति

गुरु नानकदेव की प्रसिद्ध रचना 'जपुजी' को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे लिखते समय उनका मुख्य उद्देश्य प्रपंचादि में सदा उलझे रहनेवाले मनुष्य के मन को उसकी उक्त भूल दिखला कर ठीक रास्ते पर ला देना रहा। उन्होंने आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार करने की प्रचलित प्रणाली को दूषित ठहरा कर उसे नवीन दृष्टिकोण के साथ एक बार फिर से सोचने का परामर्श दिया। यह भी कहा कि यदि उचित रीति से सभी बातों को देखने का अभ्यास हमें हो जाय, तो फिर किसी प्रकार की समस्या हमें कष्ट नहीं पहुँचा सकती। उक्त रचना के अंतर्गत गुरु नानकदेव ने अपनी अनोखी युक्तियों द्वारा क्रमश: सिद्ध किया है कि हमारी वर्तमान परिवर्तित मनोवृत्ति के ही कारण सारे अनर्थ हो जाया करते हैं। उसे फिर से सुधार कर नवीन रूप देने का उन्होंने एक नवीन माग भी सुझाया है। ऐसा करते समय उन्होंने कदाचित् कहीं भी किसी हिन्दू अथवा मुस्लिम विचार-धारा का अंधानुसरण नहीं किया है, अपितु उन्होंने उनकी भूलें ही दिखलायी हैं। प्रसंगवश उन्होंने योगी, संन्यासी, वैष्णव, शैव, नाथ-पंथी, सिद्ध, पीर आदि सभी प्रकार के मतावलंबियों की किसी-न-किसी ढंग से आलोचना भी की है। वे इनमें से किसी एक की मान्य धारणाओं को लेकर अग्रसर नहीं होते, न इसी कारण उन्हें किन्हीं एक के साथ मिला हुआ समझना उचित कहा जा सकता है। वे सभी बातें तटस्थ होकर देखते हैं। इसी कारण उन्हें विचार-स्वातंत्र्य का ही पोषक समझना उचित है।

आत्मिक विकास

गुरु नानकदेव के अनुसार धार्मिक जीवन एक साधना-प्रधान अथवा निरंतर अभ्यास वा शिक्षण में निरत रहने का जीवन है। इसे यापन करनेवाले के लिए उचित है कि वह अपने को उत्तरोत्तर पूर्णता तक पहुँचाने की चेष्टा करता रहे। वह अपने को ज्ञानी या पंडित समझ कर संतोष न कर ले। अपने आध्यात्मिक अनु-

भव की पूर्ति के लिए जब वह ठेठ व्यवहार के क्षेत्र में पदार्पण करे, तब प्रत्येक बात को सावधानी के साथ परखता चले। जहाँ कहीं भी किसी प्रकार की त्रुटि उसे दीख पड़े वहाँ उसे सत्य के अनुसार सुधारने में प्रवृत्त हो जाय। गुरु नानकदेव का साधक इसीलिए अपने को कभी पूर्ण नहीं कह सकता। वह सदा सीखता रहनेवाला शिष्य वा सिक्ख है। गुरु नानकदेव ने जिस व्यक्ति को अपने 'जपुजी' ग्रंथ के अंतर्गत पंच' की संज्ञा दी है, वह भी इसी कारण ईश्वर का भेजा हुआ कोई पुरुष विशेष वा अवतार नहीं। वह सर्वसाधारण के बीच रह कर सर्व-सुलभ सामग्रियों के ही उपयोग द्वारा तथा प्रायः विभिन्न परिस्थितियों से ही लाभ उठा कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसके विचारों व व्यवहारों में सामंजस्य लाने के लिए किसी प्रकार की सहायता अपेक्षित नहीं रहती। वह प्रत्येक समस्या को अपने आप निरे सहज-भाव के साथ सुलझा लेता है। ऐसा करते समय यदि उसे कोई नवीन कठिनाई आ घेरती है, तो उसका सामना हर्ष के साथ करता है। ऐसे व्यक्ति की विशेषता केवल इसी बात में है कि वह अपने संकल्प, साधन तथा क्रिया, सभी को किसी व्यापक नियम 'हुकम' के प्रति समर्पित समझता हुआ, अपने अहं-भाव 'हउ-मैं' को भूल-सा जाता है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व समष्टि के साथ किसी भेद का अनुभव नहीं करता।

'हुकम' का रहस्य

गुरु नानकदेव द्वारा प्रयुक्त उक्त 'हुकम' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके वास्तविक अर्थ का जान लेना परमावश्यक है। साधारण प्रकार से इसका शब्दार्थ किसी की आज्ञा तथा उसके द्वारा प्रचलित किया गया नियम समझा जाता है। अतएव इस हुकम के विषय में भी धारणा हो सकती है कि यह किसी महापुरुष द्वारा रचे गए कोरे विधान का ही परिचायक है। परन्तु, वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यहाँ न तो उक्त महापुरुष कोई साधारण वा असाधारण व्यक्ति है, न हुकम ही उसकी साधारण आज्ञा वा विधान है। गुरु नानकदेव ने 'ओंकार' का लक्षण बतलाते हुए अपने प्रसिद्ध वाक्य "एक ओंकार सति, नामु, करता, पुरुष, निरभउ, निरवैरु' अकाल, मूरति, अजूनि, सैमं, गुर प्रसादि" में कहा है कि वह एकमात्र सत्य-स्वरूप, स्वयंभू और नित्य है। परन्तु साथ ही उसे, कर्ता' का भी विशेषण प्रदान कर उन्होंने उसे हम सबसे संबद्ध भी कर दिया है। इस प्रकार उनके ओंकार का स्वरूप कोरा पारमार्थिक सत्य-मात्र न रह कर कुछ करनेवाले के रूप में भी लक्षित होने लगता है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर 'करना', 'करनेवाला', 'रहना', 'रहनेवाला', अथवा 'होनेवाला' और 'होना' भी आपस में भिन्न-भिन्न नहीं हैं। सब-के-सब चाहे वस्तु हो वा क्रिया एक

ही में सम्मिलित तथा ओतप्रोत हैं और कोई भी अंश किसी भी रूप में उस एक-मात्र सत्य से अलग नहीं। यदि हुकम है तो वही है, हुकम देनेवाला है तो वही है और जिसे हुकम दिया जा रहा है, वह भी वस्तुतः उससे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं। इस प्रकार गुरु नानकदेव का मूल दार्शनिक सिद्धांत सर्वात्मवाद के उस रूप की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उस नित्य निर्विशेष, एकमात्र सत्य तथा व्यावहारिक ससीम सत्ता में कोई अंतर नहीं। उक्त प्रकार का वर्णन केवल हमारे कथन की सुगमता को ही व्यक्त करता है। अतएव गुरु नानकदेव ने हुकम के विषय में लिखते हुए यह भी बतलाया है कि "प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नहीं। उस हुकम को यदि कोई भली भाँति समझ सके, तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करनेवाले, अहंभाव का बोध भी नहीं हो पावे"।[१] "हुकम चलानेवाले ने हुकम को सदा के लिए प्रवर्तित कर दिया है और उसे पालन कर मार्ग पर निर्द्वंद्व बन कर अग्रसर होते रहना ही हमारा कर्त्तव्य है।"[२]

सत्य का स्वरूप

परमात्मा का कोई निश्चित रूप ठहराना असंभव-सी बात है। गुरु नानक-देव ने इस विषय में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं कि "उसके संबंध में हम लाखों बार भी चिंतन करें, उसकी धारणा हमें स्पष्ट रूप में कभी हो नहीं सकती।"[३] "उसके विषय में हम जितना भी कहते चले जायँ, उसका अंत नहीं मिलता। हम ज्यों-ज्यों कहते जाते हैं, त्यों-त्यों वह और भी व्यापक होता हुआ प्रतीत होने लगता है।"[४] "वह स्वयं रस-रूप है और उसका अनुभव करने-वाला भी वही है, वह अपने रंग में ही रमा हुआ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वही मछुआ है, वही मछली है, वही पानी है, वही जाल है, वही जाल का शीशा है और वही चारा भी है। वही कमल है, वही कमलिनी है और वही उन्हें देख कर आनंदित होनेवाला भी है"[५]। "वह स्वयं गुण है, वही उसका कथन करता है और उसे

---

१. 'हुकमै अंदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोइ ।
नानक हुकमै जे बुझै, त हंउ मैं कहै न कोइ ॥"—जपुजी, छंद २ ।

२. 'हुकमी हुकुम चलाए राहु । नानक विगसै बेपरवाहु ॥ वही, छंद ३ ।

३. "सोचै सोचि न होवई, जो सोची लख बार" ॥ वही, छंद १ ।

४. 'एहु अंतु न जाणै कोई । बहुता कही ए बहुता होई ।' जपुजी, छंद २४ ।

५. 'आपे रसीआ आपि रसु, आपे रावणहारु ।
रंगिरता मेरा साहिब, रमि रहिआ भरपूरि ।
आपे माछी मछुली आपे पाणी जालु । आपे जालमणकड़ा आपे अंदरि लालु ।
कउल तू हैं कलीआ तू है आपे वेसि विगासु ।'
आदिग्रंथ, सिरी राग २५ पृ० २२ पर ।

सुन कर उस पर विचार भी वही करता है। वही रत्न है, वही जौहरी है और वही उसका मूल्य भी है। उसे कितना भी ऊँचे-से-ऊँचा समझा जाय और कहा जाय, उसे न तो कहा जा सकता है, न देखा ही जा सकता है। जहाँ भी देखता हूँ वहीं वह दृष्टिगोचर होता है। उस ज्योति को सदा सहज स्वभाव में ही जाना जा सकता है।"[1] "वह स्वयं काँटा है, वही तराजू है और तौलनेवाला भी वही है। वही देखता है, वही समझता है और वही कम वा अधिक अनुभूत भी हुआ करता है।"[2] अतएव परमात्मा के अज्ञेय बने रहने का कारण भी उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है, "समुद्र में यदि बूँद है और बूँद के भीतर समुद्र है, तो उसे कोई किसी प्रकार जान भी कैसे सकता है? यह तो आपको ही आप स्वयं पहचानना और जान लेना है। यदि इस प्रकार का आत्म-ज्ञान किसी को हो सके, तो निस्संदेह परमार्थ की प्राप्ति तथा मुक्ति-दशा की उपलब्धि हो सकती है।"[3]

उसका व्यक्तित्व तथा आदर्श

गुरु नानकदेव ने अपनी रचना 'जपुजी' के अंतर्गत अपने विचारों को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है। उन्होंने परमात्मा का सर्वप्रथम एक ऐसी अन्विति के रूप में होना बतलाया है जिसमें उस निर्विशेष सत्य के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का होना भी समन्वित पाया जाय। इसी एक मात्र नित्य वस्तु के समक्ष वे हमें अपने को अर्पित कर देने की शिक्षा देते हैं। इसके अनंतर हमें अपने आपको उसके आदर्शानुसार निर्मित करने का मार्ग भी दिखलाते हैं। वे बतलाते हैं कि किस प्रकार हमें उसके सर्वोच्च गुणों, जैसे उसकी सर्वशक्तिमत्ता, महानता, सर्व-ज्ञता, दयालुता आदि का अनुभव करना चाहिए। क्रमशः उसके अलौकिक

---

१. 'आपे गुण आपे कथै, आपे सुणि बीचारु ।
आपे रतनु परखि नूं आपे मोलु अवारु ।
साचउ मानु महतु तू आपे देवणहारु ।
ऊँचा ऊँचउ आखीए कह उन देखिया जाइ ।
जहँ देखता तहँ एक नूं सतिगुर दिया मिलाइ ।
जोति णिरंतरि जाणीए नानक सहजि सुभाइ ।'—आदिग्रंथ, अष्टपदी ३, पृ० ५३ ।

२. 'आपे कंटा तोल तराजो आपे तोलणहारा ।
आपे देखैं आपे बूझि आपे है बणजारा ।' वही, सूही राग ६, पृ० ७३१ ।

३. 'आदिग्रंथ, राग रामकली, शब्द ६, पृ० २७२ ।
सागर महि बूँद बूँद महि सागरु, कवणु बुझै विधि जाणै ।
उतभुज चलत अगमिकरि चीने आपै तनु पछाणै ।'

व्यक्तित्व को अपने मानसिक, नैतिक तथा सौंदर्य-संबंधी सर्वश्रेष्ठ आदर्शों का परम प्रतीक समझना चाहिए। अंत में वे हमारे सामने एक निश्चित साधना की रूपरेखा भी उपस्थित कर देते है और उत्तरोत्तर आगे बढ़ानेवाली उसकी चार सीढ़ियों की ओर संकेत करते हैं। उनके अनुसार साधक की सबसे पहली अवस्था 'धरम खंड' की होती है, जब वह अपने सभी कृत्यों को कर्त्तव्य के रूप में माना करता है। उसके उपरांत वह उन्हीं बातों को उनके कारणों के ज्ञान द्वारा अपनाने लगता है। इसी कारण इस दशा को उन्होंने 'ज्ञान-खंड' कहा है। फिर तीसरी दशा उसकी तब आती है, जब वह 'करम खंड' के अनुसार अपने सभी कार्यों को अपने आप करने लग जाता है और जो-जो कार्य वह इस स्थिति के अंदर किया करता है, वे सभी स्वभावतः उच्चकोटि के हुआ करते है। अंत में वह 'सच-खंड' अर्थात् सत्य के वास्तविक प्रदेश में प्रवेश कर जाता है, जहाँ पर आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है और वह विधि-निषेधादि से परे चला जाता है। इस अंतिम स्थिति में आ जानेवाला पुरुष ही सबके लिए 'पंच' रूप में दीख पड़ता है। उसी को आदर्श मान कर लोग कार्य करते हैं।

नाम-स्मरण

उस सर्वात्म-स्वरूप 'ओंकार' नामक परमात्मा के व्यक्तित्व की धारणा बनाये रखने के ही उद्देश्य से सिक्ख लोगों ने सदा प्रार्थना को इतना महत्त्व दिया है। वे समझते हैं कि यदि वह जल के रूप में है, तो हम मछलियों की भाँति उसमें रह कर जीवन-यापन कर रहे हैं। वह यदि किसी मनुष्य के रूप मे है, तो हम उसकी साध्वी पत्नी की भाँति उसके साथ सदा रहा करते हैं। उसके बिना हमारा क्षण-मात्र के लिए भी जीता रहना कठिन है। इसी कारण प्रत्येक सिक्ख के लिए यह निर्धारित कर्तव्य है कि वह उसके साथ अपने संबंध का अनुभव निरंतर करता रहे। अतएव गुरु नानकदेव ने अपने उपदेशों द्वारा नाम-स्मरण की बहुत बड़ी महत्ता दिखलायी थी। सिक्ख-धर्म के मान्य ग्रंथ भी अधिकतर स्तुतियों से भरे पड़े हैं। इसके सिवाय जिस प्रकार 'जपुजी' का पाठ प्रातःकाल कर लेना प्रत्येक सिक्ख के लिए आवश्यक समझा जाता है। कुछ लोग उसके साथ-साथ 'असा दी वार' का भी पारायण करते हैं। उसी प्रकार सायं काल के लिए 'रहिरास' का पाठ नियत है और सोने के समय 'सोहिलो' पढ़ा जाता है। ये पाठ विशेष-रूप से परमात्मा का स्मरण दिला कर हमें उसके तथा जगत् के प्रति भी अपने कर्त्तव्य-पालन का निर्देश करते हैं। चाहे उन्हें हम व्यक्तिगत रूप में करें, चाहे सामूहिक रूप में दुहरावें, प्रत्येक दशा में केवल एक वही उद्देश्य रहा करता है। छठे गुरु हरगोविंद के समय तक सिक्ख धर्म-ग्रंथ तथा प्रार्थना-मंदिर के निश्चित हो जाने पर सामूहिक प्रार्थना का महत्त्व साम्प्रदायिक

संगठन की दृष्टि से भी अधिकाधिक बढ़ता गया। सिक्खों के दसवें गुरु गोविंद सिंह के समय से उसके रूप, क्रम तथा प्रणाली में परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन भी किया जाने लगा। अब उक्त निश्चित पाठों के अतिरिक्त कुछ ऐसी छोटी-छोटी प्रार्थनाओं की रचना भी कर दी गई है जो व्यवहारों में उलझे हुए व्यक्ति को भी सुलभ जान पड़े। ऐसी ही प्रार्थनाओं में से सर्वप्रसिद्ध वह है, जिसमें परमात्मा की स्तुति से आरंभ कर दसों सिक्ख गुरुओं, पाँच प्यारे, गुरु गोविंद सिंह के बलिदान हुए चारों पुत्रों तथा धर्म की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाले प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ऐतिहासिक सिक्खों की ओर भी लक्ष्य किया गया है। ऐसा करने का भी मुख्य अभिप्राय यही है कि गुरु नानक द्वारा प्रचलित तथा अन्य नव गुरुओं द्वारा समर्थित सिक्ख-धर्म का अनुसरण तथा संरक्षण करनेवाले अपने कार्यों के लिए चिर-स्मरणीय हैं। उक्त सामूहिक प्रार्थना में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनके आदर्श का अनुकरण भी अपेक्षित है।

प्रार्थना का उद्देश्य

उक्त विवरणों द्वारा स्पष्ट है कि सिक्खों की प्रार्थना का वास्तविक उद्देश्य परमात्मा से किसी प्रकार की निरी माँग वा याचना नहीं। किंतु उस एक और अद्वितीय सत्ता के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित कर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना तथा उसके उदात्त गुणों के निरंतर स्मरण द्वारा अपनी सारी भावनाओं का परिष्कार करते हुए अपनी मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को पूर्ण बल प्रदान करना है। सिक्खों के सामने अन्य किसी प्रकार के भी पूजा-पाठ का वैसा महत्त्व नहीं, न उनके नित्य कर्मों अथवा संस्कारों में ही किन्हीं विधियों के समुचित पालन वा निर्वाह के संबंध में कोई विधान वा व्यवस्था निश्चित है। उनकी दीक्षा-विधि जिसे 'पाहुल' संस्कार कहा जाता है, बहुत सीधी-सादी है। उनके विवाह-संस्कार में प्रयुक्त 'आनंद की विधि' भी उसी प्रकार केवल अल्प-काल तथा प्रबंध की अपेक्षा करती है। ऐसे सभी अवसरों पर किसी-न-किसी रूप में प्रार्थना का किया जाना आवश्यक है। शुभ अवसरों वा उत्सवों के लिए तो आनंद नाम की एक विशेष प्रार्थना का पाठ भी निश्चित है जिसकी रचना तीसरे गुरु अमरदास ने की थी।

अन्य साधनाएँ

सिक्ख-गुरुओं ने प्रसंगवश, अपनी रचनाओं के अंतर्गत उन दूसरी साधनाओं के भी यत्र-तत्र उल्लेख किये हैं जो अन्य धर्मों वा सम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा विशेष रूप से अपनायी जाती हैं। जिन्हें वे सबसे अधिक महत्त्व दिया करते हैं। परन्तु वे सब यहाँ भक्ति-भाव की ही पोषक हैं। उदाहरण के लिए गुरु अमर-

दास ने कहा है कि "मन के अनुसार चलता हुआ मनुष्य 'हरि-हरि' की रटन लगा कर थक भी जाय, किंतु मन का मैल नहीं धुल पाता। मलिन मन के रहते न तो भक्ति का होना किसी प्रकार संभव है, न अपना कल्याण ही हो सकता है।"[१] इसी प्रकार गुरु तेगबहादुर ने भी बतलाया है कि "यह मन कुछ भी कहना नहीं करता। कितनी भी शिक्षा दी जाय, अपनी दुर्मति का त्याग यह कभी नहीं करता। इसकी दशा कुत्ते की उस पूँछ के समान है जो कितना भी सुधारी जाय, सदा टेढ़ी-की-टेढ़ी ही बनी रह जाती है।"[२] गुरु रामदास ने इसी भाँति इसे कायानगर में रहनेवाले किसी अत्यंत चंचल बालक के रूपक द्वारा वर्णन किया है। परमात्मा से प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा है कि "मैंने इसे अनेक यत्नों द्वारा सुधारना चाहा, किंतु यह मुझे बारंबार भरमाता ही रह गया। मैं अपने को अब थका-सा मान कर प्रार्थना करता हूँ कि इसे कृपा करके वश में ला दिया जाय।"[३] इसीलिए गुरु नानकदेव ने भी कहा है कि "जब तक मन को मार कर उसे ठीक न कर लिया जाय, तब तक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसका अपने वश में कर लेना तभी संभव है, जब इसे निर्गुण राम के गुणों की उलझन में डाल दिया जाय। सब कहीं का भला मन उस एकंकार में जाकर ही ठहर सकेगा।"[४] इसी कारण वे कहते हैं कि "हठ तथा निग्रह करने मात्र से शरीर नष्ट होता है और व्रत तथा तपस्या द्वारा मन पूर्णतः भीग नहीं पाता। यह केवल राम-नाम की सहायता से ही वश में लाया जा सकता है।"[५] अतएव मनोमारण के लिए साधन तथा साध्य दोनों ही नाम-स्मरण और ईश-प्रार्थना हैं।

गुरु नानकदेव ने उक्त मनोमारण क्रिया के लिए योग-साधना की भी आवश्यकता कहीं-कहीं बतलायी है। वे एक स्थल पर कहते हैं कि "कायानगर के अंतर्गत मन राज्य करता है और पाँचों इन्द्रियाँ उसके शासनाधीन रहा करती हैं। वह पवन के संयोग में रह कर अपना आसन जमाया करता है। अतएव, यदि पवन को ही योग-साधना द्वारा निरोध कर उसे पंगु बना दिया जाय, तो अपना कार्य सिद्ध हो जाय।"[६] फिर "मन के भीतर प्रपंच व्याप्त हो रहा है। यदि योग-साधना द्वारा 'सबदि' द्वा

---

१. आदिग्रंथ, सिरी रागु ३१, पृ० ३८।
२. वही, देवांगधारी १, पृ० ५३६।
३. वही, बसंत हिंडोल १, पृ० ११६१।
४. वही, रामकली १, पृ० ९०५।
५. वही, गउड़ी २, पृ० २२२।
६. वही, रामकली ९, पृ० ९०७।

पवन पर अधिकार कर लिया जाय तो उसके मरते ही अपनी मृत्यु का सारा भय जाता रहे और परमात्मा की कृपा से मन भी स्थिर हो जाय ।"[१] इसी प्रकार सहज का महत्त्व वर्णन करते हुए गुरु अमरदास ने बतलाया है कि "निर्गुण नाम का गुप्त भंडार सहज-साधना द्वारा ही प्रकट होता है । बिना सहज के सब कुछ अंधकारमय है और माया-मोहादि से व्याप्त है। सहज द्वारा ही 'निरभउ जोति निरंकारु' की पहँचान हो पाती है।"[२] गुरु नानकदेव के अनुसार भी ऊर्ध्व मूल तथा नीचे की ओर फैली शाखाओं वाले वृक्ष का रहस्य तभी समझ में आता है, जब सहज की साधना की जाय । सहज-साधना की सफलता पारब्रह्म में मन की एकाग्रता द्वारा लीन हो जाने में ही निहित है । अतएव पूर्ण मनोनिग्रह के बिना सहज-साधना संभव नहीं समझी जा सकती और मनोनिरोध के लिए सभी ओर से हटा कर केवल एक परमात्मा की ओर मन को लगा देना ही विवक्षित है । नाम-स्मरण, भजन तथा प्रार्थना ये सभी हृदय के भक्ति-भाव द्वारा अनुप्राणित होने पर ही सच्चे रूप में किये जा सकते है । भक्ति-रस में मग्न हुए बिना गुरु नानकदेव-निर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि संभव नहीं ।"[३]

नाम का तात्पर्य

सिक्ख-धर्म के अंतर्गत 'नाम' को स्वभावतः बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है । नाम का शब्दार्थ किसी वस्तु को सूचित करने अथवा उसका परिचय देनेवाली 'संज्ञा' होता है । साधारण रीति से हम उसका प्रयोग उस वस्तु के गुण, स्वभावादि को व्यक्त करने के लिए ही किया करते हैं । लोगों ने इसी नियम के अनुसार परमात्मा के भी अनेक नामों की सृष्टि कर डाली है । कभी-कभी नामों की भिन्नता से भी मतभेद हो जाता है । गुरु नानकदेव ने धार्मिक झगड़ों के इस कारण विशेष का निराकरण बड़े सुंदर ढंग से किया है । वे कहते हैं कि "हमें परमात्मा के किसी मुख्य नाम की खोज करते अथवा उसे निर्धारित करते समय सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि संसार में अथवा इसके बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसका संबंध उसके साथ न हो। इस कारण वह उसका परिचय आप-से-आप न दे रही हो । जहाँ-कहीं भी हम देखने का प्रयास करें, वहीं उसका नाम वर्तमान है । जितनी भी सृष्टि है, वह सब कुछ उसका नाम ही है । बिना उसके नाम के कोई भी स्थान खाली नहीं ।"[४] इसीलिए यह कहना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि उसके

---

१. आदिग्रंथ, गउड़ी ७, पृ० १५३ ।
२. वही, सिरी रागु २३, पृ० ६७ ।
३. वही, गूजरी अष्टक, पृ० ५०३ ।
४. जपुजी, १६ ।

नाम अनंत हैं। ऐसा करना भी एक प्रकार से अपने को बंधन में डाल रखना है, क्योंकि इस विषय में अंतिम शब्द कोई कह नहीं सकता।

'नाम' शब्द का प्रयोग सिक्ख गुरुओं ने कहीं-कहीं पर एकमात्र, नित्य तथा सत्य-स्वरूप निर्विशेष परमात्मा के लिए भी किया है जो अव्यक्त रूप से सर्वत्र ओत-प्रोत है। उदाहरण के लिए, गुरु अर्जुनदेव ने अपनी रचना 'सुखमनी' के अंतर्गत एक स्थल पर कहा है कि "नाम सभी जीवों के लिए आश्रय-स्वरूप है और उसी के आधार पर सारे ब्रह्मांड का अस्तित्व है।"[१] इसी प्रकार गुरु रामदास ने भी बतलाया है कि "मैं अपने सत-गुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने गुप्त-नाम को मेरे सामने स्पष्ट करके दिखला दिया।"[२] नाम शब्द का परमात्मा के व्यक्त रूप के लिए किये गए प्रयोग का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। इस शब्द को सिक्ख-धर्म के मान्य ग्रंथों में एक तीसरे प्रकार से भी व्यवहृत किया गया है। वह प्रयोग सतगुरु के बतलाये हुए 'शब्द' वा उपदेश के लिए हुआ है। गुरु अमर-दास ने कहा है, "नाम का कथन करना चाहिए, गान करना चाहिए और उस पर विचार करना तथा उसकी पूजा भी करनी चाहिए।"[३] गुरु अर्जुनदेव ने तो अपनी रचना 'सुखमनी' के विषय में "ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वर स्तुति तथा नाम"[४] कह कर ही उसका नामकरण किया है। इस नाम शब्द के साथ, चाहे यह जिस किसी भी अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, सिक्ख गुरुओं ने बड़ा प्रेम प्रदर्शित किया है। गुरु नानकदेव ने एक स्थल पर अपने मन को संबोधित करते हुए कहा है, "रे मन, कहाँ दौड़-धूप लगा रहा है। अरे! तू घर पर ही क्यों नहीं रहता? गुरु के मुख से विस्तृत राम-नाम से तृप्त होकर तू सहज ही अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति कर सकता है।"[५] फिर दूसरी एक पंक्ति में वे यहाँ तक कह डालते हैं कि "बिना नाम के हमारा सारा जीवन भी जल कर नष्ट हो जाय तो हमें कोई चिंता नहीं। अरे मन, तू गुरु-मुख से निसृत हरि-नाम का जाप निरंतर किया कर जिसके द्वारा तुझे अलौकिक स्वाद का आनंद मिला करे।"[६]

गुरु की आवश्यकता

'सिक्ख-धर्म' के अनुसार परमात्मा का साक्षात्कार अथवा उसकी असीम

१. सुखमनी, १६५।
२. आदिग्रंथ, जैतश्री ५, पृ० ६९७।
३. वही, सिरी राग अष्टपदी ५, पृ० ६६।
४. सुखमनी, २४-५।
५. आदिग्रंथ, आसा अष्टपदी ७, पृ० ४१४-५।
६. वही, प्रभाती १७, पृ० १३३२।

कृपा का अनुभव साधक को अपने आप बिना किसी माध्यम के ही हो सकता है। उसके लिए न तो किसी पुरोहित की सहायता अपेक्षित है, न किसी पंडे के निर्देश की ही आवश्यकता है। फिर भी भगवद्भक्ति की भूख जागृत कर उसे बुझाने के लिए संकेत करनेवाले का प्रयोजन भी होना ही चाहिए। सिक्ख-गुरुओं ने इसी कमी को दूर करनेवाले सद्गुरु के महत्त्व का वर्णन अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर किया है। गुरु नानकदेव के किसी मानव-गुरु के विषय में अभी तक निश्चित रूप से कहीं कहा गया नहीं मिलता। कुछ लोगों के अनुसार इस कारण उनके गुरु स्वयं ईश्वर ही कहे जा सकते हैं। किंतु अन्य नव गुरुओं के लिए इस प्रकार संदेह नहीं किया जा सकता। जो हो, सभी ने सतगुरु के महत्व का उल्लेख मुक्त कंठ से किया है और अपने कल्याण के लिए उसी को मूल कारण भी ठहराया है।

गुरु का कार्य

गुरु नानकदेव का कहना है कि "गुरु के मिलने पर ही अपने सांसारिक जीवन के अंत तथा आध्यात्मिक जीवन के आरंभ का हमें अनुभव होता है, गर्व दूर हो जाता है, गगनपुर अर्थात् मुक्तावस्था की उपलब्धि होती है और हरि की शरण में स्थान मिलता है।"[1] "संसार में चाहे जितना भी मित्र वा सखा हो, किंतु गुरु के बिना परमेश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो सकता। उसकी सेवा से ही मुक्ति की प्राप्ति संभव है।"[2] "गुरु की भक्ति का वास्तविक रहस्य कोई प्राणी क्या जान सकता है। यह तो ब्रह्मा, इन्द्र तथा महेश के लिए भी अगम्य है, वह जिस किसी को चाहे अलख का दर्शन करा सकता है, बिना उसके ऐसा कदापि संभव नहीं कहा जा सकता।"[3] इस पद में आये हुए शब्द 'सत-गुरु' को यदि हम अलख के साथ जोड़ कर अर्थ करें तो यह भी जान पड़ेगा कि गुरु नानकदेव ने मानव-गुरु के लिए केवल गुरु तथा ईश्वर के लिए 'सत-गुरु' शब्द का प्रयोग इस पद में किया है। इस प्रकार गुरु वा परमात्मा के बीच बहुत कम भेद रह जाता है। इसी प्रकार गुरु अमरदास बतलाते हैं कि "प्रत्येक मनुष्य के भीतर हीरा, लाल-जैसा रत्न वर्तमान है। किंतु अनजान होने के कारण हम उसे पहचान नहीं पाते। वह एक गुरु का शब्द ही है जिसके द्वारा हमें उसे परखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। गुरुमुख होकर ही अत्यंत अगम्य तथा अपार

१. आदिग्रंथ, रागु गउड़ी, पृ० १५३।
२. वही, मारु सोलहें ८, पृ० १०२८।
३. वही, मारु ११, पृ० १०३२।

नाम वा निरंजन को हम प्राप्त कर लेते हैं"।[1] "प्रशंसनीय गुरु हमें सदा सुख देनेवाला है, वही प्रभु है और वही नारायण है। गुरु के प्रसाद से ही परम पद की उपलब्धि होती है। अरे मन, गुरुमुख होकर ही हृदय में विचार कर और अहंकार, तृष्णा-जैसे नीच कुटुंबियों का त्याग कर उसे सँभाल ले। गुरु के समान कोई दूसरा दाता नहीं है। उसने रामनाम-जैसी वस्तु मुझे प्रदान करके उसके द्वारा तुझे अलख तक को दिखा दिया है।[2]" गुरु का महत्त्व दरसाते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि "नामा-जैसे छीपी तथा कबीर-जैसे जुलाहे ने भी पूरे गुरु की ही कृपा से गति प्राप्ति कर ली, शब्द के रहस्य को वे जान गए, अहंभाव त्याग दिये तथा प्रसिद्ध हो गए।[3] सिक्ख-धर्म के अनुसार गुरु के प्रति गहरी निष्ठा का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उसके अनुयायियों ने किसी संदेह मानव-गुरु के सर्वमान्य रूप में न रहने पर भी अपने अतीत दस गुरुओं के सुरक्षित वचनों के संग्रहों को ही गुरुवत् मान रखा है। सिक्ख लोग 'आदिग्रंथ' का आदर उसे 'गुरुग्रंथ साहब' कह कर प्रदर्शित करते हैं और देह-गुरु की भाँति ही उनकी पूजा भी करते हैं। ये ग्रंथ उनके लिए केवल प्रतीक मात्र नहीं, किंतु जीवित गुरु-तुल्य हैं।

आदर्श तथा व्यवहार का सामंजस्य

सिक्ख-धर्म के सिद्धांतानुसार आदर्श तथा व्यवहार दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित रखना सबसे अधिक आवश्यक है। यही सबके लिए सर्वोत्तम परम कर्त्तव्य समझा जाना चाहिए। यदि कहनी और हो और करनी के साथ उसका कोई मेल न बैठता हो, तो उच्च-से-उच्च विचारों की सार्थकता भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी कारण गुरु नानकदेव से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक सभी सिक्ख-गुरुओं ने जो कुछ भी अपने सिद्धांतों के रूप में कहा, उसे अपने व्यवहारों में भी परिणत करके सबके समक्ष दिखला देने की निरंतर चेष्टा की। वे सदा भगवन्नाम तथा भगवद्गुणानुवाद द्वारा अपने समय का सदुपयोग किया करते थे। किंतु जब कभी व्यावहारिक क्षेत्र में सामाजिक समस्याएँ आ जाती थीं, तो उन्हें सभी प्रकार की मनोवृत्ति के साथ सुलझाने की व्यवस्था करने में भी लग जाते थे। उन्होंने यदि परमात्मा को एक मात्र सत्य माना तो उसे उसी भाँति सबके लिए एक समान भाव से समझने का उपदेश भी दिया। उसी के

१. आदि ग्रंथ, राग माँझ ५, पृ० ११२।
२. वही, राग मलार ४, पृ० १२५७-८।
३. वही, सिरी राग २२, पृ० ६६।

आधार पर यह भी बतलाया कि मूल वस्तु के एक ओर समान होने के कारण किन्हीं भी दो मनुष्यों के बीच कोई वास्तविक भेद-भाव कभी नही हो सकता। अपने सामने किसी दूसरे को नीचा समझ कर उसके प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करना उतना ही बुरा है जितना किसी अन्य को अपने से सांसारिक दृष्टि के अनुसार बड़ा समझ कर उसके समक्ष अपने को हीन समझना पाप है। केवल कुटुंब की प्रतिष्ठा वा वंश-विशेष की प्रचलित बड़ाई के कारण अथवा अपने धन की अधिकता तथा पांडित्य की गहराई के ही आधार पर किसी को दूसरे से बड़ा कहलाने का कोई भी अधिकार नहीं, न बड़प्पन का प्रदर्शन ही कभी प्रशंसनीय समझा जा सकता है। केवल कुलीनता के कारण ऊँच-नीच, धन के कारण धनी-दरिद्र अथवा पठन-पाठन के आधार पर पंडित-मूर्ख कहा जाना न्याय-संगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार उक्त धन, पठन-पाठन तथा कुटुंब का त्याग कर और कहीं अन्यत्र जाकर भजन-भाव में सदा लीन रहना भी श्रेयस्कर नहीं समझा जा सकता। समाज के भीतर रह कर ही अपने उच्च विचारों की व्यावहारिकता तथा सचाई सिद्ध की जा सकती है। सबको समान बतलाना समान रूप से बरतने पर ही निर्भर है।

समानता

गुरु अमरदास कहते हैं, "जाति की उच्चता के लिए किसी को भी गर्व न करना चाहिए। वास्तव में ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म का जानकार है। एक ही ब्रह्म-बिंदु से सबकी उत्पत्ति हुई है और एक ही माटी द्वारा गढ़े गए भाँडे की भाँति सारा संसार है। जब यह शरीर पंच-तत्त्व निर्मित ही है, तब फिर इसके रहते घट कर वा बढ़ कर होने का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है।[1]" इस सिद्धांत को सिक्ख-गुरुओं ने अपने सिक्ख-समाज के अंतर्गत सभी प्रकार के ऊँच-नीच अथवा मध्यम कुल वाले लोगों को एक समान समझ कर तथा उन्हें अपना कर व्यावहारोपयोगी बना दिया था। गुरु नानकदेव से लेकर दसवें गुरु गोविंद सिंह तक ने इसका अक्षरशः पालन किया। आज भी इस बात के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वर्ण-विभेद की भावना को दूर करने के साथ ही सिक्ख गुरुओं ने इस बात की ओर भी ध्यान रखा कि उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के अधिकारों में भी किसी प्रकार का मौलिक अंतर न समझा जाय, अपितु सबको एक ही श्रेणी का मानव मान लिया जाय। जिस समय गुरु गोविंद सिंह ने सर्वप्रथम, 'खालसा-सम्प्रदाय' की नींव रखी और पाहुल का आयोजन किया, उस

---

१. आदिग्रंथ, राग भैरउ १, पृ० ११२८।

समय उनके कड़ाह के जल में उनकी पत्नी ने मीठा डाल कर उसे मधुर तथा स्वादिष्ट बना दिया था। इस प्रकार उसकी तैयारी मे भाग लेकर स्त्री-पुरुष की समानता का परिचय दिया था। सिक्ख-धर्म के इतिहास में स्त्रियों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आंदोलनों में भाग लेने तथा अवसरों पर कार्य करने की चर्चा भी बहुत सुनी जाती है। कहा जाता है कि जिस समय गुरु अंगद को गुरु नानकदेव का देहांत हो जाने के अनंतर विरह-जनित उदासीनता ने बहुत अधिक प्रभावित किया, उस समय एक साधारण स्त्री ने ही उन्हें कुछ काल तक एकांतवास के लिए प्रबंध कर दिया। गुरु अमरदास ने एक रानी को अपने यहाँ दर्शनों के लिए आने से इस कारण रोक दिया था कि वह पर्दे में आना चाहती थी। गुरु तेग़-बहादुर के वंदी हो जाने पर उन्हें कष्टप्रद कारागृह में समय-समय पर भोजन तथा जल पहुँचानेवाली एक स्त्री ही थी। एक मुस्लिम महिला ने गुरु हरगोविंद से प्रभावित होकर अपना सारा धन उन्हें धार्मिक सरोवरों के निर्माण के लिए समर्पित कर दिया था।

सिक्ख-धर्म तथा इस्लाम

बहुतों की यह धारणा रहती आई है कि सिक्ख-धर्म इस्लाम के विरुद्ध प्रचलित किया गया था और उसके सदा विरुद्ध रहता आया। परन्तु, यदि सिक्ख-धर्म के इतिहास पर भली भाँति विचार किया जाय तो इस कथन का अधिकांश कोरी कल्पना पर ही आश्रित दीख पड़ेगा। गुरु नानकदेव ने सिक्ख-धर्म का प्रचार करते समय इस्लाम-धर्म के मौलिक मंतव्यों के विरुद्ध कभी एक शब्द तक का प्रयोग नहीं किया था। उन्होंने तो सबसे अधिक ध्यान प्रायः उन्हीं विषयों के प्रतिपादन की ओर दिया था जो इस्लाम-धर्म के शिलाधार माने जाते हैं। एकेश्वर की भावना, मूर्ति-पूजा की निःसारता, वर्ण-व्यवस्था की निरर्थकता तथा विश्व-बंधुत्व को गुरु नानकदेव ने इस प्रकार अपनाया है कि कुछ लोगों को उनके वस्तुतः इस्लाम-धर्मानुयायी होने का भी भ्रम होने लगता है। अतएव गुरु नानकदेव ने न तो इस्लाम-धर्म के मूलोच्छेद का कभी यत्न किया, न उक्त बातों को उन्होंने उस धर्म के अनुयायियों से ही ग्रहण किया। जैसा पहले कहा जा चुका है, गुरु नानकदेव का जन्म एक विशुद्ध हिन्दू-परिवार में हुआ था और उन्हें शिक्षा भी अधिकतर उसी वातावरण में मिली थी। उन्हें हिन्दुओं की धार्मिक अवनति का अनुभव मुसलमानी आक्रमणों से उत्पन्न हुई परिस्थिति में ही सर्व-प्रथम हुआ था। इसी कारण उनका ध्यान सबसे पहले विशेषकर उन्हीं बातों की ओर स्वभावतः आकृष्ट हुआ था जो उन्हें दोनों के संघर्ष के कारण स्पष्ट हुई थीं। फिर भी उन्होंने हिन्दू-समाज के भीतर आ गई त्रुटियों की आलोचना

करते समय प्रचलित इस्लाम की बुराइयों को भी नहीं भुलाया। उन्होंने समय-समय पर काज़ी, शेख तथा मुल्ला को संबोधित करते हुए उन्हें भी असलियत पर ग़ौर करने के लिए आमंत्रित किया। गुरु नानकदेव के अनुयायियों में अनेक मुसलमानों की गणना की जाती है और उनके चिरकालीन साथी मर्दाना का मुसलमान होना भी प्रसिद्ध है। गुरु गोविंद सिंह को पहाड़ी राजाओं तथा मुस्लिम मुग़ल अधिकारियों तक के विरुद्ध लड़ने में सैयद बुद्धू शाह ने सहायता दी थी। उन्हें संभवत: ५०० पठान सिपाही अपनी सेना में भर्ती करने के लिए दिये थे। इसके सिवाय यह भी प्रसिद्ध है कि महाराज रणजीत सिंह का एक विश्वास पात्र मंत्री फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन था जो सदा उनके साथ रहा करता था। अतएव जान पड़ता है कि सिक्ख-धर्म के अनुयायियों में इस्लाम के प्रति जो कुछ भी दूषित भावना कभी लक्षित हुई, वह अधिकतर मुस्लिम शासकों के विरुद्ध थी। उनके द्वारा बहुधा किये गए अत्याचारों के कारण उत्पन्न हुई थी तथा उनका मूल धार्मिक से कहीं अधिक राजनीतिक बातों से ही जुड़ा हुआ था।

भिन्नता

इसके साथ ही जो-जो बातें सिक्ख-धर्म के भीतर इस्लाम से प्रभावित कह कर दिखलायी जाती हैं वे भी केवल इस्लाम की देन नहीं हैं, न उनमें से सबका स्वरूप ठीक-ठीक इस्लाम-धर्म का खुदा एक अलौकिक व्यक्ति है जो कहीं सातवें आसमान में रहता हुआ सब पर शासन किया करता है। किंतु सिक्ख-धर्म का निरंकार पुरुष उसके नितांत भिन्न है। वह किसी स्थान-विशेष में रह कर सिंहासनासीन होनेवाला नहीं, अपितु सर्वात्म-भाव से अणु-अणु के भीतर ओतप्रोत है। उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ द्वारा स्वभावत: होता जा रहा है। सिक्ख-धर्म का विश्व-बंधुत्व भी इसी कारण किसी दीन वा धर्म के प्रति अंधभक्ति-प्रदर्शन पर अवलंबित न होकर उक्त व्यापक सिद्धान्त पर ही आश्रित समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में किसी मूर्ति-विशेष की पूजा अथवा वर्ण-व्यवस्था के समान भेद-भावों की मान्यता का प्रश्न भी आप-ही-आप हल हो जाता है। गुरु नानकदेव ने प्रचलित पूजन-प्रणाली अथवा बहुदेववाद तथा अवतारवाद की धारणाओं के नि:शेष निराकरण की व्यवस्था कभी नहीं दी, न किसी को उत्तम वा निकृष्ट कह डालने पर विशेष जोर दिया। उनका उद्देश्य एक संतुलित मनोवृत्ति द्वारा उक्त सबका उचित मूल्यांकन कराना मात्र था। एकेश्वरवाद, विश्व-बंधुत्व आदि उक्त विचार हिन्दू-धर्म के लिए भी नवीन नहीं थे। 'एक सद्विप्रा बहुधा वदंति', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'न देवी विद्यते काष्ठे न पाषाणे', 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मण:' तथा 'वसुधैव कुटुंम्बकम्'-जैसे अनेक वाक्य हिन्दू-समाज

में कदाचित् उस समय भी प्रचलित थे और इनका प्रयोग निरंतर आज तक भी हिन्दू-पंडितों द्वारा उसी प्रकार होता आ रहा है। उनके अस्तित्व के बने रहते एसी धारणाओं के लिए इस्लाम वा अन्य किसी धर्म के प्रति हिन्दू-धर्म का अपने को ऋणी समझने की कोई आवश्यकता नहीं, न उनके लिए गुरु नानक-देव को ही आभारी होना था। सिक्ख-धर्म को प्रकाश में लाते समय उन्होंने इन बातों की ओर अवश्य ध्यान दिया, किंतु इतना ही करके वे चुप नहीं रह गए। उन्होंने इस संबंध में यह भी बतला दिया कि ऐसी बातों को बाहर से उपदेशवत् ग्रहण न करके उन्हें अपने अनुभवों द्वारा स्वयं जाँचने तथा व्यवहार में लाने में कल्याण है। इसके लिए कहीं अन्यत्र जाने की भी आवश्यकता नहीं, वह तो पुत्र-कलत्रादि के बीच रह कर ही भली भाँति संभव हो सकता है।

कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव

गुरु नानकदेव के बहुत पहले से भी उक्त प्रकार की विचार-धारा किसी-न-किसी रूप में दीखती आई थी। उनसे कुछ ही दिन पहले कबीर साहब ने लगभग ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर अपने सिद्धांतों का प्रचार आरंभ किया था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि गुरु नानकदेव ने कबीर साहब का ही अनुसरण किया था और कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि ये उनके यहाँ जाकर उनसे उपदेश भी लिये थे। परन्तु इस प्रकार की धारणाएँ अक्षरशः सत्य नहीं समझी जा सकतीं। कबीर साहब का देहांत गुरु नानक के आविर्भाव-काल के कदाचित् लगभग २० वर्ष पहले ही हो चुका था। इस प्रकार दूसरे का प्रभावित होना, पहले के अनुयायियों द्वारा ही संभव हो सकता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों महापुरुषों के उद्देश्यों में बहुत बड़ी समानता है और इन दोनों की साधना-प्रणाली भी प्रायः एक ही है। अंतर केवल यही जान पड़ता है कि कबीर साहब ने जहाँ अपने विचारों को जनता के बीच प्रकट और प्रचार करके ही छोड़ दिया, वहाँ गुरु नानकदेव ने अपने सिद्धांतों को अपने पीछे भी व्यवहार में लाने के लिए एक प्रकार का संगठन भी कर दिया। यही कारण है कि गुरु नानकदेव के अनुयायियों के लिए जहाँ वैसे ही आदर्श की परंपरा दो सौ वर्षों से भी अधिक काल के लिए चली और आज भी उसकी शृंखला किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है, वहाँ कबीर साहब के अनंतर उनकी परंपरा में वैसी शक्ति नहीं दीख पड़ी, न वह आज तक संभव हो सकी। इसका एक परिणाम हम इस रूप में भी देखते हैं कि 'सिक्ख-धर्म' ने अपने संगठित प्रचार की प्रणाली द्वारा अपना प्रभाव आजकल के सार्वजनिक क्षेत्र पर भी जहाँ जमा रखा है, वहाँ कबीर-पंथियों की गणना हिन्दू-धर्म के साधारण सम्प्रदायों में ही होकर

रह जाती है। कबीर साहब की विचार-धारा संभवत: आरंभ से ही कुछ-न-कुछ दार्शनिकता वा अधिक-से-अधिक सैद्धांतिक रूप लेकर आगे बढ़ी थी। वह बहुत कुछ उपदेशात्मक बन कर ही रह गई। किंतु गुरु नानकदेव की विचार-धारा का स्वरूप सदा से ही व्यावहारिक रहा और आगे आनेवाली परिस्थितियों ने क्रमश: उसके स्पष्ट तथा सुदृढ़ होने में सहायता ही पहुँचायी। एक लेखक के कथनानुसार कबीर साहब, गुरु नानकदेव और महाप्रभु चैतन्य प्राय: एक ही युग में उत्पन्न हुए और इन तीनों के अनुयायी अलग-अलग आज भी वर्तमान हैं। किंतु इन तीनों में से पहले के विचारों का प्रभाव जहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत था और तीसरे का व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था, वहाँ दूसरे के कार्यों का परिणाम कहीं अधिक स्पष्ट और व्यावहारिक रहा।[1]

साम्प्रदायिकता

सिक्ख-धर्म की सच्ची जानकारी उसके गुरुओं की रचनाओं के उचित ढंग से अनुशीलन करने पर ही हो सकती है। उसके साम्प्रदायिक उपदेशों के विवरण कतिपय धार्मिक पुस्तकों में भी पाये जाते हैं। कहीं-कहीं पर मुख्य बातों की अपेक्षा साधारण नियमादि के ही वर्णन अधिक मिलते हैं। सबसे प्रथम सिक्ख-धर्म का परिचय देनेवाले भाई गुरुदास थे जो गुरु अर्जुनदेव के संबंधी तथा समकालीन थे। भाई गुरुदास के ही द्वारा गुरु अर्जुनदेव ने 'आदि-ग्रंथ' के प्रथम संस्करणवाला संग्रह लिखवाया था। गुरु अमरदास ने अपनी ओर से भी कुछ कविताओं की रचना की और अपनी ४० वारों के अंतर्गत सिक्ख-धर्म के प्रचलित सिद्धांतों का वर्णन किया। इन वारों में से प्रत्येक में कुछ पौड़िया हैं जिनकी संख्या एक समान नहीं हैं और इन पौड़ियों में से भी कुछ की पंक्तियाँ केवल पाँच हैं, तो दूसरी की दस तक पहुँची हुई हैं। भाषा प्राचीन और क्लिष्ट पंजाबी है, किंतु उसकी सहायता से हमें सिक्ख-धर्म के उस रूप का एक अच्छा-सा परिचय मिल जाता है जो उस समय था। भाई गुरुदास ने सिक्ख गुरुओं द्वारा उस समय तक किये गए कार्यों का स्वभावत: एक प्रशंसात्मक विवरण दिया है। उन्होंने उस समय के प्रचलित अन्य धर्मों के ऊपर कहीं-कहीं कटाक्ष भी किये हैं और अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि "जहाँ कहीं पर केवल एक सिक्ख है, तो वह एक सिक्ख समझा जा सकता है, किंतु जहाँ दो भी सिक्ख है वहाँ एक संत-समाज बन जाता है। यदि कहीं पर पाँच सिक्ख हो गए तो फिर वहाँ पर स्वयं परमात्मा का ही संदेह

---

१. डॉ० जे० ई० कार्पेंटर : थीइज्म इन मिडीवल इंडिया, पृ० ४८८।

वर्तमान रहना समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार जैसे वर्ष के भीतर छह ऋतुएँ तथा बारह महीने हुआ करते हैं किंतु सूर्य केवल एक ही होता है, उसी प्रकार केवल सिक्ख ही उस परमात्मा के दर्शन कर सकता है।" ऐसी बातों के अतिरिक्त भाई गुरुदास ने नम्रता, सत्संग, स्त्रियों का महत्त्व, नाम-स्मरण आदि विषयों का विवेचन भी किया है। भाई गुरुदास तीसरे सिक्ख गुरु से लेकर छठे तक वर्तमान थे। वे संवत् १६६४ तक जीवित थे। इनकी अनेक उपलक रचनाओं पर हमें हिंदी काव्य का रीतिकालीन प्रभाव भी स्पष्ट दीख पड़ता है।

(१४) सिक्ख-धर्म के सम्प्रदाय

सम्प्रदायों का निर्माण

वीर बंदा बहादुर के समय से सिक्खों के भीतर दलबंदी के भाव जागृत होने लगे। उसके पहले भी कुछ लोग किसी-न-किसी कारण से सिक्ख-गुरुओं से पृथक् होकर अपने-अपने नये पंथ चलाने के यत्न करते आ रहे थे। प्रसिद्ध है कि गुरु नानकदेव का देहांत हो जाने पर उनके पुत्र श्रीचंद (जन्म सं० १५५१) ने अपना 'उदासी-सम्प्रदाय' चलाया और कश्मीर, काबुल, कांधार, पेशावर तथा अन्य कई स्थानों में भ्रमण करते हुए ठट्टा सिंध-जैसे नगरी में कई केन्द्र भी स्थापित किये। कहा जाता है कि ये अपने पिता की गद्दी न पाने पर उदास हो गए थे। इनके अनंतर इसी प्रकार अपने पिता चौथे गुरु रामदास का उत्तराधिकारी न बन सकने के कारण प्रिथीचंद ने भी एक नया पंथ चलाया था जो 'मीनापंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। माँझ अर्थात् रावी और व्यास के बीच बसे हुए मध्यदेश के निवासी हंदल नामक किसी जाट ने अपना 'हंदली मत' स्थापित किया। ये हंदल गुरु अमरदास द्वारा दीक्षित हुए थे, किंतु इनके तथा इनके अनुयायियों के विचारों में बहुत भिन्नता आ गई। एक चौथा पंथ गुरु हरराय के पुत्र रामराय के अनुयायियों का 'रामैया पंथ' भी इसी भाँति चल पड़ा था। परन्तु इन सभी का रूप धार्मिक ग्रंथों के समान ही विशेष रूप से लक्षित होता था। उनके अनुयायियों के भावों के पहले उतनी उग्रता नहीं दीख पड़ती थी। वीर बंदा बहादुर के समय से गुरु गोविंद सिंह द्वारा प्रवर्तित वीर 'खालसा-सम्प्रदाय' के भीतर जो दो दल बने उनके रूप कुछ अधिक भयंकर दीख पड़े। उन 'संत-खालसा' तथा 'बंदई-खालसा' वालों में से प्रत्येक ने एक दूसरे को पूर्णतः नीचा दिखलाने के भी यत्न किये और हानि पहुँचायी। इन कारणों से सिक्ख-धर्म के अनुयायियों का समाज क्रमशः छिन्न-भिन्न होने लगा और धार्मिक दृष्टि से भी उनका अधःपतन आरम्भ हो गया। ऐसे ही अवसर पर संवत् १६४७ के लगभग उसके कुछ अनुयायियों के हृदयों में सुधार की भावना

जागृत हुई। उसके लिए प्रवृत्त होने वाले लोगों ने अपनी नयी संस्थाएँ स्थापित करना आरंभ किया जिस कारण कतिपय सुधारक सम्प्रदायों की भी सृष्टि हो गई।

विभिन्न सिक्ख-सम्प्रदाय

सिक्ख-धर्म के अनुसार प्रचलित किये गए सम्प्रदायों तथा उसके सुधारकों की ओर विशेष ध्यान देनेवाले समाजों की संख्या बहुत है। इनमें से कई के विचारों तथा व्यवहारों में केवल सूक्ष्म अथवा कुछ बाहरी भेद ही दिखलायी पड़ते हैं। फिर भी इनमें से हिन्दू-धर्म के अनुयायी-जैसे बन गए हैं और उनके लिए इस समय हम 'सिक्ख' शब्द का प्रयोग केवल नाम-मात्र के लिए ही कर सकते हैं। इन पंथों का इतिहास तथा इनके अंतर्गत भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार आ गई प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन एक मनोरंजक विषय होगा। सिक्ख-धर्म के इन सम्प्रदायों के उत्थान तथा विकास इसी प्रकार से कबीर-पंथ के भिन्न-भिन्न उप-सम्प्रदायों की भी गति-विधि के विचारपूर्ण अवलोकन और विश्लेषणात्मक विवेचन के द्वारा मानव-समाज की धार्मिक मनोवृत्ति के वास्तविक महत्त्व का मूल्यांकन भली भाँति किया जा सकता है। जो हो, यह प्रश्न विशेषकर समाज-शास्त्र के विद्वानों से है और इसे यहीं छोड़ हम सिक्ख-धर्म के उक्त वर्गों में से मुख्य-मुख्य का परिचय देते हैं।

उदासी सम्प्रदाय

'उदासी-सम्प्रदाय' के अनुयायियों को भौतिक अथवा विशेष रूप से राजनीतिक बातों से कभी कोई संबंध नहीं रहा है। उसके मूल प्रवर्त्तक श्रीचंद[1] बराबर संन्यासियों के वेश में और अधिकतर कदाचित् नग्न रह कर ही भ्रमण किया करते थे। और उनके अनुयायी लोगों का भी रहन-सहन सदा साधुओं की ही भाँति रहा। सांसारिक बातों की ओर से इनकी ऐसी तटस्थता देख कर गुरु गोविंद सिंह इनके प्रति कुछ रुष्ट रहा करते थे। कभी-कभी इनकी अहिंसात्मक भोली-भाली तथा सादी प्रवृत्ति के कारण इन्हें जैनी तक कह दिया करते थे। तीसरे गुरु अमरदास को भी यह सम्प्रदाय पसंद नहीं था और उन्होंने इसे भरसक निरुत्साहित ही किया था। किंतु छठे गुरु हरगोविंद के पुत्र बाबा गुरुदित्ता ने इसको फिर से जागृत किया। ये अधिकतर कर्तारपुर में रहा करते थे और कीर्त्तिपुर में मरे थे जहाँ इनकी समाधि विद्यमान है। इन्हें केवल 'बाबाजी' भी कहा जाता है। परन्तु उदासी-सम्प्रदाय के लोग अधिकतर स्वयं गुरु नानक

---

१. **जान मालकम के अनुसार श्रीचंद के पुत्र धर्मचंद ने 'उदासी-सम्प्रदाय' को स्थापित किया। दे०** Sketch of the Sikhs Asiatic Researches Vol. XI, 1810 reprinted in the Sikh Religion Susil Gupta (India) Private Ltd. Calcutta, 1958, p. 86.

देव को ही अपने आदि आचार्य के रूप में स्वीकार करते पाये जाते हैं।

शाखाएँ तथा भेषादि

उदासी सम्प्रदाय की चार प्रधान शाखाएँ हैं जो 'धुआँ' कहलाती हैं और जिन्हें चार उदासियों ने चलाया था। १. फूलसाहिब की शाखा वहादुरपुर में है, २. वावा हसन की आनंदपुर के निकट चरनकौल में है, ३. अलमस्त साहिव की पुरी तथा नैनीताल में है, और ४. गोविंद साहिब की शिकारपुर-सिंध तथा अमृतसर में है। इनमें से प्रत्येक दूसरे से स्वतंत्र हैं और उसका प्रबंध भी एक भिन्न महंत करता है। उदासी लोग साधारणतः इधर-उधर अपने तीर्थ-स्थानों में भ्रमण करते फिरते हैं। किंतु इनकी अधिक संख्या मालवा, काशी, जलंधर, रोहतक तथा फ़िरोज़पुर में पायी जाती है। ये अपनी पूजा में घड़ी-घंटा बजाया करते हैं और 'आदिग्रंथ' की आरती किया करते हैं। इन्हें भस्म तथा विभूति के प्रति बड़ी श्रद्धा है जिसे ये बहुधा अपने शरीर पर धारण भी किया करते हैं। इनके दीक्षा-संस्कार के समय भी इनका गुरु इन्हें नहला कर भस्म लगा देता है। ये कुछ भस्म को सदा सुरक्षित भी रखते हैं और उसके ऊपर एक जंत्री वा छोटी मढ़ी भी बना देते हैं। इनका प्रिय मंत्र "चरण साध का धो-धो पियो। अरप साध को अपना जियो" है। आजकल ये गैरिक वस्त्र-धारण करते हैं, साधुओं की भाँति रहा करते हैं और विवाह का करना आवश्यक नहीं समझते। ये 'आदिग्रंथ' को मानते हैं। इनके भेष में हिन्दू-साधुओं की अनेक बातें सम्मिलित हो गई हैं और इन्होंने साधारण हिन्दुओं की आचार-विधि को भी बहुत कुछ अपना लिया है। इस पंथ के अनुयायियों को कभी-कभी 'नागा' अथवा नानकशाही भी कहा करते हैं। इनका मुख्य गुरुद्वारा देहरा में है और पूर्वी भारत में इसकी ३७० गद्दियाँ बतलायी जाती हैं।[१] इस सम्प्रदाय की एक विशेषता इसके अनुयायियों द्वारा निर्गुण तथा सगुण दोनों में सामंजस्य स्थापित किये जाने में भी दीख पड़ती है। वनखंडीजी द्वारा स्थापित उदासीन सम्प्रदाय ने भी श्रीचंद से प्रेरणा ग्रहण की।[२]

संत सुवचना दासी

उक्त नानकशाही वा उदासी-सम्प्रदाय की एक अनुयायिनी संत सुवचना दासी अभी कुछ दिन हुए वर्तमान थीं। इनका जन्म सं० १६२८ में हुआ था और ये गाँव डेहमा, जिला गाजीपुर के दर्लसिंगार लाल की पुत्री थी। इन्हें बचपन से ही भक्ति-भाव तथा साधु-सेवा की लगन थी। चौदह वर्ष की अवस्था

---

१. विलियन क्रुक : ए ग्लासरी आदि, भा० ४, पृ० ४१७-२० वा पृ० ४७६-८०।
२. सीताराम चतुर्वेदी : जय साधुवेला।

में इनका विवाह बलिया, उत्तर प्रदेश के रहनेवाले जुगलकिशोर लाल के साथ हुआ था। एक बार गंगा-स्नान करने जाते समय ये हीरादास साधु की झोंपड़ी में जाकर वहाँ से शीघ्र लौट आयीं। साधु उदासी-संप्रदाय के ही नागा थे। सुवचना दासी उसी समय से बहुधा शब्दयोग का अभ्यास करने तथा समाधि में रहने लगीं। किंतु अपने पति की सेवा से अवकाश पाकर ही ये अपनी साधना में लगती थीं। इनका प्रभाव आगे चल कर इनके पति पर भी पड़ा था। बलिया में रह कर ये सत्संग किया करती थीं। इनकी रचनाओं में 'प्रेमतरंगिनी', 'विज्ञान-सागर', 'विदेह मोक्षप्रकाश' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका एक पद नीचे पाद-टिप्पणी में है।[1]

निर्मला सम्प्रदाय

सिक्खों के एक दूसरे सम्प्रदाय 'निर्मला' की स्थापना वीर सिंह ने गुरु गोविंद सिंह के समय में की थी। कहते हैं कि गुरु गोविंद सिंह को किसी अनूप-कौर नाम की रूपवती खत्रानी ने छलपूर्वक अपने प्रेम-पाश में बाँधना चाहा था जिसकी प्रतिक्रिया में गुरु साहब ने गैरिक वस्त्र परिधान करके उससे भेंट की और उसके प्रभावों से मुक्त हो चुकने के उपरांत ही वस्त्र वीर सिंह को प्रदान कर उन्हें इस पंथ की स्थापना के लिए आदेश दिया। इसी घटना के उपलक्ष में गुरु साहब का ४०४ कथाओं का सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'त्रियाचरित' भी लिखा गया।[2] वीर सिंह ने सबसे अधिक ध्यान व्यक्तिगत पवित्रता तथा आचार-शुद्धि की ओर दिया था और इस विषय में वे सदा दृढ़ रहते आए। निर्मला लोग बड़े सच्चरित और प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। ये लोग अधिकतर संस्कृत के विद्वान् हुआ करते हैं और साधारणतः श्वेत वस्त्र परिधान किया करते हैं। इनका अखाड़ा इनके किसी महंत के शासनाधीन रहा करता है। ये अविवाहित भी होते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का भी मुख्य ध्येय उदासियों की ही भाँति गुरु नानकदेव के मूल सिद्धांतों के अनुसार चलना है। ये धार्मिक बातों के साथ-साथ सांसारिकता का संबंध अधिक बनाये रखना नहीं चाहते, न इसी कारण राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव इन पर, कभी पड़ सकता है। इनकी भी धर्म-पुस्तक 'आदिग्रंथ' है।

---

१. 'मोहि चार दिना रहनारे, भजसिन वाहगुरु।
छिन छिन उमिर घटत निसिवासर इकदिन उठ चलनारे।
अपनी करो फिकर चलने की यहाँ नहीं रहना रे।
जस अपजस ले साथ चलनारे, सुवचन हरि भजनारे।

२. जे० सी० ओमन : दि मिस्टिक्स एंड सेंट्स ऑफ इंडिया, फिशर अनविन, १९०३ ई०, पृ० १९६-८।

नामधारी सम्प्रदाय

सिक्खों के 'नामधारी सम्प्रदाय' को लुधियाना के भाई राम सिंह नामक एक सिक्ख ने प्रवर्तित किया था जो पहले महाराजा रणजीत सिंह की सेना में रह चुके थे। सेना का त्याग करने के उपरांत उनके हृदय में धार्मिक भावनाएँ जागृत हुईं वे कैंबलपुर जिले के किसी उदासी-सम्प्रदाय वाले बाबा बालकराम से दीक्षित होकर अपने नवीन पंथ को प्रवर्तित करने की ओर अग्रसर हुए। उनके अनुयायी बाबा वालकराय (मृ० सं० १६२०) को ११वाँ तथा रामसिंह को १२वाँ सिक्ख-गुरु मानते है और एक विशेष प्रकार से वेश-भूषादि धारण करते हैं। ये पक्के निरामिषभोजी हुआ करते हैं और नामधारियों से भिन्न किसी और के हाथ की रसोई ग्रहण नहीं करते। ये खादी के वस्त्र पहना करते हैं और आपस के झगड़ों को भरसक अदालतों तक ले जाना पसंद नहीं करते। ये अपने गुरु की सेवा प्राणपण से करने पर तैयार रहते है। इनका एक दूसरा नाम 'कूका' भी है। 'कूका' का शब्दार्थ कूक करनेवाला होता है जिसका अभिप्राय यह है कि इस पंथ वाले आराधना के अवसर पर वहुधा सिर हिलाया और चिल्लाया करते हैं। अंत में 'सत श्री अकाल' कहते-कहते भावावेश तक में आ जाते हैं। सर्वप्रथम यह पंथ पौरोहित्य के विरुद्ध चलाया गया था। ये लोग गो-वध के भी बहुत विरुद्ध हैं और अपने अनुयायियों द्वारा बहुत-से कसाइयों की हत्या किये जाने पर इनके गुरु रामसिंह को रंगून में निर्वासित होना पड़ा था जहाँ ये सं० १६४५ में मरे थे। कूका लोग बहुधा एक प्रकार की सीधी पाग बाँधते हैं।

सुथराशाही सम्प्रदाय

सिक्ख-धर्म के एक अन्य सम्प्रदाय 'सुथराशाही' की स्थापना किसी सुथराशाह ने की थी। कहा जाता है कि उनके पिता ने उन्हें बचपन में इसलिए त्याग दिया था कि वे बड़े गंदे ढंग से रहा करते थे। सर्वप्रथम गुरु हरगोविंद ने उन्हें सुथरा वा स्वच्छ कह कर अपनाया था। परन्तु इस बात को कुछ लोग अनैतिहासिक मानते हैं और उन्हें सुथराशाह कहे जाने का मूल कारण उनके सुतार वा बढ़ई के वंश में जन्म लेना ठहराते हैं।[1] सुथराशाही सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में और भी अनेक मत हैं। इनके अनुसार कुछ लोग सुथराशाह को गुरु अर्जुन का शिष्य समझते हैं और दूसरों का कहना है कि वे गुरु हरिराय के समकालीन सूचा नाम के ब्राह्मण थे जो पीछे से सुथराशाह कहलाये। इसी

---

१. क्षितिमोहन सेन: मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १६६।

प्रकार कुछ अन्य लोग इस पंथ के प्रचलित करने का श्रेय गुरु तेग़बहादुर को देना चाहते हैं। जो हो इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति सर्वसाधारण की श्रद्धा आजकल पूर्ववत् नहीं देखी जाती। ये लोग अधिकतर दो लोहे के डंडे बजा कर पैसे माँगने में दुराग्रह करनेवाले व्यक्तियों के ही रूप में देखे जाते हैं। पूर्व की ओर तो इनके संबंध में एक कहावत भी चल पड़ी है कि 'केहू मुये केहू जीये, सुथरा घोरि बतासा पीये।"[1] सुथराशाहियों का प्रधान केन्द्र पहले पथानकोट के निकटवर्त्ती नगर बुरहानपुर में था। परन्तु पीछे वहाँ से हटकर लाहौर में कश्मीर दरवाजे पर आ गया। सुथराशाह एक बड़े बहादुर पुरुष कहे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि उन्होंने गुरु हरगोविंद की बड़ी सहायता की थी जिस कारण उन्हें मुग़लों का अत्याचार भी सहन करना पड़ा था। परन्तु उनके अनुयायियों में अब इस प्रकार के लोग नहीं पाये जाते और इस पंथ की बहुत कुछ अवनति भी सुनी जाती है।[2] सुथराशाही अधिकतर पंजाब तथा बंगाल में पाये जाते हैं।

सेवा-पंथी सम्प्रदाय

सिक्खों के 'सेवापंथी सम्प्रदाय' की स्थापना कन्हैया नामक एक व्यक्ति के कारण हुई थी। वह सेवा-धर्म का कट्टर अनुयायी था और मुग़लों द्वारा गुरु गोविंद सिंह के आनंदपुरवाले दुर्ग पर चढ़ाई किये जाने पर उसने शत्रु-मित्र दोनों के दलों को पानी पिलाने की व्यवस्था समान रूप से की थी। गुरु गोविंद सिंह ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसे मानव-जाति का सच्चा सेवक बतलाया। कन्हैया ने अपने विचारों के आधार पर एक नवीन पंथ के भी चलाने का यत्न किया और उसके अनुगामियों की संख्या बढ़ने लगी। उसके एक शिष्य का नाम सेवाराय था और सेवा-पंथी नाम पहले-पहल कदाचित् इसी कारण पड़ा था। कन्हैया के एक दूसरे शिष्य के नाम पर अमृतसर में इस सम्प्रदाय के अनुयायी अहुणशाही वा अदलशाही कहलाते हैं। फिर भी सेवापंथी कहलानेवाले सिक्ख आज भी अपनी निःस्वार्थ सेवा तथा सहृदयता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये ईमानदारी के साथ मजदूरी करने और रस्सी बाँटने-जैसे छोटे-छोटे काम करके भी खाना अधिक पसंद करते हैं। यदि वे भिक्षावृत्ति भी स्वीकार करते हैं, तो जो कुछ भी मिल जाय उसी से संतोष कर लिया करते हैं। ये सफेद टोपी, सफेद दुड़ी, सफेद काछ वा धोती पहनते हैं और महन्तोत्सव के अवसर पर नये महंत को एक झाड़ू और एक कटोरा भेंट किया जाता है।

---

१. डॉ० निकल मैकनिकल: इंडियन थीइज्म, पृ० १५५।

२. जे० सी० ओमन: 'मिस्टिक्स' आदि, पृ० १९८-२००।

अकाली सम्प्रदाय

उक्त सिक्ख सम्प्रदायों में से 'निर्मला' को छोड़ कर अन्य सभी 'सहजधारी' भी कहलाते हैं ; क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य पूर्ववत् रहना ही कहला सकता है। किंतु निर्मला तथा निहंग कहलानेवाले लोगों को कभी-कभी 'सिंहधारी' कहा जाता है। 'निहंग' का शब्दार्थ निश्चित वा निर्भीक समझा जाता है और इन लोगों के अन्य नाम 'अकाली' और 'शहीदी' भी है। ये लोग खालसा-सम्प्रदाय के पक्के अनुयायी होते हैं और इनकी धार्मिक प्रवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक बातों द्वारा भी प्रभावित रहा करती है। इनका आविर्भाव, वास्तव में खालसा-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के पहले अर्थात् सं० १७४७ के लगभग मानसिंह के नायकत्व में हुआ था। उस समय चमकोर के छोटे-से दुर्ग में केवल ४० सिक्खों ने मुग़ल सेना का सामना किया था। अंत में, वहाँ से गुरु गोविंद सिंह को भेष बदल कर स्थान छोड़ देना पड़ा था। उस समय उन्होंने मार्ग में फ़कीरों के नीले वस्त्र पहन लिये थे जिन्हें उन्होंने निर्दिष्ट गाँव तक पहुँचकर अपने योग्य साथी मान सिंह को दे दिया था उन्हें एक नवीन पंथ चलाने की अनुमति भी दे दी थी। अकाली लोग इसी कारण नीले वस्त्र को ही अधिक पसंद करते हैं और उसी के साफे बाँधा करते हैं। कुछ अकाली अपने नीले साफे के नीचे एक पीला कपड़ा भी बाँधते है जो बहुधा उनके ललाट की ओर दीख पड़ता है। कहते हैं कि दिल्ली के किसी खत्री नंदलाल ने गुरु गोविद सिह से कभी पीले वस्त्र पहनने का आग्रह किया था जिसे गुरु ने स्वीकार कर लिया था। उसी के स्मारक के रूप में ऐसा किया जाता है। अकाली लोग पारस्परिक सहायता के बड़े इच्छुक देखे जाते हैं। इनके नियमों में एक यह भी प्रसिद्ध है कि भोजन करते समय ये पहले चिल्ला कर पूछ लेते हैं कि क्या किसी को भोजन की आवश्यकता है ? किसी के 'हाँ' कह देने पर उसे ये अपनी थाली में से कुछ अंश निकाल कर दे देते हैं। ये गाँजा, तम्बाकू आदि कभी नहीं पीते, किंतु कभी भंग छान लिया करते हैं।

इसकी विशेषताएँ

इनके सिद्धांतों के अनुसार धार्मिक आचार-विचार तथा युद्ध-संबंधी कार्यो में कोई भी मौलिक अंतर नहीं, न सार्वजनिक जीवन में पूरा भाग लेकर उसे उन्नत रूप में अग्रसर करते रहना किसी भी प्रकार से धार्मिक रहन-सहन के विपरीत समझा जा सकता है। इसके सिवाय इनका उद्देश्य एक यह भी जान पड़ता है कि सिक्ख-धर्म के अनुयायियों को एक अलग जाति के रूप में स्वीकार किया जाना सर्वथा उचित है। इसी कारण ये हिन्दू-धर्म द्वारा अपनायी

जानेवाली परंपराओं की ओर ध्यान न देकर अधिकतर सिक्ख-धर्मोचित नवीन बातों को ही प्रश्रय देते हैं। ये परमात्मा को सदा अकाल-पुरुष के नाम से पुकारते हैं, अपने ढंग से वस्त्रादि धारण किया करते हैं और अमृतसर के 'अकाल-तख्त' को सबसे अधिक महत्त्व तथा प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। किंतु महाराजा रणजीत सिंह के समय से इनका एक प्रधान स्थान आनंदपुर भी समझा जाने लगा है। अकाली लोग स्वभावतः शूरवीरों का जीवन अधिक पसंद करते हैं और इनकी साम्प्रदायिकता कट्टरपने की सीमा तक पहुँच जाया करती है। ये सिक्खों में अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इन्होंने विक्रम की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही कई प्रकार के सुधारों का सूत्रपात किया है और आज तक लड़-भिड़ कर अनेक अधिकार भी हस्तगत कर लिये हैं। सं० १९४७ के लगभग प्रतिष्ठित 'सिंह-सभा' के प्रसिद्ध आंदोलन द्वारा सिक्ख-जाति के अंतर्गत राष्ट्रीयता की भावना जागृत हो उठी थी और नामधारियों द्वारा भी उसे पूरी सहायता मिली थी। किंतु अकालियों की एकांत-निष्ठा ने इसे कहीं अधिक शक्ति प्रदान कर दी और उनमें आत्म-निर्भरता के भाव भर दिये। इन्होंने समय-समय पर अपने सत्याग्रही से भी अनेक प्रकार की विजय प्राप्त की है।

भगत-पंथी सम्प्रदाय

'भगत-पंथी' सिक्ख अधिकतर बन्नू जिले के पहारपुर में और डेरा इस्माइल-खाँ की तहसील में पाये जाते हैं। ये विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर किसी विधि-विशेष की ओर ध्यान नहीं देते। ये घर पर 'गुरुग्रंथ साहब' को ले जाते हैं और उसके कुछ अंश वहीं विवाह के अवसर पर पढ़ लेते हैं। मृत्यु के समय उनके शव गाड़े जाते हैं, जलाये नहीं जाते। उसके अनंतर कुछ दिनों तक उक्त धर्म-ग्रंथ के कुछ अंश पढ़े जाते रहते हैं। इनमें छुआछूत का विचार बिल्कुल नहीं रहता, न ये कभी तीर्थ, व्रत, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध-आदि का ही नाम लेते हैं। इनके यहाँ नित्यप्रति की प्रार्थना अत्यंत आवश्यक है जो छह बार हुआ करती है। सूर्योदय के पहले, दोपहर के पहले, दोपहर के अंनतर, सूर्यास्त के पहले, सायंकाल तथा रात को। प्रार्थना के समय ये आठ बार बैठते हैं, आठ बार उठा करते हैं और आठ बार साष्टांग दंडवत भी करते हैं। ये शुद्ध 'सिक्ख-धर्म' के उपासक हैं।[1]

गुलाबदासी सम्प्रदाय

'गुलाबदासी सम्प्रदाय' के प्रधान संचालक गुलाबदास पहले उदासी

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी आदि, भा० २, पृ० ८२।

थे। किंतु कुसूर के हीरादास के प्रभाव में पड़कर इन्होंने उदासियों की परंपरा का त्याग कर दिया। इनकी रचना 'उपदेश विलास' नाम से प्रसिद्ध है। इनके मत का मुख्य उद्देश्य आनंद है जिस कारण इनके अनुयायी बाल नहीं रखते, सुंदर-से-सुंदर कपड़े पहनते हैं तथा ऐश्वर्य भोगते हैं। ये असत्य के प्रति बड़ी घृणा प्रदर्शित करते हैं। ये ईश्वर की भावना में भी वैसी आस्था नहीं रखते, न इसकी कोई आवश्यकता समझते हैं। ये लाहौर, जलंधर, अमृतसर, फ़ीरोज़पुर, अंबाला तथा करनाल में अधिकतर पाये जाते हैं।

निरंकारी सम्प्रदाय

'निरंकारी सम्प्रदाय' को पेशावर के एक खत्री भाई देयालदास ने प्रवर्त्तित किया था जो सं० १८६२ के लगभग रावलपिंडी में आकर बस गए थे। इनकी मृत्यु के अनंतर सं० १६२७ में इनके पुत्र भाई भारा वा दरबारा सिंह ने उत्तराधिकार ग्रहण किया। ये लोग शुद्ध निरंकार की आराधना करते हैं जो प्रार्थनाएँ सुना करता है। प्रत्येक मास के प्रथम दिवस को ये विशेष-रूप से पवित्र मानते हैं और उस दिन 'ग्रंथ' का अध्ययन वा श्रवण विशेष-रूप से होता है। इनकी विशेष श्रद्धा गुरु नानकदेव के ही पदों के प्रति रहा करती है। रावलपिंडी में लेई नाम की जलधारा के निकट इनका अमृतसर बिलकुल अलग बना हुआ है जहाँ पर इनके मुर्दे भी जलाये जाते हैं। रावलपिंडी ही इनका प्रधान केन्द्र हैं।[1]

अन्य सम्प्रदाय

अन्य सिक्ख सम्प्रदायों में से प्रिथीचंद के 'मीनापंथ', रामराय के 'रामैया पंथ' तथा हंदल के 'हंदली सम्प्रदाय' के संबंध में पहले चर्चा की जा चुकी है। इन सबका मतभेद मूल सिक्ख-धर्म के साथ सर्वप्रथम व्यक्तिगत वा अधिक-से-अधिक साम्प्रदायिक मात्र ही रहा। हंदलियों ने तो कभी-कभी स्वयं गुरु नानकदेव के भी विरुद्ध कुछ-न-कुछ कह डाला तथा उनके अनुयायियों के विरुद्ध बराबर आचरण करते रहे। ये लोग 'निरंजनी' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं; क्योंकि इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक ने ईश्वर को 'निरंजन' शब्द के द्वारा ही अभिहित किया था। इनका गुरुद्वारा जंडियाल, जिला अमृतसर में 'बाबा हंदल का दरबार साहिब' के नाम से प्रसिद्ध है। हंदल की मृत्यु सं० १७११ में हुई थी तथा उनके उत्तराधिकारी देवीदास हुए थे जो उनकी मुसलमान पत्नी से उत्पन्न थे। इन्हें सिक्खों के साथ विरोध-भाव रहा जिस कारण महाराजा रणजीत सिंह ने इनकी भू-संपत्ति भी जब्त कर ली थी। कहा जाता है कि इन्होंने अहमदशाह अब्दाली की सहायता भी

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी आदि, भा० ३, पृ० १७७।

की थी। इस कारण भी अन्य सिक्ख इन्हें शत्रुवत् मानते थे। हुंदलियों के अतिरिक्त उदासियों का एक उप-सम्प्रदाय 'दीवाने साध' नाम का भी था जो अपने को धार्मिक उन्मादी माना करता था। फिर भी उक्त सभी सम्प्रदायों में अधिक प्रभावशाली तथा प्रसिद्ध वर्ग अकालियों का ही रहता आया है।

सुधार की योजनाएँ

वास्तव में जब से 'सिक्ख-धर्म' के अंतर्गत सुधार की लहर उमड़ी है, तब से इसके छोटे-मोटे सम्प्रदाय भी जो पहले हिन्दू-धर्म की ओर अधिकाधिक झुकते-से जा रहे थे, उसकी थपेड़ों से सजग होकर अपने को सँभालने लगे हैं। अब सिक्ख जाति का प्रत्येक युवक एक नये वातावरण से प्रभावित होकर 'इस नवीन परिस्थिति में हमारा क्या कर्त्तव्य है' का उत्तर सोचने लगा है। उसकी शिक्षा पूर्ण करने के लिए अनेक स्कूल तथा कालेज खुल गए हैं। बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित होती जा रही हैं। भिन्न-भिन्न सभाओं द्वारा सिक्खों के इतिहास, उनकी पृथक् संस्कृति तथा मानव-समाज के भीतर उनके स्थान-विशेष की ओर संकेत कर उनका महत्त्व बतलाया जा रहा है। सिक्ख-जाति अपने को अब एक निरा धार्मिक समाज कहना छोड़ कर एक सम्मानित राष्ट्र मानने की ओर अग्रसर होती दीखती है। उसने अपने ऐतिहासिक विकास के प्रकाश में इस बात को भली भाँति देख-समझ लिया है कि हम जिस प्रकार एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में रह कर भजन-भाव में लीन रह सकते हैं, वैसे ही अवसर पड़ने पर अपने बाहुबल द्वारा शक्ति अर्जित करके महाराजा रणजीत सिंह (सं० १८३७ : १८९६) की भाँति एक बड़े भू-खंड पर शासन भी कर सकते हैं। भारतवर्ष के भीतर यह जाति आजकल एक महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग के ही रूप में है। और हिन्दुओं अथवा मुसलमानों की तुलना में इनकी प्रायः सत्तावन लाख प्राणियों की संख्या नगण्य समझी जा सकती है। किंतु देश का विभाजन हो जाने के कारण इनका प्रभाव कम-से-कम भारत में बहुत बढ़ता जा रहा है। अब इनके लिए अवसर मिल गया है कि ये अपने को गुरु गोविंद सिंह के 'तीसरा पंथ कीनो' वाक्य को भली भाँति चरितार्थ कर दें। फिर भी हिन्दू-जाति के साथ सिक्ख-जाति का कोई मौलिक भेद नहीं है। दसवें गुरु द्वारा कहा गया उक्त पदांश कदाचित् साम्प्रदायिकता के आवेश में निकला हुआ उद्‌गार-मात्र प्रतीत होता है। अतएव यह भी संभव है कि गुरु नानक द्वारा बीजरूप में रोपा गया, गुरु अमरदास की भेदभाव-रहित विचार-धारा द्वारा सींचा गया, गुरु अर्जुन के आत्मोत्सर्ग के आलबाल में पोसा गया, गुरु हरगोविंद राय की राजनीतिज्ञता द्वारा सुरक्षित किया गया, अंत में गुरु गोविंद सिंह के पराक्रम द्वारा पुष्टि प्रदान किया गया यह पेड़ किसी दिन विशाल हिन्दू-जाति के उद्यान का

एक सुंदर वृक्ष बन कर मानव-समाज को अपने मधुर फल अर्पित कर सके और दोनों मिल कर एक महान् भारतीय राष्ट्र के रूप में उसका पथ-प्रदर्शन करने में भी समर्थ हो जायँ ।

५. जसनाथी वा सिद्ध-सम्प्रदाय

सिद्ध जसनाथ का परिचय

जसनाथी अथवा सिद्ध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सिद्ध जसनाथजी का जन्म सं० १५३९ की कार्तिक शुक्ल ११ के दिन शनिवार को ब्राह्म मुहूर्त्त के समय हुआ था। इनका जाणी जाट हमीरजी के घर अवतार लेना कहा जाता है।[1] कहते हैं कि हमीरजी अपनी ८५ वर्ष की अवस्था तक बिना किसी संतान के थे और अपनी पत्नी रूपादे के साथ अत्यंत दुखी रहते थे। एक दिन उन्हें इसके लिए जंगल में तप करते समय वरदान मिला। तदनुसार उन्होंने 'डावला' स्थान पर जाकर इन्हें बाल-रूप में पाया। इस कारण हमीरजी को इनका पोषक पिता ही कहने की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। हमीरजी बीकानेर राज्य के अंतर्गत वर्तमान कतरियासर के अधिपति थे। 'जलम झूलरो' के अनुसार[2] इन्हें अपने घर लाकर उन्होंने इनका नाम 'जसवंत' रखा। बालक जसवंत की शिक्षा का कोई निश्चित विवरण उपलब्ध नहीं है। किंतु इतना पता चलता है कि जब ये अपनी १२ वर्ष की अवस्था में किसी दिन अपनी माता की आज्ञा से जंगल में चरती हुई ऊँटनियों को ढूंढ़ रहे थे, इन्हें योगी गुरु गोरखनाथ वहाँ मिल गए। उन्होंने इनके सिर पर अपना हाथ रख कर कान में 'सत्य शब्द' फूंक दिया। उस दीक्षा वाले स्थान का नाम 'भाग-थली' बतलाया जाता है। उस समय के लिए कहा गया है कि वह सं० १५५१ की आश्विन शुक्ल ७ का दिन था।[3] गुरु गोरखनाथ से आज्ञा पाकर जसवंत ने अपने हाथ की छड़ी (जाल वृक्ष की टहनी) को जमीन में गाड़ दिया। वहीं पर अपना आसन जमा कर इन्होंने अपनी साधना की जिस कारण वह स्थान 'गोरख-मालिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बालक जसवंत पीछे सिद्धि प्राप्त कर लेने पर

---

१. "विक्रम संवत् पंचदश, गुण चाली दरसात।
कार्त्तिक शुक्ल एकादसी, मिल्या नाथ परभात।"—यशोनाथ पुराण, पृ० २।

२. 'जलमझूलरा' नामक ४ पद्य संग्रह अधिक प्रसिद्ध है और वे जियोजी साँखला, लालनाथ, चोखनाथ तथा सवाईदास की रचनाएँ हैं।

३. "संवत् पनरै इकावनै, आसोजी सुद पाय।
वा दिन गोरखनाथ सुँ, जसवंत जोग पठाय॥
—यशोनाथ पुराण, पृ० ३३।

'सिद्ध जसनाथ' के नाम से अभिहित किये जाने लगे। इन्होंने अपने संपर्क में आने-वालों को दीक्षित करना तथा सब किसी को उपदेश देना भी आरंभ किया जिससे इनकी प्रसिद्धि हो चली। कहते हैं कि उधर का कोई एक तांत्रिक था जो अपनी "इन्द्रियों को वश में रखने के अभिप्राय से एक तालाबंद लोहे का लंगोट लगाये रहता था।"[१] वह इसी कारण 'लोहा पांगल' भी कहलाता था और इनके प्रति ईर्ष्या का भाव रखता था। इन्होंने उसका मान-मर्दन करके उसे कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा अपने अंतःकरण को वश में रखने का उपदेश दिया। इसी प्रकार इन्होंने किसी घड़सीजी को भी पराभूत किया जो 'लूणकरजी' तथा अड़सीजी के साथ घोड़े पर चढ़ कर इनकी परीक्षा लेने आये थे। इनके सं० १५५७ में किसी समय 'विश्नोई सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक संत जांभोजी के साथ वार्त्तालाप करके उन्हें प्रभावित करने की भी घटना प्रसिद्ध है। सिद्ध जसनाथजी की सगाई इनकी केवल १० वर्ष की ही अवस्था में किसी 'काड़लदे' के साथ हो चुकी थी। इनके योगी हो जाने पर इन दोनों का विवाह-संबंध नहीं हो सका, किंतु काड़लादे ने इन्हें सदा वैसे पुरुष रूप में ही देखा। इस कारण कहा जाता है कि जब सं० १५६३ की आश्विन शुक्ल ७ को शुक्रवार के दिन इन्होंने समाधि ले ली तो वे भी वहीं समाधिस्थ हो गईं और 'महा-सती' कहला कर प्रसिद्ध हुईं। जसनाथजी की रचनाओं में 'सिंभूधड़ा' तथा 'कोडाँ' के नाम लिये जाते हैं। किंतु कुछ लोगों के मत में ये इनके शिष्यों की भी हो सकती हैं। इसी प्रकार इनकी अन्य अनेक फुटकर बानियों के संबंध में भी कोई निश्चित मत दे पाना संभव समझा जाता।

शिष्य-प्रशिष्य और समसामयिक

सिद्ध जसनाथजी ने केवल २४ वर्ष की ही अवस्था में समाधि ले ली। किंतु इसके पहले इन्होंने बहुत से व्यक्तियों को अपने अनुपम व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित कर लिया था तथा इनके अनेक शिष्य भी हो गए थे। इनके ऐसे शिष्यों में सर्वप्रथम हारोजी का नाम लिया जाता है जिनका जन्म 'पसलू' नामक गाँव के उदोजी जाट के घर सं० १५३० में हुआ था। ये अपने सभी भाइयों में छोटे थे, सरल स्वभाव के थे तथा इन्हें इनके पिता ने 'रेवड़' (भेड़ बकरी का झुंड) चराने का काम सौंप रखा था। इनका जन्म-स्थान कतरियासर से केवल ४ कोस पर ही था। इस कारण ये कभी-कभी रेवड़ चराते समय गोरखमालिये तक भी चले जाते थे, इसलिए सिद्ध जसनाथजी का वहाँ इन्हें उपदेश सुनने का भी अवसर मिला और ये क्रमशः उनके

---

१. सूर्यशंकर पारीक : सिद्ध-चरित्र, सिद्ध-साहित्य-शोध-संस्थान, रतनगढ़, राजस्थान, सं० २०१३. पृ० ६३।

पूर्ण प्रभाव में आ गये। इनका यह परिवर्तन इनके पिता को पसंद नहीं आया और वे सिद्ध जसनाथ से भी रुष्ट हुए। किंतु पीछे स्वयं उन पर भी उनके दर्शनों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने न केवल अपने पुत्र को उन्हें समर्पित कर दिया, प्रत्युत उनके 'सेवक' तक बन गए। हारोजी ने जसनाथजी के साथ रहते समय उनके तथा जांभोजी के पारस्परिक मिलन वाली घटना में भाग लिया। फिर अपने गुरु तथा सती काड़लदे के बीच समय-समय पर संदेश-वाहक बन कर भी उनका कार्य किया। जसनाथजी के समाविस्थ हो जाने पर ये अपनी जन्म-भूमि बमलू चले आये। यहाँ पर प्रायः १२ वर्षों तक उनके उपदेशों के प्रचार में ये निरत रहे। अंत में सं० १५७५ की आश्विन शुक्ल ७ को रविवार के दिन इन्होंने वहीं समाधि ले ली जिस कारण वह गाँव भी एक तीर्थ-सा बन गया है। जिस समय हारोजी बमलू में रह कर अपनी साधना कर रहे थे उस समय वहाँ पर एक दिन जसनाथजी के पोषक पिता हमीरजी के छोटे भाई राजोजी के पुत्र हाँसोजी पहुँचे। इन्होंने उनकी कनिष्ठिका अँगुली पकड़ कर उन्हें 'आदेश' किया।[1] फलतः अपने गुरु की किसी भविष्यवाणी को स्मरण करके हारोजी ने इन्हें उनकी 'माला-मेखली' समर्पित कर दी। तब से हाँसोजी वहाँ से चल कर एकाध स्थानों पर उपदेश देते रहे। इन्होंने अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया। अंत में जसनाथजी की समाधि के निकट ३६ नियम-पालन के अनंतर इन्होंने अपनी 'साधना' के एक स्थल पर सं० १५९९ में समाधि ले ली और व स्थान 'लिखमादेसर' कहलाया।

वही

जसनाथजी के शिष्य-प्रशिष्यों में अन्य अनेक योग्य साधक भी हो चुके हैं और उनके विविध चमत्कारों की कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं। ऐसे पिछले लोगों में सिद्ध रुस्तमजी का नाम विशेष श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनका जन्म किसी समय सरदार शहर से १४ कोस उत्तर की ओर बसे हुए 'थेड़ी' नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता साँवलदास चौहान थे जो किसी नवाब के यहाँ दीवान थे। वह उनसे इतना रुष्ट था कि उनके सारे परिवार को ही समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था। इस कारण उसने सभी को मरवा डाला और केवल एक बालक रुस्तमजी को ही किसी प्रकार इनके ननिहाल में छिपाने का यत्न किया गया। वहाँ पर भी कोई प्रबंध न हो सकने पर इन्हें किसी 'सुखा' चौधरी को दे दिया गया। सुखा ने इन्हें अपनी संतान के रूप में पाला-पोसा और उसने इन्हें भेंड़-बकरी चराने के

---

१. **'आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारतः।**
त्रयाणामेक संभूति रादेशः परिकीर्त्तितः'—सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

काम में नियुक्त करा लिया। एक दिन जब ये किसी शमी वृक्ष (खेजड़ी) की टहनी काट रहे थे किसी वृद्ध साधु ने आकर इन्हें ऐसा करना अनुचित बतलाया और अंत में इन्हें सन्मार्ग भी सुझा दिया। रुस्तमजी ने स्वयं भी इसकी चर्चा की है तथा इस संबंध में कहा भी गया है कि वह साधु गुरु गोरखनाथ थे जिन्होंने सं० १७२८ की माघ शुक्ल प्रतिपदा को इन्हें उक्त प्रकार से सजग कर दिया। तत्पश्चात् रुस्तमजी को आनंद के कारण ध्यान भी लग गया और ये तीन दिनों तक अपने स्थान से डिगाये तक नहीं जा सके। फिर वहाँ से ये लिखमादेसर गये और वहाँ पर धनराजजी से विधिवत् दीक्षा भी ले ली। इधर कुछ दिनों के उपरांत औरंगजेब बादशाह का धनराज जी को 'परवाना' मिला कि वे उसके यहाँ आकर अपने चमत्कारों की परीक्षा दें। इसके अनुसार उनसे आज्ञा लेकर सं० १७३६ में ये स्वयं १० साथियों को लिये हुए दिल्ली पहुँचे और वहाँ जाकर इन्होंने उसे भलीभाँति प्रभावित कर दिया। रुस्तमजी न केवल एक उच्च कोटि के योगी थे, अपितु एक सिद्ध कवि भी थे। इनकी फुटकर पंक्तियों के अतिरिक्त दो प्रबंध-काव्य भी उपलब्ध हैं जिनमें से एक १८० कड़ियों का 'शिव-व्यावली' है और दूसरा १६० कड़ियों का 'किसन व्यावलो' नामक है। इनकी जीवित समाधि का समय सं० १७७५ की ज्येष्ठ सुदी ३ का दिन बतलाया गया है। यह घटना छाजूसर में हुई जहाँ पर इनकी समाधि थी।[1] रुस्तमजी के अतिरिक्त १८वीं शताब्दी के ही एक प्रसिद्ध जसनाथी लालनाथजी भी हुए जिनकी जन्म-भूमि लालमदेसर गाँव में थी। इन्होंने कुंभनाथजी से उनके जीवित समाधि लेते समय कोई 'मतीरा-प्रसाद' पाकर वैराग्य स्वीकार कर लिया। इसका पता चलने पर इनकी पति-परायणा स्त्री ने भी इनका अनुसरण किया और इन दोनों ने अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त की। लालनाथजी के जीवन-काल की निश्चित तिथियाँ उपब्ध नहीं हैं, किंतु इनकी ६ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं: १. 'हरिरस' (दोहा-चौपाई में) २. 'वरणविदा' (नीति-ग्रंथ), ३. 'हरलीला' (भक्ति-ग्रंथ) ४. 'निकलंग परवाण' (कल्कि अवतार विषयक और भविष्यवाणी परक ग्रंथ) ५. जीव समझोतरी' (आध्यात्मिक रचना) और ६. फुटकर वाणी संग्रह।[2]

सिद्धांत तथा साधना

जसनाथी साहित्य की उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि इसमें

---

१. "संवत् सतरा बरस अठाई, माघ सुदी एकम दिन आया।
वा दिन गोरखनाथ मिलाया, रुस्तमनाथ नाम गुरु दाया।"
—यशोनाथ पुराण, पृ० १०१-२।

२. सिद्ध-चरित्र, पृ० १७४।

निहित मत का मूल स्रोत नाथ-पंथी सिद्धांत है। यदि सिद्ध-सम्प्रदाय के उदय और विकास पर विचार किया जाय तो उसके द्वारा भी इसी बात का समर्थन होता है। वास्तव में सिद्ध जसनाथ का आविर्भाव-काल ही ऐसा था जिसमें नाथ-पंथ के प्रभाव प्रायः सर्वत्र दीख पड़ रहे थे। उस युग के अंतर्गत संत जांभोजी, हरिदास निरंजनी और गुरु नानक-जैसे महापुरुष हुए जिन पर भी उसका असर कुछ कम न था। परन्तु इसके कारण इस सम्प्रदाय की मूल विचार-धारा साधारण संत-मत से कहीं पृथक् प्रवाहित होती नही प्रतीत होती। जसनाथजी के 'जोग' का लक्षण यही है कि "सत्य के अनुसार संयम के साथ रहा जाय और किसी के साथ मिथ्यालाप न किया जाय। हे प्राणी, तुम अपने शरीर रूपी पुस्तक पर मनरूपी लेखनी से भगवान् के गुण लिखते चलो। अमृत-जैसे शब्द बोलो और गुरु का उपदेश मानो।"[1] इसी प्रकार "हम तो 'दरवेश', 'निरंजन जोगी' हैं और इसी रूप में बराबर नेतृत्व करते आये हैं, जो जैसा है उससे वैसा व्यवहार करते हैं। उसी के अनुसार उससे बातचीत तक भी करते हैं;"[2] उन्होंने कहा है। इससे उनके जीवनादर्श के स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती। सिद्ध लालनाथ के कथनानुसार, "सबके भीतर एक ही ब्रह्म है और वह चर तथा अचर सर्वत्र व्यापक है और केवल अपने व्यवहार के कारण द्वेष-भाव उत्पन्न हो जाता है अथवा द्वैत-भावना से 'छूत' तक का प्रसंग आ जाया करता है।"[3] "निर्गुण का आधार लेकर उद्धार हो गया और सगुण की आराधना अपनाने पर पवित्रता आ गई तथा इन दोनों से रहित व्यक्ति मिथ्यावादी बने रह गए, विरले सुधर सके।"[4] इन्होंने अपने भीतर 'गगन मंडल में प्रेम ('शब्द') के श्रवण करने को कठिन साधना ठहरायी है। इस संबंध में इनका कहना है कि "यहाँ पर हीरे की खान है जहाँ तक अपने संदेह की शिला को तोड़ कर कोई

---

१. "जतसत रैंणा कूड न कैंणा, जोग तणी सहनाणी।
मन कर लेखण तन कर पोथी, हरगुणै लिखो पिराणी ॥
अमी चवै मुख इमरित बोलो, हालो गुर फरमाणी ॥"—सिद्ध-चरित्र, पृ० ९७।

२. "हम दरवेश निरंजन जोगी, जुग जुगरा अगवाणी।
जासुं जसा तासुं तैसा, और न बोला वाणी ॥"—वही, पृ० ९९।

३. "ब्रह्म सकल में एक है, चर अचर में जोत।
करमाँ सेती ईरखा, दूवितधा सेती छोत ॥"—जीव समझोतरी, दो० ६४, पृ० १८।

४. "निरगुण सेती निसतिरया, सुरगुण सुँ सीधा।
कूड़ा कोरा रह गया, कोइ बिरला बीधा ॥"—वही, दो० ५०, पृ० १६।

विरला पारखी हीं पहुँच पाता है।"[1] इसी प्रकार किसी योगी की वास्तविक योग-साधना के इन्होंने केवल चार अंग बतलाये हैं जिनमें से एक 'जत' (संयत जीवन), दूसरा 'रैणी' (रहनी) (सद्व्यवहार), तीसरा 'गुरु ग्यान' (सद्गुरु के प्रति निष्ठा) और चौथा 'विचार' (विवेकपूर्ण आदर्श) है। इसी मत को स्वीकार करने का ये आग्रह करते हैं।[2] जसनाथजी ने सृष्टि की रचना का मूल 'ओंकार' को माना है और बतलाया है कि किस प्रकार, सभी कुछ के नहीं रहते वही एक प्रकट हुआ था।[3] इसी प्रकार 'सिंभूधड़ा' में भी कहा गया है कि उस समय "महान् 'सिंभू (स्वयंभू) ने सृष्टि-कर्त्ता के रूप में सब कुछ निर्मित किया।[4] सर्वप्रथम अपने आप निराकार का जप किया तथा छतीस युगों तक न्यारा रह कर भी एकात्मा कहलाया।"[5] सिद्ध लालनाथ के अनुसार "इस रचना की जड़ आकाश की ओर है और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं। आकाश की ओर ही यह 'उगी' रहा करती है तथा जब तक हरी रहती है हिलती-डुलती है और अपना दिन पूरा हो जाने पर नष्ट हो जाया करती है।"[6] अतएव इन्होंने कहा है कि "हमें चाहिए कि 'अलख अमोलक नाँव' को ही दृढ़ निश्चय के साथ अपना लें, नहीं तो फिर समय निकल जायगा।"[7] "मस्ताना मन हमसे फिर कुछ करने नहीं देगा, क्योंकि उसके प्रभाव में आकर कितने ऋषि-मुनि भी 'राम' और 'कृष्ण' के नाम लेते ही रह गए।"[8] वास्तव में "वही बड़ा है जो सदा समदृष्टि रह कर शांत बना रहे, जिसके वश में

---

१. **"गिगन मँडल में प्रेम सुन, जहाँ हीरा री खान।**
बिरला पुँचै पारखू, सिल साँसै की भान।।"—जीव समझोतरी, दो० ५, पृ० ४।

२. **"जत, रैंणी, गुरु ग्यान की, चौथे चलो विचार।**
संता सत कर मानज्यो, जोगी का जप च्यार।।"—वही, दो० ५७, पृ० १७।

३. **सिद्ध-चरित्र, पृ० १२४-५।**

४. **वही, परिशिष्ट, पृ० ३।**

५. **वही, पृ० ४।**

६. **"पेड़ अकास जमी दिस डाला, आम दिसाई ऊगै।**
हरचो हुवे नित हालै डोलै, खँडत हुवे दिन पूगै।"—वही, सम०, दो० २७, पृ० ६।

७. **अलख अगोचर नाँव है, कर लीजे मन स्याही।**
दिन दस पीछ नीसरचाँ, वापरसी मूँगाई।।"—वही, दो० २, पृ० ३।

८. **वही, दो० ३६, पृ० १२।**

(प्राणायाम की साधना द्वारा) पवन आ गया हो जो ब्रह्म के चिंतन में निरत रहता हो, नहीं तो इस मानव शरीर मे और है ही क्या ?"[१] "जिसके हृदय में प्रेम की कटारी चुभ चुकी है और जिसे ज्ञान की 'सेल' का घाव हो चुका है वही शूरवीर सम्मुख जूझने वाला है और वही भव-सागर पार जाने में समर्थ है।"[२]

साम्प्रदायिक विशेषताएँ

जसनाथी सम्प्रदाय के अनुयायी ऐसे ही आदर्श को सामने रख कर बनाये गए ३६ नियमों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इनके ही अनुसार जीवन-यापन को "अगम के मार्ग पर अग्रसर होना ठहराया गया है।"[३] जो कोई व्यक्ति "श्री जसनाथजी द्वारा प्रतिपादित ३६ धर्म-नियमों का भलीभाँति से पालन करने की 'चलू' लेकर प्रतिज्ञा करता है या जिसने की हो यह तथा उसकी संतान को 'जसनाथी' समझा जाता है।"[४] इस सम्प्रदाय में विरक्तों की मंडली को 'परमहंस-मंडली' कहते हैं जिसका एक प्रारंभिक रूप 'दुगधाहारी' कहा जाता था। कहते है कि लिखमादेसर में जीवित समाधि लेने वाले खेतनाथजी उसके अंतिम सदस्यों में थे। वहीं पर समाधि लेने वाले एक अन्य संत गरीबदास भी थे जिनके द्वारा सम्प्रदाय के अंतर्गत 'भगवेवस्त्र' धारण करने का प्रचार सर्वप्रथम हुआ था। 'परमहंस मंडली' के विरक्त साधुओं में अनेक बहुत बड़े विद्वान् और ग्रंथ-रचयिता भी हो चुके हैं। इनके द्वारा लिखित साहित्य का आज तक सुरक्षित रखना भी बतलाया जाता है। उदाहरण के लिए लालनाथजी की चर्चा तो इसके पहले ही की जा चुकी है जिनमें एक मुक्तिनाथजी हुए हैं। इन्होंने 'सर्वस्व संग्रहसार' नामक वेदांत ग्रंथ का संपादन किया था। एक दूसरे मंगलनाथजी हुए जिन्होंने 'विचार बिंदु' तथा 'वीर-विजय' नामक दो प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी। एक तीसरे लक्ष्मीनाथजी हुए जिन्हें उच्चकोटि की विद्वत्ता के ही कारण, 'पंडितजी' कहा जाता था। जसनाथी-सम्प्रदाय को 'सिद्ध-सम्प्रदाय' कहने की परंपरा, कदाचित् इसके मूलतः गुरु गोरखनाथ से संबद्ध होने के ही कारण चली थी। यद्यपि इसमें नाथ-सम्प्रदाय की मान्यताओं के अतिरिक्त वैष्णव मत को भी विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता आया है।[५] इसके दो प्रचलित वर्गों में से एक को 'सिद्ध' तथा दूसरे को केवल 'जसनाथी जाट' कहने की परंपरा भी दीख पड़ती है। इनमें से सिद्ध लोग जहाँ भगवा रंग की पगड़ी बाँधते हैं और कभी-कभी काले ऊन का तीन गाँठों से गठा, धागा भी धारण

१. जीव समझोतरी, दो० ४८, पृ० १५। २. वही, दो० १६, पृ० ६।
३. सिद्ध-चरित्र, पृ० ११४। ४. वही, पृ० १८।
५. वही, पृ० २१-३, परिशिष्ट।

करते हैं, वहाँ ऐसे जाटों को अधिकतर साधारण वेश-भूषा में ही देखा जाता है और ये वैवाहिक संबंध भी किया करते हैं। इनके विवाह-संस्कार कन्या को वर-पक्ष के यहाँ लाकर जसनाथी मंदिरों में 'गोरखछंदों' के पाठ द्वारा संपन्न किये जाते हैं। इसी प्रकार इनके यहाँ अंतिम संस्कार भी 'भू-गर्भ समाधि' के साथ पूर्ण हुआ करता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में गंगा स्नान को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है तथा 'पंखिया' (मयूर पंख) का भी उपयोग होता है। इनके यहाँ अहिंसा की महत्ता सदा स्वीकार की जाती है तथा प्रत्येक मास की शुक्ल सप्तमी तथा चतुर्थी के दिन पुण्य-तिथि माने जाते हैं।

वही और अग्नि-नृत्य

इनके आवश्यक पर्वों और कृत्यों में 'रात्रि-जागरण' तथा 'अग्नि नृत्य' विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। ये दोनों प्रायः साथ-साथ चलते हैं और विशेषकर महत्त्वपूर्ण पर्वों के ही अवसरों पर अनुष्ठित किये जाते हैं। रात्रि-जागरण जीवित समाधियों पर धूप-दीप तथा हवन से आरंभ होता है और 'सिभूधड़ा' का पाठ भी किया जाता है। अग्नि-नृत्य के एक दृश्य का वर्णन करते हुए श्री सूर्यशंकर पारीक ने लिखा है, "बात वि० सं० १६६३ की है। रतनगढ़, बीकानेर में स्थित परमहंसों के समाधि स्थल पर जसनाथी सिद्धों द्वारा अग्नि-नृत्य का प्रदर्शन किया गया था।...मैंने देखा राजस्थानी वेश-भूषा में गेरुवे रंग की पगड़ी बाँधे कुछ व्यक्ति एक पंक्ति में बैठे थे। पंडित के मध्य में बैठे हुए व्यक्ति के सामने नगाड़ा जोड़ी रखी थी जिसे वह बजा रहा था और अन्य व्यक्ति कलापूर्ण ढंग से मँजीरे बजा रहे थे। सभी लोग गीत गा रहे थे। यद्यपि गीत दुर्बोध था, फिर भी उसकी स्वर-लहरी से श्रोताओं को अपार आनंदानुभूति हो रही थी। नर्त्तक जो उस समय तक बैठे थे गीत की बढ़ती हुई ध्वनि को सुन कर आत्म-विभोर हो उठे। उन्हें अपने तन मन की सुध-बुध न रही और वे अलमस्त होकर लाल-लाल धधकते हुए अंगारों के ढेर में बिना किसी रासायनिक द्रव्य के सहारे नंगे पैरों कूद पड़े और नाचने लगे।"[१] उनके अनुसार सैकड़ों मन लकड़ियों को जला कर अंगारे तैयार किये जाते हैं और इनके ढेर का विस्तार ३ फीट लंबा, ४ फीट चौड़ा तथा ३-४ फीट के लगभग ऊँचे का हुआ करता है, किंतु सुविधानुसार इसे बढ़ा अथवा घटा भी दिया जा सकता है। प्रारंभ में ६ व्यक्ति आरंभ करते हैं, जिनमें से एक नगाड़ों की जोड़ी को हथेली से बजाता हुआ 'ॐकार' का-जैसा आलाप लेता है और अन्य पाँचों दो श्रेणियों में विभक्त होकर मँजीरा बजाते हुए उसी (आलाप) को उठाते हैं। इनके बजाने का ढंग भी कुछ निराला

---

१. सिद्ध-चरित्र, भूमिका, पृ० =)-≡) ।

हुआ करता है। अंगारों के ढेर की चारों ओर पानी का छिड़काव भी कर दिया जाता है और मनौती के लिए घृत का हवन होता है। नृत्य करनेवाले अंगारों के ढेर (धूणाँ) में कई बार प्रवेश करते और उससे निकला करते हैं, किंतु इसके लिए नगाड़े की थापी की ओर उन्हें विशेष ध्यान देना पड़ता है। उनका अंगारों का हाथ में रखना और उनमें से छोटी-छोटी चिनगारियों को मुख में डाल कर दर्शकों की ओर फेंकना भी विचित्र है। इसके सिवाय कभी-कभी प्रज्वलित अंगारों को वे अपने दाँतो से भी पकड़ते हैं तथा फूँ-फूँ करके छोटी-छोटी चिनगारियाँ फेंकते रहते हैं। उनका अंगारों पर बैठ कर तथा उन्हें हथेली में रख कर मतीरा फोड़ने का प्रदर्शन करना अथवा कभी-कभी उठ कर अपने पैरों से साँड़ों की भाँति उस ढेर को कुरेदने लगना और भी आश्चर्यजनक हुआ करता है।[१]

प्रचार-क्षेत्र तथा प्रसार

जसनाथी सम्प्रदाय के प्रमुख स्थलों में कतारियासर, बमलू, लिखमादेसर, छाजूसर, पूनरासर, मालासर आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनमें से प्रथम को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है तथा वहाँ पर स्थित बाड़ी, गोरखमालिये और तालाब को पुण्य-भूमि का महत्त्व देकर वहाँ के लिए तीर्थवत् यात्राएँ की जाती हैं। सिद्ध वा महंत अपने-अपने 'मंडलों' के 'सेवकों' के यहाँ आकर 'फेरी', (जागरण देकर भेंट लेने की प्रथा) किया करते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख स्थलों पर मेले भी लगा करते हैं जिनमें स्त्रियाँ झुंडो में एक विशेष प्रकार की छींट का घाघरा पहन कर लोक-गीतों को गाती फिरा करती हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या आजकल १० लाख से कम की नहीं कही जा सकती। इनके प्रमुख केन्द्र बीकानेर तथा जोधपुर नामक राज्य क्षेत्रों के अंतर्गत पाये जाते हैं तथा इनके वहाँ पर लगभग १५०० घर भी बतलाये जाते हैं। राजस्थान प्रांत के अतिरिक्त कच्छ, भुज्ज, पंजाब, हरियाणा तथा मालवा आदि के प्रदेशों में भी इसका प्रचार हो चुका है। इसकी लोकप्रियता के बढ़ाने का बहुत कुछ श्रेय इसके अनुयायियों द्वारा निर्मित प्रचुर लोक-साहित्य को भी दिया जा सकता है। यह अधिकतर राजस्थानी भाषा में ही उपलब्ध है और यह केवल मौखिक रूप में ही न रहकर लिपिबद्ध भी होता जारहा है। 'जसनाथी साहित्य' का २२ अखाड़ों (संग्रह-खंडों) में पाया जाना कहा जाता है और इसका प्रमुख रूप आध्यात्मिक है। किंतु इसके गेय पद्यों में अधिकतर ऐसे मधुर भावों का भी समावेश पाया जाता है जिनका सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं है। रात्रि-जागरण के दिन जो गीत 'संगीत चौकियों' पर गाये जाते हैं उन्हें साम्प्रदायिक भावना

---

१. सिद्ध-चरित्र, परिशिष्ट, पृ० २७-८।

जागृत करने का श्रेय दिया जाता है। सम्प्रदाय के अनुयायियों की दृष्टि में सिद्ध जसनाथजी स्वयं परमात्म रूप हैं जिन्होंने, 'कालंग' राक्षस का नाश करके, कलिकाल का प्रभाव दूर करने के लिए विशेष रूप से अवतार धारण किया था। उन्होंने शिव तथा श्रीकृष्ण इन दोनों का यहाँ पर प्रतिनिधित्व किया था। इस बात में इन्हें संत जांभोजी से किंचित् भिन्न भी कहा जा सकता है। इन दोनों में एक विभिन्नता इस रूप में भी पायी गई कि जांभोजी जहाँ देशाटन में अधिक रमा करते थे, वहाँ जसनाथजी को एकासनस्थ रह कर अपनी साधना में लगे रहना ही कहीं अधिक प्रिय था।

६. हीरादासी परंपरा

हीरादास और समर्थदास

सूरत के एक प्रसिद्ध संत निर्वाण साहब हुए जिनका संबंध कबीर-पंथ के साथ जोड़ा जाता है, किंतु जिनकी गुरु-परंपरा अज्ञात है। इनकी अपनी शिष्य-परंपरा में कतिपय ऐसे संतों के नाम लिये जाते हैं जिनकी हिंदी बानियाँ भी उपलब्ध हैं। ऐसे लोगों में एक हीरादास हुए जिनका जीवन-काल सं० १५५१ से सं० १६३६ तक ठहरता है। इनका निवास-स्थान सूरत बतलाया जाता है और इन्हें संभवतः उक्त संत निर्वाण साहब के अनंतर आनेवाले वहाँ के गद्दीधारियों में भी समझा जाता है। इनके विषय में इतना और कहा गया मिलता है कि इन्होंने किसी 'खिन्नी' नामक वेश्या का उद्धार किया था। परन्तु इससे अधिक इनका कुछ भी पता नहीं चलता और इनकी बानियों में से भी केवल कुछ ही मिल पाती हैं। इन्होंने अपने एक चेतावनी भरे पद में कहा है, "अरे दीवाना अभी तेरी अवस्था केवल थोड़ी-सी है, फिर तू गफ़लत में क्यों पड़ा हुआ है और सच्चे हीरे का त्याग करके निरे काँच पर अनुरक्त है ? "अरे अपनी पुरानी प्रीति की सुध कर और हरि को अपना कर आवागमन से रहित हो जा।"[1] इसी प्रकार, इस संबंध में किसी एक समर्थदास की भी चर्चा की जाती है जिनका जन्म-स्थान सिद्धपुर, उत्तर गुजरात रहा। किंतु जो पीछे भ्रमण करते हुए सूरत की ओर चले आये थे और यहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे। इनका जीवन-काल सं० १५५१ से सं० १६२१ तक बतलाया जाता है और इनका मूल नाम भी 'बंकाजी' कहा जाता है। इससे हमारा ध्यान कबीर साहब के शिष्य बंकेजी की ओर नाम-साम्य के कारण आकृष्ट हो जा सकता

---

१. **"तेरी वाली उमरियाँ रे, दीवाना क्यों गफलत में राचेरी ॥टेक॥**
सच्चा हीरा तेरे हाथ न आवे, पाया तोहे काचेरी।" इत्यादि
—संतवाणी, शाहाबाद, नवंबर १९५८ ई०, पृ० ५।

है। परन्तु इन दोनों के एक और अभिन्न होने का हमें अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिल सका है। संत समर्थ दास के लिए कहा गया है कि ये सिद्धपुर के हाकिम किसी मुसलमान की कन्या पर आसक्त हो गए थे जिस कारण इन्हे अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़े। अंत में इन्हें विरक्त होकर तथा किसी लोचनदास नामक साधु से दीक्षा लेकर उस स्थान का त्याग कर देना पड़ा। सूरत में आकर इन्होंने संभवतः फिर यहाँ के गद्दीधारी महंत के साथ भी अपना संबंध जोड़ा और उसके उत्तराधिकारी बन गए। इनकी रचना का परिचय हमें 'वैराग्य-अग', 'उपदेश अंग' आदि जैसे विविध अंगों में संगृहीत पदों के रूप मे मिलता है। उदाहरण के लिए इन्होंने अपनी एक वैराग्य अंग वाली रचना में कहा है, "अरे प्यारे तू अलख से प्रेम कर क्योंकि तुझे यहाँ से किसी एक दिन कूच कर देना पड़ेगा और तू यहाँ से कुछ 'नेक' का सौदा भी करता चल।[१]" इन्होंने अपने को 'साँई समर्थ' भी कहा है।

माधवदास और प्यारेदास

संत धर्मदास के शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदास कहे जाते हैं और इनका जीवन-काल सं० १६०२-१६५३ प्रसिद्ध है। कहते हैं कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में ये भी किसी महाजन की कन्या पर अनुरक्त हो गए थे जिसके सर्प-दंश के कारण मर जाने पर इन्हें विरक्ति जगी और इन्होंने तदनंतर साधु-वृत्ति स्वीकार कर ली। इनके जीवन की किसी अन्य घटना मे कोई पता नहीं चलता, न इनकी कतिपय फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त हमें इनका कोई ग्रंथ मिलता है। इनके लगभग ५०० पद तथा ५८१ कुंडलियों का उपलब्ध होना बतलाया गया है जिनमें से एक पद के अंतर्गत इन्होंने कहा है, "भ्रमर केवल कलियों में लिपटा रह गया। जल में 'छीप' है छीप में मोती है और 'स्वाती' उस मुक्ता में अंतर्हित है; वृक्ष भूमि में है, बीज वृक्ष में है और फिर वृक्ष उस बीज में छिपा हुआ है; आग चकमक में है, लाली मेंहदी में है और उसी प्रकार तिल में तेल निहित है; तुझमें मैं हूँ और मुझमें तू है और हम दोनों में वही एक वर्तमान है।[२]" इन संत माधवदास के एक शिष्य प्यारेदास हुए जिन्होंने इनकी गद्दी का उत्तराधिकार प्राप्त किया और इनका जन्म-काल सं० १६२६ बतलाया जाता

---

१. **"अलख में प्रीत लगाव पियारे।**
तोहे यहाँ से एक दिन जावना है।।" आदि—संतवाणी, पृ० ६।

२. **भ्रमर कलिया में लिपटायो।।टेक।।**
जल बिच छीप छीप बिच मोती, स्वाति जाके मुक्ता में समायो।।
वृक्ष भूमि में, बीज वृक्ष में, वृक्ष जाके पुनि बीज छुपायो।।

है। कहते हैं कि इनका मूलस्थान काशी था जहाँ पर ये भी किसी वीरमती नामक वेश्या पर अनुरक्त रहे और इनका जीवन क्रमशः नष्ट होता चला जा रहा था। परन्तु संत माधवदास से इनकी भेंट हो जाने पर इनका मोह-भंग हो गया और ये उनके साथ सूरत चले आए। इनके भजन भी हमें केवल फुटकर रूपों में ही उपलब्ध होते हैं। किंतु इनकी पंक्तियों में हमें कम सरसता नहीं दीख पड़ती। इन्होंने अपने एक पद में कहा है, "अय साजन, मैं तेरा देश ढूंढती-ढूंढती हैरान हो गई, मैं तुझे ढूंढती-ढूंढती दूर देश तक आ पहुँची और मेरे यौवन की कांति जाति रही, किंतुतेरा पता नहीं चल सका। काले केश श्वेत हो गए, नवरंग चीर फीके पड़ गये और मेंहदी की लाली भी उड़ गई; अब मेरा बुढ़ापा आ गया जिसके भय से शरीर काँपने लग गया, नेत्रों तथा नाक से जल टपकने लगा और शरीर में पीड़ा प्रवेश कर गई। मैं प्रतिपल प्रियतम का नाम लेकर उस गुसाई को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती हूँ। हे माधव, तुम कहाँ हो।[१]" संत प्यारेदास के मरण-काल का कुछ पता नहीं चलता, न इनके जीवन-वृत्त की कोई अन्य बातें ही विदित हो पाती हैं। इनके गुरु माधवदास के अन्य शिष्यों में से बालम, जेत सिंह तथा निहाल आदि के नाम लिये जाते हैं, किंतु उनका कुछ पता नहीं है।

७. सिंगापंथी परंपरा

संत सिंगाजी

संतों की इस परंपरा का मूल संबंध संत ब्रह्मगीर महाराज के साथ समझा

चकमक में आग, मेहदी में लाली, तेल कसे तिल मैं सिरजायो॥
तूही हो मुझ में, मैं हूँ तुझ में, दोनों में 'माधवदास' समायो॥
—संतवाणी, पृ० ६-७।

१. **"खोजत खोजत हारी साजन तेरो देश कहाँ॥टेक॥**
साजन तोहे खोजत निकलत आय खड़ी दूर देश।
आजहु तेरा पता न पाया, जल गयो जोबन वेश॥
काला केश विलाय गये ही, सिर पै आय सफेदी।
नवरंग चीर फीके हो गये, उड़ गई लाल मेंहदी॥
अब तो बुढ़ापा आया भयावन, काँपन लागे शरीर।
नयन नासिका नीर बहत है, देही में डूब गई पीर॥
पल पल पियुजी नाम पुकार के, साद सुनो हो गुसाँई।
प्यारेदास जन करत बीनती, कहाँ हो माधव साँई॥"
—संतवाणी, पृ० ७।

जाता है जो संभवतः कबीर साहब के समकालीन थे। ये वर्तमान मध्यप्रदेश के निमाड़ प्रांत में स्थित किसी 'भैंसावा' नामक गाँव के निवासी कहे जाते हैं। इनके विषय में इतना और भी ज्ञात है कि इनके दो प्रमुख शिष्य मनरंगीर तथा देवगिर नामक थे जिनकी शिष्य-परंपराएँ भी चल पड़ीं। ब्रह्मगीर महाराज के शिष्य मनरंगीर के ही शिष्य सिंगाजी थे जिनके नाम से इस परंपरा को अभिहित किया जाता है। इन संतों का आविर्भाव निमाड़ प्रांत में हुआ था और इन्होंने अपनी रचनाएँ भी अधिकतर निमाड़ी भाषा में ही प्रस्तुत की थी। निमाड़ी भाषा में रची गईं किन्हीं 'अनामी सम्प्रदाय' के अनुयायियों की भी बानियाँ मिलती हैं, किंतु उनका कोई परिचय नहीं मिल सका। संत सिंगाजी की शिष्य-परंपरा के खेमादास द्वारा लिखी गई 'परचुरी' से पता चलता है कि इनका जन्म 'गवली' (ग्वाल) जाति के किसी परिवार में हुआ था और इनके पिता का नाम भीमाजी तथा माता का गऊरबाई था। प्रसिद्ध है कि इनका जन्म-दिवस सं० १५७६ की बैशाख सुदी ११ का गुरुवार था और इनका जन्म-नक्षत्र भी पुष्य था। किंतु 'परचुरी' के आधार पर इसके सभी विवरण प्रमाणित होते नहीं दीखते। उसके अनुसार इन्होंने सं० १६६४ में समाधि ली थी जिस समय इनकी अवस्था लगभग ९० वर्ष की थी। इस प्रकार इनका जन्म संवत् १५७४ भी माना जा सकता है जिसका मेल जनश्रुति के साथ पूरा-पूरा नहीं लग पाता। इसके सिवाय यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहांत इनके जीवन के केवल ४०वें वर्ष में ही हो गया था जिसके अनुसार इनका मृत्यु-संवत् १६१६ सिद्ध होता है। कहते हैं कि इनके जन्म-समय इनकी माता अपने घर के निकट उपलें पाथ रही थीं और वैसी ही दशा में उन्हें तीव्र प्रसव-वेदना का अनुभव हुआ। जब वे ५-६ वर्ष के हुए उसी समय इनके पिता ने अपने स्थान खूजरी वा खूजर गाँव का त्याग कर दिया जो पुरानी रियासत वडवानी, मध्यप्रदेश में था और अपनी गृहस्थी का सारा सामान लेकर वे ३०० भैंसों के साथ हरसूद नामक गाँव में चले आये। यहाँ रह कर उन्होंने सिंगाजी तथा इनके भाइयों और बहनों का विवाह-संस्कार किया और बालक सिंगा कुछ दिनों तक भैंस भी चराता रहा। 'परचुरी' से पता चलता है कि इनका प्रारंभिक जीवन ऊधमी लड़कों का जैसा रहा। ये कानों में 'मुद्रिका' पहनते, गले में सेली डालते, कमर में कटारी बाँधते तथा तीर कमान भी लिये रहा करते थे और ये प्रायः बंशी भी बजाते थे।

वही

कहा जाता है कि अपनी २१ वर्ष की अवस्था में सिंगाजी भामागढ़, निमाड़

के रावसाहब लखमे सिंग के यहाँ सं० १५६८ के आसपास केवल एक वा डेढ़ रुपया मासिक पर चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के काम में नियुक्त कर लिये गए। इस कार्य को ये कुछ वर्षों तक उनका विश्वासपात्र बन कर करते रहे और इनका यह वेतन साढ़े तीन रुपये तक वृद्धि पा चुका था। परन्तु एक दिन जब ये अपने चपरासी वेश में घोड़े पर चढ़ कर जा रहे थे, इन्हें मार्ग में रामनगर के मनरंगीरजी का गाना सुनायी पड़ा। मनरंगीरजी अपने गुरु ब्रह्मगीरजी की एक प्रसिद्ध रचना की पंक्तियाँ गा रहे थे :

"समझि लेओरे मना भाई, अंत नी होय कोई आपणो।"

तथा: **"यही रे मायाके फंद में, नर आया लुभाणा।" आदि**

जिनका गहरा प्रभाव इनके हृदय पर पड़े बिना नहीं रह सका। इसके फलस्वरूप इन्होंने घोड़े से उतर कर उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया। उनसे दीक्षित हो जाने पर फिर ये राव साहब की ओर से अनेक प्रलोभनों के आते रहने पर भी यहाँ से नहीं डिगे। कहते हैं कि यहीं रहते समय जब ये एक बार श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के अवसर पर अपने गुरु की सेवा में थे, इन्हे आज्ञा हुई, "मुझे नींद लग रही है, सोने जा रहा हूँ, जन्म-समय आधी रात को मुझे जगा देना", किंतु ये इसके रहस्य को भली-भाँति समझ नहीं पाये। तदनुसार अवतारवाद-जैसी बातों के प्रति पूरी निष्ठा न रहने के कारण इन्होंने अपने गुरु को जगा कर उन्हें कष्ट देना उचित नहीं समझा। उनकी जगह स्वयं आरती-पूजादि की विधि पूरी करके इन्होंने उनके आदेश की अवहेलना कर दी। मनरंगीरजी को जब जगने पर इस बात का पता चला तो वे इन पर अत्यंत रुष्ट हुए और उन्होंने कहा, "जारे दुष्ट, तू जीते जी मुझे फिर कभी अपना मुँह न दिखलाना"; जिस बात के लग जाने पर ये तब से केवल कुछ ही महीनों तक जीवित रहे और सं० १६१६ की श्रावण शुक्ल ६ को इन्होंने समाधि ले ली। मनरंगीरजी को इस घटना का समाचार पाकर बहुत कष्ट हुआ और इन्होंने पश्चात्ताप भी किया। संत सिंगाजी का समाधि-स्थान किकड़[१] नदी के किनारे आज भी वर्तमान है जहाँ पर संभवतः इनके किसी शिष्य नारायणदास का चलाया हुआ एक मेला प्रतिवर्ष की आश्विन १० को लगा करता है। इसमें लाखों की भीड़ में एकत्र होकर उधर के लोग इनके भजनों का गान भी किया करते हैं।

---

१. इसका एक अन्य नाम किकराड़' नदी भी है जिसे 'सिंगाजी प्रायः 'वाणगंगा' भी कहा करते थे। इसी में स्नान करते थे तथा इसी के किनारे बालकों को पढ़ाते भी थे।—लेखक।

शिष्य-परंपरा तथा रामजी बाबा

संत सिंगाजी की ही भाँति मनरंगीरजी के एक अन्य शिष्य जगन्नाथगीर भी थे, किंतु उनका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। उनकी केवल एकाध फुटकर रचनाएँ मात्र मिलती हैं, जिस प्रकार सिंगाजी के किसी शिष्य वा प्रशिष्य खेमदास तथा धनजीदास और दलुदास आदि के संबंध में भी उनकी रचनाओं के सिवाय अन्य बातें विदित नहीं है। इनमें से दलुदास के विषय में इतना और कहा जाता है कि वे सिंगाजी के पौत्र भी थे तथा धनजीदास जाति के नाई कहला कर प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ब्रह्मगीर महाराज के द्वितीय शिष्य देवगिर की शाखा के भी सभी लोगों का हमें यथेष्ट परिचय नहीं मिलता। केवल उनके प्रशिष्य रामदासजी वा 'स्वामी रामजी बाबा' के लिए कहा जाता है कि ये लीखी घूँघरीग्राम, ग्वालियर राज्य के किसी गूजर वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका कर्मक्षेत्र धानावड़ तथा होशंगाबाद के निकट वर्तमान धारावासा, रामटेक, रायपुर, खेड़ी आदि तक विस्तृत रहा। इन्होंने देवगीर के शिष्य तथा नर्मदा-तटवर्त्ती रहट गाँव के निवासी रघो संत से दीक्षा-ग्रहण करके अपनी साधना पूरी की थी। ये पहले मालगुजार थे, फिर खेती करते रहे और अंत में इन्होंने केवल तंबाखू बेचने मात्र की जीविका स्वीकार कर ली। इन्हें एक सच्चा 'गृहस्थ संन्यासी' कहा गया है और इनके संबंध में अनेक विचित्र चमत्कारों की भी चर्चा की गई मिलती है। इनके जन्म-काल अथवा देहांत के समय का भी हमें पता नहीं चलता, किंतु अनुमानतःइनका आविर्भाव विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा। स्वामी रामजी बाबा की एक समाधि धानावड़ तथा होशंगाबाद के मंगलवार मोहल्ले में है जहाँ पर इनका प्रधान 'आवास' भी है। इनके एक मात्र शिष्य अमरदास हुए और इनके पुत्र परसारामजी हुए, किंतु इन दोनों के विषय में हमें प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। इनके अपने समकालीन परिचित प्रमुख पुरुषों में विंध्यगुहानिवासी मृगन्नाथजी तथा औलिया गौरीशाह बादशाह भी प्रसिद्ध हैं। इनकी समाधि पर प्रतिवर्ष माघ सुदी १५ को मेला लगा करता है तथा इनकी रचनाओं में साखियों तथा भजनों की चर्चा की जाती है।[१] देवगीरजी के, इस रामजी स्वामी वाली शाखा-संबंधी शिष्यों का आगे का कोई विवरण हमें नहीं मिलता जहाँ मनरंगीरजी की सिंगाजी वाली शाखा-संबंधी शिष्यों की परंपरा का इधर बहुत दिनों तक वर्तमान रहना बतलाया जाता है। परन्तु स्वामी रामजी बाबा की शाखा वाले भी अपने आपको 'सिंगा-पंथी' ही स्वीकार करते कहे जाते

१. प्रो० लक्ष्मीनारायण दूबे : स्वामी रामजी बाबा, होशंगाबाद, पृ० १-१३।

हैं। इनके किसी पृथक् वर्ग का पता नहीं चलता।

सिंगापंथी साहित्य

संत सिंगाजी एक बड़े योग्य पुरुष थे। इन्होंने अपनी उच्चकोटि की साधना के अतिरिक्त अपनी सुंदर बानियों की रचना में भी अच्छी सफलता प्राप्त की थी। उनकी ऐसी बानियों की संख्या ११०० से कम नहीं है। इनमें से कुछ तो अनेक छोटे-छोटे संग्रहों में उपलब्ध हैं और शेष केवल फुटकर रूपों में ही मिला करती हैं। इनकी संगृहीत रचनाओं में 'दृढ़ उपदेश' (दोहा-चौपाई छंदों के २०१ पद)' 'अठवार' (७ पद), 'पंद्रतीन' (१५ पद), 'वाषा बड़ै' (२३ पद), 'आतम ज्ञान' (१६ पद), 'नराज' (२० पद), 'महिम्न स्तोत्र' (४० पद) 'भागवतपुराण' (सात अध्याय) तथा 'बाणावली' के नाम लिये जाते हैं। जहाँ तक पता है, इनमें से किसी का भी अभी तक उपयुक्त प्रकाशन नहीं हो पाया है। सिंगाजी के दादागुरु ब्रह्मगीर महाराज की उपलब्ध रचनाओं की संख्या अभी तक आधे दर्जन से अधिक की नहीं कही जा सकती। इनके गुरु मनरंगीर की रचनाओं में भी जितनी प्रसिद्ध उनकी 'लोरी' है उतनी अन्य कोई भी नहीं बतलायी जाती। मनरंगीरजी की 'लोरी' के लिए कहा जाता है कि उन्होंने इसकी रचना नदी में बहे जाते हुए किसी शिशु के शव को अपनी गोदी में लेकर तथा उसे संबोधित करके की थी।। इसका आरंभ :

"सोहं वाला हामलरो, नित निरलो।
निरमल थारी जोत, सोहं वाला हालरो।" टेक॥

जैसी मर्मस्पर्श करने वाली पंक्तियों से होता है। तत्पश्चात् क्रमशः मानव-शरीर के रूप में दीख पड़नेवाले उस विचित्र 'झूलने' में 'बिनब्याही को पूत' वा 'बाँझ को पूत' के प्रति लोरी कही जाती है तथा इसका अंत :

"अनहद घूँघरू बाजिया, वाफ़ा बाजिया, अजपा को मेह।
अष्टकमल दल खिली रह्या, बाबा खिली रह्या, जैसा सरवर मेव॥"

किया जाता है।[1] संत सिंगाजी की रचनाओं में से 'पंद्रतीन' के अंतर्गत प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की चर्चा द्वारा उपदेश दिये गए हैं और इनकी 'बाणावली' में कतिपय ऐसी अनूठी बातें कही गई हैं जो नुकीले वाणों की भाँति हृदय में चुभ जा सकती हैं। ये वास्तव में, इनके अचूक वाणों की जैसी भी कहला सकती हैं। खेमादास की रचना 'सिंगाजी की परचुरी' में संत सिंगाजी के जीवन-वृत्तों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। इसके एक स्थल पर यह भी कहा गया

---

१. सम्मेलन पत्रिका, त्रैमासिक, प्रयाग, पृ० ८८ पर उद्धृत।

है कि किस प्रकार उन्होंने इसके लेखक को दर्शन देकर इसे लिखने की प्रेरणा दी थी। यह घटना सं० १७४८ की बतलायी गई है[1] जब उनका (सिंगाजी का) देहांत, संभवतः निश्चित रूप से हो चुका था। यह पुस्तक स० १७५१ में लिखी गई है। संत सिंगाजी के पौत्र दलुदास की रचनाओं की संख्या १५०० तक भी कही जाती है, किंतु अभी तक इनके १०० से अधिक पद उपलब्ध नहीं है।[2] इसी प्रकार धनजीदास की रचनाओं में फुटकर पदों के अतिरिक्त 'अभिमन्यु का ब्याह', 'लीलावती', 'सेठ वारणसाह की कथा' तथा 'सुभद्रा-अर्जुन ब्याह'-जैसी कथात्मक पुस्तकों के भी नाम लिये जाते हैं। इससे जान पड़ता है कि इनका ध्यान प्रबंध-रचना की ओर भी गया था। इन सभी सिंगा-पंथी रचयिताओं ने संत सिंगाजी के प्रति प्रगाढ़ भक्ति तथा श्रद्धा से पूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं इस प्रकार की बातें न केवल उनके प्रत्युत स्वामी रामजी बाबा के संबंध में भी सर्वसाधारण तक प्रचलित बतलायी जाती हैं। उनके क्षेत्रों में इस संबंध की पंक्तियाँ प्रायः सर्वत्र सुनने को मिलती हैं।[3]

मत और विचार-धारा

संत सिंगाजी की बानियों को पढ़ने पर पता चलता है कि उनमें निहित विचार-धारा का प्रवाह लगभग उसी रूप का है जिसमें कबीर साहब अथवा अन्य प्राचीन संतों के भी सिद्धांत-स्रोत प्रवाहित होते दीख पड़ते हैं। इन्होंने अपने आराध्य परमतत्त्व के विषय में कहते हुए बतलाया है।[4] इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र उसके उस 'पद' वा स्थान की ओर भी निर्देश किया है जहाँ पहुँच कर हम उसे उपलब्ध कर सकते हैं।[5] इसी प्रकार स्वामी रामजी बाबा ने भी कहा

१. "संवत् सतरासो अड़ताला जांणी। सतगुरू बोल्या अमृत वाणी॥
समदरसी होय दरसन दीन्हा। चंदन वारे से लेपन कीन्हा॥"४३२

२. डॉ० कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, इलाहाबाद, १९६० ई०, पृ० २८६।

३. "म्हारा सिर पर सिंगा जबरा, गुरु मैं सदा करत हूँ मुजरा।"
तथा : "रामदास और रामजी, दो मत जानो कोय।
जो कारज हरि से बने, रामदास से होय॥"

४. "रूप नाहीं, रेखा नाहीं, नाहीं है कुल गोत रे।
बिन देही को साहेब मेरो, झिलमिल देखूं जोत रे॥"
तथा : "पानी पवण सों पातला, जैसे सूरज घाम।
ज्यों हो शशि का चांदणा, ऐसो मेरो राम॥"

५. "निर्गुण ब्रह्म है न्यारा, कोई समझो समझणहारा।

है।[1] संत सिंगाजी तथा इनकी परंपरा के लोगों ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए जिस उपयुक्त साधना को अपनाया है वह भी ठीक उसी प्रकार की है जैसी अन्य संतों की रचनाओं में हमें देखने को मिलती है। सिंगाजी ने उसे हरिनाम की खेती का रूपक बाँध कर समझाने की चेष्टा की है;[2] "श्वास-प्रश्वास रूपी दो बैल हैं, उनमें 'सुरति' की रस्सी लगा दो और अनन्य प्रेम की लंबी लकड़ी लेकर उसमें नोकदार काँटी बिठा दो जिससे वे बैल भलीभाँति चलते रहें और तुम्हारी हरिनाम की खेती होती चले।" स्वामी रामजी बाबा ने भी इसे बतलाया है।[3] इससे हमें संतों द्वारा अपनाये जानेवाले 'अजपाजाप' के महत्त्व का भी दिग्दर्शन मिल जाता है। जगन्नाथ गिर ने ऐसा ही कहा है।[4] अतएव इस प्रकार की सिद्धि के विषय में सिंगाजी ने अन्यत्र इस ढंग से भी कहा है।[5] संत सिंगाजी

त्रिकुटी महल में अनहद बाजे, होत सबद झनकारा।
सुकमन सेज सुन्न में झूले, सोहं पुरुष हमारा।
सिंगाजी भर नजरों देखें, वोही गुरू हमारा।"
निमाड़ी और उनका साहित्य, पृ० २८६-७ पर उद्धृत।

तथा : "मैं तो जाणूं सांई दूर है, मुझे पाया नेड़ा।
रहणी रही सामरथ भई, मुझे पखवा तेरा॥"
—संत सिंगाजी, सं० सुकुमार पगारे, खंडवा, अक्टूबर १९३६ ई०, पृ० ५१।

१. "तुम निरखो अपरंपार मनुआं, सहज करो व्योपार रे।
त्रिकुटी संगम भंवर गुफा में, जहां रहे करतार रे॥"
—स्वामी रामजी, बाबा पृ० १२।

२. "वास श्वास दो बैल हैं, सूर्ति रास लगाव।
प्रेम विरहा ने करधरो, ज्ञान आर लगाव॥"
—संत सिंगाजी, पृ० ४१।

३. "जापा मद्धे कई जुग बीते, अजपा में सुध पड़िया।
अजपा जाप जिभ्या नहिं आवै, सोई नाम से तिरिया॥"
—स्वामी रामजी बाबा, पृ० १३।

४. "सतगुर बुध उपजाविया, गुरु गुण किया परगास।
आपा मांहै लखीया, निरगुण किया परगास॥"
—आजकल, दिल्ली, अक्टूबर, ५३, पृ० २८।

५. "जल बिच कमल, कमल बिच कलियां, जहं वासुदेव अविनासी।
घट में गंगा घट में जमुना, वहीं द्वारका कासी।

की रचनाओं के अंतर्गत हमें कबीर साहब की जैसी उलटवाँसियों के भी एकाध उदाहरण मिलते हैं। ऐसे पदों के अंत में इन्होंने प्राय: कह दिया है कि उनमें 'उलट ज्ञान' का वर्णन है जिसे कोई 'विरला ही 'बूझ' वा समझ सकता है।[1]

परंपरा की वंशावली
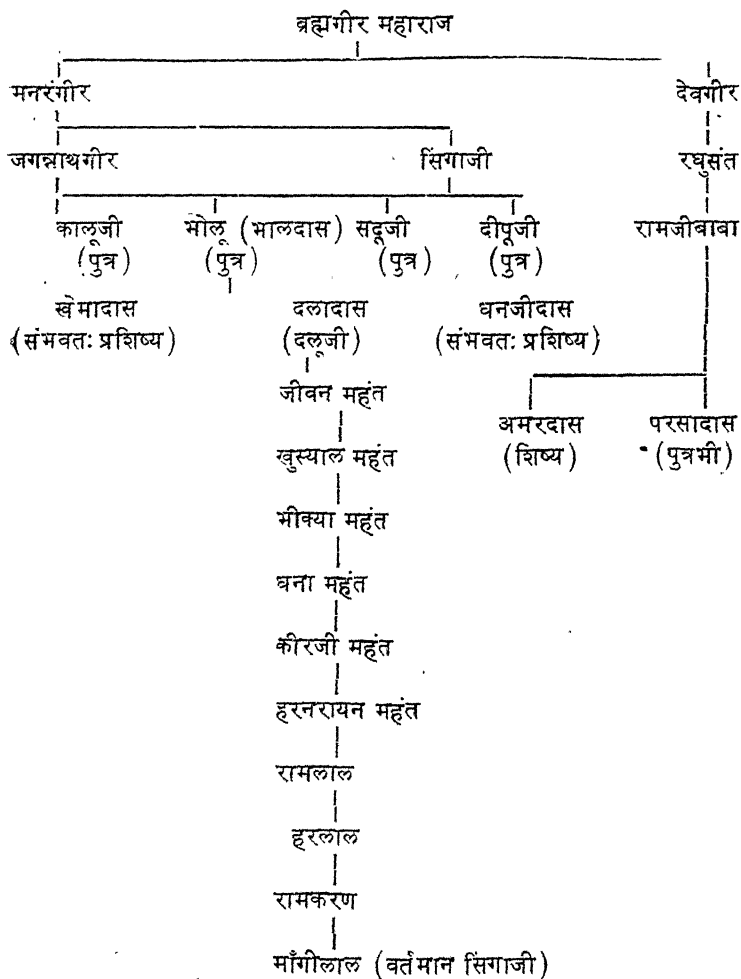
घर वस्तू बाहर क्यों ढूंढो, वन वन फिरो उदासी ।
कहैं जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुरा के वासी ।।"
—संत सिंगाजी, पृ० ११ ।

१. निमाड़ी और उसका साहित्य, पृ० २८८ पर उद्धृत पद में ।

८. फुटकर संत

(१) संत साँईदास

संक्षिप्त परिचय तथा विचार-धारा

संत साँईदास के जीवन-काल के संबंध में हमें अधिक विदित नहीं है। केवल इतना ही पता चलता है कि इनका जन्म सं० १५२५ में हुआ था। इनका जन्म-स्थान 'वट्टोकी' बतलाया जाता है जो कहीं पंजाब प्रांत में हो सकता है। ये जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे और इनको उसके भास्कर वंश का भी होना कहा जाता है।[१] किंतु इनके माता-पिता के नामादि उपलब्ध नहीं हैं। इनके गुरु प्रसिद्ध स्वामी रामानंद के शिष्य नरहरियानंद कहे जाते हैं जिन दोनों की चर्चा इन्होंने स्वयं भी अपने एक पद में की है।[२] इनके वंशधरों तथा गद्दीधारियों की किसी 'गोसाँई-परंपरा' का पंजाब प्रांत में आज भी विद्यमान होना कहा गया है। साँईदास की एकमात्र उपलब्ध रचना 'ज्ञानरत्न' ग्रंथ बतलाया गया है तथा उसी से लिये गए कुछ उद्धरण भी प्रकाशित हैं। इनकी ऐसी पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका मत भी अधिकतर इनके दादा-गुरु स्वामी रामानंद के ही जैसा रहा होगा। इनके 'निर्गुणोपासक' होने का अनुमान इस बात के आधार पर किया जा सकता है कि इन्होंने भी संत कबीर तथा अपने समकालीन गुरु नानकदेव की भाँति नाम-स्मरण को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। इन्होंने अपने भ्रम का गुरु के द्वारा प्राप्त 'जोग-जुगति' की साधना से दूर हो जाना भी बतलाया है। इस प्रकार के वर्णन किये हैं जो कुंडलिनी योगादि से संबद्ध हैं। इनका कहेना है, "जप, तप, संयम, कर्म तथा ज्ञान इन सभी प्रकार की साधनाओं से नाम-स्मरण की पदवी कहीं ऊँची है।"[३] इसके प्रमाण में इन्होंने अनेक पौराणिक भक्तों के नाम लिये हैं और इसकी सहायता से उनके उद्धार पा जाने के उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार इन्होंने उक्त 'जोगजुगति' आदि के विषय में भी कहा है' "नाड़ी तत्त्व का मूल रहस्य समझ कर कुंडलिनी

---

१. श्री चंद्रकांत वाली : पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास,
प्रथम खण्ड, दिल्ली, सन् १९६२ ई०, पृ० २१३।

२. "बाबा रामानंद जिस सिमरे होत अनंदि।
जिह मिसरन ते पाइये लक्ष्मी परमानंदि ॥
गुरु नरहरि पूर्व सकल करणा बुद्धि विवेक।
और नहीं कोही आसरा, एक तुम्हारी टेक ॥" उसी पृष्ठ पर उद्धत।

३. "जपि तपि संयम कर्म ग्यान। समते ऊंचा तेरा नाम।"
—वही, पृ० २१५ पर उद्धृत।

को क्रमशः चतुर्दल कमल (मूलाधार चक्र) से लेकर षटदल तथा अष्टदल वाले कमलों वा चक्रों की ओर ऊर्ध्वगति प्रदान की। गुरु से संकेत ग्रहण करके सूर (पिंगला नाड़ी) को सोम (ईडा नाड़ी) के घर में ला दिया।"[1] इन्होंने अन्यत्र इसी बात को इस प्रकार भी कहा है, "उलटी साधना द्वारा मन को गगन की ओर उन्मुख किया और तभी 'भर्म मृग' को मार डालने में समर्थ हो सका। इसके फलस्वरूप बाहरी कहना-सुनना सभी कुछ भूल गया, आवागमन का भय जाता रहा और 'अनभयपुर' के चिह्न दीख पड़े। उस समय की दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता है वह नितांत अकथनीय थी। 'अविगति' की 'गति' कुछ लख नहीं पड़ती। साँईदास का कहना है कि 'मुरारी' (परमात्म तत्त्व) की उपलब्धि हो जाने पर मैंने उसकी अद्भुत लीला अपनी आँखों देख ली।"[2] अतएव इनका अपनी ओर से यह भी कहना है "जो कुछ किया है वह केवल हरि ने ही किया है और जो कुछ भी सुख-साधन प्राप्त है उन्हें उसी ने प्रदान किया है, उस भगवान् के सिवाय और कोई भी नहीं है। इस बात को गुरु की शरण में जाकर मन में समझ लेना है।"[3] इन्हें विशुद्ध सगुणोपासक भक्तों की श्रेणी में रखना कदाचित् कभी उचित नहीं कहला सकता।

(२) संत शेख़ फ़रीद

शेख़ फ़रीद कौन ?

सिक्खों की प्रसिद्ध धर्म-पुस्तक 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत कई रचनाएँ, 'सलोक

---

१. "जोग जुगति ते मेल गुरि तै पाई। मिटि गयो भर्म दूसरा भाई॥
नाड़ी तत्त मूल जबि जान्या। चतुर्दल छीनि वटि दलि ठहराया॥
अष्ट कविल दल पौना जाई। सूषम कुंडिली रह्यो समाई॥
रोक्या सूर सोम गृह आइया। सांई दास पढ़ि गुरते पाइआ॥"
पृ० २१५ पर उद्धृत।

२. "धर्न उलटि मन गगनि चढ़ायौ। भर्म मिर्ग तवि ही हति पायौ॥
भूल गयौ जौ कुछ था बकिता। जोगि जुगंतर जोग सो जुगता॥
भई की भीति सुर्त विसरानी। अनभयपुर की परी निशानी॥
चित्ररूपु कहत नहीं आवै। जो मुष कहौं कहा नहीं जावै॥
अविगति गति कछु लषी नि जावे। बिसम होय मुष नाम चिरावै॥
अतिभुति लील्हा नैन निहारी। सांई दास जबि मिलै मुरारी।"
—पृ० २१६ पर उद्धृत

३. "जो कछु कीयौ सु हरि ही कीयौ। जो सुष दीयौ सु हरि ही दीयौ॥
बिन भगवानि और कौ नाहिं। गुरि मिल समझि देष मनि माही॥"
—वही, पृ० २१६।

शेख़ फ़रीद के' शीर्षक से संगृहीत की गई मिलती है। इनके वास्तविक रचयित के विषय में मतभेद चला आता है। 'दि सिक्ख रिलिजन' ग्रंथ के लेखक डॉ० एम० ए० मेकालिफ ने 'खोलासातुत्तवारीख' के आधार पर कहा है कि ये शेख़ फ़रीद २१वीं रज्जब सन् ६६० हि० : सन् १५५२ : १६०६ में मरे थे और उस समय तक अपनी गद्दी पर बैठे इनके ४० वर्ष बीत चुके थे। उन्होंने इनके दो लड़कों के भी नाम लिये हैं जिनमें से पहला अर्थात् ताजुद्दीन मुहम्मद था और वह भी एक प्रसिद्ध फ़कीर हो चुका है। दूसरे का नाम उन्होंने शेख़ मुनव्वर शाह शहीद दिया है जिसके विषय में और कुछ विदित नहीं है। इनके अनेक शिष्यों में से भी उन्होंने शेख़ सलीम चिश्ती का नाम दिया है और उसे फतेहपुरी भी बतलाया है।[1] इसी प्रकार एक अन्य लेखक सी० एच० आकलिन ने भी इन्हें शेख़ फ़रीद (द्वितीय) ठहराते हुए इनके जन्म-स्थान का दीपालपुर के निकट वर्तमान 'कीठीवाल' नाम दिया है। इनकी मृत्यु का समय १५५२ ई० बतलाते हुए इनकी समाधि का सरहिंद, पंजाब में होना भी कहा है।[2] इन शेख़ फ़रीद की अनेक पदवियाँ जैसे 'फ़रीद सानी', 'सलीस फ़रीद', 'शेख़ फ़रीद' 'ब्रह्म कलाँ', 'बलराजा', 'शेख़' ब्रह्म साहब' तथा शाह 'ब्रह्म' भी सुनने में आती हैं। मेकालिफ साहब ने गुरुनानकदेव के संबंध में लिखी गई प्राचीन जनम-साखियों के आधार पर यह भी बतलाया है कि इन्हीं शेख़ फ़रीद के साथ उनकी दो बार भेंट हुई थी। इन दोनों के बीच कुछ सत्संग भी हुआ था और उक्त रचनाएँ निश्चित रूप से इन्हीं की होंगी।[3] उनका कहना है कि गुरुनानकदेव अपनी पूर्व वाली यात्रा से लौटते समय पंजाब के दक्षिणी भाग की ओर गये जहाँ ये पाकपत्तन की गद्दी पर वर्तमान थे। इनके साथ हुई उनकी बातचीत का उन्होंने कुछ विवरण भी दिया है।[4] इसी प्रकार उन्होंने इन दोनों महापुरुषों की एक दूसरी भेंट की चर्चा भी की है। इन्होंने कहा है कि इस बार गुरु नानकदेव तथा मर्दाना पाकपत्तन से चार मील की दूरी पर ठहरे थे, किंतु उनकी अभ्यर्थना के लिए ये वहाँ पर स्वयं पहुँच गये तथा इन्हें आदर पूर्वक ले आये।[5] इन शेख़ फ़रीद का एक नाम शेख़ इब्राहिम भी प्रसिद्ध है। क्षिति बाबू के अनुसार इनकी कुछ अन्य

---

१. एम० ए० मेकालिफ : दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ३५७-८।

२. सी० एच० आकलिन : दि सिक्ख्स ऐंड देयर बुक, लखनऊ, १९४६ ई०, पृ० ९९

३. दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ३५६-७।

४. वही, पृ० ३८४-६।

५. वही, भा० ६, पृ० ४०१-२।

रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।[1] 'आदि ग्रंथ', में संगृहीत उक्त रचनाओं को 'शेख फ़रीद' की कृति कहा गया है, किंतु मेकालिफ साहब का अनुमान है कि शेख़ इब्राहिम का ही वह उपनाम है। इन्हें 'शेख़ फ़रीद सानी' कहने की परिपाटी भी चली आती है।

वही

इसके विपरीत कतिपय अन्य लेखकों का मत है कि उक्त रचनाएँ 'शेख फ़रीद सानी' की न हो कर वस्तुतः शेख़ फ़रीदुद्दीन गंज-ए-शकर की है जो इनके पूर्वज रह चुके है। इनका जीवन-काल सं० १२३० : १३२२ बतलाया जाता है अथवा कम-से-कम इनमें एक से अधिक व्यक्तियों की पंक्तयाँ सम्मिलित हो गई हैं। जो लोग इनका रचयिता 'गंज-ए-शकर' को मानते हैं उनका ' कहना कि एक तो गुरु नानकदेव के साथ इन शेख़ इब्राहिम की कोई भेंट होने की संभावना ही नहीं, क्योंकि जिस समय सं० १५९६ में उनका देहांत हुआ उस समय तक अभी ये अपनी गद्दी पर बैठे तक भी नहीं थे। इनका सं० १६१० में गद्दीनशीन होना बतलाया जाता है। इनके मरण का संवत् भी स० १६७१ दिया जाता है। इसके सिवाय इस संबंध में यह भी कहा जाता है कि इन रचनाओं में जो कुछ प्रभाव मुल्तानी का दीख पड़ता है वह केवल उसी दशा में संभव हो सकता है, जब हम इन्हें उन पुराने फ़रीदुद्दीन द्वारा रचित स्वीकार कर लें। इस मत के समर्थकों में एक डॉ० मोहन सिह जान पड़ते हैं जिनके लिए कहा गया है कि उन्होंने कतिपय 'प्रतियों से तुलना करके' इन्हें 'बाबा फ़रीद की कृति प्रमाणित किया है'।[2] एक दूसरे लेखक श्री चन्द्रकांत बाली हैं जिन्होंने इस संबंध में पाये जानेवाले विभिन्न मतों की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की है।[3] परन्तु इस संबंध में, "गुरुग्रंथ साहब में "शेख़ फ़रीद' शीर्षस्थ रचनाएँ गंज-ए-शकर बाबा फ़रीद की हैं, फ़रीद सानी की नहीं।"[4] जैसे स्पष्ट मत को 'विश्वास' के साथ व्यक्त करने के लिए कदाचित् कुछ विशेष गंभीर अध्ययन और विवेचन अपेक्षित होगा। शेख़ फ़रीद सानी की रचनाओं के 'आदिग्रंथ' में संगृहीत होने के लिए इनकी गुरु नानकदेव के साथ भेंट का भी हो चुका रहना अनिवार्य नहीं,

---

१. मिडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १११।

२. पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास, दिल्ली, १९६२ ई०, पृ० १३२।

३. वही, पृ० १२९-३६।

४. वही, पृ० १३०।

न यही आवश्यक होगा कि इनके साथ उनकी भेंट केवल तभी संभव हो जब ये पाकपत्तन में गद्दीनशीन हो चुके हों। जिन लोगों ने इन दोनों के मिलन की संभावना मानी है उन्होंने प्राय: इन शेख़ फ़रीद सानी का सं० १६०९ में अपनी गद्दी पर ४० वर्षों तक रह चुकने के अनंतर मरना भी स्वीकार किया है। इसके सत्य सिद्ध हो जाने की दशा में वह घटना कभी असंभव नहीं जान पड़ेगी। इसके सिवाय, जहाँ तक मुल्तानी के प्रभाव का प्रश्न है, हमें इस बात का भी कुछ-न-कुछ समाधान, इस प्रकार अनुमान कर लेने पर हो सकता है कि इन सभी रचनाओं का निर्माता केवल एक ही 'शेख़ फ़रीद' नहीं होगा, प्रत्युत यहाँ पर उक्त दोनों की कृतियों का सम्मिश्रण हो गया होगा। इसके द्वारा उस तीसरे मत को भी समर्थन मिलता जान पड़ता है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

शेख़ फ़रीद गंज-ए-शकर

शेख़ फ़रीद सानी के पूर्वज शेख़ फ़रीदुद्दीन गंज-ए-शकर का जन्म हि० सन् ५७१ (तदनुसार सं० १२३० : सन् ११७५ ई०) में प्रसिद्ध मुल्तान नगर के निकटवर्त्ती किसी 'खेतवाल' नामक गाँव में हुआ था और इन्हें अधिकतर 'बाबा फ़रीद' भी कहा जाता है। ये अजोधन में रह कर कई वर्षों तक साधना करते रहे और तदनंतर एक महान् पुरुष के रूप में विख्यात हो गए। इनके गुरु वा पीर ख्वाज़ा कुतुबुद्दीन बख्तियार 'काकी' थे जिन्होंने सं० १२९४ में अपना शरीर-त्याग किया। तब से ये उनका 'चोग़ा' पहन कर सर्वसाधारण को उपदेश देते तथा अपने अनुयायियों का पथ-प्रदर्शन करते रहे। इनका देहांत सं० १३२२ में हो गया। इनके उत्तराधिकारियों की परंपरा शेख़ बदरुद्दीन सुलेमान से आरंभ हुई जिनसे १२वीं पीढ़ी में शेख़ इब्राहिम वा शेख़ फ़रीद सानी हुए। इस प्रकार इन बाबा फ़रीद का तो गुरु नानकदेव सं० १५२६ : १५९६ के साथ मिलन कभी संभव ही नहीं हो सकता। यदि इनकी किन्हीं रचनाओं का 'आदिग्रंथ' वा 'गुरुग्रंथ साहव' के अंतर्गत संगृहीत होना संभव हो तो वह इन दोनों के बिना ऐसे किसी संबंध के भी हो गया होगा। परन्तु इस प्रश्न पर विचार करते हुए एक लेखक ने यह भी बतलाया है कि "यद्यपि 'सियारुल औलिया' के पृष्ठ ३६७ पर अमीर ख़ुर्द ने बाबा फ़रीद की एक मुल्तानी बोली में निर्मित रचना उद्धृत की है। हमें इनके समय में लिखे गए ग्रंथों के अंतर्गत ऐसा कोई भी प्रसंग आया नहीं दीखता जिसमें इनके सलोकों के अधिक संख्या में लिखने की कभी चर्चा की गई हो। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया ने इनकी साहित्यिक रुचि तथा दैनिक जीवन के अनेक रोचक विवरण दिये हैं। उनके अनुयायियों ने

भी ऐसा ही किया है, किंतु इस महान् संत की ऐसी किसी प्रवृत्ति का उन्होंने कोई उल्लेख तक नहीं किया है।"[1] इस लेखक के विचार से "भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी पता चलता है कि इन 'सलोकों' में बहुत पीछे के समय वाले मुहावरों तथा उक्तियों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें जो कवि का उपनाम पाया जाता है वह भी 'फ़रीद' का है, न कि 'मासूद' का जिसे ये प्रयोग में लाया करते थे।" "यह प्रायः निश्चित-सा है कि ये 'सलोक' इन के नहीं हो सकते। किंतु इतना स्वीकार किया जा सकता है कि इनमें से कुछ अर्थात् ९, १०, ११, १२, १४, १८, १९, २०, २३, २४, २६, २७, २८, ३३, ३७, ३९, ४१, ४३, ४४, ४७, ५०, ५१, ५४, ६१, ७०, ७१, ७२, ७३, ८४, ८९, ९०, ९१, ९९, १०१, १०२, १०३, १११, ११२ और ११६ इनके उन कतिपय प्रायश्चित्तों की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं जिनसे इनके जीवन की घटनाओं तथा इनकी विचार-धारा तक से कुछ-न-कुछ संबंध जोड़ा जा सकता है।"[1] अतएव, "हो सकता है कि गुरु नानकदेव के समकालीन शेख़ इब्राहिम ही इन सलोकों के वास्तविक रचयिता हों तथा उन्होंने इन अपने आचार्य की कुछ बानियों को अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया हो।[2]

शेख़ फ़रीद की विचार-धारा

'सलोक शेख़ फ़रीद के' शीर्षक के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं की संख्या 'आदिग्रंथ' में १३० की दीख पड़ती है। किंतु यह कदाचित् ठीक नहीं है इनमें से कुछ जैसे 'सं० ११३, ११९, १२० आदि में शेख़ फ़रीद का नाम नहीं आता तथा अन्य जैसे ३२, ५२ आदि में 'नानक' शब्द मिलता है। फिर भी कुछ लोगों ने इनकी संख्या अधिक-से-अधिक ११३ तक की स्वीकार कर ली है। इस प्रकार ऐसी रचनाओं के आधार पर यदि हम इनकी विचार-धारा का कुछ परिचय देना चाहें तो इनके सलोकों के अनुसार कह सकते हैं, "इस सरोवर में एक ही पक्षी है, किंतु पचासों जाल लगे हुए हैं, यह शरीर जल की लहरों में मग्न हो चुका है, हे सत्य परमात्मा, केवल तेरी ही आशा है।"[3] "आत्मा (जिंद) वधू और काल (मरण) वर स्वरूप है जो उसका पाणि-ग्रहण करके उसे लेता चला

---

१. ख़ालिक अहमद निज़ामी : दि लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑफ़ शेख़ फ़रीदुद्दीन गंज-ए-शकर, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़, सन् १९५५ ई०, पृ० १२१।

२. वही, पृ० १२२।

३. आदिग्रंथ वा गुरुग्रंथ साहेब, तारणतरण संस्करण, सलोक १२५, पृ० १३८४।

जायगा। पता नहीं वह जाते समय दौड़ती हुई किसे अपने गले लगायगी।"[१] "विरह-विरह तो सभी कहा करते है, किंतु उसका रहस्य किसी को भी विदित नहीं। वास्तव में विरह एक सुलतान है और जिसके शरीर में वह उत्पन्न न हो उसे श्मशान समझना चाहिए।"[२] "फ़रीद का कहना है कि जब तक नेत्रों के दो दीपक जलते ही रहते हैं तब तक मृत्यु का दूत आकर शरीर पर बैठ जाया करता है, वह दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया करता है, 'आत्मारूपी धन को लूट लेता है और दीपक बुझा कर चल देता है।"[३] "मैंने पहले समझा था कि मैं अकेले दु:ख मे पड़ा हूँ, किंतु अब सभी को दुख में ही देखता हूँ। जब ऊँचाई पर चढ़ के मैंने देखा तो पता चला क सबके घर में वैसी ही आग लगी है।"[४] अतएव, ये दूसरों को उपदेश देते हुए कहते हैं, "धूल की निंदा कभी नहीं करनी चाहिए। वास्तव में उसके बराबर कोई नहीं, जब तक हम लोग जीवित हैं वह पैरों के नीचे रहा करती है, किंतु हमारे मरने पर कब्र में वह ऊपर पड़ जाया करती है।"[५] "अपनी सूखी रूखी रोटी खाकर ठंडा पानी पी लिया करो, दूसरों की घी में चुपड़ी हुई रोटी देख कर तरसने मत लगो।"[६] "हे स्वामी 'मुझे किसी दूसरे के द्वार पर जाँचने की आवश्यकता न पड़े। यदि ऐसा अवसर आ ही जाय तो पहले मेरे प्राणों को शरीर से पृथक् कर दो।"[७] "हस को देख कर बगुले की भी तैरने की इच्छा हुई, किंतु उसके अनुकरण में चलते ही वह डूबने लगा और उसके पैर ऊपर की ओर उठ गये।"[८] "अय फ़रीद, जब खालिक खलक के भीतर मौजूद है और उसी में यह सभी कुछ अंतर्हित भी है तो फिर जिसको मंद वा नीच समझा जाय।"[९]

(३) संत भीषनजी

काकोरी के भीषन

संत भीषन के संबंध में बहुत कम पता चलता है। केवल दो-एक प्रसंगों के अतिरिक्त इनके विषय में अधिक नहीं विदित हो पाता। 'दि सिक्ख रिलिजन' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के रचयिता मेकालिफ साहब ने उस पुस्तक के छठें भाग में इनकी चर्चा करते हुए लिखा है कि अधिक संभव है कि ये भीषन काकोरी के शेख़ भीषन

---

१. आदिग्रंथ, सलोक १, पृ० १३७७। २. वही, सलोक ३६, पृ० १३७६।
३. वही, सलोक ४८, पृ० १३८०। ४. वही, सलोक ८०, पृ० १३८२।
५. वही, सलोक १७, पृ० १३७८। ६. वही, सलोक २६, पृ० १३७६।
७. वही, सलोक ४२, पृ० १३८०। ८. वही, सलोक १२२, पृ० १३८४।
६. वही, सलोक ७५, पृ० १३८१।

थे जिनकी मृत्यु अकबर के शासन-काल के प्रारंभिक भाग में हुई थी। फ़ारसी के इतिहास-लेखक बदायूनी ने उनके संबंध में लिखा है कि "शेख भीपन जो लखनऊ सरकार के काकोरी नगर के निवासी थे, अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। धर्म-शास्त्र के महान् पंडित तथा पवित्र आचरणवाले पुरुष थे। बहुत समय तक उन्होंने शिक्षक का काम किया। उन्हें सातों प्रकार के भिन्न-भिन्न पाठों के साथ सारा 'क़ुरान' कंठस्थ था और वे उसका उपदेश भी दिया करते थे। वे अपने को इरीज के मीर सैयद इब्राहिम की शिष्य-परंपरा में समझते थे और सूफ़ी-मत के रहस्यों को सर्वसाधारण के सामने कभी प्रकट नहीं करते थे। उसे वे केवल जिज्ञासुओं को ही एकांत में बतलाया करते। वे कहा करते कि खुदा की वहदियत का रहस्य जनता में प्रकट कर दिया जाय तो उसका प्रभाव वक्ता वा कुछ पंडितों तक ही सीमित रह जाता है। वे गाना नहीं सुनते थे और उसकी निंदा भी किया करते थे। उन्हें कई संतानें हुई जो सभी सच्चरित्र ज्ञान तथा बुद्धि-संपन्न थीं। इन ऐतिहासिक विवरणों का संग्रहकर्ता एक बार मुहम्मद हुसेन खाँ के साथ उक्त शेख की सेवा में उपस्थित हुआ था। रमज़ान का महीना था। किसी ने उन्हें न्याय-शास्त्र की एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि मुझे इसमें से कोई पाठ दीजिए। शेख ने कहा कि तुम्हें कोई आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ना चाहिए। शेख की मृत्यु हि० सन् ९८१ : सन् १५७३-४ ई० वा सं० १६३०-१ में हुई थी।[१]

मेकालिफ का अनुमान

बदायूनी का यह भी कहना है कि जब मुजफ्फर खाँ ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था, तब उसने एक बार अपना खीमा शेख भीषन की समाधि के ही निकट लगाया था, ताकि वह उनसे अपनी सफलता के लिए प्रार्थना कर ले। इसी प्रकार बदायूनी ने हाजी भीषन बसवानी का भी नाम लिया है। किंतु वे काकोरी के शेख भीषन से भिन्न व्यक्ति जान पड़ते हैं। मेकालिफ साहब का कहना है कि जिस किसी ने भी आदिग्रंथ में संगृहीत पदों को लिखा होगा, वह धार्मिक पुरुष अवश्य रहा होगा। शेख फ़रीद सानी की ही भाँति उस समय की सुधार-संबंधी बातों से प्रभावित भी रहा होगा। ऐसा अनुमान कर लेना संभव है कि यह भीषन कबीर का ही अनुयायी रहा होगा।[२] इसमें संदेह नहीं कि मेकालिफ साहब का यह अनुमान संत भीषन के उक्त पदों पर ही निर्भर है।

---

१. दि सिक्ख रिलिजन, भा० ६, पृ० ४१५।

२. वही, पृ० ४१६।

आलोचना

संत भीषनजी के उक्त दो पद गुरु अर्जुन द्वारा संपादित 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं[1] जिनसे ये रामनाम के प्रेमी जान पड़ते हैं। बदायूनी के उक्त शेख़ भीषन कदाचित् इस्लाम-धर्म के ही विशेषज्ञ थे। उनके सूफ़ी होते हुए भी उनसे राम नाम के प्रति निष्ठा की आशा करना कुछठीक नहीं जान पड़ता। उस सूफ़ी भीषन के साथ इन पदों के रचयिता की एकता स्थापित करने के लिएअन्य प्रमाण भी अपेक्षित होंगे। फिर भी अभी उसे असंभव भी नहीं कहा जा सकता। संत भीषन की भाषा सीधी-सादी, किंतु मुहावरेदार है। इनकी वर्णन-शैली भावपूर्ण होती हुई भी प्रसाद गुण के कारण अत्यंत सुंदर तथा आकर्षक है। हिंदी इनकी अपनी भाषा जान पड़ती है। अनुमान होता है कि इन्होंने उक्त दो पदों के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाएँ भी अवश्य की होंगी। इनके उपलब्ध पदों में संत बेनी की भाँति योग-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की भरमार नहीं, न वाह्याडंबर वा छल-कपट के विरुद्ध कोई निंदा के भाव ही प्रकट किये गए मिलते हैं। उनमें नाम का महत्त्व, गुरु की महिमा तथा हरि के प्रति प्रदर्शित प्रेम तथा तन्मयता के भाव इनकी विशेषता प्रकट करते हैं। इनका सरल हृदय संत रैदास के समान अपनी शक्ति-हीनता के प्रदर्शन तथा आत्म-निवेदनकीओर अधिक प्रवृत्त जान पड़ता है। सभी बातों पर विचार करते हुए इनके समय का रैदास, कमाल, धन्ना आदि के अनंतर निश्चित करना तथा इन्हें वर्तमान उत्तर प्रदेश के ही किसी भाग का निवासी मानना उचित जान पड़ता है। इनका जीवन-काल यदि विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रखा जाय, तो भी इनकी रचनाओं का 'आदिग्रंथ' में संगृहीत किया जाना संभव हो सकता है।

पदों के विषय

संत भीषनजी ने अपने एक पद में कहा है कि "जब शरीर क्षीण तथा निर्बल हो जाता है, नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है, सिर के बाल दूध की भाँति श्वेत हो जाते हैं और कंठ के अवरुद्ध हो जाने के कारण मुख से शब्द नहीं निकल पाते, उस समय विवशता आ जाती है। ऐसे समय यदि 'रामराइ ही बैद बनवारी' बन कर पहुँचें, तो उद्धार हो सकता है। जब सिर में पीड़ा होने लगे, शरीर में जलन हो और कलेजे में कसक पैदा हो जाय, तब उसकी दूसरी कोई भी औषधि नहीं। केवल हरि का नाम ही उसके लिए निर्मल तथा अमृत जल है और वही संसार के लिए सबसे बड़ा पदार्थ है। यदि गुरु-कृपा से वह मिल सके, तो उसी की सहायता से हमें

---

१. रागु सोरठि, पद १-२, पृ० ६५८।

मोक्ष का द्वार भी खुलता हुआ दीख पड़ेगा।" इसी प्रकार अपने दूसरे पद में भी ये बतलाते हैं कि "नाम एक अमूल्य रत्न है, जिसे बहुत पुण्य करने पर ही कोई पदार्थ के रूप में पा सकता है। वह अनेक यत्नों के साथ हृदय में छिपाये रखने पर भी छिप नहीं पाता। जिस प्रकार कोई गूँगा मनुष्य मिष्ठान्न के माधुर्य का स्वाद लेता हुआ भी उसे कहने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार हरि के गुणों का भी वर्ण संभव नहीं है। जिह्वा से कहने, कानों से सुनने और मन में उसे समझने से सुख उत्पन्न होता है। अपने दोनों नेत्र तो इस प्रकार संतुष्ट हो जाते हैं कि जहाँ कहीं भी वे जाते हैं, वहाँ उसी का प्रत्यक्ष अनुभव किया करते हैं।" इन पदों के आधार पर तो संत भीषनजी को किसी हिन्दू-परिवार का ही सदस्य कहना ठीक जान पड़ता है।

पंचम अध्याय

प्रारंभिक प्रयास

सं० १६००: १७००

१. सामान्य परिचय

पंथ-निर्माण की प्रवृत्ति

पंथ-निर्माण का सूत्रपात हो जाने पर उस प्रकार की प्रवृत्ति की ओर सर्व-साधारण के ध्यान का आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था। प्रायः देखा जाता है कि किसी भी एक धार्मिक महापुरुष के नेतृत्व में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति क्रमशः अपने को किसी एक संयुक्त परिवार का सदस्य समझने लगते हैं। अपनी सामुदायिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के यत्न भी करने लग जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक समान सिद्धांतों को स्वीकार करनेवालों का एक पृथक् वर्ग ही बन जाता है। ऐसे नये वर्ग का संबंध प्रायः दूसरे वैसे वर्गों के साथ पूर्ववत् नहीं बना रह पाता और कालांतर में घटने तक लग जाया करता है। इसके सिवाय, ऐसे भिन्न-भिन्न वर्गों के अनुयायियों की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुसार उनके यहाँ विविध वाह्याचारों का समावेश होने लगता है। उनके सामने उनके मूल सिद्धांतों का महत्त्व पूर्ववत् नहीं रह पाता। तदनुसार समय पाकर वे लोग बहुधा इन बातों की ही ओर विशेष ध्यान देने लगते हैं तथा इनके प्रचार की ओर अधिक यत्नशील भी हो जाते हैं। अतएव जान पड़ता है कि कदाचित् किन्हीं ऐसे ही नियमों के अनुसार पीछे साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय-जैसी संस्थाओं की सृष्टि हो गई। इसी प्रकार गुरु नानकदेव-जैसे धार्मिक नेताओं द्वारा अपने-अपने संगठनों की ओर ध्यान दिये जाने लगते ही, वैसी संस्थाओं के प्रति अन्य धर्म-प्रचारकों का आकृष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक हो गया। फलतः हम देखते हैं कि ऐसे सम्प्रदायों अथवा पंथों के अतिरिक्त, उन दिनों उत्तरी भारत में क्रमशः लाल-पंथ, दादू-पंथ, बावरी-पंथ तथा मलूक-पंथ-जैसे धार्मिक वर्ग भी हमारे सामने आ गए।

पारस्परिक भेद का कारण

उपर्युक्त सभी पंथों और सम्प्रदायों ने अपने संघठन का कार्य बड़ी लगन के साथ आरंभ किया। उन सभी किसी की कोई-न-कोई परंपरा भी निश्चित हो चली जिसके फलस्वरूप, उनके मूल उद्देश्य के लगभग एक समान रहते हुए

भी उनमें पारस्परिक भेद लक्षित होने लग गए तथा उनकी पारस्परिक भिन्नता और भी स्पष्ट होती चली गई। संतों के ऐसे विभिन्न समुदायों का वर्गीकरण करते समय कुछ लोग इनके मूल प्रवर्त्तकों के दार्शनिक सिद्धांतों की ओर विशेष ध्यान देते दीख पड़ते हैं। वे इस धारणा के साथ चलते हैं कि इनमें दीख पड़नेवाले मतभेद का प्रधान कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण ही होगा। तदनुसार डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने संतों के आत्मा, परमात्मा तथा जगत् संबंधी सिद्धांतों की चर्चा करते हुए लिखा है' "हमें उनमें कम-से-कम तीन प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराओं के स्पष्ट दर्शन होते है। वेदांत के पुराने मतों के नाम से यदि उनका निर्देश करें तो उन्हें अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत कह सकते हैं। पहली विचार-धारा वालों में कबीर प्रधान हैं। दादू, सुंदरदास, जगजीवनदास, भीखा और मलूक उनका अनुगमन करते हैं। नानक और उनके अनुयायी भेदाभेदी हैं और शिवदयालजी तथा उनके अनुयायी विशिष्टाद्वैती। प्राणनाथ, दरिया द्वय, दीन दरवेश, बुल्ले-शाह आदि भी शिवदयाल की ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं।"[1] डॉ० बड़थ्वाल ने इस बात को प्रमाणित करने के लिए उन संतों की बानियों में से कुछ उदाहरण दिये हैं और किन्हीं-किन्हीं संतों के विचारों में उपलब्ध पारस्परिक सूक्ष्म भेदों के प्रदर्शन की चेष्टा भी की है। परन्तु, जैसा हमें इन संतों की रचनाओं का पूर्वापर संबंध समझ कर उनका अध्ययन करने पर पता चलेगा, ये लोग न तो दार्शनिक विद्वान् थे, न इनमें से एकाध को छोड़ कर कोई किसी धार्मिक मत-विशेष की ओर अपना ध्यान देना उतना आवश्यक ही समझता था। ये लोग मूलत: साधक थे। इनके द्वारा प्रचलित किये गए पंथों में, यदि कोई अंतर लक्षित होता है तो उसका प्रधान कारण इनके किसी साधना-विशेष को अन्य साधनाओं की अपेक्षा, अधिक महत्त्व देने में ही ढूँढ़ा जा सकता है। इन संतों का दार्शनिक दृष्टि-कोण किसी 'पुराने' दार्शनिक मत के साँचे में ढल कर तैयार नहीं हुआ था। कदाचित् इसी कारण, डॉ० बड़थ्वाल ने भी अपने उपर्युक्त उद्धरण वाले कथन में 'यदि' का प्रयोग करना आवश्यक समझा है।

क्रमिक विकास

फिर भी इस संबंध में उल्लेखनीय है कि उक्त साधना-भेद की विभिन्नता, पंथ-निर्माण का आरंभ होते ही स्पष्ट नहीं हो गई, न प्रथम-युगीन पंथों के मूल प्रवर्त्तक इस बात को कोई महत्त्व देते ही दीख पड़े। कालानुसार कबीर साहब के कुछ अधिक निकट होने के कारण इन्होंने भी उनके प्रभाव में अपना दृष्टिकोण

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, भा० १५, पृ० ११७।

भरसक संतुलित ही बनाये रखा। परन्तु क्रमशः आगे आते जानेवाले पंथ-प्रवर्त्तकों में से कई ने उक्त आदर्श को छोड़ना भी आरंभ कर दिया। इस कारण उनकी संस्थाओं में पारस्परिक भिन्नता का बढ़ने लगना अनिवार्य-सा हो गया। इनकी संख्या में भी वृद्धि होती चली आई। पंथ-निर्माण का युग संभवतः प्रारंभिक रूप में, संत मलूकदास तक चलता है और वैसी प्रवृत्ति प्रायः एक समान काम करती जान पड़ती है। इस युग का आरंभ होने के साथ-साथ संतों की बानियाँ संगृहीत होने लगती हैं, उनका पाठ चलने लगता है। इसका अंत होते-होते उनकी तुलना स्वभावतः उन प्राचीन ग्रंथों से भी की जाने लगती है जिनमें सुरक्षित ,विचारों का प्रभाव सर्वसाधारण पर दीखता है। इस कारण (तथा कतिपय अन्य बातों से भी प्रेरित होकर जिनकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी) इसका दूसरा युग आ जाता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उक्त प्रथम युग अथवा प्रारंभिक समय में प्रवर्त्तित किये गए पंथों का स्वरूप सदा एक-सा ही बना रह गया और उनमें पीछे कोई परिवर्त्तन नहीं हो पाये। उनके पिछले अनुयायियों पर भी क्रमशः अपने-अपने वातावरणों का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ता चला गया। इस प्रकार एक ही पंथ के अंतर्गत अनेक विचार-धाराओं का समावेश होते जाने के कारण, स्वयं उनके भीतर भी विभिन्न शाखाओं की सृष्टि होती चली आई।[1]

---

१. 'पंथ' वा 'सम्प्रदाय' शब्दों का प्रयोग ठीक एक ही ढंग से होता पड़ता। जिस धार्मिक वर्ग ने अपनी संज्ञा अपने मूल प्रवर्त्तक के नाम से ग्रहण की है उसे साधारणतः उसके द्वारा चलाया गया 'पंथ' अर्थात् प्रदर्शित मार्ग कहा जाता है ,जैसे, 'कबीर-पंथ', 'नानक-पंथ', 'दादू-पंथ', 'बावरी-पंथ', 'मलूक-पंथ', 'दरिया-पंथ' और 'पानप-पंथ' आदि। परन्तु जिस ऐसे वर्ग का नामकरण उसके अनुयायियों के किसी विशिष्ट नाम वा विशेषता के आधार पर हुआ है वह बहुधा 'सम्प्रदाय' कहा गया मिलता है, जैसे, 'साध सम्प्रदाय', 'सतनामी सम्प्रदाय', 'निरंजनी सम्प्रदाय', 'रामस्नेही सम्प्रदाय', 'शिवनारायणी सम्प्रदाय' और 'नाँगी सम्प्रदाय' आदि। इस 'सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग कभी कभी वर्ग-विशेष के इष्टदेव अथवा उसके किसी कल्पित मूल-प्रवर्त्तक के नामानुसार भी हुआ करता है। जैसे, 'परब्रह्म सम्प्रदाय' अथवा वैष्णव भक्तों के 'श्री सम्प्रदाय', 'रुद्र सम्प्रदाय' आदि। फिर भी राधास्वामी के अनुयायी अपने संबंध में 'सम्प्रदाय' की जगह प्रायः 'सत्संग' का ही प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। यही बात हम देवी साहब द्वारा प्रवर्तित 'संतमत-सत्संग' के अनुयायियों में भी पाते हैं। इसके सिवाय, जहाँ पर 'पंथ'

दूसरों पर प्रभाव

पंथ-निर्माण के प्रथम डेढ़ सौ वर्षों में संत-मत, अपने प्रचार की दृष्टि से उन्नति के पथ पर अग्रसर था। इसके प्रमुख प्रचारक जहाँ एक ओर नवीन वर्गों की स्थापना करते जा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर उनके विचारों का अन्य लोगों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव भी पड़ता जा रहा था। इस बात के प्रमाण में भक्त सूरदास और मीराँबाई जैसे एकाध उच्चकोटि के साधकों तथा कवियों के उदाहरण भी दिये जा चुके हैं। ऐसे दूसरे लोगों में हम यहाँ पर प्रसिद्ध महाकवि तुलसीदास (सं० १५८६-१६८०) का भी नाम ले सकते हैं। अपने ग्रंथ 'रामचरित मानस' के अंतर्गत उन्होंने यत्रतत्र कुछ ऐसे उद्गार अवश्य प्रकट किये हैं जिनसे निर्गुणियों के प्रति उनका विरोध सूचित होता है। किंतु अन्यत्र उसी रचना के अनेक स्थलों पर उन्होंने जिस प्रकार संत-स्वभाव, नाम-महिमा तथा गुरु-भक्ति आदि का वर्णन किया है अथवा सगुण तथा निर्गुण के सामंजस्य पर विशेष बल दिया है और जिस प्रकार उन्होंने कलियुग वर्णन के द्वारा उस युग में प्रचलित पाखंड तथा विडंबनाओं की खरी आलोचना की है उनसे उन पर पड़ी छाया स्पष्ट लक्षित होती है। हमें यह स्वीकार करते समय कि संतों की बानियों के प्रभाव से वे भी अछूते न रहे होंगे, कभी कोई हिचक नहीं हुआ करती।

जैन कवि बनारसीदास

इसी प्रकार हम इस युग के कतिपय जैन हिंदी कवियों को भी संत-मत की रचनाओं द्वारा न्यनाधिक प्रभावित कह सकते हैं। इनमें से उदाहरण के लिए, महाकवि बनारसीदास (सं० १६४३-१७००) तथा आनंदघन के नाम ले सकते हैं। जैन कवि बनारसीदास एक व्यापारी परिवार के सदस्य थे। इनके द्वारा लिखे गए 'अर्द्धकथानक' नामक आत्म-चरित से पता चलता है कि इनका सारा जीवन विविध प्रकार के अनुभवों का आस्वादन करते ही व्यतीत हुआ होगा। किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर हमें इन्हें एक आध्यात्मिक महा-पुरुष तथा सफल कवि के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इनका जन्म जैनियों के श्वेतांबर सम्प्रदाय में हुआ था, किंतु ये उस वर्ग की साम्प्रदायिक बातों द्वारा विशेष प्रभावित नहीं थे, प्रत्युत इन्होंने अपने कतिपय मित्रों के साथ अध्यात्मवादियों

तथा 'सम्प्रदाय' इन दोनों में से किसी एक का व्यवहार किया जाना तर्क-संगत नहीं प्रतीत होता वहाँ पर केवल 'परंपरा' शब्द का प्रयोग कर देना मात्र भी, कदाचित् अनुचित नहीं हो सकता, जैसे 'संत सिंगा की परंपरा' तथा 'हीरादासी परंपरा' आदि। —लेखक।

की एक नवीन गोष्ठी बना ली थी। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विनिमय हुआ करता था जिसके कारण इन्होंने एक पृथक् सम्प्रदाय ही स्थापित कर दिया। इनकी प्रायः ५० फुटकर रचनाओं के संग्रह 'बनारसी विलास' के अंतर्गत कदाचित् इनकी सभी प्रकार की कृतियों का समावेश किया गया है। इसमें हमें बहुत-से ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जहाँ मे इन पर पड़े हुए उपर्युक्त प्रभाव के कुछ नमूने पाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए बनारसीदास ने अपनी रचना 'भवसिंधु चतुर्दशी' में जो "भव समुद्र का अपने घट के ही भीतर वर्तमान रहना तथा उसे पार करने के लिए साधन-स्वरूप मन जहाज के भी वहीं विद्यमान रहने पर मूर्खों द्वारा अपने उद्धार का मार्ग बाहर बाहर ढूँढ़ने में समय व्यतीत करना"[1] बतलाया है। वह ठीक संत-मत वाली बानियों का अनुसरण करता है। इसी प्रकार इन्होंने अपने एक पद के अंतर्गत, घट के भीतर होनेवाले अंतर्द्वंद्व का जो वर्णन 'रामायण' में उल्लिखित विविध पात्रों तथा घटनाओं के आधार पर, उपयुक्त रूपकात्मक शैली में किया है[2] वह भी इनकी वैसी ही विचार-धारा की पुष्टि करता है। इनका अपने 'अध्यात्म गीत' के अंतर्गत किसी 'निर्गुणिया' विरहिणी की भाँति अपने विरहोद्गार प्रकट करना तथा अपने 'अलख, अमूरत पिय' के साथ घट के भीतर ही अपना आपा खोकर 'दरिया में बूँद' के समान मिल जाने की आकांक्षा प्रकट करना[3] जैसी बातें भी हमें कबीर साहब आदि वाली उक्तियों का स्मरण दिलाती हैं। इसके सिवाय इन्होंने अपने 'शबद' को समझाने के लिए 'भोंदू' को जिस ढंग से संबोधित किया है[4] तथा जिस शैली में इन्होंने पहेलियाँ लिखी हैं[5] वे सभी इस बात का समर्थन करती जान पड़ती हैं कि इन पर संतों की रचना-पद्धति का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

आनंदघन

जैन कवि आनंदघन का नाम इनकी दीक्षा के समय' 'लाभविजय' वा 'लाभानंद' था। किंतु कविता करते समय ये अपना उपनाम 'आनंदघन' दिया करते थे। जहाँ तक पता है, जैनी होते हुए भी ये पीछे संत-मत द्वारा बहुत प्रभावित हो गए थे। ये कहीं गुजरात वा राजस्थान की ओर के निवासी थे। इनके अंतिम दिन जोधपुर के मेड़ता नगर में बीते। इनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इनका समय विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक पहुँचता जान पड़ता

१. बनारसी विलास, जयपुर, सं० २०११, दो० ३, पृ० १५२।
२. वही, पद १६, पृ० २३३। ३. वही, पृ० १५६-६१।
४. वही, पद १८, पृ० २३४। ५. वही, पृ० १८०-१।

है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इन्हें जैनमरमी आनंदघन कहते हुए बतलाया है कि "जीवन की साधना के पथ में आनंदघन जिस आलोक की अनुप्राणना से चले थे वह कबीर प्रभृति सहजवादी मरमियों का ही है।" उन्होंने अपनी इस धारणा को स्पष्ट और प्रमाणित करने के लिए इनके कतिपय पदों की तुलना कबीर साहब की रचनाओं के साथ की है। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने तथा उनके पूर्वापर संबंधानुसार अध्ययन कर लेने पर यह बात अक्षरशः प्रमाणित नहीं होती। इनकी 'आनंदघन चौबीसी' तो जैन धर्म विषयक भावों से भरी है ही इनकी 'बहोत्तरी' में संगृहीत पदों में से कई प्रक्षिप्त से जान पड़ते हैं ; उन्हें अन्य कवियों की रचना मान लेने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी इनके ऊपर पड़ा हुआ संत-मत का प्रभाव पर्याप्त रूप में दीख पड़ता है। इनकी शब्दावली तथा वर्णन-शैली तक भी उसके साहित्य से प्रेरणा पाकर अपनायी गई समझ पड़ती है, इसमें संदेह नहीं।[1]

इनके अतिरिक्त 'अजपा' तथा 'अनहद' (बहोत्तरी, २०), 'अवधू' (वही' ७) 'सुरत-समाधि' (वही, १६), 'ब्रह्म अग्नि परजाली' (वही, २८) 'गुरु गम' (चौबीसी, ४), 'आतमराम' (वही, १६) तथा 'सतगुरु' (वही, १५) जैसे शब्दों वा शब्द-समूहों के प्रयोग निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

संत अखा

कुछ और दक्षिण की ओर गुजरात प्रांत में तो इस युग के अंतर्गत, अखा नामक एक ऐसे ज्ञान-मार्गी कवि हो गए जिन्हें प्रायः 'गुजरात के कबीर' कहा जाता है। इनकी गुजराती के अतिरिक्त हिंदी की भी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। अखा का जीवन-काल सं० १६४८-१७३० बतलाया जाता है। इनके विषय में कहा गया है कि ये जाति के सोनार थे। इन्होंने इधर काशी में आकर कतिपय वेदांत के ग्रंथों का अध्ययन किया था।[2] अपने चिंतन तथा सत्संग द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर इनकी ब्रह्म-ज्ञानपरक विचार-धारा बहुत प्रांजल और विशुद्ध

---

१. 'घट मंदिर दीपक कियो सहज सुज्योति स्वरूप', वही, ४।
'अनुभव गोचर वस्तु कोरे जाणवो यह ईलाज,
कहन सुनन को कछु नहिं प्यारे आनंदघन महाराज'। वही, २१।
बचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचन सापेक्षव्यवहार साचो,
चौबीसी, ४ आदि

२. कहते हैं कि काशी में इनके गुरु कोई ब्रह्मानंद जी थे जिन्होंने जगजीवनदास से शिक्षा प्राप्त की थी। इसलिए यदि ये जगजीवनदास कहीं प्रसिद्ध दादू-शिष्य रहे हों उस दशा में अखा की गुरु-परंपरा भी विदित हो जाती है। लेखक

रूप धारण कर चुकी थी। 'ब्रह्मरस' का अनुपम स्वाद पा लेने पर सदा ब्रह्मानंद में मगन रहते हुए इन्होंने स्वरूपानुसंधान का वेदांतपरक संदेश पहुँचाना आरंभ किया और कई एक ग्रंथों की रचना भी कर डाली। इनकी 'संतप्रिया' तथा 'ब्रह्म-लीला' जैसी हिंदी पुस्तकों के अतिरिक्त ऐसी बहुत-सी फुटकर पंक्तियाँ भी मिल सकती हैं जिनमें इन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धांतों का परिचय देते समय अधिकतर नीरस भाषा का ही प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ-कहीं इनकी ऐसी बानियों में स्वानुभूति के आनंद अथवा स्वच्छंद जीवन के उमंग की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है, वहाँ उनमें इस प्रकार का प्रवाह भी आ जाता है। वह बिना अपना प्रभाव डाले नहीं रह सकता तथा जो कभी-कभी कबीर साहब-जैसे संतों का स्मरण दिलाता है। इसके सिवाय इन अखा कवि की ऐसी रचनाओं में यत्रतत्र सर्वसाधारण के प्रति कड़ी फटकार के तीखे वाक्य भी पाये जाते हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा जिनके लिए ये अधिक प्रसिद्ध भी हैं।[1]

युग का महत्व

इस युग के अंतर्गत सत-मत के कम-से-कम एक दर्जन से भी अधिक ऐसे पंथों और सम्प्रदायों की सृष्टि हुई जिनमें से अधिकांश आज भी प्रचलित हैं। इनमें से कई एक को उसके प्रमुख स्तंभ होने तक का गौरव प्रदान किया जा सकता है। इस युग का अंत होते-होते उसमे कतिपय नवीन बातें प्रवेश पाने लगीं। इनके कारण उसकी ओर सब किसी का ध्यान आकृष्ट होता चला गया और अगले प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक भी उसे निरंतर प्रोत्साहन मिलता गया। तदनुसार इन तीन सौ वर्षो के समय सं० १५५० से लेकर सं० १८५० तक को हम उसका 'स्वर्ण-युग' तक ठहरा सकते हैं। संत-मत विषयक बहुत-से पंथों वा सम्प्रदायों का निर्माण सं० १८५० के अनंतर भी अवश्य होता आया है। किंतु इनमें से सभी को हम उतना

---

१. अकल कला खेलत नरज्ञानी,
जैसेहि नावहिरे फिरे चहुँदिस, ध्रुवतारे पर रहत निशानी ॥टेक॥
चलन वलन अवनी परवाकी, मन की सुरत अकाश ठरानी ।
तत्त समास भयो है स्वतंतर, जैसे हिम ह्वै जात है पानी ॥१॥
छुपी आदि अनंत न पायो, आइ न सकत जहा मन वानी ।
ता घर स्थिती भई है जिनकी, कहि न जात ऐसी अकथ कहानी ॥२॥
अजब खेल अद्भुत अनुपम है, जाकूं है, पहचान पुरानी ।
गगनहि गैय भयानर बोले, एहि 'अखा' जानत कोई ज्ञानी ॥३॥
—संत वाणी, आरा, वर्ष ३ अंक ६, सं० २०१५, पृ० ५-६ पर उद्धृत ।

महत्त्व नहीं दे सकते, न हमें इनके उतने अनुयायी ही देखने में आते हैं। इन अंतिम डेढ़ सौ वर्षों अथवा उससे कुछ अधिक समय के अंतर्गत पुराने पंथों की अनेक शाखाएँ तथा उप-शाखाएँ भी बनती चली गई हैं। नयी लहर के आ जाने से उनमें विभिन्न प्रकार के परिवर्त्तन भी हो गए दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय, इधर संत-मत का नये सिरे से अध्ययन और मूल्यांकन होने लगने से अब इसके भविष्य की भी कुछ कल्पना की जा सकती है।

२. साध सम्प्रदाय

प्रारंभिक वक्तव्य

साध-सम्प्रदाय का वास्तविक परिचय देने के अभी तक अनेक यत्न किये जा चुके हैं। परन्तु इसके इतिहास के संबंध में उठनेवाले कई प्रश्नों के अंतिम उत्तर आज तक नहीं दिये जा सके, न इसके प्रधान प्रवर्त्तक वा प्रवर्त्तकों की प्रामाणिक जीवनियाँ ही उपलब्ध हो सकीं। सं० १८७६ में रे० हेनरी फिशर ने दिल्ली के उत्तर पाये जानेवाले ग्रामीण साधों का एक विवरण प्रस्तुत किया था। एक दूसरे व्यक्ति विलियम ट्राट ने सं० १८९४ में इसी प्रकार फर्रुखाबाद वाले साधों के विषय में भी एक निबंध लिखा था। ट्राट साहब के कुछ पहले सं० १८८९ में प्रसिद्ध विद्वान् विल्सन साहब ने सभी साधों के संबंध में चर्चा की थी। उसी प्रकार सर विलियम क्रुक ने भी फिर आगे चल कर सं० १९५३ में इस विषय पर लिखा। डॉ० ग्रियर्सन तथा डॉ० फर्कुहर ने भी पीछे विशेषकर इन्ही सामग्रियों के आधार पर बहुत कुछ लिख डाला। अंत में अमेरिकन मिशनरी एलिसन साहब ने सं० १९९२ में अपनी पुस्तक 'दि साध्स' का प्रकाशन किया। इस अंतिम लेखक ने कतिपय साध-पंथी लेखकों की भी कृतियों से सहायता ली। परन्तु सब कुछ होते हुए भी इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति, प्रगति तथा सिद्धांतों के विषय में अनेक बातें जहाँ-की-तहाँ रह गई। कई विद्वान् लेखकों ने तो साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय को सर्वशः एक मान कर इन दोनों के इतिहासों को भ्रांतिपूर्ण बना दिया है। कुछ ने वीरभान तथा जोगीदास को समकालीन ठहरा कर भी कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। वास्तव में साध-सम्प्रदाय और सत्तनामी सम्प्रदाय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, यद्यपि यह सर्वथा असंभव भी नहीं कि इस दूसरे वर्ग के मूल-स्रोत का पता पहले की दिल्ली वाली शाखा के इतिहास में ही कहीं-न-कहीं मिल जाय, जैसा कि नीचे दिये गए संक्षिप्त परिचय से भी जान पड़ेगा।

साम्प्रदायिक धारणा

साध-सम्प्रदाय के अनुयायी अपने मत की परंपरा को अनादि काल से आती हुई बतलाते हैं। इसके इतिहास को अपने ढंग से सतजुग, त्रेता, द्वापर और

कलजुग नामक चार कालों में विभक्त करते हुए पाये जाते हैं।[1] उनके यहाँ इन्हीं युगों के अनुसार क्रमशः गोविंद, परमेश्वर रामचंद्र-लक्ष्मण, कृष्ण-बलभद्र तथा वीरभान-जोगीदास का आविर्भाव होना भी बतलाया जाता है। इन चारों युगों के उक्त महापुरुष दो-दो की जोड़ियों में रखे गए हैं। प्रथम युग वाले पुरुष वस्तुतः ईश्वर के ही दो भिन्न-भिन्न नामधारी जान पड़ते हैं। इन दो प्रथम युग वालों को सम्प्रदाय वाले महादेव तथा पार्वती की संतान भी मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि उन्हें इन दो के संदेह व्यक्ति होने में कदाचित् वैसा विश्वास भी नहीं है। साधों के अनुसार जिस प्रकार उक्त गोविंद, परमेश्वर, महादेव तथा पार्वती की संतान थे, उसी प्रकार क्रमशः रामचंद्र, लक्ष्मण गोविद तथा परमेश्वर की, कृष्ण-बलभद्र, रामचंद्र तथा लक्ष्मण की, तथा वीरभान-जोगीदास, कृष्ण तथा बलभद्र की संतान थे। इस 'संतान' शब्द से अभिप्राय वास्तव में अवतार का ही समझ पड़ता है। साधों में इन बातों के अतिरिक्त वीरभान तथा जोगीदास के ऊपर की ११ पीढ़ियों की चर्चा भी की जाती है। इससे जान पड़ता है कि इन पीढ़ियों वाले पुरुष उन लोगों के पूर्वपुरुष रहे होंगे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वीरभान तथा जोगीदास न केवल समकालीन थे, प्रत्युत वस्तुतः एक ही माता-पिता से उत्पन्न सहोदर भाई भी थे। इनकी माता का नाम साध लोग जैवंती बतलाते हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रथम तीन युगों की अपेक्षा चतुर्थ वा कलजुग में ही यह सम्प्रदाय वीरभान तथा जोगीदास के यत्नों से अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ। वीरभान तथा जोगीदास के प्रथम आनेवाले ११ पुरुषों के नाम क्रमशः रावतभूप, रामसिंह बख़्तावर सिंह, गोकलसिंह, हरमंत सिंह, धातार सिंह, हरिसिंह, गिरधारी सिंह, मोती सिंह, बाघ सिंह, तथा गोपाल सिंह बतलाये गए हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके मूलपुरुष रावतभूप ही थे। परन्तु ये कौन थे, इसका पता नहीं चलता।

दूसरा मत

अतएव वीरभान तथा जोगीदास के संबंध में ऐतिहासिक विवरणों का प्रायः अभाव ही दीख पड़ता है। इनमें से न तो किसी एक के भी जन्म-काल का पता चलता है, न यही विदित होता है कि इनका व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार का था और ये किस काल तक जीवित रहे थे। साधों की दो प्रधान शाखाओं—दिल्ली-शाखा तथा फर्रुख़ाबादी शाखा में से दूसरी के अनुसार वीरभान नारनौल

---

१. इनके दिये हुए युगों के नामों का क्रम एलिसन साहब सतजुग, द्वापर, त्रेता तथा कलजुग देते हैं जो अशुद्ध जान पड़ता है। दे०-डब्ल्यू०एल० एलिसन कृत 'दि साध्स' (दी रिलिजस लाइफ इंडिया सिरीज, लंदन १९३५) पृ० ६।

के निकटवर्त्ती विजेसर ग्राम के निवासी थे । उन्होंने सं० १६०० विक्रमी के लगभग उदयदास द्वारा किसी अलौकिक ढंग से दीक्षा ग्रहण की थी। उदयदास ने उन्हें इस मत के कुछ आवश्यक सिद्धांतों का परिचय देकर यह भी बतला दिया था कि मैं फिर कभी तुमसे मिलूँगा और अमुक-अमुक लक्षणों के आधार पर मुझे भली भाँति पहचान कर तुम मुझमें और भी आस्था कर सकोगे। डॉ० जे० एन० फर्कुहर ने इस उदयदास को प्रसिद्ध संत रविदास का शिष्य माना है। उन्होने कहा है कि संत रविदास का समय अनुमानत: सन् १४७०-१५०० ई० : सं० १५२७-१५५७ वि० मान लेने पर उदयदास का समय उसी प्रकार सन् १५००-१५३० ई० : सं० १५५७:१५८७ वि० ठहरता है। वीरभान का सन् १५३०-१५६० : सं० १५८७-१६१७ वि० तक आ जाता है जिसका उक्त सं० १६०० अर्थात् पंथ के आरंभ काल के साथ मेल भी खा जाता है। परन्तु साधों की दिल्ली-शाखा के अनुसार बिंदेर वा विजेर (सभवत: उक्त विजेसर) के निवासी गोपाल सिंह के पुत्र जोगीदास को इस मत की प्रेरणा सर्वप्रथम सं० १७२६ के २७ फागुन को उनकी अवस्था अधिक होने पर मिली थी। जोगीदास इसके पहले अर्थात् सं० १७१५ के लगभग धौलपुर के राजा की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध किसी लड़ाई में आहत हो, प्राय: १२ वर्षो तक भ्रमण कर चुके थे और सम्प्रदाय के प्रचार में उन्हें वीरभान से भी सहायता मिली थी। कहा जाता है कि उक्त प्रकार से आहत हो अथवा मर कर जब वे रणस्थल में पड़े थे, तब उन्हे कोई वहाँ से उठा ले गया। उसने उन्हें एक प्रकार से जीवन-दान दिया जिसका उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे उसके परम भक्त हो गए। वह अपरिचित व्यक्ति उनके निकट एक साधु के वेश में आया और उसने उन्हें किसी दूर की पहाड़ी पर ले जाकर अनेक आध्यात्मिक बातों की शिक्षा दी तथा उसे सर्वसाधारण में प्रचार करने का उन्हें आदेश भी दिया। तब से जोगीदास लगभग ७२ वर्षों तक इस मत का प्रचार करते फिरे और इस काम में उन्हें अपने एक संबंधी वीरभान से बड़ी सहायता मिली। इस वीरभान को उन्होंने अपना शिष्य भी बना लिया था।[1]

तीसरा मत

एक तीसरे मत के अनुसार "ऊदादास तथा गोपालदास नामक दो भाई थे जो जहाँगीर बादशाह के शासन-काल (सं० १६६२:१६८४) में वर्तमान थे। गोपालदास इन दोनों में ५-६ वर्ष बड़े थे। जब ऊदादास एक युवक थे, तब वे

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स, दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज, लंदन, १६३५ ई०, पृ० १६-२१ ।

दलपत नामक किसी व्यापारी के यहाँ जहाज में नौकरी करते थे। एक बार वह जहाज कहीं जाते समय अचानक बीच में रुक गया और तब तक नहीं टला जब तक ऊदादास उस पर से उतर कर पानी में खड़े न हो गए। ऊदादास इसके अनंतर वहीं खड़े रहे और फिर पास ही बने हुए किसी मंदिर को देख कर वहाँ पहुँचे। मंदिर में कोई वैरागी रहता था जिससे इन्होंने बातचीत की, उससे कुछ मिठाइयाँ लेकर अपनी भूख मिटायी और वहीं सो भी गए। नींद के टूटने पर इन्हें पता चला कि मैं अपने घर लौट आया हूँ और अपने परिवार वालों से इन्होंने अपना सारा वृत्तांत भी कह सुनाया। गोपालदास के दो लड़के जोगीदास और वीरभान नाम के थे जिन्हें ऊदादास ने फिर से राम तथा लक्ष्मण के नाम दिये और वीरभान की स्त्री को भी सीता के नाम से अभिहित किया। इसके उपरांत ऊदादास अपने कतिपय विचारों का प्रचार करते हुए भिन्न-भिन्न गाँवों में भ्रमण करने लगे और अनेक व्यक्तियों को इन्होंने अपने शिष्य भी बनाये। इन शिष्यों में ही उक्त जोगीदास और वीरभान भी थे। कहते हैं कि ऊदादास द्वारा मत के प्रचार किये जाते समय औरंगजेब बादशाह दिल्ली में शासन करने लगा था। उसे जब इस नवीन सम्प्रदाय के उदय का पता चला, तब उसने इसके अनुयायियों के विरुद्ध अपनी सेना भेजी और एक बार स्वयं भी उपस्थित हुआ। ऊदादास औरंगजेब के तीर से रणक्षेत्र में ही मार डाले गए।"[1] इस विवरण को फर्रुखाबाद के किसी प्रिथीलाल साध ने ही एक निबंध के रूप में तैयार किया था, जिसका अंग्रेजी में भाषांतर कर एलिसन साहब ने उसे अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है।

तीनों पर विचार

उपर्युक्त तीनों मतों की तुलना करने पर पता चलता है कि साध-सम्प्रदाय के इतिहास में प्राय: तीन व्यक्तियों की चर्चा विशेष रूप से की जाती है। उनमें एक जोगीदास हैं, दूसरे वीरभान वा वीरलाल हैं और तीसरे का नाम कभी उदयदास वा ऊदादास दिया जाता है तथा कभी-कभी उसे प्रकट नहीं किया जाता। फिर इन तीनों में भी उदयदास वा ऊदादास इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक-से समझ पड़ते हैं। तीसरे मत के अनुसार उन्हें ही इसके प्रचार का भी श्रेय दिया जाता है। इसी प्रकार यदि पहले मत ने सम्प्रदाय के प्रचार के संबंध में वीरभान का अधिक हाथ बतलाया है, तो दूसरे ने जोगीदास को ही इसका मुख्य प्रचारक माना है। अंतिम दो मतों के अनुसार तो वीरभान तथा जोगीदास आपस में संबंधी अथवा सहोदर भाई तक दीख पड़ते हैं। तीसरे मत ने उदयदास को उन दोनों का चचा

---

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स, पृ० १११-११३।

तक सिद्ध कर दिया है। फिर भी यदि समय के अनुसार उक्त तीनों मतों पर विचार किया जाय, तो एक बहुत बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाती है और उक्त कथनों का कोई मेल खाता हुआ नहीं जान पड़ता। पहले मत के अनुसार वीरभान ने सं० १६०० के लगभग ऊदादास द्वारा इस सम्प्रदाय के संबंध में प्रेरणा प्राप्त की थी, तो दूसरे के अनुसार जोगीदास को इसका आभास सं० १७१५ की किसी लड़ाई के अनंतर सं० १७२६ में मिला था। तीसरे के अनुसार ऊदादास को कदाचित् इसके प्रवर्त्तन का संकेत एक वैरागी के द्वारा संभवतः विक्रम की १७वीं शताब्दी के लगभग अंत में मिला था। अतएव स्पष्ट है कि डॉ० जे० एन० फर्कुहर का उपर्युक्त अनुमान अंतिम दो मतों के अनुसार अमान्य ही समझा जाना चाहिए।

समीक्षा

एलिसन साहब ने उक्त समस्याओं का समाधान करते हुए बतलाया है कि वास्तव में इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक केवल दो ही पुरुष रहे होंगे, तीन नहीं हो सकते। ऊदादास नाम का कदाचित् कोई भी व्यक्ति न था। यह नाम जोगीदास वा कभी-कभी वीरभान की एक उपाधि के रूप में सम्प्रदाय के मान्य ग्रंथ 'निर्वान ग्यान' के अंतर्गत लगभग १५० बार आया है। कहीं-कहीं ऊदादास की जगह 'ऊदा के दास' भी कहा गया मिलता है। इसी प्रकार सं० १६०० : सन् १५४४ ई० तथा सं० १७१५ : सन् १६५८ ई० के संबंध में भी समझा जा सकता है कि पहला समय जोगीदास के आविर्भाव-काल का द्योतक है और दूसरे काल में इस सम्प्रदाय की विशेष जागृति हुई थी। डॉ० फर्कुहर ने वीरभान को जोगीदास का का पूर्ववर्त्ती माना था, किंतु एलिसन साहब जोगीदास को ही वीरभान का पथ-प्रदर्शक समझते हैं। इनका कहना है कि युद्धवीर जोगीदास ने ही सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय को एक विचित्र ढंग से प्रवर्त्तित किया था जिसे आगे चल कर शांत स्वभाव-वाले वीरभान ने अधिक स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित किया। जोगीदास ने ही वास्तव में इस सम्प्रदाय के धर्म-ग्रंथ का संपादन कर एक नयी पुस्तक 'बानी' की रचना भी की थी।[1] परन्तु एलिसन की ये धारणाएँ अधिकतर कोरी कल्पना के ही आधार पर आश्रित जान पड़ती हैं। इनकी पुष्टि किसी ऐतिहासिक प्रमाण से होती हुई नहीं दीखती। सं० १६०० : सन् १५४४ ई० के किसी ऐसे युद्ध का पता नहीं चलता जिसमें जोगीदास नामक कोई व्यक्ति भाग लेकर इस प्रकार प्रसिद्ध हो गया हो। इसके विपरीत सं० १७१५ : सन् १६५८ ई० का समय वह है जब कि बादशाह शाहजहाँ के लड़के दिल्ली की राजगद्दी के लिए आपस में लड़ने लग

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स, पृ० १४।

गए थे। उनकी विविध लड़ाइयों में अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी किसी-न-किसी ओर से सहायता पहुँचायी थी। तदनुसार डॉ० यदुनाथ सरकार का कहना है कि "फ़ारसी में लिखित इतिहास ग्रंथों में जहाँ धोलपुर के निकट होनेवाले सन् १६५८ ई० के युद्ध का वर्णन है, वहाँ किसी साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जोगीदास का पता नहीं चलता। इस विषय में अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त युद्धकाल में धोलपुर के महाराजा महासिंह थे जो धोलपुर से कुछ ही मील पूर्व की ओर वर्तमान भदवर के राजा थे। इन्होंने दाराशिकोह के एक विश्वस्त सेनापति के रूप में सं० १७१६ : सन् १६५६ ई० वाली सामूगढ़ की लड़ाई में भाग लिया था।"[१] अतएव, यदि साध-सम्प्रदाय वालों में प्रचलित पूर्वोक्त अनुश्रुति का संबंध इस अवतरण के साथ जोड़ा जा सके, तो जोगीदास का उस समय के लड़नेवालों में सम्मिलित रहना असंभव नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष

इसके सिवाय 'ऊदादास' शब्द का भी किसी एक व्यक्ति का नाम होना असंभव नहीं समझा जा सकता। ऊदादास का शुद्ध रूप उदयदास है जिसका अर्थ 'उदय का दास' होगा और 'उदय' शब्द का एक अर्थ उद्गम वा निकलने का स्थान आर्थात् मूलस्रोत भी होने के कारण उदयदास से अभिप्राय परमात्मा, मूलतत्त्व वा आदि पुरुष का दास हो सकता है। सम्प्रदाय के अनुयायियों की धारणा के अनुसार ऊदादास को 'मालिक का हुकुम' वा उसका संदेश-वाहक भी माना जाता है। उनके 'निर्वानि ग्यान' ग्रंथ के अंतर्गत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि "जो काशी में कबीर नाम से प्रकट हुए थे, वे ही यहाँ विजेसर में ऊदादास नाम से प्रसिद्ध हैं।"[२] इस बात से सिद्ध हो जाता है कि ऊदादास वा उदयदास अथवा उद्धवदास कोई एक व्यक्ति अवश्य रहे होंगे तथा उन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का काम किया होगा। इसके सिवाय इस नाम का 'निर्वानि ग्यान' के अंतर्गत जोगीदास वा वीरभान के लिए भी एक उपाधि के रूप में प्रयोग होना केवल इतना ही सूचित करता है वह उन दिनों की प्रथा के अनुसार 'नानक' तथा 'फ़रीद' शब्दों की भाँति उदयदास के प्रधान शिष्य वा उपशिष्य के लिए भी कभी-कभी प्रयोग में आता रहा होगा। ऊदादास की शिष्य-मंडली के एक सदस्य गोरखजी का भी पता चलता है और उस गोरखजी के किसी जरजोधन नामधारी शिष्य का नाम भी सम्प्रदाय की कई

---

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन : पृ० १२ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ५६ और पृ० ११८ में उद्धृत दो पदों का अंशानुवाद।

पद-रचनाओं में पाया जाता है। डॉ० फर्कुहर का यह अनुमान कि ऊदादास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक वीरभान के गुरु तथा पथ-प्रदर्शक थे। इन बातों के विचार से निराधार नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत जोगीदास का वीरभान का पूर्ववर्त्ती होना ही किसी अन्य प्रमाण के अभाव में स्वीकार करने योग्य नही है। अतएव उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यदि कोई युक्तिसंगत प्रमाण निकाला जा सके, तो यही हो सकता है कि वीरभान ने साध-सम्प्रदाय को ऊदादास की प्रेरणा पाकर सं० १६०० के लगभग प्रवर्त्तित किया था। जोगीदास ने प्रायः सवा सौ वर्षों के अनंतर उसे और भी सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित करने की चेष्टा की थी। वीरभान तथा जोगीदास को सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार सहोदर भाई मानने का कारण भी ऐसी स्थिति में केवल यही हो सकता है कि दोनों का लक्ष्य प्रायः एक ही रहा। फिर भी जैसा कि इस सम्प्रदाय के शेष इतिहास से लक्षित होता है, उक्त दोनों व्यक्तियों के अनुयायियों में कुछ विभिन्नता भी आ गई। वीरभान की शाखा-वाले एक ओर यदि शांत स्वभाव के बने रह गए, तो दूसरी ओर जोगीदास का नेतृत्व मानने वाले कभी-कभी धर्मयुद्ध भी छेड़ते आए। तदनुसार वीरभान के अनुयायी आज तक केवल साध ही कहे जाते हैं, किंतु जोगीदास का अनुसरण करने वालों में कुछ अपने को कभी-कभी 'साध सत्तनामी' वा केवल 'सत्तनामी' भी कहा करते हैं।[1]

संत वीरभान

वीरभान के अनुयायियों के यहाँ इनकी जीवनी का कोई विवरण नहीं पाया जाता। ये ऊदादास के सर्वप्रथम शिष्य समझे जाते हैं और 'निर्वानि ग्यान' में आये हुए एक प्रसंग द्वारा यह भी सूचित होता है कि ये विवाहित जीवन व्यतीत करते रहे होंगे।[2] संत वीरभान ने साध-सम्प्रदाय का प्रचार सं० १६० के लगभग आरंभ किया था और इस समय को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। किंतु डॉ० तारा-चंद ने न जाने किस प्रमाण के आधार पर उक्त संवत् को वीरभान का जन्म-काल मान लिया है और आगे चल कर साधों, सत्तनामियों को बिल्कुल एक समझा है।[3] वीरभान द्वारा सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का प्रारंभ-काल यदि सं० १६०० के लगभग ही ठीक है, तो उनके जन्म-काल को उससे कम-से-कम २५-३० वर्ष भी पहले अवश्य

---

१. दे० अध्याय ६

२. 'वीरभान तथा राजा दुर्योधन (संभवतः गोरखजी शिष्य जरजोधन) की स्त्रियाँ साध्वी थीं। दे० दि साध्स, पृ० १२० पर उद्धृत तृतीय पद।

३. डा० ताराचंद : इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन हिन्दू कल्चर, पृ० १६२।

ले जाना चाहिए।[1] संत वीरभान के गुरु ऊदादास का जीवन-काल डॉ० फर्कुहर के अनुसार इस प्रकार सं० १५५७–१५८७ : सन् १५००–१५३० के लगभग ठहरता है और यह मान्य भी हो सकता है। किंतु उनका इन्हें संत रविदास का शिष्य भी स्वीकार कर लेना संदिग्ध है। संत रविदास को वे स्वामी रामानंद का शिष्य मानते हैं और स्वामी रामानंद का समय सं० १४८७–५२७ : सन् १४३०–१४७० बतलाते हैं। परन्तु इन दोनों धारणाओं में से एक भी निर्विवाद नहीं कही जा सकती। हाँ, यदि ऊदादास को संत रविदास का शिष्य कहना ही हो, तो वह इसी प्रकार सभव है कि वे उनकी शिष्य-परंपरा में रहे होंगे। साधों की संत रविदास के प्रति कोई विशेष श्रद्धा भी सूचित नहीं होती, ये लोग कबीर साहब को उनसे अधिक महत्त्व देते हुए दीख पड़ते हैं।

साम्प्रदायिक साहित्य

संत वीरभान की रचनाएँ 'बानी' नामक ग्रंथ में संगृहीत समझी जाती हैं और वे पद्य में हैं। साधों का एक अन्य मान्य ग्रंथ 'आदि उपदेश' है जो गद्य में है। इसके अंतर्गत सम्प्रदाय के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य नियमों का समावेश किया गया है। तथा इसके साथ कई अन्य साम्प्रदायिक रचनाएँ भी संगृहीत पायी जाती हैं। यह ग्रंथ जोगीदास की रचना समझा जाता है। परन्तु साधों का सबसे प्रधान ग्रंथ 'निर्वान ग्यान' है जो १६ पंक्तियों वाले प्रायः २५० पृष्ठों की एक पद्यमयी रचना है और जिसमें दोहे तथा चौपाइयाँ संगृहीत हैं। इसमें कुल मिला कर ४२०० पंक्तियाँ तथा २३००० शब्द बतलाये जाते हैं और इसका एक अन्य नाम 'पोथी' भी है जिसे विशेष रूप से गुप्त तथा सुरक्षित रखा जाता। इसकी भाषा अनेक अरबी तथा फ़ारसी शब्दों से मिश्रित हिंदी है जिसमें प्रह्लाद, लक्ष्मण, रामचंद्र आदि नामों के अतिरिक्त कबीर, मीराँ, गोरख, ऊदादास, वीरभान, जोगीदास आदि के कुछ

---

१. महर्षि शिवव्रतलाल का कहना है कि वीरभान ने अपथे साथ-मत को सं० १७१४ मे प्रवर्त्तित किया था। ये ब्रजसेर के निवासी थे जो नारनौल के निकट दिल्ली के पूर्व में पड़ता था, किन्तु जो अब पटियाला के अंतर्गत है। उन्होंने 'जोगीदार' नाम उदयादास अर्थात् वीरभान के गुरु को दिया है जिन्हें उन्होंने कबीर-पंथी भी कहा है। उनका दिया हुआ वीरभान का परिचय इस प्रकार जोगीदास के हमारे उपर्युक्त परिचय से बिल्कुल मिलता-जुलता-सा है। उन्होंने साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय में भी कोई अंतर ,नहीं माना है और जगजीवन साहब के सत्तनामी सम्प्रदाय से इसे नितांत भिन्न भी ठहराया है। —दे० संतमाल, पृ० २६७-६८।

ऐतिहासिक नाम भी आये हैं। वास्तव में यह ग्रंथ जोगीदास के पीछे की रचना है। ये तीनों ग्रंथ अभी तक हस्तलेखों के ही रूप में हैं। इनके अतिरिक्त दो प्रकाशित ग्रंथों के भी नाम एलिसन साहब ने दिये हैं। इनमें से एक 'साध पंथ' है जो किसी प्रिथीलाल साध द्वारा ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेने पर लिखा गया था। इसमें गोरखजी, दंडजी, गोविंद, गरीब, कबीर, शामदेवी, गोना बाई, राजा बाई, गोपीचंद, जरज़ोधन, दुर्गादास, वीरभान आदि के भिन्न-भिन्न गीत संगृहीत हैं। एक दूसरे ग्रंथ का नाम 'नसीहत की पुड़िया' है जिसके रचयिता कोई उमरावसिंह साध हैं। इसमें ११३ पृष्ठों के १४ अध्यायों में उपदेशमय वाक्य लिखे गए हैं। ये अंतिम दोनों पुस्तकें बहुत इधर की रचनाएँ हैं।

सिद्धांत तथा साधना

साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत कबीर साहब के सिद्धांतों से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ता है। इसी कारण साधलोग अपने आदि गुरु ऊदादास को भी कबीर साहब के एक अवतार के ही रूप में मानते हैं। दोनों को परमात्मा के प्रतीक भी समझते हैं। कबीर साहब के संबंध में उनका कहना है कि "कबीर दास परमात्मा के संदेश-वाहक थे, प्राणिमात्र के नियमन में उसके प्रधान परामर्शदाता थे और उस अवगत के शिष्य तुल्य भी थे।"[1] साध-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत मत के अनुसार ईश्वर एक, निराकार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् तथा परम दयालु है जिसे वे 'सतकर' और 'सतनाम' के नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार अन्य किसी को प्रणाम तक भी नहीं करना चाहिए। प्रसिद्ध है कि किसी समय साध-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी के सलाम न करने पर सरकारी कर्मचारी बिगड़ खड़े होते थे और उसे दंड तक देने लगते थे। इस कारण कहे-सुने जाने पर एक बार फर्रुखाबाद के जिलाधीश ने इन्हें सं० १९०६ में एक प्रमाण-पत्र देकर इनकी रक्षा की थी। फिर अंत में सं० १९५२ : जून सन् १८९५ में जब पोलिटिकल एजेंट ने इस सम्प्रदाय के तत्कालीन मखिये सुमेरचंद तथा सिंगारचंद को महारानी विक्टोरिया के सम्मुख उपस्थित किया, तब कहीं इनके कष्टों का निवारण हो सका। इस मत के अनुसार सृष्टि का निर्माण हो जाने पर जो गृह सर्वप्रथम बना, वह एलोरा की कंदरा थी जिसके आदर्श पर पीछे अन्य मकान भी बनने लगे। सम्प्रदाय की स्वीकृत साधनाओं में नाम-स्मरण, सत्संग तथा संयत जीवन को प्रधानता दी जाती है। हृदय के अंतर्गत

---

१. 'हुआ होते हुकमी दास कबीर, पैदायस ऊपर किया वजीर।
उस घर का उजीर कबीर, अवगत का सिष दास कबीर।'
—डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वालः दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० ३०६।

शब्द का अनुभव करने का अभ्यास होना चाहिए जिसके निमित्त 'सत्तनाम' शब्द के प्रति पूरी आस्था का होना भी परमावश्यक है। ऊदादास ने योग को भी महत्त्व दिया। सम्प्रदाय के ग्रंथों में परमात्मा को कहीं-कहीं सतगुरु अथवा 'सदा अविगत' कहा गया है। उसके मंदिरों पर बहुधा 'सत्त अवगत', 'गोरख' 'उदयकबीर'-जैसे कुछ शब्द लिखे या खोदे हुए पाये जाते हैं। सम्प्रदाय वाले महायोगी शिव को भी महत्त्व देते हुए जान पड़ते हैं। कभी-कभी वे कहते हैं :

'सत की भगति महादेव पाई, जग्य जाइ न भीखा खाई'।

इनके यहाँ मूर्ति-पूजा, शपथ-ग्रहण भेष वा किसी प्रकार का भी व्यर्थ का प्रदर्शन निषिद्ध है और व्यक्तिगत साधना ही इन्हें अधिक मान्य है। पूजन यदि ये करते भी हैं तो केवल अपनी उक्त 'पोथी' का ही करते हैं। प्रत्येक पूर्णिमा को ये अपनी स्थानीय चौकी या धार्मिक स्थान पर एकत्र होते हैं। इनका कोई मन्दिर नहीं हुआ करता और इनका फर्रुखाबाद, आगरा तथा दिल्ली की प्रधान चौकियों पर उपदेश-दान तथा भंडारा हुआ करता है और बहुत-से नये लोग दीक्षित भी हुआ करते हैं।

सदाचरण के नियम

परन्तु साध-सम्प्रदाय वास्तव में आचरण-प्रधान ही जान पड़ता है। इसके अनुयायियों का पथ-प्रदर्शन उन १२ कठोर नियमों द्वारा हुआ करता है जिनकी ओर 'आदि उपदेश' में विशेष ध्यान दिलाया गया है। इसके अक्षरशः पालन करने की चेष्टा प्रत्येक साध नित्य प्रति किया करता है। ऐसे नियमों की वास्तविक संख्या ३२ है और ये 'बत्तीस नियम' कहला कर प्रसिद्ध भी हैं, किंतु इनका सार इन १२ नियमों के ही अंतर्गत आ जाता है। डॉ० विल्सन ने इन १२ नियमों का एक विवरण दिया है जो उनकी पुस्तक 'दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज'[1] में प्रकाशित है और जिसका उल्लेख उनके अनेक परवर्त्ती लेखकों ने भी किया है। इन १२ नियमों का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया जा सकता है :

(१) केवल एक ईश्वर को मानो और उसी को सृष्टिकर्त्ता तथा सर्वनियंता के रूप में पहचानो। वही सत्य, शुद्ध, अनादि, अनंत, सर्वशक्तिमान् तथा 'सत्त अवगत' है।

(२) नम्र तथा विनीत बने रहो और विषयों के प्रति आसक्ति न रखो।

(३) कभी असत्य न बोलो, न किसी के प्रति बुरे शब्दों के प्रयोग करो। अपने हृदयों में भी कोई दुर्भावना न आने दो, न कभी शपथ लो।

---

१. भा० १, पृ० ३५४-५।

(४) गंदी बातें कभी न सुना करो, न भजनों के अतिरिक्त किसी प्रकार के संगीत को श्रवण करो। संगीत की सभी सामग्री तुम्हारे भीतर ही वर्तमान है।

(५) किसी भी वस्तु के लिए कभी लालच न करो। जो कुछ हमें मिला है, वह सब ईश्वर-प्रदत्त है। ईश्वर केवल ध्यान, निर्धन जीवन तथा अपने प्रति आत्म-समर्पण पर ही प्रसन्न रहा करता है।

(६) यदि कोई पूछे कि तुम कौन हो तो अपने को केवल साध-मात्र बतलाओ। किसी वर्ण वा जाति का नाम न लो। तुम्हारा सच्चा गुरु परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है।

(७) श्वेत वस्त्र पहना करो, रंगीन कपड़े, मेंहदी, सुरमा, ललाट पर तिलक अथवा इस प्रकार के अन्य किसी भी चिह्न को धारण न करो। कर्ण-वेध कराना वा दाढ़ी रखना उचित नहीं है।

(८) कभी मादक द्रव्यों का व्यवहार न करो, पान अथवा तंबाकू न खाओ। कभी किसी सुगंधित पदार्थ का सेवन न करो। ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य का अभिवादन न करो, न किसी के यहाँ कोई नौकरी ही करो।

(९) जीव-हिंसा न करो, न किसी से कुछ बलात्कार पूर्वक छीनो। अहिंसा ईश्वर का पहला नियम है। छोटे-छोटे जीवों पर सदा दया करो।

(१०) पुरुष केवल एक पत्नी रखे और स्त्री केवल एक पति को ही अपनावे।

(११) विरक्त साधु का वेष-धारण न करो, न किसी भिक्षा-वृत्ति को स्वीकार करो।

(१२) दिन, मास आदि के शुभाशुभ होन व पक्षियों अथवा पशुओं की बोलियों की शकुनापशकुन मानने का स्वभाव त्याग दो। केवल ईश्वर पर ही भरोसा रखो।

प्रथाएँ

इस सम्प्रदाय के अनुयायी विशेषकर जाट जाति के लोग हुआ करते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय छीपी का काम, बुनाई, वाणिज्य, किसानी तथा जमींदारी है। इनके द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ बहुधा देश-विदेश की प्रदर्शनियों में, प्रशंसित हुआ करती हैं। ये अपने विवाह आदि जैसे कृत्य बड़े सीधे-सादे ढंग से करते हैं और सादा जीवन व्यतीत करते हैं। इनके यहाँ सभी प्रकार के आभूषण निषिद्ध हैं तथा ये किसी व्यसन को भी नहीं अपनाते। इनका मुख्य सहभोज वा प्रसाद होली के लगभग हुआ करता है। ये अन्य सम्प्रदाय वालों से अधिकतर पृथक् रहना ही पसंद करते हैं। आपस में ही दंडवत् करते हैं और अपने धर्म की बातें गुप्त रखा करते हैं। साध-सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने पर कोई जात-पाँत का संबंध नहीं रह जाता।

किंतु सभी अनुयायी अपने सम्प्रदाय वालों में ही विवाह करते हैं और एक ही घर में फिर दुबारा संबंध नहीं जोड़ते। बाल-विवाह इनके यहाँ हो सकता है किंतु बहु-विवाह की प्रथा नितांत वर्जित है और दहेज का लेन-देन भी अमान्य है। विवाह प्राय: स्त्री के परिवार की ओर से ही निश्चित होता है। वर-पक्ष का आदमी कन्या के पिता के यहाँ जाता है और स्वीकृति मिल जाने पर मँगनी पक्की कर आता है। उसे उस समय मिठाई खिलाई जाती है और दूध भी पिलाया जाता है। कन्या का पिता ही विवाह का दिन भी निश्चित करता है और वर-पक्ष अपने संबंधियों को उसकी सूचना देता है। सूचना लानेवाला प्रायः एक रुपया और एक पगड़ी पाता है। कन्या का पिता मध्याह्न के समय अपने यहाँ एक भोज देता है। बाराती एक सफेद चादर पर बिठलाये जाते हैं। वर-कन्या आमने-सामने कर दिये जाते हैं और सभी लोग कुछ समय तक ध्यान लगा कर बैठते हैं। फिर वर-कन्या ग्रंथि-बंधन करके एक वेदी के चारों ओर घूमने लगते हैं और सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति खड़ा होकर उनसे ऊचे स्वर में पूछता है, "साध सोध की पायी ?" जिस पर सभी बोल उठते हैं "पायी"। फिर दूसरा प्रश्न होता है, "सब पंचों को भाई ?" इसका उत्तर मिलता है, "भाई"। इसके अनंतर वधू वर के घर चली जाती है। इस विधि में कोई पंडित वा पुरोहित नहीं रहा करता। इसमें केवल मंगल के गीत गाये जाते हैं। स्त्रियों का चरित्र भ्रष्ट हो जाना बहुत बड़ा अपराध माना जाता है। इसके लिए साधों की एक सभा बुलायी जाती है और बातों के प्रमाणित हो जाने पर संबंध-विच्छेद कर दिया जाता है।

प्रचार-क्षेत्र

संत वीरभान ने अपने मत का प्रचार कदाचित् फर्रुखाबाद, मिर्जापुर आदि की ओर ही अधिक किया था। जोगीदास ने पंजाब, दिल्ली, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमोत्तरवर्त्ती जिलों में अधिक भ्रमण किया था। अतएव शुद्ध साध-सम्प्रदाय तथा साध-सत्तनामी सम्प्रदाय के क्षेत्र यदि पृथक्-पृथक् माने जायँ, तो उन्हें इसी के अनुसार समझ सकते हैं। संत वीरभान के विशुद्ध अनुयायियों का प्रधान केन्द्र फर्रुखाबाद ही जान पड़ता है। इस नगर के जिस खंड में ये लोग रहा करते हैं। वह 'साध-वाड़ा' करा कहला प्रसिद्ध है और यह नाम उस समय सं० १७७१ : सन् १७१४, से चला आता है, जब यह पहले - पहल बादशाह फर्रुखसियर द्वारा बनाया गया था। कहा जाता है कि यहाँ के साधों से आकृष्ट होकर स्वामी दयानंद इस नगर में छह या सात बार आये थे। एक बार जब उन पर वहाँ के सनातनी हिन्दुओं ने आक्रमण किया था, तब यहाँ के साधों ने उनकी बड़ी सहायता की थी। साध लोग उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में भी एक अच्छी

संख्या में पाये जाते हैं। मथुरा, बरेली, मेरठ तथा शाहजहाँपुर के देहातों में भी रहा करते हैं। इसके सिवाय दिल्ली प्रांत तथा पंजाब प्रांत के रोहतक जिले और झिंद, जयपुर, जोधपुर, धौलपुर, भरतपुर तथा बड़ौदा की रियासतों में भी ये लोग अपने वाणिज्य-व्यवसाय के कारण बिखरे हुए देखे जाते हैं।

३. लाल-पंथ

संत लालदास

संत लालदास का जन्म सं० १५९७ में हुआ था। इनका जन्म-स्थान धौलीधूप नाम का एक गाँव है जो अलवर के राज्य में वर्तमान है। इनके पूर्वज मेव अथवा मेओ जाति के थे जो अधिकतर लूटपाट आदि जैसे निंदनीय कामों के लिए भी आज तक प्रसिद्ध हैं। इनके माता-पिता की आर्थिक स्थिति अत्यंत साधारण थी। इनका भरण-पोषण उन्हीं के साथ रह कर पहले धौलधूप में हुआ था। कुछ बड़े होने पर ये आसपास के जंगलों में लकड़ियाँ काट और उन्हें देहात में बेच कर अपना जीवन व्यतीत करने लगे। परन्तु कुछ साधुओं के संपर्क में आ जाने के कारण अपने बाल्य-काल से ही इनकी प्रवृत्ति धार्मिक रूप ग्रहण करने लग गई थी अतएव अपनी युवावस्था में भी इन्होंने उस भाव का त्याग नहीं किया। एक मेव जाति के लकड़हारे का उक्त धार्मिक आचरण आश्चर्य की बात होने के कारण चारों ओर प्रसिद्ध हो चला। उनका नाम क्रमशः दूर-दूर तक फैलने लगा, यहाँ तक कि तिजारा नामक स्थान के निवासी फ़कीर गदन चिश्ती ने आकर इनसे अनुरोध किया कि आप लोगों को उपदेश देना भी आरंभ कर दीजिए। संत लालदास को यह बात अच्छी लगी। अपने दैनिक कार्यक्रम से कुछ समय निकाल कर ये हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपने मतानुसार शिक्षा देने लगे। ये कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु सत्संग और सद्विचारों की साधना से इनका आचरण शुद्ध हो गया था। ये सबको एक साथ मिल कर सात्विक जीवन बिताने तथा परोपकार करते रहने के ही उपदेश देते थे।

जन-सेवा का कार्य

संत लालदास ने उक्त फ़कीर के साथ बातचीत होने के कुछ ही दिनों पीछे अपने जन्म-स्थान का त्याग भी कर दिया। अलवर से १६ मील की दूरी पर कुछ उत्तर-पूर्व की दिशा में जाकर रामगढ़ परगने के बाँदोली गाँव में ये जा बसे। वहीं एक पहाड़ की चोटी पर कुटी बना कर ये रहा करते थे और अपने जीवन-निर्वाह का कार्य प्रायः पूर्ववत् ही करते हुए लोक-सेवा में भी प्रवृत्त हो जाते थे। कड़ी-से-कड़ी धूप होने पर भी ये वहाँ से निकल पड़ते और दीन-असहाय रोगियों की चर्चा में अपना समय लगाते। इनके जीवन का प्रभाव क्रमशः अन्य लोगों पर भी पड़ने लगा और बहुत-से मनुष्य इनके यहाँ जाकर इनका शिष्यत्व स्वीकार

करने लगे। यहाँ तक कि थोड़े दिनों के ही अनंतर इनके साथियों की संख्या बहुत बड़ी हो चली। कतिपय झूठे शिष्यों तथा दुराचारियों से अपना पिंड छुड़ाने के लिए इन्हें तात्कालिक सरकार से सहायता तक लेनी पड़ी। इस कारण इनकी मंडली से बाहर निकाले गए लोग इनके विरोधी बनने लगे। ऐसे ही विरोधी व्यक्तियों में से कुछ ने कई बार जाकर वहाँ के हाकिमों को भी बहका दिया। इससे वे इनके कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखने लगे और इन्हें उनके हाथों कभी-कभी कष्ट भी सहने पड़े। कहा जाता है कि एक बार किसी दूसरे की स्त्री के साथ छेड़छाड़ करने के कारण एक मुग़ल को इन्होंने डाँटा-फटकारा और इनके किसी शिष्य ने आवेश में आकर उसकी हत्या तक कर डाली। इसका सारा दायित्व इन्हीं के सिर मढ़ा गया और अपने साथियों के साथ ये बहादुरपुर स्थान पर बुलाये गए। बहादुरपुर में उस समय कोई सरकारी पदाधिकारी रहता था। वह स्थान इनके यहाँ से कुछ मील दूर भी पड़ता था। फिर भी इनके सभी साथी वहाँ जाकर फौजदार के सामने हाजिर हुए। उसमें हिन्दुओं तथा मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या देख कर उसे अत्यंत आश्चर्य हुआ। उसने इसी कारण इनसे प्रश्न किया कि तुम कौन और क्या हो। इन्होंने उसके प्रश्न को ही मूर्खतापूर्ण बतलाते हुए उत्तर में कह दिया कि मुझे पता नहीं कि मैं सचमुच क्या हूँ। केवल इतना ही जानता हूँ कि इस शरीर के पहनावे को मैंने मेव जाति में पाया है। इस पर फौजदार ने बिगड़ कर सभी को पाँच-पाँच रुपये जमा करने का दंड दिया। जब इन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया, तब उसने आज्ञा दी कि इनमें से प्रत्येक को किसी विषैले कुएँ का पानी पिलाया जाय। परन्तु प्रसिद्ध है कि उस कुएँ का पानी पीने पर भी इनके वा इनके शिष्यों का कुछ भी नहीं बिगड़ा। उस कुएँ का पानी ही मीठा हो गया और वह आज भी अपनी जगह 'मीठा कुआँ' के नाम से उस प्रदेश में विख्यात है।

परिवार तथा अंतिम समय

संत लालदास को उपर्युक्त जैसी बातों से बाध्य होकर बाँदोली गाँव छोड़ देना पड़ा। ये वहाँ से जाकर टोड़ी गाँव में जा बसे जो अलवर राज्य की सीमा के ही निकट गुड़गाँव जिले में पड़ता है। किंतु, वहाँ भी इनके विरोधियों ने इनका पीछा न छोड़ा। उस गाँव को भी छोड़ कर इन्हें अन्यत्र नारोली नामक स्थान में चला जाना पड़ा। अंत में, वहाँ भी सताये जाने पर ये रसगाँव अथवा रामगढ़ चले गये जहाँ कुछ अधिक दिनों तक निवास करते रहे। ये विवाहित थे और इन्हें पहाड़ नामक एक पुत्र तथा स्वरूपा नाम की एक पुत्री थी। इनके परिवार में इसी प्रकार इनके दो भाई भी थे जिनके नाम शेर खाँ और गौस खाँ थे। इनके पुत्र-पुत्री के लिए प्रसिद्ध है कि वे आगे चल कर अच्छे महात्मा हुए। इनके भाइयों के लिए

भी कहा जाता है कि उन्होंने हरि के अतिरिक्त किसी अन्य देवता में कभी अपनी श्रद्धा नहीं रखी। संत लालदास का देहांत सं० १७०५ में हुआ। इनका शव नगला गाँव में समाधिस्थ किया गया जो भरतपुर राज्य के अंतर्गत, किंतु अलवर राज्य की सीमा के निकट ही पड़ता है जो इनके अनुयायियों द्वारा आज भी तीर्थ-स्थान की भाँति पवित्र माना जाता है।

चमत्कार

संत लालदास के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से कई एक में इनके विविध चमत्कारों की चर्चा भी की गई है। ये चमत्कार प्रायः वैसे ही हैं, जैसे अन्य संतों के जीवन की घटनाओं में भी सम्मिलित किये गए दीख पड़ते हैं जिनमें विश्वास करने को सभी लोग तैयार नहीं होते। प्रसिद्ध है कि किसी समय तिजारा के हाकिम 'साहिब हुक्म' के यहाँ जाकर किसी ने कह दिया कि लालदास मुसलमानों की भाँति प्रार्थना नहीं करता, न स्नान ही करता है, अपितु सबको एक ही प्रकार के उपदेश भी देता है इस पर हाकिम ने इन्हें तलब किया और ये अपने १२ शिष्यों के साथ उसके सामने उपस्थित किये गए। उसने इन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार किया, किंतु जब इनकी परीक्षा के लिए इनके सामने मुसलमानों की भाँति खाने के लिए मांस रखा गया। इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया, तब सभी रात को जेल में बंद कर दिये गए जहाँ से जनश्रुति के अनुसार ये शिष्यों के साथ अंतर्हित होकर निकल आये। इसी प्रकार प्रसिद्ध है कि आगरे के किसी व्यापारी ने अपने माल से भरे जहाज के सकुशल लौट आने का आशीर्वाद इनसे माँगा जिसे इन्होंने सहर्ष दे दिया। किंतु जब ऐसा हो जाने पर उसने इसके बदले इन्हें कुछ द्रव्यादि देना चाहा, तब इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उसे परामर्श दिया कि सब कुछ साधुओं में वितरित कर दो। इस घटना का प्रभाव आगरे के ही किसी कायस्थ पर भी पड़ा जो शरीर का कोढ़ी था। किंतु धन तथा प्रतिष्ठा में बहुत बढ़ा-चढ़ा था और जिसने श्रद्धालु के रूप में इनसे सहायता लेनी चाही। संत लालदास ने उसे आदेश दिया कि अपनी सारी संपत्ति लुटा दो। उसके प्रमाण-स्वरूप अपने अहंकार की निवृत्ति के उपलक्ष में अपना मुँह काला कर गधे पर सवार हो अपनी पीठ पर तूंबा लटका कर चारों ओर घूमो। प्रसिद्ध है कि उसका अनुसरण करते ही त्रिवेणी में स्नान कर वह पूर्णतः नीरोग हो गया।[1] उक्त दोनों व्यक्ति अपने प्रति किये गए उपकारों के कारण इनके परम भक्त बन गए। ऐसे ही

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पंजाब ऐंड नार्थ वेस्ट फ्रांटियर प्राविंस, भाग ३, पृ० २५।

लोगों में इनका एक शिष्य मनसुखा माली भी था जो लछमनगढ़ परगने के मौजपुर गाँव का निवासी था।

रचनाएँ तथा विचार

संत लालदास ने समय-समय पर अनेक वाणियों की रचना की थी। इनका एक संग्रह 'लालदास की चेतावणी' के नाम से जयपुर के पुरोहित हरिनारायणजी के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है। उनके अतिरिक्त इनके कुछ दोहे फुटकर रूप में भी इधर-उधर मिलते हैं। इनके सिद्धांत कबीर साहब की विचार-धारा द्वारा पूर्णतः प्रभावित जान पड़ते हैं। इनके उपदेशों में कहीं-कही दादूदयाल की रचनाओं के साथ भी समानता लक्षित होती है। इनका सबसे अधिक ध्यान अंतःकरण की निर्मलता तथा आचरण की शुद्धि की ओर ही केन्द्रित जान पड़ता है। इनका कहना है कि "सत्य की अनुभूति को ही अपने दैनिक जीवन का विषय बनाना चाहिए। इसी से भगवान् प्रसन्न रहता है। परन्तु इस सिद्धांत को विरले पुरुष ही कभी अपने व्यवहार में लाया करते हैं।"[१] इसी प्रकार भिक्षावृत्ति को हेय बतलाते हुए और स्वावलंबन का उपदेश देते हुए ये सच्चे साधु तथा भगत के लक्षणों की चर्चा इस प्रकार करते हैं कि "किसी भक्त को राजा-रानी तक से भीख माँगते हुए लज्जा तथा दुःख का अनुभव करना चाहिए। आदर्श साधु तो वह है जो अपने से कमा कर जीवन व्यतीत करता है, अपने हृदय को भगवान् की भक्ति में भी लीन रखता है और किसी के घर किसी स्वार्थवश जाने का नाम नहीं लेता।"[२] साधुओं को ऐसे ही शब्दों में इन्होंने चरित्र-बल का संचय करने के लिए भी कहा है।

लाल-पंथ

लाल-पंथ के अनुयायी अलवर राज्य और उसके आसपास विशेषकर मेव जाति में ही पाये जाते हैं। मेव जाति वाले नाम-मात्र के ही मुसलमान होते हैं। उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार आदि प्रायः हिन्दुओं के समान ही दीख पड़ते है। इस पंथ के अनुयायी राम-नाम के जप तथा कीर्त्तन को सबसे अधिक

---

१. लालजी हक खाइये हक पीइयें, हक की करो फरोह।
  इन बातों साहिब खुशी, बिरला बरते कोय॥

२. 'लालजी भगत भीख न मांगिये, मांगत आवे शरम।
  घर घर डाँटत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥"

तथा: 'लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय।
  हिरदे हर की चाकरी, पर घर कभूं न जाय॥'

प्रधानता देते हैं। संत लालदास की रचनाओं को बड़े प्रेम तथा श्रद्धा के साथ गाया करते हैं। ये परमात्मा को 'राम' ही कहते हैं। संत लालदास का कहना था कि अपने बड़प्पन वा किसी प्रकार के चमत्कार का प्रदर्शन घमंड की बातें हैं। ये हवा की भाँति उड़ जाते हैं। केवल नम्रता तथा पवित्रता मनुष्यों को ऊँचा उठाने के लिए पर्याप्त हैं और वे ही स्थायी रूप में रह सकती हैं। सच्चे लालदासी का आदर्श ऐसा ही जीवन होना चाहिए।

४. दादू-पंथ

(१) संत दादूदयाल

उपलब्ध सामग्री

संत दादूदयाल की जीवनी अभी तक विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर लिखी गई नहीं मिलती, न आज तक ऐसा कोई ग्रंथ देखने को मिला जिसे दादू-पंथ का इतिहास कहा जा सकता हो। पंथ के अनुयायियों द्वारा लिखित ऐसी पुस्तकों में सबसे प्रसिद्ध 'श्री दादू जन्मलीला परची' तथा राघोदास की 'भक्त-माल, कही जा सकती हैं। इनके देखने से हमें अधिकतर पौराणिक तथा काल्पनिक परिचय मिलता है जिससे सब किसी को पूरा संतोष नहीं हो पाता। जनगोपाल दादूदयालजी के ५२ शिष्यों में से एक थे और उनका देहांत हो जाने के पीछे तक जीवित रहे। इनके लिए कहा जाता है कि ये अपने गुरु द्वारा छोड़ी गई टोपी, चरण-पादुका आदि वस्तुओं की सुरक्षा के लिए निर्मित 'पालकाँ जी' के प्रथम पुजारी भी थे। इसके सिवाय इन्होंने अपनी उक्त 'परची' के अंतर्गत यह भी कहा है कि "मैंने स्वामी जी की यह जन्म-कथा कहते समय केवल सच्ची बातें ही बतलायी हैं, असत्य कुछ भी नहीं कहा है। जैसा सुना है वैसा ही कह डाला है।"[१] इससे उसके प्रामाणिक होने की संभावना है। इसी प्रकार राघोदास भी दादूदयाल के शिष्य बड़े सुंदरदास के शिष्य प्रह्लाददास के पौत्र शिष्य कहे जाते हैं। इनकी 'भक्तमाल' (रचना-काल सं० १७१७) संत-परंपरा का परिचय देनेवाले ग्रंथों में बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती आई है। यह पुस्तक संत दादूदयाल तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों के संबंध में बहुत कुछ प्रकाश डालती है। परन्तु इन दोनों ही रचनाओं में चमत्कारपूर्ण घटनाओं तथा साम्प्रदायिक किंवदंतियों को ही विशेष महत्त्व दिया गया जान पड़ता है। इनके द्वारा हमारी सभी जिज्ञासाओं की पूर्ति नहीं हो

---

१. 'जन्मकथा स्वामी की गाई। मिथ्या माने नर्क पराई॥
झूठा वचन एक नहिं आख्या। जैसा सुना सु तैसा भाख्या॥३४॥'
—श्री दादू जन्मलीला परची, जयपुर, सं० २००६, पृ० ६।

पाती । इस संबंध में इधर के लिखनेवालों में चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी और आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा डॉ० ऑर (W. G. Orr.) नाम लिये जा सकते हैं । किंतु इनके यहाँ भी अधिकतर अनुमान से ही काम लिया गया प्रतीत होता है। अतएव दादूदयाल जी तथा दादू-पंथ के विषय में चर्चा करते समय ऐसी सभी सामग्रियों से सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। इन सबके पूरक रूप में हमें उस 'संक्षिप्त परिचय' की ओर भी ध्यान देना पड़ता है जो पंथ द्वारा प्रकाशित 'रजत जयंती ग्रंथ' के 'इतिहास खण्ड' का अंग है ।

दादूदयाल का जन्म-स्थान

दादू-पंथ के अनुयायियों के अनुसार दादूदयाल जी का जन्म गुजरात प्रदेश के प्रसिद्ध अहमदाबाद नगर में हुआ था । उनका यह भी कहना है ये एक छोटे-से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदी राम नामक किसी नागर ब्राह्मण को मिले थे । 'परची' के रचयिता, जनगोपाल ने भी अहमदाबाद को ही इनके 'प्रकट होने' का श्रेय दिया है ।[1] परन्तु कहते हैं कि इनकी जन्म-भूमि होने का कोई भी चिह्न अहमदाबाद नगर वा उसके निकट नहीं मिलता। इस विषय में वहाँ पर खोज-पूछ करनेवालों को वहाँ के निवासियों के तत्संबंधी अज्ञान वा अधिक-से-अधिक उदासीनता का ही परिचय मिलता है, कोई सफलता नहीं मिलती ।[2] 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित दादूदयालजी की रचनाओं के संपादक पंडित सुधाकर द्विवेदी का अनुमान रहा कि इनका जन्म-स्थान अहमदाबाद न होकर जौनपुर था । इसके लिए उन्होंने कुछ कल्पनाएँ भी की थीं । परन्तु इनके जीवन की विविध घटनाओं तथा इनकी भाषा-जैसी बातों पर विचार करने से उनके इस कथन से सहमत होना उचित नहीं जान पड़ता । वास्तव में इनके जन्म-स्थान के लिए किसी स्थान-विशेष का निर्दिष्ट किया जाना अभी तक संभव नहीं प्रतीत होता, न इस संबंध में अंतिम निर्णय दिया जा सकता है ।

इनकी जाति

इसी प्रकार दादूदयाल जी की जाति तथा कुल के संबंध में भी कुछ-न-कुछ मतभेद पाया जाता है । जिन दादूपंथियों ने इनके बालक रूप में साबरमती नदी में बहते हुए पाये जाने की कल्पना की है वे इनकी मूल जाति की कोई चर्चा न करके इनके एक ब्राह्मण द्वारा पोषित होने का ही अनुमान करते हैं । जनगोपाल उस

---

१. पच्छिम दिसा अहमदाबादू । तीं ठां साध परगटै दादू ॥६॥ —विश्राम ६, पृ० २ ।

२. क्षितिमोहन सेन : दादू, उपक्रमणिका, पृ० ११-२ ।

व्यक्ति को एक 'सौदागर' मात्र कह कर ही रह जाते हैं।[1] परन्तु उनमें से कुछ का कहना है कि ये वास्तव में उक्त लोदीराम ब्राह्मण के औरस पुत्र थे। इनकी माता भी वसीबाई नाम की एक ब्राह्मणी ही थी। इसके विपरीत अन्य बहुत-से लोग इस बात में पूरा विश्वास करते नहीं जान पड़ते और इसे वर्ण व्यवस्था के प्रशंसकों की कल्पना मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि दादूदयाल का ब्राह्मण होना तो किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता, उनका हिन्दू होना तक भी सिद्ध नहीं है। इस विचार वाले लोगों ने इन्हें मुसलमानी धुनिया जाति का होना बतलाया है और इनका पूर्वनाम 'दाऊद' तक भी माना है। इसी प्रकार इनके पिता का नाम सुलेमान और इनके गुरू का नाम बुरहाउद्दीन कहा जाता है। इनकी स्त्री को भी 'हव्बा' नाम से अभिहित करते हैं। किंतु द्विवेदी जी ने दादूदयाल को धुनिया की जगह मोची माना है। इसके लिए उन्होंने इनकी ही एक रचना उद्धृत की है।[2]

इससे स्पष्ट है कि दादू अपने को 'मोट महाबली' अर्थात् पानी खींचने के लिए चमड़े की मोट सीनेवाला महावली नामक मोची बतलाते हैं। परन्तु केवल 'मोट' शब्द का अर्थ यहाँ 'मोची' कैसे हो गया यह बात समझ में नहीं आती, न महाबली का व्यक्तिवाचक संज्ञा होना इनकी किसी अन्य रचना द्वारा किसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इसके विपरीत दादूदयाल के धुनिया जाति का वंशज होने का प्रमाण इनके शिष्य रज्जबजी के कथन से भी मिलता है।[3]

इसके सिवाय बंगाली बाउलों की बंदना वाले एक वाक्य[4] द्वारा इनके पूर्व नाम दाऊद होने की भी पुष्टि हो जाती जान पड़ती है। कारण कम-से-कम इनके मुसलमान होने में संदेह को स्थान नहीं मिलता। दादूदयाल जी के दो पुत्रों के नाम गरीबदास और मिस्कीनदास तथा इनकी दो पुत्रियों के नाम अब्बा और सब्बा भी इसी ओर संकेत करते हैं।

---

१. 'नगर अहमदाबाद मंझारा। सौदागर इक परम उदारा ॥१२॥-पृ० ४।

२. 'साँचा समरथ गुर मिल्या, तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली, सब घृत मथि करि खाय ॥३४॥"
—दादूदयाल की बानी, भा०१, वेलवेडियर प्रेस प्रयाग, पृ० ४।

३. 'धुनि ग्रभे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रो महामुनि।
उत्तम जोग धारम्, तस्मात् क्यं न्याति कारणम्।'
—रज्जबजी की सर्वांगी, साध महिमा को अंग।

४. 'श्रीयुक्त दाऊद वंदि दादू यांर नाम।'
—क्षितिमोहन सेन: दादू पृ० १७ पर उद्धृत।

जीवन-काल

दादूदयाल जी के जीवन-काल के विषय में प्रायः सभी एकमत जान पड़ते हैं। इनके जन्म का समय फाल्गुन सुदी ८ वृहस्पतिवार' सं० १६०१ : सन् १५४४ ई० सभी मानते हैं तथा इनके मृत्यु-दिवस का भी ज्येष्ठ बदी ८ शनिवार सं० १६६० : सन् १६०३ ई० होना सभी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनका जीवन-काल मुग़ल सम्राट अकबर के जीवन-काल सं० १५६६-१६६२ के बीच में पड़ता है। इनका मृत्यु-स्थान भी सर्वसम्मति से नराणे (नारायणग्राम) समझा जाता है। वहाँ पर दादूदयाल पंथियों का मुख्य दादू द्वारा विद्यमान है, जहाँ प्रधान मठ तथा तीर्थ-भूमि के उपलक्ष में प्रति वर्ष फागुन महीने की शुक्ला चतुर्थी से लेकर उसकी पूर्णिमा तक एक बड़ा मेला भी लगा करता है। वहाँ की गद्दी पर इस समय पंथ का मुख्य मान्य ग्रंथ दादूदयाल जी का 'बानी ग्रंथ' रखा रहता है जिसकी विधिवत् पूजा होती है।

इनके गुरु

संत दादूदयाल जी के जीवन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वह समझी जाती जब इनकी अपने गुरु से भेंट हुई थी। प्रसिद्ध है कि उस समय ये केवल लगभग ११ वर्ष के थे और अन्य बालकों के साथ काँकरिया तालाब पर खेल रहे थे। इसी समय वहाँ अचानक आकर किसी वृद्ध साधु ने इनसे भिक्षा माँगी। इनके तदनुसार भीख दे देने के अनंतर इनके मुख में पान की पीक डाल दी। उस समय इनके ऊपर इसका कदाचित् कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। किंतु जब ये १८ वर्ष के हो गए तब उसी वृद्ध साधु ने इन्हें फिर एक बार दर्शन दिये। अबकी बार उसने इनके भीतर एक विचित्र कायापलट-सा कर दिया। कहा जाता है कि इस बार ये अपने पैतृक व्यवसाय में लगे बैठे हुए थे और ये उसमें इतने व्यस्त थे कि इन्हें अपने द्वार पर खड़े हुए उक्त साधु के अस्तित्व का भान तक भी नहीं हुआ। उस समय इनके मकान अथवा मढ़ी के बाहर वर्षा की झड़ी लगी हुई थी और सब कहीं अन्य प्रकार से बहुत कुछ शांति का ही अनुभव हो रहा था। नवयुवक दादूदयाल ने जब अपना सिर यों ही उठाया और उसे अपने सामने साधु की सौम्य मूर्ति एकाएक दीख पड़ी तब वह कुछ स्तब्ध-सा हो गया। उसने संकोच भाव के साथ अपने उस अतिथि को भीतर आकर बैठ जाने का अनुरोध किया। साधु दादू के अनुरोध पर उसके दिये हुए आसन पर बैठ गये, किंतु उनके नेत्रों से अश्रु-प्रवाह चलता हुआ दीख पड़ा। जब दादू ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया कि मैं तुम्हारे द्वार पर केवल कुछ ही समय तक खड़ा रहा जिसके कारण मेरे स्वागत के लिए तुम्हें इतनी श्रद्धा प्रदर्शित करनी पड़ी। किंतु न जाने कितने युग-युगांतर से भगवान् हमारे जीवन-प्रदेश की छोर पर

हमारी प्रतीक्षा में खड़े विद्यमान हैं। फिर भी हमारी दृष्टि तक उनकी ओर नहीं जाती, न हम उनके अस्तित्व से प्रभावित हो पाते हैं। नवयुवक दादू के हृदय पर उनके इन शब्दों ने विद्युत् की भाँति प्रभाव डाला और वह वृद्ध साधु के चरणों पर गिर कर उनका शिष्य बन गया।

वृद्धानंद कौन ?

उक्त साधु का नाम दादूदयालजी ने स्वयं कहीं पर भी नहीं बतलाया है, किंतु इनके शिष्यों ने उसे 'वृद्धानंद' कहा है।[1] इन्होंने स्वयं इस संबंध में केवल इतना कहा है कि "अंधकारमय प्रदेश में मेरे गुरु ने मेरे सिर पर हाथ रखा, मुझे उनका प्रसाद मिल गया तथा मुझे उस अगम अगाध की दीक्षा भी प्राप्त हो गई।"[2] इस कथन द्वारा किसी पुरुष विशेष की ओर किया गया इनका कोई स्पष्ट संकेत लक्षित नहीं होता, प्रत्युत अन्य अनेक प्रसंगों द्वारा हमें ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये किसी अलौकिक व्यक्ति अथवा स्वयं भगवान् के लिए ही ऐसे उद्‌गार प्रकट कर रहे हैं। फिर भी कुछ लोगों ने उन वृद्धानंद को बुड्ढन का नाम देते हुए उन्हें कबीर साहब की शिष्य परंपरा के भी अंतर्गत स्थान दिया है। उनका अनुमान है कि यह नाम क्रमशः कबीर, कमाल, जबाल, बिमल और बुड्ढन के अनुसार, उनसे पाँचवीं पीढ़ी में आता है।[3] परन्तु ऐसे किसी बुड्ढन का वा वृद्धानंद का भी उस समय अर्थात् सं० १६१६ के लगभग वर्तमान रहना किन्हीं अन्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता नहीं जान पड़ता। इस प्रकार कुछ लोगों का 'बुड्ढन बाबा यूं कही, ज्यूं कबीर की सीख" वाला कथन बहुत कुछ निराधार जान पड़ता है। इसके विपरीत डॉ० ऑर का मत है कि सम्राट् अकबर के समय में एक शेख़ बुड्ढन वास्तव में, विद्यमान थे जो सूफ़ियों की कादिरी शाखा के अनुयायी थे। इनके पिता का नाम काज़ी इस्माइल था जिनके पूर्व पुरुष मुग़ल बादशाहों के यहाँ काज़ी के पद पर काम करते आये थे तथा इस शेख़ बुड्ढन के वंश वाले इस समय तक भी साँभर में पाये जाते हैं। डॉ० ऑर ने इस बात का निर्विवाद रूप से सिद्ध होना कहा है।[4]

---

१. "गैब मांहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा, दष्या अगम अगाध ॥३॥
उदाहरण के लिए देखिए संत सुंदरदास का ग्रंथ 'गुरु सम्प्रदाय' पद्य ८-११,
—सुंदर ग्रंथावली भा० १, पृ० १६८।

२. दादूदयाल की बानी, भा० १, वे० प्रे०, पृ० १।

३. एच० एच० विल्सन : रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० १०३।

४. डॉ० डब्ल्यू० जी० ऑर : ए सिक्स्टींथ संचुरी इंडियन मिस्टिक, लंदन, १९४७ ई०, पृ० ५४।

विशेष वक्तव्य

डॉ० ऑर ने इस प्रसंग में हमारा ध्यान एक अन्य बात की ओर भी आकृष्ट किया है जो उल्लेखनीय है। उन्होंने इसके पहले एक स्थल पर[1] दादू-दयालजी की जाति का 'दबिस्ताने मज़ाहिब' के अनुसार नद्दाफ़ धुनिया, पिंजारा, पिनारा होना बतलाते हुए कहा है कि इस वर्ग के लोग राजस्थान में उन हिंदुओं के वंशज समझे जाते हैं जो लोदी बादशाहों के शासन-काल में मुसलमान हो गए थे जो साधारणतः रुई धुनने का काम भी करते आने के कारण, 'पिंजारा' कहे जाते थे। डॉ० ऑर का कहना है कि ये ही लोग संभवतः 'पिनारा' अथवा 'तेली-पिनारा' भी कहे जाते थे और तेल निकालने का व्यवसाय किया करते थे। ये लोग अपने को पठान समझते थे और इनमें से कई अभी तक 'लोदी' भी कहलाते आये हैं। तदनुसार लाहोर का 'हसन तेली' नामक एक व्यक्ति ऐसे तेली लोगों का संरक्षक संत (Patron saint) भी बन गया था। इन्हें धुनिया वा पिंजारा कहा जाता है तथा वह उन सूफ़ी अब्दुल कादिर ज़ीलानी का ही वंशज था जिनकी कादिरी शाखा के अनुयायी शेख बुड्ढन थे।[2] डॉ० ऑर तो यहाँ तक बतलाते हैं कि शेख बुड्ढन के वंश वाले काजी लोगों को दादू-पंथ के प्रधान दादूद्वारा नराणे में आज तक भी सम्मान प्रदान किया जाता है। वहाँ पर किसी नये महंत को गद्दी देते समय उसके पहनने के लिए साँभर से सूती कपड़े, पगड़ी आदि जैसी वस्तुएँ मँगा कर उनसे परंपरानुसार इस बात की स्वीकृति ले ली जाती है कि आज से उन्हें इस पद के योग्य मान लिया गया।[3] इस प्रकार डॉ० ऑर दादू दयाल जी का मूलतः न केवल पिंजारा प्रत्युत 'तेली पिनारा' होना तथा इसके साथ ही उनके गुरु का शेख बुड्ढन नामक सूफ़ी होना भी तथ्य समझते जान पड़ते हैं। इस बात की ओर उन्होंने एक से अधिक बार संकेत भी किया है। दादूदयाल जी के एक पद की पंक्ति से[4] प्रकट होता है कि ये वास्तव में पिंजारा रहे होंगे। जनगोपाल की 'परची' वाले 'चौथे विश्राम' के अंतर्गत[5] इनका 'धुनकरी कृत्य' करना और तदनुसार 'धुनिया' कहला कर प्रसिद्ध होना तक बतलाया गया है। परन्तु हमें इस बात का निश्चित पता नहीं चल पाता कि 'पिंजारा जाति' के साथ 'पिनारा' अथवा 'तेली पिनारा' कहे जाने

---

१. ए सिक्स्टींथ सेंचुरी मिस्टिक, पृ० ५० ।

२. वही, पृ० ७० । ३. वही, पृ० ५५ ।

४. 'किसकूं पूजै गरीब पिंजारा', पद ३३६ ।

५. दे० पृ० ३४-८ तक और विशेषकर पृ० ३५ ।

वाले ऐसे वर्ग का वास्तविक संबंध क्या है ? यह भी कि उपर्युक्त शेख बुड्ढन ने दादूदयाल जी को क्या कभी दीक्षित किया था ? जहाँ तक नराणे वाले महंतों के लिए साँभर के काज़ियों की ओर से सूती पहनावा भेजे जाने की बात है इसका समर्थन वहाँ से नहीं मिलता। अतएव यथेष्ट सामग्री के अभाव में इस बात को निर्विवाद रूप में स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि बुड्ढन, चाहे वे कबीर साहब की शिष्य-परंपरा में रहे हों अथवा शेख़ बुड्ढन के रूप में कादिरी सूफ़ी हों, दादूदयाल के गरु थे।

प्रारंभिक जीवन

दादू दयालजी को कोई पढ़ने-लिखने की शिक्षा दी गई थी या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भी हमारे पास कोई आधार नहीं । इनकी रचनाओं में निहित गंभीर भावों के ऊपर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका आध्यात्मिक अनुभव बहुत गहरा था । उसे व्यक्त करते समय इन्होंने जैसी भाषा तथा शैली का प्रयोग किया है उससे भी इनकी योग्यता का पता चलता है। हमें ऐसा लगता है कि इन्हें एक सफल कवि कह डालने में भी कोई अड़चन न होगी। परन्तु, फिर भी इस विचार से कि उक्त प्रकार की पहुँच स्वानुभूति की साधना तथा सत्संग के अनुकूल वातावरण द्वारा भी संभव हो सकती है। कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव-जैसे अन्य अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति भी ऐसे ही हो चुके हैं। हमें इनके 'अक्षर परिचयहीन साधक'"[1] होने में किसी प्रकार का संदेह करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, न हमें इस बात के लिए विवश होना ही पड़ सकता है इन्हें हम 'विशेष चमत्कार युक्त' कह डालें। 'साँभर में सद्गुर मिला, दी पान की पीक'[2] वाक्य से पता चलता है कि ग्यारह वर्ष की अवस्था में जब इन्हें साधु वृद्धानंद के प्रथम दर्शन हुए थे ये साँभर में रहा करते थे और अपना जन्म-स्थान अहमदाबाद छोड़ चुके थे। इस कारण इनके उस बचपनकाल की घटनाओं का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी का तो कहना है कि ये अपनी १८ वर्ष की अवस्था तक अहमदाबाद में ही रहे। उसके पीछे ६ वर्षो तक मध्यप्रदेश में फिरते हुए काटे तथा इसके पश्चात् जयपुर राज्य में आये जहाँ कई वर्ष तक रहे।"[3] परन्तु 'जयंती ग्रंथ' में दिये गए विवरण के अनुसार पता चलता है कि वृद्ध महात्मा के साथ भेंट हो

---

१. क्षितिमोहन सेन : दादू, उपक्रमणिका, पृ० १६४।

२. वही, पृ० ३५ पर उद्धृत।

३. स्वामी दादूदयाल की वाणी, अजमेर, १६०७ ई०, भूमिका, पृ० १।

जाने पर इन्होंने घर बार छोड़ दिये। वहाँ से पेटलाद, आबू तथा सिरोही होते हुए कल्याणपुर (करडाला) की पहाड़ी पर पहुँचे, जहाँ इन्होंने छह वर्षों तक साधना की। इसके अनंतर इनके वहाँ से अजमेर, भीलवाड़ा, चित्तौड़ होकर करौली पहुँचने तथा वहाँ से टोडा रायगढ़ होते हुए १६ वर्ष की अवस्था में साँभर आने और वहाँ पर भी ६ वर्षो तक साधना करने की बात उसमें बतलायी गई दीख पड़ती है।[1] इस प्रकार इनके जीवन-काल की घटनाओं का निश्चित पता वास्तव में, इनके साँभर आने अथवा अधिक-से-अधिक उसके छह वर्ष पहले भ्रमण के लिए निकल पड़ने से ही चलने लगता है। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि प्रायः २५ वर्षो तक ये साधनाओं में ही लगे रहे। जनगोपाल की 'परची' से भी यही जान पड़ता है कि १२ वर्ष इनके बालपन में बीते। तब गुरु से भेंट होने के अनंतर २५ वर्ष की अवस्था में ये साँभर में विद्यमान थे तथा ३२ वें वर्ष में गरीबदास का जन्म हुआ था।[2]

देश भ्रमण का प्रभाव

साँभर निवास के पूर्व वाले छह वर्षों के भ्रमण-काल में इनके काशी, बिहार तथा बंगाल देश की ओर पर्यटन करते रहने का भी अनुमान किया गया है। प्रसिद्ध है कि इस यात्रा में ही इन्हें कहीं-न-कहीं नाथ-पंथी योगियों से भी भेंट हुई थी। कहा जाता है कि इनकी रचनाओं में यत्रतत्र पाये जानेवाले 'देखिबा' 'पेखिबा' 'चलिबा' 'जाइबा'-जैसे प्रयोग उन योगियों के प्रभाव के ही कारण उनमें आ गए होंगे। इसके सिवाय इनकी कुछ रचनाएँ गोरखनाथ अथवा उनके अनुयायियों की पंक्तियों का ठीक-ठीक अनुसरण करती हुई भी जान पड़ती हैं।[3] परन्तु नाथ-पंथ का प्रभाव इन पर पश्चिम के प्रदेशों में भ्रमण करते समय भी पड़ सकता था। इस कारण केवल इतने से ही, ऐसा अनुमान करना ठीक न होगा कि इन्होंने ऐसे पूर्वी देशों का भ्रमण अवश्य किया होगा अथवा यह कि उपर्युक्त प्रयोगों का मुख्य कारण भी यही रहा होगा। इतना अवश्य कहा जाता है कि बंगाल के बाउलों में इनके प्रति एक विशेष प्रकार की श्रद्धा प्रकट की जाती

---

१. जयंती ग्रंथ, इतिहास खण्ड, पृ० ३।

२. 'बारह बरस बालपन गयऊ, गुरु भेंटत तब सनमुख भयऊ।
साांभर आये समैं पचीसा, गरीबदास जनमैं बत्तीसा॥३०॥
सारांश, पृ० १८६।

३. दे० दादूदयाल की बानी, वे० प्रे०, पद १६४, पृ० ६३ तथा पद १३८, पृ० १२६।

हुई दीख पड़ती है। जैसा हम इसके पहले भी देख आये हैं, वे लोग अपनी वंदना में इनके नाम 'दादू' अथवा 'दाऊद' को स्थान भी दिया करते हैं। इसके सिवाय, उक्त नाथ-पंथी प्रभाव के विषय में भी कुछ लोग कहते हैं कि इन्होंने इसी कारण अपना एक नाम 'कुंमारी'पाव जैसा रखा था। ऐसे नामधारी व्यक्ति द्वारा रचित 'अजपाग्रंथ', 'अजपा गायत्री ग्रंथ', 'विराट पुराण', 'योगशास्त्र' तथा 'अजपाश्वास' जैसा पुस्तकों के नाम तक भी हमें बतलाये जाते हैं। परन्तु अभी तक हमें ऐसा कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिल सका है जिस पर इनके कभी बंगाल के बाउलों के संपर्क में आने की कोई घटना निश्चित की जाय, न कुंमारी पाव वाले उक्त ग्रंथ मिल सके हैं। न इनकी उपलब्ध रचनाओं का अध्ययन करने पर ही हमें ऐसा कोई स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जिसके अनुसार हम इनके ऊपर पड़े हुए किसी नाथ-पंथी सैद्धांतिक प्रभाव का अनुमान कर सकें।

परब्रह्म-सम्प्रदाय का सूत्रपात

दादू दयाल अपने देश-भ्रमण से लौट कर लगभग सं० १६३० : १५७३ ई० से साँभर में रहने लगे। वहीं पर इन्होंने अपने पंथ के संबंध में सर्वप्रथम कार्य आरंभ किया तथा उसके लिए अपने अनुयायियों की बैठकें भी नियम पूर्वक कराने लगे। ये लोग पहले इनके साथ ब्रह्म की उपासना के लिए एकत्र हुआ करते थे और इनके सत्संग से लाभ उठाया करते थे। इनके सम्मिलन के स्थान को 'अलख दरीबा' कहा जाता था[१] जिसका तात्पर्य यह था कि उक्त प्रकार से वहाँ पर स्वयं अलख निरंजन की अनुभूति के संबंध में सबका विचार-विनिमय चला करता है। ऐसे स्थान को दादू दयाल ने कहीं-कहीं 'चौगान' का नाम भी दिया है जिससे पता चलता है कि ये उसे दैनिक प्रपंचों के अनंतर विश्राम का स्थान भी समझते थे। जान पड़ता है कि उस समय तक इनका विवाह हो चुका था और ये गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश भी पा चुके थे। ऐसी ही स्थिति में इन्होंने पंथ-निर्माण की ओर निश्चित भाव के साथ अधिक-से-अधिक ध्यान देना आरंभ किया और इनका ब्रह्म-सम्प्रदाय क्रमशः अपना एक स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगा।[२] जीवन के प्रश्नों पर दादू दयाल समन्वयात्मक रूप से विचार किया करते थे और उसकी साधारण-से-साधारण बात पर भी गंभीर चिंता करते थे। इसीलिए इन्होंने आध्यात्मिक सत्संग का सूत्रपात करते समय भी

---

१. 'आसिक असली साध सब, अलख दरीबे जाइ।
साहिब दर दीदार में, सब मिलि बैठे आइ ॥'—परचा कौ अंग २३४२, पृ० ७१।

२. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १७४-७।

ब्यावहारिक वातों की उपेक्षा नहीं की। इनका ब्रह्म-सम्प्रदाय ही आगे चल कर 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को आज तक दादू - पंथ नाम भी दिया जाता है।

साँभर-निवास

साँभर में दादू दयाल छह वर्षों तक रहे। वहीं रहते समय संवत् १६३३ में इन्हें प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चल कर गरीवदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गरीवदास के सिवाय इनके एक अन्य पुत्र मिस्कीनदास तथा नानीबाई तथा मातावाई नाम की दो कन्याओं के भी नाम लिये जाते हैं। गरीवदास के लिए दादू दयाल का औरस पुत्र होना 'जनगोपाल की परची' तथा राघोदास की 'भक्तमाल' से भी स्पष्ट है। फिर भी जनगोपाल की ही तथा वासुदेव कवि और स्वयं गरीबदास की कुछ पंक्तियों के आधार पर भी स्वामी मंगलदासजी ने अनुमान किया है कि वे (तथा मिस्कीनदास भी जो उनके सहोदर थे), इनके आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे और उन दोनों का पालन-पोषण भर इनके आश्रम में हुआ था। वे दादूजी के प्रिय शिष्य वा अधिक-से-अधिक प्रदत्त मात्र कहे जा सकते हैं।[1] यही बात नानीबाई तथा माताबाई के संबंध में भी कही जा सकती है। कुछ लोगों का अनुमान है कि अपनी एक साखी की पंक्ति[2] द्वारा ये अपने उक्त दोनों पुत्रों के नाम तथा उनकी जीवनचर्या की ओर संकेत करते हुए जान पड़ते हैं। जो हो, ये अपना गार्हस्थ्य-जीवन सभवत: अपनी पैतृक जीविका द्वारा द्रव्योपार्जन करके व्यतीत करते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि राम के परसाद से ही अपना सारा व्यवहार चल रहा है। ये कहते भी हैं कि "एकमात्र राम ही हमारे धन, वृत्ति वा वृत्तिदाता हैं। उन्हीं की कृपा के सहारे हम अपने सारे परिवार का पालन-पोषण करने में सफल हो सके हैं।"[3] कहते हैं कि साँभर में रहते समय ही इनके पास किसी मुसलमान हाकिम ने आकर अनेक प्रकार के तर्क किये थे, जिनके उत्तर में इन्होंने 'हुसियार हाकिम न्याव है' आदि राग टोड़ी का पद[4] कहा था। उसे क्रोध, अभिमान-जैसे

१. 'गरीब गरीबी गहि रह्या मसकीनी मसकीन।'
—गरीबदासजी की वाणी, मंगल प्रेस, जयपुर, प्राक्कथन पृ० 'द'।

२. 'दादू रोजी राम हैं, राजिक रिजिक हमार।
दादू उस परसाद सूं, पोष्या सब परिवार॥' ५५॥
—साखी, जीवत मृतक कौ अंग ३१, पृ० २०४।

३. साखी, वेसास कौ अंग ५५, पृ० १६०।

४. भाग २, पद २८१, पृ० ११६।

दुर्गुणों का त्याग कर अपने को सुधारने का उपदेश उन्होंने दिया था। उक्त हाकिम तभी से इनकी सेवा में प्रवृत्त हो गया।[1]

आमेर-निवास तथा अकबर से भेंट

साँभर में छह वर्षों तक रह चुकने पर फिर दादू दयाल आमेर चले गए, जहाँ इनके लगभग १४ वर्षों तक ठहरने का पता चलता है। आमेर जाने के मुख्य कारण का कोई अनुसंधान अभी तक नहीं किया जा सका है। इतना निश्चित-सा है कि इनकी प्रसिद्धि साँभर से होने लगी थी और दूर-दूर तक के लोग इनके सत्संग के लिए आने लगे थे। अतएव, संभव है इनके किसी श्रद्धालु अनुयायी ने ही इन्हें आमेर जाने के लिए अनुरोध किया हो। क्योंकि यह नगर उन दिनों जयपुर राज्य की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध हो गया था और वहाँ की सभ्य जनता का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ पर आते ही इनकी ख्याति सुदूर दिल्ली नगर तक फैल गई और किसी ने इनकी प्रशंसा मुग़ल सम्राट् अकबर से भी कर दी। अकबर की आध्यात्मिक महापुरुषों के साथ सत्संग करने की बड़ी लालसा रहा करती थी। इसलिए उसने अपना दूत भेज कर दादू दयाल के साथ मिलने की तिथि आदि निश्चित कर ली। इसके लिए उपयुक्त स्थान सीकरी का समझा गया। तदनुसार सं० १६४३ : सन् १५८६ ई० में इन दोनों की भेंट हुई और प्रायः ४० दिनों तक दोनों का सत्संग चलता रहा। यह भी प्रसिद्ध है कि इस घटना के ही अनंतर बादशाह ने दादू दयाल से प्रभावित होकर अपनी मुद्राओं पर एक ओर 'अल्लाह अकबर' और दूसरी ओर 'ज़ल्लज़लालुहू' अंकित कराया था जिसके अवशेष चिह्न अभी तक मिलते हैं। दादू दयाल का अब्दुर्रहीम खाँ ख़ानख़ाना (सं० १६३३ : १७०३) से भी भेंट होने की जनश्रुति प्रसिद्ध है, किंतु इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दादू तथा रहीम की रचनाओं में कहीं-कहीं पर समान भाव दृष्टिगोचर होते हैं जो बिना भेंट के भी संभव है। सीकरी से लौटने पर जब ये फिर आमेर आये, तब उसी समय जयपुराधीश महाराज भगवंत दास के यहाँ कोई महान् उत्सव था जिसमें अनेक राजा लोग तक आकर सम्मिलित हुए थे। परन्तु ऐसे अवसर पर भी वहाँ दादू दयाल उपस्थित नहीं हुए जिस कारण महाराज को बहुत बुरा जान पड़ा। दादू दयाल ने इस बात की कुछ भी परवाह

---

१. 'साँभरि हाकिम सो कह्यौ, पद यह दादू देव।
मानि वचन गहि नीति कौ, करी गुरु की सेव ॥'
—त्रिपाठी : दा० द० के सबद, पृ० ४७८।

नहीं की और संघर्ष के लिए उनके कई अवसर देने पर भी ये तनिक उत्तेजित नहीं हुए।

अंतिम समय

आमेर में दादू दयाल के जीवन का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग व्यतीत हुआ। इन्होंने अपनी विविध रचनाओं का आरंभ कदाचित् साँभर में ही कर दिया था और आमेर में रह कर उसके बहुत बड़े अंश का निर्माण किया। फिर अपने शिष्यों के आग्रह से इन्होंने अपनी दूसरी बड़ी यात्रा आरंभ की। अब की बार द्यौसा, मारवाड़, बीकानेर, कल्याणपुर आदि स्थानों में जाकर वहाँ के लोगों को उपदेश दिये। द्यौसा में ये अब की बार दुबारा गये हुए थे और इनकी अवस्था अब ५८ वर्ष की हो चली थी। पहली बार ये सं० १६५२ के लगभग गये थे और वहाँ पर इन्होंने एक वैश्य-दंपति को पुत्रोत्पत्ति के लिए आशीर्वाद दिया था। अब की बार उनका पुत्र सात वर्षों का हो चुका था और उन दोनों ने उसे दादू दयाल के चरणों पर बड़े श्रद्धा-भाव के साथ डाला और उस पर प्रसन्न होने की प्रार्थना की। दादू दयाल ने उस बच्चे के सिर पर अपना हाथ रखा और उसके सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए उसे होनहार भी बतलाया। वही बालक आगे चल कर 'सुंदरदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। द्यौसा से आकर दादू दयाल नराणे की एक गुफा में निवास करने लगे और वहीं रहते समय जेठ बदी ८ सं० १६६० को इनका देहांत हो गया। इस समय इनकी अवस्था ५८ वर्ष और ढाई महीने की हो गई थी और इनकी प्रसिद्धि भी दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। साँभर के निकट नराणे की गुफा में उनके बाल, तूंबा, चोला और खड़ाऊँ अभी तक सुरक्षित हैं, जहाँ उनका दर्शन किया जाता है।

स्वभाव

दादू दयाल स्वभाव के अत्यंत नम्र और क्षमाशील थे। इन्हें कोमल स्वभाव का होने के ही कारण लोग दादू के साथ 'दयाल' भी कहा करते थे। इन्होंने निंदा की कुछ भी परवाह नहीं की और इसके प्रति ये इतने उदासीन थे कि इसका नाम तक लेना नितांत व्यर्थ समझा करते थे।[1] इनकी क्षमाशीलता के संबंध में कहा जाता है कि एक बार जब ये आत्म-चिंतन

---

१. "निन्द्या नाम न लीजिये, सुपिनै ही जिनि होई।
न हम कहैं न तुम सुणौ, हूम जानि भाषैं कोई ॥'५॥
—स्वामी दादू दयाल की वाणी, चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी-संपादित, विद्या कौ अंग सा० ५, पृ० ३३५।

में लीन होकर बैठे थे, इनके कुछ विरोधी ब्राह्मणों ने इन्हें ईंटों से घेर कर बंद कर दिया और चाहा कि इसी प्रकार इनका प्राणांत भी कर दें। इनकी जब आँखें खुलीं और इन्होंने अपने को चारों ओर से घिरा और बंद पाया, तब निकलने का रास्ता न देख कर इन्होंने अपनी आँखें फिर मूँद लीं। उसी प्रकार वे कई दिनों तक पड़े रहे। अंत में जब उनके आसपासवाले कुछ सज्जनों को इसका पता चला, तब उन्होंने आकर ईंटों को हटा दिया और उक्त दुष्टों को दंड देने की व्यवस्था करने लगे। परन्तु दादू दयाल ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और उनसे बतलाया कि वे दंड के भागी नहीं, अपितु धन्यवाद के पात्र हैं। क्योंकि उन्हीं की करतूत के कारण मुझे भगवान के चरणों में कुछ अधिक काल तक लगे रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

रचनाएँ

दादू दयाल की सारी रचनाओं की संख्या प्रायः २० सहस्र की कही जाती है जिनमें इनके पद, साखियाँ और अन्य बानियाँ भी संगृहीत हैं। परन्तु इन सबका अभी तक कोई प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत नहीं किया जा सका है और जो रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं, वे भी सभी असंदिग्ध नहीं। दादू दयाल के शिष्यों में से संतदास तथा जगन्नाथदास ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'हरडे वाणी' नाम से तैयार किया था। किंतु उन्होंने उसका कोई वर्गीकरण नहीं किया था, न उन्हें किन्हीं उपयुक्त शीर्षकों के नीचे रखने की कभी चेष्टा की थी। इनके एक अन्य शिष्य रज्जबजी ने इन त्रुटियों को दूर कर उन्हें ३७ भिन्न-भिन्न अंगों वा प्रकरणों में विभक्त किया और अपने संग्रह का नाम भी तदनुसार 'अंगबंधू' रखा। इसके पश्चात् आधुनिक संपादकों में से पंडित सुधाकर द्विवेदी ने रज्जबजी की ही प्रणाली का अनुसरण कर एक नवीन संग्रह तैयार किया। यह संग्रह 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से प्रकाशित हुआ और उसमें २६२३ साखियाँ और ४४५ पद संगृहीत किये गए हैं। एक दूसरा संग्रह डॉ० राय दलजंग सिंह का भी प्रायः इसी आदर्श के अनुसार प्रस्तुत किया हुआ जयपुर से प्रकाशित हुआ है। परन्तु इन सबसे प्रामाणिक संग्रह एक तीसरा निकला जिसका संपादन पंडित चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने किया और जो अजमेर से प्रकाशित हुआ। फिर प्रायः उसमें निर्धारित पाठ पर ही आश्रित एक नवीन संस्करण भी स्वामी मंगलदास द्वारा संपादित होकर निकला। इसमें ३७ अंगों में ही विभाजित साखियों की संख्या २६५२ है और २७ रागों के अनुसार छपे हुए ४४५ पद हैं। प्रयाग के 'बेलवेडियर प्रेस' की ओर से भी दादू-

दयाल की रचनाओं का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमें त्रिपाठीजी के संस्करण से अधिक भिन्नता नहीं दीख पड़ती। इधर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित एक नया संस्करण अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक रूप में प्रकाशित होने जा रहा है।

(२) शिष्य-परंपरा

शिष्य और थाँवे

संत दादू दयाल का व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था और इनके कोमल और हृदयग्राही स्वभाव के कारण, अनेक व्यक्ति इनके प्रभाव में बहुत शीघ्र आ जाते थे। इनके सत्संग का प्रभाव ऐसे लोगों पर इस प्रकार पड़ता था कि वे उन्हें बहुधा अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लेते और तदनुसार आचरण करने पर कटिबद्ध भी हो जाते थे। दादू-शिष्यों की संख्या उनके जीवन-काल का अंत होते-होते बहुत बड़ी हो गई। इनके अनेक शिष्य बहुत प्रसिद्ध भी हो गए। इस प्रकार प्रसिद्धि-प्राप्त शिष्यों की संख्या ५२ बतलायी जाती है। लालदास की 'नाममाला' के अनुसार यह १५२ तक पहुँच जाती है।[1] प्रसिद्ध है कि इनमें से १०० ऐसे थे जिन्हें 'वीतरागी' कहा जा सकता है तथा जिन्होंने व्यावहारिक जीवन का प्रायः त्याग ही कर दिया था। वे सदा आत्म-चिंतन में लीन रहा करते थे। उन्होंने न तो कोई शिष्य किया, न उन्हें किसी स्थान-विशेष में रहना अच्छा लगा। परन्तु शेष ५२ में से अधिकांश के पीछे उनकी परंपराएँ चल निकलीं तथा उनके 'थाँवों' पर भजन तथा व्यवहार दोनों साथ चले। उनके द्वारा स्थापित ऐसे थाँवों में से भी सभी आज तक नहीं रह गए हैं। इनमें से केवल २५ वा २६ ऐसे हैं जिनमें महंत और साधु दोनों पाये जाते हैं। ४ वा ५ में साधु तो हैं, किंतु कोई थाँवायती महंत नहीं है। शेष २२ के लिए कहा जाता है कि उनके अब न तो कोई महंत रह गए हैं, न कोई ऐसे साधु ही पाये जाते हैं जिन्हें उनके साथ संबद्ध समझा जा सके।[2] उक्त सभी ५२ दादू-शिष्यों अथवा १५२ ऐसे लोगों की भी सूची प्रकाशित की जा चुकी है,[3] किंतु उनका यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है। इसके सिवाय प्रचलित भावों के अंतर्गत जो कहीं-कहीं कुछ उप-थाँवें वा उप-सम्प्रदाय से बन गए मिलते हैं। उनमें से कई एक साधारण हिन्दू-समाज के समुद्र में मग्न होकर इस

---

१. जयंती ग्रंथ, पृ० २२।

२. वही, पृ० २४।

३. वही, पृ० ७०-४ तथा पृ० ८७-९०।

प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उनमें कोई विशिष्ट बात हमें लक्षित नहीं होती।

प्रमुख शिष्य

राघोदास ने अपनी 'भक्तमाल' के अंतर्गत ५२ दादू-शिष्यों के नाम गिनाये है।[१] ५२ शिष्यों की इस नामावली के साथ उपर्युक्त ऐसी सूची की तुलना करने पर केवल एकाध नामों की ही भिन्नता दीख पड़ती है। इसके सिवाय यह भी पता चलता है कि इनमें से वषना, शंकर, जइसो, चाँदो, बड़े प्रागदास, बड़े भोपालदास, दयालदास, लालदास, चरणदास, टीलोजी, परमानंद, जैमल चौहान झाँझू बाँझू, छोटे गोपालदास, जगन्नाथदास, नागरनिजाम, चैनजी तथा श्यामदासजी-जैसे कुछ लोगों के किसी थाँवे का कहीं पता नही चलता। यदि सभी सूचियों को मिला कर दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों के नाम चुने जायँ तो संभवतः १. रज्जबजी, २. छोटे सुंदरदास, ३. गरीबदास, ४. प्रागदास, ५. जगजीवनदास, ६. वाजिंदजी, ७. बनवारीदास, ८. मोहनदास, ९. जनगोपाल, १०. संतदास, ११. जगन्नाथदास, १२. क्षेत्रदास, १३. चंपाराम, १४. बड़े सुंदरदास, १५. वषनाजी, १६. घड़सीदास, १७. माधोदास, १८. शंकरदास, १९. जइसो, २०. जैमलजी, २१. जग्गाजी, २२. मिस्कीनदास तथा २३. चतुर्भुजजी के ही नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से भी केवल कुछ के ही परिचय उपलब्ध हैं।

---

१. दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत।
प्रथम ग्रीब, मसकीन, बाई, द्वै सुंदर दासा।
रज्जब दयालदास, मोहन च्यारूं प्रकासा॥
जगजीवन, जगन्नाथ, तीन गोपाल वषानूं।
गरीब जन दूजन, घड़सी, जैमल द्वै जानूं॥
सादा, तेजानंद, पुनि प्रमानंद, बनवारि द्वै।
साधू जन हरदास हू, कपिल चतुरभुज पार ह्वै॥३६१॥
चत्रदास द्वै, चरण प्राग द्वै, चैन प्रहलादा।
वषनौ, जग्गो लाल, माषू, टीला अरु चाँदा॥
हिंगोल, गिर, हरिस्यंघ, निरांइण, जइसौ, संकर।
झांझबांझू, संतदास टीकूं, स्यामहि वर॥
माधव, सुदास, नागरनिजाम जन राघो वर्णि कहंत।
दादूजी के पंथ मै ये बावन द्रिगसु महंत॥३६२॥
—राघोदास की अप्रकाशित 'भक्तमाल'।

(क) रज्जबजी

प्रारंभिक जीवन

रज्जबजी का स्थान संत दादू दयाल के शिष्यों में सबसे ऊँचा समझा जाता है। इनका जन्म साँगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान-वंश में हुआ था। इनके पितृ-कुल के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह पहले हिन्दू कलाल का था, जिसमें मद्य की बिक्री होती थी और मुसलमान होने पर भी ये लोग सुरा-विक्रेता ही बने रहे। किंतु दादू-पंथी तथा रज्जबजी के भक्तगण इस बात को स्वीकार नहीं करते और अधिक मत उन्हे पठान-वशीय ठहराने के पक्ष में ही मिलता है। रज्जबजी के पिता महाराज जयपुर की सेवा में नायक के पद पर थे और उनकी वहाँ अच्छी प्रतिष्ठा थी। उनके घर इनका जन्म संवत् १६२४ के लगभग हुआ था। इनका प्रारंभिक नाम रज्जब अली खाँ था और इन्हें तात्कालिक प्रथानुसार सर्वप्रथम व्यायाम, कुश्ती तथा शस्त्रास्त्र प्रयोग की ही शिक्षा मिली थी। अपनी युवावस्था से ही, इसी कारण ये एक सुंदर, सुडौल शरीरधारी व्यक्ति बन गए थे और इनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली हो गया था। इन्हें पढ़ने-लिखने की शिक्षा भी पूरी मिली थी, किंतु इस संबंध में हमें कोई प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता। इतना अवश्य कहा जाता है कि बचपन से ही इनकी रुचि साधुओं तथा फ़कीरों के सत्संग की ओर अधिक दीख पड़ती थी। इन्हें धार्मिक बातों को ध्यान पूर्वक सुनने में अधिक आनंद आता था।

दादू दयाल से भेंट

साँगानेर का नगर आँबेर से लगभग १४-१५ मील दक्षिण की ओर बसा हुआ है। युवक रज्जब अली खाँ के विवाह की सगाई समय पाकर आँबेर के ही किसी पठान घराने में संपन्न हुई। निश्चित तिथि पर विवाह करने के लिए बारात सज कर साँगानेर से चल पड़ी। आँबेर में पहुँच कर बारात का मार्ग नगर के उस स्थान से होकर जाता था, जहाँ पाड़ी की तलहटी के निकट दादू दयालजी अपनी मंडली के साथ बैठे हुए थे। उस पवित्र स्थान के सामने 'बनडा' बना हुआ युवक स्वभावतः घोड़े से उतर गया और क्षण भर के लिए दादू दयाल के दर्शन करने आगे बढ़ा। उस समय दादू दयाल ध्यान में मग्न थे, इसलिए दूल्हा कुछ और ठहर गया। परन्तु ज्यों ही उनकी आँखें खुलीं, इसके शरीर पर उनका प्रभाव बिजली की भाँति पड़ गया और झुके हुए मस्तक को सीधा करते ही करते उसका हृदय और-से-और हो गया। उसने अपने सामने दादू दयाल के मुख से निकलता हुआ एक दोहा सुना जो उसके कोमल हृदय में एक तीखे तीर की भाँति प्रवेश कर गया। अंत में वहीं बना रह गया। उसका मंतव्य था कि

"सेवा तथा स्मरण के सारे साज किसी उद्देश्य से सजा रखे थे, परन्तु बीच में ही बंदगी विस्मृत हो गई और एक भी कार्य संपन्न न हो सका।"[1] फिर क्या था, रज्जबजी इसे सुनते ही परम विरक्त-से हो गए। प्रसिद्ध है कि अपने सारे दूल्हे के कपड़े आदि अपने छोटे भाई को देकर ये वहीं ठहर गए। गुरु दादू दयाल ने इन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। यह भी कहा जाता है कि अपने गुरु की आज्ञा से उस अवसर के स्मारक रूप में रज्जबजी तब से निरंतर दूल्हे के ही वेश में रहने लगे थे। जब एक पोशाक पुरानी पड़ जाती थी, तब उसकी जगह कोई प्रेमी सेवक इन्हें वैसी ही दूसरी बनवा देता था। पूछने पर ये कह देते थे कि अपने प्रियतम की भेंट का यह चिह्न है।

गुरु-सेवा तथा सत्संग

गुरु दादू दयाल द्वारा उक्त प्रकार से दीक्षित होने के समय रज्जबजी की अवस्था लगभग २० वर्षों की थी। उसी समय से गुरु ने इन्हें रज्जब अली खाँ की जगह 'रज्जबजी' कहना आरंभ कर दिया और तब से ये निरंतर उनकी सेवा-सुश्रूषा में रहने लगे। यह घटना दादू दयाल के अकबर बादशाह के साथ मिलने के पीछे की है। क्योंकि उस समय जो सात शिष्य उनके साथ सीकरी गये थे उनकी सूची में इनका नाम नहीं है। बादशाह के साथ दादू दयाल की भेंट सं० १६४२ में हुई थी। यह घटना सं० १६४४ में हुई होगी, जब रज्जबजी की उम्र २० साल की थी। ये गुरु दादू दयाल के साथ उनकी छाया की भाँति सदा बने रहते थे और उनके प्रत्येक शब्द को बड़े प्रेम तथा बड़ी श्रद्धा के साथ सुना करते थे। पाँच-छह वर्षों तक उनके सत्संग में रहने पर ये फिर स्वयं भी पदों तथा साखियों की रचना करने लग गए। क्रमशः इनकी ख्याति साधु-संतों की मंडलियों में दूर-दूर तक फैलने लगी। गुरु दादू दयाल तक इन्हें बड़े प्रेम के साथ देखने लगे। अंत में, जब इनका अनुभव बढ़ने लगा और इनकी योग्यता के प्रभाव द्वारा अनेक जन इनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे, तब इनके शिष्यों की भी संख्या में वृद्धि होने लगी।

गुरु-भक्ति

रज्जबजी ने अपने गुरु की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है और उनके प्रति इनकी श्रद्धा प्रत्येक शब्द से टपकती है। ये कहते हैं कि "मुझे ऐसे महान् पुरुष दादू गुरु के रूप में मिले जो गंभीर मन तथा सागरवत्

---

१. **'कीया था कुछ काज कौ, सेवा सुमिरण साज।**
दादू भूल्या बंदिगी, सरचा न एको काज॥'

उदार हृदय के थे। इनके प्रसन्न होते ही भजन का रस उमड़ पड़ता था और अपने निकटवर्त्ती को उसके द्वारा आप्लावित कर आनंद-मग्न कर देता था।"[1] उन्हें इसी प्रकार इन्होंने 'परब्रह्म के प्यारे', 'त्रिगुणरहित', 'निर्बंध', 'ब्रह्मरसरत' तथा सकल स्वाँग की उपेक्षा करनेवाला सच्चा साधु भी कहा है। उनकी मृत्यु के समय सं० १६६१ में ये नराणे में ही वर्तमान थे। उनके परमपद प्राप्त कर लेने पर इन्हें संसार इतना सूना जान पड़ा कि उस समय से ये प्रायः आँख बंद किये ही रहने लगे। इन्होंने उक्त अवसर पर इस प्रकार कहा था।[2] गरीबदास के कहने पर अपने बाल तक मुँड़वा दिये थे। यह कथा भी प्रसिद्ध है कि साँगानेर में एक बार उन्होंने अपने जीवन-काल में इनका स्वागत-सत्कार भी किया।

रज्जबजी तथा वषना

एक समय जब रज्जबजी नराणे में रहते थे, उस समय ये दादू दयाल के अन्यतम शिष्य वषनाजी के घर गये थे। उस समय इनकी अवस्था प्रायः ४० वर्ष की थी। इनके शारीरिक सौंदर्य का प्रभाव इनकी विचित्र वेश-भूषा के कारण और भी अधिक पड़ रहा था। इन्हें वैसे रूप में देख कर वषनाजी की स्त्री ने अपने पति से कहा कि एक ये दादू-शिष्य हैं जो इतने वैभवशाली दीख पड़ते हैं और एक तुम हो जिसके घर खाने को अन्न तक नहीं नसीब होता। वषनाजी ने इसके उत्तर में बतलाया कि, "यह सारी विषमता हमारे गुरुदेव की ही कृपा का फलस्वरूप है।"[3] कहा जाता है कि इस दोहे को सुन कर रज्जबजी को हँसी आ गई। उस दिन से वषनाजी के घर भी संपत्ति का ढेर लगने लगा तथा फिर कभी उनकी स्त्री को वैसा कहने का अवसर नहीं मिला। प्रसिद्ध है कि अपने जीवन के अंतिम समय में रज्जबजी किसी जंगल में चले गए थे, जहाँ पर १२२ वर्ष की अवस्था में सं० १७४६ में उनका देहांत हो गया।

शिष्य

रज्जबजी के दस शिष्यों के नाम राघोदास की 'भक्तमाल' में मिलते हैं

---

१. 'गुरु गरवा दादू मिल्या, दीरघ दिल दरिया।
हँसत प्रसन्न होत ही, भजन भल भरिया॥'

२. दीनदयाल दिनो दुख दीनन, दादूसी दौलत हाथसौं लीनी।
रोष अतीतन सौं जु कियौ हरि, रोजी जु रंकनि की जगछीनी॥

३. 'रज्जबको था संपदा, गुर दादू दीनो आप।
वषना को या आपदा, था चरणारो परताप।'

और उनके अतिरिक्त चार अन्य शिष्य भी बतलाये जाते हैं। इनकी मुख्य गद्दी साँगानेर में चलती है, किंतु वहाँ पर भी कोई साधु नियम पूर्वक नहीं रहता। उनके स्मारक के रूप में कुछ वस्तुएँ वहाँ अवश्य रखी हुई हैं। साँगानेर के अतिरिक्त कई छोटे-छोटे गाँवों में भी इनके शिष्यों द्वारा स्थापित कुछ मठों के नाम सुनने में आते हैं। इनके अनुयायियों को रज्जब-पंथी अथवा 'रजबावत' कहने की परिपाटी है। इस प्रकार के साधु-संत इधर-उधर अनेक स्थानों में पाये जाते हैं।

इन्हें कथा-वार्ता करने का बहुत अभ्यास था और दृष्टांतों के प्रयोग में तो ये इतने कुशल थे कि इनकी बराबरी का कोई कदाचित् ही मिलेगा। इसीलिए इनकी प्रशंसा करते हुए किसी ने कहा है कि "रज्जबजी के सामने सारे-के-सारे दृष्टांत राजा के समक्ष साधारण जनों की भाँति सदा प्रस्तुत रहा करते हैं और जहाँ-कहीं इन्हें उनकी आवश्यकता पड़ी कि तुरन्त इनकी इच्छा के अनुसार काम आ जाते है।"[1]

योग्यता तथा रचनाएँ

रज्जबजी की रचनाओं में उनकी 'वाणी' तथा 'सर्वंगी' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इनमें से पहला छप कर प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें इनकी प्रायः सभी रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें से साखी के अंतर्गत १९३ अंगों में ५३५२ छंद आये हैं। पदों की संख्या २० राग-रागिनियों में २०९ तक पहुँचती है। २६ अंगों में ११७ सवैये दिये गए हैं और इनके अतिरिक्त ३३ गुणछंद, ८२ अरिल्लैं, १३ छोटे फुटकर पद्य तथा ८९ छप्पय दिखलायी पड़ते हैं। पुस्तक 'ज्ञानसागर प्रेस' में छपी है, किंतु संपादन की असावधानी कई स्थलों पर खटकती है। इसका एक नवीन संस्करण डॉ० ब्रजलाल वर्मा द्वारा अधिक सावधानी के साथ संपादित होकर अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इसमें एक 'बानी-कोश' भी संलग्न है।[2] रचना-काल पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनुमान से सं० १६५० से लेकर सं० १७४० तक समझा जा सकता है। रज्जबजी का दूसरा ग्रंथ कई दृष्टियों से बहुत उत्तम है। इसे 'सर्वंगी' के अतिरिक्त 'सर्वांगयोग' कहने की भी प्रथा चली आती है। इसमें दादू दयाल की वाणी तथा रज्जबजी की रचनाओं के अतिरिक्त दृष्टांत-स्वरूप दूसरे अनेक संतों-महात्माओं की भी कृतियाँ संगृहीत हैं। इनमें संतों में से नामदेव, कबीर, पीपा, रैदास, नानक, अमर दास, अंगद, भीषन,

---

१. 'ज्यूं नृपके तप तेजते कंपत, पास रहैं नर आइ कहूंके।
ऐसेहि भांति सबै दृष्टांतहिं, आगे खड़े रहैं रज्जबजूके।
२. डॉ० ब्रजलाल वर्मा : रज्जब बानी, उपमा प्रकाशन।
कानपुर; सन् १९६३ ई०।

हरिदास, बषना, जनगोपाल, तुरसी, षेमदास गरीबदास, त्रिलोचन, वेणी, रविदास, रामानंद, जगजीवनदास, वाजिंद आदि की रचनाएँ आ जाती हैं। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। जयपुर 'दादू महाविद्यालय' के पुस्तकालय में सुरक्षित हस्त-लिखित प्रति की ग्रंथ-संख्या ६८००० बतलायी गई है, किंतु उक्त पुरोहितजी के अनुसार यह गणना अशुद्ध है। रज्जबजी की एक तीसरी कृति 'अंगबंधू' नाम से प्रसिद्ध है जो वास्तव में दादू दयाल की रचनाओं का एक संग्रह मात्र है। यह सिक्खों के प्रसिद्ध पूज्यग्रंथ 'आदिग्रंथ' से प्राय: दस वर्ष पहले संगृहीत हुआ था जिस कारण यह अपने ढंग के ग्रंथों का प्रथम आदर्शस्वरूप भी कहा जा सकता है।

(ख) संत सुंदरदास

जाति तथा जन्म-काल

संत सुंदरदास दादूदयाल के योग्यतम शिष्यों में से थे। इनकी प्राय: सारी रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। दादू-पंथ के प्रसिद्ध अनुयायियों में सबसे अधिक जानकारी अभी तक इन सुंदरदास के ही संबंध में प्राप्त हो सकी है। ये सुंदरदास बूसर गोत के खंडेलवाल वैश्य थे और ये छोटे सुंदरदास कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म चैत सुदी ६ सं० १६५३ को जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम परमानंद तथा माता का नाम सती था। इनके पिता का एक उपनाम चोखा भी बतलाया जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यही नाम अधिक प्रामाणिक है। जो भी हो, सुंदरदास के जन्म का इनके घर किसी महात्मा के वरदान द्वारा होना समझा जाता है। प्रसिद्ध है कि ये किसी जग्गा नामक दादू-शिष्य के ही अवतार थे। इनके जन्म का स्थान खडहर के रूप में आज तक वर्तमान है, किंतु इनके बूसर-गोती वैश्य वहाँ अथवा उस नगर में अब कोई नहीं रहते।

दीक्षा तथा अध्ययन

सुंदरदास केवल छह वर्ष की अवस्था में ही दादू दयाल के शिष्य हो गए थे। कहा जाता है कि जब दादू दयाल (सं० १६५८–१६५६ में) द्यौसा में ठहरे हुए थे, उस समय इनके पिता इन्हें लेकर उनकी सेवा में पहुँचे थे और उनके चरणों में डाल कर उनसे दीक्षा का प्रसाद माँगा था। सुंदरदास ने भी लिखा है कि 'दादूजी जब द्यौसा आये, बालपने मुँह दर्शन पाये' तथा 'तिनही दीया आपुतैं सुंदर के सिर हाथ'। इनका नाम 'सुंदर' भी कदाचित् स्वयं दादू दयाल ने ही रखा था और पहले से उनके एक अन्य शिष्य का भी नाम सुंदर-दास होने के कारण ये 'छोटे सुंदरदास' कहला कर प्रसिद्ध हुए। ये अपने गुरु के परम भक्त थे और उनकी प्रशंसा इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं के अंतर्गत

कई स्थलों पर की है। ये उनके साथ सदा रहा करते थे और संभवतः उनके निकट उस समय भी विद्यमान थे जब उनका देहांत हुआ था। दादू-शिष्य हो जाने के अवसर से ही इनके गुरु-भाई इन्हें अपने आत्मीय-सा मानने लगे थे। इस कारण दादू दयाल के देह-त्याग के अनंतर भी इन्हें किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करना पड़ा। टहलड़ी वाले जगजीवन जी इन पर विशेष प्रेम-भाव रखते थे और उन्हीं के पास रह कर ये बहुत दिनों तक अपने गुरु की वाणी को कंठस्थ करते रहे। किंतु इनकी प्रतिभा के लक्षण इनके बालकपन में ही दीख पड़ने लगे थे। इसलिए उसे पूर्णतः विकसित करने के उद्देश्य से इन्हें काशी भेजने का निश्चय हुआ। तदनुसार सं० १६६३–१६६४ में जब ये केवल ११ वर्ष के थे, इन्हें लेकर जगजीवनजी तथा रज्जबजी काशी पहुँचे । वहाँ इन्होंने साहित्य तथा दर्शन का विशेष रूप से गहरा अध्ययन किया और लगभग सं० १६८२ तक वहाँ ठहर कर ये अनेक शास्त्रों में पारंगत हो गए। काशी में ये असीघाट पर गंगा तट के निकट ही रहा करते थे। इनका निवास कदाचित् उसी स्थान के आसपास कहीं पर था जहाँ आजकल दादूमठ बना हुआ है।

फतहपुर-निवास

काशी में अपना विद्याध्ययन समाप्त करने के अनंतर ये अपने साथियों के साथ सं० १६८२ में फतहपुर शेखावाटी में लौट आये। फतहपुर में आकर ये कुछ दिनों तक प्रागदास बीहाणी के संसर्ग में रहे और इन्होंने उनके साथ सत्संग किया। इसी स्थान पर किसी गुफा के भीतर इनका अपने अन्य छह साथियों के साथ १२ वर्षों तक योगाभ्यास में लगा रहना भी प्रसिद्ध है। इन छह के नाम प्रागदास, संतदास, घड़सीदास, जगजीवनदास, नारायणदास और भीषन बतलाये जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि इनके साथ उस समय नारायणदास की जगह वषनाजी रहते थे। ये लोग उक्त गुफा में रह कर अपनी साधना में लीन रहा करते थे और व्रत तथा संयम का जीवन व्यतीत करते थे। इनके कार्यक्रम में अपने गुरु दादू दयाल की वाणियों का गंभीर अध्ययन तथा अपनी योग्यता के अनुसार कभी-कभी अपनी रचनाओं का प्रस्तुत करना भी सम्मिलित था। क्रमशः इनकी योग्यता तथा साधुता की प्रशंसा चारों ओर फैलने लगी और फतहपुर के लोग इनके यहाँ बराबर दर्शनों के लिए उपस्थित होने लगे। कहा जाता है कि फतहपुर का नवाब अलफ़ खाँ भी सुंदरदास के दर्शनार्थियों में रहा करता था। उसके साथ इनका बड़ा प्रेम और सद्भाव था। यह नवाब स्वयं भी एक अच्छा हिंदी-कवि था और सुंदरदास के साथ उसका सत्संग साहित्य-चर्चा के संबंध में भी बहुधा हुआ करता था। इस नवाब का

उपनाम 'जान कवि' बतलाया जाता है। फतहपुर में रहते समय सुंदरदास का कई प्रकार के चमत्कारों का प्रदर्शन करना भी प्रसिद्ध है, किंतु ऐसी बातें अधिकतर श्रद्धा के कारण कभी-कभी पीछे भी गढ़ ली जाती हैं।

देश-भ्रमण

सुंदरदास को देशाटन बहुत अच्छा लगता था। फतहपुर के निवास-काल में भी ये कभी-कभी बाहर निकल जाया करते थे। पूर्व की ओर विहार, बंगाल, उड़ीसा-जैसे प्रदेशों तक भ्रमण कर चुके थे। दक्षिण की ओर गुजरात, मध्यप्रदेश, मालवा आदि गये थे। पश्चिम में द्वारका तथा उत्तर में बदरिकाश्रम तक पहुँच कर सब कहीं के भिन्न-भिन्न स्थानों तथा समकालीन महापुरुषों के प्रभावों द्वारा अपने को लाभान्वित किया था। राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा दिल्ली के तो अनेक नगरों में ये कई बार गये थे और कई स्थानों पर बहुत दिनों तक ठहर कर इन्होंने वहाँ सत्संग भी किया था। इनके देशाटन-संबंधी अनुभवों का कुछ पता इनके उन सवैयों से भी चलता है जो इन्होंने समय-समय पर अपनी यात्राओं के समाप्त होने पर लिखे थे। इन देशाटन के सवैयों से जान पड़ता है कि इन्हें कई स्थानों का अनुभव अच्छा नहीं हुआ था। ये उनके लिए कुछ कटु शब्दों तक के प्रयोग करते हैं। परन्तु ऐसी कटूक्तियाँ अधिकतर इनकी विनोद-प्रियता की भी सूचक हो सकती हैं। संभव है उनमें निंदा की मात्रा बहुत कम हो। इन्होंने इन विविध प्रदेशों में प्रचलित भाषाओं के भी प्रयोग अपनी ऐसी अनेक रचनाओं में किये हैं। इन यात्रा वाले स्थानों में इन्हेंकुरसाना गाँव अधिक प्रिय था जो मरवाड़ में पीपाड़ और खाँगटा स्टेशनों से अनुमानतः २-३ कोस पर वर्तमान है। यहाँ पर ये अन्य कई स्थानों में भ्रमण कर के ही गये थे, जैसा उनके 'ताहितैं आन रहे करसाने' से प्रकट होता है। यहाँ की सुंदर जलवायु के कारण इन्होंने कदाचित् कुछ अधिक समय तक यहाँ प्रवास भी किया था।

सुंदरदास तथा रज्जबजी

अपने गुरु-भाइयों में से जिन-जिन के प्रति सुंदरदासजी विशेष श्रद्धा के भाव रखते थे, उनमें एक रज्जबजी थे। गुरु-वाणियों के समझने में इन्होंने रज्जबजी तथा जगजीवनजी से विशेष सहायता ली थी और रज्जबजी से सत्संग करने के लिए तो ये बहुधा साँगानेर जाते-आते रहते थे। पुरोहितजी ने रज्जबजी तथा सुंदरदास की तुलना करते हुए लिखा है कि ये दोनों ही संत बड़े प्रतिभाशाली थे। इन दोनों में से रज्जबजी को जहाँ गुरु दादू दयाल के संपर्क में रहने का अवसर सं० १६४४ से १६६० तक मिला था, वहाँ सुंदरदासजी उनके साथ केवल वर्ष भर के ही लगभग रहे थे। फिर भी वेदांत, सांख्य तथा साहित्यिक

प्रवीणता में वे रज्जबजी से किसी प्रकार कम न थे, उनसे बढ़ कर ही समझे जा सकते हैं। परन्तु रज्जबजी की उक्तियाँ मस्ताने सूफ़ियों के ढंग की उतरी हैं और वे दादू दयाल के अधिक अनुरूप कही जा सकती हैं। इसी प्रकार रज्जबजी के जहाँ कुल मिला कर १३ छोटे ग्रंथ हैं, वहाँ सुंदरदास की वैसी रचनाएँ ३७ से कम नहीं। रज्जबजी ने साखियाँ अधिक लिखी हैं और उनके पद भी बहुत सरस तथा गंभीर हैं, किंतु सुंदरदास के सवैये तथा मनहर छंद अत्यंत सुंदर तथा सजीव हैं। वास्तव में छंदों का बाहुल्य जितना रज्जबजी में पाया जाता है, उससे कहीं अधिक हमें सुंदरदास की रचनाओं में मिलता है। रज्जबजी की भाषा अधिकतर राजस्थानी है जिसमें उनका अनुभव कूट-कूट कर भरा हुआ है और उसका समझना कभी-कभी कठिन हो जाता है। किंतु सुंदरदास की भाषा में ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली की भी प्रचुरता है और उसमें माधुर्य, सरलता तथा अर्थ की गंभीरता साथ-साथ रहती हैं। रज्जबजी तथा सुंदरदासजी दोनों ही वास्तव में दादू-शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ समझे जाने योग्य थे।[१] जब सुंदरदास सं० १७४६ में रज्जबजी से मिलने अंतिम बार साँगानेर पहुँचे, तब इन्हें पता चला कि उनकी परमगति हो चुकी है। अतएव ये उनके वियोग को सहन नहीं कर सके और उसी वर्ष इन्होंने भी शरीर त्याग दिया।

अन्य गुरु-भाई तथा समकालीन

सुंदरदास को अपने अन्य गुरु-भाइयों के साथ भी संपर्क में आने तथा उनके साथ सौहार्द्र प्रदर्शित करने का अवसर मिला था। उनमें घड़सीदास प्रागदास, जगजीवनजी, संतदास, वषनाजी आदि प्रसिद्ध हैं। इनके समकालीन प्रसिद्ध पुरुषों में तुलसीदास (सं० १५८९ : १६८०) जी जैनकवि बनारसीदास (सं० १६४३ जन्म संवत्) सिक्ख कवि भाई गुरुदास (सं० १६०८ : १६९६) तथा महाकवि केशवदास (सं० १६०२ : १६७४) के नाम लिये जा सकते हैं। तुलसीदास जी के साथ तो इन्हें काशी के असीघाट पर सं० १६६३ से सं० १६८० तक रहने का सौभाग्य प्राप्त था। संभव है ये उनके देहावसान के अवसर पर उपस्थित भी रहे हों। भाई गुरुदास के साथ सुंदरदास की भेंट के संबंध में कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं, किंतु दोनों की अनेक रचनाओं का मिलान करने पर अद्‌भुत साम्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार 'विचार-माला' के रचयिता अनाथदास के विचारों के साथ भी सुंदरदास के सिद्धांतों का आश्चर्य-

---

१. पुरोहित हरिनारायण शर्मा : सुंदर-ग्रंथावली, प्रथम खंड, जीवनचरित, पृ० ५९-६० ।

जनक मेल खाता है। दोनों के समकालीन होने के कारण उनकी भेंट का अनुमान किया जा सकता है।

मृत्यु

सुंदरदास अपने अंतिम समय में साँगानेर चले गए थे। वहीं पर मिती कार्त्तिक सुदी ८ संवत् १७४६ को इनका देहांत हो गया और पंथ की प्रचलित प्रथा के विपरीत इनके शव का अग्नि-संस्कार किया गया।

रचनाएँ

सुंदरदास ने कुल छोटे-बड़े मिला कर ४२ ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से सभी 'सुंदर-ग्रंथावली' के अंतर्गत बड़े अच्छे ढंग से संपादित किये जा चुके हैं। इनकी रचनाओं का समय सं० १६६४ से १७४२ तक समझा जाता है और दो-एक ग्रंथों में उनका रचना-काल स्पष्ट रूप में दे भी दिया गया हैं। इनके बड़े ग्रंथों में सबसे उत्तम 'ज्ञानसमुद्र' और 'सवैया' हैं। दूसरे ग्रंथ को कभी-कभी 'सुंदरविलास' भी कहा जाता है। 'ज्ञानसमुद्र' की रचना सं० १७१० में हुई थी। इसमें कुल पाँच उल्लास वा अध्याय हैं जिनमें क्रमशः गुरु, नवधा-भक्ति, अष्टांग-योग, सेश्वर सांख्य-मत तथा अद्वैत ब्रह्म-ज्ञान का पांडित्यपूर्ण निरूपण किया गया है। ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य वेदांत-शास्त्र की सर्वोच्चता का प्रतिपादन कर सांख्य तथा भक्ति को उसका आवश्यक अंग ठहराना जान पड़ता है। लेखक ने अपने रचना-नैपुण्य द्वारा एक नीरस विषय को भी बड़ी सफलता के साथ ३४ प्रकार के छंदों द्वारा स्पष्ट किया है। इनका 'सुंदरविलास' अथवा 'सवैया' नामक ग्रंथ 'ज्ञान-समुद्र' से भी अधिक प्रसिद्ध है। इसमें कुल ५६३ छंदों द्वारा अनेक विषय प्रतिपादित किये गए हैं। इसके विषय साखी-संग्रहों की भाँति भिन्न-भिन्न अंगों के अंतर्गत रखे गए हैं। उनका वर्णन अत्यंत ललित तथा रोचक भाषा में हुआ है। सुंदरदास की रचनाओं से स्पष्ट है कि काव्य-कौशल के प्रदर्शन में वे किसी कवि से कम नहीं और संत-कवियों में ये निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ हैं।

शिष्य-परंपरा

सुंदरदास के कई शिष्य थे; किंतु उनमें से प्रसिद्ध पाँच थे। इनके नाम दयाल-दास, श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास तथा नारायणदास हैं। इनमें से नारायण-दास इन्हें सबसे प्रिय थे, किंतु उनका देहावसान इनके जीवन-काल में ही हो गया था। इन पाँचों शिष्यों के अपने-अपने थाँवे थे, किंतु इनमें सबसे बड़ा फतहपुर का था, जहाँ नारायणदास के शिष्य दयाराम गद्दी पर बैठे थे। फतहपुर का थाँवा अब तक चल रहा है, किंतु इनका सबसे बड़ा स्मारक इनके ग्रंथों का संग्रह है। इसे अध्ययन करने पर पता चलता है कि राघोदास ने इन्हें 'दुतिय संकराचारज' क्यों कहा होगा।

(ग) अन्य दादू-शिष्य तथा प्रशिष्य

गरीबदास जी

इन दो प्रधान दादू-शिष्यों के अतिरिक्त जिन अन्य ऐसे व्यक्तियों ने अपनी रचनाओं आदि के द्वारा विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये हैं उनमें सर्वप्रथम नाम कदाचित्, गरीबदास का आता है जो संत दादूदयाल के बड़े पुत्र, शिष्य तथा उनके उत्तराधिकारी बन कर गद्दी पर बैठनेवाले महापुरुष भी थे। किसी माधोदास द्वारा रचित 'संत गुणसागर' नामक ग्रंथ के आधार पर स्वामी मंगलदासजी ने लिखा है कि ये दादू दयाल जी के औरस पुत्र न होकर उनके केवल पोष्य पुत्र थे। इनके पिता वास्तव में साँभर-निवासी दामोदरजी थे जो पहले संतानहीन रहने के कारण परम दुखी रहा करते थे। कहते हैं कि पत्नी सहित इन्होंने इसके लिए दादू दयालजी की सेवा की जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने दो लौंग और दो इलायची प्रदान किये। फलतः इन्हें गरीबदास तथा मस्कीनदास नामक दो पुत्र तथा रामकुंवारी तथा शोभाकुंवारी नामक दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। उनको इन्होंने उन्हें ही समर्पित कर दिया और तब से ये चारों उनकी संतान कहला कर प्रसिद्ध हो गए।[1] परन्तु जनगोपाल की 'परची' अथवा राघोदास इनका 'भक्तमाल' के अंतर्गत इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता, प्रत्युत इनका वहाँ उनका औरस पुत्र होना ही जान पड़ती है। गरीबदास का जन्म सं० १६३२ में हुआ और ये २८ वर्ष की अवस्था में उत्तराधिकारी बने थे। सं० १६९३ में इनका देहांत हुआ था। ये एक शांतिप्रिय महात्मा होने के साथ कुशल कवि, गायक तथा वीणाकार भी थे। इनकी प्रशंसा सभी लोगों ने की है। इनके नाम से नराणे में एक तालाब 'गरीब सागर' कहला कर प्रसिद्ध है। इनकी वाणियों की संख्या २३००० तक बतलायी जाती है, किंतु वास्तव में अभी तक इनकी केवल चार ही रचनाएँ मिली हैं। इनके नाम 'अनभै प्रबोध, 'साषी', 'चौबोला' तथा पद हैं। इन सभी को एक साथ 'गरीबदासजी की वाणी' नामक एक संग्रह-ग्रंथ के रूप में संपादित करके स्वामी मंगलदासजी ने प्रकाशित करवाया है।

प्रागदास, जगजीवन, वाजिदजी, वषनाजी आदि

इसी प्रकार प्रसिद्ध दादू-शिष्यों में एक नाम प्रागदास का आता है। कहते हैं कि ये एक अत्यंत संयमशील और प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्हें अनेक प्रकार की योग-सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। इनका देहांत, कार्त्तिक बदी ८ सं० १६८८

---

१. गरीबदासजी की वाणी, जयपुर, सं० २००४, प्राक्कथन पृ०, 'ठ'।

में हुआ था। कहा जाता है कि इस बात के स्मारक रूप में एक शिलालेख भी फतेहपुर में वर्तमान है। इनका थाँवा डीडवाणे में बतलाया जाता है और इनकी वाणियों की संख्या ४८००० तक कहीं जाती है। जगजीवनदास भी एक ऐसे ही शिष्य थे जिनका पहले एक महान् पंडित तथा वैष्णव सम्प्रदाय का अनुयायी और दार्शनिक भी रहना प्रसिद्ध है। ये बहुत दिनों तक वाराणसी में रह कर अध्ययन कर चुके थे और वहाँ से ढूंढारण चले आये थे। इन्होंने आमेर में जाकर दादूदयाल जी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा, किंतु उनके गंभीर निर्मल स्वभाव के सामने उनकी एक न चली और ये उनके शिष्य हो गए। इनका थाँवा डिलडी अथवा द्यौसा में है और इनकी रचनाएँ भी बहुत बतलायी जाती हैं। परन्तु इनमें से 'शब्द', 'साषी', 'लघुग्रंथावली' आदि प्रसिद्ध हैं और इनकी वाणी का एक संग्रह उक्त डिलडी में सुरक्षित है। दादू-शिष्यों में एक पठान व्यक्ति वाजिद जी भी थे जो अपनी युवावस्था में आखेट के समय किसी गर्भिणी हरिणी की हत्या करने के कारण, ग्लानि में पड़ कर शिष्य हुए थे। ये अपनी 'अरिल्लों' के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं जिनमें से १३५ का एक संग्रह 'पंचामृत' के अंतर्गत प्रकाशित हो चुका है।[1] इनके आज तक उपलब्ध सभी ग्रंथों वा रचनाओं की संख्या ४० तक बतलायी गई है।[2] इसी प्रकार मुस्लिम दादू-शिष्यों में से एक अन्य का नाम वषनाजी था जो जाति के मीरासी थे और एक बड़े संगीतज्ञ भी थे। इनकी वाणियाँ भी बहुत सुंदर तथा सारगर्भित हैं और उनका एक संग्रह 'वषनाजी की वाणी' के नाम से प्रकाशित भी हो चुका है।[3] उपर्युक्त 'पंचामृत' नामक संग्रह के अंतर्गत वाजिदजी को छोड़ कर भीषजन, बालकराम, छीतरजी तथा खेमदासजी की रचना प्रकाशित हो चुकी है। उनमें से भीषजन जी फतेहपुर-निवासी ब्राह्मण थे। दादू-शिष्य संतदास जी के शिष्य थे जिनके एक अन्य शिष्य चतुरदासजी द्वारा लिखित कोई 'श्रीमद्भागवत' ('एकादश स्कंध', रचना-काल सं० १६९२) का भी उपलब्ध होना बतलाया जाता है। बालकरामजी छोटे सुंदरदासजी के शिष्य थे और छीतरजी तथा खेमदासजी के लिए कहा जाता है कि ये दोनों रज्जबजी के शिष्य थे। इन खेमदास की एक छोटी-सी रचना 'गोपीचंदकौ वैराग बोध' नाम से भारतीय

---

१. पंचामृत, सं० स्वामी मंगलदास, जयपुर १९४८ ई०, पृ० ६६-६९।
२. हिंदुस्तानी (पत्रिका), इलाहाबाद, भा० २३ अं० १, पृ० १५८-९।
३. पंचामृत, पृ० १-२१, पृ० २२-४१, पृ० ४२-५७ तथा पृ० ५८-६५।

साहित्य[१] आगरा में प्रकाशित हो चुकी है और वही[२] एक अन्य भी 'मैना का सत्' नाम से प्रकाशित है जिसके रचयिता खेमदास 'अवरोहा' का निवासी जान पड़ता है।

राघोदास

संत दादू दयाल के प्रशिष्यों में राघोदास अपनी 'भक्तमाल' के लिए प्रसिद्ध हैं। ये बड़े सुंदरदास के शिष्य प्रह्लाद दासके पौत्र शिष्य थे। इन्होंने अपनी उक्त रचना आषाढ़ शुक्ल ३ सं० १७१७ में प्रस्तुत की थी। उस पर छोटे सुंदरदास की सातवीं पीढ़ी के चत्रदास ने भादो बदी १४ सं० १८५७ को अपनी टीका लिखी थी। उक्त 'भक्तमाल' का मूल आधार प्रसिद्ध नाभादास की ही भक्तमाल जान पड़ती है, किंतु फिर भी राघोदास ने अपनी रचना में अनेक विशेषताएँ भी ला दी हैं। यह ग्रंथ संत-परंपरा के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी हैं। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में जहाँ नानक-जैसे संतों की भी चर्चा नहीं की है, वहाँ राघो-दास ने इस विषय पर विशेष ध्यान दिया है। इन्होंने कबीर, नानक, दादू तथा जगन नामक चार संतों के संबंध में लिखते हुए बतलाया है[३] और प्रत्येक की पद्धति का विवरण उसकी शिष्य-परंपरा के क्रम से दी है। इन्होंने इसी प्रकार रामानुज, विष्णुस्वामी, मध्वाचार्य तथा निंबार्क नामक चतु:सम्प्रदायी भक्तों के संबंध में भी लिखा है। योगी संन्यासी, बौद्ध, जैन, सूफ़ी, जंगम तथा षड्दर्शन-वादियों का भी परिचय कराया है। इनके अतिरिक्त ७१ अन्य भक्तों को भी स्थान दिया है।

साधु निश्चल दास

दादू-पंथी साहित्य के प्रमुख रचयिताओं में साधु निश्चल दास का भी नाम बहुत प्रसिद्ध है। ये पंजाब प्रांत के हिसार जिले की हासी तहसील के कूँगड़ गाँव के निवासी थे और जाति के जाट थे। इनका शरीर अत्यंत सुंदर और सुडौल था और अपने बचपन में ही इन्हें किसी दादू-पंथी साधु द्वारा दीक्षा मिल चुकी थी। संस्कृत पढ़ने की बड़ी लालसा के रहते हुए भी ये जाट जाति में उत्पन्न होने के कारण उस भाषा का विधिवत् अध्ययन किसी पंडित द्वारा नहीं कर पाते थे। अंत में ये

---

१. भारतीय साहित्य, आगरा, अक्टूबर, १९५९, पृ० १४०-५१।

२. वही, जुलाई १९५९, पृ० ६९-८६।

३. ये च्यारि महंत चहूं चक्कवै, च्यारि पंथ निरगुन थपे।
नानक, कबीर, दादू, जगन राघो परमातम जपे ॥३४२॥

काशी पहुँचे और इन्होंने अपने को ब्राह्मणों का वंशज बतला कर किसी पंडित के यहाँ पढ़ना आरंभ कर दिया तथा अन्य शास्त्रों के साथ-साथ वेदांत के गूढ़ दार्श-निक सिद्धांतों पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। इन्होंने अपनी रचना 'विचार-सागर' के अंत में स्वयं भी कहा है।[1]

किसी ब्राह्मण को अपनी कन्या का विवाह करना था, किंतु उसे कोई उपयुक्त वर नहीं मिलता था। उसने निश्चलदास को देखते ही पसंद कर लिया। परन्तु ये अभी तक अपनी जाति के भेद को गुप्त रखे हुए थे और उक्त ब्राह्मण के बहुत आग्रह करने पर इन्होंने विवश होकर अपना सारा रहस्य खोल दिया। यह भी कह दिया कि जाट जाति का होने के अतिरिक्त मैं दादू-पंथी भी हूँ। इस पर ब्राह्मणों ने रुष्ट होकर आदेश दिया कि इस बात के दंड-स्वरूप तुम्हे अपने गार्हस्थ्य-जीवन में दो विवाह करने पड़ेंगे और घर आने पर इन्होंने वैसा ही किया। घर लौटने पर ये अपने विवाह के अनंतर वही रह कर वेदांत की शिक्षा देने लगे। इनका इस प्रकार का अध्ययन-अध्यापन अंत तक चलता रहा। कहा जाता है कि बूँदी के राजा राम सिंह ने इन्हें गुरु-भाव के साथ बहुत दिनों तक अपने यहाँ रखा था और इनसे दीक्षा भी ग्रहण की थी। इन्होंने 'विचार-सागर', 'वृत्तिप्रभाकर' तथा 'मुक्ति-प्रकाश' नामक तीन ग्रंथों की रचना की जो सभी प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने 'कठोपनिषद्' की एक व्याख्या संस्कृत में की है और एक ग्रंथ वैद्यक का भी लिखा है। इनके 'विचार-सागर' (रचना-काल लगभग सं० १६१४) के अनुवाद मराठी, बँगला तथा अँगरेजी भाषाओं में हो चुके हैं। स्वामी विवेकानंद-जैसे महान् पुरुष ने इसे भारत के अंतर्गत तीन शताब्दियों में लिखे गए किसी भी भाषा के ग्रंथों में सबसे अधिक प्रभावशाली[2] बतलाया है। प्रसिद्ध है कि न्याय-शास्त्र का अध्ययन करने ये नदिया, बंगाल भी गये थे। इन्हें छंदशास्त्र का भी बहुत अच्छा ज्ञान था जिसे इन्होंने उसके प्रसिद्ध मर्मज्ञ 'रसपुंजजी' से उस समय प्राप्त किया था जब वे काशी में गंगा नदी में खड़े-खड़े शरीर-त्याग करने

---

१. सांख्य न्याय में श्रम कियो, पढ़ि व्याकरण अशेष।
पढ़े ग्रंथ अद्वैत के, रहे न एकहु शेष॥१११॥
कठिनजु और निबंध हैं, जिनमें मत के भेद।
श्रमतें अवगाहन किये, निश्चलदास सबेद॥११२॥

२. "It has more influence in India than any that has been written in any language within the last three centuries." Vivekananda. Complete Works. Vol IV, p.281.

जा रहे थे। इनका देहांत दिल्ली में रह कर सं० १६२० में हुआ था। इनका गुरु-द्वारा किहडौली गाँव में वर्तमान है जो दिल्ली से १८ कोस पर है। जहाँ पर इनकी शिष्य-परंपरा तथा पाठशाला आज भी चल रही है। 'विचार-सागर' इन्होंने वहीं पर लिखा था।

(३) परब्रह्म सम्प्रदाय और दादू-पंथ

नामकरण

संत दादू दयाल के परब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना के संबंध में उनके जीवन-चरित की चर्चा करते समय प्रसंगवश कुछ पहले ही कहा जा चुका है। उसका आदिगुरु स्वयं परब्रह्म होने के कारण इस सम्प्रदाय का ऐसा नामकरण किया गया था, जैसा दादू-शिष्य छोटे सुंदरदास की एक रचना से विदित होता है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'गुरु-सम्प्रदाय' के अंतर्गत स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि सबका गुरु एक परमात्मा है जिसने यह सारी चित्रकारी की है और वही सबके भीतर विद्यमान भी है। उसी का नाम ब्रह्मानंद कहा जा सकता है जिससे क्रमशः शिष्य-परंपरा-नुसार पूरनानंद, अच्युतानंद आदि से लेकर वृद्धानंद तक नामावली प्रस्तुत होती है और इस अंतिम पुरुष वृद्धानंद के ही शिष्य दादू दयाल थे। अतएव परंपरा के परब्रह्म से चलने के कारण इसे यह नाम देते हैं।[1] परन्तु सुंदरदास ने उक्त ग्रंथ में दादू दयाल को छोड़ कर जितने नाम अन्य गुरुओं के गिनाये हैं, उनमें से कोई भी किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं जान पड़ते। दादू दयाल के प्रसिद्ध गुरु वृद्धानंद के विषय में भी उन्होंने यही कहा है कि उनका कोई भी 'ठौर ठिकानौ' नहीं, वह सहजरूप में ही विचरण करते हैं। और जहाँ इच्छा होती है, वहाँ वे जाते हैं। अतएव जान पड़ता है कि अपने गुरु के ऊपर वाले सभी नामों को उन्होंने आत्मा-नुभूति की क्रमोन्नत भूमियों की कल्पना के अनुसार यों ही रख दिया है। परब्रह्म तक अपने से केवल ३७ गुरुओं के ही नाम बतलाना अन्य प्रकार से विचार करने पर भी नितांत भ्रमात्मक ही समझ पड़ेगा। सुंदरदास ने इस सम्प्रदाय की चर्चा करते समय अपने एक अन्य ग्रंथ में भी कहा है कि "सद्गुरु ब्रह्म-स्वरूप है और वें संसार में शरीर धारण कर ऐसे शब्द प्रकट करते हैं जिनसे सारे संशय नष्ट हो जाते है। हृदय में शीघ्र ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है और करोड़ों सूर्यों की दीप्ति के सामने अंधकार का लेशमात्र भी नहीं रह जाता।" तदनुसार जिस समय दो विरोधी दल आपस में लड़ते-झगड़ते हुए थक रहे थे, उसी समय दादू दयाल ने इस परब्रह्म-सम्प्रदाय को सर्वत्र प्रचलित किया।[2]

---

१. सुंदर ग्रंथावली, पु० हरिनारायण शर्मा-संपादित, पृ० १६७-२०२।
२. वही, पृ० २४४।

परन्तु 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' वा 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' नाम स्वयं दादू दयाल का रखा हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उनकी किसी रचना में इसका पता नहीं चलता। उनके शिष्य रज्जबजी ने भी कदाचित् इस नाम का प्रयोग कहीं नहीं किया है। एक पद उनका अपने गुरु दादू दयाल के विषय में इस प्रकार अवश्य है।[1] किंतु इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि ये उन्हें परब्रह्म के प्रियपात्र तथा वस्तुतः परब्रह्मवत् ही मानते थे। दादू दयाल की रचनाओं में एक स्थल पर परब्रह्म-सम्प्रदाय के अनुयायी के लिए दादू-पंथी शब्द आया है।[2] कई प्राचीन प्रतियों में पायी जाने के कारण वह पंक्ति प्रक्षिप्त भी नहीं कही जा सकती। अतएव संभव है परब्रह्म-सम्प्रदाय वा ब्रह्म-सम्प्रदाय नाम का प्रयोग पहले पहल सुंदरदास ने ही किया हो। ऐसे नाम रखने की परिपाटी प्रसिद्ध चतुःसम्प्रदाय वाले रामानुज, निंबार्क, विष्णु स्वामी तथा मध्वाचार्य के अनुयायी लोगों में भी चलती आ रही थी। जान पड़ता है उसी का अनुकरण किया गया। फिर भी इस नाम की अर्थवत्ता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि सुंदरदास तथा दादू दयाल के अन्य अनुयायियों ने आगे चल कर वेदांत के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया था। उक्त दर्शन के अनुसार परब्रह्म ही एक मात्र पारमार्थिक सत्ता समझा जाता है।

प्रवर्त्तक की प्रेरणा

दादू दयाल ने अपने इस सम्प्रदाय का सूत्रपात अपने साथियों की गोष्ठी के अंतर्गत आध्यात्मिक तत्त्वों की चर्चा द्वारा किया था। उनका मुख्य उद्देश्य यही था कि किस प्रकार प्रचलित परस्पर-विरोधी धर्मों वा सम्प्रदायों के बीच समन्वय लानेवाली बातों का निरूपण किया जाय। इसके सिवाय उनकी यह भी इच्छा थी कि ऐसे यत्नों द्वारा सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ तथा उपयोगी सिद्ध होनेवाले किसी जीवन-पद्धति का निर्माण किया जाय और उसका सब कहीं प्रचार करके सब किसी को लाभान्वित करने की चेष्टा की जाय। उक्त गोष्ठी वा समाज के संगठन के पूर्व उन्होंने बहुत दिनों तक एक पहाड़ी के निकट गुफा में रह कर आत्म-चिंतन भी किया था। उस अनुभव को भी उन्होंने इस अवसर पर काम

---

१. 'आये मेरे पारब्रह्म के प्यारे।
त्रिगुण-रहित निरगुण निज समरत, सकल सांग गहि डारे।'
—महात्मा रज्जबजी, राजस्थान, वर्ष १, खंड २, पृ ७५० पर उद्धृत।

२. 'दुर्बल देही निर्मल वाणी, दादूपंथी ऐसा जाणी' ।४१
—दादू दयाल की वाणी, चंद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी—संपादित, पृ० ३१८।

में लाया। अपने पहले उद्देश्य की सिद्धि के विषय में विचार करते समय उन्होंने सोचा, "यदि पवन, पानी, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चंद्र-जैसे प्राकृतिक पदार्थ किसी एक पक्ष में रह कर काम नहीं करते। यदि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का कोई भिन्न पंथ नहीं, न मुहम्मद वा जिब्राइल के लिए ही कोई पृथक् नवीन मार्ग बतलाया जा सकता है, तो फिर किसी एक पंथ-विशेष का अनुयायी बन कर ही क्यों रहा जाय। क्यों न उन सबको अनुप्राणित करनेवाले उक्त एक मात्र 'जगत गुर अलष इलाही' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया जाय जिसके सिवाय अन्य कोई दूसरा हो ही नही सकता"।[1] किसी पक्ष-विशेष का आश्रय लेना अथवा किसी पंथ-विशेष का अनुगमन करना तो अद्वितीय ब्रह्म को खंड-खंड करके अपनाने की चेष्टा करना है जिस कारण सारे अनर्थ आ खड़े हो जाते हैं[2]। अतएव जिस प्रकार उक्त सभी प्राकृतिक पदार्थ उस एक जगन्नियंता तथा जगदाधार के अंग होकर सदा एक समान अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहते हैं, जिस प्रकार उक्त ब्रह्मादि अथवा मुहम्मदादि के लिए भी उसके अतिरिक्त कोई नवीन भिन्न मार्ग निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार हमें भी चाहिए कि उसी मूल वस्तु को समझने और उसे भली भाँति अनुभव कर अपनाने की ओर दत्तचित्त हो जायँ, केवल निष्पक्ष भाव को ही ग्रहण करें।

इसी प्रकार उन्होंने उक्त दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के संबंध में भी विचार किया। अंत में ये इस निर्णय पर पहुँचे कि आदर्श ढंग से जीवन व्यतीत करने के लिए

---

१. ये सब किसके पंथ में धरती अरु असमान।
पानी पवन दिन राति का, चंद सूर रहिमान ॥११३॥
ब्रह्मा बिस्नु महेश का कौन पंथ गुरुदेव।
साँई सिरजनहार तू कहिये अलख अभेव ॥११४॥
महम्मद किसके दीन में, जबराइल किस राह।
इनके मुर्सद पीर की, कहिये एक अजाह ॥११५॥
ये सब किसके ह्वै रहे, यह मेरे मन माँहि।
अलख इलाही जगतगुर, दूंजा कोई नाँहि ॥११६॥
—दादु दयाल की वाणी, 'साच को अंग' ११३-११६, पृ० २००-१।

२. खंडि खंडि ब्रह्म को, पखिपखि लीया बांटि।
दादु पूरण ब्रह्मतजि, बंधे भरम की गांठि ॥५०॥
—वही, 'साच को अंग' ११३-११६, पृ० १६२।

विविध प्रकार के प्रपंचों में पड़ने अथवा बाहरी आडंबरों के फेर में रह कर समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुधा देखने में आता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी वर्ग अपने-अपने कल्पित इष्टदेवों को रिझाने की चेष्टा में अनेक प्रकार की तैयारियाँ किया करते हैं। अपने को विविध भेषों द्वारा सुसज्जित करके गर्व के साथ एक निराले पंथ का पथिक मान बैठते हैं। इसके सिवाय उनके जीवन का एक बहुत बड़ा अंश व्यर्थ के पूजन, पाठ, व्रत, उत्सव, तीर्थ-जैसे वाह्य प्रदर्शनों में ही बीत जाता है। अपना हृदय सच्चे ढंग से भगवान के प्रति उन्मुख करने के लिए उन्हें थोड़ा-सा भी अवसर नहीं मिलता। उक्त अनेक विधानों की विभिन्नताओं की उलझनों में पड़ कर वे प्राय: आपस में लड़ने-भिड़ने तक लग जाते हैं। अतएव इन सभी बुराइयों से अलग रह कर एक सीधा-सादा जीवन-यापन करने का ढंग उन्होंने ढूँढ़ निकाला और अपने इस मत का निष्कर्ष भी उन्होंने बतलाया, "अपने अहंकार का सर्वथा त्याग कर भगवान का भजन करे, अपने तन-मन में किसी प्रकार के विकार न आने दे और सभी प्राणियों के साथ निर्वैर भाव रखे।"[1] इसके परिणाम का कभी दु:खप्रद होना संभव नहीं कहा जा सकता।

कबीर साहब का प्रभाव

दादू दयाल को कबीर साहब में बड़ी आस्था थी और इन्होंने उनका नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है। ये उनकी साधना-पद्धति को बहुत कठिन बतलाते है। कहते हैं कि उनकी चाल के निराधार होने अर्थात् किसी साकार प्रतीक पर अवलंबित न रहने के कारण कोई उनका अनुसरण साधारण प्रकार से नहीं कर सकता। यदि वैसा करना चाहेगा तो मृग की भाँति उछल-कूद मचा कर ही गिर पड़ेगा, वहाँ पर जम नहीं सकेगा।[2] इसी प्रकार उनकी रहनी को भी ये वैसी ही दु:साध्य मानते हैं। वे कहते हैं कि उनका यह ढंग भी विचित्र है; क्योंकि वे निराधार के साथ अपने को उस स्थिति में रखा करते है, जहाँ काल की भी दाल नहीं गलती। फिर भी इन्हें कबीर साहब के प्रति बड़ा आकर्षण है। ये उन्हीं के उपदेश को वास्तव में सच्चा समझते हैं और वही उनको मीठा भी लगता है। उसे सुनते ही इन्हें परम सुख की प्राप्ति होती है और बड़ा आनंद भी होता है, क्योंकि

१. 'आपा मिटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीवसौं, दादू यह मत सार' ॥२॥
—दादू दयाल की वाणी, 'दया निर्बैरता कौ अंग' २, पृ० ३२२।

२. वही, मधिकौ अंग २७-८, पृ० २३५-६।

वही इनके हृदय में अपना बन कर प्रवेश करता है।[1] ये कबीर साहब के विचारों से भली भाँति परिचित थे। यदि जनश्रुति ठीक है तो बुड्ढन ,वा वृद्धानंद की कबीर-परंपरा में ही होने से ये अपने को उसी मार्ग का अनुयायी भी मानते थे। जो हो, किसी प्रकार के दार्शनिक पचड़े की उधेड़-बुन में न पड़ कर इन्होंने कबीर साहब द्वारा ही स्वीकृत परमतत्त्व को अपना भी ध्येय मान लिया। ये स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, "मेरा भी इष्टदेव वही परमात्मा है जिसे कबीर साहब ने अपनाया था। मैं सभी प्रकार से उसी एक के प्रति अपने को न्योछावर करूँगा, मुझे अन्य किसी से काम नहीं, न इस विषय में मुझे कुछ और सोच-विचार करने की आवश्यकता है।

परमतत्त्व का स्वरूप

दादू दयाल उस परम तत्त्व को सर्वत्र एक समान व्याप्त और भरपूर समझते हैं। उसके सिवाय किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं मानते। ये उस हरितत्त्व को स्पष्ट करने के लिए उसे सरोवर का रूपक देते हैं। वे कहते हैं, "हरि का सरोवर सर्वत्र पूर्ण है, जहाँ चाहो उसका पानी पी लो, उसके भीतर कहीं भी आचमन करते ही जीव की तृषा बुझ जाती है और वह सुखी हो जाता है।" फिर "उस शून्यमय सरोवर का पानी निरंजन स्वरूप है। मन उसमें मीन की भाँति रम जाता है। यह अलख और अभेद का तत्त्व ऐसा है जिसके रस में सदा विलास किया जा सकता है।" इसी प्रकार "जैसे सरोवर में हंस विहार करता है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा उस प्रियतम के साथ हिलमिल कर नित्य खेला करता है।" इस सरोवर को ये 'सहज का सरोवर' भी कहते हैं और बतलाते हैं, "उसकी तरंगें प्रेम की हुआ करती हैं और आत्मा वहाँ पर अपने स्वामी के साथ सदा मौज में झूला करता है।"[2] ये उस तत्त्व को ही अपना 'पिव' अर्थात् प्रियतम भी कहते हैं और बतलाते हैं कि सभी दिशाओं में मैं केवल उसी एक को देखता और भीतर भी अनुभव करता हूँ। वह बिना बत्ती और बिना तेल के जलते हुए दीपक की भाँति चारों ओर सूर्यवत् प्रकाश कर रहा है और प्रत्येक रोम के भीतर भी उसी प्रकार व्याप्त है।[3] उक्त प्रेम की तरंगों की व्याख्या करते हुए इन्होंने

१. "जेथा कंत कबीर का, सोई वर वरिहूं।
मनसा वाचा कर्मना, हू और न करिहूं ॥११॥
—दादू दयाल की वाणी, 'सबद कौ अंग' ३४, पृ० २७६।

२. वही, 'पीव पिछाण' ११, पृ० २६५।

३. वही 'परचा कौ अंग' ६२, ६५, ७२, ७४, ८७ तथा ७८, पृ० ७२-५।

एक स्थल पर यह भी बतला दिया है कि वास्तव में, "इश्क वा प्रेम ही 'अलह' वा ईश्वर की जाति है, वही उसका अंग स्वरूप है, वही उसका रंग है और उसका अस्तित्व भी वही है।"[१] इसी कारण विरह को भी इन्होंने अपना परम मित्र कहा है। इस तत्त्व को दादू दयाल ने अन्यत्र 'सहज' नाम भी दिया है। उसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि "इसमें सुख-दुख नाम के दोनों पक्षों में से कोई भी नहीं रहता, यह न मरता है, न जीता है, अपितु पूरा निर्वाण-पद इसी को कहते हैं। इसमें रम जाते ही मन की द्वैत भावना जाती रहती है और गर्म वा ठंढा दोनों में एक ही समान बन कर यह उसके साथ एकाकारता ग्रहण कर लेता है।"[२] फिर तो किसी प्रकार के पक्ष-विपक्ष का भी प्रश्न नहीं उठता। वह 'निर्भै', 'निर्पष', 'सहज', इस हद्द वा सीमित विश्व के अतीत 'बेहद्द' वा निःसीम है, जहाँ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों में से किसी की भी गति नहीं। वहीं कबीर साहब का निराधार घर भी है।[३]

सर्वात्मवाद

दादू दयाल ने इस प्रकार उस परमतत्त्व को 'शून्य', 'परमपद', 'निर्वाण'-जैसे नामों द्वारा अभिहित किया है। उसका स्वरूप प्रेम तथा सहजमय बतलाया है। यही वह परमात्मतत्त्व है जिसके विषय में बहुधा 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग होता है। उसके संबंध में दादू-शिष्य सुंदरदास ने भी बड़े विचित्र ढंग से कहा है।[४] परन्तु फिर भी उन्होंने इस ब्रह्मतत्त्व को जगतमय और जगत को ब्रह्ममय कह कर एक प्रकार के सर्वात्मवाद का प्रतिपादन किया है। 'तोही में जगत यह, तूही है जगत माँहि, तौ में अरु जगत में भिन्नता कहाँ रही' कहकर उसे एक ही मिट्टी के बने हुए विविध भांडों, जल में उठती हुई विविध तरंगों, ईख के रस की बनी हुई भिन्न-भिन्न मिठाइयों, काठ की बनी अनेक प्रकार की पूतरियों, लोहे के बने अनेक हथियार तथा स्वर्ण के बने हुए विविध गहनों के उदाहरण देकर उनकी

---

१. दादू दयाल की वाणी, 'विरह को अंग' १५२, पृ० ६१।

२. वही, 'मधिकौ अंग २ : ३, पृ० २३३।

'एक कहूं तो अनेक सौ दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसौ।
आदि कहूं तिहि अंतहु आयत, आदि न अंत न मध्य सुकैसौ॥
गोपि कहूं तो अगोपि कहा, य गोपि अगोपि न ऊभो न बैसौ।
जोई कहूं सोइ है नहिं सुंदर, है तो सही परि जैसी कौ तैसौ।'॥६॥

३. वही, मधिकौ अंग १३, १५, पृ० २३५।

४. सुंदर-ग्रंथावली, 'आत्मानुभव कौ अंग' ६, पृ० ६१६-७।

वास्तविक तथा मौलिक एकता का रहस्य बतलाया है। यह भी कहा है कि उक्त दोनों में भेद केवल उतना ही जितना जमे हुए घी वा बर्फ तथा पिघले हुए घी वा पानी में क्रमशः कहा जा सकता है।[1] इसका कारण अज्ञान के सिवाय दूसरा कोई हो नही सकता। इसी बात को संक्षेपतः उन्होंने अन्यत्र भी कहा है।[2] अतएव ब्रह्म इस जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों प्रकार का कारण है और सर्वत्र एक समान ही व्यापक है। यदि ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मान कर जगत् को मिथ्या कहा जाय, तो उसका समाधान भी सुंदरदास ने किया है।[3] इससे एक प्रकार के विवर्त्तवाद की भावना का आभास मिलता है।

शून्य तथा सृष्टि

दादू दयाल ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत उक्त परमतत्त्व को 'सहज सुनि' नाम भी दिया है और उसे स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि वही सर्वत्र व्यापक है। सभी शरीरों के भीतर भी वही है, उसी में निरंजन वा राम को रमता हुआ समझना चाहिए और उसमें त्रिगुण का कोई प्रभाव नहीं।[4] यह शून्य उन काया-शून्य आत्मशून्य तथा परमशून्य से भी परे है, जहाँ पर क्रमशः स्थूल शरीर जागृतावस्था में प्रतीत होता है, सूक्ष्मशरीर स्वप्नावस्था में जान पड़ता है तथा जहाँ समाधि की पूर्ण और परिपक्वावस्था में जीव को ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। इन तीनों से भी परे वह स्वयं एकमात्र तथा अद्वितीय निर्गुण तत्त्व है[5] जिसे उन्होंने अन्यत्र ब्रह्म शून्य, ब्रह्म निरंजन, निराकार अथवा ज्योतिर्मय तत्त्व बतलाया है।[6] वहीं से सूर्य, चंद्र, आकाश, पानी, पावक, पवन तथा धरती, काल, कर्म, माया, मन, जीव, घट, श्वास आदि की उत्पत्ति होती है और उसी में फिर सभी का लय भी होता रहता है।[7] इस सृष्टि का कारण भी दादू दयाल ने एक 'रहस्यमय विनोद' वा 'परमानंद'

---

१. सुंदर ग्रंथावली, 'अद्वैत ज्ञान कौ अंग' १४-१७, पृ० ६४६-६० ।

२. 'जगत कहे तें जगत है, सूँदर रूप अनेक ।
ब्रह्म कहे ते ब्रह्म है, वस्तु बिचारे एक' ॥४३॥
—वही, ४३ पृ० ८०५ ।

३. 'सुंदर कहत यह एकई अखंड ब्रह्म,
ताहो कौं पलटि कैं जगत नाम धरयौ है ।"
—'वही, 'जगन्मिथ्या कौ अंग' ५, पृ० ६५५ ।

४. दादू दयाल की वाणी, परचा को अंग ५६, पृ० ७१ ।

५. वही, ५३, पृ० ७१ ।

६. वही, १३०, पृ० ८० ।

७. वही, ५४-५, पृ० ७१ ।

बतलाया है जिसके विषय में उन्होंने स्वामी से स्वय जिज्ञासा की है। वे इसी बात को इस प्रकार भी कहते हैं, "वह 'षालिक' वा सृष्टिकर्त्ता निरंतर खेल किया करता है जिसे बिरले ही समझ पाते हैं। वह कुछ लेकर सुखी नहीं होता, अपितु सब कुछ प्रदान करते रहने में ही उसे आनंद आता है और वही आनंद इस सारी सृष्टि का मूल कारण है।[1] इसी बात को दादू-शिष्य बषनाजी ने भी कहा है, "मैंने इस बात पर विचार किया है और मुझे यह प्रतीत हुआ है कि सृष्टि-कर्त्ता ने इसका आरंभ अपनी खुशी अथवा आनंद के अवसर पर ही किया था।[2]" यह उत्तर किसी काज़ी के प्रश्न का है जो सीकरी मे दिया गया था।

सृष्टि-क्रम तथा भ्रांति

दादू दयाल ने सृष्टि के मूल तत्त्व के साकार परिणाम का नाम एक दूसरे प्रसंग में 'ओंकार' दिया है। उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार उस रहस्यमय आदि शब्द से ही पंच तत्त्वों का निर्माण हुआ, सारे शरीरों की रचना हुई और इनमें 'तू' आदि भेदमय विचारों का गुणों के कारण क्रमिक विकास हुआ। यह सारा विश्व एक वाद्ययंत्र के समान बना हुआ है। इसमें उसी का शब्द सर्वत्र ओतप्रोत भरा हुआ है। उक्त पाँच तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा पवन का रस वा कारण यही नाद वा ओंकार है जो कार्यरूप जीव होकर बोला करता है। यह सब कुछ केवल माया का विस्तार है। यह वह मूल परमतत्त्व नहीं है। वह अव्यक्त तत्त्व तो निरंजन तथा निराकार हैं, जहाँ 'ओंकार' व्यक्त तथा साकार है।[3] इस ओंकार द्वारा गुणोत्कर्ष के कारण उत्पन्न हुए 'मैं', 'तू' जैसे भेदमय विकार से अहंता की भावना जागृत होती है और वही इस जगत् के सारे अनर्थों का मूल है। यह 'मैं'-'तू' का भेद जीवात्मा के सामने प्रत्यक्ष बाधा के रूप में किसी आड़ करनेवाली वस्तु की भाँति खड़ा हो जाता है। इसके पीछे छिपे रहने के कारण हम अपने सामने प्रकट रूप में सर्वत्र वर्तमान प्रियतम का भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाते। यदि यह अपने सामने का व्यवधान वा 'दुई का पर्दा' किसी प्रकार हट सके, तो हमें अपने आपके वास्तविक रूप को समझते विलंब न लगे और आनंद आ जाय।

---

१. दादू दयाल की वाणी, 'रोग असावरी' पद २३५, पृ० ४५६।

२. 'जिहि बरियां यहु सब हुआ, सो हम किया विचार।
बषना बरियां खुशी की, करता सिरजनहार ॥
—बषनाजी की वाणी, स्वामी मंगलदास-संपादित, सम्रथाई को अंग २, पृ० ३३।

३. दादू दयाल की वाणी, 'सबद को अंग' ८, १२, १४ तथा ११, पृ० २७५-६।

हमारी सारी समस्याएँ तभी पूर्णतः हल हो सकेंगी जब हम इस अड़चन को दूर करने में कृतकार्य होंगे। क्योंकि बिना ऐसे किये उस निरपेक्ष तथा सर्व प्रकार के पक्षपातों से रहित तत्त्व की अनुभूति हमारे लिए कभी संभव नहीं हो सकती। उस तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति ही सभी साधनाओं का परम लक्ष्य है।

अनुभूति तथा ज्ञान

अनुभूति तथा ज्ञान में महान् अंतर है। हमें किसी वस्तु का जब ज्ञान होता है, तब हम उसकी चतुर्दिक सीमाओं से परिचित होकर उसके विवरण देने लगते हैं। हम उसे जैसे किसी दूरी पर से देखते हैं और उसी भाँति उसके विषय में दूसरों को भी परिचित करा देने की अपने शब्दों द्वारा चेष्टा करते हैं। परन्तु अनुभूति करते समय हम अपने अनुभव की वस्तु में अपने को एक प्रकार से मग्न कर देते हैं। उसे हम इतने निकट से जानने लगते हैं कि हमें उसके अंश-प्रत्यंश के विश्लेषण करने की कोई युक्ति ही नहीं मिल पाती। ज्ञान की स्थिति में हम अपनी ज्ञेय वस्तु से पृथक् रहते हैं। अतएव उसका समझना उतना कठिन नहीं जान पड़ता, किंतु अपने अनुभव की वस्तु के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है और हम उसमें प्रवेश कर जाते हैं। इसी कारण दादू दयाल ने भी कहा है, "ज्ञान की लहर जहाँ से उठती है, वहाँ पर हमारी वाणी का प्रकाशित होना भी संभव है, किंतु जहाँ से हमारी अनुभूति जागृत होती है, वहाँ की हमारी अवस्था अनिर्वचनीय होती है और वहाँ से वाणी के स्थान पर कोरे ध्वन्यात्मक शब्द-मात्र ही उठ सकते हैं। यही वह स्थान है जहाँ निरंजन सदा वास किया करता है। इस कारण उसकी अनुभूति का भी व्यक्त किया जाना अत्यंत कठिन है। उसका हमें केवल अनुभव ही हो सकता है। उसी अनुभव द्वारा हमें आनंद की प्राप्ति होती है, हमें 'निर्भय' का परिचय मिलता है और हम उस अगम, निर्मल तथा निश्चल दशा में भी पहुँच जाते हैं।"[1]

साधना

दादू दयाल की साधना अनुभूति पर ही आश्रित है। इसी कारण इनके साधन तथा सिद्धि दोनों में से किसी का भी विवरण नहीं दिया जा सकता। इस साधना की प्रथम क्रिया तन तथा मन का मान-मर्दन कर उन्हें अपने वश में लाना है, तभी इसके परिणाम-स्वरूप सहज की दशा में प्रवेश प्राप्त हो सकता है।[2] ऐसी स्थिति में त्रिगुणात्मिका प्रकृति-जन्य आकार-प्रकार के सभी विकार हमारे लिए प्रभावहीन हो जाते हैं और आत्मा प्रेम-रस का आस्वादन करने लगती है।"[3]

---

१. दादू दयाल की वाणी, 'परचा कौ अंग', २९-३०, पृ० ६७ और २०३, पृ० ९।
२. वही, 'जीवनमृतक कौ अंग' ४३, पृ० ३८३।
३. वही, 'लै कौ अंग' ४, पृ० १२१।

इस साधना में मार्ग शून्यमय रहता है, सुरति को चैतन्य के पथ पर चलना पड़ता है और वह लय में अपने को मग्न किये रहती है। यह मार्ग न तो योग-समाधि का मार्ग है, न भक्ति-योग ही इसे कह सकते हैं। यह इन दोनों के बीच वाला 'सहज मार्ग' है, जहाँ किसी साधना-विशेष का प्रयोग न होने पर भी पूर्ण समाधि का आनंद मिला करता है और हम काल के प्रभाव से भी दूर हो जाते हैं।[1] इसमें सबसे बड़ी तथा महत्त्वपूर्ण क्रिया अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर देने की भावना है जिसमें 'अहं' का भाव नितांत रूप से नष्ट हो जाता है। इस दशा का वर्णन करते हुए दादू ने कहा है, "यह स्थूल शरीर, यह मन और ये प्राणादि सब कुछ पूर्णतः न्योछावर कर दिये जाते हैं, किंतु इसके मूल में सदा केवल एक यही भावना काम करती रहती है कि जिसे हम अपना सर्वस्व समर्पित कर रहे हैं, वह 'मेरा' अथवा स्वयं 'मैं' ही हूँ"।[2] अतएव इस सर्वस्व दान और सर्वस्व की उपलब्धि में वस्तुतः कोई भी अंतर नहीं रह जाता और देनेवाला अपनी कमी का अनुभव करने की जगह अपने को और भी पूर्ण मानने लगता है।

काया-बेलि

इस पूरी प्रक्रिया का रहस्य इस बात में निहित है कि इस प्रकार की साधना के लिए किसी वाह्य उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके सारे साधन अपने भीतर ही मिल जाते हैं, उनके लिए कहीं दौड़-धूप करनी नहीं पड़ती। दादू दयाल की एक रचना 'काया-बेलि' नाम से प्रसिद्ध है जो बहुधा उनकी संगृहीत रचनाओं के साथ ही प्रकाशित हुई मिलती है। उस रचना में दादू दयाल ने सभी कुछ को इस काया के ही अंतर्गत वर्तमान सिद्ध करने की चेष्टा की है। उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा है कि इसी में 'साधन-सार', 'अनभैसार' तथा 'पदनिर्वाण' भी हैं और इसमें ही विद्यमान गुरु की कृपा से हमें प्रियतम का प्रत्यक्ष दर्शन आप-ही-आप हो जाता है। इसमें जो माँगनेवाला है और जिससे माँग रहा, वे दोनों ही वस्तुतः एक हैं और जो वस्तु माँगी जा रही है, वह भी वहीं है। दादू दयाल का कहना है, "मैं ऋद्धि-सिद्धि अथवा मुक्ति इनमें से किसी की भी अभिलाषा नहीं करता, न ये मुझे पसंद हैं। मैं तो केवल रामरस के एक प्रेम प्याले के लिए ही आर्त्त हूँ"[3]। ये उसके लिए किसी के आगे हाथ भी नहीं

---

१. दादू दयाल की वाणी १३, ८ तथा ६, पृ० १२२।

२. 'तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा तूं है मेरा, यह दादू का ज्ञान ॥'२३॥
—वही, 'सुंदरी कौ अंग २३, पृ० ३३०।

३. वही, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग' ८३, पृ० १३७।

पसारते, न उसके लिए किसी के प्रति अपने उपालंभ ही प्रकट करते हैं । उनकी स्थिति इस प्रकार है, "दादू मन ही मन विरह की दशा में चूर हुआ जा रहा है, मन ही मन रोता है और मन ही मन चिल्ला भी रहा है, वह बाहर कोई भी निवेदन वा प्रदर्शन नहीं करता"।[१] इस कारण अपनी साधना के फलस्वरूप उसे जो कुछ भी सिद्धि मिलती है, वह उसके कायापलट अथवा पुनर्जन्म के ही रूप में होती है ।

एक तथा अनेक

इस दशा तक पहुँच जाने पर सभी बाहरी बातें ज्यों-की-त्यों रह जाती हैं, केवल आभ्यंतरिक परिवर्तन मात्र हो जाता है। जो अहंता-जनित आवरण हमारे सामने पड़ा रहता था, केवल वही सामने से उठ जाता है और अब किसी प्रकार की कोई वस्तु हमें भ्रांति में नहीं डालती । अपने आप का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और उसके ही परमार्थतः परमतत्त्व भी होने से सारे भेदों की जड़ अपने आप कट जाती है। ऐसी ही स्थिति में आकर दादू दयाल कहते हैं, "हे अलह, हे राम, अब मेरा सारा भ्रम जाता रहा। अब मैं तेरे प्रत्यक्ष दर्शन का अनुभव कर रहा हूँ। इस कारण कोई भी भेद नही दीखता, सबके प्राण वे ही हैं, सबके, रक्त मांस भी वे ही है, सबकी आँखें तथा नाक भी वे ही हैं। 'सहज' ने और-का-और तमाशा सामने रख दिया है। कानों से शब्द की झंकार एक ही प्रकार सबको सुनायी पड़ती है, सभी की जीभ मीठे का स्वाद लिया करती है, वही भूख सबको लगा करती है और एक ही प्रकार जागृत होती है, वे ही हाथ-पाँव, वे ही शरीर सबके हैं । पहले ये सभी मुझे भिन्न-भिन्न जैसे प्रतीत होते थे। किंतु अब तूने मेरी दृष्टि ही बदल डाली और अब मैं उन्हीं वस्तुओं में सर्वत्र एकता का अनुभव कर रहा हूँ तथा मुझे अब हिन्दू तथा तुर्क में कोई भेद ही नहीं दीख पड़ता।"[२] "अब हमने निश्चयपूर्वक जान लिया कि सभी घट तथा शरीर में एक ही आत्मा व्याप्त है और हिन्दू-मुसलमान अथवा स्त्री-पुरुष में भी कोई भेद नहीं।"[३] उन्होंने इसी कारण इस बात को एक सिद्धांत के रूप में कह डाला है, "यदि आत्मनिष्ठ होकर पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा के ऐक्य के कारण कोई भेदभाव नहीं, किंतु शरीरादि की दृष्टि से अनेकत्व ही दीखता है"[४] और हमारे सामने न जाने कहाँ से

१. दादू दयाल की वाणी, 'विरह कौ अंग' १०८, पृ० ५६ ।

२. वही, 'राग गौडी' ६५, पृ० ३८३ ।

३. वही, 'दया निर्बैरता कौ अंग, ५ ६, पृ० ३२३ ।

४. 'जब पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक ।
काया के गुण देखिये, तौ नाना वरण अनेक ।।'१३०।।
—वही, साच कौ अंग १३०, पृ० २०३ ।

नामरूपादि के भेद आ खड़े हो जाते हैं।

जीवन्मुक्ति

इस उपर्युक्त स्थिति को ही दादू दयाल ने जीवनमुक्त की अवस्था का नाम दिया है। उन्हें मृत्यु के अनंतर मुक्त होने में विश्वास नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं, "निरंजन के निकट पहुँचते ही मैं जीवन्मुक्त बन गया। मरने पर जिस मुक्ति की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है, उसमें मुझे विश्वास नहीं, न मेरा मन इस बात को मानता है कि आगे चल कर हमें अच्छे कर्मों के कारण अच्छा जन्म मिलेगा। शरीर छूटने पर जो गति होती है, वह तो सभी को प्राप्त होती है। दादू तो यही जानता है कि जीते जी राम की उपलब्धि हो जाय और अपना जीवन सफल हो जाय।"[1] इसी बात को दादू-शिष्य सुंदरदास ने भी इस प्रकार कहा है, "मुक्ति तो एक धोखे का चिह्न-मात्र है। ऐसा कोई भी ठौर-ठिकाना नहीं, जहाँ पर मुक्ति ऐसी कोई वस्तु हमें मिल सकती है। कुछ लोग मुक्ति की उपलब्धि आकाश में बतलाते हैं, कोई उसे पाताल में ले जाते हैं और कोई-कोई पृथ्वी पर ही उसे ढूंढ़ते हुए भटकते फिरते हैं। कोई भी इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करता, अपितु जिस प्रकार गुबरैला अपनी गोली लेकर निरुद्देश्य चला करता है, उसी प्रकार वे भी अपनी धुन में बढ़ते जाते हैं, जीते जी इसके लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं, धोखे में पड़ कर व्यर्थ मरा करते हैं। वास्तविक मुक्ति का स्वरूप तो यही है।[2] उन्होंने इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है, "देवलोक, इंद्रलोक, सत्यलोक, विधिलोक, शिवलोक, वैकुंठलोक, मोक्षशिला, बिहिश्त वा परमपद ये सभी जीवनकाल के भीतर ही उपलब्ध होनेवाली बातें हैं। जिन्होंने आत्मानुभूति की उपलब्धि कर ली, उनके सारे संशय नष्ट हो गए और वे जीवन्मुक्त बन गए।"[3]

सहज समाधि

इस दशा का नाम दादू दयाल ने 'सहज-समाधि' भी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि इसमें आते ही मन थकित हो जाता है और अपनी दशा का वर्णन करते नहीं बनता। कितना भी सोचा-विचारा जाय, इसका अनुभव सदा अगम्य, अपार तथा इन्द्रियातीत ही कहा जा सकेगा। भला एक बूंद समुद्र को किस प्रकार तोल सकती

---

१. दादू दयाल की वाणी, 'राग गौड़ी' ५२, पृ० ३७७।

२. निज स्वरूप कौं जानि अखंडित, ज्यों का त्यों ही रहिये।
सुंदर कछू ग्रहै नहिं त्यागै, वहै मुक्ति पद कहिये' ॥४॥
—सुंदर ग्रंथावली ४, पृ० ८७५-६।

३. वही, २२, पृ० २५८

है और जिसकी वाणी बंद हो गई, वह अब कह ही क्या सकता है। अब तो अलल पक्षी आकाश में बड़ी दूर निकल गया और उसे सर्वत्र वही अनंत आकाश-मात्र ही चारों ओर व्याप्त दीख रहा है। अब हम यदि कहना ही चाहें तो क्या कह सकते हैं।[1] ऐसी स्थिति में हमारा मन किसी भी बंधन में नहीं रहता, अपितु जिस प्रकार पक्षी आकाश के निःसीम क्षेत्र में उन्मुक्त होकर अपनी पूरी उड़ान भर चला जा सकता है, उसी प्रकार वह भी सारे सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त पाकर अत्यंत व्यापक तथा उदार भावों में विचरण करने का अभ्यास डाल लेता है। परमतत्त्व के लिए 'सहज', 'शून्य'-जैसे शब्दों के प्रयोगों की भी इसी बात में सार्थकता है और दादू दयाल की सहज-साधना अथवा सहज समाधि का भी यही रहस्य है। इसमें जीव अपने को सदा अपने प्रियतम के संपर्क में समझा करता है और उसका शरीर संसार के भीतर ही रह कर उसके प्रभाव में यंत्रवत् काम करता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह अपने लक्ष्य समुद्र की ओर बिना किसी बाधा का विचार करते हुए अनवरत बढ़ता ही जाता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त के जीवन में भी कभी रोक-थाम का अवसर नही आता। सांसारिक बातें तो केवल उसे नियंत्रित कर सकती हैं, जो अपने जीवन के रहस्यों से परिचित न होकर जगत् को जंजाल की भाँति मानता हुआ सार उद्यम छोड़ जंगल की राह लेना जानता है। जीवन्मुक्त को तो उद्यम में भी आनंद ही आनंद है, क्योंकि वह अपना सब कार्य अपने प्रियतम अथवा अपने आपके उद्देश्य से ही किया करता है। दादू दयाल कहते हैं, "अपने स्वामी के प्रीत्यर्थ समर्पित किसी कार्य में भी उदासी आ नहीं पाती।[2]"

प्रवृत्त-मार्ग तथा सेवा-धर्म

दादू-शिष्य रज्जबजी ने इसी कारण कहा है, "योग में भी एक प्रकार का भोग है और भोग में भी इसी प्रकार योग हो सकता है। अनेक लोग वैरागी बन कर भी संसार में डूबे रहते हैं और अन्य लोग गार्हस्थ्य-जीवन में रह कर उसके पार हो जाते हैं।[3]" संसार में से लोग इस कारण भागा

---

१. श्री स्वामी दादू दयाल की वाणी, सं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, पद २४४, पृ० ४५९-६० ।

२. 'दादू उदिम औगुण को नहीं, जेकरि जाणे कोई।
उदिम में आनंद है, जो सांई सेती होई' ॥१०॥२
—वही, साखी १०, पृ० २५८ ।

३. 'एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग ।
एक बड़हि वैराग में, एक तिरहिं सो गृही लोग ॥'

करते हैं कि अन्य लोग उन्हें शत्रुतावश किसी प्रकार की बाधा पहुँचायेंगे, किंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो किसी के साथ कोई वैर नहीं। जब हम किसी प्राणी को अपने से भिन्न समझेंगे, तभी इस प्रकार की धारणा हमारी हो सकती है। जब अपना विचार ऐसा हो गया कि हमारे लिए कोई विजातीय नहीं तथा जिस एक से हम सभी की उत्पत्ति हुई है, वही परमपिता हम सभी के भीतर भी एक ही समान विद्यमान है, तो फिर वैर-भाव से आशंकित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।[१] ऐसी दशा में तो एक दूसरे के साथ अधिकाधिक मैत्री-भाव की वृद्धि होगी और जी चाहेगा कि हम सबके प्रति निःस्वार्थ भाव के साथ सेवा-धर्म में लगे रहें। इस सेवा-धर्म का आदर्श भी दादू दयाल ने बहुत ऊँचा और सुंदर बतलाया है। उनका कहना है कि सबसे बड़ा सेवक इस विश्व के भीतर स्वयं वह जगन्नियंता परमात्मा है जो बिना किसी स्वार्थ के सानंद सभी कार्य कर रहा है। हमें ठीक उसी की भाँति सेवा करनी चाहिए और उसी की भाँति अपने भीतर उत्साह भरा रखना चाहिए। सेवा-धर्म में उसका अनुकरण करने वाले हमारे सामने सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि भी प्रतिदिन अपने-अपने कार्य अथक रूप से नियमानुसार करने में निरंतर लीन हैं। इसकी ओर इस दृष्टि से विचार करने के लिए कभी हमारा ध्यान भी नहीं जाता, न हम उनसे कभी ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के यत्न ही करते हैं। हम इन प्राकृतिक वस्तुओं के साथ अपने प्रति किये गए उपकारों के लिए कभी श्रेय भी नहीं देना चाहते। दादू दयाल का कहना है कि सेवा करते समय उन्हीं की भाँति हमें अपने आपको भूल जाना चाहिए और बिना किसी प्रत्युपकार की भावना अपने हृदय में लाये हुए उन्हीं की भाँति विश्व के प्रत्येक प्राणी की बंधुवत् सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।[२]

मत का सार

दादू दयाल के सिद्धांतों का निचोड़ इसी कारण जिस प्रकार जीवात्मा तथा परमात्मा तथा जगत् की अभेदमयी मौलिक एकता है और उस मूलतत्त्व का सच्चा स्वरूप सहज, शून्य तथा प्रेममय है, उसी प्रकार उनकी साधना तथा व्यवहार का भी निष्कर्ष 'सहज, समर्पण, सुमिरण[३] और सेवा' है। उनके शून्य की कल्पना में किसी प्रकार के नास्तित्व की भावना नहीं, न उनके प्रेम का ही भाव कोरा

---

१. स्वामी दादू दयाल की वाणी, सं० चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, सा० १०, पृ० ३२४।

२. वही, 'परचा कौ अंग २४६-५१, पृ० ६७।

३. वही, 'राग गौड़ी' ७२, पृ० ३८६।

मनोविकार-मात्र है। उस शून्य का स्वरूप शुद्ध, अविकृत तथा निर्मल अस्तित्व है और उस प्रेम का भी रूप व्यापक जीवन का मूल आधार है। उन दोनों की पूरी व्याख्या तीसरे शब्द 'सहज' के द्वारा पूर्ण रूप से हो जाती है, जब हम अंतिम सत्य का सत्ता के यथास्थित अनिर्वचनीय रूप का कुछ अनुमान करते हैं। दादू दयाल की उसके प्रति की गई धारणा ठीक वही प्रतीत होती है जो अद्वैत वेदांत के सिद्धांतानुसार निर्विशेष तथा निरपेक्ष अनुभवातीत परमात्मतत्त्व की है। उसे कबीर साहब ने भी अगम, अगोचर, 'वोही आहि आहि नहि आनै' आदि द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी साधना तथा व्यवहार के नियम भी उसी निश्चित आदर्श के अनुसार निर्धारित किये गए हैं और उससे पूर्णतः मेल खाते हैं। ऐसे विचारों के आधार पर निर्मित मनोवृत्ति स्वभावतः अधिक-से-अधिक व्यापक तथा उदार होगी और उसके साथ यापन किये जानेवाले जीवन का स्वरूप भी विशुद्ध तथा स्वछंद होगा। इस कारण उसमें दुःख वा क्लेश का कभी समावेश नहीं हो सकता, न आनंद की कमी की कमी आशंका ही आ सकती है।

दादू दयाल ने अपने मत का विवरण थोड़े-से शब्दों में स्वयं भी दे दिया है।[1] उनका कहना है कि इसी मार्ग पर चल कर तुम उस परमतत्त्व का अनुभव कर सकोगे और संसार-सागर के पार भी हो जाओगे।

कबीर, नानक तथा दादू में समानता

अतएव दादू दयाल तथा कबीर साहब अथवा गुरु नानक देव के मतों में कोई मौलिक भिन्नता नहीं प्रतीत होती। इन तीनों संतों के सामने प्रायः एक ही प्रकार की समस्या थी। इन तीनों ने अपने-अपने ढंग से उस पर विचार करने तथा

---

१. 'भाई रे, ऐसा पंथ हमारा।
द्वैपष रहित पंथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं, मांहि जगत थैं न्यारा।
समदृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपहि आप विचारा।।१।।
मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं, निर्बैरी निरकारा।
पूरण सबै देषि आपा पर, निरालंब निर्धारा।।२।।
काहू के संगि मोह न ममिता, संगी सिरजन हारा।
मन ही मन सौं समझि सयाना, आनंद एक अपारा।।३।।
काम कल्पना कदे न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुंचि पार गहि दादु, सो तत सहजि संभारा' ।।४।।
—दादू दयाल की वाणी, शब्द ६६, पृ० ३८३-४।

उसको हल करने की युक्ति निकालने के यत्न किये। तीनों ही प्रायः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित थे, किंतु शास्त्रीय प्रमाणों से अधिक उन्होंने अपने सच्चे अनुभव का ही आश्रय लिया और तीनों ही लगभग एक-से ही परिणाम पर पहुँचे। इन तीनों को ही अंत में जान पड़ा कि लोगों के भीतर बढ़ते हुए भेदभाव, पारस्परिक वैमनस्य तथा दुर्भावना की जड़ उनके वास्तविक सत्य के प्रति अज्ञान के भीतर पायी जा सकती है। इस कारण इन्होंने उसी को सर्वप्रथम उखाड़ कर फेंकने की चेष्टा की। इन्होंने बतलाया कि सभी कोई एक ही परमतत्त्व के स्वरूप हैं, किन्हीं भी दो में किसी प्रकार का भी मौलिक अंतर नहीं, जो कुछ भी विभिन्नता दीख पड़ती है, वह बाहरी तथा मिथ्या है। अतएव इन तीनों ने ही इस बात की ओर पूरा ध्यान दिलाया कि उस वस्तु के मर्म को जान कर उसका अनुभव आत्मवत् करना परमावश्यक है। फिर तो हमारे जीवन में ही आमूल परिवर्तन आ जायगा और हम प्रत्येक प्रश्न को एक नवीन, किंतु वास्तविक ढंग से हल करने का अभ्यास ग्रहण कर लेंगे। जो-जो बातें आज तक हमें जटिल जान पड़ती थीं, वे सहज में सुलझ कर आसान हो जायँगी। तदनुसार तीनों ने संसार में रहते हुए भी आनंदमय जीवन-यापन करने की पद्धति की रचना की और सबको उसका अनुसरण करने के लिए उपदेश दिये।

कबीर, नानक तथा दादू में अंतर

परन्तु कुछ सूक्ष्म विचार करने पर पता चलता है कि इन तीनों संतों की विचार-धाराओं तथा प्रणालियों में कुछ-न-कुछ अंतर भी अवश्य था। उदाहरण के लिए कबीर साहब की विशेष आस्था यदि आत्म-प्रत्यय में निहित रही, तो गुरु नानकदेव की आत्म-विकास में और उसी प्रकार दादू दयाल की, आत्मोत्सर्ग में थी। इन तीनों ने परमतत्त्व को भी क्रमशः नित्य, एक, तथा सहज (समरस) की भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार कुछ विशेष रूप से देखा। इनकी साधना भी तदनुसार अधिकतर क्रमशः विचार-प्रधान, निष्ठा-प्रधान तथा प्रेम-प्रधान थी। इसी कारण सुरत शब्दयोग के एक समान समर्थक होते भी इन्होंने क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा लययोग की ओर ही विशेष ध्यान दिया। इन तीनों के मुख्य उपदेशों तथा समाज के प्रति इनकी पृथक्-पृथक् देनों पर भी यदि हम विचार करें, तो कह सकते हैं कि कबीर साहब ने यदि स्वातंत्र्य तथा निर्भयता को अधिक प्रधानता दी, तो गुरु नानकदेव ने समन्वय तथा एकता पर विशेष बल दिया और दादू दयाल ने उसी प्रकार सद्भाव तथा सेवा को ही श्रेष्ठ माना। परन्तु इन बातों का यह अर्थ नहीं कि इनमें से किसी की मनोवृत्ति एकांगी थी। साधनाएँ सभी की पूर्णांग थीं, विशेषताओं का कारण केवल अवस्था-भेद हो सकता है।

सूफ़ी प्रभाव

संत दादू दयाल के सिद्धांतों पर सूफ़ी प्रभाव की चर्चा की जाती है, किंतु कुछ लेखकों में इस विषय के संबंध में मतभेद भी जान पड़ता है। डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है, "दादू का मत इनके पूर्ववर्ती संत कबीर से बहुत मिलता-जुलता है। इन दोनों के सिद्धांतों में विशेष अंतर इस बात में पाया जाता है कि दादू ने जहाँ परमात्मा-संबंधी मुस्लिम धारणाओं के सभी प्रसंगों का नितांत बहिष्कार कर दिया है, वहाँ वे कबीर की रचनाओं के अंतर्गत बहुधा पाये जाते हैं।"[1] परन्तु डॉ० ताराचंद के अनुसार, "दादू ने अपने शरीर को मसज़िद माना है और 'जमायत' के पाँचों सदस्यों तथा नमाज़ के समय नेतृत्व करनेवाले मुल्ला वा इमाम का भी मन के भीतर ही वर्तमान रहना बतलाया है। अविनाशी परमात्मा को ये सदा अपने समक्ष पाते हैं और वहीं उसके प्रति वे अपना भक्ति-भाव प्रकट कर लेते हैं। दादू ने अपने सारे शरीर को ही जप की माला मान ली है जिसके द्वारा ये करीम के नाम का स्मरण किया करते हैं। इनके अनुसार एक ही 'रोज़ा' वा उपवास है, दूसरा नहीं और 'कलमा' भी वह स्वयं परमात्मा ही है। इस प्रकार दादू अल्लाह के समक्ष ध्यान में लीन होकर खड़ा है और 'अर्श' के भी ऊपर उस पद पर चला जाता है, जहाँ रहीम का स्थान हैं।"[2] फिर "दादू ने अपने पूर्ववर्ती संतों से कहीं अधिक अपने सूफ़ी-मत के ज्ञान को व्यक्त किया है। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता हैं ये कमाल के शिष्य थे और कमाल की प्रवृत्ति इस्लामी विचार-धारा की ओर इन सबसे अधिक थी। इसके सिवाय पश्चिमी, भारत, विशेषत: अहमदाबाद तथा अजमेर के सूफ़ी ईश्वर के खोजी हिन्दू वा मुसलमानों पर पूर्वी भारत वालों से कदाचित् कहीं अधिक प्रभाव रखते थे। जो भी हो, उनके उपदेशों के प्रभाव में ही आकर ये हिन्दू-मुस्लिम एकता के एक प्रबल समर्थक बने थे।"[3] परन्तु जैसा दादू दयाल

1. 'His (Dadu's) doctrine closely resembles that of the older prophet, the main difference being the exclusion of all references to the Muslim ideas of the Diety, which we often meet within the writings of Kabir.—'The Imperial Gazetteer of India, vol. II (New edition) 1909, P. 417.
2. *Dr. Tarachand*: Influence of Islam on Hindu Culture, pp. 184-85.
3. Dadu manifests, perhaps, even greater knowledge of Sufism than his predecessors, perhaps, because he was the disciple of Kamal who probably had greater leaning towards Islamic ways of thinking than others, perhaps

मत के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से भी प्रकट होगा, इस प्रकार के मतभेद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। दादू दयाल का अपना मत शुद्ध संत-मत ही था।

४. पंथ की प्रगति

गरीबदास

ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना सं० १६३१ के लगभग हुई थी और दादू दयाल के जीवन-काल तथा उसके कुछ दिन अनंतर तक उसमें प्रगति अबाध गति से होती गई। परन्तु काल पाकर सम्प्रदाय के अंतर्गत कई एक उप-सम्प्रदाय भी बनते जाने लगे और इस प्रकार उसके प्रधान केन्द्र का कुछ निर्बल पड़ जाना स्वाभाविक हो गया। दादू दयाल का देहांत हो जाने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास उनकी गद्दी पर बैठे थे और वे व्यक्तिगत रूप से एक अच्छे संत थे। किंतु उनमें संगठन की शक्ति अथवा शासन की योग्यता की कमी थी, जिस कारण पंथ की प्रगति में शिथिलता आने की आशंका हो चली। रज्जबजी ने गरीबदास की पहले बड़ी प्रशंसा की थी और "दादूकै पाट दीपै दिन ही दिन" तथा "उदार अपार सबै सुखदाता"-जैसी उक्तियों द्वारा उनके विषय में वे अपनी अच्छी सम्मति ही देते आये थे। परन्तु जब उनकी नम्रता तथा उदारता अतिशयता की सीमा तक पहुँच गई, तब उनसे नहीं रहा गया। एक बार कुछ व्यंग-भरे शब्दों में उन्होंने उनके निकट लिख भेजा।[१] इसका आशय उन्हें समझते विलंब नहीं लगा और उन्होंने गद्दी का त्याग कर दिया। फलस्वरूप उनके छोटे भाई मिस्कीनदास उनके उत्तराधिकारी बने और अपने अंत काल तक उसका कार्य-भार सँभाले रहे। इस प्रकार पंथ की परंपरा गद्दी के लिए योग्यतम व्यक्ति के चुनाव द्वारा आगे चलने लगी। प्रायः सौ वर्षों तक अर्थात् संत दादू दयाल की चौथी पीढ़ी के स्वामी फ़कीरदास (मृ० स० १७५०) तक उसके संगठन तथा कार्य-पद्धति में विशृंखलता प्रतीत नहीं हुई।

पृथक् दशाएँ

परन्तु इसी बीच में रज्जबजी, सुंदरदास, प्रागदास, बनवारीदास आदि

---

because the Sufis of Western India—Ahmedabad and Ajmer—weilded greater influence upon the minds of seekers after God Hindu or Muslim than those of the East. At any rate the effect of their teachings was to make him a staunch supporter of Hindu Muslim unity. Do p. 185

१. 'गरीब के गर्व नाहिं दीनरूप दास माहिं।
आये न विमुख जाहिं आनन्द का रूप हैं।।' आदि।

प्रधान दादू-शिष्यों का देहांत हो गया। उनकी विशेषताओं को भी अक्षुण्ण रखने की प्रवृत्ति उनके भिन्न-भिन्न अनुयायियों मे जागृत होने लगी। उनके भिन्न-भिन्न थाँवे क्रमशः शक्ति ग्रहण करने लगे तथा उनमें अलगाव की भावना भी आ गई। फिर भी दादू दयाल के पंथ का प्रधान दादू द्वारा उनके मृत्यु-स्थान नराणे में ही अब तक माना जाता आया है और वहीं के दादू-पंथी 'खालसा' भी कहलाते हैं। दादू-पंथियों के अंतर्गत जो उप-सम्प्रदाय की सृष्टि हुई है, वह वास्तव में कुछ तो स्थानीय कारणों का प्रसाद है और कुछ उनकी भिन्न-भिन्न रहन-सहन के अनुसार भी अस्तित्व में आ गई है। उसके मूल में कोई सिद्धांतगत भेद काम नहीं करता, न इस बात को स्वीकार करने को तैयार ही हो सकते हैं। इसमें केवल एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दादू दयाल जाति के विचार से स्वयं मुसलमान थे और उनके शिष्यों में भी रज्जबजी, वषनाजी, वाजिंदजी, गरीबदास और फिर क्रमशः मिस्कीनदास वा फ़कीरदास प्रभृति कुछ दिनों तक योग्य मुस्लिम व्यक्ति दिखलायी पड़ते रहे। परन्तु आगे चल कर ऐसी बात नहीं रह गई और पंथ पर शुद्ध हिन्दू-धर्म का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता गया, यहाँ तक कि रज्जबजी के थाँबे को छोड़ अन्य जगह अब कम मुसलमान दीख पड़ते हैं। प्रसिद्ध है कि रज्जबजी की गद्दी का अधिकारी चुनते समय आज तक भी इसी बात पर विशेष ध्यान रखा जाता है कि सबमें योग्यतम व्यक्ति कौन है? यह नियम नराणे की प्रधान दादू-गद्दी के संबंध में भी प्रायः एक सौ वर्षों तक उसी प्रकार चलता आया था।

उप-सम्प्रदाय

कहते हैं कि प्रधान दादू-गद्दी नराणे के महंत जैतराम (मृ० सं० १७८६) के समय से पंथ के भीतर उप-सम्प्रदाय बल पकड़ने लगे। तदनुसार कम-से-कम पाँच प्रकार के दादू-पंथी क्रमशः भिन्न-भिन्न वर्गों में बँटते हुए पृथक् रूपों में दीख पड़ने लग गए। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है :

१. **खालसा :** ये अपने को विशुद्ध दादू-पंथी समझते हैं और इनका मुख्य केन्द्र नराणे में है। खालसा के सदस्यों का विशेष ध्यान अध्ययन, अध्यापन तथा भजन-आराधन की ही ओर रहा करता है। इनका भेष पहले कान तक की कपाली टोपी चोला और कटि-वस्त्रादि तक ही सीमित जान पड़ता था, किंतु अब उसमें कुछ अंतर भी आने लगा है। इनमें बहुत-से लोग साधारण गृहस्थों की भाँति जीवन व्यतीत करते हुए भी दीख पड़ते हैं, किंतु इनकी संख्या अधिक नहीं है। दादू-पंथियों की एक शिक्षा-संस्था 'दादू-महाविद्यालय' के नाम से जयपुर में, जेठ सुदी १० सं० १९७७ से स्थापित है जो अधिकतर इसी उप-सम्प्रदाय द्वारा प्रभावित है।

२. **नागा** : 'नागा' शब्द के प्रयोग से कभी-कभी इस वर्ग के अनुयायियों के अधिकतर नग्न रहने का अनुमान किया जा सकता है, किंतु बात ऐसी नहीं है। ये लोग विशेष रूप से अपने वस्त्रों की सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं। इस उप-सम्प्रदाय को सर्वप्रथम दादू-शिष्य बड़े सुंदरदास ने चलाया था जो बीकानेर निवासी थे। इसका संगठन पीछे भीमसिंह ने बड़ी योग्यता से किया था। नागा लोगों का एक थाँवा नराणे में है और इनकी ९ टुकड़ियों का जयपुर राज्य की सीमा के निकट होना बतलाया जाता है। जयपुर राज्य के साथ इनका संबंध विशेषकर सं० १८०० से चला आता है। ये लोग पहले सिपाही का काम करने के लिए ही प्रशिक्षित किये गए थे तथा इन्हें नियमानुसार ड्रिल तथा शस्त्र-प्रयोग का अभ्यास भी कराया गया था। परन्तु तत्पश्चात् इस ओर इनका ध्यान देना बंद होता चला गया और इन लोगों में कुछ-न-कुछ शिथिलता तक लक्षित होने लगी। ये लोग कभी-कभी सैनिक होने की जगह कर उगाहनेवाले सिपाहियों के रूप में भी राजाओं द्वारा काम में लाये जाने लगे। क्रुक साहब का कहना है, "जयपुर के निकटवर्त्ती गाँवों में रहनेवाले ये सात अखाड़ों में बँटे हैं और वहाँ पर इनमें से प्रत्येक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को एक आना प्रतिदिन के हिसाब से तनख्वाह दी जाती है। काम पर जाने की दशा में इन्हें प्रतिदिन दो आना के हिसाब से मिलता है। गृहस्थी में रहनेवाले खेती करते हैं, ऊँट पालते हैं और लेन-देन भी करते हैं।"[1] सैनिक नागाओं के पास अधिकतर ढाल, तलवार और एक साधारण-सी बंदूक रहा करती है जिनका प्रयोग करना उन्हें सिखलाया गया रहता है। सन् १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-युद्ध के समय इन्होंने कंपनी को बड़ी सहायता पहुँचायी थी जिस कारण इनकी प्रशंसा अँगरेज लेखक बराबर करते आये हैं। इनकी भर्ती बहुधा उच्च कुलों के हिन्दू युवकों में से ही हुआ करती थी और इनकी संख्या क्रमशः घटती चली गई। सं० १९९५ के अनंतर नागाओं का संबंध जयपुर राज्य के साथ विच्छिन्न हो गया।[2]

३. **उत्तराढ़ी** : इस उप-सम्प्रदाय में अधिकतर पंजाब की ओर के धनी मानी लोग सम्मिलित हैं और वे 'उतराधे' वा 'स्थानधारी' भी कहे जाते हैं। इनमें से कई का व्यवसाय वैद्यक के अनुसार दवा देने का तथा लेन-देन के व्यवहार का भी देखा जाता है। इनकी एक शाखा की स्थापना हरद्वार में किसी गोपालदास

---

१. वि० क्रुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविंसेज ऐंड अवध, भा० २, पृ० २३८।
२. जयंती ग्रंथ, पृ० २१।

ने की थी, किंतु मूल उत्तराढ़ी के प्रवर्त्तक बनवारी दास वा कभी-कभी रज्जबजी भी समझे जाते हैं। दोनों ही दादू-शिष्यों बनवारीदास के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपना थाँवा सर्वप्रथम रतिया ग्राम (पटियाला) में स्थापित किया था। वहाँ से 'उतराढ़ी' दल प्रवर्तित होकर क्रमशः उत्तरी भारत के कई स्थानों तक में भी फैल गया। इस वर्ग के लोगों ने कुछ दिनों तक मूर्ति-पूजा को भी अपनाना आरंभ कर दिया था। किंतु नागा लोगों की ओर से विशेष रूप में आपत्ति की जाने पर इन्हें ऐसा विचार छोड़ देना पड़ा। कहा जाता है कि इस उप-सम्प्रदाय के ५२ थाँवे अलग-अलग स्थापित हैं और केवल डेहरा गाँव में ही इनकी १४ गद्दियाँ वर्तमान हैं। इनके प्रधान महंत हिसार जिले के रतिया नामक गाँव में रहा करते हैं। इसके सदस्यों में अनेक बहुत बड़े कवि और विद्वान् हो चुके हैं जिनमें साधु निश्चलदास, रसपुंजजी, हीरादासजी आदि की गणना भी की जा सकती है।

४. **विरक्त** : इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये रुपये-पैसे हाथ से नहीं छूते और अधिकतर भिक्षावृत्ति पर ही जीवन-निर्वाह करते है। ये बादामी रंग के वस्त्र धारण करते हैं और अपना समय अधिकतर पढ़ने-लिखने में ही लगाया करते हैं। ये एक स्थान पर अधिक दिनों तक नही ठहरा करते और इनके मुखिया लोगों के साथ दो-एक अथवा कभी-कभी इससे अधिक शिष्य भी रहा करते हैं। ऐसे शिष्य बहुधा लड़के होते हैं जो इनके संपर्क में रह कर सदा दादू-बानियों और संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया करते हैं। ये लोग अधिकतर नंगे सिर घूमा करते हैं। इनके शरीर पर केवल एक वस्त्र और हाथ में एक कमंडल ही रहा करता है। ये लोग कभी किसी व्यवसाय की ओर ध्यान नहीं देते और इनका मुख्य कर्त्तव्य दादू-पंथी गृहस्थों के यहाँ जाकर उपदेश देना रहता है।

५. **खाकी** : ये लोग बहुत ही कम कपड़े पहना करते हैं और ये साधारणतः लंबी जटा धारण करके तथा अपने सारे शरीर में भस्म लपेटे हुए शारीरिक साधना करते पाये जाते हैं। ये छोटी-छोटी टुकड़ियों में घूमते-फिरते हुए भी दिखलायी पड़ते हैं। ये संभवतः इस प्रकार की धारणा बनाये रहते हैं कि पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए किसी प्रवाहित नदी की भाँति निरंतर भ्रमण-शील रहा करना ही परमाश्वयक है।

दादू-पंथी जन-समाज

परब्रह्म -सम्प्रदाय की जगह पर दादू-पंथ नाम संभवतः उक्त सौ वर्षों के अनंतर ही अधिक प्रसिद्ध हुआ और तब से इसी नाम के लोग विशेष जानकार हैं। दादू-पंथी जन-समाज वास्तव में मुख्य दो प्रधान समुदायों में विभक्त है जिनमें एक स्वामी

वा साधु हैं और दूसरे सेवक वा गृहस्थ हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के लोग अधिकतर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं, विरक्ति-भाव से प्रभावित रहते हैं और धर्मोपदेश किया करते हैं। इनमें से अनेक व्यक्ति प्रकांड विद्वान् हुआ करते हैं और इनके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं रहा करती। इनका मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण गृहस्थों में जाकर उन्हें दादू-बानियों के गूढ़ रहस्यों से परिचित कराना तथा पंथ के अनुसार व्यवहार करने की शिक्षा देना रहता है। इनमें से जो स्वामी कम पढ़े-लिखे वा संयोगवश निरक्षर ही रह जाते हैं, वे गृहस्थों के द्वार पर जा-जाकर साधारण भिक्षुओं की भाँति भीख माँगा करते हैं। ये लोग बहुधा गेरुए वस्त्र भी धारण कर लेते हैं और कभी-कभी तो इनके शरीर पर अन्य कई साधुओं की भाँति दो-एक मालाएँ भी पायी जाती हैं। सेवक-दल के लोगों का काम इसी प्रकार गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करना, दादू-बानियों का पढ़ना अथवा कहना-सुनना और अतिथि-सेवा रहता है। जो धनी होते हैं, वे अपने सामर्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवसाय करते हैं और जो निर्धन होते हैं, वे दूसरों के यहाँ सेवा-टहल में लग जाते हैं। शिक्षित दादू-पंथ के लोगों में वेदांत का बहुत प्रचार है और इस विषय के पंडित उनमें अनेक देखे जाते हैं।

उसकी विशेषता

दादू-पंथी लोगों का स्थान धार्मिक समाजों में काफी ऊँचा रहता आया है और आदर्श दादू-पंथी की बड़ी प्रशंसा भी सुनी जाती है। किसी दास जी नामक एक भक्त ने दादू-पंथी के विषय में बहुत दिन हुए इस प्रकार लिखा था, "जिस किसी को गर्व न हो, जो परमात्मा की आराधना अपने हृदय में ही करता हुआ उसका वाह्य प्रदर्शन पसंद न करता हो, जो सांसारिक भेद-भावों से अलग रहता हो और जो किसी दर्शन-विशेष का आश्रय न लेकर अपने मन पर पूरी विजय प्राप्त कर लेने को ही अधिक महत्त्व देता हो, वही सच्चा भक्त और दादू-पंथी है। जिसने सभी रीतियों तथा परंपराओं का त्याग कर दिया हो, जो किसी भी अवतार में विश्वास नहीं करता, अपितु केवल एक निर्विशेष ब्रह्म की ही उपासना अपने भीतर किया करता है, वही सच्चा दादू-पंथी है। जिसके लिए किसी ऊँच-नीच का भेद-भाव महत्त्व नही रखता, जिसके लिए राजा तथा रंक एक समान हैं, जो अपने हृदय के अंतस्थल में ईश्वर-प्रेम का भाव सदा बनाये रहता है, वही सच्चा दादू-पंथी है। जिसने काम, क्रोध तथा स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर ली है, जो भोजन-वस्त्रादि के व्यवहार में संयत रहा करता है, जो विश्व की सेवा के लिए हर्ष के साथ उद्यत रहता है, जिसका आनंद परमात्मा के संयोग में तथा दुःख उसके वियोग में ही दीख पड़ता है और जो निर्गुण ब्रह्म से ही सदा आवृत रहा करता है, वही सच्चा दादू-

पंथी है। जो सत्य की उपलब्धि के लिए सभी प्रकार के असत्य का पूर्ण त्याग कर देता है, जिसके विचार निर्भयतापूर्वक सदा आत्म-साधन में ही लगे रहते हैं, जो सदा उस शाश्वत सत्य को ही व्यक्त किया करता है, जो हृदय से नम्र तथा कोमल स्वभाव का होता है और जो अपना निर्णय देते समय सदा स्पष्ट तथा सावधान रहा करता है, वही सच्चा दादू-पंथी है। इसी प्रकार जो उक्त आदर्श के अनुसार मनसा, वाचा तथा कर्मणा रहा करता है, वही सच्चा दादू-पंथी है और जो इसके विपरीत चलते हैं, वे इस पंथ का अनुयायी होने का व्यर्थ नाम लेते हैं।[1]

साहित्य-निर्माण

दादू-पंथ की एक यह बड़ी विशेषता रही कि उसके अनुयायियों ने अपने प्रधान गुरुओं तथा अन्य संतों की भी बानियों की रक्षा तथा प्रचार के लिए बहुत यत्न किये। इसी कारण ऐसा साहित्य जितना दादू-पंथी क्षेत्र में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। अनुमान किया जाता है कि दादू-दयाल के जीवन-काल से ही संत-संदेशों के विविध संग्रह प्रस्तुत किये जाने लगे थे। दादू-शिष्य संतदास तथा जगन्नाथदास ने अपने गुरु की बानियों को 'हरडे बानी' के रूप में कदाचित् उसी समय संगृहीत कर ली थी। रज्जबजी का 'अंगवंधू ग्रंथ' भी संभवतः उसी काल की रचना है तथा 'सर्वंगी' को भी उन्होंने सिक्खों के 'आदिग्रंथ' के पहले ही तैयार कर दिया था। इसी प्रकार जगन्नाथदास का संग्रह-ग्रंथ 'गुणगंजनामा' भी प्रायः उसी काल की रचना है। 'सर्वंगी' तथा 'गुणगंजनामा' के संग्रहकर्त्ताओं ने अपने गुरु दादू की रचनाओं के अतिरिक्त उन संत-बानियों को भी स्थान दिया जो उस समय बहुत प्रसिद्ध थीं। ऐसे संग्रहों में दादूदयाल की बानियाँ कुछ विस्तार के साथ रहा करती थीं, किंतु उनके अनंतर कबीर साहब, संत नामदेव, रैदासजी तथा हरिदास निरंजनी की रचनाओं को भी प्रमुख स्थान मिला करता था। इन पाँच प्रधान संतों के अतिरिक्त जिन अन्य लोगों की रचनाएँ इनमें पायी जाती हैं, उनमें रामानंद, पीपा, नरसी मेहता, सूरदास, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भरथरी, चर्पट नाथ, हाडीफा, गोपीचंद, शेख बहाउद्दीन, गुरु नानक, शेख फ़रीद तथा कमाल मुख्य कहे जा सकते हैं। ऐसे संग्रहों में अनेक रचनाएँ ऐसी भी पायी जाती हैं जिनका पता बहुत लोगों को अभी तक नहीं है। उनमें ऐसे संतों का भी परिचय मिल जाता है जो श्रेष्ठ होने पर भी अबतक विख्यात न थे। संत-बानियों की ऐसी अनेक ग्रंथ-राशियाँ अभी तक हस्तलिखित तथा अप्रकाशित पड़ी हुई हैं। यदि केवल दादू-द्वारों तथा दादू-पंथियों के गृहों में सुरक्षित संत-साहित्य का ही प्रकाशन किया

१. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १८६-७।

जा सके, तो एक बहुत बड़ा ग्रंथ-भंडार हमारे सामने आ जाय और हिंदी-साहित्य की श्री-वृद्धि में भी सहायता मिले ।

५. बावरी-पंथ

(१) प्रधान प्रवर्त्तक

परिचय

बावरी साहिबा की परंपरा संत-परंपरा की आधे दर्जन बड़ी परंपराओं में से एक है, इसका प्रभाव-क्षेत्र प्रधानतः दिल्ली प्रांत तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तक विस्तृत है । इसके अंतर्गत उच्च कोटि के अनेक महात्मा हो चुके हैं जिनके कारण कुछ नवीन पंथ भी प्रचलित हो गए हैं । फिर भी इस परंपरा का कोई क्रम-बद्ध इतिहास नहीं मिलता, न इसके प्रचारकों की इतनी रचनाएं ही मिलती हैं जिनके आधार पर कुछ निश्चित अनुमान किया जा सके । अनुश्रुतियों के अनुसार इसका प्रारंभ सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले से हुआ था, किंतु इसके पंथ की रूपरेखा दिल्ली प्रांत में जाकर निर्मित हुई । अपने अधिक वा पूर्ण विकास के लिए इसे फिर एक बार पूर्व की ओर ही लौटना पड़ा । पंथ के प्रथम पाँच प्रचारकों ने इसके संगठित करने का कदाचित् कुछ भी यत्न नहीं किया । इनमें से क्रमागत चतुर्थ प्रवर्त्तक को हम एक योग्य नारी बावरी साहबा के रूप में पाते हैं जिसका व्यक्तित्व विशेष-रूप से उल्लेखनीय रहा । इसके नाम पर इसी कारण यह परंपरा आज तक भी प्रसिद्ध चली आ रही है । उक्त पाँच प्रवर्त्तकों के अनंतर आगे वाले इसके छठें प्रधान व्यक्ति यारी साहब हुए जिन्होंने इसे सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप देने का यत्न किया । कुछ लोग इसी कारण इस परंपरा का नाम कभी-कभी यारी साहब की परंपरा ही रखना अधिक उचित समझते हैं । फिर भी इसका जितना प्रचार इनके शिष्य बूला साहब तथा प्रशिष्य गुलाल साहब के कारण इसके पूर्वी क्षेत्र में हुआ, उतना पश्चिमी क्षेत्र में न हो सका । आगे आनेवाले इधर के अनेक महापुरुषों ने अपने मत के अनुसार उपदेश देकर पंथ के जीवित तथा जागृत रखने की सदा चेष्टा की । अतएव समय पाकर इसका प्रधान केन्द्र वस्तुतः पश्चिम की ओर से हट कर पूर्व की ओर चला आया ।[1]

प्रथम तीन प्रवर्त्तक

बावरी साहिबा की परंपरा का आरंभ उसके आदि प्रवर्त्तक रामानंद से

---

१. उक्त संतों के विषय में एक दोहा इस प्रकार प्रसिद्ध है :

'यारी वारी प्रेम की, गाछी बूलादास ।
जन गुलाल परगट भयो, रामनाम खुशबास ।'

माना जाता है जो संभवतः प्रसिद्ध स्वामी रामानंद से भिन्न थे। इनका निवास-स्थान गाज़ीपुर जिले का कोई पटना नामक गाँव था जो वर्तमान रेलवे स्टेशन 'औंरिहार' के कुछ पश्चिम ओर बसा है। वहाँ पर गंगा के किनारे पेड़ों के घने झुरमुट में उक्त स्वामी जी की एक समाधि का होना भी बतलाया जाता है। उक्त रामानंद के शिष्य दयानंद भी उसी पटना गाँव के ही रहनेवाले थे, किंतु उनके शिष्य मायानंद किसी अन्य स्थान के निवासी थे और अपने मत का प्रचार उन्होंने किसी प्रकार सुदूर दिल्ली तक जाकर किया। दिल्ली में इस सम्प्रदाय का केन्द्र उनके पीछे आज भी वर्तमान है। उनके प्रशिष्य बीरू साहब के शिष्य यारी साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन महात्माओं के व्यक्तिगत जीवन अथवा आविर्भाव-काल के विषय में प्रायः कुछ भी पता नहीं है। इनकी किसी रचना का अवशेष चिह्न भी आज तक उपलब्ध नहीं, न इनके अनुयायियों तक को ही यह विदित है कि इनके मूल विचार क्या थे और इन्होंने किस प्रकार उसका प्रचार किया था। इनके संबंध की सारी बातें विस्मृति के गर्भ में लीन हो चुकी हैं। इनके नाम आजकल केवल इनके अनुयायियों द्वारा सुरक्षित वंशावली में ही रह गए हैं। पंथ वालों के अतिरिक्त इन्हें कदाचित् कोई भी नहीं जानता।

बावरी साहिबा

पंथ के मठों में सुरक्षित वंशावली से पता चलता है कि बावरी साहिबा उक्त मायानंद की शिष्या थीं। इनके अनुयायियों का कहना है कि ये किसी उच्च कुल की महिला थीं। सत्य की खोज में पड़ कर इन्हें बहुत कुछ कष्ट भी झेलने पड़े थे। कई साधु-संतों के साथ सत्संग करने के अनंतर इन्हें अंत में मायानंद मिले और उनके उपदेशों से प्रभावित हो इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। अनुमान किया जाता है कि इनका आविर्भाव प्रसिद्ध सम्राट् अकबर के समय अर्थात् संवत् १५६६: १६६२ के लगभग हुआ था। इस प्रकार ये संत दादू दयाल (सं० १६०१ : १६६०) की समकालीन थीं। इनके पंथ वालों के पवित्र स्थानों में इनका एक चित्र पाया जाता है जिसमें इन्हें दायें हाथ में एक मोरछल लेकर और बायाँ हाथ किसी आधारी लकड़ी पर टेक कर बैठी हुई किसी अन्यमनस्क, किंतु आनंद-विमोर भक्तिन के रूप में दिखलाया गया है। लगभग इसी प्रकार का एक चित्र 'ब्रजचंद चकोरी मीराँ' नाम की पुस्तक आदि में मीराँबाई का कहकर भी दिया गया है। इसके सिर की ओर देखने से अनुमान होता है कि इनके बालों का जूड़ा किसी चीज से दो-तीन लपेटों में बँधा हुआ है और बाँधनेवाली वस्तु जटा के ढंग की बनी जान पड़ती है। वैसी ही कोई वस्तु इनके शिष्य बीरू साहब के चित्र में भी उनकी टोपी के इर्द-गिर्द बँधी हुई

दीख पड़ती है, किंतु वह जटा नहीं हो सकती। बावरी साहिबा के सिर पर इस प्रकार बँधी हुई उक्त वस्तु, यदि किसी भेष-विशेष की द्योतक हो तो इनके मूल सम्प्रदाय के संबंध में भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है। जो हो, इनके व्यक्तिगत जीवन की किसी घटना अथवा इनकी किसी विस्तृत रचना का भी हमें पता नहीं जिससे इन-जैसी बातों के विषय में कोई धारणा निश्चित करने में सहायता मिल सके।

इनके नाम की सार्थकता

'बावरी' शब्द का अर्थ बावली या पगली होता है। इसलिए यह नाम इनका उपनाम-सा ही जान पड़ता है। परन्तु ऐसा मान लेने पर इनके मूल नाम का पता चलाना भी बहुत कठिन हो जाता है। इनका परिचय देनेवाले लोगों ने इनके विषय में लिखते समय बहुधा एक सवैया उद्धृत किया है जो कदाचित् इन्हीं की रचना समझी जाती है। उसमें कहा गया है, "बावरी कहती है कि हे प्रभो, आपकी विचित्र लीला के विषय में क्या कहा जाय! मेरा मन तो सदा पतंग की भाँति उससे आकृष्ट होकर चक्कर काटता रहता है। इस चक्कर मारने वा 'भाँवरी भरने' का रहस्य केवल उन्हीं को विदित है जो तुम्हारे रूप की माधुरी का अनुभव अपने हृदय में कर चुके हैं। उस मनोमोहनी मूर्ति की झलक दिखला कर तुम अनंत का ज्ञान प्रदान करते हो। मैं तो तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ कि तुम्हारी गतिविधि को देख कर मेरी बुद्धि हैरान हो गई है। उसकी दशा पगली की-सी हो गई है और मैं अब सचमुच 'बावरी' हूँ।"[१] इस प्रकार इस पद्य द्वारा इनके नाम की सार्थकता सिद्ध होती है। यह भी लक्षित होता है कि इनकी लगन परमात्मा के प्रति कितनी सच्ची थी तथा उसका वास्तविक रूप क्या था।

बीरू साहब

बावरी साहिबा के शिष्य बीरू साहब के विषय में भी हमें अधिक पता नहीं चलता। इनके संबंध में भी केवल इतना ही कहा गया मिलता है कि ये किसी उच्च घराने के वंशज थे और उनके गुरुमुख चेले थे। ये बावरी साहिबा का देहांत हो जाने पर उनकी गद्दी पर बैठे थे। उनके कदाचित् ये इकलौते शिष्य थे और दिल्ली में ही रह कर इन्होंने बहुत दिनों तक सत्संग किया तथा कराया था। फिर भी इनकी उपलब्ध रचनाओं की भाषा में पाये जानेवाले 'बाझल', 'आयल',

---

१. 'बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भांवरी।
भांवरी जानहिं संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी।
सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खांवरी सोंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी।'

'रहल', 'राखिलो', 'लागिलो', 'देखिलो', 'मोर' तथा 'करबो'-जैसे शब्दों द्वारा प्रतीत होता है कि इनका संबंध किसी पूर्वी प्रांत से भी अवश्य रहा होगा। वह प्रदेश संभवतः पंथ के आदि पुरुष रामानंद तथा दयानंद की जन्म-भूमि रही होगी। इनके चित्र में प्रदर्शित इनकी धोती और इनका अंगरखा भी इनका संबंध किसी पूर्व वाले प्रदेश के ही साथ सूचित करते हुए जान पड़ते हैं। इनके चित्र के देखने से पता चलता है कि ये अपने हाथ में एक सितार-जैसा वाद्ययंत्र भी लिये रहते थे, तदनुसार ये संगीत-प्रेमी भी रहे होंगे। इनके भी व्यक्तिगत जीवन की किसी घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, न यही विदित होता है कि किस परिस्थिति में इन्होंने इस पंथ में प्रवेश किया था। वास्तव में पंथ के मूल प्रवर्त्तक रामानंद से लेकर बीरू साहब तक पाँच महात्माओं का उक्त परिचय भी बहुत कुछ इस पंथ वालों की कतिपय मान्यताओं पर ही आश्रित जान पड़ता है। इस बात के लिए भी कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि आगे आनेवाली यारी साहब की परंपरा का संबंध इससे अवश्य ही रहा होगा।

यारी साहब

यारी साहब उक्त बीरू साहब के दीक्षित शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्दी की परंपरा दिल्ली में आज तक भी चल रही है। इनका मूल नाम यार मुहम्मद रहा। कहा जाता है कि इनका पूर्व संबंध किसी शाही घराने से था तथा ये शाहजादा भी रह चुके थे। पीछे इनकी मनोवृत्ति अपने ऐश्वर्यमय जीवन की ओर से किसी प्रकार हट गई और ये विरक्त होकर सत्य की खोज में लग गए। ऐसी दशा में किसी समय इनकी भेंट बीरू साहब के साथ हुई और उनके द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित हो इन्होंने उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इनका सत्संग पहले सूफ़ी पीरों के साथ भी अवश्य हुआ होगा। उनके उपदेशों से तृप्त न होकर ही अंत में इन्होंने बीरू साहब से दीक्षा भी ग्रहण की होगी। इनके जीवन-काल के विषय में अभी तक अनुमान से ही काम लिया जाता है। इनकी समाधि दिल्ली नगर में वर्तमान कही जाती है। इनके चार चेलों अर्थात् केशवदास, सूफ़ीशाह, शेखन शाह और हस्त मुहम्मद ने इनके मत का प्रचार दिल्ली की ओर किया। इनके पाँचवें शिष्य बूला साहब ने इनके पंथ की एक शाखा भुरकुड़ा, जिला गाज़ीपुर में प्रतिष्ठित की जो अब तक चल रही है। यारी साहब की रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'रत्नावली' नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनकी कुछ अन्य फुटकर रचनाएँ भी कई संग्रहों में मिलती

हैं। 'रत्नावली' के संपादक ने इनके आविर्भाव का समय स० १७२५ और १७८० के बीच बतलाया है। किंतु अनुमान से जान पड़ता है कि इनका देहांत उक्त काल के पूर्वार्द्ध में ही किसी समय हो चुका होगा। ये संभवत: संत मलूकदास (मृ० सं० १७३९) तथा संत प्राणनाथ (मृ० सं० १७५१) के समकालीन रहे होंगे।

केशवदास तथा सूफ़ीशाह

यारी साहब की रचनाओं से विदित होता है कि ये एक मस्त मौला फ़कीर थे। इनकी साधना बड़े ऊँचे पैमाने की थी। इनके पश्चिमी क्षेत्र वाले चार शिष्यों में सर्वप्रसिद्ध केशवदास हुए जो जाति के बनिया थे और कहीं उसी ओर के रहनेवाले थे। इनकी भी एक रचना 'अमीघूँट' के नाम से उक्त प्रेस द्वार प्रकाशित हो चुकी है।[1] इसके कई स्थलों पर इन्होंने यारी साहब का अपना गुरु स्वीकार कर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की है।[2] इससे प्रतीत होता है कि निर्गुण वा संत जनानुमोदित परमतत्त्व को सर्वोच्च पदस्थ सम्राट् की पदवी देकर इन्होंने अपने गुरु यारी साहब को उसके पद की अनुभूति उपलब्ध करनेवाला मार्ग-प्रदर्शक माना है। केशवदास भी अपने गुरु की ही भाँति एक पहुँचे हुए साधक जान पड़ते हैं। इनकी रचनाओं में भी प्राय: उसी प्रकार के आत्मबल तथा गंभीरता की छाप लक्षित होती है। इनके पश्चिमी क्षेत्र वाले गुरु-भाई सूफ़ीशाह की रचनाएँ उनके उपनाम 'शाह फ़कीर' के साथ मिलती हैं। उनकी भाषा अधिकतर फ़ारसी-मिश्रित है। केशवदास का समय सं० १७५० और १८२५ के बीच बतलाया जाता है जो लगभग २५ वर्ष पीछे टल गया हुआ समझ पड़ता है।। कहा जाता है कि इस पश्चिमी क्षेत्र

---

१. महर्षि शिवव्रत लाल ने अपनी 'संतमाल' (पृ० २४९) में 'अमीघूँट' के रचयिता को जगजीवन साहब का शिष्य होना लिखा है जो ठीक नहीं है। केशवदास की अमीघूँट, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१४ ई०, पृ० २। 'महात्माओं की वाणी (पृ० १३-८) में 'केशवदासजी की रास' के नाम से भी इनकी एक रचना संकलित की गई है, जिससे तुलना करने पर अंतर कम लक्षित होता है, किंतु 'संत वाणी' (आरा, वर्ष ६, अंक ८, पृ० ३-१०) में प्रकाशित साखियों के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं की हैं वा नहीं। —लेखक।

२. निर्गुन राज समाज है, चंवर सिंहासन छत्र।
तेहि चढ़ि यारी गुरु दियो, केसोहि अजपा मंत्र ।।२

का प्रधान केन्द्र दिल्ली नगर में अब तक वर्तमान है, किंतु उसकी परंपरा के अन्य संतों के विषय में कुछ पता नहीं चलता ।

बुलाकीराम और उनके जमींदार

बावरी-पंथ की पूर्वी क्षेत्रवाली परंपरा अभी तक अविच्छिन्न रूप में चल रही है और भिन्न-भिन्न मठों का कुछ-न-कुछ परिचय भी उपलब्ध है। यारी साहब के प्रसिद्ध पाँचवें शिष्य बूला साहब गाज़ीपुर जिले के भुरकुड़ा नामक गाँव के निवासी थे और जाति के कुनबी वा कुर्मी थे। ये एक जमींदार के यहाँ हल चलाने का काम किया करते थे। इनका नाम भी पहले बुलाकी राम था। क्रुक साहब का कहना है कि भुरकुड़ा के जमीदार मर्दन सिंह मालगुजारी न दे सकने के कारण गिरफ्तार होकर दिल्ली गये थे। उन्हें सूबेदार ने वहाँ भेज दिया था और वह वहाँ कैद भी हो गए थे। उन्हीं का एक नौकर यारी साहब के यहाँ आता-जाता रहा। यारी साहब ने मर्दन सिंह की रिहाई के लिए आशीर्वाद दिया और नौकर तथा मालिक ने घर लौट कर उनका पथ चलाया।[1] परन्तु भुरकुड़ा की ओर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार मर्दन सिंह धानापुर, जिला बनारस के रहनेवाले जाति के क्षत्रिय जमींदार थे। काशीनरेश महाराजा बलवंत सिंह के समय में ये उस प्रांत के चकलेदार भी थे। गुलाल साहब (बूला साहब के शिष्य) को देख कर उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो ये उनके शिष्य हो गए थे। इन्होंने अपना घर-बार भी छोड़ दिया था। इनका एक पक्का मकान (दमदमा) इनके स्मारक के रूप में बना हुआ आज भी वर्तमान है।[2] अतएव मर्दन सिंह का कोई संबंध बूला साहब के साथ होना संभव नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय मर्दन सिंह का एक चित्र भुरकुड़ा मठ में सुरक्षित चित्रावली के लगभग अंत में दिया हुआ है। किंतु गुलाल साहब का चित्र उसी में इनके चित्र के पहले और बूला साहब वाले चित्र के अनंतर ही दिया हुआ है। इस बात से भी सूचित होता है कि मर्दन सिंह का संबंध बूला साहब से न होकर गुलाल साहब से ही रहा होगा तथा उपर्युक्त जमींदार मर्दन सिंह नहीं रहे होंगे।

यारी साहब से भेंट तथा दीक्षा

भुरकुड़ा की ओर प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार बुलाकी राम एक बार अपने

---

१. क्रुक : ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एंड अवध, भा० २, पृ० ४६-७ ।

२. महात्माओं की बानी, सं० महंथ बाबा रामबरन दास साहब, भुरकुड़ा, गाजीपुर, सन् १६३३ ई०, पृ० '८१' ।

मालिक के साथ किसी मुकदमे की पैरवी के सिलसिले में दिल्ली गये और वहाँ पर उन्हें कुछ दिनों के लिए ठहर जाना भी पड़ा। वहाँ रहते समय ये अवकाश पाकर वहाँ के प्रसिद्ध यार मुहम्मद शाह वा यारी साहब के निवास-स्थान पर कभी-कभी बैठने लगे। इनके ऊपर वहाँ पर चलनेवाले सत्संग का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। एक दिन इन्होंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भी अपने मत में दीक्षित कर अपना लीजिए। यारी साहब ने इनकी निष्ठा देख कर इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्हें कुछ रहस्यमयी बातों के उपदेश देकर अपने मार्ग से इन्हें परिचित भी करा दिया। इन्होंने तब से अपने मालिक के साथ रहना उचित नहीं समझा और उसे छोड़ कर ये नगर से बाहर निकल पड़े। वहाँ से चल देने के अनंतर भ्रमण करते हुए ये कुछ दिनों में सरदहा गाँव, जिला बाराबंकी पहुँचे। वहाँ पर इन्होंने अपने एक साथी फ़कीर के साथ बालक जगजीवन को उपदेश देकर सन्मार्ग दिखलाया। वहाँ से घूमते-घूमते ये फिर अपने पूर्व निवास-स्थान भुरकुड़ा लौट आए।

हलवाही की घटना

इधर जब इनके मालिक को इनका कहीं पता न चला, तब वे अपना कार्य समाप्त हो जाने पर अकेले ही घर लौटे। वे यहाँ पहुँच कर इनका पता लगाने की चिंता में सदा व्यस्त रहने लगे। उन्हें बराबर यही आशा थी कि ये कभी-न-कभी अवश्य लौटेंगे। कुछ काल तक यों ही प्रतीक्षा करने के अनंतर इन्हें एक दिन चरवाहों से पता चला कि कोई बुलाकी राम जैसा ही व्यक्ति निकट-वर्त्ती जंगलों में साधु के भेष में रहा करता है और वहाँ की झाड़ियों में इधर-उधर भटकता फिरता है। यह समाचार पाकर वे इन्हें ढूँढ़ते हुए इनके पास पहुँचे। इन्हें किसी प्रकार समझा-बुझा कर अपने घर लाये और उन्होंने हलवाही का काम फिर इनके सिपुर्द कर दिया। परन्तु बुलाकी राम अब पहले की भाँति एक साधारण हलवाहा नहीं रह गए थे। इनके ऊपर आध्यात्मिक जीवन का रंग भरपूर चढ़ चुका था। तदनुसार अपना हल चलाते समय भी इनका ध्यान अधिक-तर दूसरी ओर ही रहा करता। ये उसी में सदा मस्त रहा करते थे। एक दिन जब ये खेत में हल चलाते समय वहीं किसी मेंड पर ध्यानावस्थित हो गए थे, इनके मालिक अचानक पहुँच गए। इनको इस प्रकार बैठे-बैठे समय गँवाते देख कर क्रोधवश उन्होंने इन्हें पीछे से धक्का दे दिया। प्रसिद्ध है कि उस चोट के लगते ही ये मुँह के बल गिर पड़े। इनके हाथ से दही छलक पड़ा जिसे देख कर इनके मालिक को महान् आश्चर्य हुआ। उनके बार-बार पूछने पर इन्होंने बतलाया कि मैं उस समय कुछ संतों को भोजन कराने में लगा हुआ था।

उन्हें खाने के लिए दही परसने जा रहा था, जो आपसे धक्का लग जाने के कारण मेरे हाथ से गिर पड़ा और मैं उक्त सेवा-कार्य से वंचित रह गया। बुलाकी राम के इस कथन का इनके मालिक पर ऐसा मार्मिक प्रभाव पड़ा कि वे उसी समय इनके चरणों में गिर पड़े और इनके शिष्य बन गए।

बूला साहब

बुलाकी राम तब से बूला साहब के नाम से प्रसिद्ध हो चले और अपनी उक्त नौकरी का त्याग कर फिर ये जंगल चले गये। जंगलों में रहते समय इन्होंने अब अपने लिए एक कुटी बना ली और वहीं रह कर सत्संग का कार्य चलाने लगे। इनकी कुटी जिस जंगल में बनी हुई थी, वह इस समय 'रामबन' के नाम से प्रसिद्ध है, किंतु अब वह जंगल के रूप में ही नहीं रह गया। बूला साहब ने ७७ वर्ष की आयु में सं० १७६६ में अपना चोला छोड़ा। इनकी कुटी के निकट ही इनकी समाधि बनी। इनका जन्म सं० १६८९ में हुआ था। इनकी शिक्षा के विषय में कुछ पता नहीं चलता, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से जान पड़ता है कि इनकी पहुँच ऊँची थी। इन्होंने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। नामदेव, सदना, सेन. कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना, नानक तथा कान्हड़दास को आदर्शवत् माना है तथा अपने गुरु-भाई केशवदास को भी उसी भाँति हरि के पास रहनेवाला बतलाया है।[1] इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बूला साहब का शब्दसार' के नाम के 'वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

गुलाल साहब

बूला साहब का देहांत हो जाने पर उनके पूर्व-मालिक उनके शिष्य तथा उत्तराधिकारी के रूप में गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये जाति के क्षत्रिय थे और बँसहरि तालुका, परगना शादियाबाद तहसील तथा जिला गाज़ीपुर के जमींदार थे जिसके अंदर उक्त भुरकुड़ा गाँव भी पड़ता है। इन्होंने एक पद में अपने को 'बंसहरिया' वा बँसहर का रहनेवाला स्पष्ट शब्दों में कहा भी है।[2]" इनके

१. बूल्ला साहब का शब्दसार, पृ० २० तथा ३२।

२. 'गगन मगन धुनि गाजे हो, देखि अधर अकास।
जन गुलाल बंसहरिया हो, तहं करहि निवास।१'
—गुलाल साहब की बानी, पृ० ३१, पंक्ति १२-जहाँ पर 'बंसहरिया' की जगह भ्रमवश 'बसिहरि' पद पाठ दिया गया है। फिर भी, 'बंसहरिया' पाठ ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है और वही शुद्ध भी है।

तथा उनके नौकर बुलाकीराम की चर्चा बूला साहब वाले प्रकरण में की जा चुकी है। इनके हृदय की उदारता तथा भावुकता का पता केवल इसी एक बात से लग सकता है कि अपने नीच टहलुए के भी आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उस समय से ये अपने सारे पूर्व-संस्कारों को भुला कर उसके सच्चे सेवक तथा अनुयायी तक बन गए। इन्होंने भी अपनी रचनाओं में अपने पूर्ववर्ती संतों के नाम बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ लिये हैं। उनकी तालिका में दो-एक सगुणोपासक भक्तों का भी उल्लेख किया है।[1] वास्तव में इनकी रचनाओं के अंतर्गत हमें भक्ति की भावना इनके गुरु वा दादा-गुरु से कहीं अधिक मात्रा में दीख पड़ती है। इनकी कुछ रचनाओं का संग्रह 'गुलाल साहब की बानी' के नाम से वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इनके बहुत-से अन्य पद महात्माओं की बानी में भी मिलते हैं जो इनके प्रधान मठ भुरकुड़ा से प्रकाशित है। इनके तीन अन्य ग्रंथ 'ज्ञान-गुष्टि' 'रामदरियाव' तथा 'रामसहस्र नाम' के भी नाम सुनने में आते हैं। इनकी भाषा में भोजपुरी शब्द तथा मुहावरे की भरमार है।

भीखा साहब

बूला साहब के दो प्रधान शिष्यों में से प्रथम अर्थात् जगजीवन साहब ने अपने मुख्य केन्द्र कोटवा से सत्यनामी सम्प्रदाय का प्रचार किया। उसी प्रकार उनके द्वितीय शिष्य गुलाल साहब ने अपने केन्द्र भुरकुड़ा से उनके मूल मत को प्रचलित किया। गुलाल साहब अपने गुरु बूला साहब की गद्दी पर उनके अनंतर सं० १७९६ में आसीन हुए जहाँ पर इन्होंने सं० १८१७ में इहलोक से यात्रा की। गुलाल साहब के भी दो शिष्य प्रधान थे जिनमें से एक का नाम भीखा साहब और दूसरे का हरलाल साहब था। भीखा साहब का पूर्व-नाम भीखानंद चौबे था। इनका जन्म जिला आज़मगढ़ के परगना मुहम्मदाबाद में वर्तमान जहाँनाबाद के निकट खानपुर बोहना गाँव में हुआ था। अपनी आयु के आठवें वर्ष से ही इन्हें साधुओं के साथ उठने-बैठने तथा उनसे सत्संग करने का स्वभाव पड़ गया था। इस कारण इनका माता-पिता ने इनके विवाह बारहवें वर्ष में करके इन पर गृहस्थी का भार डाल देना चाहा। परन्तु तिलक के लिए निश्चित दिन को ही ये किसी बहाने से अपना घर छोड़ बाहर निकल पड़े और देशाटन करने में लग गए। ये भ्रमण करते हुए जब काशी पहुँचे, तब वहाँ पर रह कर इन्होंने कुछ शास्त्राध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन करना चाहा। किंतु कुछ ही दिनों में

---

१. गुलाल साहब की बानी, पृ० ६४ तथा १३३।

इनका जी वहाँ से भी उचट गया और अपने हृदय में शांति आती हुई न पाकर वहाँ से ये अपनी जन्म-भूमि की ओर लौट पड़े।

आत्म-परिचय

अपनी लौटती यात्रा में जब ये घूमते-घामते जिला ग़ाज़ीपुर के सैदपुर भीतरी परगने के अमुआरा गाँव में पहुँचे, तब उन्हें किसी देव-मंदिर में गाते हुए एक गवैये के मुख से गुलाल साहब की बनायी हुई एक ध्रुपद सुनायी पड़ी, जिसे सुनते ही ये अत्यंत प्रभावित हो गए। इन्होंने गवैये के निकट जाकर उससे उक्त पद के रचयिता का परिचय पूछा। यह जान कर कि वह भुरकुड़ा के संत गुलाल साहब की रचना है, वहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरे और उनसे भेंट करने के उद्देश्य से वहाँ से शीघ्र चल पड़े। जब ये भुरकुड़ा पहुँचे, तब गुलाल साहब को वहाँ इन्होंने अपने शिष्यों के साथ सत्संग करते हुए पाया और उनके निकट जाकर इन्होंने अपनी जिज्ञासा उनके सामने प्रकट कर दी। गुलाल साहब के सुंदर शरीर तथा शीलपूर्ण व्यवहार से ये प्रथम दृष्टिपात के क्षण से ही प्रभावित हो चुके थे। इनके आनंद का पारावार न रहा, जब उन्होंने वैसी ही उदारता के साथ इनकी सारी बातें सुन लीं और इन्हें संतोषपूर्ण उत्तर देकर अपना शिष्य भी बना लिया। अपने व्यक्तिगत परिचय, सत्यान्वेषण की चेष्टा तथा गुलाल साहब के साथ प्रथम मिलन की चर्चा ये अपने पदों द्वारा स्वयं भी करते हैं।[1]

---

१ 'जनम अस्थान खानपुर बुहना. सेवत चरन भिखानंद चौबे ॥४॥
—भीखा साहब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ६।
बीते बारह बरस उपजी रामनाम सों प्रीति।
निपट लागि चटपटी मानो, चारिउ पन गयो बीति ॥१॥
नहिं खान पान सोहात तेहि छिन, बहुत तन दुर्बल हुआ।
घर ग्राम लाग्यो विषम धन, मानो सकल हारो है जुवा ॥२॥'

• • • • • •

'सतसंग खोजी चित्तसो जहं बसत अलख अलेख है।
कृपा करि कब मिलहिंगे दहु कहां कौन भेष है ॥४॥
कोउ कहेउ साधू है बहु बनारस, भक्तिबीज सदा रह्यौ।
तहं सास्त्र मतको ज्ञान है गुरु भेद काहु नहिं कह्यौ ॥५॥'

• • • • • •

'चल्यों विरह जगाय छिनबिछ उठत मन अनुराग।
दहुं कौन दिन अरु घरी पल कब खुलैगो मम भाग ॥७॥'

शिष्य तथा रचनाएँ

भीखा साहब आगे चल कर एक बड़े तेजस्वी महात्मा हुए। गुलाल साहब का देहांत हो जाने पर ये उनके उत्तराधिकारी भी बने। ये सं० १८१७ में उनकी गद्दी पर आसीन हुए और ३१ वर्षों तक निरंतर सत्संग कर-करा कर इन्होंने सं० १८४८ में अपना शरीर छोड़ा। इनके दो प्रधान शिष्यों में से प्रधान गोविंद साहब थे, जिन्होंने अपने गुरु से आज्ञा लेकर जिला फैज़ाबाद के अहरौला गाँव में अपनी गद्दी चलायी। इनके दूसरे शिष्य चतुर्भुज साहब थे जो इनकी जगह भुरकुड़ा गाँव में ही इनके उत्तराधिकारी बने। भीखा साहब की रचनाओं में १. रामकुंडलिया २. रामसहस्रनाम ३. रामसबद ४. रामराग ५. रामकवित्त और ६. भगत बच्छावली के नाम सुने जाते हैं। इनकी विविध कृतियों का एक संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा 'भीखा साहब की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उक्त अप्रकाशित ग्रंथों में सबसे बड़ा ग्रंथ 'रामसबद' है जिसमें भीखा-साहब के अतिरिक्त कुछ अन्य संतों की रचनाएँ भी जोड़ी गई हैं वा भावसाम्य वाले पदों के रूप में उद्धृत हैं और अधिकतर चुने हुए होने के कारण उत्कृष्ट भावों के परिचायक हैं। इनकी 'भगत बच्छावली' में भिन्न-भिन्न अनेक भक्तों का शब्द-हिंडोलना पर झूलना दिखलाया गया है। इस प्रकार उसके अंतर्गत विविध पौराणिक भक्तों, नाथपंथी-योगियों तथा संतो के नाम आ गए हैं। गुलाल साहब की रचनाओं में जिस प्रकार आत्मानुभव-संबंधी वर्णनों का बाहुल्य है और उनका प्रवाह भी उल्लेखनीय है, उसी प्रकार भीखा साहब की पंक्तियों में आत्म-

---

. . . . . .

इक ध्रुपद बहुत विचित्र सूनत भोग पूछेउ है कहाँ।
नियरे भुरकड़ा ग्राम जाके, सब्द आये हैं जहाँ ॥९॥
चोपलागी बहुत जायके चरन पर सिर नाइया।
पूछेउ कहा कहि दियो आदर सहित मोहि बैसाइया ॥१०॥
—भीखा साहब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० १६-१७।
'गुरु दाता छत्री सनि पाया। सिष्य होन द्विज जाचक आया ॥१॥'
देखत सुभग सुंदर अति काया। बचन सप्रेम दीन पर दाया ॥२॥

. . . . . .

बूझि विचारि समुझि ठहराया। तन मन सों चरनन चित लाया ॥३॥
'सर्वदान दियो रूप विचारी। पाय मगन भयो विप्र भिखारी' ॥६॥२
—वही, पृ० १९-२०।

निवेदन की मात्रा अधिक है। उनका गेयत्व भी हमें शीघ्र आकृष्ट कर लेता है। इनके किसी वृहद् ग्रंथ 'राम जहाज' की चर्चा भी की जाती है ।

शिष्य-परंपरा

भीखा साहब के प्रधान केन्द्रस्थ उत्तराधिकारी चतुर्भुज साहब जाति के ब्राह्मण थे और उनका जन्म-स्थान बनारस जिले का काबरि नामक गाँव था। ये परमात्मा की खोज में अपने निवास-स्थान से चल कर भुरकुड़ा तक आये थे और वहाँ भीखा साहब से प्रभावित हो उनके शिष्य हो गए थे। भीखा साहब के मर जाने पर ये सं० १८४६ में उनकी गद्दी पर बैठे और सं० १८७५ में वहीं पर इनका भी देहांत हो गया। इनकी केवल थोड़ी-सी ही बानियाँ कई संग्रहों में इधर-उधर बिखरी हुई मिलती हैं जिनसे एक परमात्म-निष्ठ सच्चे फ़कीर होने का अच्छा प्रमाण पाया जाता है। इनका देहांत हो जाने पर इनके शिष्य नरसिह साहब इनकी गद्दी पर सं० १८७६ में बैठे और सं० १९०६ तक जीवित रहे । ये गाज़ीपुर जिले के किसी शेख़नपुर गाँव के निवासी थे और जाति के क्षत्रिय थे। ये ३० वर्षो तक अपने मठ में रह कर धर्मोपदेश करते रहे । नरसिह साहब के पीछे इनके शिष्य कुमार साहब सं० १९०७ में भुरकुड़ा की गद्दी पर बैठे और सं० १९३६ तक उसके अनुकूल कार्य करते रहे। ये तालिमपुर, जिला बलिया के रहनेवाले किसी क्षत्रिय पिता के पुत्र थे। बलिया के ददरी मेले के अवसर पर विरक्त होकर ये भुरकुड़ा चले गए थे। कहते हैं कि इन्हें सर्वप्रथम प्रेरणा चीट बड़ागाँव के महंत देवकीनंदन (मृ० सं० १९१३) से मिली थी जिन्होंने इन्हें समझा-बुझा कर भुरकुड़ा भेज दिया था। कुमार साहब का सं० १९३६ में देहांत हो जाने पर इनके शिष्य रामहित साहब सं० १९३७ में भुरकुड़ा की गद्दी पर बैठे थे। ये भी जिला बलिया के ही किसी गेल्हुवा नामक गाँव के निवासी क्षत्रिय-कुल के बालक थे और अपनी वृद्धावस्था में इन्हें उक्त उत्तराधिकार मिला था। इनका देहांत सं० १९४९ में हुआ और इनके स्थान पर जैनारायण साहब सं० १९५० में बैठे थे। ये भी जाति के बरहिया राजपूत थे, विरक्त होकर अपने जन्म-स्थान से भुरकुड़ा तक आये थे और अपनी साधना तथा सच्चरित्रता के लिए परम प्रसिद्ध थे। इनका देहांत सं० १९८१ में हुआ। इनकी जगह रामबरनदास महंत हुए जो संभवतः आज तक भुरकुड़ा में विद्यमान हैं।

---

१. परन्तु "तत्त्व वेद पुराण है, विद्या माई चंद ।
जग पापिन को तारिके, नभ गये भीखानंद ॥" के आधार पर यह समय १८४५ बतलाया गया है ।
—दे० हिंदुस्तानी प्रयाग, भा० १९ अं० ४, पृ० ८० ।

हरलाल साहब की शिष्य-पंपरा

भीखा साहब के गुरु-भाई हरलाल साहब ने अपने निवास-स्थान चीट बड़ागाँव, जिला बलिया मे अपनी शाखा प्रवर्त्तित की। ये सदा गृहस्थाश्रम में ही रहते रहे, किंतु अपनी आध्यात्मिक साधना तथा चरित्रबल के कारण, इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई। कहते हैं कि एक बार गाज़ीपुर के किसी नवाब ने इनके जीवन-काल में चीट बड़ागाँव पर आक्रमण किया। वह इसके पश्चात् इनसे अपनी विजय का वरदान माँगने आया जिसे इनकार कर देने पर उसने इनकी गर्दन धड़ से उड़ा दी। प्रसिद्ध है कि इसके परिणामस्वरूप आज भी इनके सिर तथा धड़ की दो पृथक्-पृथक् समाधियाँ बनी हुई बतलायी जाती हैं। इनके गद्दी पर बैठने का समय सं० १७७१ बतलाया जाता है तथा इनकी मृत्यु का सं० १७८० में होना कहा जाता है। इनकी चलाई हुई शिष्य-परंपरा उक्त चीट बड़ागाँव में अभी तक उसी प्रकार विद्यमान है। इसमें कई उच्च कोटि के महापुरुष हो चुके है। इनकी गद्दी के स्थान को 'रामशाला' कहते हैं जहाँ पर महंत का आसन रहता है। उसी के निकट उसके पूर्ववर्त्ती महंतों के स्मारक भी बने हुए दीख पड़ते हैं। हरलाल साहब की शिष्य-परंपरा के लोगों ने जितना ध्यान विशुद्ध सात्विक जीवन की ओर दिया उतना समय रचनाओं के निर्माण में नहीं लगाया। इस कारण इस शाखा वालों के यहाँ बहुत से ग्रंथ नही पाये जाते। इनमें सबसे प्रसिद्ध संत कवि देवकीनंदन साहब कहे जा सकते हैं जो महंत तेजधारी साहब (मृ० स० १८७६) के पुत्र और उत्तराधिकारी थे और जो सं० १८६० के लगभग उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि ये अपने पिता की गद्दी पर संवत् १८८० में आसीन हुए और इनका देहांत श्रावण शुक्ला ९ रविवार सं० १९१३ को हुआ। अपने गहरे आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर इन्होंने, १. शब्द, २. चतुरमासा, ३. कुंडलियाँ, ४. कृष्णचरित्र तथा फुटकर पद्यों की रचना की है। इनके अंतर्गत निर्गुण परमात्मा के अतिरिक्त सगुण श्रीकृष्णावतार परक सुंदर बानियाँ भी अच्छी संख्या में पायी जाती हैं। इस शाखा के अन्य अनुयायियों में अजबदास, गरीबदास, विरंच गोसाई, मकरंद दास, आदि कुछ लोगों की भी फुटकर रचनाएँ उपलब्ध कही जाती हैं।

गोविंद साहब

संत भीखा साहब के प्रथम शिष्य गोविंद साहब के विषय में केवल यही प्रसिद्ध रहा है कि ये फ़ैज़ाबाद जिले के अहिरौली में रहा करते थे। परन्तु गैबदास भिक्षु के अनुसार इनका जन्म तमसा तटवर्त्ती नग जलालपुर, जिला फ़ैज़ाबाद

में हुआ था। ये जाति के पंक्तिपावन सरयूपारीण ब्राह्मण थे और इनका आस्पद 'दूबे' का था। इनका पूर्व-नाम 'गोविंदधर' था, इनके पिता पृथुधर के नाम से अभिहित होते थे और इनकी माता दुलारी देवी कहला कर प्रसिद्ध थी। अपने भाई के मुख से कोई मर्म-वचन सुन कर इन्होंने गृह-त्याग कर दिया और ये जानकी-दास नामक एक साधु के संपर्क में आ गये। परन्तु इन्हे उनसे पूरी शांति नहीं मिल सकी और ये जगन्नाथपुरी की ओर चल पड़े। कहते है कि इस पुरी-यात्रा के ही समय, इनकी भेंट भीखा साहब से हो गई जिनके साथ सत्संग होने पर उन्हें इन्होंने अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इनकी शिक्षा अथवा इनके व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध अन्य बातों का यथेष्ट परिचय नही मिलता। इतना कहा जाता है कि इनका जन्म अगहन सुदी १० रविवार सं० १७८२ को हुआ था। इनका देहांत फागुन सुदी ११ सोमवार सं० १८७९ को हुआ। ये नग जलालपुर से हट कर पीछे इमादपुर चले आये थे जहाँ से ये अंत में अहिरौली पहुँचे। इनके नाम पर यह गाँव 'गोविंद साहब' कहला कर प्रसिद्ध हुआ। इनके शिष्यों में सर्वप्रमुख पलटू साहब थे जो कुछ दिनों तक इनके यजमान रह चुके थे तथा वे इनके साथ कुछ साधना भी कर चुके थे। इनके अन्य शिष्यों में कृपादास (कलवार), बेनीदास, रामचरनदास, भानदास, इच्छासाहब, मोती-दास, घनश्यामदास तथा अयोध्यदास थे। इनकी रचनाओं में 'सत्यसार', 'सत्यटेर', 'सत्यटोप', 'ज्ञान गुह्य' आदि हिंदी की पुस्तकें तथा 'गोविंद योगभास्कर' नामक एक संस्कृत-ग्रंथ भी प्रसिद्ध है। इनमें से केवल प्रथम दो का ही अभी तक प्रकाशन हो पाया है। उक्त गैबदास भिक्षु ने इनके जीवन से संबद्ध अनेक बातों का संग्रह करके उनके आधार पर इनका एक परिचय 'गोविंद साहब का जीवन चरित्र'[1] नाम से प्रकाशित किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण बातों का भी उल्लेख किया है।

पलटू साहब

गोविंद साहब के शिष्य पलटू साहब अपने गुरु से कहीं अधिक विख्यात हुए। इनका जन्म भी उपर्युक्त नग जलालपुर जिला फ़ैजाबाद में ही हुआ था। इसका आज़मगढ़ ज़िले की पश्चिमी सीमा के निकट वर्तमान होना बतलाया जाता है। इसके सिवाय ये भी पहले अपने पुरोहित गोविंद साहब की भाँति साधु जानकीदास के शिष्य रह चुके थे। किंतु इन्होंने उनके भीखा साहब द्वारा दीक्षित होकर लौट आने पर उन्हें ही अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इस

---

१. गोविंद साहब का जीवन चरित्र, लालगंज, बस्ती, सन् १९५६ ई०।

प्रकार ये भी उनकी परंपरा में सम्मिलित हो गए। पलटू साहब जाति के काँदू बनिया थे। ये पहले बहुत समय तक गृहस्थ रूप में ही बने रहे। इनके 'पलटू' नाम के विषय में "पल पल में 'पलटू' रहे, अजपा आठों जाम। गुरु गोविद अस जानि के राखा 'पलटू' नाम।"—जैसा दोहा प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं की एकाध पंक्तियों से सूचित होता है कि ये अंत में, मूँड मुँडा कर और अपनी करधनी तोड़ कर विरक्तों की पंक्ति में प्रवेश कर गये थे तथा अपने निकट के अयोध्या नामक तीर्थ-स्थान को इन्होंने अपने लिए प्रधान केन्द्र बना लिया था।[1] इसी प्रकार अपनी विरक्ति के मूल कारण तथा भक्ति के परिणाम के संबंध में भी, इन्होंने अपनी पंक्तियों में बतलाया है कि किस प्रकार, 'मधु मक्खी' बूँद-बूँद करके रस एकत्र किया करती है। किंतु उसे कोई निकाल ले जाते हैं तो दुखी हो जाती है-जैसी घटना का अनुभव करके मैंने माया को बुरी बला समझ त्याग दिया।[2] चारों वर्णों के प्रपंच को दूर करके मैंने भक्ति चलायी और इस प्रकार, अपने गुरु गोविंद के उद्यान में पुष्पवत् विकसित हो गया।[3]

इनका आत्म-परिचय

पलटू साहब की रचनाओं के अंतर्गत इनके द्वारा दिया गया कुछ आत्म-परिचय भी दीख पड़ता है जो उल्लेखनीय है। अपनी कुंडलियों में जो इन्होंने इस विषय में कहा है उसके अनुसार ये जब तक गृहस्थाश्रम में रहे इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इन्हे भोजन के लिए प्रायः बिना नमक का केवल 'साग' मात्र तक ही उपलब्ध था। परन्तु जब से हरि की शरण में आकर विरक्त बन गए इन्हें सदा पूड़ी, लड्डू, पेड़ा, खोया-जैसे पदार्थ तक सुलभ हो गए।[4] इसी प्रकार उस समय 'नाम' का 'तेज' इतना बढ़ा कि अमीर लोग तक भेंट ले लेकर उपस्थित होने लगे, राजा-प्रजा सभी सामने आकर अपनी नाक रगड़ने लगे। चारों वर्ण के लोग इस नीच जाति वाले का चरण धो-धो कर 'चरणा-मृत' पान करने लगे और इनकी आपसे आप दोहाई फिर गई।[5] उस समय इनकी प्रसिद्धि इतनी हो गई कि परदे के भीतर वाले तक वहाँ पहुँचने लग गए। पलटूदास बनिया को 'अवध के बीच' इस प्रकार 'निरधार भक्ति' चलाता हुआ

---

१. पलटू साहब की बानी, वे० प्रे०, प्रयाग, भा० ३, पृ० ७६ (११८)।
२. वही, भा० २, पृ० ८५ (४८)।
३. वही, भा० ३, पृ० ११४ (१४३)।
४. वही, भा० १, पृ० १०८ (२४२)।
५. वही, भा० १, पृ० (१०)।

देख कर वैरागी, पंडित तथा काजी लोगों में द्वेष-भाव आ गया।[1] इसका एक परिणाम यह हुआ कि सभी वैरागियों ने मिल कर इन्हें 'अजात' घोषित कर दिया। वे कहने लगे कि यह 'कल का बनिया' आज बड़ा भक्त होने चला है, जहाँ हम जैसे बड़े-बड़े महंतों को कोई पूछ तक नहीं रहा है।[2] अतएव अंत में, "अवध-पुरी के दुष्ट लोगों ने इन्हें जीते जी जला दिया और फिर वहाँ से सुदूर जगन्नाथ-पुरी में जाकर प्रकट हुए।[3]"

मृत्यु-काल और समाधि

फिर भी जिस स्थान पर इनका शरीर-त्याग करना कहा जाता है, वहाँ अयोध्या से चार मील की दूरी पर 'रामकोट' नामक एक स्थान में इनकी किसी समाधि का आज भी वर्तमान होना बतलाया जाता है। प्रसिद्ध है कि वहाँ पर इनके अनुयायियों की 'संगत' चलती है और उस स्थान को 'पलटू साहब का अखाड़ा' भी कहा जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि पलटू साहब का मृत्यु-स्थान वास्तव में, 'साखो पार' नामक ग्राम है जो देवरिया से २५ मील उत्तर तथा कुशीनगर से ५ मील पर स्थित है। वहाँ पर इनकी एक समाधि भी है जो ग्राम के पूरब किसी परती में दिखलायी जाती है। इस समय वहाँ पर कदाचित् कोई चबूतरा भी नहीं है। किंतु प्रति वर्ष अगहन में वहाँ गाँजा, सुरती, लोहे का चिमटा तथा जेवनार की भेंट चढ़ायी जाती है। परन्तु इसके लिए अभी तक कोई सुनिश्चित आधार नहीं बतलाया जाता। इस कारण, हो सकता है कि ऐसा अनुमान किसी भ्रम के कारण भी कर लिया गया हो। इनके शिष्य हुलासदास के ग्रंथ 'ब्रह्मविलास' के आधार पर कहा जाता है कि उन्होंने इनकी जन्म-तिथि माघ सुदी रविवार संवत् १८२६ दी है जो समय संभवतः स्वयं उनके दीक्षा-ग्रहण का भी हो सकता है।[4] इनकी मृत्यु-तिथि का आश्विन सुदी १२ होना तथा उसका सोमवार के दिन पड़ना इनके अनुयायियों में मान्य कहा जाता है, किंतु उसके साथ कोई संवत् भी नहीं दिया जाता।

---

१. पलटू साहब की बानी, पृ० २७ (५८)।

२. वही, पृ० ११४ (२५५)।

३. वही, 'जीवन चरित' पृ० २ पर उद्धृत एक दोहे के अनुसार।

४. 'नौमी तिथि का जन्म रोज इतवार है, माघ महीना मकर पक्ष उजियार है।
सतगुर पलटू हमार संत औतार है, हुलास को दीन्हा नाम अधार है ॥
संवत् अठारह सौ छब्बीस, गुरु शब्द जन्मपत्र है।
हरि ां हुलास को दिहा, सिंहासन अटल छत्र है ॥'

रचनाएँ तथा शिष्यादि

पलटू साहब की अनेक रचनाओं का पता चलता है जिनमें से इनकी कुंडलियों, रेखतों, झूलनों, अरिल्लों, शब्दों तथा साखियों का एक अच्छा संग्रह 'वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार इनके ८४६ 'शब्दों' तथा १६४ साखियों का एक अन्य संग्रह इनकी ' शब्दावली' के नाम से भी निकल चुका है। इन दोनों संग्रहों की अधिकांश रचनाएँ एक समान हैं और इनमें पाठ-भेद भी उतना अधिक नहीं पाया जाता। इनकी ऐसी रचनाओं की भाषा बहुत स्पष्ट, सरल किंतु ओजपूर्ण तथा मुहावरेदार है। इनके कई स्थलों पर कबीर साहब के भावों और उनके शब्दों तथा वाक्यों तक की छाप प्रत्यक्ष रूप में पड़ी जान पड़ती है। इस कारण ये 'द्वितीय कबीर' भी कहे जाते हैं। इनकी रचनाओं को देखने से विदित होता है कि ये एक उच्चकोटि के अनुभवी संत, निर्भीक आलोचक तथा निर्द्वंद्व जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुष थे। यही कारण है कि इनका प्रचार अधिक हुआ तथा इनके नाम पर 'पलटू-पंथ' भी चल पड़ा। इनकी कुछ फुटकर रचनाएँ ६० कवित्तों के रूप में भी मिली हैं जो कदाचित् उपर्युक्त दोनों संग्रहों में नहीं आतीं। इनका देहांत हो जाने पर इनके शिष्य परसाद साहब इनकी गद्दी पर बैठे जिन्हें उनका भाई, पलटू प्रसाद होना भी समझा जाता है। इनके शिष्य-प्रशिष्यों की कुछ परंपराएँ मिलती है। किंतु उनका कोई स्पष्ट परिचय हमें अभी तक उपलब्ध नहीं है। इनमें से हुलासदास के 'ब्रह्मविलास' ग्रंथ के अतिरिक्त परसाद साहब के ६० पद मिले हैं। बाबा कृपादास की एक शब्दावली भी मिली है जिसमें संगृहीत प्रत्येक पद का 'बारह-मासा' होना भी बतलाया जाता है। पलटू साहब के संबंध में कहा गया है कि ये नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे और सं० १८२७ के आसपास वर्तमान थे।[१]

वंशावली

रामानंद (पटना, जिला गाज़ीपुर)
|
दयानंद (वही)
|
मयानंद (दिल्ली)
|
बावरी साहिवा (दिल्ली)
|

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, पृ० ८६।

बीरू साहब (दिल्ली)
यारी साहब (दिल्ली)
केसोदास (दिल्ली)
हस्तमुहम्मदशाह (दिल्ली)
बूलाशाह (सं० १६८६-१७६६) भुरकुड़ा, जिला गाज़ीपुर
शेख़नशाह (दिल्ली)
सूफ़ीशाह (दिल्ली)
जगजीवन साहब (कोटवाँ, जिला बाराबंकी)
गुलाल साहब (मृ० सं० १८१६) भुरकुड़ा, जिला गाज़ीपुर
सेवक मर्दन सिंह (धानापुर, जिला वाराणसी)
भीखा साहब (मृ० सं० १८४८) (भुरकुड़ा)
हरलाल साहब (मृ० सं० १७८०) (चीट-बड़ागाँव, जिला बलिया)
रघुनाथ साहब (कनैला, जिला बलिया)
चतुर्भुज साहब (मृ० सं० १८७५) (भुरकुड़ा)
गोविंद साहब (सं० १७८२-१८७६, अहिरौली, जिला फैजाबाद)
गजराज साहब (मृ० सं० १८०५)
जीवन साहब (मृ० सं० १८४८)
शिवनाथ साहब
नरसिंह साहब (मृ० सं० १६०६)
पलटू साहब (अयोध्या)
इच्छा साहब (वीरनगर, जिला बस्ती)
तेजधारी साहब (मृ० सं० १८७६)
ढेलमन साहब
कुमार साहब (मृ० सं० १६३६)
हुलासदास (बरौली, बाराबंकी)
पलटूप्रसाद (अयोध्या)
देवकीनंदन साहब (मृ० सं० १६१३)
सत्यराम साहब
रामहित साहब (मृ० सं० १६४६)
मंसादास
वनमाली साहब (स० सं० १६२१)
त्रिलोकराम साहब
गरीबदास
* * * *
ब्रजमोहन साहब (मृ० सं० १६५२)
जैनारायण साहब
रामहरख साहब (मृ० सं० १६८१)
हरिभंजनदास
किशुनप्रसाददास (अयोध्या)
परमादास साहब
रामबरनसाहब

(वर्तमान)
(वर्तमान)
बिदुरदास
रामसरनदास
शिवप्रसाददास
(वर्तमान)
रामसेवकदास
रामप्रकाशदास
त्रिवेणीदास
जगन्नाथदास
(सं० १९७१-२०१९)
रामसुमेरदास
(वर्तमान)
राजाराम साहब
(मृ० सं० २०११)
राधाकृष्ण साहब
(वर्तमान)
*गोविंद साहब के शिष्यों में से उक्त पलटू साहब तथा इच्छा साहब के अतिरिक्त अन्य सब प्रमुख लोगों की वंशावली इस प्रकार है :
मोतीदास (अयोध्या)
थानदास (रुद्रगढ़, जिला गोंडा)
गोविंददयाल (मेंहदावल जिला फैज़ाबाद)
घनश्यामदास
खड़गदास (खिडकी जिला गाज़ीपुर)
कृपादास (इलाहाबाद)
रामदास
अवधदास (सुबारकपुर जिला फैजाबाद)
बेनी साहब
पौहारी बाबा
जीतादास
सीताराम (केउटला)
रामचरनदास
अज्ञाधर
भगवतदास
राजाराम (अहिरौली)
*पलटू प्रसाद के अन्य तीन प्रमुख शिष्यों की वंशावली इस प्रकार है :
रामबहोरीदास (जवाढ़, जिला बहराइच)
मुन्नूदास
रामसुंदरदास
ज्वालाप्रसाददास (वर्तमान)
रामरूपदास (ज़लालपुर, जिला फैज़ाबाद)
लक्ष्मीदास
महादेवदास
संतोषदास
लक्ष्मण दास (सं० १८९०-१९४०)
(पंडूलघाट, जिला बस्ती)
दुखहरनदास (मृ० सं० १९६०)
गोवर्धनदास (मृ० सं० १९७५)
विश्वनाथप्रसाद (मृ० सं० २०१०)
कोई नहीं
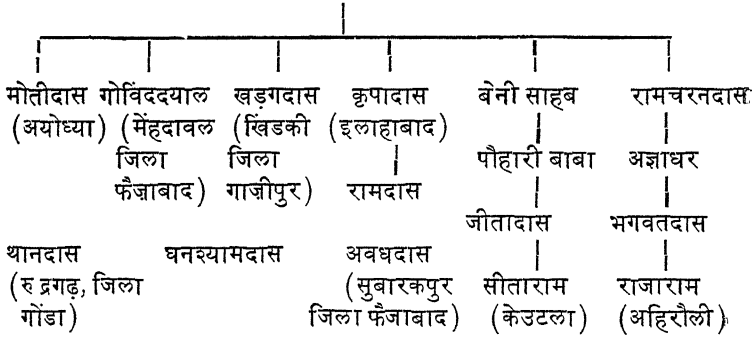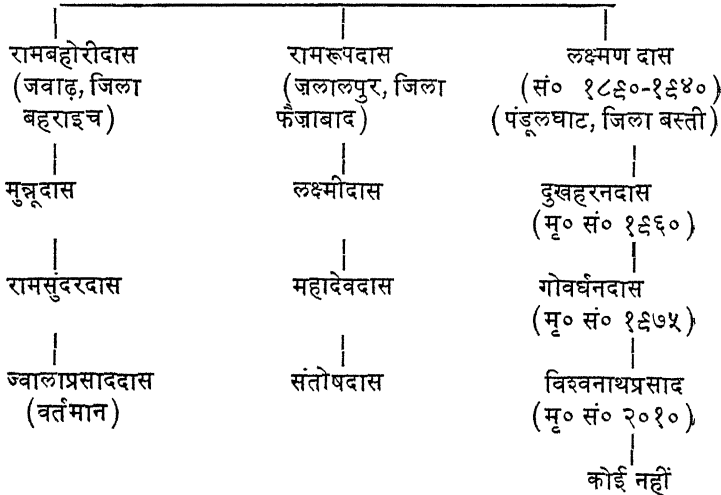
(३) मत तथा प्रचार

पंथ का मत : विशेषता

बावरी-पंथ का आरंभ वस्तुतः उस काल में हुआ था जब निरंजनी-सम्प्रदाय कबीर-पंथ, नानक-पंथ तथा साध-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनके मतों का प्रचार अपने-अपने क्षेत्रों में बढ़ रहा था तथा दादू-पंथ का विकास भी क्रमशः होता जा रहा था। पंजाब, दिल्ली तथा राजस्थान की ओर उस समय इस प्रकार के आंदोलनों में एक जागृति की लहर उत्पन्न हो गई थी। अपने-अपने सिद्धांतों, विचारों तथा मान्यताओं को सर्वसाधारण के बीच फैलाने की चेष्टा में सभी वर्ग के लोग लगे हुए थे। फिर भी बावरी-परंपरा की ओर से किये गए इस प्रकार के यत्नों का कोई पता नहीं चलता, न उसके संगठन के ही संबंध में अनुमान करने का कोई आधार उपलब्ध है। इस परंपरा के महात्माओं का जितना ध्यान व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप देने की ओर था, उतना अपने मत के प्रचार वा पंथ के संगठन की ओर न था। उनके अनुयायियों ने उनके उपदेशों से भरी रचनाओं को सुव्यवस्थित रूप से कर उनकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा भी कभी नहीं की। इस कारण इनके यहाँ न तो कोई 'बीजक', 'आदि ग्रंथ' 'आदि उपदेश' वा 'वाणी' के ढंग का धार्मिक ग्रंथ विद्यमान है जिसका पूजन वा सम्मान होता हो, न इनके धर्म-गुरुओं के जन्म अथवा मरण-स्थान के उपलक्ष में कोई वैसा मेला वा उत्सव ही मनाया जाता है। इस पंथ के मूल मत तथा वास्तविक स्वरूप का परिचय हमें कुछ इधर-उधर बिखरी हुई बानियों और इनके मठ वालों के सत्संग द्वारा ही चल सकता है।

पंथ का साहित्य

बावरी-पंथ के पश्चिमी क्षेत्र में साहित्य का निर्माण पूर्वी क्षेत्र से कदाचित् बहुत कम हुआ। यारी साहब की 'रत्नावली', केशवदास की 'अमीघूँट' तथा बावरी साहिबा, बीरू साहब और शाह फ़कीर की कतिपय फुटकर रचनाओं के अतिरिक्त हमें प्रायः कुछ भी उपलब्ध नहीं। किंतु इसके पूर्वी क्षेत्र के महात्माओं की बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं और उनका एक बहुत बड़ा अंश अभी तक अप्रकाशित रूप में भी पड़ा है। बूला साहेब, गुलाल साहब, जगजीवन साहब, भीखा साहब, पलटू साहब तथा दूलन साहब की बहुत-सी बानियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। किंतु नेवलदास, खेमदास, देवीदास, पहलवानदास, चतुर्भुजदास, देवकीनंदन आदि संतों की कृतियाँ अभी तक हस्तलिखित रूप में ही पड़ी हैं। यदि इस पंथ की सभी रचनाएँ संगृहीत होकर प्रकाश में आ जायँ, तो इनके द्वारा संत-साहित्य के कलेवर में अच्छी वृद्धि हो सकती है। इस पंथ की जगजीवन साहब वाली

शाखा सत्यनामी-सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है और उसे बहुत-से लोग इससे पृथक् भी माना करते हैं। परन्तु इसकी भीखा-पंथ, पलटू-पंथ-जैसी अन्य शाखाओं की गणना अभी तक इसी के भीतर हुआ करती है। इसके पश्चिमी क्षेत्र की फ़क़ीरी परंपराओं का भी इसी में समावेश किया जाता है। इस पंथ के विकास में क्रमानुसार अनेक भिन्न-भिन्न मतों का सहयोग मिलता आया है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के प्रभाव ने इसके मूल सिद्धांतों में अनेक प्रकार के संशोधन, परिवर्धन तथा परिमार्जन कर दिये है; जैसा कि इसके क्रमागत साहित्य को ध्यान पूर्वक देखने से विदित होता है।

बावरी तथा बीरू का सिद्धांत

बावरी साहिबा को जो सिद्धांत तथा साधना के ढंग अपनी गुरु-परंपरा से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए थे। उनके स्वरूप का कुछ आभास एक पद्य[1] से मिलता है, "अजपा जाप की क्रिया स्वभावतः प्रत्येक शरीर में नियमानुसार चल रही है, किंतु जो जानकार है वही उसे अनुभव कर सकता है। जब सद्गुरु की कृपा द्वारा उस अगम्य ज्योति वा परमतत्त्व का परिचय कोई पा लेता है, तभी उसे इसमें सफलता मिलती है। बावरी का कहना है किवह उसी परमतत्त्व की दासी है, फिर भी लोग उसे केवल पगली मात्र समझा करते हैं।" वे अपने शिष्य बीरू को संबोधित करके बतलाती हैं कि सुरति का कमल अथवा शब्द तत्त्व के केन्द्र के साथ जोड़े रहना परमावश्यक है। इन पंक्तियों द्वारा बावरी साहिबा ने संक्षेप में स्पष्ट कर दिया है कि हमारा मुख्य ध्येय परमतत्त्व की पूर्ण अनुभूति है जो गुरु की बतलायी हुई युक्ति से अपने भीतर सदा चलनेवाले अजपाजाप के सहारे सुरति के साथ उसका नित्य संबंध स्थिर करके ही उपलब्ध की जा सकती है। इसी को संत-मत के अनुसार 'स्वानुभूति', 'सुरतिशब्दयोग' अथवा 'चतुर्थ पद की प्राप्ति' आदि अनेक अन्य शब्दों द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। बीरू साहब ने भी एक अपने पद्य में उस अजपाजाप को ही त्रिकुटी के तीर-तीर बजायी जाने-वाली 'लाल की बांसरी' की 'तान' वा 'अनहद सुर' कहा है। उन्होंने बतलाया है कि उसके आगे बढ़ कर उस शब्द के केन्द्र खसम वा नाह के पहचानना तथा

---

१. 'अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा।
गुरु गम जोति अगम घर बास, जो पाया सोइ देखा।
मैं बांदी हौं परम तत्व की, जग जानत कि भोरी।
कहत बावरी सुनो हो बीरू, सुरति कमल पर डोरी ॥१॥'
—महात्माओं की वाणी, भुरकुड़ा, गाजीपुर, १६३३ ई०, पृ० १।

उसका साथ करना ही हमारा सबसे अंतिम ध्येय है ।[1]

यारी साहब की व्याख्या

यारी साहब ने उस 'झिलमिल झिलमिल' बरसनेवाले 'नूर', 'रुनझुन रुनझुन' बजनेवाले 'अनहद', 'रिमझिम रिमझिम' बरसनेवाले 'मोती' तथा 'निरमल निरमल' रूप में विद्यमान उस 'नाम' का वर्णन कई प्रकार से किया है ।'[2] इनके अनुसार वास्तविक भजन वही है जिसके द्वारा उस 'निर्मल नाम' का बिना आँखों की सहायता से ही प्रत्यक्ष दर्शन होता हो । उस परम ज्योति की ओर हमारी सुरति इस प्रकार प्रीतिपूर्वक लगी रहे जैसे चकोर चंद्रमा की ओर देखता रहता है । समुद्र की बूंद जैसे समुद्र में लीन हो जाती है, जैसे लोहा पारस द्वारा कंचन हो जाता है अथवा जैसे सखियों के साथ बात करती हुई भी पनहारिन का ध्यान सदा अपने सिर पर रखे हुए घड़े की ओर ही रहता है । इसी की जुगति के बतलानेवाले को इन्होंने अपना गुरु माना है ।[3]

इनकी विशेषता केवल इसी बात में है कि इन्होंने सूफ़ी-सम्प्रदाय के जैसे वर्णनों की ओर भी कभी-कभी ध्यान दिया है तथा तदनुरूप बहुत से अरबी वा फ़ारसी शब्दों के प्रयोग भी किये हैं ।[4] इनकी भाषा अत्यत ओजपूर्ण है और उसमें मस्ती तथा आवेश के भाव प्राय: प्रत्येक स्थल पर हमें दृष्टिगोचर होते हैं । शाह फ़कीर तथा केशवदास ने भी बहुधा इन्हीं का अनुसरण किया है । इन तीनों संतों की रचनाओं में हमें बावरी साहिबा के पूर्वोक्त पद्य की ही व्याख्या सर्वत्र दीख पड़ती है और इनकी शैली भी वही है ।

---

१. महात्माओं की वाणी, भुरकुड़ा, गाजीपुर १६३३ ई०, पृ० २ ।

२. 'सेसाब्रित दिल खोज देह । बोलनहार जगतपुर येह ।।
घट घट बोल रमताराम । नाद बरन नारायन नाम ।।५।।
जीभ-जुगति बिन जोग न होई । वा तन प्रेम न उपजै कोई ।।
नाद बरन जो लावै ध्यान । जो जोगी जुग जुग परमान ।।६।।
—यारी साहब की रत्नावली, वे० प्रे० प्रयाग, १६१० ई०, पृ० ६ ।

३. वही, पृ० ४ ।

४. (घट घट नूर मुहम्मद साहब, जा का सकल पसारा है ।।१।।"
—वही, पृ० २, शब्द ५ ।

तथा : 'सूली के पार मेहर पेखा, मलकूत, जबरूत लाहुत तीनो ।
लाहूत सेलीनासूत हैरे, लाहूत के रस में रंग भीजो' ।।६।।
—वही, झूलना ६, पृ० १८-६ ।

बूला का आत्म-विचार

बूला साहब ने भी भेद की उक्त बातों के अनेक वर्णन किये हैं और 'सुरति-शब्दयोग' की साधना की ओर बार-बार संकेत किया है। परन्तु इनके अनुसार 'जोग' का सच्चा जानकार उसे ही समझना चाहिए जो उस प्रकार सब-कुछ करता हुआ आत्म-चिंतन में भी रत रहा करे।[1] ये कहते हैं कि योग-साधना द्वारा केवल सुरति तथा निरति के संयोग की स्थिति ला देना मात्र ही पर्याप्त नहीं। उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए आत्म-विचार की ओर भी ध्यान देना चाहिए जो ज्ञानयोग की साधना का आधार है। उसके बिना आत्मानुभूति में दृढ़ता तथा एकतानता का आना बहुधा कठिन हो जाता है। ये रामनाम के स्मरण को उद्धार का उपाय बतलाते हैं, किंतु 'गगन' में सदा 'शब्द विवेकी' को ही देखने का उपदेश देते हैं और सत्संग की महिमा बतलाते हैं।[2] इनके मत का सारांश यही जान पड़ता है कि इन्होंने सभी मुख्य साधनाओं को महत्त्व दिया है।[3] इसी प्रकार इनके 'उपनिषद् अरु वेद गावत' से यह भी पता चलता है कि इन पर वेदांत का भी प्रभाव कम नहीं पड़ा था। ये नाम-स्मरण के साधक थे, भगवत्प्रेम में सदा विभोर रहनेवाले महापुरुष थे, किंतु साथ ही आत्म-ज्ञान की साधना को भी अपनाये रहना जानते थे।

गुलाल की भक्ति

बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब ने भी आसन मार कर अकेले बैठने, ससि तथा सूर अर्थात् इड़ा और पिंगला में वायु भरने, गगन की ओर उल्टी राह से चलने, कमल के विकसित करने, अनहद के सुनने, शून्य-अशून्य के बीच संबंध जोड़ने तथा अगम, अगोचर और अविगत के खेल का अनुभव करने[4] आदि के अनेक विवरण

---

१. "संतो जोग जाने तौन।
आपु आपु बिचारि लेवै रहै घट में मौन ॥१॥"
—बुल्ला साहेब का शब्दसार, वे० प्र० प्रयाग, १९१० ई०, पृ० १०।

२. वही, शब्द ५, पृ० ३०।

३. स्रवन सुनिले नाद प्रभु की, नैन दरसन पेखु।
उपनिषद् अरु वेद गावत अचल अमर अलेखु ॥१॥
भाव संग तू भक्ति करिले, प्रेमसों लवलीन।
सुरति सों तू बेड़ा बाँधो, मुलुक तीनों छीन ॥२॥
—महात्माओं की वाणी, भुरकुड़ा, गाजीपुर १९३३ ई०, पृ० १८।

४. गुलाल साहब की वाणी, वे० प्रे० प्रयाग, १९१० ई०, शब्द १३, पृ० २७।

दिये हैं। इस प्रकार अपने आपको उलट कर निहारने वा देखने तथा बिना माला की जाप के सहारे अंतर्लीन होने की विधि भी बतलायी है।[1] वे यह भी कहते हैं कि मैंने अपने प्रभु के साथ नयी प्रीति जोड़ ली है। मुझे अब उस 'बानी' का अनुभव हो रहा है जो गगन-मंडल में हरदम नवीन-नवीन रूपों मे उठा करती है।[2] वे उस प्रभु के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा प्रदर्शित करते रहने से भी कभी नही चूकते। वे अपने को 'अतीत' वा 'अतीथ', अवधूत और फ़कीर भी कहते हैं।[3] कभी-कभी दांपत्य-भाव के आवेश में आकर उस परमतत्त्व तथा सत्पुरुष को अपना कंत वा 'अविनाशी दूल्हा' भी ठहराते हैं। परन्तु 'ज्ञानगुष्टि' नामक रचना में ये अपने मत को स्पष्ट शब्दों में वेदांत-मत पर ही आश्रित बतलाते हैं। यह रचना 'शिष्य अर्ज' और 'श्री गुरु दया' के रूप में एक प्रकार की प्रश्नोत्तरी है जिसमें भीखा साहब इनसे कुछ प्रश्न करते हैं और ये उनके उत्तर देते है।

सर्वात्मवाद

'ज्ञानगुष्टि' के अंत में 'श्री गुरु दया' शीर्षक के नीचे कहा गया है[4], 'अध्यात्म योग के अंत में विचार आता है अथवा जहाँ उसकी निवृत्ति होती है, वहीं से ब्रह्म-विचार का आरंभ होता है। निर्गुण-मत वा संत-मत जिसे कहते हैं, वह वास्तव में वेदांत है। उसके माननेवाले संत ब्रह्म के अध्यात्म रूप है, जितने रूप दीख पड़ते हैं, वे सभी आत्म-स्वरूप हैं और अपने आप का ज्ञान गुरु की कृपा द्वारा ही संभव होता है। अध्यात्म का शुद्ध रूप ही वेदांत का विषय है जो बिना आकार का अनुपम रूप है। ब्रह्म को चेतन न कह कर निरंतर शून्य कहना ही अधिक

---

१. गुलाल साहब की वाणी, शब्द ११, पृ० ५१।

२. वही शब्द २८, पृ० ४२।

३. वही, शब्द २१, पृ० ६२।

४. 'योग अध्यातम अंत विचारा। जहाँ निवृत सो ब्रह्म विचारा ।।
निरगुन मत सोइ वेद को अंता। ब्रह्मरूप अध्यातम संता ।।
येते रूप आतमा कहियै। आपै आपु गुरु सो लहिये ।।
वेदांत अध्यातम सुध रूपा। बिनु आकार को रूप अनूपा।
शून्य निरंत ताको कहिये। भीखा ब्रह्म चेतन्य नहिं रहिये ।।
तहंवा शब्द पवन कछु नाहीं। केवल ब्रह्म निरंतर मांही ।।
जहंवा दुविधा भाव न कोई। अध्यातम वेदांत मत सोई ।।
यही सिवाय कोई और बतावै। ताको सतगुरु मत नहिं आवै ।।'
—महात्माओं की वाणी, भुरकुड़ा, गाजीपुर १९३३ ई०, पृ० २१४।

उचित है । वहाँ पवन वा शब्द तक की गति नहीं है, सर्वत्रब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है; वहाँ किसी प्रकार की दुविधा की गुंजाइश नहीं है । अध्यात्म वेदांत की यही सबसे बड़ी विशेषता है । इन बातों के अतिरिक्त यदि और कुछ कोई बतला रहा हो तो समझ लो कि उसे हमारा सत्गुरु-मत ज्ञात ही नहीं है" । 'ज्ञानगुष्टि' की कथन-शैली आदि पर विचार करते हुए उसे गुलाल साहब की रचना होने में संदेह भी किया जा सकता है । वह अन्य ऐसी ज्ञान-गुष्टियों की भाँति पीछे की कृति भी हो सकती है, किंतु उसमें प्रतिपादित विषय का मेल उनकी अन्यत्र कही गई बातों के साथ भी खाता हुआ दीखता है । इस विचार से इसका महत्त्व कुछ कम नहीं होता ।

भीखा की प्रतिपादन-शैली

संत गुलाल साहब के समय से साधना से अधिक सिद्धांतों के प्रतिपादन की ओर ध्यान देना आरंभ हो जाता है । भीखा साहब ने भी यही किया है और उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में ब्रह्म, माया, जगत् तथा जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है । इनके वर्णन की शैली बावरी, बीरू अथवा यारी की भाँति गहन विषयों की ओर संकेत करके उनका दिग्दर्शन करा देना मात्र की नहीं है, अपितु उनका सुव्यवस्थित निरूपण करने तथा उन्हें बहुधा शास्त्रीय शब्दावली तथा पद्धति के अनुसार विस्तार देने की भी है । ये अनुभूत बातों को व्यक्त करते समय उनके रसानंद में मग्न होकर अपना कथन बीच में ही बंद कर देना नहीं जानते, अपितु उसके प्रवाह में बह निकलते हैं । वस्तु-स्थिति के सांगोपांग स्पष्टीकरण की चेष्टा में, एक ही बात को विविध प्रकार से कहने लगते हैं । इसका सबसे सुंदर दृष्टांत उनके द्वारा किये गए अनाहत शब्द के स्वरूप के वर्णन में मिलता है, जहाँ पर उन्होंने इसे प्रत्यक्ष करने के यत्न में संगीत के विविध रूप उद्धृत किये हैं ।[1] इसी प्रकार उन्होंने एक ही तत्त्व की अनेकरूपता दरसाते समय भी एक ही मिट्टी के गढ़े गए विचित्र रंग के बर्त्तन, एक ही सोने के आधार से निर्मित अनेक प्रकार के खरे-खोटे गहने तथा एक ही जलराशि में उठनेवाले फेन, बुद्बुद, लहर और भिन्न-भिन्न तरंगों के मीठे वा खारे पानी के उदाहरण देकर आत्मा की एकता प्रतिपादित की है[2] । उन्होंने कहा है कि वास्तव में ठगनेवाला बटमार तथा ठगा जानेवाला बटोही सब एक ही सरकार के अंग हैं । वे अपने अद्वैतवाद का निरूपण करते हुए कहते हैं कि

---

१. भीखा साहब की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, १९०९ ई०, पृ० १८-१९ ।
२. वही, पृ० ५९ ।

मुझे मन तथा माया ही फेर में डाल कर डाह रहे हैं ।[1]

उनका 'जोग' वर्णन

भीखा साहब ने एक शब्दमार्गी की भाँति 'सुरति शब्दयोग' के भी वर्णन किये हैं ।[2] इसी प्रकार उन्होंने उक्त जोग के परिणाम का भी वर्णन किया है ।[3] उनके उक्त 'जोग' का जोगी निरा साधक वा सिद्ध नहीं । वह एक भजनानंदी फ़कीर है जो एकनिष्ठ आध्यात्मिक जीवन-यापन करता हुआ भी अपने को संसार का विरोधी नहीं मानता, न उसकी उपेक्षा ही करता है । उसमें क्षमा, शील, संतोष, सरल चित्तता आदि सारे नैतिक गुणों का समावेश रहता है । वह इसके साथ ही 'दरदवंद पर पीर' भी होता है, जैसा होना हमारे समाज के लिए परमावश्यक है ।[4]

पलटू की विशेषता

पलटू साहब भी कभी-कभी उक्त प्रकार की ही बातें करते हुए जान पड़ते हैं । किंतु वास्तव में उनका अधिक ध्यान काया के भीतर की रहस्यमयी स्थिति और उसका स्पष्ट विवरण देने की है । वे बार-बार उसका वर्णन करते

---

१. एकै शब्द ब्रह्म फिरि एकै, फिरि एकै जग छाया ।
आतम जीव करम अरुझाना, जड़ चेतन बिलमाया ।।१।।
—भीखा साहब की बानी, पृ० २० ।

२. जुक्ति मिले जोगी हुआ, जोग मिलन को नाम
जोग मिलन को नाम, सुरति जा मिले निरति जब ।
दिव्य दृष्टि संजुक्त देखिके मिले रूप तब ।
जीव मिले जा पीव को, पीव स्वयं भगवान ।
तब सक्ति मिले जा सीव को, सीव परम कल्याण ।।११।।
—भीखा साहब की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, १९०९ ई०, पृ० ९५ ।

३. सब्द परकास के सुनत अरु देखते,
छूटि गई विषे बुधि बास कांची ।
सुरति गै निरति घर रूप आयो दृष्टि पर,
प्रेम की रेख परतीत खांची ।
आतमा राम भरिपूर परगट रह्यो,
खुलि गई ग्रंथि निज नाम बांची ।।
भीखा यों पगि गयो जीव सोइ ब्रह्म में,
सीव अरु सक्ति की मिलन सांची ।।३।।
—पलटू साहब की बानी, पृ० ६३ ।

४. वही, पृ० २४ ।

हुए मगन रहा करते हैं। वे ब्रह्म की सर्वव्यापकता बतलाने के लिए फूल के भीतर की सुगंध, काठ के भीतर की आग, धरती के भीतर के जल, दूध में छिपे घी तथा मेंहदी में छिपी लाली के उदाहरण देते है। वे कहते हैं कि ब्रह्म उसी प्रकार सब कहीं अदृश्य रूप से भरपूर है और उसके बिना तिल भर भी खाली नहीं है।[१] अतएव यह सिद्ध है कि वह साहिब हमारे पास ही वर्तमान है। उसे अपने भीतर धँस कर केवल याद भर कर लेने की आवश्यकता है।[२] याद करते ही वह हमारे भीतर दीख पड़ने लगता है।[३] वे उसे स्थिति को पार्थिव रूप तक देते हैं। उसे आठवाँ लोक[४] के नाम से अभिहित करते हैं। उन्होंने उसकी भौतिक स्थिति निश्चित करते हुए बतलाया है।[५] इससे प्रतीत होता है कि उससे पहले सात अन्य भूमियों को भी पार करना पड़ता है।

अद्वैतवादी

पलटू साहब अद्वैतवाद के माननेवाले हैं और 'जोई जीव सोई ब्रह्म एक है' बतला कर उसे समझाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार फल में बीज है और बीज में फल है। जल में लहर है और लहर में जल है, छाया में पुरुष है और पुरुष में छाया है,अक्षर में स्याही है और स्याही में अक्षर है तथा मिट्टी में घड़ा है और घड़े में मिट्टी है तथा सोने में गहना है और गहने में सोना है, ठीक उसी प्रकार जीव में ब्रह्म है और ब्रह्म में जीव है, बिना जीव के ब्रह्म हो नहीं सकता। ये दोनों न तो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं, न इनके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु है ही और यह बात 'ज्ञान समाधि' में प्रत्यक्ष हो जाती है।[६] इस प्रकार की धारणा रखनेवाले के लिए किसी प्रपंच वा विडंबना के फेर में पड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह अपनी वास्तविक स्थिति का परिचय पाकर पक्का फ़क़ीर बन जाता है और अपना जीवन

---

१. पलटू साहब की बानी, बे० प्रे० प्रयाग, १६२६ ई०, भा० १, पृ० ३६।

२. वही, कुंडलिया ६३, पृ० ४२।

३. 'प्रेम की घटा में बूँद परै पटापट, गरज आकास बरसात होती।
गगन के बीच में कूप है अधोमुख, कूप के बीच इक बहै सोती।
उठत गुंजार है कुंज की गली में, फेरि आकास तब चली जोती।
मानसरोवर में सहसदल कंवल है, दास पलटू हंस चुगै मोती।"
—वही, भा० २, रेखता ३०, पृ० १३।

४. वही, भा० १, पृ० ४७ तथा भा० २, पृ० ८७।

५. 'सात महल के बाद मिलै अठएं उजियाला।'
—वही, भा० १, पृ० ७८।

६. वही, भा० ३, पृ० ५३।

निर्द्वंद्व होकर व्यतीत करता है। उसे संयत जीवन, नाम-स्मरण और संतोष जागीर में मिले रहते हैं। वह खुशी की कफ़नी डाले रहता है,अपने हृदय को उदार कर लेता है, दिन-रात आत्माराधन में लगा रहता है। वह जीवन्मुक्त बन जाता है, सम्राट् तथा भिक्षु को एक समान जानता है। मृत्यु का प्याला छाने रहता है और उसी के नशे में सदा चूर रह कर किसी बात की कभी परवा नहीं करता।[1] इस प्रकार की मानसिक स्थिति ही एक फ़कीर के लिए सच्ची भक्ति है जिसके सामने हठयोगादि कुछ नहीं। इसे अपना कर वह अपना जीवन सफल बना लेता है।[2] पलटू साहब ने इसी के अनुसार स्वयं अपने विषय में भी लिखा है कि मैं अब सांसारिक बनियाई का त्याग कर सतगुरु की सिफारस से राम की मोदियाई पा गया हूँ। मेरे घर नौबत बज रही है और बराबर सवाई लाभ होता जा रहा है। मेरी भरती त्रिकुटी में है और गादी सुषुम्ना में लगी हुई है। दशम द्वार पर मेरी कोठी है, जहाँ अनादि पुरुष बैठा हुआ है। ईडा तथा पिंगला के दोनोंपलरों में सुरति की जोती लगी है और सत्त सबद की डाँड़ी पकड़ कर मोती भर-भर कर मैं तौला करता हूँ। तत्त्व की ढेरी लगी है, जहाँ चंद्र, सूर्य दोनों रखवाली करते है। मैं तुरीयावस्था में रह कर बेचने के कार्य में व्यस्त हूँ।[3]

सारांश

इस प्रकार जो आध्यात्मिक दीवानापन बावरी साहिबा के अनुपम व्यक्तित्व से उनके पंथ में आरंभ हुआ था वह यारी साहब के सूफ़ी-संस्कारों तथा गुलाल साहब तथा भीखा साहब के वेदांती वातावरणों में क्रमश: और भी गंभीर होता हुआ पलटू साहब तक अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति में आ गया। पलटू साहब का परमात्म-विश्वास, उनका उत्कट वैराग्य, उनका संतोष तथा उनकी अपूर्व मस्ती इस पंथ की मान्यताओं के अनुयायियों के लिए आदर्श-स्वरूप है। पलटू साहब के नाम पर पलटूदासियों का एक नवीन पंथ भी चला जिसका केन्द्र अयोध्या में माना जाता है। इसके अनुयायी नीले रंग के वस्त्र तथा टोपी धारण करते हैं तथा मुख्यत: अयोध्या के अतिरिक्त लखनऊ तथा नेपाल में भी पाये जाते हैं। किंतु फिर वैसा कोई दूसरा संत उसमें नहीं हुआ। भीखा साहब के नाम पर भी

---

१. पलटू साहब की बानी, भा० १, पृ० १४।
'जगत हंसै तो हंसन दे, पलटू हंसै न राम।'

२. लोक लाज कुल छाड़ि कै, करिलौ अपना काम।'१३१॥
—वही, पृ० ६७।

३. वही, भा० ३, पृ० ४६।

बलिया तथा गाज़ीपुर जिलों में 'भीखा-पंथ' प्रसिद्ध है। किंतु एक सात्विक जीवन के अतिरिक्त इसके अनुयायियों की कोई अन्य विशेषता नहीं, न साधारण बातों में वे किसी दूसरे पंथ वालों से किसी प्रकार भिन्न कहे जा सकते हैं।

६. मलूक-पंथ

कबीर-शिष्य मलूकदास

मलूकदास के नाम से प्रसिद्ध एक से अधिक महात्मा हो चुके हैं। इस कारण, संत मलूकदास के विषय में लिखते समय, कभी-कभी भ्रम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस बात के उदाहरण अभी आज तक भी मिलते हैं।[1] बाबू श्यामसुंदर-दास ने 'कबीर ग्रंथावली' की 'भूमिका' के अंतर्गत एक 'मलूकदास' का उल्लेख किया है जिन्होने किसी खेमचंद के लिए उसकी काशी वाली प्रति सं० १५६१ में लिखी थी। उन्होंने इस बात की संभावना प्रकट की है कि कदाचित् कबीर साहब के वे ही शिष्य रहे होंगे जो जगन्नाथपुरी में जाकर बसे थे तथा जिनकी खिचड़ी का 'भोग' वहाँ अब तक लगता है।[2] बाबू साहब ने उस मलूकदास तथा कबीर साहब का संबंध प्रमाणित करने के लिए उक्त 'ग्रंथावली' की एक साखी भी प्रस्तुत की है।[3] पुरी में किसी मलूकदास की एक समाधि कबीर साहब की समाधि के निकट बनी हुई भी बतलायी जाती है। अतएव यह संभव है कि कबीर साहब के शिष्य माने जानेवाले कोई मलूकदास जगन्नाथपुरी में रहते रहे हों तथा उन्हीं की उक्त समाधि हो। कुछ लेखकों ने इस समाधि के विषय में लिखते समय, संभवतः मथुरादास की 'मलूक परिचयी' के आधार पर कहा है कि वह संत मलूकदास की ही है। इसके लिए इनके शव का कड़ा से वहाँ तक प्रवाहित होता हुआ चला जाना भी बतलाया है। परन्तु ऐसी चामत्कारिक घटना का प्रस्तुत किया जाना इस बात को भी सूचित कर सकता है कि उक्त दोनों मलूकदासों को एक ही व्यक्ति सिद्ध करने की चेष्टा में ऐसा किया गया हो और यह कथन कोरे अंधविश्वास पर ही आधारित हो। इसके सिवाय बाबू साहब ने जो उक्त साखी की प्रथम पंक्ति को 'मेरा गुरु बनारसी चेला समंदर तीर' तक का रूप दे डाला है उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं। इसके उस पाठ को भी असंदिग्ध नहीं समझा जा सकता है जो उनके द्वारा संपादित

१. मलूकदास : तीन नहीं एक, हिंदुस्तानी, प्रयाग, भा० २३ अं० १।

२. कबीर ग्रंथावली, का० ना० प्र० सभा, सन् १६२८ ई०, 'भूमिका' पृ० २।

३. कबीर गुर बसै बनारसी, सिख समंदा तीर।
   बीसारया नहिं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥२॥
   —वही, 'मूलपाठ' पृ० ६८ (साखी २)।

होकर प्रकाशित है। इसका एक अन्य और संभवत: उससे प्रामाणिक पाठ 'कबीर ग्रंथावली' के प्रयोग वाले संस्करण में दिया गया मिलता है।[1] इसके आधार पर कदाचित्, वैसे प्रश्न का उठना भी संभव नहीं कहा जा सकता। यों तो; यदि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर देखा जाय तो, संत मलूकदास तथा उक्त कबीर-शिष्य मलूकदास के ठीक समसामयिक होने में भी संदेह किया जा सकता है।

वैरागी मलूकदास

इसी प्रकार सर्वसाधारण में यह बात प्रसिद्ध चली आती है कि संत मलूकदास ने निम्नलिखित दोहे की रचना की थी।[2] इसी कारण इन्हें घोर भाग्यवादी तक भी कह दिया जाता है। परन्तु, पता चलता है कि ये पंक्तियाँ वस्तुत: 'श्री मलूक शतकम्' नामक एक छोटी-सी रचना से ली गई हैं जिसके रचयिता कोई अन्य मलूकदास जान पड़ते है। 'श्री मलूक शतकम्' में मलूकदास रचित १०१ दोहे संगृहीत है जिनमें स्वामी रामानंद के साम्प्रदायिक सिद्धांतानुसार अनेक बातों की चर्चा की गई समझ पड़ती है। उसमें स्पष्टत: 'दशरथ सुत-चरण रज' का महत्त्व दरसाया गया भी दीख पड़ता है। इस रचना का कुछ परिचय देनेवाले एक लेखक के कथन से पता चलता है कि इसके रचयिता कोई 'रामानंदाचार्य जी महाराज के सम्प्रदाय के द्वारपीठाचार्य' मलूकदास थे। वहाँ इन संत मलूकदास का स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में केवल होना मात्र ही सिद्ध किया जा सकता है। उनकी किसी साम्प्रदायिक संस्था वा 'द्वारपीठ' के साथ भी इनके संबंध का पता नहीं चलता, प्रत्युत इनका जीवन हमें किसी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति का जैसा तक प्रतीत होता है। ये संत मलूकदास संत-मत में पूरी आस्था रखनेवाले तथा तदनुकूल रहनी के समर्थक महापुरुष थे। इस कारण इनके लिए उपर्युक्त 'अजगरी वृत्ति' का अनुमोदन उतना करना संभव नहीं जान पड़ता, न इस विचार से हमें उक्त दोहे के रचयिता को इनसे अभिन्न व्यक्ति मान लेना कभी उचित ही समझ पड़ सकता है।

---

१. गुर जो बसै बनारसी, सीख समुंदर तीर।
बीसारे नहिं बीसरे, जो गुन होइ सरीर॥
—कबीर-ग्रंथावली, हिंदी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय-संस्करण १९६१ ई०, पृ० १४५ (साखी) २७।

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहत है, सबके दाता राम॥
—'संत' (मासिक पत्र) जयपुर, वर्ष २ अंक १०, चैत्र सं० १९९९, पृ० ७-१२।

संत मलूकदास : एक परिचय

मलूक-पंथ के अनुयायियों के अनुसार संत मलूकदास का जन्म वैशाख वदी ५ सं० १६३१ को इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता लाला सुंदरदास जाति के कक्कड़ खत्री थे। इनके भांजे तथा शिष्य प्रयाग-निवासी मथुरादास ने इनकी एक 'परिचयी' लिखी है। इससे यह भी पता चलता है कि इनके पितामह का नाम जठरमल था तथा इनके प्रपितामह कोई वेणीराम थे। इनकी एकमात्र संतान एक पुत्री थी जो अपनी माता के ही साथ जाती रही। इस रचना द्वारा हमें यह भी विदित होता है कि इनके हरिश्चंद्रदास, शृंगारचंद्रदास तथा रामचंद्रदास नामक तीन भाई थे और इन्हे 'मल्लू' भी कहते थे।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने मलूक 'परिचयी' के रचयिता सथुरादास का कायस्थ होना बतलाया है[2] जो ठीक नहीं जान पड़ता। इससे स्पष्ट[3] है कि किसी कायस्थ का साधारणतः किसी खत्री का 'भगिनी सुत' होना संभव नहीं है। इस कारण सथुरादास का भी खत्री होना ही तथ्य हो सकता है। कहा जाता है कि 'मल्लू' अपने बचपन से ही अत्यंत कोमल हृदय के थे और इन्हें अपनी पाँच वर्ष की वय-से ही, ऐसा स्वभाव पड़ गया था कि जब कभी ये खेलते समय मार्ग में कही काँटे वा कंकड़ पड़े पाते, उन्हें चुन कर किसी दूसरी ओर डाल देते। इनकी परहित-चितन की इस मनोवृत्ति को देख कर किसी महात्मा ने भविष्य का बहुत उज्वल होना बतलाया था। सथुरादास की 'परिचयी' से पता चलता है कि इनका सेवाभाव, परोपकार तथा आत्मत्याग विषयक स्वभाव अंत तक बना रह गया।

प्रारंभिक जीवन

बालक 'मल्लू' की साधु-सेवा के संबंध में कुछ कथाएँ भी प्रचलित हैं। प्रसिद्ध है कि एक दिन साधुओं की किसी मंडली ने इनके यहाँ भोजन की माँग प्रस्तुत की, किंतु इनके घर वालों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मल्लू को उनका यह व्यवहार असह्य हो उठा और उसने अपने ही घर के भंडार में सेंध लगा कर जो कुछ भी

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १५, सं० १६६१, पृ० ७६।

२. मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, १६३० ई०, पृ० १५२।

३. 'मलूक को भगिनी सुत जोई, मलूक को पुनि शिष्य है सोई।
. . . सथुरा नाम प्रकट जग होई ॥
तिनहित सहित परिचयी भाषी, बसै प्रयाग जगत सब साषी।'
—परिचयी, पृ० २५।

सामग्री थी उसे बाहर निकाल लिया और उसे साधुओ को खिलाया। इनकी माता को जब यह पता चला तो उन्हे इस कारण महान् कष्ट हुआ, किंतु अधिक हानि की संभावना न देख कर वे उस समय चुप हो गई। अपने इस विचित्र स्वभाव के ही कारण 'मल्लू' किसी वृत्ति वा जीविका में भी यथेष्ट सफलता नही पा सके। कहते है कि जब ये ११ वर्ष के थे उस समय इनके पिता ने इन्हें कंबल बेचने का काम सौंपा और देहात की पैठ मे इन्हे प्रति आठवे दिन भेजने लगे। एक बार सयोगवश इनका कोई भी कंबल नही बिक सका, न कोई ऐसा ही मँगता मिला जिसे ये उनमें से एकाध दे डालते। इस प्रकार उन कंबलो का पूरा गट्ठर लाते समय मार्ग में थक जाने पर ये किसी वृक्ष के नीचे हार मान कर बैठ गए और किसी की प्रतीक्षा करने लगे। तदनुसार ऐसे ही समय उधर से एक मजदूर निकला जिसके सिर पर इन्होने कबल की गठरी रख दी और स्वयं ये उसके पीछे हो लिए। परन्तु मजदूर इतना तेज चला कि वह इनसे आगे इनके घर पहुँच गया और इनकी माँ को इस बात का संदेह हो गया कि उसने अकेले कही एकाध कंबल न निकाल लिये हों। इस कारण उन्होने उसे खिलाने के बहाने किसी कमरे में बंद कर दिया और इधर मल्लू की प्रतीक्षा करने लगी जब ये घर लौटे और दोनों ने कमरा खोल कर कंबलों को सहेजना चाहा तो उन्हे पता चला कि मजदूर कही चंपत हो गया है और खाना यों ही पड़ा हुआ है। इसका प्रभाव बालक मल्लू पर बिना पड़े नहीं रह सका। इन्होंने वहाँ पड़ी हुई रोटी को प्रसाद रूप में उठा कर खा लिया और उस कमरे को बंद कर ये उसके भीतर भगवान् के साक्षात् दर्शनों के लिए तीन दिनों तक पड़े रहे। कहते हैं कि तीसरे दिन इनकी अभिलाषा पूरी हो गई और ये उसी समय से 'मलूक दास' बन कर बाहर निकले।[1]

इनके गुरु

संत मलूकदास के गुरु का परिचय देते समय प्रायः उन्हें किसी द्रविड़ देश-निवासी विट्ठलदास के नाम से अभिहित किया जाता है। परन्तु इधर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह बात असत्य सिद्ध होती है। तथ्य यह जान पड़ता है कि इन्होंने किसी देवनाथ अथवा उनके पुत्र परसोत्तम से पहले केवल नाममात्र की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करानेवाले कोई मुरार स्वामी नामक महापुरुष थे।[2] इसके सिवाय इनकी रचना 'सुखसागर'

---

१. मलूकदास जी की बानी, बे० प्रे० प्राग, 'भूमिका' पृ० २-३।

२. 'सतगुरु मिले मुरारि जी, प्रगट छाप विस्वास', 'सुखसार', पृ० १६२। 'परिचयी-साहित्य', पृ० ३६ पर उद्धृत।

से उद्धृत की गई कतिपय पंक्तियों द्वारा उक्त देवनाथ और परसोत्तम का भी पता चल जाता है।[1] वेणीमाधव दास के 'मूल गोसाईं चरित' से भी पता चलता है कि संभवत: मुरारि स्वामी के ही साथ मलूकदास तुलसीदास के यहाँ गये थे।[2] क्रुक के अनुसार संत मलूक दास की गुरु-परंपरा स्वामी रामानंद से आरंभ होकर क्रमश: आसानंद, कृष्णदास और कील्ह तक आयी थी और ये कील्ह के ही शिष्य थे। इस दशा में कील्ह और मलूकदास का समकालीन होना सिद्ध होना है जो कदाचित् किसी उपलब्ध आधार पर संभव नहीं है। इसके विपरीत जीवाराम जी की 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार जो स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा का क्रम क्रमश: अनंतानंद, कृष्णदास पयहारी, अग्रदास, जगी, तनतुलसी और मुरारि स्वामी-जैसा चलता है[3] वह कहीं अधिक तर्क-सगत प्रतीत होता है।

देश-भ्रमण और अंतिम दिन

मजदूर संबंधी उपर्युक्त घटना के अनंतर मलूकदास को साधुओं के दर्शन और उनके साथ सत्संग करने का एक चस्का-सा लग गया था। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर ये चारों ओर देश-भ्रमण करने लग गए थे। परन्तु इन्होंने कब-से-कब तक तीर्थ-यात्रा अथवा पर्यटन में समय दिया इस बात का कोई निश्चित पता नहीं चलता। सथुरादास की 'परिचयी' के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि ये जगन्नाथपुरी, पुरुषोत्तम क्षेत्र, कालपी और दिल्ली गये थे। इनकी दिल्ली यात्रा के ही अवसर पर सम्राट् औरंगज़ेब द्वारा कड़ा से ज़ज़िया कर का माफ किया जाने का भी अनुमान किया जाता है। कहते हैं कि ये अपनी वृद्धावस्था तक सदा परोपकार तथा जन-सेवा के विभिन्न कार्यों में लगे रहे। अंत में वैशाख बदी १४ बुधवार, सं० १७३९ को इन्होंने कड़ा में ही रहते समय अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दी। गंगा के प्रवाह में इनके शव को छोड़ देने के अनंतर जयजयकार किया गया और कुछ लोग इनके अंतिम दर्शनों के लिए जल में कूद पड़े। किंतु कोई डूबा

---

१. 'दच्छिन ते प्रगटी भये, द्रावएड़ के देस।
गोकुल गाउं विदित भये, प्रगटे विट्ठलनाथ।
भावनाथ तिनते भये, देवनाथ सुत तास।
तेनते परसोत्तम तह सिख मलूकादास॥'
—परिचयी-साहित्य : डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० १३८ पर उद्धृत।

२. मूल गोसाईं चरित, दोहा ८३।

३. हिंदुस्तानी, भा० २३ अं० १, पृ० १२८।

नहीं और वह नदी की धारा में पड़ कर बहता हुआ कहीं अदृश्य हो गया। केवल कुछ ही दूर तक दिखलायी पड़ सका।[1] इनकी कोई संतान जीवित न रहने के कारण, इनका देहांत हो जाने पर इनके भतीजे रामसनेही इनकी गद्दी पर बैठे। उनके अनंतर, क्रमशः कृष्णसनेही, कान्ह ग्वाल, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजबिहारी-दास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद एक के पीछे दूसरे उत्तराधिकारी बनते चले गए। अंत में अयोध्या दास से यह क्रम भी टूट गया।

इनकी रचनाएँ

संत मलूक दास की शिक्षा आदि के संबंध में कुछ पता नही चलता, किंतु इनकी रचनाओं से इनका कम-से-कम बहुश्रुत होना सिद्ध है। इनकी रचनाओं की संख्या २१ तक की बतलायी गई है,[2] किंतु उनके अप्रकाशित रहने के कारण तथा जब तक इन सभी का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाता तब तक, यह बतलाना संभव नहीं कि वास्तव में, ये सभी इनकी हैं या नहीं। इनमें से जिन पुस्तकों का उल्लेख एक से अधिक सूचियों में किया गया दीख पड़ता है उनके नाम इस प्रकार दिये जा सकते हैं: १. अलख बावनी, २. गुरु प्रताप, ३. ज्ञानबोध, ४. पुरुषविलास, ५. भगत-बच्छावली, ६. भगत विरुदावली, ७. रतनखान, ८. रामावतार लीला, ९. शब्द, १०. साखी, ११. सुखसागर और संभवतः, १२ दसरत्न ग्रंथ। इन तथा इनके अतिरिक्त शेष ग्रंथों के नामादि से अनुमान किया जा सकता है कि यदि इन सभी के रचयिता संत मूलक दास ही सिद्ध किये जा सकें तो इनमें से कुछ का विषय संत-मत के साथ सीधा संबद्ध होगा तथा अन्य के अंतर्गत सगुण-भक्ति परक विषयों की चर्चा की गई होगी। इनके चुने हुए शब्दों तथा साखियों का एकसंग्रह 'मलूकदासजी की वाणी' नाम से प्रयाग के 'वेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसके देखने से इनके मत, साधना तथा रचना-शैली का कुछ परिचय दिया जा सकता है।

सतगुरु

संत मलूकदास ने सतगुरु का वर्णन करते समय उसमें तथा भगवान् में कोई भेद नहीं दिखलाया है। इनके सतगुरु को विरले ही जान सकते हैं, उसके स्वरूप का वर्णन वही कर सकता है जो सुई के छेद से होकर सुमेर पर्वत को निकालने की शक्ति रखता हो। उस सतगुरु की पहचान या तो कबीरदास को थी अथवा उसे प्रह्लाद, नामदेव, नानक वा गोरख अवधूत जानते थे। उसकी लीला अद्भुत है।

---

१. परिचयी, पृ० २४।

२. हिंदुस्तानी, भा० २३ अं० १, पृ० १३१-२।

वह न सोता है, न जागता है, न खाता है न पीता है और न मरता वा जीता ही है। वह जिस किसी को भी शक्ति दे दे, वह बिना किसी वृक्ष के फल फूल लगा सकता है, एक क्षण में अनेक रूप धारण कर सकता है और फिर अकेला भी दीख सकता है। मेरा गुरु-भाई बिना पैरों के भी संसार का भ्रमण कर सकता है।[1] वह सतगुरु ही संत मलूकदास के 'रामराय' हैं जिन्होंने उसके नाव की डगमगी छुड़ा दी और वह आँधी-तूफान के रहते हुए भी निर्भीक हो मजे में चलने लगी। उस सतगुरु ने ऐसी युक्ति बतला दी जिसके सहारे ये उसे गहरे अथवा छिछले जल में भी खेते जा रहे हैं और इन्हें उसके उलटने तक की आशंका नहीं है।[2] परन्तु वह युक्ति क्या है ? संत मलूकदास ने कहा है कि गुरु ने कृपापूर्वक मुझे यही युक्ति बतलादी कि आपा खोजो जिससे भ्रम नष्ट हो जाय, त्रिभुवन का रहस्य प्रकट हो जाय और काल से भी युद्ध करने की शक्ति आ जाय। ब्रह्म का विचार, संत-सेवा, गुरु-वचनों में विश्वास, सत्य, तथा संतोष का जीवन और नाम-स्मरण का स्वभाव अपनाने से अपनी आत्मा जागृत हो उठती है। यही उसके मतका सार है जिसे दूसरे शब्दों में आतम-ज्ञान भी कहते हैं।[3]

ईश्वर-विश्वास तथा नाम-स्मरण

संत मलूकदास की ईश्वर के अस्तित्व में प्रबल आस्था थी और उसके प्रति असीम निष्ठा थी। ये उसके प्रत्यक्ष वर्तमान रहने का अनुभव प्रति क्षण और प्रत्येक स्थल पर सच्चे हृदय से करते थे। अपने को ये उसका आत्मीय असंदिग्ध रूप से समझा करते थे। ये उससे विनय करते हुए अपने एक सवैया द्वारा कहते हैं, "यदि मेरे प्रति तूने अनुग्रह नहीं दिखलाया, तो लोग तुझे ही हँसेंगे।"[4] उसके वात्सल्य-भाव पर इन्हें इतना भरोसा है कि ये उसका नाम-स्मरण करने तक की वैसी आवश्यकता नहीं समझते। इन्होंने उसके प्रति अपने को पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया है। उसके हाथ में पड़ कर ये निश्चिंत भाव के साथ अपना जीवन-यापन

---

१. मलूकदासजी की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० १-२।

२. वही, पृ० ३।

३. वही, पृ० ७१।

४. दीन दयाल सुनी जबतै तबतै हिया में कछु ऐसी बसी है।
   तेरो कहाय के जाऊं कहां, मैं तेरे हित की पट खैंच कसी है।
   तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरे समान न दूजो जसी है।
   एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हंसी नहिं तेरी हंसी है ॥१४॥
   —वही, पृ० ३२।

करते हैं। इसीलिए इनके नाम-स्मरण का आदर्श इस प्रकार बतलाया गया है, "नाम-स्मरण का तात्पर्य उसका प्रदर्शन कदापि नहीं हो सकता । यदि हृदय में अपने इष्ट के प्रति सच्चा प्रेम है, तो वह प्रेमी की प्रत्येक चेष्टा द्वारा यों ही इंगित होता रहेगा, उसके लिए वाह्य नियमों का पालन आवश्यक नहीं।"[१]

ईश्वर-तत्त्व का स्वरूप

संत मलूकदास के उपर्युक्त कथनों से प्रतीत होता है कि इनका ईश्वर कोई एक व्यक्ति है जिसके साथ पारस्परिक संबंध बनाये रखने को वे परम इच्छुक हैं, किंतु वास्तव में इनकी धारणा ऐसी नहीं है। आपा खोजने की युक्ति का स्पष्टीकरण इन्होंने बतलाया हैं, "हे भाई, आपा वा अपने आपको जी में ही खोजो जिससे भ्रांति दूर हो जाय और सारा विश्व तुम्हारे परिचय के भीतर आ जाय। जो मन है, वही परमेश्वर भी है जिसका हाल कोई बिरले जान पाते हैं और जो सबके घट का रहस्य जानता है, वही उसका रूप बतला भी सकता है। ब्रह्म का वास्तविक निवास हमारे भीतर वहाँ पर है, जहाँ से अनाहत शब्द सुनायी पड़ता है और जहाँ पर वह परम ज्योति के रूप में गगन-मंडल के बीच खेलता हुआ-सा प्रतीत होता है । उस निर्गुण तत्त्व के लक्षण कोई बड़भागी पुरुष ही बतला सकता है। इसके लिए उसका गृही की दशा में रहना वा विरक्त होकर भ्रमण करते फिरना अनावश्यक है। यह शक्ति उस हरि की दया से अपने आप आ जाती है।"[२] यह एक स्थिति है जिसे संत मलूकदास

---

१. माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौ न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम ॥१४॥
सुमिरन ऐसा कीजिये, दुजा लखै न कोय ।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय ॥४०॥
—मलूकदास की बानी, पृ० ३६ ।

२. "अड़ा खोज रे जिय भाई ।
आपा खोजे त्रिभुवन सूझै, अंधकार मिटि जाई ॥१॥
जोई मन सोई परमेसुर, कोई बिरला अवधू जानै ।
जौन जोगीसुर सब घट व्यापक, सो यह रूप बखानै ॥२॥
सब्द अनाहद होत जहां तें, तहां ब्रह्म की बासा।
गगन मंडल में करत कलोलै, परम जोत परगासा ॥३॥
कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गावै ।
क्या गिरही और क्या बैरागी, जेहि हरि देय सो पावै '॥४॥
—वही, पृ १७ ।

ने 'अनुभव पद' का नाम दिया है और जिसे अन्य संतों की भाँति चौथा पद भी कहा है। ये कहते है कि पहले पद वा प्रथम स्थिति में देवी-देवता का पूजन महत्त्व रखता है, दूसरे पद में नियम तथा आचार-विचार का पालन किया जाता है। तीसरे पद में सभी प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मौलिक भ्रांति तभी रह जाती है और वह उस अनिर्वचनीय चौथे पद को पाने पर ही जा पाती है।[1] इस स्थिति में अनहद की तुरही बजती रहती है और सहज ही उसकी ध्वनि सुन पड़ती रहती है, ज्ञान की लहरे उठती रहती है और ज्योति जगमग-जगमग करती रहती है। उस समय अनुभव होता है कि अतिम दशा को पहुँच गया, शून्य में ध्यान लग गया, तीनों दशाएँ विस्मृत-सी हो गई और चौथापद प्राप्त हो गया। अनुभव के उत्पन्न होते ही भ्रांति का भय दूर हो जाता है, साधक सीमित बातों को छोड़ नि.सीम में लग जाता है। उसके भीतर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और आत्म-जागृति हो जाती है। फिर तो अपने को कैसी भी वाह्य स्थिति में हम डालें, हमें दुविधा नही सता पाती और हम पक्के 'रावल' बन जाते है।[2]

हृदय की विशालता

संत मलूकदास एक पहुँचे हुए महात्मा थे और इनका सांसारिक अनुभव भी कच्चा नही था। ये कैसी भी स्थिति में पड़ कर घबड़ाना नहीं जानते थे, अपितु उसे अपने सामने आ गई अनिवार्य बात मान कर उसे आनंदपूर्वक अनुभव कर लेना आवश्यक समझते थे। ये विश्व-कल्याण के इतने पक्षपाती थे कि उसका सारा दुःख अपने ऊपर सहर्ष उठा लेने के लिए भी ये प्रस्तुत रहा करते थे।[3] इस कथन से इनके हृदय की विशालता की एक झाँकी मिलती है। इनके अनुभव की बानगी इनकी अनेक सुंदर उक्तियों में भी दीखती है जो कभी-कभी पूर्ण भाव-भरी तथा अत्यंत चुटीली जान पड़ती हैं।

परिचय तथा शिष्य

संत मलूकदास की ख्याति इनके जीवन-काल में भी बहुत फैल गई थी और इनसे भेंट करने के लिए बहुत-से लोग इच्छुक रहा करते थे। प्रसिद्ध है कि अपनी पूर्वयात्रा सं० १७२२ : सन् १६६५ ई० के अवसर पर सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर

---

१. मलूकदासजी की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० २३।

२. वही, पृ० २१।

३. 'जे दुखिया संसार में, खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक कों, लोगन दीजै सुक्ख ॥५३॥'
—वही, पृ० ३७।

सिंह ने भी इनसे कड़ा गाँव में भेंट की थी और सत्संग किया था। इसी प्रकार इनका मुग़ल सम्राट् औरंगज़ेब द्वारा भी सम्मान पाने की एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि जब उसने इन्हें अपने दरबार में दर्शनों के लिए बुलाया, तब इन्होंने उसके अहदियों के वापस आने से पहले ही उससे जाकर भेंट कर ली जिससे वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया। इनके कहने से उसके द्वारा कड़ा नामक गाँव के लोगों पर से ज़ज़िया कर का उठा लिया जाना भी प्रसिद्ध है। औरंगज़ेब का कोई फ़तेहखाँ नामक कर्मचारी तो संत मलूकदास का इतना बड़ा भक्त हो गया कि उसने अपनी नौकरी तक का त्याग कर दिया और इनके साथ 'मीरमाधव' कहला कर रहने लगा। इस मीर-माधव की गणना संत मलूकदास के प्रधान शिष्यों में की जाती है। कहते हैं कि उसकी समाधि भी कड़ा में वहीं बनी है, जहाँ उसके गुरु की वर्तमान है। इनके अन्य मुख्य १२ शिष्यों में लालदास, रामदास, उदयराय, प्रभुदास, सुदामा आदि के नाम आते हैं। परन्तु उनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं है।

मलूक-पंथ का प्रचार

संत मलूकदास के कहीं जाकर अपने मत का प्रचार करने अथवा किसी मठ के स्थापित करने का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। फिर भी इनके अनुयायियों की संख्या कम नहीं और वे पूर्व में पुरी तथा पटना से लेकर पश्चिम की ओर काबुल तथा मुल्तान तक मिला करते हैं। किंवदंती है कि प्रयाग में इनकी गद्दी की स्थापना इनके शिष्य दयालदास कायस्थ ने की थी। इस्फहाबाद में इसके लिए हृदयराम पहुँचे थे। लखनऊ में गोमतीदास ने उसकी बुनियाद डाली थी। मुल्तान में मोहनदास गये थे, सीता कोयल वा श्री काकुलम् (आंध्र) में पूरनदास ने मठ स्थापित किया तथा काबुल में रामदास ने जाकर इनके पंथ का प्रचार किया। इनकी अन्य गद्दियाँ जयपुर, गुजरात, वृंदावन, पटना और नेपाल तक पायी जाती हैं। इनकी पुरी वाली गद्दी के विषय में चर्चा करनेवाले इनके शव का जल के प्रवाह के साथ वहाँ तक बहते हुए पहुँचने की घटना का आविष्कार करते हैं। उनका कहना है कि बाबा मलूकदास का मृत शरीर कड़ा से चल कर पहले प्रयाग के किसी घाट पर ठहर, एक घाटिये से थोड़ा पानी पीने को माँगा और फिर डुबकी लगा कर काशी जा निकला। वहाँ पर कलम-दावात माँग कर अपनी पहुँच की सूचना लिख दी, जहाँ से भी डुबकी मार कर वह जगन्नाथपुरी चला गया। वहाँ पर जगन्नाथजी ने पंडों को स्वप्न दिया कि समुद्र तट पर एक अरथी पड़ी हुई है, उसे मेरे यहाँ शीघ्र उठा लाओ। अरथी के आने पर संत मलूकदास के शव ने जगन्नाथजी से बातचीत की और उनसे प्रार्थना की कि मेरे विश्राम के लिए अपने पनाले के निकट स्थान दीजिए। मेरे भोजन के लिए अपने भोग लगनेवाले 'दाल-चावल के पछोरन, बिनका

का रोट और तरकारी के छीलन की भाजी' का प्रबंध कर दीजिए। तदनुसार जगन्नाथजी के पनाले के पास मलूकदासजी का स्थान अब तक मौजूद है। उनके नाम का रोट अब तक जारी है जो यात्रियों को जगन्नाथजी के भोग के साथ प्रसाद में मिलता है।[1] परन्तु जैसा इसके पहले ही कहा जा चुका है, ये सारी बातें पीछे से गढ़ी हुई जान पड़ती हैं। इनका कोई यदि महत्त्व हो, तो वह किसी अन्य मलूकदास के साथ इनकी अभिन्नता सिद्ध करने के प्रयास में भी समझा जा सकता है।

मलूक-पंथ की वंशावली

---
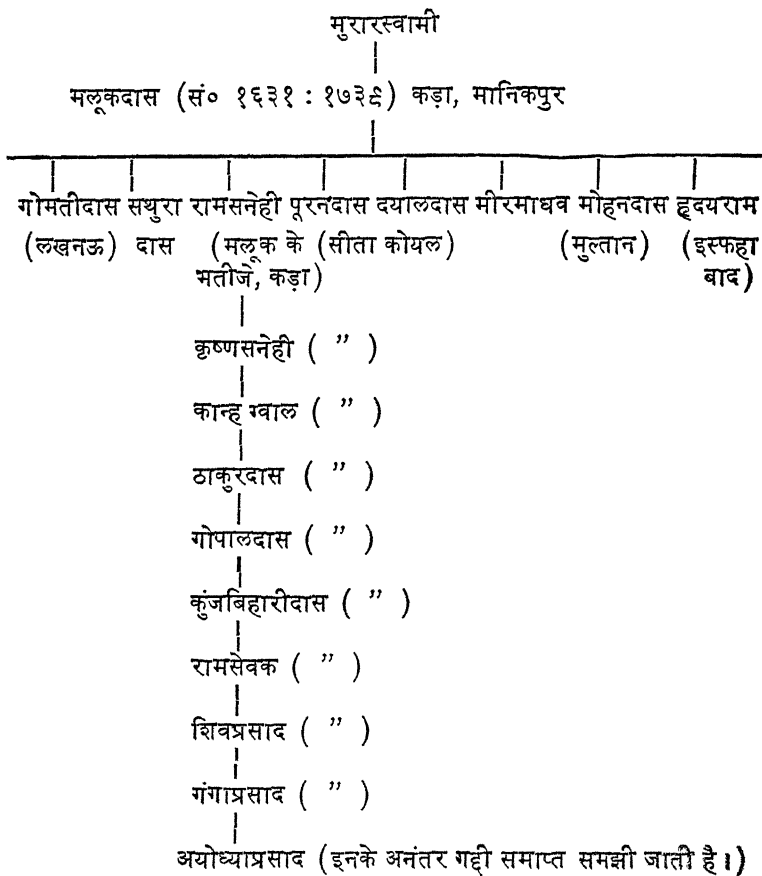
१. मलूकदासजी की बानी, जीवन-चरित्र, पृ० ७।

षष्ठ अध्याय

समन्वय तथा साम्प्रदायिकता (सं० १७००:१८५०)

१. सामान्य परिचय

संतों की स्वानुभूति

संतों ने जो सिद्धांत निश्चित कियेथे और जिन साधनाओं को उन्होंने अपनाया था, उनका मूलस्रोत उनकी स्वानुभूति ही थी। इस कारण उन्होंने विभिन्न धर्मों के प्रधान मान्य ग्रंथों अथवा किन्हीं व्यक्ति-विशेष के प्रमाणों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था, न इस बात को सिद्ध करने की ही कभी कोई चेष्टा की थी कि उनकी विचार-धारा किसी प्रकार अपने समय प्रचलित धर्मों के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों के साथ मेल खाती भी है वा नहीं। वे विचार-स्वातंत्र्य के पोषक थे और उनकी धारणा यह थी कि सत्य को सत्य मानने के लिए किसी वाह्य आधार की आवश्यकता नहीं है। कोई बात केवल इसलिए ही ठीक नहीं कि उसका वैसा होना धर्म-ग्रंथों में लिखा मिलता है अथवा ऐसा किसी बड़े-से-बड़े महापुरुष ने बतलाया है। उसकी सत्यता को अपने निजी अनुभव द्वारा यथासाध्य प्रमाणित कर लेना चाहिए इसके लिए केवल वाह्य प्रमाणों की अपेक्षा करना ठीक नहीं। संभव है कि उक्त धर्म-ग्रंथों के रचयिता महापुरुषों ने भी स्वानुभूति के बल पर उसे हमारी ही भाँति सत्य समझा हो। यह बात हमारे भीतर उसके प्रति श्रद्धा तथा विश्वास लाने का कारण बन सकती है। परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं, न हमारे सिद्धांतों का केवल उसी बल पर आश्रित रहना कभी उचित ही कहला सकता है। संतों की यह धारणा उनके हृदयों की सचाई, उनके विचारों की स्वतंत्रता तथा उनके सिद्धांतों की असंदिग्धता का परिचायक थी। इसके द्वारा हमें उनके मूल्यांकन में बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि इस प्रकार उनकी सारी बातें हमारे समक्ष विशुद्ध 'उनकी' होकर ही आती हैं। उनके विषय में हमें किसी सम्मिश्रण के कारण दूषित वा विकृत बन जाने का भ्रम नहीं हुआ करता।

समन्वय की प्रवृत्ति

परन्तु ज्यों-ज्यों संतों के विविधपंथ बनते गए और उनके पृथक् धर्म वा सम्प्रदाय कहलाने की परंपरा आरंभ होती गई, उनके अनुयायी अपने-अपने वर्गों को अन्य धार्मिक समुदायों की भाँति भिन्न-भिन्न समझने की ओर प्रवृत्त होते चले गए।

तदनुसार उन्होंने अपने कतिपय विचारों की तुलना भी उन प्रचलित धर्मों के सिद्धांतों के साथ आरंभ कर दी। इस प्रकार उनकी समान तथा असमान बातों की समीक्षा तक भी होने लगी। फलतः उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि बहुत-सी प्रमुख बातों में ऐसे धार्मिक वर्ग एक दूसरे के समान ठहराये जा सकते हैं। इस प्रकार का परिणाम व्यापक भी हो सकता है। यहाँ तक कि इस प्रकार विचार करने पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि सभी धर्म वा सम्प्रदाय, अपने-अपने मूल सिद्धांतों की दृष्टि से एक समान है। उनकी उन एक समान बातों की ओर समुचित ध्यान न देकर केवल शेष असमान बातों को महत्त्व दे डालना ठीक नहीं। क्योंकि एक तो वे बातें एक समान सर्वमान्य न होने के कारण, सर्वथा सत्य नहीं हो सकतीं और दूसरे यह कि ऐसी असमान बातों के ही कारण, प्रायः मतभेद तथा पारस्परिक वैमनस्य तक का भय बना रहता है। इसलिए, यदि संसार में एकता तथा समानता का भाव स्थापित करना हमें वास्तव में, अभीष्ट है तो उक्त नियमानुसार मुख्य-मुख्य सिद्धांतों में समन्वय लाना भी आवश्यक होगा। ऐसा करने पर यह आप-से-आप सिद्ध हो जा सकता है कि संसार के प्रचलित धर्मों के प्रमुख सिद्धांतों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। इस प्रकार धर्मों की, विविधता के नाम पर आपस में एक दूसरे को भिन्न मान बैठना तथा व्यर्थ के झगड़े मोल लेना मूर्खता मात्र है। इससे न तो किसी व्यक्ति वा धार्मिक समुदाय का सच्चा हित हो सकता है, न इसके द्वारा कभी विश्व-कल्याण की ही आशा की जा सकती है।

समन्वय का सूत्रपात

इस युग के आरंभ के प्रायः ५०-६० वर्ष पहले सम्राट् अकबर (सं० १५९९-१६६२) के दरबार में विभिन्न मतावलंबियों की पारस्परिक धर्म-चर्चा आरंभ हो चुकी थी। इसके परिणामस्वरूप सभी धर्मों की मौलिक एकता के आधार पर 'दीन इलाही' नामक एक समन्वयात्मक मत की बुनियाद तक भी डाली जा चुकी थी। इस प्रकार की भावना तत्कालीन वातावरण में तब से क्रमशः प्रवेश करती जा रही थी और लोगों का ध्यान इस ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। इसके सिवाय सम्राट् अकबर के प्रपौत्र प्रसिद्ध दाराशिकोह (मृ० सं० १७१६) की प्रवृत्ति भी इधर हो चली। उसने वेदांत के ग्रंथों का फ़ारसी-अनुवाद करना आरंभ किया। भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों के साथ वह इसी अभिप्राय से सत्संग भी करने लग गया। इन यत्नों के सिलसिले में ही उसकी भेंट संत बाबालाल से हुई जो वेदांत तथा सूफ़ी सम्प्रदाय के सिद्धांतों से भली भाँति परिचित थे। इनके साथ उसकी बातचीत हो जाने पर इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला। समन्वय-

परक विचारों से ही अनुप्राणित इस युग के एक अन्य संत प्राणनाथ भी हुए जिन्होंने हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई धर्म-ग्रंथों का गंभीर अध्ययन करके उनमें निहित व्यापक सिद्धांतों की मौलिक एकता के आधार पर अपने 'प्रणामी-सम्प्रदाय' की स्थापना की। संत दरियादास ने इसी युग के अंतर्गत, अपनी साधना-प्रणाली में अनेक मुस्लिम आचार-पद्धतियों का समावेश किया। 'साईदाता सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक मोहन साई ने भी इस युग का अंत होने के समय तक अपने यहाँ वैसी कई बातों को प्रश्रय दिया। इसके सिवाय, कह सकते हैं कि इस युग के संत रामचरणदास ने भी इसी प्रकार, अपने ढंग से कतिपय जैन-धर्म की बातों को अपनाया। वास्तव में इन संतों के अनुसार किसी भी धर्म वा सम्प्रदाय-विशेष के व्यापक सिद्धांत सर्वमान्य समझे जा सकते हैं और वे स्वीकार कर लेने योग्य हैं।

अन्य प्रवृत्तियाँ

समन्वय की ऐसी प्रवृत्ति के जागृत हो जाने पर यह स्वाभाविक था कि संत-मत के अनुयायियों में अन्य धर्मों के प्रवर्त्तकों तथा उनके मान्य ग्रंथों के प्रति श्रद्धा का भाव बढ़े तथा वे उनसे न्यूनाधिक प्रभावित भी होने लग जाए। फलतः वेदांत-ग्रंथों के साथ-साथ इस युग में सूफ़ियों की रचनाओं के प्रति आदर का भाव बढ़ा। उनका गंभीर अध्ययन आरंभ हुआ। दादू-पंथ के प्रसिद्ध संत सुंदरदास ने वेदांत-दर्शन का अनुशीलन करके उससे प्रभावित ग्रंथों की रचना की। बावरी-पंथी भीखा साहब तथा सत चरणदास की रचनाओं पर भी इस प्रकार के प्रभाव लक्षित हुए। इसके सिवाय संत चरणदास-जैसे कुछ लोगों ने हिन्दुओं के अन्य धार्मिक ग्रंथ-जैसे पुराणों और इतिहासों के अध्ययन और अनुवाद की ओर भी यत्न किये। उन्होंने ज्ञानयोग तथा योग-साधना संबंधी विविध प्रसंगों का भी विवेचन किया। संत शिवनारायण तथा संभवतः उनके गुरु दुखहरन ने प्राचीन भक्तों के चरित की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ 'भक्तमाल' और 'बीतक' ग्रंथ भी रचे गए। इस युग की एक अन्य प्रवृत्ति पुराने महापुरुषों को अपने प्रत्यक्ष गुरु के रूप में स्वीकार करने भी में दीख पड़ी। संत चरणदास ने पौराणिक मुनि शुकदेव को, बाबा किनाराम ने दत्तात्रेय को तथा गरीबदास ने कबीर साहब को अपना गुरु घोषित किया। इसी प्रकार संत दरियादास ने अपने को कबीर साहब का अवतार तक होना बतलाया। इस प्रकार की बातों को उत्साह मिलते जाने के कारण, प्राचीन आधारों का अवलंबन ग्रहण करना तथा प्रमाण-पारायण होना एक बार फिर साधारण-सी बात जैसा स्वाभाविक हो चला। उन दिनों के संतों तथा साधारण हिन्दू-सम्प्रदायों के अनुयायियों के बीच का अंतर उतना अधिक नहीं रह गया।

अलौकिक प्रदेश

पौराणिकता के उपर्युक्त प्रभाव का परिणाम उस समय एक अन्य प्रकार से भी लक्षित हुआ जो कम उल्लेखनीय नहीं है। कबीर साहब ने संत-मत के अंतिम ध्येय अथवा संतों की अभीष्ट सिद्धावस्था को 'परमपद' का नाम दिया था जो वास्तव में, उनके द्वारा प्रयुक्त इसके अन्य पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी एक प्रकार की आध्यात्मिक दशा अथवा स्थिति मात्र का ही परिचायक था। उनकी यह मंशा कदाचित् कभी भी न रही कि यह शब्द किसी स्थान-विशेष की ओर भी इंगित करें। गुरु नानकदेव ने अपनी रचना 'जपुजी' में उसे 'सचखंड' का नाम अवश्य दिया था, किंतु उनकी व्याख्या द्वारा भी इसका स्पष्टीकरण हो जाता था। इसके विपरीत, इस युग के प्राय: प्रारंभ से ही उसे विभिन्न भौगोलिक रूप प्रदान किया जाने लगे। संत प्राणनाथ ने इसे स्पष्ट शब्दों में, 'धाम' की संज्ञा दी जो वस्तुत: किसी-न-किसी पावन वा पवित्र स्थान को लक्ष्य करता था। उन्होंने उसे पूर्ण महत्त्व प्रदान कर वहाँ के रहनेवाले तथा उस तक पहुँचनेवाले को 'धामी' के नाम से अभिहित किया। इसी प्रकार संत दरियादास इससे और भी आगे बढ़े और कदाचित् 'शिवलोक', 'विष्णुलोक' अथवा 'गोलोक'-जैसे प्रचलित शब्दों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उसे 'छपलोक', 'सत्य लोक' वा 'अभयलोक' कहने की प्रणाली आरंभ की तथा उसके वर्णनों में भी अनेक भौगोलिक बातें आ गई। संत शिवनारायण ने तो इसे 'संत देश' का नाम देकर इसके पार्थिव रूप को और भी स्पष्टकर दिया। इस प्रकार कबीरसाहब की उपर्युक्त धारणा जो सर्वप्रथम, केवल किसी एक मानसिक दशा की ही ओर संकेत करती थी, क्रमश: उसे अलौकिक प्रदेश वा स्थान-विशेष का रूप प्रदान करने की ओर हमें प्रेरित करने लग गई। उसे साम्प्रदायिक महत्त्व भी मिलने लगा।

पवित्र ग्रंथ

इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि कबीर साहब का शरीरांत हो जाने पर उनकी उपलब्ध रचनाओं के कुछ संग्रह तैयार होने लगे थे। गुरु नानकदेव के शिष्य गुरु अंगद ने भी अपने अनुयायियों की सहायता से, सर्वप्रथम वैसा ही यत्न आरंभ किया था। परन्तु कालक्रमानुसार, भिन्न-भिन्न मतों के समर्थकों ने अपने गुरुओं, पथ-प्रदर्शकों अथवा मान्य महापुरुषों की विभिन्न रचनाओं को सुव्यवस्थित रूप देकर उन्हें संगृहीत करने का यत्न किया। इसके फलस्वरूप 'आदि ग्रंथ', 'कबीर बीजक', 'अंगबंधू'-जैसे विशिष्ट संग्रहों की भी सृष्टि हो चली और ये 'पीछे 'पवित्र ग्रंथ' तक माने जाने लग गए। ऐसे ग्रंथों का संपादन पहले पहल केवल इसी विचार से किया गया था कि उनमें संगृहीत बहुमूल्य बानियों को आगे के लिए सुरक्षित

रखना उनके द्वारा निर्दिष्ट मत को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक होगा। किंतु इस युग के आ जाने पर उनकी साधारण उपादेयता ने क्रमशः उनकी श्रद्धेयता का भी रूप ग्रहण कर लिया। उन्हें अब से 'पवित्र धर्म-ग्रंथ' माना जाने लगा। कबीर-पंथ का 'बीजक', सिक्ख धर्म का 'आदि ग्रंथ', साध-सम्प्रदाय का 'आदि उपदेश' तथा दादू-पंथ का 'अंगबंधू' अब से प्रसिद्ध मान्य ग्रंथों की कोटि में गिने जाने लगे। उन्हें आदर्शवत् स्वीकार करके उनके अनुकरण में प्रणामी-सम्प्रदाय का ग्रंथ "कुलज़म शरीफ़' तथा शिवनारायणी-सम्प्रदाय का 'गुरु अन्यास' ग्रंथ भी पूजनीय हो चले। सिक्खों के दसवें गुरु गोविंद सिंह के अंतिम आदेशानुसार 'आदिग्रंथ' की प्रतिष्ठा तो यहाँ तक बढ़ गई कि वह उस वर्ग के अनुयायियों द्वारा स्वयं 'गुरुग्रंथ साहब' तक कहला कर प्रसिद्ध हो गया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि उक्त ग्रंथों की अलौकिकता ने उन्हें सर्वसाधारण की दृष्टि में किसी एक परम गोपनीय वस्तु की भी पदवी दे डाली। वे क्रमशः प्रामाणिक आधारों की जगह से उठते हुए, अज्ञात वा रहस्यपूर्ण की दशा तक पहुँच गए। अतएव ऐसे ग्रंथों में से कई का अभी तक अप्रकाशित रूप में पड़ा रहना भी कदाचित्, इन्हीं बातों का परिणाम समझा जा सकता है।

दूसरों पर प्रभाव

परन्तु जिस प्रकार इस युग के संतमतानुयायी पंथ, साधारण हिन्दू, मुस्लिम वा जैन आदि धर्मों की अनेक बातों द्वारा प्रभावित होने लगे थे, उसी प्रकार विविध प्रचलित सम्प्रदायों के कई आचार्यों तक पर इसका प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्षप्रभाव पड़ता आ रहा था। उदाहरण के लिए इस संबंध में, राजस्थान के परशुराम देवाचार्य तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश के बाबा रामचन्द्र के नाम ले सकते हैं। परशुराम देवाचार्य निंबार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे और इनके निजी सिद्धांत प्रायः उसी के अनुसार बराबर निश्चित रहते आये। परन्तु इनकी रचनाओं के संग्रह 'परशुराम सागर' के देखने से पता चलता है कि इनकी विचार-धारा पर कुछ-न-कुछ संत-मत का भी प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उसी दशा में इन्होंने कदाचित् वहाँ पर संगृहीत कई कृतियों का निर्माण भी किया होगा। इसमें संदेह नहीं कि इनके अनुयायियों के 'भेष' वा धार्मिक चिह्न मूल-सम्प्रदाय का ही अनुसरण करते हैं। इनकी उपासना-पद्धति का प्रधान अंग भी ज्यों-का-त्यों वर्तमान है। किंतु जहाँ तक इनके दार्शनिक दृष्टिकोण, परमतत्त्व के स्वरूप वा अन्य ऐसी बातों का प्रश्न है, ये बहुत कुछ संत-मत के निर्गुणाविशिष्ट विचारों का भी आश्रय ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं पर इनकी कथन-शैली ने भी अधिकतर वही रूप धारण कर लिया है जो संत-साहित्य के अंतर्गत पायी जाती है। इसी प्रकार हम इधर के बाबा रामचन्द्र

के विषय में भी कह सकते हैं जो वर्तमान बलिया जिले (उ० प्र०) के चंदाडीह नामक गाँव के निवासी थे। इनका जीवन-काल १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध समझा जाता है। कहा जाता है कि ये एक प्रकांड विद्वान् और निपुण कवि भी थे। इनकी उपलब्ध रचना 'चरणचन्द्रिका' से पता चलता है कि ये कभी भगवती के उपासक रहे होंगे। किंतु प्रसिद्ध है कि ये फिर किसी वैष्णव साधु द्वारा दीक्षित हो गए थे। तदनुसार इन्होंने कोई 'सीतारामीय सम्प्रदाय' भी स्थापित किया। इनके सुयोग्य शिष्य बाबा नवनिधिदास (सं० १८१०-१६२०) ने इस सम्प्रदाय के प्रचारकार्य में कदाचित्, इनसे कही अधिक सफलता प्राप्त की। इसके उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि इसके अनुयायियों में प्रधानतः अपने इष्टदेव सीताराम की ही भावना काम करती रही। परन्तु सम्प्रदाय के ग्रंथ 'संत-मत-सार' के अनुसार वे लोग संत-मत के द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित है।[1] बाबा रामचन्द्र के पथ-प्रदर्शक के रूप में वे लोग किसी झामदास का नाम तक लेते हैं जिनका संबंध कबीर साहब की शिष्य-परंपरा के साथ रह चुका है।

सुल्तान बाहू और शाह लतीफ़

इसी प्रकार इस युग के अंतर्गत हमें संत-मत का प्रभाव अनेक सूफ़ी साधकों पर भी पड़ा हुआ दीख पड़ता है। ऐसे लोग अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रांतों के निवासी थे। उनमें से कई की भाषा हिंदी न होकर ठेठ पंजाबी अथवा सिंधी तक थी। परन्तु, फिर भी हमें ऐसा लगता है कि कबीर साहब आदि की रचनाओं द्वारा वे लोग परिचित अवश्य हो गये होंगे, क्योंकि जहाँ तक हमें उनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से प्रकट होता है उनके कई स्थलों पर इनका प्रभाव स्पष्ट है। इन सूफ़ी कवियों में से एक सुलतान बाहु थे, जिनका जन्म पश्चिमी पंजाब प्रांत के झंग जिले के किसी 'आवान' नामक गाँव में हुआ था। सुलतान बाहु का जीवन-काल (सं० १६८७-१७४८) बतलाया जाता है। कहा जाता है कि इनके पिता अरबी-फ़ारसी के प्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्हें सम्राट् शाहजहाँ के दरबार से कोई विशिष्ट उपाधि भी मिली थी। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करके सुल्तान बाहू, क़ादरी सूफ़ी-सम्प्रदाय के अब्दुल रहमान के यहाँ दीक्षित हुए और ये तब से अपनी साधना तथा मत-प्रचार की ओर भी प्रवृत्त हो गए। कहते हैं कि इन्होंने १४० पुस्तकों की रचना की जिनमें से अधिक फ़ारसी भाषा में ही लिखी गई हैं और केवल कुछ ही पंजाबी में हैं। पंजाबी में इनकी "सिहर्फ़ियाँ" और 'काफ़ियाँ' विशेष प्रसिद्ध

१· श्री महंत जैकृष्ण जी : श्री पोथीसंतमतसार बनारस१६०५ ई०।

हैं। इनके वर्ण्य-विषय प्राय: वे ही हैं जो संत-साहित्य में भी पाये जाते हैं। शाह अब्दुल लतीफ़ भी इसी प्रकार, एक अन्य सूफ़ी कवि थे जो सिंध के निवासी थे। इनका जीवन-काल (सं० १७४७-१८०६) था और इनका जन्म हैदराबाद, सिंध जिले के 'हाला' नामक गाँव में हुआ था जो आजकल इन्हीं के नाम पर 'शाह भिट्टाई' कहला कर प्रसिद्ध है। इनका जीवन अत्यंत सरल और सादा था। ये अपने यहाँ के सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि भी माने जाते है, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं पर कबीर साहब का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। इनके कुछ पद्य तो उनकी साखियों के ठीक अनुवाद के जैसे भी जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कबीर साहब की एक साखी है;[1] जो शाह साहब के यहाँ भी पायी जाती है जिसका अभिप्राय है, "मेरी आँखों में बैठ जाओ ताकि मैं तुझे ढाँप लूँ, न दुनिया तुझे ही देखे, न मैं ही दूसरों को देख सकूँ।' शाह साहब के लिए यह भी कहा जाता है कि इन्होंने संभवत: कबीर साहब के ही प्रभाव में आकर अपनी रचनाओं में 'राम' शब्द तक का प्रयोग किया है।[2]

शासन-विद्रोह

इस युग के संतों की एक विशेषता उनके द्वारा तत्कालीन शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने की प्रवृत्ति में भी लक्षित हुई। सिक्खों के छठे गुरुहरगोविंद राय ने, अपने पिता गुरु अर्जुनदेव की नृशंसतापूर्ण हत्या के कारण क्षुब्ध होकर मुग़ल-शासन के विरुद्ध प्रतिशोध की जो प्रतिज्ञा की थी उसका परिणाम उनके अनंतर गुरु गोविंद सिह तथा वीर बंदाबहादुर की लड़ाइयों के रूप में इसी युग के भीतर दीख पड़ा। उसका प्रभाव बहुत पीछे तक भी बना रह गया। इसके सिवाय सम्राट् औरंगज़ेब के विरुद्ध सत्तनामियों ने भी इस युगके ही अंतर्गत अपना विद्रोह आरंभ किया। गुरु नानकदेव के शांति तथा सद्भाव प्रचार करनेवाले नानक पंथने मुग़लशासन के विरुद्ध जिस प्रकार लोहा लेनेवाले युद्ध-निपुण खालसा सिपाहियों का संगठन किया, कदाचित् उसी प्रकार इस काल में और लगभग वैसी ही परि-स्थिति से विवश होकर सत्तनामी विद्रोहियों का एक पृथक् वर्ग भी संगठित हो गया।

---

१. 'नैना अंतरि आव तूं, ज्यों हौं नैन झंपेउ।
ना हौ देखौं और कौं, ना तुझ देखन देंउ ॥१२॥'
—कबीर ग्रंथावली, प्रयाग संस्करण, १६६१ ई०, 'साखी' पृ० ७६।
तुलनीय: 'अख्युनि में थी वेहु मां, वारे टक्या दूं।
तोखेन द्रिसे द्रेहु, आऊ न द्रिसां, व्यनिखे ॥'

२. शाह लतीफ़ पर कबीर का प्रभाव, सम्मेलन पत्रिका, सं० २००५, पृ० ३१।

रचना-शैली

इसी प्रकार इस युग के संतों की एक अन्य विशेषता उनके द्वारा रचे जानेवाले ग्रंथों की रचना-शैली में भी दीख पड़ी। इनके पहले वाले संत-कवि अपनी रचनाएँ अधिकतर पदों, साखियों अथवा लोक-प्रचलित काव्य-प्रकारों के ही माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया करते थे। इस नियम में परिवर्त्तन लाने की ओर उनका ध्यान नहीं था। परन्तु इस युग की अनेक रचनाएँ हमें दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रेखता तथा कुंडलिया-जैसे रूपों में भी दीख पड़ती है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि इस युग वाले संतों में प्रचार की भावना अधिक तीव्रता के साथ काम करती थी। उन्होंने समय की गति को ध्यान में रखते हुए स्वभावतः उन रचना शैलियों को भी अपनाना आरंभ कर दिया जो विभिन्न विषयों का वर्णन करने के लिए उस समय लोकप्रिय माध्यम बनती जा रही थीं। इसके सिवाय इस संबंध में, यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय जान पड़ता है कि इस युग के कतिपय संतों ने न केवल पौराणिक ग्रंथों का भाषांतर करने की ही ओर ध्यान दिया, अपितु उनमें से कुछ ने प्रचलित सूफ़ी प्रेमगाथा-साहित्य के आदर्श पर ऐसी कथा-पुस्तकों की भी रचना कर डाली जिन्हें प्रबंध-काव्यों की कोटि तक में गिना जा सकता है।

२. बाबालाली-सम्प्रदाय

चार बाबालाल

पंजाब प्रांत में बाबालाल नामक चार महात्माओं के नाम प्रसिद्ध हैं। रोज़ साहब के अनुसार इन चारों में से एक 'पिण्ड दादन खाँ' स्थान के निवासी थे। वे सूखी लकड़ी को भी शीशम का हरा-भरा वृक्ष बना डालने के कारण, टहली वाला वा टहनी वाला कहलाते थे। एक दूसरे का निवास-स्थान भेराम्यानी वा भेरा नामक पश्चिमी प्रांत का ही कोई नगर था। तीसरे का एक मठ अभी तक गुरदासपुर में विद्यमान बतलाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि इनके अनुयायियों की संख्या कुछ-न-कुछ आज भी ठहरायी जा सकती है। परन्तु रोज साहब इन तीनों में से किसी को भी उस बाबालाल से अभिन्न नहीं मानते जिनके साथ शाहजादा दारा-शिकोह की प्रसिद्ध बातचीत हुई थी।[1] इन चौथे अर्थात् शाहज़ादा दाराशिकोह के संपर्क में आनेवाले बाबालाल को मालवा प्रांत के किसी खत्री-परिवार का होना कहा जाता है। इनके लिए यह भी बतलाया जाता है कि इनका जन्म सं० १६४७: सन् १५६० में हुआ था।[2] कहते हैं कि अपनी आध्यात्मिक पिपासा की शांति

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी आदि, भा० २, पृ० ३१।

२. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १४०।

के उद्देश्य से ये अपने जन्म-स्थान से लाहोर की ओर निकल पड़े थे तथा इन्होंने चेतन से दीक्षा ग्रहण की थी। किंतु बाबालाली-सम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार इन बाबालाल का जन्म सं० १४१२ की माघ शुक्ल २ को हुआ था। इनके देहांत की तिथि सं० १७१२ अथवा १७२० की कार्त्तिक शुक्ल १० थी। इस कारण इनका ३०० अथवा इससे अधिक वर्षों तक भी जीवित रहना सिद्ध होता है। इनका जन्म-स्थान भी ये लोग कुसूर (कुशपुर) बतलाते हैं जो लाहोर नगर से अधिक दूर नहीं है और जो पंजाब प्रांत में वर्तमान है। इन्हीं बाबालाल का ये लोग बाबा चेतन वा चैतन्य स्वामी द्वारा कभी दीक्षित होना कहते हैं तथा इन्हीं से दारा शिकोह की भेंट भी स्वीकार करते हैं। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर विचार करते समय हमें केवल इसके ३०० वा उससे अधिक वर्षों के सुदीर्घ जीवन-काल के अतिरिक्त किसी अन्य अंश के प्रति अविश्वास प्रकट करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है कि इन बाबालाल का जन्म संभवतः उक्त सं० १६४७ के आसपास अथवा एक अन्य मत के अनुसार सं० १६३६ में हुआ होगा। इन्होंने सं० १७१२ अथवा सं० १७२० की उक्त तिथि में अपना शरीर-त्याग किया होगा। डॉ० विल्सन ने इनके जन्म का सम्राट् जहाँगीर के राज्यकाल (सं० १६६२-८४ : सन् '१६०२-५७ ई०) में किसी समय होना अनुमान किया है,[१] किंतु इसके आधार का हमें पता नहीं है। संत बाबालाल की मरण-तिथि के विषय में कदाचित् मतभेद नहीं जान पड़ता, केवल इसके संवत् १७१२ को कभी-कभी १७२० कर दिया जाता है।

दीक्षा तथा भ्रमण

संत बाबालाल की माता का नाम कृष्णा देवी था। इनके पिता का नाम भोलानाथ प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि केवल ८ वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने कुलधर्मानुसार अध्ययन समाप्त करके धार्मिक जीवन पसंद कर लिया था। कहते हैं कि जब ये १० वर्ष के थे तो इन्हें उत्कट वैराग्य हो गया और किसी सद्गुरु की खोज में येतीर्थों में निकल पड़े। ऐसे ही समय लाहोर के समीप दहशरा में बाबा चेतन वा चैतन्य स्वामी से ऐरावती नदी के तट पर इनकी भेंट हो गई। इसका इनके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और संभवतः उनसे दीक्षित होकर ये उनके साथ कुछ दिनों तक लाहोर में ठहर गए। परन्तु प्रसिद्ध है कि कुछ समय बीत जाने पर ये अपने २२ प्रमुख शिष्यों के साथ पंजाब के अतिरिक्त, काबुल, ग़ज़नी,

---

१. एच० एच० विल्सन: ए स्केच ऑफ़ दि रेलिजस सेक्टस ऑफ दि हिन्दूज, जर्नल एशियाटिक, पेरिस, सन् १८८२, पृ० २६६।

पेशावर, गांधार, देहली और सूरत की ओर भी भ्रमण करते फिरे और सब कहीं अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट आध्यात्मिक मार्गका उपदेश देते रहे। इनके कहीं एक स्थान पर अधिक दिनों तक जम कर ठहरने अथवा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रो० कालिकारंजन कानूनगो ने संभवतः गार्सां द तासी के आधार पर बतलाया है कि इन्होंने कुछ समय तक सरहिंद वा बटाला के निकट किसी ध्यानपुर नामक स्थान में निवास किया था। वहाँ पर इन्होंने कोई एक आश्रम चलाया था, जहाँ पर ये अपने उपदेश दिया करते थे।[1] इनके अनुयायियों का विश्वास है कि उच्च कोटि के योगिराज होने के कारण, इन्होंने काया सिद्ध कर ली थी जो ३०० वर्षों तक बनी रही।

बाबालाल तथा दाराशिकोह

संत बाबालाल के जीवन की सबसे प्रमुख घटना इनका शाहज़ादा दाराशिकोह के निमंत्रण पर लाहोर जाकर उसके साथ आध्यात्मिक विषयों पर वार्त्तालाप करना समझी जाती है और इसे ऐतिहासिक महत्व भी प्रदान किया जा चुका है। इस मिलन का काल साधारणतः सं० १७२६ : सन् १६६६ बतलाया जाता है जो ठीक नहीं जान पड़ता। इतिहास के अनुसार उक्त शाहज़ादे का उसके भाई औरंगज़ेब द्वारा सं० १७१६ : सन् १६५६ में वध करा दिया जाना सिद्ध है। हम अभी अनुमान कर आये हैं कि स्वयं संत बाबालाल का देहांत भी संभवतः सं० १७१२ वा १७२० में ही हुआ होगा। शाहज़ादा दाराशिकोह सं० १६६७ : सन् १६४० में कश्मीर गया था। कहते हैं कि उधर देश-भ्रमण करते समय उसने प्रत्येक धर्म के महात्माओं वा ब्रह्मज्ञानियों को बुला कर उसने उनके दर्शन किये थे और कदाचित् उनसे उपदेश भी ग्रहण किये थे। प्रसिद्ध है कि उसी समय के अंत में उसने काशी से कई पंडितों को बुला कर उनकी सहायता से ५० उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद किया था जो २६वीं रमज़ान सन् १०६७ हि० : सन् १६५६ ई० वा सं० १७१२ में पूरा हुआ था। इस बात की चर्चा उसने उसकी भूमिका में भी कर दी है।[2] इस अनुवाद का नाम 'सिर्र अकबर' (महान रहस्य) रखा गया था। इसके अतिरिक्त उसने एक सूफ़ी धर्म की पुस्तक भी फ़ारसी में लिखी थी जो 'रिसाल-ए-हकनुमा' नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचना-काल हि० सन् १०५६ : सन् १६४५ ई० : सं० १७०२ है। इससे पता चलता है कि सं० १६८७ से लेकर

---

१. डॉ० कालिका रंजन कानूनगो : दाराशिकोह, हिंदी अनुवाद, आगरा, सन् १९५८ ई०, पृ० १५९।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, वर्ष ४७ अंक २, पृ० १८०-५।

सं० १७१३ तक का समय उक्त भेंट के लिए अधिक उपयुक्त रहा होगा। विल्सन साहब के अनुसार इन दोनों के बीच सात सत्संग हुए थे। इन्हें दाराशिकोह् के दो लिपिकों अर्थात् यदुदास नामक क्षत्रिय तथा मीर मुंशी रामचन्द्र ब्राह्मणअथवा रायचन्द्रभान ने लिपिबद्ध किया था। इस संबंध में यह भी कहा जाता है कि यह बातचीत शाहजहाँ बादशाह के शासन-काल के २१वें वर्ष अर्थात् सं० १७०६ : सन् १६४६ ई० में जाफर खाँ के बाग में हुई थी।[1] परन्तु अधिक संभव है कि सं० १७०६ : सन्१६४६ ई० में दिल्ली में ठहरते समय बाबालाल ने दाराशिकोह को सर्वप्रथम आकृष्ट किया होगा। इन दोनों का प्रत्यक्ष मिलन इसके४ वर्ष पीछे लाहोर में हुआ होगा, जब शाहज़ादा कंदहार सेहार कर उस ओर से लौटा होगा। सं० १७१० : सन् १६५३ में वहाँ पर संत बाबालाल कोटल मेहरा में निवास कर रहे होंगे। जहाँ तक इन दोनोंकेसात वार्त्तालापों का प्रश्न है, इनमें से प्रथम जाफ़र खाँ के बाग में हुआ, दूसरा बादशाही बाग के सराय अनवरमहल में हुआ, तीसरा धनबाई के बाग में हुआ और वहीं पर छठा भी हुआ। चौथा शाहगंज के निकट आसफ़ खाँ के महल में हुआ, पाँचवाँ निकलानपुर केनिकट गावान के शिकार-गाह मे हुआ और सातवाँ जो तीन दिनों तक चला किसी गुप्त स्थान पर हुआ।[2] इस गुप्त स्थान को ही कदाचित् रायचन्द्रभान का मकान बतलाया गया है। वहाँ किये गए वार्त्तालाप के समय के एकाध चित्र भी बना लिये गए हैं जो आजतक उपलब्ध है। इन दोनों के प्रश्नोत्तर 'असरारे मार्फ़त' नामक एक फ़ारसी ग्रंथ में संगृहीत है जो सं० १९६९ में लाहोर से प्रकाशित हो चुका है।[3] इनका एक संग्रह 'नादिरुन्निक़ात' नाम से भी पाया जाता है जो वस्तुतः रायचन्द्रभानद्वारा किया गया उसी का फ़ारसी अनुवाद समझा जाता है।

आध्यात्मिक सिद्धांत

संत बाबालाल की रचना के नाम से कतिपय फुटकर दोहे वा साखी आदि प्रचलित हैं, किंतु इनका कोई प्रामाणिक संग्रहनहीं मिलता। इस कारणइनके सिद्धांतों का प्रसंग आनेपर हमें अधिकतर इनके उक्त वार्त्तालाप के ही ऊपर आश्रित रहना पड़ता है। इन्होंने अपनी इस आध्यात्मिक बातचीत के समय वेदांत-मत के साथ-साथ मौलाना रूम-जैसे कुछ सूफ़ियोंके वचनों को भी उद्धृत किया है जिससे इनके

---

१. हिन्दू रिलिजस सेक्ट्स, पृ० ३५० ।

२. विक्रमाजीत हसरत : दाराशिकोह्, लाइफ एंड वर्क्स, विश्वभारती, पृ० २४१-२ ।

३. कल्याण, गोरखपुर, 'संत अंक', पृ० ५१३ ।

व्यापक ज्ञान का पता चलता है। संत बाबालाल विशुद्ध एकेश्वरवादी जान पड़ते हैं। इन्होंने राम का हरि के रूप में सभी धर्मों के उपास्यदेव परमात्मा को स्वीकार किया है। इनका मत कबीर साहब तथा दादूदयाल-जैसे संतों की विचार-धारा से कोई पृथक् मार्ग ग्रहण करता नहीं जान पड़ता, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उस पर वेदांत-मत तथा सूफ़ी-मत का प्रभाव कहीं अधिक स्पष्ट है। दाराशिकोह ने तो इनका 'मुंडिया' और कबीर-मार्गी होना ही बतलाया है। इनका कहना है कि परमात्मा एक अपूर्व आनंद सागर के समान है और प्रत्येक जीव उसकी एक बिंदु के रूप में वर्तमान है। उसके वियोग के अनुभव का एकमात्र कारण हमारी 'अहंता' है जिसके साधना द्वारा क्षय हो जाते ही हमें एकता की अनुभूति आप-से-आप होने लगती है। दाराशिकोह के प्रश्न करने पर कि 'जीवात्मा तथा परमात्मा में क्या अंतर है ?" इन्होंने बतलाया है कि कोई अंतर नहीं है, क्योंकि जीवात्मा के सुख-दुख उसके बंधन के कारण हैं जो शरीर-धारण से संभव हुआ है। गंगा नदी का जल एक ही है चाहे वह नदी की घाटी से होकर बहे, चाहे किसी पात्र में बंद रहे अंतर का प्रश्न केवल तब आता है जब हम देखते हैं कि शराब की एक बूँद भी पात्र वाले जल को दूषित कर देती है, जहाँ नदी में पड़ने पर उसका कहीं पता नहीं चल पाता। इस प्रकार परमात्मा सभी प्रभावों से दूर है; जहाँ जीवात्मा इन्द्रियों के कार्यों तथा मोहादि के द्वारा प्रभावित हो जाया करता है। संत बाबालाल ने प्रकृति तथा सृष्टि के विषय में भी कहा है कि इन दोनों का संबंध बीज तथा वृक्ष अथवा समुद्र तथा तरंग का जैसा है। दोनों तत्त्वतः एक ही हैं, किंतु प्रकृति से सृष्टि रूप में विकसित होने के लिए किसी कारण की भी अपेक्षा हुआ करती है जो उस दशा में आवश्यक नहीं है।

उपयुक्त साधना

संत बाबालाल की साधना के अंतर्गत शम, दम, चित्तशुद्धि, दया, परोपकार, सहज-भाव तथा सत्य-दृष्टि-जैसी बातें आती हैं। इनकी सहायता अथवा अभ्यास द्वारा अहंता का नाश बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। इसी प्रकार, भक्ति तथा प्रेम की शक्ति द्वारा हम यदि चाहें तो भगवान् की प्राप्ति भी कर सकते हैं। सभी साधनाओं का लक्ष्य अपने जीवन को परमात्मा के प्रेम में ओत-प्रोत कर देना है; किंतु हम उस प्रेमानंद की कोई उपयुक्त परिभाषा नहीं दे सकते। वैराग्य वा विरति से इनका अभिप्राय भोजन-वस्त्रादि का त्याग कर देना वा अपने शरीर को किसी प्रकार कष्ट पहुँचाना कभी नहीं था। इनके अनुसार इन सभी की विस्मृति अथवा इनके मोह का त्याग ही वास्तविक वैराग्य होगा। ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति तथा परोपकार इनके मत के दो ऐसे अंग हैं जिनकी ओर इन्होंने विशेषध्यान दिया है और दूसरों से भी दिलाया है। इन्होंने मूर्ति-पूजा, अवतारवाद वा अन्य ऐसी

बातों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है और योग-साधना को विशेष महत्त्व दिया है। इनके अनुसार साधु का परम कर्त्तव्य श्रद्धा तथा वैराग्य के साथ अपना जीवन व्यतीत करना है। इन्होंने यह भी कहा है, "जिसे ब्रह्म में पूरी आस्था हो गई वह चाहे मौन धारण करे वा गीत गाये एक ही बात होगी। उसे बराबर उन्मनी की खुमारी लगी रहती है। शब्द तथा सुरत दोनों एक ही तार में जुड़े बने रहा करते हैं। आत्मोपलब्धि हो जाने पर न तो वह घर में रहता है, न वन में ही जाया करता है, "जो किसी प्रकार की आशा से रहित है और आत्मा को शून्य की स्थिति में रखता है उसे न तो कोई भ्रम रहता है, न पुण्य-पाप।" अपने शरीर के भीतर श्वास है और श्वास के भीतर जीव का निवास है, जिसमें वासना है उस जीव को प्रियतम कैसे मिल सकता है?"[1]

प्रचार-केन्द्र

संत बाबालाल के अनुयायी पश्चिमी पाकिस्तान की ओर अच्छी संख्या में हैं। ये बड़ौदा के निकट भी पाये जाते हैं तथा वहाँ पर इनका एक मठ वर्तमान है जिसे 'बाबालाल का शैल' कहा जाता है। परन्तु इनका सर्वप्रमुख केन्द्र पंजाब प्रांत के अंतर्गत गुरुदासपुर जिले का ध्यानपुर नामक स्थान है जो सरहिंद के निकट पड़ता है। वहाँ पर इनके मठ और मंदिर हैं, जहाँ संत बाबालाल की समाधि पर प्रतिवर्ष बैशाख मास की १० तथा विजयादशमी के दिन मेले लगा करते हैं। बाबा-लाली अपने ललाट पर गोपीचंदन धारण करते तथा राम को अपना इष्टदेव स्वीकार करते हैं। किंतु अवतारवाद को नहीं मानते और सांख्य के विकासवाद का समर्थन करते हैं।[2]

३. प्राणनाथी वा प्रणामी-सम्प्रदाय

श्री देवचन्द्र वा देवचन्द्राचार्य

प्राणनाथी वा प्रणामी सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक संत प्राणनाथ कहे जाते

---

१. "जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत, धरै मौन भावै गावै गीत।
निसदिन उनमन रहत खुमार, शब्दसुरत जुड़ एकोतार।
ना गृह रहे न बन को जाय, लालदयाल सुखआतम पाय॥"
"जिहकी आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिनको कछु नहीं भरमणा, लागै पाप न पुन्य॥"
"देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव।
जाके अंतर वासना, किस विध पावै पीव॥"
—कल्याण, गोरखपुर, 'संत अंक' पृ० ५१४ पर उद्धृत।

२. दाराकूहशि : लाइफ़ ऐंड वर्क्स, पृ० २४०।

हैं। इसका मूल प्रवर्त्तन श्री देवचन्द्रजी वा देवचन्द्राचार्य द्वारा किया गया समझा जाता है जो इनके गुरु तथा पथ-प्रदर्शक रह चुके थे। श्री देवचन्द्रजी का जन्म मारवाड़ प्रदेश के 'उमरकोट' नामक गाँव में सं० १६३८ की आश्विन शुक्ल १४ को हुआ था। इनके पिता का नाम मत्तू मेहता था तथा इनकी माता कुँवर बाई के नाम से प्रसिद्ध थीं।[1] मेहता के इस परिवार को कायस्थ-परिवार बतलाया गया है। कहा गया है कि मनू मेहता एक धनी व्यापारी भी थे। कुँवर बाई एक धर्मपरायण महिला थी। इस कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव बालक देवचन्द्र पर भी पड़ा। उसके बचपन से ही अपने हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति जागृत होने लग गई। कहते हैं कि अपनी केवल १३ वर्ष की अवस्था में जब ये एक बार अपने पिता के साथ कच्छ गये हुए थे इनकी भेंट वहाँ के हरिदास गोसाईं से हो गई। इनसे ये बहुत प्रभावित हुए और इन्होंने उनकी शिष्यता तक स्वीकार कर ली। अपने पिता के साथ वहाँ से लौट आने पर फिर एक बार इन्होंने उनके दर्शन भोजनगर में किये। इस समय इनकी आध्यात्मिक पिपासा और भी बढ़ गई। ये लगभग तीन वर्षों तक अनेक धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करते रहे और पीछे अपने गृह तक का इन्होंने त्याग कर दिया। ये कच्छ प्रदेश में जाकर वहाँ पर विभिन्न धर्मों के विद्वानों के साथ सत्संग करने लगे। मूर्तिपूजा तथा तपस्यादि की ओर से क्रमशः श्रद्धा में कमी आने लगी। उच्च कोटि के मौलवियों के साथ वार्त्तालाप करने पर भी इन्हें कोई समाधान नहीं हुआ। विभिन्न धर्म-ग्रंथों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर इनके विचारों में कुछ परिवर्त्तन अवश्य आया। किंतु जब ये एक बार फिर हरिदास जी के निकट पहुँचे तो इन्होंने उनसे उनके राधावल्लभी सम्प्रदाय की विविधवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। तदनुसार इन्होंने वहाँ पर अपने सहधर्मियों के साथ श्री बालकृष्ण की उपासना तथा सखी-भाव को भी स्वीकार कर लिया। इधर इनके माता-पिता इन्हें ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे। उन्होंने इन्हें वहाँ से घर लाकर इनका विवाह भी कर दिया, किंतु इनका मन यहाँ नहीं रम सका। ये फिर वहाँ वापस चले गये और 'श्रीमद्भागवत पुराण' का गंभीर अध्ययन करने लगे। इससे इनके मन में स्थिरता आयी। कहते हैं कि अपनी ४० वर्ष की अवस्था में इन्हें अंतिम रूप से बोध

---

१. "संवत् सोला सें अड़तीसे, आसो सुद चौदसकों।
जनम दिन श्री देवचंदजी, आये प्रगटे मारवाड़ में
तामें गाँव उमर कोट, मत्तू मेहता घर अवतार।
माताजी कुँवर बाई।" आदि
—हिंदी अनुशीलन, प्रयाग अक्टूबर-दिसंबर, १९५७ ई०, पृ० १०।

हो गया। इन्होंने अपने 'निजानंद-सम्प्रदाय' की सृष्टि की। इनके प्रथम शिष्य कोई गाँगजी भाई थे। प्राणनाथ इनसे पीछे दीक्षित हुए। इनकी मृत्यु भाद्रपद शुक्ल १४ बुधवार सं० १७१२ को हुई।

प्राणनाथ : प्रारंभिक जीवन

संत प्राणनाथ का जन्म काठियावाड़ प्रदेश के जामनगर नामक स्थान अथवा लालदास रचित 'बीतक' ग्रंथ के अनुसार 'हल्लार देश की नौतनपुरी' में सं० १६७५ की भाद्रपद कृष्ण १४ रविवार के दिन चढ़ते पहर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर था और इनकी माता धनबाई थी। स्वयं इनका बचपन वाला नाम 'मेहेराज' (मिहिर राज) रामठाकुर था।[१] इनकी प्रारंभिक शिक्षा के संबंध में प्राय: कुछ भी पता नहीं चलता। 'बीतक' में कहा गया है कि जब ये केवल १२ वर्ष और कुछ महीनों के थे, सं० १६८७ की अगहन शुक्ल ६ को नौतनपुरी में इन्होंने देवचन्द्रजी के दर्शन किये। उन्होंने इन्हें 'तारतम्य मंत्र' दे दिया। मेहेराज के तीन बड़े भाई स्यामल, गोबर्धन और हरवंश नाम के थे। इनका एक छोटा भाई ऊधव भी था। इनमें से गोबर्धन देवचन्द्रजी के परम भक्त थे। उन्हीं के साथ में ये पहले-पहल उनके दर्शनों के लिए गये हुए थे। कहते हैं कि ये देवचन्द्रजी द्वारा बहुत प्रभावित हो गए। इनके प्रति उनके भी आकृष्ट हो जाने के कारण दोनों में गुरु-शिष्य का संबंध स्थापित हो गया। इन्होंने उनके निकट बैठकर उनके सिद्धांतों को मनोयोगपूर्वक श्रवण किया। संभवत: उन्हीं के द्वारा वेदादि ग्रंथ भी पढ़ लिये। अपने बड़े भाई गोबर्धन की सं० १७०० में मृत्यु हो जाने पर इनका ब्रह्म-विद्या तथा साधनाओं में अधिक रत हो जाना कहा गया है। यह भी बतलाया गया है कि इसके कारण इनका शरीर भी क्रमश: क्षीण होने लग गया।

देश-भ्रमण तथा प्रचार-कर्य

कहते हैं कि ऐसे ही अवसर पर इनके गुरु ने अपने प्रथम शिष्य गाँगजी भाई के अनुज खेताभाई का कुशल-समाचार लाने के लिए इन्हें सं० १७०३ में 'बरारव' अर्थात् अरब देश भेज दिया जहाँ पर ये ४ वर्षों तक रह गए। वहाँ पर खेताभाई के मर जाने पर इन्होंने उनका माल-असवाब देवचन्द्रजी के पुत्र बिहारीजी को सौंप दिया और नौतनपुरी लौट आये। यहाँ आने पर ये धौरपुर के राज्य में नौकरी

१. "संवत् सोले से पंचहत्तरा, भादो वदीचौदास नाम।
पोहोर दिन वार रवी, प्रगटे धनी श्री धाम।
हल्लार देस पुरीनौतम, उदर बाई धन॥
केस्मेठाकुर कहियत पिता माता बाई धन॥"—हिं० अ०, पृ० ११।

करने लगे। सं० १७१० से सं० १७१२ तक इन्होंने दीवानी का काम योग्यता से सँभाला। कहते हैं कि सं० १७१२ में अपने गुरु का देहांत हो जाने पर इन्होंने उनके पुत्र बिहारीजी को उनकी गद्दी पर बिठला दिया था। अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर इनका कुछ दिनों तक जामनगर के प्रधान मंत्री के रूप में काम करना भी कहा गया है। यहाँ पर इन्हें कुछ लोगों द्वारा चुगरी किये जाने पर कुछ काल के लिए बंदीगृह में[1] भी रहना पड़ा। वहाँ इन्होंने संभवत: सं० १७१२ में अनेक वानियाँ भी रच डालीं। सं० १७१६ में ये जूनागढ़ गये और वहाँ पर दो वर्ष तक रह कर लौट आये। सं० १७२० में ये 'जाम वज़ीर' के साथ गुजरात भी गये। वहाँ अहमदाबाद से ये पोरबंदर, कच्छ, सिंध के ठट्ठ आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते रहे। इन्होंने ठट्ठ में रहते समय किसी चिंतामन नामक कबीर-पंथ साधु को शास्त्रार्थ में पराजित करके उसे अपना शिष्य बनाया। इसी प्रकार इन्होंने फ़ारस की खाड़ी में स्थित बंदर अब्बास, राजस्थान, मध्य तथा उत्तरी भारत की भी यात्राएँ की और सब कहीं अपने गुरु के उपदेशों का प्रचार किया। कहते हैं कि बिहारीजी रूढ़िवादी थे जिस कारण उनके साथ इनके विचारों का पूरा मेल नहीं बैठ सका। ये बराबर अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही देश-भ्रमण करते तथा बीच-बीच में अपने ग्रंथों की रचना करते रहे। इन्होंने अपनी सूरत वाली यात्रा के समय सं० १७२६ में किसी समय 'कलश-ग्रंथ' को पूरा किया। इन्हें भ्रमण करते समय ही किसी दिन प्रातःकाल एक मुल्ला की बाँग सुन कर 'कलमा' और 'तारतम्य मंत्र' में ऐक्य का आभास मिला। इन्होंने उससे प्रेरणा पाकर इस संबंध में बादशाह औरंगज़ेब के साथ पत्र-व्यवहार करने का संकल्प भी किया। इन्होंने लालदास के साथ 'रात दिन परिश्रम' करके उसे भेजने के लिए एक 'हिंदवी' का पत्र भी तैयार किया, किंतु वह उस समय नहीं जा सका। इनका राजा जसवंत सिंह तथा राजसिंह के साथ पत्र-व्यवहार करना भी प्रसिद्ध है, किंतु इसका कोई ठोस परिणाम नहीं निकल सका। कहा जाता है कि सं० १७३५ में इन्होंने हरद्वार के कुंभ मेले में विभिन्न सम्प्रदायों के पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा दिया और वहाँ 'निष्कलंक बुद्ध' की पदवी भी प्राप्त की।[2] इन्होंने अपनी अनूपशहर की यात्रा में 'सनंध' ग्रंथ की रचना की जिसमें 'श्रीमद्भागवत' के माध्यम से 'कुरान' की नवीन व्याख्या की गई। गुजराती में रचे गए 'कलश' तथा 'प्रकाश' नामक ग्रंथों का हिंदी में भाषांतर भी किया गया। इसी प्रकार देश-भ्रमण करते

---

१. इस कारावास को प्रणामी-सम्प्रदाय के अनुयायी 'प्रमोधा पुरी' नाम से अभिहित करते हैं। —लेखक

२. हिंदी अनुशीलन, पृ० १५।

ही एक बार ये बुंदेलखंड भी पहुँचे। वहाँ के किसी जंगल में मऊ के निकट इनकी भेंट प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल से हो गई। इस घटना का समय, प्रणामी-सम्प्रदाय के ग्रंथों में सं० १७४० दिया गया मिलता है, किंतु जो महाराज ने पत्रों में सं० १७३२ रूप में है।[१] महाराज छत्रसाल के लिए इन्होंने पन्ना के समीप कहीं पर हीरे की किसी खान का भी पता दिया और इन्हें प्रभावित किया। सं० १७४४ में संत प्राणनाथ चित्रकूट पधारे और वहाँ पर इन्होंने अपनी अंतिम बानी रची। अंत में इनका देहांत सं० १७५१ की श्रावण कृष्ण ३ को रात की पिछली दो घड़ी रहते हो गया, जब इनकी आयु के ७५ वर्ष और लगभग ९ महीने हो चुके थे।

प्राणनाथ की रचनाएँ

संत प्राणनाथ द्वारा रचे गए छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या १४ बतलायी जाती है। इन सभी का एक विशाल संग्रह 'कुलज़मस्वरूप' नाम से प्रसिद्ध है जो लगभग १८ हजार चौपाइयों के एक सहस्र पृष्ठों में पूरा हुआ कहा जाता है। इनका एक अन्य नाम 'तारतम्य सागर' भी है। प्रणामी-सम्प्रदाय के अनुयायी इसे अपना 'आराध्य ग्रंथ' मानते हैं। इसकी एक-न-एक हस्तलिखित प्रति प्रत्येक प्रणामी मंदिर में पूजा के लिए सुरक्षित भी पायी जाती है। इसके सम्यक् अध्ययन और अध्यापन के लिए महाराज छत्रसाल द्वारा निर्मित पन्ना के 'धामी मंदिर' में एक 'प्रणामी पाठशाला' की भी व्यवस्था की गई है। इसमें प्रवेश पाकर सम्प्रदाय के विद्यार्थी कई वर्षों तक इस ग्रंथ का अनुशीलन करते हैं। 'कुलज़म-स्वरूप' का अर्थ प्राणनाथजी की उन बानियों का पूर्ण संग्रह (कुलज़म) समझा जाता है जिनमें उनका वास्तविक स्वरूप सुरक्षित है।[२] इसमें संगृहीत सभी ग्रंथों की भाषा एक समान नहीं है, प्रत्युत उनमें से कुछ हिंदी, कुछ गुजराती, कुछ सिंधी तथा अन्य में मिश्रित भाषा दीख पड़ती है। उनमें प्राय: सब कहीं फ़ारसी अथवा अरबी भाषा का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसका एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:

क्रमसंख्या	पुस्तक नाम	आकार	भाषादि
१.	रासग्रंथ	१०१० चौपाई	गुजराती
२.	(क) प्रकाश	११७६ "	गुजराती
	(ख) प्रकाश	११७६ "	हिंदी (खड़ी-ब्रज)

१. "संवत् सत्रह सें इक्यावना, सावन बदी चौथ में।
रात पिछली घड़ी दोयमें, आया फिरस्ता धाम में॥" —वहीं पर उद्धृत :

२. हिंदी साहित्य कोश, भाग २, प्रयाग, सं० २०२०, पृ० ९१।

३. षट रितु'	२३०	"	गुजराती
४. (क) कलश	७६८	"	गुजराती
(ख) कलश	७६८	"	हिंदी (खड़ी-ब्रज)
५. सनंध	१६६१	"	हिंदी (खड़ी-अरबी)
६. किरंतन	२१०३	"	हिंदी (खड़ी-ब्रज)
७. खुलासा	१०१६	"	हिंदी (खड़ी-फ़ारसी)
८. खिलवत	१०६४	"	हिंदी (खड़ी)
९. परकरमा	२४८४	"	हिंदी (खड़ी ब्रज)
१०. सागर	११२८	"	हिंदी-फ़ारसी
११. सिंगार	२२०६	"	हिंदी (खड़ी)
१२. सिंधी भाषा की चौपाई	५६६	"	सिंधी और कुछ हिंदी अनुवाद
१३. मारफ़त	१०३४	"	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी
१४. (क) क़यामतनामा (छोटा)	६६७	"	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी
१५. (ख) क़यामतनामा (बड़ा)	६६७	"	हिंदी (खड़ी) फ़ारसी

कहते हैं कि समय-समय पर संत प्राणनाथ के मुख से जो बानी निकलती गई उसे इनके शिष्य लिखते गए। अंत में इनका देहांत हो जाने के दो मास अनंतर अर्थात् सं० १७५१ में ही पन्ना में रह कर इनके एक शिष्य केसोदास ने सबका संकलन करके उन्हें 'वर्तमान' क्रम प्रदान कर दिया। इसकी प्रतियों में 'रास' के साथ 'अंजीर', 'प्रकास' के साथ 'जंबूर' और 'कलस' के साथ 'तौरेत' शब्द भी लगे पाये जाते हैं। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार इन तीनो ग्रंथों में क्रमशः ईसाइयों, यहूदियों तथा दाऊद के अनुयायियों के धार्मिक सिद्धांत मिलते हैं।[1] इन रचनाओं के रचना-काल का पता लगाने पर विदित होता है कि 'रास' नामक ग्रंथ, सर्वप्रथम सं० १७१२ में रचा गया था, किंतु वह सं० १७३१ में पूरा हुआ। 'बेहद बानी' की रचना सं० १७२२ में हुई थी, 'कलस' वा 'कलश' ग्रंथ सं० १७२६ में निर्मित हुआ था। 'सनंध' सं० १७३५-६ की रचना समझ पड़ता है। 'क़यामतनामा' का निर्माण सं० १७४४ में हुआ था। 'ख़ुलासा', 'खिलवत', 'मारफ़त', 'सागर' आदि ग्रंथ सं० १७४०-५१ में कभी रचे गए थे। इन सभी के विषयों का स्पष्ट तथा यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं है।

---

१. 'सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, पृ० ६'।

प्राणनाथ का मत

संत प्राणनाथ की रचनाओं के आधार पर इनके मत की पूरी व्याख्या करना तब तक संभव नहीं, जब तक वे प्रकाशित नहीं होते। परन्तु, जहाँ तक उनसे उद्धृत किये गए अंशों के एक साधारण-से अध्ययन द्वारा कहा जा सकता है, इसमें संदेह नहीं कि इनकी विचार-धारा का भी स्वरूप लगभग वही है जो हमें अन्य प्रमुख संतों के मत में लक्षित होता है। इनके गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक श्रीदेवचन्द्र निजानंदाचार्य ने परमात्मतत्त्व की वास्तविक पहचान के उद्देश्य से ही देशाटन किया था। उन्होंने अपने समय में प्रचलित मतों के संबंध से अनुसंधान किया था। अनेक ग्रंथों के अनुशीलन और विविध साधनाओं के अभ्यास द्वारा लाभ उठा कर सबके फलस्वरूप अपने उस मत की प्रतिष्ठा की थी जो 'निजानंद-सम्प्रदाय' कहलाया था। उस मत के अनुसार भगवत्प्राप्ति के प्रमुख साधन ज्ञान तथा भक्ति से भी कहीं बढ़ कर प्रेम को महत्त्व दिया गया था। कहा गया था कि प्रेम ही सब कुछ है तथा भगवान भी हमारे लिए प्रियतम के ही रूप में विद्यमान है। इस कारण ज्ञान के द्वारा उसे केवल समझ लेने अथवा भक्ति के अनुसार उसके प्रति सब-कुछ समर्पित कर देने मात्र से ही काम नहीं चल सकता। उस आनंदघन की मूल शक्ति ही प्रेमस्वरूपिणी है, अतएव प्रेम की साधना का बल पाकर जीव परमात्मा की ओर आप-से-आप खिंच कर तदाकार बन जाता है। उनके ऊपर 'श्रीमद्भागवत' में प्रदर्शित ब्रज-गोपिकाओं की रागानुगा भक्ति का भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। इस कारण वे अन्य अनेक प्रचलित वैष्णव मतों के अनुयायियों की भाँति श्रीकृष्ण तथा राधा की विविध लीलाओं की ओर भी आकृष्ट हो गए थे। संत प्राणनाथ भी स्वभावतः पहले केवल इसी मार्ग के अनुयायी थे। प्रसिद्ध है कि इनके 'प्रणामी-सम्प्रदाय' का यह कदाचित् पूर्व रूप ही अभी तक गुजरात, काठियावाड़, सिंध तथा सूरत नगर की ओर पाया भी जाता है। परन्तु, जहाँ तक पता चलता है, विभिन्न धर्म-ग्रंथों के तुलनात्मक अनुशीलन तथा उन पर व्यापक चिंतन के कारण इन्होंने उसे और भी सार्वभौम रूप दे डाला। उसे उस कोटि तक ला दिया, जहाँ पर किसी भी धार्मिक भेदभाव को कभी प्रश्रय नहीं दिया जा सकता।

वही

संत प्राणनाथ ने सूफ़ियों द्वारा स्वीकृत 'इश्क हक़ीक़ी' के वास्तविक रहस्य को भली भाँति समझ लिया था। ईसाइयों के ईश्वरीय प्रेम के साथ भी पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया था। इस कारण, उनके साथ विचार-विनिमय तथा निजी अनुभूति के अनुसार इन्होंने अपना मत निर्धारित किया, "प्रेम

सदैव साक्षात् होने अर्थात् अपनी अनुभूति के भीतर पाये जाने पर भी वस्तुत: शब्दातीत अर्थात् अनिर्वचनीय है।"[१] अतएव इनके अनुसार विशुद्ध प्रेम की वास्तविक अनुभूति ही पुरुषार्थ की परमावस्था है जिसकी उपलब्धि की साधना सबके लिए कर्त्तव्य है। यह प्रेम ही वस्तुत: परमात्म-स्वरूप भी है जिसे क्षर तथा अक्षर सभी पदार्थों से कही उच्चतर श्रीकृष्ण का पद प्रदान किया गया है। इन्होंने संभवत: इसी कारण, उसे एक संज्ञा 'धाम' अर्थात् परमपद की भी दी है। 'परकरमा' अंतर्गत उसके परमसौंदर्य का वर्णन भी किया है। इसके ही अनुसार इसका प्रमुख केन्द्र 'धामी मंदिर' प्रसिद्ध है। इस प्रकार संत प्राणनाथ द्वारा निर्दिष्ट परमात्मतत्त्व के प्रेमानुभूति वा 'धाम' स्वरूप होने के कारण साम्प्रदायिक भेदभाव का प्रश्न आप-से-आप नहीं उठ पाता। सभी धर्मों का प्रधान उद्देश्य उसकी दशा एकरस को उपलब्ध करना ही हो जाता है, जहाँ सारा जगत् आत्मीय बन जाता है। इनका कहना था कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई वा यहूदी धर्मों के प्राचीन प्रवर्त्तकों तथा प्रचारकों के सिद्धात भी वस्तुत: ऐसे मत से भिन्न नहीं ठहराये जा सकते। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उन सभी को हम परमात्मा के प्रेमी तथा जगत् के प्रति प्रेमभाव वाले कह सकते हैं, "जो कुछ 'कतेब' अर्थात् इस्लाम, ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म के ग्रंथों में कहा गया है, वही वेदों में भी है। इन सभी के अनुयायी एक ही 'साहेब के बंदे' हैं। इनकी बोली भिन्न-भिन्न हो गई है, नामों में भिन्नता आ गई है और चाल भी भिन्न दीख पड़ती है। इस कारण सारा झगड़ा खड़ा है और सबके सामने एक उलझन सी आ गई प्रतीत होती है। मैं उसे सुलझा कर समझा देना चाहता हूँ।"[२] इसके सिवाय इनका यह भी कथन है कि बहुत-सी परंपरागत बातें जो उक्त धर्म-ग्रंथ में दी गई हैं उनकी हम यदि चाहें तो एक-वाक्यता भी सिद्ध कर सकते हैं। अतएव इन्होंने प्रधानत:

---

१. "इसक सबदातीत, साख्यात।
ब्रह्म सृष्टि एक अंग, ए सदा अनंद अतिरंग॥'
—ब्रह्मवाणी, हस्तलिखित प्रति, पृ० १।

२. जो कुछ कह्या कतेबने। सोई कह्या वेद।
दोऊ बंदे एक साहेब के। पर लड़त बिना पाये भेद॥४२॥
बोली सबों जुदा परी। नामजुदे परे सबन॥
चलन जुदा कर दिया। तार्थे समझ न परी किन॥४३॥
तार्थे भई बड़ी उरझन। सो सुरझाऊं दोय॥
नाम निशान जाहेर करूं। ज्यों समझे सब कोए॥४४॥ —खुलासा, पृ० ११।

हृदय की शुद्धता तथा सदाचार की पवित्रता पर ही विशेष बल दिया और मनुष्य-मात्र की एकता का प्रचार किया।

कयामतनामा

जहाँ तक विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में उपलब्ध परंपरागत बातों की एक-वाक्यता का प्रश्न है, संत प्राणनाथ ने इसका भी एक उदाहरण कल्कि अवतार अथवा मेंहदी वा मसीहा-जगत् में आविर्भूत होने की मान्यता के रूप में प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार इस बात में प्राय: सभी प्रचलित धर्मों के अनुयायी एकमत हैं कि ऐसी घटना अवश्यंभावी है। इन्होंने इसके प्रमाण में, ऐसी भावना के आधार-भूत प्रसंगों को विभिन्न धर्म-ग्रंथों से उद्धृत करके उनमें पायी जानेवाली कतिपय शकाओं का निराकरण किया। इसके साथ यह भी निरूपण किया कि उक्त अवतार का स्वयं इनके रूप में भी आ जाना संभव होगा। इन्होंने कदाचित् प्रधानत: इसी उद्देश्य से अपने 'कयामतनामा' नामक रचना निर्मित की जिसमें 'क़ुरान', 'इंजील' तथा तौरेत की परंपरा के अनुसार कल्पित 'अंतिम दिन' का वर्णन किया है तथा अपने कथन की प्राथमिकता में उनके अनेक अंश उद्धृत भी किये हैं। उसमें प्रसंगत: ११ व्यतीत शताब्दियों की कथा का विवरण दिया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार सर्वप्रथम ईसा मसीह का आविर्भाव हुआ। फिर हज़रत मुहम्मद अवतीर्ण हुए और उनके पीछे इमाम आये। उसमें आदम के नैतिक पतन तथा शैतान की उस दृढ़ प्रतिज्ञा का भी उल्लेख है जिसके अनुसार उसने भी मानव-जाति के सर्वनाश का निश्चय किया था। फिर, अंत में इस्लाम, हिन्दू तथा ईसाई धर्म-ग्रंथों में की गई भविष्यवाणियों की ओर संकेत किया गया है। यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि संसार का अंतिम उद्धारक हिन्दू-जाति के भीतर उत्पन्न हो सकता है। ऐसा पुरुष आते ही प्रचलित कर्मकांड तथा शरीअत की भिन्न-भिन्न प्रथाओं को हटा कर सत्य वा हक़ीक़त का मार्ग प्रदर्शित कर देता है। सारी मानव-जाति को एक ही सूत्र में ग्रथित करने के उद्देश्य से आकाश में फैले हुए बादलों को दूर करके परम प्रकाश-मय सूर्य को प्रकट कर देता है। सारी सृष्टि परमेश्वर वा खुदा के नाम से मुख-रित हो उठती है। उसकी ओर उन्मुख होकर उसकी आज्ञाओं का पालन करना आरंभ कर देती है। फिर तो सभी प्राणी एक समान परमेश्वर के शब्द अथवा अल्ला के कलाम के ही उपासक हो जाते हैं। 'क़यामतनामा' के अंतर्गत इस प्रकार के कथनों के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने की बारबार चेष्टा की गई जान पड़ती है जिससे वैसे महापुरुष में पूर्ण श्रद्धा-भाव जागृत हो सके।[1]

---

१. एफ० एस० ग्राउज : मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, सन् १८८३।

राष्ट्रीयता की प्रेरणा

संत प्राणनाथ की एक यह विशेषता जान पड़ती है कि इन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र तथा धार्मिक ग्रंथों में उल्लिखित विभिन्न परंपराओं के साथ ही उन राजनीतिक प्रसंगों की ओर भी अपना ध्यान कम नहीं दिया है जो उस समय के लिए आवश्यक थे। इन्होंने खड़ी बोली हिंदी को राष्ट्रभाषा रूप देने का कदाचित् सर्वप्रथम प्रयास किया। अपने शिष्य महाराज छत्रसाल को उनके सामने आनेवाली कठिनाइयों को दूर करने में पूरी सहायता दी। इन्होंने उनकी आर्थिक समस्याओं के सुलझाने में सहयोग किया। उन्हें समय-समय पर उत्साहित करते रहने का भी यत्न किया। ये उनके समक्ष ऐसे आदर्शों का चित्रण करते रहे जिनसे उन्हें बराबर प्रेरणा मिलती रहे। इन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया था।[1] अपने समय की जनता में राष्ट्रीयता का भाव भरने के लिए भी कहा था।[2]

संत प्राणनाथ का उद्देश्य किसी एक धार्मिक वा साम्प्रदायिक वर्ग से उच्चतर मानव-समाज की प्रतिष्ठा का जान पड़ता है। इस कारण इनके उपदेशों के प्रति लोगों की आस्था का क्रमशः बढ़ते जाना उन दिनों स्वाभाविक था। इनसे प्रेरणा ग्रहण कर बहुत-से लोगों ने महाराज छत्रसाल की सेना में अपने को भरती किया। कहा जाता है कि उनके 'सैनिक अभियानों में उनके सैनिकों का साहस बढ़ाने के लिए' इन्होंने स्वयं भी कभी-कभी उनका साथ दिया जिससे उनके प्रति बुंदेलखंड वालों के हृदय में दृढ़ श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए। इसके सिवाय इनका छत्रसाल को अपनी राजधानी पन्ना बना कर वहाँ अभिषिक्त होने का सुझाव देना तथा इस कार्य का संपादन कर देना भी कहा जाता है।[3] इससे

---

१. "छत्ता तेरे राज में, धक धक धरती होय।
जित जित घोड़ा मुख करे, तित तित फ़त्ते होय॥"
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १३, पृ० ६८ पर उद्धृत।

२. "राजा ने मलोरे राणे रायतणों। धर्म जातारे कोई दौड़ो॥
जागोने जोधारे उठ षड़े रहो। नींद निगोड़ी रे छोड़ो॥
टूटत हेरे षर्ग छत्रियों से। धर्म जात हिन्दुआन॥
सत्त न छोड़ो रे सत्यवादियो। जोर बढ्यो तुरकान॥
त्रैलोकी में रे उत्तम षंड भरतकौ। तामै उत्तम हिन्दू धरम॥
ताके छत्रपतियों के सिर। आये रही इत सरम॥"
—कुलजम, कीरंतन प्रकरण, ५७, —महाराजा छत्रसाल बुंदेला, पृ० १०६ पर उद्धृत।

३. वही, पृ० १०७।

सिद्ध है कि ये केवल एक धर्म-प्रवर्तक और प्रचारक ही नहीं थे, अपितु एक सच्चे समाज-सुधारक और राष्ट्रीय नेता भी कहे जा सकते थे।

साम्प्रदायिक साहित्य

संत प्राणनाथ की रचनाओं में उपर्युक्त 'कुलज़म स्वरूप' में सगृहीत १४ ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य पुस्तकों के भी नाम लिय जाते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १६२४ से १६२६ की खोज रिपोर्टों में इनकी 'प्रगट बानी', 'ब्रह्मबानी', 'बीस गिरोहों का बाब', 'बीस गिरोहों की हकीकत', 'प्रेम पहेली' तथा 'राजविनोद-'जैसी रचनाओं का पता चलता है। इनकी चर्चा इंपीरियल गज़ेटियर ऑफ इंडिया' में भी की गई है। 'सभा' की सं० १६६३ वाली रिपोर्ट में इनके एक अन्य ग्रंथ 'विराट चरितामृत' का भी नाम भी आया है जो कदाचित् 'निजानंद चरितामृत' से अभिन्न होगा। इसके सिवाय इनकी एक 'पदावली' भी प्रसिद्ध है। इसमें इनके अपने 'इन्द्रामती' नाम से भी की गई कविताओं का संग्रह पाया जाता है। किसी कृष्णदत्त शास्त्री द्वारा रचित 'निजानंद चरितामृत' से पता चलता है कि 'इन्द्रावती' 'श्रीजी' और 'महामति' नाम संत प्राणनाथ के ही थे।[१] ये "परमात्मा को पति मान कर सखी-भाव से उपासना करने के कारण अपने उपदेशों में प्रायः स्त्रीलिंग का भी प्रयोग कर दिया करते थे जिसके संबंध में इन्हें 'परमधाम की इन्द्रावती सखी की वासना' भी कहा गया मिलता है।[२] संत प्राणनाथ की रचनाओं के अतिरिक्त इनके कई शिष्यों तथा अनुयायियों की भी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से मुकुंददास वा नौरंग स्वामी की बानियों की संख्या लगभग १६,३०० कही गई है। यह भी बतलाया गया है कि उन्हें २७ ग्रंथों में विभाजित किया गया मिलता है। इसी प्रकार इस सम्प्रदाय के महत्त्व-पूर्ण साहित्य में इसके 'बीतकों, का भी स्थान ऊँचा है। इनमें से लालदास के 'बीतक' की चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। इससे उद्धृत की गई अनेक पंक्तियों को प्रामाणिक आधार भी माना गया है। ऐसे बीतकों की संख्या १७ की बतलायी जाती है। किंतु जो अभी तक उपलब्ध है उनमें से लालदास की रचना के अतिरिक्त १. ब्रजभूषण कृत बीतक, २. हंसराज स्वामी कृत बीतक ३. मुकुंदस्वामी कृत बीतक और ४. स्वामी लल्लू महाराज-रचित 'बीतक' के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से केवल प्रथम ब्रजभूषण कृष्ण 'वृत्तांत मुक्ता-वली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। लालदास के बीतक को तो सम्प्रदाय

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० ५६, अं० १, सं० २००८, पृ० २१।

२. वही, पृ० १०७।

के मंदिरों में पूज्य स्थान भी प्रदान किया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार वास्तव में श्रीकृष्ण भगवान 'रास' के अनंतर फिर बरारव (अरब) में अवतीर्ण हुए थे। वे ही, अंत में क्रमश: श्री देवचन्द्रजी तथा संत प्राणनाथ के रूपों में भी प्रकट हुए जिससे उसमें लिखित कतिपय साम्प्रदायिक वृत्तांतों का भी पता चलता है। अन्य प्रकार की रचनाओं में मस्ताना का 'पंच प्रकाश', 'पंचमसिंह' के सवैये तथा इनके चाचा छत्रसाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

साम्प्रदायिक मान्यताएँ

संत प्राणनाथ के इस 'प्रणामी-सम्प्रदाय' के अन्य नामों में 'महाराज पंथ' वा 'मेहेराज पंथ' तथा 'खिजड़ा' वा 'चकला' भी सुने जाते हैं। इनके पन्ना वाले 'धामी-मंदिर' के साथ संपर्क वाले अनुयायियों को कभी-कभी 'धामी' की संज्ञा दी जाती है। साधारणत: इसके सभी सदस्यों को 'सुंदर साथ' अथवा 'साची भाई' वा 'भाई' मात्र कहने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इनमें से बहुत-से आज कल अधिकतर वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा प्रभावित हो गए जान पड़ते हैं और प्राय: श्रीकृष्ण के बालरूप का ध्यान किया करते हैं। मूर्ति-पूजा में इन्हें विश्वास 'नहीं, किंतु ये तुलसी की माला धारण करते ललाट पर तिलक तथा कुंकुम लगाते और धर्म-ग्रंथ 'कुलज़म स्वरूप' की पूजा करते तथा सिक्खों की भाँति उसे गुरुग्रंथवत् महत्त्व देते भी देखे जाते हैं। इनके प्रमुख मंदिर पन्ना के अतिरिक्त काठमांडू, दार्जिलिंग, गोहाटी, सिलीगुड़ी, वाराणसी, प्रयाग, कानपुर, सतना, सूरत, जामनगर आदि से हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी आत्म-ज्ञान तथा योग-विद्या में बहुत कुशल दीख पड़ते हैं। इनके यहाँ नैतिक आचरण तथा चरित्र-शुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके समाज में मांस तथा मदिरा का सेवन पूर्णत: निषिद्ध है। ये जाति-व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करते। प्रसिद्ध है कि इनके यहाँ दीक्षा के अवसरों पर हिन्दू-मुस्लिम आदि का बिना भेदभाव के सहयोग भी हुआ करता है। "पन्ना में धामियों के मुख्य मंदिरों पर कलश के स्थान पर पंजा होने के कारण और इसलिए भी कि वहाँ के प्रणामियों की मृत्यु होने पर उन्हें समाधि दी जाती है इस सम्प्रदाय को इस्लाम की एक शाखा समझा जाता है।"[1] इस वाद के कारण सन् १८८० ई० तथा सन् १९०८ ई० में इस सम्प्रदाय वालों को नेपाल-राज्य से निर्वासित कर देने की भी आज्ञा प्रसारित हुई थी।[2] परन्तु यह धारणा कदाचित् उचित नहीं कही जा सकती, क्योंकि उक्त

---

१. महाराजा छत्रसाल बुंदेला, पृ० १११।

२. पन्ना गज़टियर, पृ० ३७-८।

'पंजा, केवल प्राणनाथजी के आशीर्वाद वाले हाथ का प्रतीक समझा जा सकता है। इसके सिवाय पन्ना में केवल उन्हीं को समाधि दी जाती है जिनका वहाँ पर देहांत हुआ करता है। वहां से बाहर जानेवाले मंदिरों पर कलश भी देखे जाते हैं तथा इधर मरनेवाले लोगों की अंत्येष्टि-क्रिया भी शवदाह के अनुसार ही हुआ करती है।

प्रचार-केन्द्र तथा प्रचार-क्षेत्र

प्रणामी वा प्राणनाथ सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र पन्ना नगर का धामी मंदिर है, जहाँ पर कार्तिक शुक्ल १५ को प्रतिवर्ष एक बड़ा मेला लगा करता है। वहाँ सम्प्रदाय के लोग बड़ी संख्या में एकत्र हुआ करते हैं। सूरत के कच्छी लोगों में भी इसके अनुयायी पाये जाते हैं। मध्यप्रदेश के सागर तथा दमोह जिले में भी इनकी संख्या कम नहीं है। काठियावाड़ के जामनगर में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार है। वहाँ की नौतनपुरी इसके प्रधान केन्द्रों में गिनी जाती है। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले इसका प्रचार नेपाल में वहाँ के राजा राय बहादुरशाह के समय में हुआ था। वहाँ के प्रणामी वा प्राणनाथी प्रति वर्ष धर्म-ग्रंथ के अध्ययन तथा उत्सवों में भाग लेने के लिए पन्ना नगर आया करते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष नेपाल, असम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश गुजरात, बंवई, सिंध आदि के प्रणामी भी इसी प्रकार आया करते हैं। ये सभी लोगों विजयादशमी के भी दिन प्रतिवर्ष पन्ना के बाहर खेजरा[1] के मंदिर में पन्ना के महाराजा का अभिनंदन करते हैं। महाराज तलवार खोल कर मंदिर की परिक्रमा करते हैं। तत्पश्चात् प्रणामी महंत उन्हें पान का बीड़ा देकर पुनः तलवार बाँध दिया करते हैं। यह प्रथा संभवतः उस समय से प्रचलित है जब स्वयं प्राणनाथजी ने महाराज छत्रसाल की तलवार बाँधी थी।[2]

४. सत्तनामी-सम्प्रदाय

सत्तनाम

'सत्त' शब्द 'सत्य' कहा रूपांतर है जिसका अर्थ वह नित्य तथा शाश्वत वस्तु है जिसे दूसरे शब्द में 'परमात्मा' भी कहा करते हैं। इसी प्रकार 'नामी' का भी तात्पर्य नाम द्वारा सूचित किये जानेवाले 'नामधारी' तथा अभिधेय वस्तु से है। 'सत्तनासी' शब्द से अभिप्राय इसी कारण उस सत्यनाम से परिचित किये जानेवाले

---

१. 'खेजरा' जान पड़ता है, उस वृक्ष 'खिजड़ा' की ओर संकेत करता है जो नौतन पुरी में देवचन्द्र जी के समाधि स्थान पर लगा हुआ है।

२. पन्ना गजेटियर, पृ० ४६।

सत्य स्वरूप ईश्वर का ही हो सकता है। परन्तु यह शब्द संत-परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार अपने साथ-साथ अनेक अन्य व्यापक भावों को भी व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए 'सत्त' शब्द से परमसत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति और इसी प्रकार 'नामी' शब्द के संयोग से नाम-स्मरण द्वारा उसे आजीवन अक्षुण्ण रूप में एकरस बनाये रखना भी लक्षित होता है। इस प्रकार के अनेक भावों से अनुप्राणित होकर ही संत-मत की विभिन्न शाखाओं ने 'सत्तनाम' शब्द को इतना महत्त्व प्रदान किया है। इसे उनके यहाँ आज भी प्राय: वही स्थान प्राप्त है, जो सर्वप्रथम कबीर साहब के समय में प्राप्त था। अनेक ऐसे पंथवालों ने तो 'ॐ' अथवा कभी-कभी 'श्रीगणेशायनम:' की भाँति कार्यारंभ के समय वा ग्रंथ-रचना के पहले मंगल-सूचक शब्दों तक के रूप में इसके प्रयोग किये हैं। बहुधा इसका प्रयोग उनके परस्पर के अभिवादन में भी हुआ करता है। कभी-कभी इसे नाम-स्मरण के अवसर पर राम का स्थान भी दिया मरते हैं। फिर भी संत-परंपरा के इतिहास में उसके केवल एक ही सम्प्रदाय को इस नाम से अभिहित किये जाने का श्रेय प्राप्त है।

साध-सम्प्रदाय

सतनामी-सम्प्रदाय के मूल-प्रवर्त्तक का निश्चित पता अभी तक नहीं चला है, न इसकी उत्पत्ति के समय वा कारणों पर ही यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। डॉ० बर्थ्वाल के अनुसार इससम्प्रदाय के संस्थापक दादू-पंथी जगजीवनदास जान पड़ते हैं।[१] किंतु इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिये हैं, न इस संबंध को सिद्ध करने की उन्होंने कोई चेष्टा ही की है। कुछ अन्य लोग इसके प्रवर्त्तन का विधायक साध-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वीरभान को मानते हैं, तो कोई उनके गुरु ऊदादास का नाम इस संबंध में लेते हैं। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा है कि इसका सर्वप्रथम प्रचार जोगीदास के द्वारा हुआ था। परन्तु किसीने भी अपने मतकी पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण नहीं दिये, न सभी प्रकार की शंकाओं का निराकरण करते हुए वे किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँच सके। अतएव अधिकांश विद्वानों का अभी तक यही निश्चय रहता आया है कि इस सम्प्रदाय का प्रारंभिक इतिहास वास्तव में अंधकारपूर्ण है। ऊदादास, वीरमान तथा जोगीदास के उक्त नामोल्लेख से प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय का कोई-न-कोई संबंध 'साध-सम्प्रदाय' से भी अवश्य होना चाहिए। बहुत लोगों ने इस बात से प्रभावित होकर साध-सम्प्रदाय तथा 'सत्तनामी सम्प्रदाय'को एक और अभिन्न तक मान लिया है। परन्तु जैसा एलिसन

---

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भा १५, पृ० ७५।

साहब ने कहा है,[1] इस प्रकार की भ्रांति साधों द्वारा अपने विषय में 'साध' तथा 'सत्तनामी' शब्द के व्यवहार के कारण उत्पन्न हुई जान पड़ती है। 'सत्तनामी' शब्द यहाँ पर वास्तव में एक परिचयात्मक विशेषण-मात्र है और यह उस पंथ की सूचित करनेवाली संज्ञा विशेष नही माना जा सकता। साध-सम्प्रदाय तथा सत्तनामी सम्प्रदाय में आज तक कोई भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं पाया जा सका है। उक्त भ्रम संभवतः केवल सत्तनाम शब्द के प्रयोग के ही कारण हो जाया करता है। इतना ही नही, एलिसन साहब के कथनानुसार आजकल के अनेक साध इस बात का घोर विरोध करते है कि उनके पूर्वजों का कोई भी संबंध इस पंथ से कभी रहा था। इस सम्प्रदाय की ओर एक प्रकार के घृणित भावका प्रदर्शन कर इसके अनुयायियों की वे निम्न श्रेणी का होना तक बतलाते हैं। अतएव उक्त महाशय का अनुमान है कि सभव है कुछ ग्रामीण सत्तनामी पीछे साध-सम्प्रदाय में ले लिये गए हों और उन्होंने अपना पूर्वनाम भी बनाये रखा हो। यह बात इस प्रकार सिद्ध होती हुई भी दीखती है कि अधिकतर साध-सम्प्रदाय के ग्रामीणअनुयायी ही अपने को साध सत्तनामी कहा भी करते हैं। सत्तनामी-सम्प्रदाय का नाम सं० १७२६ वा सं० १७३० वाले सत्तनामी विद्रोह के इतिहास से संबद्ध है। उसके पहले वह कभी नहीं सुन पड़ता। साध-सम्प्रदाय उस काल तक भली भाँति प्रचलित हो चुका था और उक्त घटना का कोई भी प्रभाव उस पर लक्षित हुआ नहीं सुना गया।"[2]

(१) नारनौल शाखा

जोगीदास

फिर भी एलिसन साहब का उक्त अनुमान अक्षरशः सत्यसिद्ध होता हुआ नहीं दीखता। 'साध-सम्प्रदाय' के परिचय में हम देख चुके हैं कि सत्तनामी विद्रोह के समय सं० १७२६ वा सं० १७३० के लगभग विद्रोह वाले क्षेत्र में उक्त सम्प्रदाय बड़े वेग के साथ जागृत हो रहा था। जोगीदास जिन्होंने संभवतः शाहजहाँ के पुत्रों वाले गृह-युद्ध में दाराशिकोह की ओर से धोलपुर नरेश के साथ औरंगज़ेब के विरुद्ध सं० १७१५ में भाग लिया था। वे चोट खाने के अनंतर पूर्ण स्वस्थ होकर भ्रमण कर रहे थे, अपने मूल सम्प्रदाय के पुनः संगठन में तल्लीन थे। उन्होंने सं० १७२६ के फागुन मास में २७ दिन व्यतीत

---

१. डब्ल्यू० एल० एलिसन : दि साध्स, दि रिलिजस लाइफ ऑफ इंडिया सिरीज पृ० १४-५।

२. वही, पृ० १५।

हो चुकने पर अपना कार्य निश्चित रूप में और एक विशेष ढंग से करना आरंभ कर दिया था। जोगीदास विजित राजकुमार दाराशिकोह के पक्ष का समर्थन कर चुकने के कारण औरंगज़ेब की दृष्टि में एक पक्के विद्रोही थे। उनके अनुयायियों के हृदयों में अपने धार्मिक नेता के कुछ ही वर्ष पूर्व उक्त बादशाह के विरुद्ध युद्ध में आहत तक हो जाने की स्मृति का बार-बारउमड़ा करना भी असंभव नहीं था। उनके उपदेशों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेवाले व्यक्तियों पर उनका प्रभाव जितना ही अधिक पड़ता होगा, उतना ही उनके हृदयों में दिल्ली के राजसिंहासन के विरुद्ध विद्वेष का भाव भी जागृत देता होगा। 'सत्तनामी-विद्रोह' में जोगीदास का किसी प्रकार भाग लेना यद्यपि पूर्वत: सिद्ध नहीं है, न यही पता है कि उक्त काल तक वे जीवित भी थे वा नहीं। फिर भी, यदि उक्त बातें किसी प्रकार प्रमाणित हो सकें तो यह भी निश्चित समझा जा सकता है कि उक्त विद्रोह के समय उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव उस क्षेत्र में अवश्य अवशेष होगा। ऐसी दशा में इतना और भी अनुमान कर लेना युक्ति-संगत समझ लिया जा सकता है कि उनके अनुयायियों में से भी कुछ लोग उसमें अवश्य सम्मिलित रहे होंगे तथा आगे चल कर समान लक्ष्य रखनेवाले व्यक्तियों का वर्गीकरण एक सम्प्रदाय-विशेष में हो गया होगा।

सत्तनामी-विद्रोह

'सत्तनामी-विद्रोह' में भाग लेनेवाले लोग अधिकतर ग्रामीण किसान थे। इन्हें उभाड़ कर दिल्ली के विरुद्ध खड़ा करनेवाले किसी बड़ेनेता का पता नहीं चलता, न उसके विषय में उपलब्ध विवरणों से यही जान पड़ता है कि उनका लक्ष्य अपनी शिकायतों को दूर करने के अतिरिक्त भी कुछ था वा नहीं। कहा जाता है कि उक्त विद्रोह पहले-पहल किसी सत्तनामी और एक ऐसे व्यक्ति के झगड़े से आरंभ हुआ जो खेतों की फसल की देखभाल करता था। वह व्यक्ति कदाचित् सरकार की ओर से नियुक्त था। इसलिए सिक्केदार ने उसकी सहायता में अपने सिपाही भेजे जिन्हें सत्तनामियों ने मार कर खदेड़ दिया। इस घटना से उत्तेजित होकर नारनौल का फौजदार भी स्वयं अपनी फौज़ के साथ मौके पर आ गया। परन्तु सत्तनामियों ने उसके सिपाहियों को भी मार भगाया और वह स्वयं भी मारा गया। विद्रोहियों की संख्या उस सय तक लगभग ५००० के हो चली थी। उन्होंने आगे बढ़कर नगर पर अपना अधिकार जमा लिया और भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने आदमियों को नियुक्त कर टैक्स वसूल करना भी आरंभ कर दिया। सत्तनामियों ने इतना कर चुकने पर भी शांत होना उचित न समझा। वे उत्साहित होकर कई नगरों तथा जिलों के गाँवों को लूटने लगे

जिससे चारों ओर अराजकता फैल गयी।[1] जनता में उन दिनों सत्तनामियों के विषय में अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित होने लगी थीं और लोग इनकी विजय को ईश्वरीय बिधान मानने लगे थे। ख़फ़ी ख़ाँ के अनुसार मामूली तलवारें इन सत्तनामियों को काट नहीं सकती थीं, न बाण वा बंदूक की गोलियाँ ही इनका कुछ बिगाड़ पाती थीं। इनका निशाना कभी न चूकता था और इनकी स्त्रियाँ तक काले घोड़ों पर चढ़ कर संग्राम करती थीं। बादशाह औरंगज़ेब ने देखा कि इनके विरुद्ध उसके सिपाही तथा सिपहसालार तक लड़ने में भय का अनुभव करते हैं। कभी-कभी वे कह उठते हैं कि सत्तनामियो की जादूगरी के सामने किसी की एक भी नहीं चल सकती। उसने तब अपने अगले फौजी झंडों पर 'क़ुरान शरीफ़' की आयतें लिखवा दीं ताकि उन्हें इनके जादू के दूर हो जाने का विश्वास हो जाय। यह भी प्रतीत होने लगा कि ख़ुदा के विपक्ष में लड़नेवालों का पराजित होना ही निश्चित है। सं० १७२६ में उपद्रव आरंभ हुआ था और सं० १७४० तक बादशाह की जीत हो सकी। सहस्रों सत्तनामियों के मार डाले जाने पर ही उस क्षेत्र की स्थिति पूर्ववत् हो पाई।

सत्तनामियों का स्वभाव

सत्तनामी विद्रोह इस प्रकार किसी किसान-विद्रोह का ही रूपांतर था। किंतु विद्रोहियों के कदाचित् साम्प्रदायिक वेशधारी होने तथा सत्तनामोच्चारण करने के कारण उसे धर्मानुरागी जनता का उपद्रव कहा गया और ऐसे लोगों को तब से एक नाम-विशेष भी दे दिया गया। ख़फी ख़ाँ ने इन लोगों के चरित्र-बल की प्रशंसा भी की है। किंतु उसी समय के एक अन्य लेखक ईश्वरदास नागर ने इनमें कई प्रकार के दोष भी दिखलाये हैं। इनका कहना है कि सत्तनामी बड़े गंदे तथा दुष्ट स्वभाव के होते हैं। वे ऐसे पतित हैं कि उन्हें हिन्दू तथा मुसलमान में कोई भेद नहीं जान पड़ता। इस प्रकार का दोषारोपण एक हिन्दू तथा राज-भक्त लेखक की ओर से आवेश में भी किया जा सकता है। इसे प्रमाण रूप में उद्धृत करना कदाचित् उतना उचित नहीं समझा जा सकता। सत्तनामी लोगों का सादा रहन-सहन, इनके साहस, संगठन की योग्यता तथा भेदभाव रहित जीवन-यापन करने की प्रणाली को सर्वथा स्तुत्य ही मानना चाहिए। साधारण स्थिति में रहनेवाले केवल कुछ ही लोगों का दिल्ली के सम्राट् तक

---

१. एच० ए० रोज : ए ग्लासरी ऑफ कास्ट्स एेंड ट्राइब्स ऑफ दि पंजाब, भा० ३, पृ० ३८८-६।

के विरुद्ध युद्ध छेड़ देना और उसमें कुछ दिनों तक सफल भी हो जाना कुछ विशेष कारणों से ही संभव हो सकता है। इन्हीं बातों ने सत्तनामियों के गुण बन कर उन्हें आगे आनेवालों के लिए आदर्श बना दिया। सत्तनामी लोग उक्त विद्रोह के समय कदाचित् नारनौल से कुछ ही दूर तक इधर-उधर फैले हुए गाँवों में रहा करते थे। इनके सप्रदाय का क्षेत्र संभवत: उतना व्यापक न था, जितना साध-सम्प्रदाय की दिल्ली शाखा का आजकल माना जाता है। इनकी बहुत-सी विशेषताएँ भी केवल स्थानीय तथा परंपरानुमोदित ही रहीं। फिर भी उनका प्रचार समान स्थिति वाले लोगों में क्रमश: दूर-दूर तक होने लगा। समय पाकर उक्त नारनौल क्षेत्र का प्रभाव उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के निवासियों तक पर भी फैल गया। बादशाह औरंगज़ेब ने सत्तनामियों को अपनी राजधानी के निकट समूल नष्ट कर देने के ही यत्न किये थे तथा उसे बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय का पौधा फिर कभी उक्त क्षेत्र में पूर्ववत् न पनप सका। सत्तनामियों की यह शाखा 'नारनौल' शाखा' कहला सकती है।

(२) कोटवा शाखा

जगजीवन साहब का प्रारंभिक जीवन

अनुमान किया जाता है कि उक्त सत्तनामी सम्प्रदाय का ही पुन: संगठन कुछ दिनों के अनंतर उत्तर प्रदेश में जगजीवन साहब के नेतृत्व में हुआ। जगजीवन साहब का जन्म बाराबंकी जिले के सरदहा नामक गॉव में सरयू नदी के किनारे कोटवा से दो कोस की दूरी पर एक क्षत्रिय कुल में हुआ था। इनके जन्म का समय क्रुक साहब ने सं० १७३६ : सन् १६८२ माना है।[1] किंतु डॉ० बर्थ्वाल ने कदाचित् सम्प्रदाय की परंपरा के अनुसार इसे सं० १७२७ : सन् १६७० ही ठहराया है।[2] जगजीवन साहब चंदेल ठाकुर थे और इनके पिता एक साधारण किसान थे, जिनकी गायें तथा भैंसें ये अपने बालपन में चराया करते थे। एक दिन जब ये अपने उक्त कार्य में लगे हुए थे, इन्हें अचानक दो साधुओं के दर्शन हुए जिनमें से एक बूला साहब और दूसरे गोविंद साहब नाम के थे। साधुओं ने बालक जगजीवन से अपनी चिलम चढ़ाने के लिए कुछ आग माँगी और यह दौड़ता हुआ अपने घर चला गया। घर से वापस आते समय वह आग के

१. डब्ल्यू० क्रुक : ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एंड अवध, भा० ४, पृ० २६६-३०१।

२. डॉ० बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० २६४।

साथ-साथ साधुओं के पीने के लिए कुछ दूध भी लेता आया। किंतु वह डरा रहा कि बिना पूछे दूध उठा लाने के कारण उसके पिता कहीं रुष्ट न हो जायँ। दोनों साधुओं ने प्रसन्न होकर उसके हाथ से दूध ले लिया और उसे बतलाया कि तुम्हें इसके कारण कभी पछताने का अवसर न मिलेगा। बालक जगजीवन ने जब घर जाकर किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं देखा, अपितु दूध के भांडे को पूर्ववत् भरा हुआ ही पाया तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह फिर दौड़ता हुआ साधुओं के पास पहुँच कर उनसे चेला बना लेने के लिए आग्रह करने लगा। बूला साहब ने इस पर उस बालक को उसके आध्यात्मिक भावों के विकसित तथा उन्नत होने का आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपने सत्संग के चिह्न-स्वरूप उसकी दाहिनी कलाई पर एक काला धागा अपने हुक्के से निकाल कर बाँध दिया। उसी प्रकार गोबिंद साहब ने भी अपने हुक्के[1] का एक सफेद धागा उसी कलाई पर बाँधा। इन धागों को इस शाखा के सत्तनामी आज भी उसी प्रकार बाँधा करते हैं। पूर्ण महंत तो उन्हें अपनी दोनों कलाइयों तथा दोनों पैरों में भी बाँधते हैं।[2]

गुरु

जगजीवन साहब के अनुयायियों का कहना है कि ये वास्तव में किसी विश्वेश्वर पुरी के शिष्य थे। उन्हीं के सिद्धांतों के आधार पर इन्होंने अपने सत्तनामी-सम्प्रदाय की स्थापना की थी तथा उक्त पुरी नामक महात्मा काशी-निवासी थे। परन्तु इस विश्वेश्वर पुरी के विषय में और अधिक पता नहीं चलता। इसके विपरीत बूला साहब तथा गोविंद साहब का संबंध बावरी साहिबा की परंपरा के साथ बतलाया जाता है। उस पंथ द्वारा प्रकाशित शिष्य-परंपरा की सूची में भी जगजीवन साहब का नाम बूला साहब के शिष्य के रूप में दिया हुआ मिलता है। इसलिए कभी-कभी यह भी अनुमान होने लगता है कि सत्त-नामी-सम्प्रदाय के प्रचारक जगजीवन साहब तथा बावरी साहिबा के पंथ वाले जगजीवन साहब संभवतः भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे होंगे। परन्तु केवल उपलब्ध सामग्रियों के ही आधार पर अभी किसी अन्य जगजीवन साहब के विषय में निर्णय करना उचित नहीं जान पड़ता। जब तक किसी अन्य जगजीवन साहब का सत्त-

---

१. 'महात्माओं की बानी' के संपादक ने इस धागे को उनकी सेली का भाग कहा है। वे बूला साहब के अकेले ही मिलने का भी वर्णन करते हैं और कहते हैं कि उस समय वे दिल्ली से लौट रहे थे। दे० पृ० 'ग-उ'।

२. डब्ल्यू० क्रुक : ट्राइब्स एंड कास्ट्स, भा० ४, पृ० ३००।

नामी-सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक के रूप में निश्चित पता नहीं लगता, तब तक दोनों को एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गार्हस्थ्य जीवन

जगजीवन साहब के विषय में लिखा है कि इन्होंने गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। कुछ लोगों की ईर्ष्या के कारण इन्हें पीछे सरदह को छोड़ कर कोटवा में जाकर बसना पड़ा था, जहाँ पर ये अंत तक रहे। कहा जाता है कि इनकी लड़की का ब्याह राजा गोंडा के लड़के के साथ ठहरा था। जब बारात आयी और समधी ने बिना मांस के भोजन करना स्वीकार नहीं किया, तब जगजीवन साहब ने मांस की जगह बैंगन की तरकारी ऐसे ढंग से बनवा दी कि उससे भी बारातियों ने मांस ही समझ लिया और बड़ी रुचि के साथ उसे भोजन किया। प्रसिद्ध है कि सत्तनामी-सम्प्रदाय के अनुयायी, इसी कारण बैंगन को आज तक मांस के तुल्य समझा करते हैं और उसे खाने से घृणा भी करते हैं।[1] क्रुक साहब ने जगजीवन साहब के देहांत का समय सं० १८१८ : सन् १७६१ माना है। उन्होंने कहा है कि ये सरदहा से ५ मील पर कोटवा में मरे थे। कोटवा गाँव में ही जगजीवन साहब की समाधि भी वर्तमान है।

रचनाएँ

जगजीवन साहब के नाम से 'शब्दसागर', 'ज्ञानप्रकाश', 'प्रथमग्रंथ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमग्रंथ' तथा 'अघविनाश' नाम की ७ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें से केवल 'शब्दसागर' मात्र ही, जगजीवन साहब की बानी के नाम से दो भागों में वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है। यह ग्रंथ जगजीवन साहब की विविध पद्य-रचनाओं का एक संग्रह है जिससे उनके सरल हृदय तथा प्रगाढ़ ईश्वर-भक्ति का बड़ा सुंदर परिचय मिलता है। इन्होंने इस ग्रंथ में परमात्मा को अधिकतर 'सत्त' का नाम दिया है। उसे निर्गुण, अनादि, कर्त्ता तथा परम कृपालु, अलौकिक व्यक्ति भी मान कर उसके प्रति अपने उद्गार प्रकट किये हैं। ये अपने को सभी प्रकार से और सभी बातों के लिए उसी एक पर निर्भर मान कर चलते हैं। कहते हैं कि जो कुछ भी हम करते हैं, वह सब उसी के द्वारा होता है। इसी कारण ये मुक्तावस्था को भी उसी की कृपा वा अंतः-प्रेरणा पर अवलंबित समझते हैं और इस उद्देश्य से उससे बार-बार प्रार्थना करते रहते हैं। ये उसे अपनी ओर आकृष्ट करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन

---

१. जगजीवन साहब की बानी, बे० प्रे० प्रयाग, पहिला भाग, जीवन चरित्र, पृ० २।

'सत्तनाम' के स्मरण को मानते हैं। इसकी अंतर्ध्वनि के आधार पर हमें गगन-मण्डल के दृश्य भी दीखने लगते हैं। ये उस 'तमसा' का भी वर्णन करते हैं कि मैंने जैसा स्वयं देखा है, ठीक वैसा ही दिखला भी दूँगा, छिपाऊँगा नहीं।[1] ये साधकों के लिए परामर्श देते हैं कि 'सत्तनाम' वा भजन कर अपना भेद प्रकट करना उचित नहीं। प्रकट रूप में सब कुछ कह देने से उसका सारा सुख जाता रहता है और संत-मत का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।[2] ये सत्तनाम के रस का अमृत पीकर मन-ही-मन मगन रहने पर अधिक बल देते हैं। ये कहते हैं कि उस अनुभूति की विस्मृति हमारे दैनिक जीवन की अवस्था में भी नहीं होनी चाहिए,[3] अपितु जगत् में रहते हुए भी अपने को जगत् से न्यारा समझना चाहिए।[4] इन्होंने समाज के भीतर पारस्परिक व्यवहार के लिए नैतिक आदर्शों के अनुसार चलना ही श्रेयस्कर माना है। सत्य वचन, अहिंसा, परोपकार तथा संयत जीवन को इन्होंने सर्वश्रेष्ठ माना है और अधिकतर इन्हीं बातों की ओर लक्ष्य करके बहुत-से उपदेश दिये हैं। महाप्रलय नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर ये इस प्रकार कहते हैं, "विशुद्ध महापुरुष सबके बीच रहता हुआ भी सबसे पृथक् है, उसे किसी भी बात में आसक्ति नहीं। जो वह जान सकता है, जान

---

१. तीरथ ब्रत की तजिदै आसा।
सत्तनाम की रटना करि कै, गगन मंडल चढ़ि देखु तमासा ॥१॥
ताहि मंदिल का अंत नहीं कछु, रवी बिहून किरिनि परगासा।
तहाँ निरास वास करि रहिये, काहेक भरमत फिरत उदासा ॥२॥
देउ लखाय छिपावहुं नाहीं, जस मैं देखउ अपने पासा। आदि
—जगजीवन साहब की बानी, पृ० ६६-१००।

२. सत्तनाम भजि गुप्तहि रहे, भेद न आपन परगट कहै ॥१॥
परगट कहै सुखित नहिं होई, सतमत ज्ञान जात सब खोई ॥२॥
—वही, भा० २, पृ० ११८।

३. सत्तनाम रस अमृत पिया, सो जग जनम पाय नहिं जिया ॥१॥
डोरी पीढ़ी रहत है लाय, सोवत जागत बिसरि न जाय ॥२॥
कबहुं मन कहुं अनत न जाय, अंतर भीतर रहै बनाय ॥३॥ आदि
—वही, पृ० ५३।

४. साधो, अंतर सुमिरत रहिये।
सतनाम धुनि लाये रहिये, भेद न काहू कहिये ॥१॥
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ़ ह्वै सूरति गहिये। आदि। वही, पृ० १०१।

लेता है। किसी जाँच-पड़ताल की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह न आता है, न जाता है; न सीखता है, न सिखाता है; न रोता है, न आहें भरता है। वह स्वयं तर्क-वितर्क कर लेता है। उसे न सुख होता है, न दुःख ही हुआ करता है। वह न क्रोध करता है, न क्षमा ही प्रदान करता है। उसके लिए कोई मूर्ख वा साधु भी नहीं। जगजीवन दास कहते हैं कि क्या कोई ऐसा है जो इस प्रकार दुर्बलताओं से रहित हो मानव-समाज में रहता हुआ भी व्यर्थ की बकवादों में न पड़ता हो।[1]

शिष्य तथा 'चारपावा'

जगजीवन साहब के कई शिष्य थे जिनमें से कम-से-कम दो का मुसलमान होना भी बतलाया जाता है। इनके प्रधान हिन्दू-शिष्यों में गोसाईंदास, दूलनदास, देवीदास, खेमदास, कोई एक उपाध्याय तथा एक चमार अधिक प्रसिद्ध हैं। दूलनदास तथा देवीदास के नाम लिखे गए जगजीवन साहब के कुछ पद्यमय पत्र भी मिलते हैं। इनमें से पाँच को वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित इनकी 'बानी' के दूसरे भाग में स्थान दिया गया है। गोसाईंदास जगजीवन साहब के प्रथम शिष्य कहे गए हैं[2]। प्रसिद्ध है कि इनका जन्म एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल के ब्रह्मानंद नामक व्यक्ति के घर सं० १७२७ में हुआ था। इनके पिता का देहांत बचपन में ही हो गया, जिस कारण इनका भरण-पोषण अपने ही जिले बाराबंकी के किसी सरइयाँ नामक गाँव में हुआ। इनकी शिक्षा साधारण थी, किंतु जगजीवन साहब के सत्संग में आकर ये एक उच्च कोटि के महात्मा हो गए। भगवद्भजन के लिए इन्होंने सरइयाँ की अपेक्षा कमोली गाँव को अधिक उपयुक्त पाकर वहीं रहना पसंद किया और वहीं सं० १८३३ में इनका देहांत भी हो गया। इनकी रचनाएँ 'शब्दावली', 'दोहावली' और 'ककहरा' नाम से प्रसिद्ध हैं। सत्तनामियों के अनुसार दूलनदास[3] का जन्म सं० १७१७ में समेसीगाँव, जिला लखनऊ के किसी सोमवंशी क्षत्रिय कुल में हुआ था और इनके पिता रामसिंह एक प्रतिष्ठित जमींदार थे। इन्होंने सरदहा में जगजीवन साहब से दीक्षा ग्रहण की थी और बहुत समय तक सत्संग करते हुए ये कोटवाँ में भी रहे थे। अपने जीवन के शेष भाग में ये रायबरेली जिले के अंतर्गत किसी

---

१. एच० एच० विल्सन : रिलिजस सेक्ट ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ३५८ में उद्धृत।

२. दे० बोधेदास रचित 'संत परचई'।

३. 'दूलनदास' की जगह एक स्थल पर 'दास दुलारे' का भी प्रयोग हुआ है जिससे प्रकट होता है कि 'दूलन' शब्द दुलारा, लाड़ला वा प्रिय का बोधक होगा। —बानी, शब्द ४, पृ० २।

'धर्मे' नामक नये गाँव को बसा कर वहाँ अपना आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते रहे तथा कोई 'सदाव्रत' भी चलाते रहे। वहीं पर इनका देहांत सं० १८३५ की आश्विन कृष्ण पंचमी को हो गया। कहा जाता है कि अपनी ९० वर्ष की अवस्था में इन्होंने पुनर्विवाह किया था और इन्हें राम बख्शदास नामक एक पुत्र भी हुआ था। इन्होंने अपने अंत समय तक अपनी जमींदारी का प्रबंध करना नहीं छोड़ा। इनकी रचनाओं में 'भ्रमविनाश', 'शब्दावली', 'दोहावली', 'मंगलगीत' आदि कई एक प्रसिद्ध हैं। किंतु अभी तक इनकी बानियों का एक छोटा-सा ही संग्रह प्रकाशित है। देवीदास का जन्म सं० १७३५ में लक्ष्मणग्राम, जिला बाराबंकी में हुआ था। ये अमेठिया (गौड़) वंश के क्षत्रिय भवानी सिंह के पुत्र थे जो अपने यहाँ के एक संपन्न जमींदार भी कहे गए हैं। इनकी बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का देहांत हो गया, जिस कारण इनके पालन-पोषण तथा शिक्षादि की व्यवस्था इनके किसी चाचा द्वारा की गई। ये केवल १८ वर्ष की ही अवस्था में जगजीवन साहब के संपर्क में आ गए। ये उनसे दीक्षित भी हो गए और तब से इनकी प्रसिद्धि बराबर होती गई। इनके देहांत का समय सं० १८७० बतलाया जाता है, जब ये संभवत: १३५ वर्ष के रहे होंगे। इनकी उपलब्ध रचनाओं में 'सुखसनाथ', 'भरतध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोद मंगल', 'भ्रमरगीत', 'ज्ञानसेवा', 'नारदज्ञान', 'भक्तिमंगल', 'वैराग्यखान' आदि कई ग्रंथों की गणना की जाती है। किंतु अभी तक इनमें से किसी के प्रकाशित होने का हमें पता नहीं है। इसी प्रकार जगजीवन साहब के चौथे प्रधान शिष्य खेमदास वा ख्यामदास कहे गए हैं जिनका जन्म मधनापुर, जिला बाराबंकी के किसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। प्रसिद्ध है कि इन्होंने पहले किसी ब्रह्मचारी से उपदेश ग्रहण करके १२ वर्षों तक घोर तपस्या की थी। तत्पश्चात् जगजीवन साहब से दीक्षा ग्रहण करके इन्होंने अपने जीवन का एक बहुत बड़ा भाग हरिसंकरी गाँव में रह कर व्यतीत किया। कदाचित् वहीं पर इन्होंने सं० १८३० के अंत में अपना शरीर भी त्याग दिया। इनके जन्म-काल का पता नही है। इनकी उपलब्ध रचनाओं में 'काशी खंड', 'तत्त्वसार', 'दोहावली' तथा 'शब्दावली' के नाम लिये जाते हैं। जगजीवन साहब के ये चार प्रधान शिष्य अर्थात् गोसाईंदास, दूलनदास, देवीदास तथा खेमदास 'चारपावा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। इन चारों की चार पृथक्-पृथक् गद्दियाँ स्थापित हैं तथा इनकी शिष्य-परंपराएँ भी प्रतिष्ठित हो चुकी हैं।

दूलनदास आदि की भक्ति-साधना

'चारपावा' के संतों की उपलब्ध रचनाओं द्वारा प्रकट होता है कि सत्तनामी

सम्प्रदाय पर पीछे सगुणोपासना का प्रभाव पड़ने लगा। इसमें संदेह नहीं कि स्वयं जगजीवन साहब की भक्ति विशुद्ध निर्गुण वाली कोटि की कही जा सकती है। परन्तु इनके शिष्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति का रूप ठीक वैसा ही नहीं रह गया और उस पर पौराणिक पद्धति का रंग चढ़ गया। जान पड़ता है कि इन लोगों का ध्यान पीछे देवी-देवताओं की ओर भी चला गया। इसका कारण कदाचित् इनका अयोध्या के साथ अधिकाधिक संपर्क में आना भी हो सकता है जो इनके यहाँ से अधिक दूरी पर नहीं थी। 'चारपावा' के एक प्रमुख सदस्य संत दूलनदास की रचनाओं में 'दशरथनंद' तथा 'श्री रघुवीर' के ध्यान की चर्चा की गई दीख पड़ती है। वहाँ पर प्रसिद्ध 'रामदूत हनुमान' का स्मरण किया जाना भी स्पष्ट है जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। फिर भी 'सत्तनाम' के प्रति दृढ़ आस्था तथा सुरति शब्दयोग के महत्त्व का वर्णन ही उनमें अधिक पाये जाते हैं। "दूलनदास के साँई जगजीवन है सत्तनाम दुहाई"-जैसे प्रयोगों द्वारा अपने गुरु के प्रति किये गए प्रगाढ़ भक्ति-प्रदर्शन के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। दूलन-दास के पदों में कहीं-कहीं सूफ़ी फ़कीरों के प्रति श्रद्धा के भाव भी प्रकट किये गए हैं। उनमें सिद्धांतों की एकाध झलक फ़ारसी मिश्रित भाषा में दीख पड़ती है।

दूलन साहब की शिष्य-परंपरा

संत दूलनदास के शिष्यों में सिद्धादास प्रसिद्ध हैं जो सुलतानपुर जिले के हरिगाँव-निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। ये संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् थे। इन्हें निर्गुण-भक्ति की प्रेरणा रोग में पाये गए कष्टों से मुक्त होने पर मिली थी। ये जगजीवन साहब के कहने पर दूलनदास के शिष्य हुए थे। इनका देहांत किसी समय सं० १८४५ में हुआ था। इनकी अब तक प्राप्त रचनाओं में 'कवित्त', 'साखी', 'शब्दावली' तथा 'विरह सत्य' के नाम लिये जाते हैं। सिद्धा-दास के सर्वप्रसिद्ध शिष्य पहलवानदास थे जिनका भी जन्म-स्थान सुलतानपुर जिले का ही 'वल्दू पांडे का पुरवा' नामक गाँव था। किंतु ये रायबरेली जिले के भीखीपुर गाँव में रहा करते थे। कहा जाता है कि ये जाति से सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७७३ के लगभग किसी समय हुआ था। इनके पिता का नाम दुलाई पांडे था। जिनके विषय में और कुछ पता नहीं चलता। पहलवान दास पहले पल्टन में नौकरी करते थे तथा इनका शरीर बहुत हृष्ट-पुष्ट तथा बलशाली था। इनका विवाह प्रसिद्ध जायस के निकट किसी गाँव में हुआ था। परन्तु इन्होंने सिद्धादास से दीक्षा लेकर निरंतर बारह वर्षों तक उनकी सेवा की। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें निर्गुणोपासना का भेद बतलाया जिसकी

साधना द्वारा ये एक अच्छे महात्मा हो गए। ये पढ़े-लिखे कम थे, किंतु कविता करने का इन्हें अभ्यास हो गया था। इसके फलस्वरूप इन्होंने 'उपखान विवेक', 'विरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' आदि की रचना कर डाली। कहते हैं कि इनकी पलकें नीचे की ओर लटकी रहती थीं। इनका देहांत सं० १६०० के लगभग किसी समय हुआ। उस समय इनका प्रायः १२४ वर्षों का होना कहा जाता है तथा इनकी समाधि का भीखीपुर में ही होना बतलाया जाता है। इनका ग्रंथ 'उपखान विवेक' प्रकाशित हो चुका है। इससे पता चलता है कि इसमें १७६ चौपाइयाँ और २६ दोहे हैं। इसमें दिये गए उपदेशों के साथ-साथ उपयुक्त लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया गया दीख पड़ता है जो हमें प्रसिद्ध जायसी कवि के ग्रंथ 'मसलानामा' का भी स्मरण दिलाता है।

कोटवा-शाखा की वंशावली

दूलनदास (समेसीगाँव, जिला लखनऊ सं० १७१७:१८३५)
देवीदास (लक्ष्मणगाँव, जिला बाराबंकी १७३५:१८७०)
गोसाईंदास (कमोली, जिला बाराबंकी १७२७:१८३३)
खेमदास (मधनापुर जिला बाराबंकी, मृ० लगभग सं० १८३०),
नेवलदास (उदापुर, जिला बाराबकी मृ० सं० १८५०

सिद्धादास (हरिगाँव, जिला सुलतानपुर, मृ० सं० १७४५)

पहलवानदास (भीखीपुर, जिला रायबरेली, मृ० सं० १६००)

दोनों शाखाओं की तुलना

इस प्रकार सत्तनामी-सम्प्रदाय की यह जगजीवन साहब वाली कोटवा शाखा उक्त नारनौल वाली शाखा से कुछ बातों से भिन्न जान पड़ती है। उस पहली शाखा में सम्प्रदाय के प्रायः सभी अनुयायी जाट किसान थे। उनके अधिक शिक्षित होने अथवा ग्रंथ-रचना द्वारा प्रचार करने का कहीं पता नहीं

चलता। वे संभवत: साध-सम्प्रदाय के दिल्ली शाखा वाले अनुयायियों के ही भिन्न रूप थे। उनके अंतर्गत उच्च वर्ग वाले हिन्दू कदाचित् सम्मिलित भी नहीं थे। उनकी भी प्रथम प्रसिद्धि उपर्युक्त सत्तनामी-विद्रोह के अवसर पर हुई थी और तब से उनके किसी संगठन वा मत-प्रचार का पता न चला। इस कारण आज तक उनकी चर्चा अनेक विद्वान् उन्हें साधों में सम्मिलित करके ही किया करते हैं और उनके पृथक् अस्तित्व में विश्वास तक नहीं करते। परन्तु इस जगजीवन साहब वाली 'कोटवा शाखा' को एक विशेष व्यक्ति ने प्रचलित किया था। उसकी शिष्य-परंपरा में अनेक उच्च श्रेणी वाले लोग भाग लेने आए। इसके प्राय: सभी मुख्य प्रचारक पढ़े-लिखे थे और उन्होंने कई ग्रंथों की रचना तक की थी। ये गार्हस्थ्य-जीवन में रहते रहे, किंतु अपनी आध्यात्मिक साधना में भी सदा निरत रहने के कारण इन्होंने अपने मत का ऊँचा आदर्श ही अपने सामने रखा। इनके द्वारा अवध प्रांत के अंतर्गत संत-मत का विशेष प्रचार हुआ। सत्तनामी-सम्प्रदाय के इतिहास में भी इन्होंने सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इस सम्प्रदाय की प्रथम शाखा वास्तव में साध-सम्प्रदाय का रूपांतर मात्र ही बन कर रह गई। कोई आज तक यह भी नहीं जान सका कि उसने इस दूसरी शाखा का कभी किसी प्रकार से पथ-प्रदर्शन भी किया था वा नहीं। यदि ऐसा हुआ भी तो यह उसकी कहाँ तक ऋणी समझी जा सकती है।

(३) छत्तीसगढ़ी शाखा

घासीदास

सत्तनामी-सम्प्रदाय की एक तीसरी अर्थात् छत्तीसगढ़ी शाखा भी है जिसे बिलासपुर जिले (मध्यप्रदेश) के निवासी घासीदास ने चलाया था। कहते हैं कि घासीदास अपने को एक स्वतंत्र मत का प्रचारक माना करते थे, किंतु उन्होंने उत्तरी भारत के किसी सत्तनामी से प्रेरणा अवश्य ली होगी। घासीदास का पहला नाम घासीराम था और ये जाति के चमार थे। ये पहले एक निर्धन किसान थे। गिरोद नामक गाँव में जो पहले बिलासपुर जिले में था और अब रायपुर में पड़ता है, किसी के यहाँ ये नौकरी करते थे। एक बार ये अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी का तीर्थ करने चले, किंतु कुछ दूर कदाचित् शार्गगढ़ तक ही जाकर 'सत्तनाम'-'सत्तनाम' कहते-कहते वापस आ गए। तब से घासीदास गिरोद के निकटवर्त्ती सोनकान जंगलों में एक विरक्त के रूप में रहने लगे और उनका सारा समय ध्यान करने में व्यतीत होने लगा। ये बहुधा गिरोद

से प्राय: एक मील की दूरी पर एक चट्टानी पहाड़ी के ऊपर उगे हुए एक तेंदू वृक्ष के नीचे बैठ जाते और लोगों के साथ सत्संग करने लगते थे। इस वृक्ष का अस्तित्व आज भी एक स्थान पर बतलाया जाता है। वहाँ बहुत-से सत्तनामी मंदिर बन चुके हैं। वहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए सत्तनामी प्रति वर्ष आया करते हैं। घासीदास ने क्रमश: संतत्व की पदवी प्राप्त कर ली और इनके चमत्कारों की चर्चा दूर-दूर तक फैलने लगी। इनके सत्संग में आनेवाले इनके चरणामृत को बाँस की नालियों में बंद करके दूर-दूर तक ले जाते और परिवार के साथ उसे पान करते थे। अंत में बाहर निकल कर ये अपने सत्तनामी-मत का प्रचार करने लगे। इनका शरीर अत्यंत गौर तथा सुंदर था। इनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। ये अशिक्षित थे, किंतु स्वजातीय चमारों के प्रति इनके हृदय में बड़ी सद्भावना थी। उसकी उन्नति की ओर ये निरंतर उद्योगशील रहे। ये उनमें बहुधा भ्रमण भी किया करते और अपने सद्व्यवहार तथा सहानुभूति द्वारा उन्हें सदा प्रभावित करते रहते। इस कारण कुछ ही दिनों में ये एक लोकप्रिय नेता बन गए। कहा जाता है कि एक बार जब ये अपने पुत्र द्वारा लायी गई मछली खाने जा रहे थे कि उसने इन्हें ऐसा करने से रोका और ये मान भी गए। परन्तु इनके दो पुत्रों तथा इनकी स्त्री ने नहीं माना और उनका देहांत हो गया। इससे खिन्न होकर ये आत्महत्या करने के लिए एक वृक्ष पर चढ़ गए। संयोगवश पेड़ की शाखाएँ नीचे की ओर झुक गईं और ये बच गए। उस वृक्ष के देवता ने इनके दो मृत पुत्रों के साथ प्रत्यक्ष होकर इन्हें आदेश दिया कि तुम जाकर सत्तनामी-मत का प्रचार करो।

उत्तराधिकारी

जो हो, घासीदास अपनी ८० वर्षों की आयु पूरी कर सं० १९०७ में मर गए और अपने पुत्र बालकदास को अपना उत्तराधिकारी छोड़ गए। बालकदास कुछ उग्र स्वभाव के थे और उच्च वर्ग के हिंन्दुओं का जी दुखाने के उद्देश्य से कभी-कभी यज्ञोपवीत धारण कर कई अवसरों पर उपस्थित होने लगे। इस कारण एक बार जब ये रायपुर की ओर जाते समय रात को अमाबाँध में ठहरे थे, राजपूतों के एक दल ने इन्हें सं० १९१७ में मार डाला। बालकदास ने किसी चित्रकार की लड़की से अपना विवाह किया था। जब वे मार डाले गए, तब उनके पुत्र साहिबदास उनके उत्तराधिकारी बन गए। परन्तु बालकदास की उक्त स्त्री ने उनके भाई अगरदास के साथ अपना पुनर्विवाह कर लिया था। इस कारण अगरदास के ही हाथ में प्रबंध का सारा भार आ गया। अगरदास के अनंतर उक्त स्त्री से उत्पन्न अजबदास तथा उनकी पूर्व-पत्नी के पुत्र अगरमानदास

के बीच उत्तराधिकार के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ और सारी संपत्ति को दोनों ने आपस में बाँट लिया।
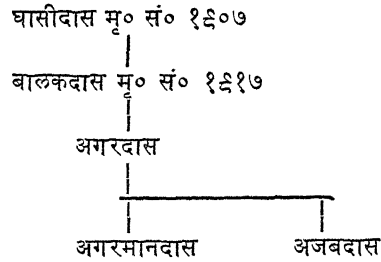
इस धन के एकत्र होने का एक स्रोत यह था कि सत्तनामी अनुयायियों के प्रत्येक गाँव में गिरोद के प्रधान महंत का एक प्रतिनिधि रहा करता था जो भंडारी कहलाता था। इसका मुख्य काम गाँव वालों के सामाजिक अपराधों की सूचना-केन्द्र तक पहुँचाना था या जहाँ से उनके ऊपर जुर्माने लगाये जाते थे। इसके अतिरिक्त महंत को प्रत्येक चमार अनुयायी से कम-से-कम एक रुपया भेंट के रूप में भी मिला करता था। गिरोद में उस समय एक मेला भी लगा करता था जिसमें सत्तनामी एकत्र हुआ करते थे। महंत का चरणामृत लेकर उसे एक रुपये से कम पूजा ये नहीं चढ़ाते थे। परन्तु इन बातों में अब अनेक सुधार हो गए हैं।[1]

शाखा का मूल प्रवर्त्तक

छत्तीसगढ़ी शाखा के सत्तनामी अधिकतर चमार जाति के हैं। इस कारण वे कभी-कभी अपने को प्रसिद्ध चमार संत रैदास के नाम पर रैदासी भी कहा करते हैं। परन्तु जहाँ तक ज्ञात हो सका है, उनका वा उनके सम्प्रदाय का कोई भी प्रत्यक्ष संबंध उक्त महात्मा से कभी नहीं रहा है रैदास कभी कदाचित् छत्तीसगढ़ की ओर गये भी न रहे होंगे। घासीदास ही ने सत्तनामी-सम्प्रदाय की इस शाखा की स्थापना सं० १८७७–१८८७ में किसी समय की थी। इसके लिए प्रेरणा उन्हें कदाचित् उस समय मिली थी जब वे कुछ दिनों के लिए उत्तरी भारत की ओर अपनी युवावस्था में आये थे। डॉ० ग्रियर्सन का अनुमान है कि घासीदास का अपनी युवावस्था में कुछ दिनों के लिए गुप्त हो जाना भी बतलाया जाता है। अतएव संभव है कि उसी समय वे उत्तरी भारत में आकर जगजीवन साहब के किसी अनुयायी द्वारा प्रभावित हुए होंगे।

---

१. आर० वी० रसेल, दि ट्राइब्स आदि, भा० १, १९२६ ई०, पृ० ३११।

सिद्धांत

इन सत्तनामियों के अनुसार ईश्वर एक है और वह निर्गुण तथा निराकार है जिसकी न तो कोई मूर्ति हो सकती है, न जिसकी मूर्ति-पूजा का ही कोई विधान हो सकता है। देवताओं में केवल एक सूर्य-मात्र है जिनकी पूजा की जा सकती है और जिनसे अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करना भी हमारा कर्त्तव्य है। गीरोद के प्रधान मंदिर में किसी मूर्ति की स्थापना नहीं की गई है, किंतु सम्प्रदाय का प्रधान महंत वहाँ जाकर किसी कठिन समस्या का समाधान कराया करता है।

नैतिक नियम

घासीदास के सात मुख्य आदेश हैं जिनमें मद्य, मांस, मसूर, लाल मिर्च तंबाकू, टमाटर तथा बैंगन के खाने-पीने का निषेध भी सम्मिलित है। तरोई का खाना भी वे इस कारण बंद कर गए थे कि उसकी सूरत भैंस की सींग की भाँति टेढ़ी हुआ करती है। सत्तनामियों के यहाँ गाय का हल में जोतना तो वर्जित है ही, दोपहर के अनंतर हल चलाने को वे एक भीषण पाप समझते हैं। उन्हें यह भी स्वीकार नहीं कि उनके खाने का सामान हलवाही वाले खेत तक लाया जाय। दोपहर के अनंतर हल न चलाने की प्रथा कुछ दिनों पहले से बस्तर निवासी गोंडों में चली आती थी और सत्तनामियों ने कदाचित् उन्हीं से इस बात में प्रेरणा प्राप्त की थी। सत्तनामियों में वर्ण-व्यवस्था का पालन भी निषिद्ध समझा गया था। घासीदास के वंशजों के अतिरिक्त अन्य सभी एक ही जाति के माने गए थे। सम्प्रदाय के कठोर नियमों के अक्षरशः पालन करनेवाले 'जह-रिया' कहलाते हैं। वे चारपाई पर कभी नहीं सोते, अपितु पृथ्वी पर ही लेट जाते हैं, मोटे कपड़े पहना करते हैं और केवल दाल-चावल खाते हैं। इनके नियमों में तंबाकू के व्यवहार का सर्वथा त्याग कर देना है, किंतु कुछ लोग अभी तक उसे अत्यंत कठोर समझ कर उसका उचित रूप से पालन नहीं कर पाते। सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक घासीदास के समय में ही तंबाकू वाले प्रश्न पर सत्तनामियों के दो दल हो गए थे। तंबाकू-सेवन का समर्थन करनेवाले अपने चोगी वा पत्ते की चिलम के कारण 'चुंगिया' नाम से प्रसिद्ध हो चले थे। किंतु घासीदास ने उक्त नियम का संशोधन कर दिया। उन्होंने बतला दिया कि चुंगिया सदा के लिए सम्प्रदाय वाह्य नहीं किये जा सकते। वे तंबाकू-सेवन के कारण केवल निम्न श्रेणी में आ जाते हैं, जहाँ से ऊपर उठ कर सच्चा सत्तनामी बनने के लिए उन्हें गुरु के सामने एक नारियल फोड़ कर उसे कुछ भेंट दे देना चाहिए, साथ ही उस आदत को छोड़ भी देना चाहिए। ऐसा करने पर वह फिर

ज्यों-का-त्यों विशुद्ध सत्तनामी बन सकता है।[1]

सामाजिक नियम

सत्तनामियों के सामाजिक नियम अधिकतर साधारण चमारों से मिलते-जुलते हैं। वे धोबियों, घसियारों वा मेहतरों को नहीं अपनाते। उनके विवाह का माघ से वैशाख तक संपन्न हो जाना आवश्यक है। सगाई श्रावण वा पूस के महीने में नहीं हो सकती। ये अपने शव को मिट्टी खोद कर गाड़ते हैं, किंतु उसका मुँह नीचे की ओर ही होना चाहिए और नीचे तथा ऊपर कपड़े फैला देना चाहिए। ये केवल तीन दिनों तक शोक मनाते हैं और तीसरे दिन मूँछें छोड़ कर सभी बाल सफा करा लेते हैं। छत्तीसगढ़ी कबीर-पंथियों की भाँति ही ये मद्यपान करनेवालों को 'शाक्त' नाम दिया करते हैं और उन्हें अपने से नीचा भी समझते है। किसी सत्तनामी को यदि कोई बड़ा-से-बड़ा आदमी भी पीट दे अथवा उसे कोई मेहतर वा घसियारा छू दे, तो वह सम्प्रदाय से बहिष्कृत समझा जाता है। सत्तनामी कभी-कभी आपस में दधिकाँदों भी खेला करते हैं। दही को पैरों तले कुचलने में आनंद का अनुभव करते है, सत्तनामी-सम्प्रदाय की इस तीसरी शाखा की बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ये विशेषकर चमार जति की दशा सुधारने तथा उसे उन्नत करने के लिए ही समाविष्ट की गई हैं। इस प्रकार की कोई भी बात जगजीवनदास साहब वाली शाखा में लक्षित नहीं होती। जगजीवन साहब वाली शाखा में भी हिन्दू-समाज की निम्न श्रेणी वाले बहुत-से लोग सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार के लोग उसके भीतर उनकी शिष्य-परंपरा के किसी कोरी की प्रेरणा से सर्वप्रथम आये थे।[2] छत्तीसगढ़ी शाखा अधिकतर सामाजिक सुधारों की प्रधानता के कारण अपने अनुयायी चमारों की एक उप-जाति-सी बन गई है। नारनौल वाली शाखा की ही भाँति छत्तीसगढ़ी शाखा का भी कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है।

साध तथा सत्तनामी

सत्तनामी-सम्प्रदाय की तीनों शाखाओं की जो कुछ विशेषताएँ रही हैं, वे समय पाकर विस्मृत होती जा रही हैं। ये लोग भी अब अन्य कई पंथों के अनुयायियों की भाँति साधारण हिन्दू-समाज में अधिकाधिक मग्न होते जा रहे हैं। इनमें बहुत-सी बातें साधारण वैष्णवों की भी प्रवेश कर गई हैं। फिर भी

---

१. आर० बी० रसेल तथा राय बहादुर हीरालाल : दि ट्राइब्स आदि भा० १, १९१६ ई०, पृ० ३१२-३।

२. जा० ब्रिग्स : दि चमार्स, दि रिलिजसलाइफऑफइंडिया सिरीज, पृ० २२१।

साधों और सत्तनामियों में एक महान् अंतर इस बात का रहता आया है कि ये लोग अपने शरीर पर कुछ-न-कुछ चिह्न-विशेष भी धारण करते हैं। उदाहरण के लिए कोटवा शाखा के सत्तनामी बहुधा लाल रंग के वस्त्र तथा टोपी पहना करते हैं और मिट्टी का टीका करते हैं । इनमें से निम्न श्रेणी के श्रद्धालु अनुयायी कभी-कभी 'गायत्री-क्रिया' नाम की एक विधि का भी अनुसरण करते हैं । इसमें प्रसिद्ध है कि वे मानव-मलमूत्रादि के एक प्रकार के घोल के पीने को भी सम्मिलित करते हैं जो संभवत: अघोरियों के प्रभाव का फल है[1] । सत्तनामियों में अधिकतर साधारण मजदूर तथा किसान ही पाये जाते हैं। इनमें निम्न श्रेणी के लोग कहीं अधिक सख्या में सम्मिलित हैं, किंतु साध-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपना एक पृथक् समाज-सा बना रखा है । इसमें किसानों की अपेक्षा व्यवसायियों की अधिकता है जिसे हम वैश्य जाति की श्रेणी में रख सकते हैं। सत्तनामियों में इसी प्रकार संभवत: कोटवा शाखा के कुछ अनुयायियों को छोड़ कर अशिक्षित व्यक्तियों की ही भरमार है किंतु साधों में शिक्षित अथवा कम-से-कम अर्द्ध-शिक्षित लोगों की संख्या कम नहीं है । साध लोग अपनी रहन-सहन में सत्तनामियों से अधिक कट्टर भी जान पड़ते हैं । किसी दूसरे समाज के व्यक्तियों में भरसक कोई संपर्क नहीं रखना चाहते, किंतु छत्तीसगढ़ वालों के अतिरिक्त अन्य सत्तनामियों में इस प्रकार के पार्थक्य की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती ।

५. धरनीश्वरी-सम्प्रदाय

बाबा धरनीदास का जीवन-काल

बाबा धरनीदास एक उच्च कोटि के महात्मा हो गए हैं और इनके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है । किंतु अन्य कई पंथों की भाँति इनकी शिष्य-परंपरा में कभी संगठन तथा मत-प्रचार की चेष्टा नहीं की गई, जिस कारण इनकी प्रसिद्धि अधिक न हो सकी । इनके जन्म वा मरण की तिथियों का ठीक-ठीक पता लगाना भी अभी तक कठिन है । इनके जीवन की घटनाओं के उपलब्ध विवरण आज तक अधिकतर अनुमान पर ही आश्रित जान पड़ते हैं । इनके विषय में लिखने वालों ने इनके जन्म का होना संवत् १७१३ सन् १६५६ ई० में बतलाया है, किंतु यह अशुद्ध समझ पड़ता है । इनकी रचना 'प्रेमप्रगास' की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि सं० १७१३ में इन्होंने 'वैरागी'

---

१. जोगेन्द्र भट्टाचार्य : हिन्दू कास्ट्स एंड सेक्टस, थैकर स्पिक एंड कंपनी, कलकत्ता, १८९६, पृ० ४९१ ।

वा विरक्त वेश धारण किया था।[1] इसके सिवाय इनके अनुयायियों द्वारा कहा गया कहीं-कहीं यह भी सुनने में आता है। इनका अवतार सं० १६३२ : सन् १५७५ ई० में परसराम तथा बिरमा के घर हुआ था।[2] परन्तु, यदि सं० १७१३ में इनका विरक्त होना निश्चित है, तो इनका जन्म-संवत् १६३२ माननें पर इनकी अवस्था उस समय ८१ वर्ष की ठरहती है जो विचार करने पर अधिक प्रतीत होती है। प्रसिद्ध है कि इनका देहांत इनकी वृद्धावस्था में हुआ था और अपने जीवन के पूर्व भाग में इन्होंने अपने यहाँ के जमीदारों के यहाँ नौकरी भी की थी। परन्तु केवल इतनी ही जानकारी के आधार पर इस विषय में अंतिम निर्णय देना उचित नहीं जान पड़ता। संभव है, सं० १६३२ वाली भी बात कोरी जनश्रुति हो।

आत्म-परिचय

इनकी उक्त रचना 'प्रेमप्रगास' में स्वयं इन्हीं का दिया हुआ कुछ व्यक्तिगत विवरण इस प्रकार मिलता है। उस समय, "माँझी गाँव, जिला सारन, प्रांत बिहार तथा उसके आसपास का भू-खंड 'मध्येम' अथवा मध्यदीप कहला कर प्रसिद्ध था। मध्यदीप के पूरब की ओर 'हरिहर क्षेत्र' और पश्चिम दिशा में 'दर्दर क्षेत्र' नामक पुण्यक्षेत्र थे। अपने निकटवर्ती ब्रह्मपुर के कारण वह (मध्यदीप) भी कभी-कभी 'ब्रह्मक्षेत्र' कहलाता था। माँझी गाँव एक समृद्धिशाली नगर था, जहाँ पर नवाब जमींदारों के महल थे। चारों ओर वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान और पुष्प-वाटिकाएँ थीं। बीच-बीच में सुंदर हाट लगते थे और जहाँ-तहाँ देव-स्थानों का भी बाहुल्य था, जहां निरंतर हरि-चर्चा हुआ करती थी।" इसी माँझी के निवासी श्रीवास्तव कायस्थों के एक वैष्णव-कुल में बाबा धरनीदास का जन्म हुआ था। इनके दादा टिकइतदास एक धार्मिक व्यक्ति थे और इनके पिता परसरामदास भी एक बड़े यशस्वी और प्रभावशाली पुरुष थे। कहा जाता है कि टिकइतदास (अथवा उस समय के टिकैतराय) मुसलमानी आक्रमणों से भयभीत होकर प्रयाग की ओर से इधर आये थे। यहाँ आने पर ही परसराम दास को अपनी स्त्री बिरमादेवी से धरनी, बेनी, लछिराम, छत्रपति और कुलमनि

---

१. 'संमत सत्रह सो चलि गैऊ। तेरह अधिक ताहि पर भैऊ॥
शाहजहां छोड़ि दुनियाई। पसरी औरंगजेब दुहाई॥
सोच बिसारी आत्मा जागी। धरनी धरेउ भेष वैरागी॥

२. संवत सोरह सौ चलि गयऊ। अधिक ताहि पर बत्तिस भयउ॥
परसराम अरु बिरमा माई। ता घर देवी प्रगटे आई॥

नामक पाँच पुत्र हुए थे जिनमें धरनी कदाचित् सबसे बड़े थे। इन पाँचों में से धरनी को छोड़ कर शेष चार की वंश-परंपरा धरनीश्वरी नाम से आज भी विख्यात है। धरनी का विवाह चकिया नामक गाँव में हुआ था और इनके दो पुत्र थे तथा चार पुत्रियाँ थीं। इनके दोनों पुत्रों का निःसंतान की दशा में ही देहावसान हुआ था, किंतु कहा जाता है कि इनकी लड़कियों में से किसी एक की संतानों का पता आज भी चलता है।

विरक्ति

इनकी उक्त रचना के आधार पर इतना और भी विदित होता है कि सं० १७१३ के आषाढ़ मास में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा बुधवार के दिन इनके पिता परसरामदास का देहांत हुआ। इस घटना ने इनके परिवार तथा माँझी गाँव तक को बहुत कुछ श्रीहत कर दिया। कहा जाता है कि उस समय धरनीदास स्थानीय नवाब जमींदारों के यहाँ दीवान के पद पर नियुक्त थे। पितृ-निधन के शोक से इनका हृदय सहसा क्षुब्ध हो उठा और ये अब अपने कार्य से सदा खिन्न तथा उदासीन रहने लगे। इनके पूर्व-संस्कार तथा धार्मिक परिवार-संबंधी वातावरण ने भी इनकी विरक्ति के क्रमशः दृढ़तर होने में सहायता पहुँचायी और ये भगवच्चिंतन में लीन रहने के अभ्यासी हो गए। इनकी मनोवृत्ति इस समय इतनी परिवर्तित हो गई थी कि एक दिन बैठे-बैठे जमींदारी के कागज देखते समय इन्होंने उन पर अचानक अपने हुक्के वा लोटे का पानी उँड़ेल दिया। इससे सभी बही-खाते भीग कर सराबोर हो गए और इनके मालिक इन पर बिगड़ने लगे। पन्तु अपने अप्रसन्न मालिकों के आग्रह करने पर इन्होंने कहा कि सुदूर पुरीधाम में आरती के समय जगन्नाथजी के कपड़ों में आग लग गई थी जिसे बुझाने के यत्न में मैंने ऐसा किया था। पीछे जब दो आदमियों को भेज कर इस बात की जाँच करायी गई तब पता चला कि वास्तव में वहाँ ऐसी घटना घटी थी। धरनीदास की ही आकृति वाले किसी पुरुष ने उसे वहाँ पहुँच कर बुझाया भी था। इनके मालिक इस बात को सुन कर बहुत चकित और प्रभावित हुए। परन्तु धरनीदास ने उसी दिन से अपनी नौकरी का त्याग कर दिया और तब से ये विरक्त-वेश में रहने लगे। प्रसिद्ध है कि इसी अवसर पर इन्होंने पहले-पहल एक पंक्ति भी कही थी।[1]

दीक्षा

परन्तु इनके हृदय में अभी तक अविचल शांति नहीं आ पायी थी और पूर्ण

१. 'अब मोहि रामनाम सुधि आई, लिखनी ना करौं रे भाई।'

आत्म-तृप्ति के लिए ये सदा किसी पहुँचे हुए गुरु की खोज में रहने लगे थे। अपने प्रारंभिक जीवन में इन्होंने किसी चंद्रदास नामक गुरु से दीक्षा ग्रहण की थी और भेष बदलते समय इन्होंने किसी सेवानंद से भी मंत्र लिया था। फिर ये किसी ऐसे सद्गुरु की खोज में लगे जो इन्हें परमतत्त्व का पूर्ण परिचय करा देने में समर्थ हो। ऐसे ही अवसर पर इन्हें किसी से पता चला कि पातेपुर, वर्तमान जिला मुजफ्फर-पुर में कोई विनोदानंद जी रहते हैं। अतएव उनका शिष्य होने की अभिलाषा-से ये वहाँ पहुँच गए और उनकी सिद्धि की परीक्षा लेने के विचार से उनकी चौकी के एक पाये में सर्प बन कर लिपट गए। स्वामी विनोदानंद उस समय नित्य की भाँति चौकी पर बैठ कर कथा कहने में संलग्न थे। कथा के समाप्त होते ही उन्होंने अपने चौके के रसोइये से कहला भेजा, "आज एक अतिथि के लिए भी पारस लगाना।" फिर अपने स्थान से उठते हुए बोले, "आओ भाई, चलो भोजन करें, चौकी में क्यों लिपटे हुए पड़े हो।" धरनीदास यह सुनते ही प्रत्यक्ष हो गए और उनके चरणों पर गिर कर इन्होंने उनसे क्षमा-प्रार्थना की। कहते हैं कि इस घटना के अनंतर ये उनसे दीक्षित भी हो गए और कुछ काल तक उनके साथ रह कर इन्होंने उनके द्वारा अपने उक्त अभीष्ट की प्राप्ति की।

गुर-परनाली

उक्त प्रकार की कथा धरनीदास की किसी उपलब्ध रचना में नहीं मिलती। किंतु अपने गुरुदेव विनोदानंद का उल्लेख इन्होंने बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ किया है। उन्होंने बतलाया है कि उन्हीं की कृपा से "मैं मानो सोते से जाग उठा और उनका हाथ सिर पर पड़ते ही सब कुछ मेरे प्रत्यक्ष अनुभव में आ गया।" धरनीदास ने अपनी 'रतनावली' के एक छप्पय में अपनी गुरु-परंपरा की भी चर्चा की है[1]। इससे स्पष्ट है कि इनकी गुरु-प्रणाली के अंतर्गत रामानंद से लेकर क्रमश: सुरसुरानंद, बेलानंद, शून्यानंद, चेतनानंद, बिहारीदास, रामदास और विनोदानंद के नाम आते हैं। इसी विनोदानंद द्वारा इन्होंने अपने हृदय के प्रकाशित होने का भी उल्लेख किया है। इन्होंने अन्यत्र उक्त रामानंद की भी गुरु-परंपरा आदि

---

१. 'सतगुर रामानंद चंद पूरन परगासो।
सुजस सुरसुरानंद बेइलियानंद बेलासो ॥
सुकृत सुनि आनंद चेतनानंद चेतायो।
वीरुद बीहारीदास रामानंद रहायो ॥
बीमल बीनोदानंद प्रभु सो, दरस परस पातष गवो।
धरनीदास परगास उर सो गुर परनाली गही लवो ॥६॥'

गुरु नारायण से लेकर राघवानंद तक बतलायी है । एक और पद्य के द्वारा उनके शिष्य अनंतानंद, कबीर, सुरसुरानंद, भवानंद, रैदास, गलगलानंद, नरहरि, सधना, सुखानंद, पद्मानंद, पीपा, सेना तथा घनादास के नाम गिनाये हैं । इस प्रकार इसमें संदेह नहीं रह जाता कि इनके उक्त रामानंद का अभिप्राय प्रसिद्ध स्वामी रामानंद से है । धरनीदास का कहना है कि विनोदानंद ने प्रकट रूप में तो मुझे माला पहनायी और माथे पर तिलग लगा दिया । किंतु वास्तव में उन्होंने मेरे हृदय से माया को दूर कर मुझे तुरीया-भक्ति प्रदान कर दी । मैं उनके शब्दों को अपने श्रवणों से सुनते ही 'चिहुँक उठा', मेरा लोकाचार का मार्ग छूट गया, माया-मोह के बंधन टूट गए, मैं साधुओं की पंक्ति में मिल गया, प्रेम बढ़ जाने के कारण काया को 'उस परमतत्त्व' का परिचय प्राप्त हो गया और प्रभु के साथ निरंतर प्रीति लग गई । अपने उक्त गुरु विनोदानंद के देहांत का समय धरनीदास ने 'रतनावली' में सं० १७३१ की श्रावण कृष्ण ६ और दिन बुधवार दिया है ।

अंतिम समय

धरनीदास अपने गुरु विनोदानंद के यहाँ से लौटने पर अपने जन्म-स्थान के निकट ही कुटी बना कर रहने लगे । वहीं रह कर ये अपने भजन-भाव में लीन रहा करते थे और अपनी रचनओं द्वारा उपस्थित जनता को उपदेश दिया करते थे । इनका गंगा-स्नान सदा ब्रह्मपुर के पास होता रहा जो इस समय माँझी से पूरब की ओर लगभग छह मील की दूरी पर वर्तमान है । इनके भजन का स्थान आगे चलकर रामनगर के नाम से विख्यात हुआ और वहाँ पर निर्मित मंदिर 'धरनेश्वर का द्वारा' कहा जाने लगा । उक्त स्थान पर रहते हुए कुछ काल व्यतीत कर लेने पर अपनी वृद्धावस्था में बाबा धरनीदास किसी दिन अपने शिष्यों के साथ गंगा तथा घाघरा के संगम पर पहुँचे और वहाँ जल पर चादर बिछा कर बैठ गए । कहते हैं कि कुछ समय तक इन्हें उपस्थित लोगों ने उसी प्रकार बैठे पूरब की ओर बहते जाते देखा, किंतु दूर चले जाने पर उन्हें एक ज्वाला-मात्र दिखलायी पड़ी और वह भी अंत में क्षितिज में विलीन हो गई । फिर इन्हें किसी ने नहीं देखा और माँझी लौट कर इनके शिष्यों ने इनकी समाधि बना दी । वहीं इनके नाम तब से एक गद्दी चलती है और इनकी शिष्य-परंपरा का कोई महंत उस पर प्रतिष्ठित समझा जाता है ।

रचनाएँ

बाबा धरनीदास की रचनाओं में से 'प्रेम प्रगास', 'शब्दप्रकाश' तथा 'रतनावली' प्रसिद्ध हैं । इनकी बानियों का एक संग्रह 'धरनीदासजी की बानी' नाम से वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसमें अधिकतर उक्त 'शब्दप्रकाश' की ही रचनाएँ मिलती हैं । शांतिनिकेतन के बाबू अनाथनाथबसु को 'शब्दप्रकाश'

की एक प्रति माँझी जाने पर सन् १९२७ ई० में मिली थी जो सन् १८८७[1] ई० की छपी थी। इसका प्रकाशन प्रथम संस्करण के रूप में नरसिंहशरण प्रेस, छपरा से हुआ था। इसके अक्षर ठीक नहीं थे। बसु महोदय का कहना है कि उक्त संस्करण के अंतिम अंश में जो संभवतः पीछे की रचना है, बाबा धरनीदास के विषय में यह लिखा[2] मिला और कुछ अन्य प्रशंसात्मक पद्य भी मिले। माँझी के किसी पुस्तकालय में उन्हें 'प्रेमपरगास' की भी एक हस्तलिखित प्रति मिली थी जो बाबा धरनीदास से आठवीं पीढ़ी के शिष्य रामदास के आदेशानुसार लिखी गई थी। बसु महोदय के वहाँ जाने के समय गद्दी पर हरीनंदनदास वर्तमान थे। 'शब्दप्रकाश', 'प्रेमपरगास' तथा 'रतनावली' की हस्तलिखित प्रतियाँ उनके देखने में भी आयी थीं जिनमें से 'प्रेम-प्रगास' का लिपिकाल 'ता० २१ माह भादव सन् १२८१ साल सुभ दिन बुध ऋषी-पंचमी' दिया है। इसी प्रकार 'रतनावली' के अंत में भी "समत १८९९ सबैनाम माह फाल्गुन बदी पंचमी रोज सनीचर के तैआर भैल' लिखा मिलता है।

प्रेमप्रगास तथा रतनावली

'प्रेम परगास' एक प्रेम-कहानी का आधार लेकर निर्मित ग्रंथ है जिसमें सूफ़ियों की शैली के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन दरसाया है। बाबा धरनीदास ने मनमोहन तथा प्रानमती की प्रेम-कथा लिखी है। उनके विरह, यात्रा-कष्ट अदि के विवरण तथा सौदागर और मैना का प्रसंग भी प्राय: उसी ढंग के दिये हैं जैसे मलिक मुहम्मद जायसी के ग्रंथ 'पद्मावत' में दीख पड़ते है[3]। अपने ग्रंथ की रचना का समय इन्होंने 'पुस सुदि ५ पुष्य नक्षत्र तथा गुरुवार' दिया है, किंतु कोई संवत् नहीं बतलाया है। ग्रंथ-रचना का स्थान भी इन्होंने 'मेहसि' कहा है, किंतु उसका कोई भौगोलिक परिचय नहीं दिया है। ग्रंथ में इन्होंने प्रसंग-वश कुछ आत्मकथा भी दे दी है। पुस्तक बड़ी रोचक शैली में लिखी गई है और इसके अनेक स्थल वास्तव में चित्ताकर्षक हैं। 'रतनावली' के अंतर्गत बाबा धरनीदास ने अपनी गुरु-परंपरा के संबंध में बहुत कुछ परिचय दिया है। उन्होंने बतलाया है कि हमारा पंथ स्वामी रामानंद के परिवार के साधु विनोदानंद की

---

१. ए शार्ट नोट आन धरनीदास : ए हिंदी पोएट ऑफ दि सेसेंटींथ सेंचुरी, दि जर्नल ऑफ दि बिहार एेंड ओडीसा रिसर्च सोसायटी, भा० १४, १९२८ ई०, पृ० २८५।

२. 'कबिरा पुनि धरनी भयो शाहजहाँ के राज'।

३. 'इस्त्रि पुरुष को भाव, आत्मा औ परमात्मा।
बिछुरे होत मेराव, धरनी प्रसंग धरनी कहत'॥

प्रणाली के अनुसार अग्रसर हुआ। इसका छापा ले लेनेवाले को किसी प्रकार के पाप नहीं लग सकते। इस ग्रंथ में इन्होंने अनेक संतों तथा भक्तों के संक्षिप्त परिचय दिये हैं और नाथ-पंथ के प्रमुख प्रवर्त्तकों तथा प्रचारकों का भी वर्णन किया है। ग्रंथ में बहुत-से पद हैं जिनमें लीलाएँ भी हैं।

शब्द प्रकाश

'शब्द प्रकाश' बाबा धरनीदास के विचारों तथा सिद्धांतों का परिचायक ग्रंथ है। इसकी ४०१ साखियाँ प्रसंगों वा भिन्न-भिन्न ४३ शीर्षकों के अंतर्गत संगृहीत हैं। इसकी भिन्न-भिन्न साखियों द्वारा प्रायः सभी प्रकार की धार्मिक बातों पर प्रकाश डाला गया है। यह रचना उक्त तीनों में सबसे अधिक प्रौढ़ जान पड़ती है। बाबा धरनीदास परमतत्त्व को 'करता राम' के नाम से अभिहित करते हैं। अपने इष्टदेव 'बालगोपाल' वा 'धरनीश्वर' को उसी का प्रतीक मानते हुए-से जान पड़ते हैं। ये कहते हैं, "सारी सृष्टि का विस्तार उस करता की इच्छा के ही अनुसार हुआ है और वही फिर उसे सकेल भी लेगा। जिसे जहाँ विश्वास होता है उसे वहीं विश्राम मिलता है और अपने-अपने मतानुसार सभी अपने इष्टदेव निर्धारित करते हैं। किंतु यदि सच कहा जाय तो करता एक रहस्यमय तथा निराधार तत्त्व है जिसके भीतर हम सभी रहते हैं। वही हमारे भीतर भी सदा विराजमान है, केवल अपने मन की भ्रांति दूर करने पर विवेक द्वारा उसे हम जान सकते हैं। उसका संकेतमात्र भी मिल जाने पर हमारे हृदय में उसके लिए उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। उस राम के प्रति उपजा हुआ प्रेम हमें घायल-सा बना देता है, उसकी टीस अपने हृदय से कभी दूर नहीं हो पाती और हमारे निकट से सारे नेम, आचार-विचार उठ भाग खड़े होते हैं।" इनका कथन ध्यान देने योग्य है।[1]

साधना का रूप

बाबा धरनीदास ने दांपत्य-भाव के अनुसार अनेक रचनाएँ की हैं और प्रेमा-भक्ति के स्वरूप का भी वर्णन किया है। स्वामी रामानंद की परंपरा से संबंध होने पर भी केवल इष्टदेव राम के प्रति प्रदर्शित सेव्य-सेवक भाव के ही उदाहरण इनके ग्रंथों में नहीं मिलते, अपितु श्रीकृष्ण भी इनके वैसे ही इष्टदेव जान पड़ते हैं। जहाँ कहीं भी उनका प्रसंग आया है, वहाँ उनके वर्णन इन्होंने अत्यंत विशद् तथा सुंदर

---

१. 'सूर मरै तौ एक दिन, सती जरै दिन एक।
धरनी भगतन्ह वारिए, जो जन्म निबाहे टेक ॥१८॥"
'साधु की संगति सेजरी, बीसंभर विस्वास।
निर्भै चरन पसारि के, सोवे धरनीदास ॥२०॥"

ढंग से किये हैं। वास्तव में राम अथवा कृष्ण किसी के भी सगुण रूपों वा लीलाओं से इन्हें काम नहीं है। ये उन्हें अपने 'करता राम' के प्रतीक मात्र ही समझते हैं। राम तथा कृष्ण के प्रसंग इनके विविध प्रकार के भक्ति-भावों के प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त किये गए साधनों के रूप में ही आये हैं। अपने भक्त-रूप का परिचय भी इन्होंने दिया है।[1] इससे स्पष्ट है कि इसके द्वारा ये किसी मानसिक स्थिति की ओर ही संकेत करते हैं और वा य पूजनादि को उतना महत्त्व देते हुए नहीं जान पड़ते।

निर्गुण-पंथ

बाबा धरनीदास ने स्वामी रामानंद के सम्प्रदायानुसार तुलसी की माला तथा तिलक की प्रशंसा की है और अपने 'रत्नावली' ग्रंथ में इन्होंने यहाँ तक कह डाला है[2] जिससे उक्त साम्प्रदायिक भेष के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा प्रकट होती है। फिर भी इन्होंने अन्यत्र इसे स्पष्ट कर दिया है।[3]

इस प्रकार इनका अंतिम ध्येय संत-मत का अनुसरण ही प्रतीत होता है।

---

१. 'चित चितसरिया मैं लिहलों लिखाई।
हृदय कमल धइलों हियना लेसाई॥
प्रेम पलंग तहं धइलों बिछाई।
नखसिख सहज सिंगार बनाई॥
हृदय कमल बिच आसन मारी।
ले सरधा जल चरन खटारी॥
हितकै चंदन चरिच चढ़ायो।
प्रीति के पंखा पवन डोलायो।
भाव को भोजन परसि जेंवायो।
जो उबरा सो जूठन पायो॥
धरनि इतउत फिरहि न भोरे।
सनमुख रहहि दोऊ कर जोरे॥'

२. 'तुलसी कंठ तिलक हरि वंदिल धरनी धन्य सो देही।
रामानंद औतार छाप कलि मुकुति को मारग एही॥'

३. 'चक्रहु चाहि चलै चित चंचल, मूल मता गहि निश्चल कौरे।
पांचहुतें परिचै करु प्रानी, कहे के परत पचीस के झौरे॥
जो लगि निरगुन पंथ न सूझै, काज कहा महिमंडल दौरे।
सब्द अनाहत लखि निह आवै, चारो पन चलि ऐस लिगौरे॥
—धरनीदासजी की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९११ ई०, पृ० २४।

अपनी 'बोधलीला' नामक छोटी-सी रचना में इन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार इन्हें संतों की बातें सुन कर और उनके साथ सत्संग करने के अनंतर जगत् के मिथ्यात्व का बोध हुआ। सभी अनस्थिर वस्तुओं के आधार-स्वरूप एक मात्र नित्य तथा निरंजन तत्त्व के विषय में अनुमान होने लगा और जान पड़ा कि सब कुछ 'सागर एक अनेक हिलोरा' मात्र है। हमारा कल्याण उसे अनुभव कर जीवन्मुक्त की दशा में आ जाने पर ही संभव हो सकता है। इन्होंने अपनी 'महराई' नाम की एक अन्य छोटी-सी भोजपुरी रचना में मुरली ध्वनि के रूपक द्वारा अनाहतनाद के श्रवण करने का चित्र भी बड़े मार्मिक ढंग से खींचा है। इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं सूफ़ियों के भी नाम आये हैं और उनके मत का कुछ प्रभाव भी लक्षित होता है।

माँझी की गद्दी

बाबा धरनीदास का देहांत हो जाने के अनंतर क्रमशः अमरदास, मायादास, रतनदास, बालमुकुंददास, रामदास, सीतारामदास, हरनंदनदास तथा संत रामदास उनके शिष्य और प्रशिष्य हुए। माँझी की गद्दी उनके पंथ का मुख्य केन्द्र समझी जाती है और 'धरनीश्वर' के द्वारे में उनके भजन के स्थान पर उनका खड़ाऊँ रखा मिलता है। पंथ की कुल गद्दियाँ साढ़े बारह बतलायी जाती हैं जिनमें से बिहार के अंतर्गत माँझी के अतिक्ति परसा, पंचलक्खी तथा ब्रह्मपुर अधिक प्रसिद्ध हैं।

चैनराम बाबा

पंथ के अनुयायियों की एक अच्छी संख्या उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में भी पायी जाती है और वहाँ वालों का मूल संबंध परसा के मठ से जान पड़ता है। इनके सर्वप्रथम संत चैनराम बाबा थे जिनका जन्म-स्थान बलिया जिले के सहतवार कस्बे का निकटवर्त्ती बधाँव नामक गाँव था। बाबा चैनराम का जन्म सं० १७४० में एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनके पिता का नाम बंस रोपन चौबे था। वे अपने तीन भाइयों में सबसे छोटे थे, कुछ भी पढ़े नहीं थे और लड़कपन में बहुधा खेतों की रखवाली तथा गौवों के चराने का काम किया करते थे। एक बार ग्रीष्म ऋतु के समय उनकी चरती हुई गायों के निकट से जाते हुए कोई प्यासे महात्मा दीख पड़े, जिन्हें चैनराम ने गुड़ के साथ पानी पिला दिया। महात्मा को अपनी प्यास के बुझने पर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने पैर के अँगूठे की धूलि उनके नेत्रों में लगा दी। बालक चैन का तब से कायापलट हो गया और वह उसी क्षण से विरक्त होकर किसी गुरु की खोज में दौड़-धूप करने लगा। अंत में बाबा धरनीदास की परसा गद्दी के

महंत रामप्रसादी दास को उसने अपने दीक्षा-गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। बाबा चैनराम आगे चल कर एक बड़े उच्च कोटि के महात्मा हुए। उनकी शिष्य-परंपरा उनका सं० १८४५ में देहांत हो जाने पर बलिया जिले में चल निकली। इनके शिष्य-प्रशिष्यों में महाराज बाबा सुदिष्ठ बाबा, बाबा रघुपतिदास-जैसे कई महात्मा अपने शुद्ध, सात्विक जीवन के लिए आज तक विख्यात हैं। उनमें से कुछ के नाम से मेले भी लगा करते हैं।

धरनीश्वरी-सम्प्रदाय की वंशावली
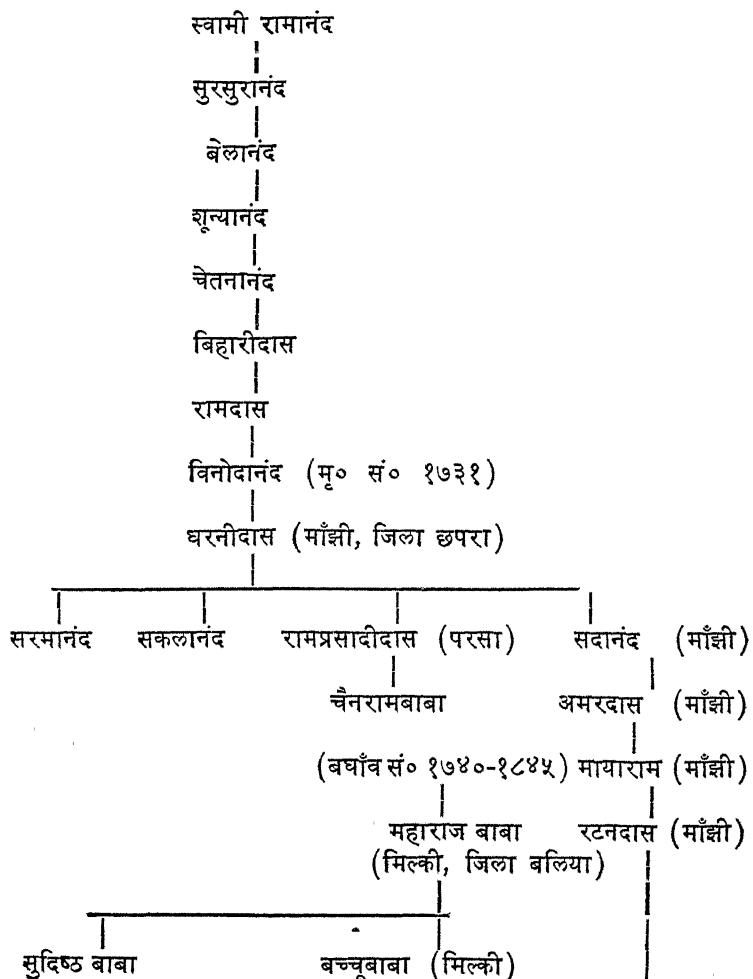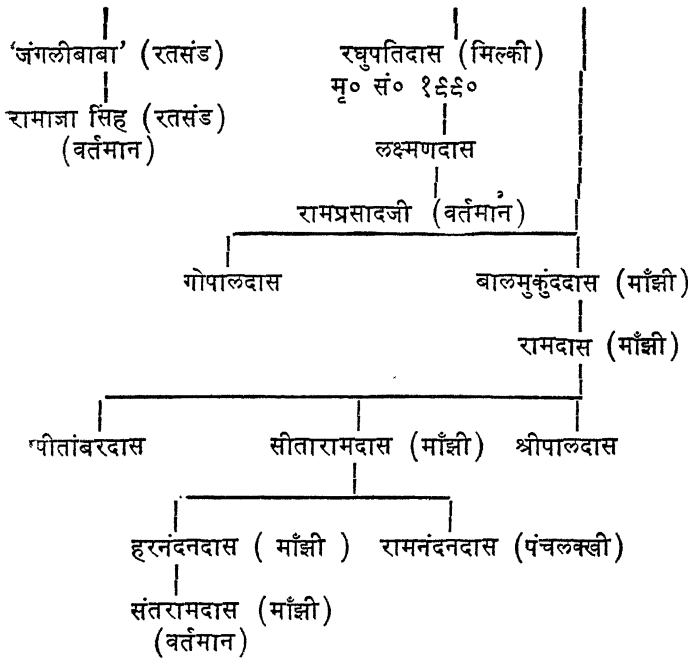
६. शिवनारायणी-सम्प्रदाय

पौराणिक परिचय

संत शिवनारायण की जीवन-संबंधी घटनाओं के विवरण अभी तक बहुत कम उपलब्ध हैं। इनके विषय में चर्चा करते समय इनके अनुयायी इन्हें एक अलौकिक महापुरुष अथवा स्वयं परमात्मा का ही रूप दे डालते हैं और अनेक प्रकार की काल्पनिक बातें कहने लगते हैं। शिवनारायणी-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मान्य ग्रंथों में से 'संत विलास' तथा 'संतसागर' में भी इनकी उत्पत्ति की एक पौराणिक रूपरेखा ही मिलती है। वह संभवतः संत शिवनारायण के श्रद्धालु अनुयायियों के मस्तिष्क की उपज है। इसमें कदाचित् सर्वसाधारण विश्वास नहीं कर सकते। उक्त दोनों ग्रंथों के अनुसार सर्वप्रथम शब्द से क्रमशः निराकार तथा काल के रूप में सृष्टि का आविर्भाव हुआ। फिर काल के सोलह पुत्र हुए जिनके निरंजन, कछक (कच्छप), आचींत (अचिंत), शहज (सहज), रंगी, प्रेमी, शंतोख (संतोष), शीलवंत, शकुच (संकोच), शाची (साची)' शमै (समय)-जैसे नाम दिये गए हैं। उनकी ज्योति नाम की एक कन्या भी बतलायी गई है जिससे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश नामक तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई।

तीनों में ब्रह्मा सबसे बड़े थे जिनके पुत्र काशिप वा कश्यप हुए। कश्यप के पुत्र नलकुँवर ने उत्पन्न होकर संसार में राज्य किया। इसी नलकुँवर के वंश में आगे चल कर बाघराय ने जन्म लिया था। इनके यहाँ, अंत में कर्म के फेर में पड़ कर भ्रम तथा मोह के कारण त्राहि-त्राहि मचानेवाले कालदेश-निवासी लोगों के उद्धारार्थ शिवनारायण ने अवतार ग्रहण किया। इस प्रकार इस कथन द्वारा केवल इतना ही जान पड़ता है कि ये बाघराय की संतान रहे होंगे।

कुल परिवार का विवरण

इसी प्रकार अन्यत्र[1] यह भी पता चलता है कि संत शिवनारायण सतयुग में हरिश्चंद्र के रूप में अवतीर्ण हुए थे। त्रेतायुग में इन्होंने बलि के रूप में अवतार ग्रहण किया था तथा द्वापर-युग में ये ही युधिष्ठिर के रूप में भी थे जिनका साथ श्रीकृष्ण ने दिया था। फिर ब्रह्मा के वंश में कश्यप हुए। कश्यप के पुत्र 'हरनाकुश' हुए तथा उनके पुत्र नल कुँवर हुए जिनके वंश में इनके पिता बाघराय का जन्म हुआ। इन बाघराय का जन्म संवत् १६८८ दिया गया मिलता है। यह भी बताया जाता है कि इनकी तीन पत्नियाँ क्रमशः गौरा, यमुना तथा सुंदरी नाम की थीं। इस ग्रंथ के अनुसार बाघराय की जन्म-भूमि कन्नौज देश में थी, जहाँ पर किसी समय अकाल पड़ने पर वे अपने एक मित्र चंदीराय के यहाँ अपना परिवार आदि लेकर चले आए। यहाँ पर उनकी उक्त सुंदरी नाम की पत्नी के गर्भ से संत शिवनारायण का जन्म सं० १७७३ के कार्तिक मास की कृष्ण तीज को गुरुवार के दिन आधी रात के समय रोहिणी नक्षत्र में हुआ। वहाँ पर यह भी लिखा मिलता है कि इनके पिता बाघराय की तीन और भी संतानें थीं जिनमें से थंमन और मदन पुत्र थे। सुभद्रामती कन्या थी जो तीनों ही व्यक्ति संत शिवनारायण से बड़े थे। जब संत शिवनारायण की अवस्था केवल ७ वर्षों की ही थी, तभी सं० १७८० में इनके हृदय में गुरु दुखहरन का ध्यान हो आया तथा इन्हें ज्ञान हो गया। ग्रंथ में इसी प्रकार इनके दोनों भाइयों तथा इनकी बहन के विवाहित हो जाने और फिर इनके विवाह के भी सुमति के साथ होने की चर्चा की गई है। यहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि उससे इन्हें जयमाल नाम का एक पुत्र हुआ तथा सलिता नाम की कोई कन्या भी उत्पन्न हुई।[2]

---

१. मूलग्रंथ वंशमूल तथा वंशावली (रचयिता श्री रामनाथ जी)

२. 'बलख बुखारा शाह सुल्ताना। मोहम्मद पुत्र तेहिके जाना।
सो दिल्ली में करे बादशाही। अकबर कुल सब गये पराई ॥१३५॥'
—मूल ग्रंथ वंशमूल तथा वंशावली, (रचयिता श्री रामनाथ जी) संत समाज, कानपुर, सन् १९६३ ई०, पृ० ४९।

परिस्थिति तथा प्रमुख घटनाएँ

इस ग्रंथ में कहा गया है कि उस समय बलख बुखारा के शाह सुलतान का पुत्र मुहम्मद यहाँ दिल्ली में राज करता था। अकबर के कुल वाले सभी भाग गये, काशी में राजा चंद्रसेन थे और जहूराबाद परगना में आसकरन 'टप्पा' पड़ता था। उन दिनों टाँकनगर अर्थात् संभवतः ढाका नगर में फैजुल्ला शासन करता था और मकसूदाबाद में साहब दाद की अमलदारी थी। जब एक बार फिर अकाल पड़ा तो मोहम्मद शाह ने बाघराय के यहाँ 'हलकारा' भेज कर उनसे तीन सालों का पोत (मालगुजारी) तलब किया। इससे इनके पिता भयभीत हो गए, किंतु ये स्वयं उस दूत के साथ बादशाह के यहाँ दिल्ली गये और इन्होंने उसे समझाना चाहा। परन्तु उसने रुष्ट होकर इन्हें जेल में डाल दिया, जहाँ पर इनके चमत्कारों से प्रभावित होकर इन्हें छोड़देना पड़ा तथा इनका शिष्यत्व ग्रहण करना तक पड़ गया। इनके पिता का देहांत १०१ वर्ष की अवस्था पाकर सं० १७८९ में हुआ जब ये केवल १६ वर्ष के थे, किंतु अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना में लीन भी रहा करते थे। तदनुसार उक्त बादशाह के अतिरिक्त फिर क्रमशः इनके रामनाथ (ग्रंथ के रचयिता) लखन राम, सदाशिव, युवराज तथा लेखराज नामक चार और शिष्य हुए। इनके एक छठें शिष्य उस काल के अयोध्या के राजा जयमल सिंह का भी नाम लिया गया है जो अपने यज्ञ के समय इनके चमत्कारों द्वारा प्रभावित हुए थे। उस अनुष्ठान का सं० १८१३ की चैत्र शुक्ल ७ को रविवार के दिन संपन्न होना बतलाया गया है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि इनके शिष्य सदाशिव ने कलकत्ते के जज बुलाकी, ढाका के शाह फैजुल्ला तथा मकसूदाबाद के नवाब साहब दाद को अपने प्रभाव में लाकर तथा उन्हें अपने चमत्कारों का प्रदर्शन करके भी अपना शिष्य बना लिया।[१] संत शिवनारायण ने अपने मत का प्रचार करने के उद्देश्य से कई स्थानों की यात्रा भी की थी। अपनी वृद्धावस्था में ये गृहस्थाश्रम का त्याग करके अधिकतर उस ससना बहादुरपुर ग्राम के निकट जंगल में गुफा के भीतर निवास करने लगे थे, जहाँ पर इनकी बहन सुभद्रा ब्याही गई थी। कहते हैं कि इन्होंने अपने शिष्य रामनाथ से यह बात किसी दिन पहले ही बतला दी थी कि तुम युवराज और लेखराज सं० १८५४ में अपना प्राण त्याग करोगे तथा लखनराम का देहांत सं० १८७० में होगा। इसके सिवाय इन्होंने उन्हें इस बात की भी सूचना दे दी थी कि मैं स्वयं सं० १८४८ के श्रावण मास की शुक्ल सप्तमी को संत-देश के लिए प्रयाण कर चुका रहूँगा। इनके शिष्य

---

१. मूलग्रंथ वंशमूल, जीवन चरित्र भाग, पृ० १८-२१।

सदाशिव के लिए कहा गया मिलता है कि उनका देहांत इसके भी पहले सं० १८४१ में ही हो चुका था। इस 'मूल ग्रंथ वंशमूल' की रचना संत शिवनारायण तथा उनके शिष्य रामनाथ के बीच बातचीत के रूप में हुई है और इसमें कुछ उपदेश की बातें भी आ गई हैं।

समीक्षा

इतना इतिहास के आधार पर भी सिद्ध किया जा सकता है कि मुहम्मद शाह का शासन-काल सं० १७७६ से सं० १८०५ तक रहा। इसी प्रकार अहमदशाह भी उसके अनंतर सं० १८०५ से लेकर सं० १८११ तक राज करता रहा। तदनुसार संत शिवनारायण का जीवन-काल सं० १७७३-१८४८ इन दोनों के ही शासन-काल तक न पड़ कर इसके आगे तक भी चला जाता है और उसकी अवधि ७५ वर्ष की सिद्ध होती है। इसके अनुसार उपर्युक्त 'गुरु अन्यास' तथा 'संत सुंदर' ग्रंथों के अंतर्गत बतलाये गये रचना-काल क्रमशः सं० १७६१ तथा सं० १८०० भी प्रमाणित हो जाते हैं। परन्तु क्षितिमोहन सेन का अनुमान था कि संत शिवनारायण का जन्म सं० १७६७ के लगभग हुआ होगा[1] जिसके अनुसार 'गुरु अन्यास' की रचना के समय इनकी अवस्था या तो २४ वर्ष की अथवा 'मूल ग्रंथ' के आधार पर केवल १८ वर्ष की ही ठहरती है। ये मुहम्मद शाह के निधन-काल अर्थात् सं० १८०५ तक भी केवल क्रमशः ३८ अथवा ३२ वर्ष के ही ठहराये जा सकते हैं। इस प्रकार मुहम्मद शाह के शासन-काल में ही इनका एक विख्यात महापुरुष कहलाकर स्वयं उसके ऊपर भी पूर्ण प्रभाव डालने लगना एक उल्लेखनीय बात कही जा सकती है। इसी प्रकार इनके द्वारा 'गुरुअन्यास ग्रंथ' का केवल २४ वा १८ वर्ष की अवस्था में ही रचा जाना भी इनकी विशिष्ट प्रतिभा का ही सूचक होगा। जहाँ तक 'मूलग्रंथ' के रचयिता द्वारा मुहम्मद शाह के किसी बलख बुखारा के शाह का पुत्र होना कहा गया है यह भ्रांतिमूलक है। इसके सिवाय फैजुल्ला तथा साहब दाद नवाब अथवा जज बुलाकी और जयमल सिंह के सम्प्रदाय में आ जाने की बात भी सिद्ध नहीं होती।

ऐतिहासिक परिचय

'संत सुंदर' ग्रंथ में इनके विषय में कुछ अन्य ऐसी बातों के भी उल्लेख मिलते हैं। उसमें कहा गया है कि जब अहमद शाह आगरे में रहा करता था और सूबा इलाहाबाद गाज़ीपुर से आरंभ होता था, उस समय उसने गाज़ीपुर जिले के परगना ज़हूराबाद में फैजुल्ला को तैनात किया था। इसकी अमलदारी

---

१. मिडीवल मिस्टिसिज्म, पृ० १५५।

में संवत् १८०० : ११५५ फ० साल के अंतर्गत उक्त ग्रंथ की रचना हुई थी। उसी परगने के चंदवार नामक गाँव में नरौनी क्षत्रिय बाघराय के घर शिवनारायण ने जन्म भी लिया था और इनके गुरु वा पथ-प्रदर्शक संत दुखहरन थे।[1]

इसी प्रकार पंथ के सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ 'गुरु अन्यास' के अनुसार भी पता चलता है कि उसकी रचना सं० १७९१ : सन् ११४५ फ० में अगहन सुदी १३ शुक्रवार को हुई थी। उस समय दिल्ली का बादशाह मुहम्मद शाह था, जिसका राज्य काशी तक था और वह आगरे में रहा करता था। उसी समय शिवनारायण बंगदेश की ओर आये थे और अपने कंठ में सरस्वती का वास होने के कारण इन्होंनें उक्त ग्रंथ की कथा कही थी। इनके पूर्वजों की जन्म-भूमि कन्नौज देश में थी और उन्हें कर्मवश बंगदेश की ओर जाना पड़ा था। उस समय सूबा प्रयाग के नाम से था जिसके अंतर्गत गाज़ीपुर सरकार पड़ती थी। उसमें ज़हूराबाद नामक परगना था, जिसमें आसकरन तप्पा शामिल था। उसी के चंदवार नामक

---

१. 'जन्म लीन्ह् चंदवार मंह, शिवनारायन आए।'

.. .. ..

'बुंद नरवनी कहत सम, बाघराय का वार।'

.. .. ..

सूबा इलाबाद।
अहमद शाह शाहि सब जाना, डीलीपती तहवाँ सुलताना।
तेही का होइ आगरा थाना, गाजीपुर से करत पयाना।
तहां परगना वाइस कीन्हा, फैजुलाह कंह अमल दीन्हा।
तेही अमल मंह कथा बनावा, परगना जहूराबाद कहावा।
तेही में गांव चंदवार कहावा, शीवनराएन जनम तहां पावा।
तहांकै शीवनाराएन, कहत कहावत जाए।
दुखहरन संत गुरु मिले, एही पंथ मंह आए।"

.. .. ..

'संवत अठारह से सन इगारह, पचपन सन होए।
तेही समयसो शीवनराएन, कहा संदेसा सोए॥'

—शब्द 'संतसुंदर' —'संतसमाज' कानपुर, सन् १९६१ ई०, पृ० ५०। यहाँ 'सूबा इलाहाबाद' अंश एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर दिया गया है। —लेखक

गाँव के नरौनी क्षत्रिय-कुल के बाघराय के घर शिवनारायण का जन्म हुआ था। इन्होंने गुरु की कृपा से 'गुरु अन्यास' ग्रंथ की रचना की। इनके गुरु का नाम दुखहरन था। *यह विवरण 'संतसुंदर' में दिये गये उक्त पते से कुछ मेल भी खाता है।

गुरु

चंद्रवार गाँव इस समय, गाजीपुर जिले में न होकर बलिया जिले में पड़ता है। उसका परगना भी इस समय दूसरा हो गया है। यह आजकल सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रधान केन्द्र-सा भी बनता जा रहा है और इसके निकट उसके अन्य मठ भी हैं। कहा जाता है कि संत शिवनारायण को यहाँ पर अपने बचपन में ही विरक्ति जगी और कुछ बड़े होते ही ये किसी गुरु की खोज में निकल पड़े। अंत में इन्हें संत दुखहरन के दर्शन हुए और प्रसिद्ध है कि उनसे प्रभावित होकर इन्होंने उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। अपने गुरु के रूप में इन्होंने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। ये उन्हें स्वयं परमात्मा से किसी प्रकार न्यून मानने के

---

*'संवत सत्रह सौ इक्कानबे होई। ग्यारह सै सन पैंतालीस होई' ॥३॥
'अगहन मास पक्ष उजियारा। तिथि त्रयोदशी शुक्र से वारा ॥७॥[1]
तेहि दिन निरमल[2] कथा पुनीता। गुरु अन्यास कथा सब हीता ॥८॥
मोहम्मद शाह दिल्ली सुलताना। काशीछत्र आगरा थाना ॥९॥
ताहि समय में शिवनारायण, बंगदेश चलि आय।
कंठे बैठी सरस्वती, कथा अन्यास बनाय ॥३॥
जन्मभूमि है कनवज देशा। कर्मवशी से बंग प्रवेशा ॥१०॥
तीर्थप्रयाग सूबा जे होई। जेहिके अमल गाजीपुर सोई ॥११॥
गाजीपुर सरकार कहावै। सूबा प्रयाग अमल जहां पावै ॥१२॥
जहुराबाद परगना आही। आसकरन तपा, तेही माही ॥१३॥
से स्थान चंदवार कहावे। शिवनारायण जन्म तहां पावे ॥१४॥
जन्म पाय भई गुरु की माया। तब अन्यास अस कथा बनाया ॥१५॥
आसपास चंदवार मंह, गाजीपुर सरकार।
बुंद नरौनी कहत सब, बाघराय के वार ॥४॥
दुखहरन नाम से गुरु कहावे। बड़े भाग्य से दर्शन पावे[3]॥१६॥'

१. अन्य पाठ 'सन् एकतालीस' (हस्तलिखित प्रति)।
२. अन्य पाठ 'निर्भयउ' (हस्तलिखित प्रति)।
३. गुरु अन्यास, ज्ञानदीपक, श्री शिवनारायण कार्यालय, शाहू की गली, लाहोर, सन् १९३५ ई०।

लिए तैयार नहीं जान पड़ते । इनके 'गुरु अन्यास' ग्रंथ से पता चलता है कि एक बार ये किसी समय अपने गुरु का नाम हृदय में धारण करके देश-भ्रमण करते-करते किसी ऐसी सभा में जा पहुँचे, जहाँ 'शब्द' की चर्चा छिड़ी थी । वहाँ के सत्संग द्वारा इन्हें बड़ा लाभ हुआ और इनके भीतर ज्ञान का प्रकाश हो आया। संत लोगों का वहाँ पर कहना था कि गुरु का स्मरण निरंतर करते रहना चाहिए । उसके ध्यान में लीन रहना चाहिए और कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है । गुरु की कृपा से ही भगवान् प्राप्त होते हैं और सभी सिद्धियाँ भी क्षण भर में मिल जाती हैं । गुरु के चरणों में चित्त से लगने तथा उसके सूर्यवत् प्रकाशमान शब्दों को अपनाने से अपना हृदय आप-से-आप आलोकित हो उठता है । गुरु के सिवाय अन्य कोई नहीं है । अतएव ये वहाँ पर गंभीर चिंतन करने लगे और इसी बीच इन्हें ऐसा कोई संकेत भी मिला कि प्राणायाम द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में लाकर बारहवें स्थान की ओर सुरति को स्थिर कर देने पर ये सभी बातें संभव हो जाती हैं और मुक्ति का मार्ग खुल जाता है । तदनुसार इन्होंने यथेष्ट यत्न किये और इन्हें ध्यान में उस दिव्य ज्योति के दर्शन हो गए । इसके प्रकाश में ऐसा अनुभव होने लग गया कि मेरे सिर पर उसने अपना हाथ रख दिया है और वह मुझे अपने आशीर्वाद भी दे रहा है ।[1] इस कारण इनके अनुयायियों में से बहुत लोगों की यह भी धारणा है कि वास्तव में, इन्होंने किसी 'दुखहरन' नामक व्यक्ति को गुरु-रूप में स्वीकार नहीं किया था, प्रत्युत इनके भीतर किसी ऐसे अलौकिक प्रकाश का आप-से-आप भान हो गया था जिसे इन्होंने दुखहरन कह दिया ।

दुखहरन कौन थे ?

संत शिवनारायण के गुरु समझे जानेवाले किसी संत दुखहरन के विषय में अभी तक हमें कोई निश्चित पता भी नहीं चल सका है । 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोजों के फलस्वरूप हमें किसी एक दुखहरन की एकाध रचनाओं का परिचय मिलता है जिनमें से एक 'पुहुपावती' का रचना-काल सं० १७२६ दिया गया है और उसकी 'रिपोर्ट' से यह भी सूचित होता है कि इस प्रेमगाथा का रचयिता कायस्थ जाति का था तथा वह गाज़ीपुर के आसपास का रहनेवाला होगा । एसी दशा में यह कहा जा सकता है कि 'मूल ग्रंथ' के अनुसार सं० १७१३ में उत्पन्न हुए शिवनारायण का उसके संपर्क में आ जाना तथा अपनी ७ वर्ष की ही अवस्था में उससे प्रभावित होकर उसका शिष्यत्व ग्रहण कर लेना तक असंभव नहीं है । इसके सिवाय हमारे पास किसी दुखहरन कवि की एक 'भक्तमाल'

१. गुरु अन्यास, पृ० ४-१६ ।

हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है जिसके आदि तथा अंत के कुछ पन्ने नहीं हैं। किंतु जिसे देखने से विदित होता है कि इका रचयिता कोई भक्त कवि था। इसमें दिये गए योग-साधना संबंधी विवरणों से उसका संत-मत से परिचित होना भी सिद्ध है।[1] उक्त ग्रंथ में यत्रतत्र भोजपुरी भाषा के प्रयोग मिलते हैं[2] और उसका हस्तलेख भी भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र में ही पाया गया है। इसी प्रकार कदाचित् ऐसे ही किसी दुखहरन के कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध हैं जिनमें से "जन दुखहरन कर बिनती, हंसा घर फरि बसावो दयाला" टेक से अंत होनेवाले सवैये इधर बहुत प्रचलित हैं। ये भी उस भक्त दुखहरन के ही हो सकते हैं। अतएव, यदि 'पुहुपावती' के कवि दुखहरन उक्त 'भक्तमाल' तथा सवैयों के भी रचयिता सिद्ध किये जा सकें और उनका संबंध किसी प्रकार बलिया जिले के साथ प्रमाणित किया जा सके, तो उनके संत शिवनारायण के गुरु होने में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। हमें उनका कुछ-न-कुछ परिचय मिल भी जाता है। कवि दुखहरन के गुरु का मलूकदास होना कहा गया है और स्वयं उन्हें कायस्थ भी ठहराया गया है, जहाँ संत शिवनारायण के गुरु दुखहरन को लोग इधर ब्राह्मण कहते हैं जिसका निर्णय करना सरल नहीं है।

रचनाएँ

संत शिवनारायण की रचनाओं के नाम तथा संख्या के विषय में बहुत कुछ मतभेद जान पड़ता है। विल्सन ने सर्वप्रथम इनके केवल ११ नाम गिनाये थे जिनमें से 'संत आखरी' की जगह पर उन्होंने भूल से 'संताचारी' लिख दिया था।[3] इसी प्रकार क्रुक ने ऐसी एक सूची तैयार करते समय, उसमें 'बड़ास्तोत्र', 'बड़ा परवाना', 'पति परवाना' तथा 'बढ़ो' वा 'बड़ीबानी'-जैसे नामों की भी चर्चा कर दी थी[4] जिनका अन्यत्र कहीं भी पता नहीं चलता। महर्षि शिवव्रतलाल के अनुसार ये ११ रचनाएँ इस प्रकार हैं: १. 'ग्रंथ' २. 'संतविलास', ३. 'भजन ग्रंथ', ४. 'संत सुंदर', ५. 'गुरुन्यास', ६. 'संत 'अचारी', ७. 'संत उपदेश', ८. 'शब्दावली', ९. 'संत परवान', १०. 'संत',

---

१. उदाहरण के लिए मारकंडे के प्रति भृगुमुनि द्वारा दिये गए उपदेश तथा संत-मत की साधना-संबंधी विविध उल्लेख इस बात की पुष्टि करते हैं।—ले०

२. दे० 'झंखत झुरवत रातिदिन, लगन निअर जब आइ।
बहुत विकल भई रुकुमिनी, तनिको कछु न सोसाइ ॥आदि।

३. रिलिजस सेक्ट्स औफ़ दि हिन्दूज, पृ० ३५८-९।

४. 'कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स' आदि, भाग २, पृ० ५७९।

महिमा' तथा ११. 'संतसागर' जो उपलब्ध पुस्तकों के नामों से अधिक सुसंगत प्रतीत होती है।[1] परन्तु एकाध अन्य ऐसी सूचियों के अंतर्गत इनकी संख्या कुछ और भी बढ़ा दी गई मिलती है। इनमें 'सवाल जवाब', 'टीका', 'लाल ग्रंथ'-जैसे नाम आ जाते हैं जो अनुमान से क्रमशः 'रूपसरी', 'संत विचार' तथा 'लवग्रंथ'-जैसे ग्रंथों के लिए प्रयुक्त भी हो सकते हैं। इसके सिवाय जहाँ तक हमें पता है, संत शिवनारायण की वास्तविक रचनाओं की संख्या निर्णय करना अभी तक उनके अनुयायियों के लिए भी कठिन समझा जाता आया है। इस कारण सम्प्रदाय के मठों में अभी तक उनका कोई प्रामाणिक संग्रह नहीं पाया जाता। कहीं-कहीं पर ये १२ मान कर सुरक्षित किये गए दीख पड़ते है तो अन्यत्र उनकी संख्या १४ अथवा १६ तक भी सिद्ध की जाती जान पड़ती है। परन्तु जब तक ऐसे सभी ग्रंथ प्रकाशित नहीं हो जाते तथा इनका कोई तुलनात्मक अध्ययन करके तर्क-सगत परिणाम निकाल नहीं लिया जाता, इस विषय में अंतिम निर्णय देना उचित नहीं प्रतीत होता और केवल साधारण अनुमान से ही काम लिया जा सकता है। ये रचनाएँ मूलतः कैथी लिपि में लिखी गई थीं और इन्हें देवनागरी में लाने का यत्न सभवतः लगभग ५० वर्षो से आरंभ हुआ है। इसके सिवाय इनमें से कई एक का अब कानपुर से प्रकाशन भी होता जा रहा है[2]। जिससे इस प्रश्न पर विचार करना सुगम हो जा सकता है। अत-एव जिन ऐसे ग्रंथों के संबंध में हम कुछ चर्चा करने जा रहे हैं, उनमें से कई एक वा अधिकांश के विषय में अभी आपत्ति की जा सकती है।

गुरु अन्यास

संत शिवनारायण की रचना समझे जानेवाले ग्रंथों में अभी तक सबसे अधिक मान्य 'गुरु अन्यास' रहता आया है। इसे सम्प्रदाय के अनुयायी 'ज्ञान-दीपक', 'बीजक' अथवा 'गुरुग्रंथ साहब'-जैसे नामों द्वारा भी अभिहित करते हैं। इसकी किसी-न-किसी एक हस्तलिखित प्रति का प्रायः प्रत्येक शिवनारायणी समाज में सुरक्षित रहना अभी तक एक व्यापक नियम-सा समझा जाता आया है। इसकी वहाँ पर श्रद्धा के साथ पूजा की जाती भी देखी गई है। अब तक इसके लगभग आधे दर्जन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से एकाध सटीक और सचित्र तक हैं। इसके भीतर पायी जानेवाली पाठांतर-संबंधी समस्या भी कदाचित् इतनी साधारण नहीं है जिसे सरलतापूर्वक सुलझा दिया

१. संतमाल, पृ० २६५-६।

२. संत संदेश-कार्यालय, गाँधीनगर, कानपुर।

जा सके। इस ग्रंथ के अंतर्गत १२ खंड पाये जाते हैं जिनके नाम क्रमश: 'आरंभ खंड', 'योग खंड', 'साहु खंड', 'चोर खंड', 'गमन खंड', 'कामिनी खंड', 'यम खंड', 'भक्त खंड', 'दशावतार खंड', 'चारयुग खंड', 'चार नायका खंड' तथा 'चौदह भक्त खंड'-जैसे दिये गए दीख पड़ते हैं। इनमें कतिपय प्रारंभिक बातों के अतिरिक्त योग-साधना, मनुष्य की चार अवस्थाएँ, उसके काम-क्रोधादि षट्-शत्रु, चौदह यम आदि बातें विषय बन कर आयी हैं। वर्णन-शैली पौराणिक रचना-परंपरा का अनुसरण कती है और कहीं-कहीं पर संत शिवनारायण को विशेष महत्त्व दिया गया भी प्रतीत होता है। इससे कभी-कभी ऐसा संदेह होने लगता है कि ग्रंथ के मूल रूप में कुछ फेर-फार भी न किया गया हो अथवा कहीं इसका अधिकांश वा यह सारी रचना तक किसी अन्य व्यक्ति की कृति न सिद्ध हो जाय। इसमें पाये जनेवाले १६४ दोहे तथा १२ श्लोक तो कदाचित् प्रत्येक उपलब्ध प्रति में मिलते हैं, किंतु चौपाइयों की संख्या १४०१ से लेकर २८५२ तक भी देखी जा सकती है। इस प्रकार संदेह करन वालों के लिए बहुत कुछ आधार का मिल जाना स्वाभाविक है। फिर भी यह ग्रंथ सम्प्रदाय के प्रधान उद्देश्य चरित्र-निर्माण की पूर्ति करता हुआ ही लक्षित होता है जिस कारण इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। कहते हैं कि शिवनारायण जी इसकी मूल-प्रति को अपने द्वितीय शिष्य लखनराम को दे गए थे,[1] जिनके जन्म-स्थान बरसड़ी में वह सुरक्षित भी है।

'संत सुंदर', 'संत विलास' आदि

ग्रंथ 'गुरु अन्यास' के अनंतर महत्त्व की दृष्टि से 'संत सुंदर', 'संत-विलास' तथा 'संतसागर' के नाम लिये जाते हैं जिनके विषय प्राय: एक-से ही हैं। 'संत सुंदर' ग्रंथ में 'सोरठा चालीसा' द्वारा उपदेश दिये गए हैं। 'संत विलास' में प्रधानत: किसी एक इसी नाम की अलौकिक स्थिति का वर्णन किया गया है। 'संत-सागर' में संतों के महत्त्व पर अधिक बल दिया गया जान पड़ता है। इन तीनों का अंतिम लक्ष्य 'कालदेश' के निवासियों की दुर्दशा का विवरण देकर उन्हें चेतावनी के रूप में कुछ कहा गया ही कहला सकता है। 'संत सुंदर' में दिया गया संत शिवनारायण का संक्षिप्त परिचय 'गुरु अन्यास' वाले ऐसे ही प्रसंग की भाँति बहुत कुछ ऐतिहासिक है। परन्तु 'संत विलास' तथा 'संत सागर' में पाया जाने-वाला वैसा ही विवरण हमें नितांत पौराणिक वा काल्पनिक तक जैसा लगता है। इस कारण इन दो रचनाओं के संत शिवनारायण रचित होने में संदेह भी किया

---

१. दे० मूल ग्रंथ के अंत का 'जीवन चरित्र' अंश, पृ० २४।

जा सकता है। 'संत आखरी' ग्रंथ का मुख्य विषय 'सुरत शब्द योग' जान पड़ता है जिसकी ओर इसके आरंभ में ही कुछ संकेत कर दिया गया है। इसके अनंतर उक्त योग जनित अनुभव की चर्चा बहुत कुछ संत विलास वाले प्रदेश की स्थिति के रूप में ही की गई है और उसकी उपलब्धि के लिए उपदेश भी दिये गए हैं। इसी प्रकार ग्रंथ 'रूपसरी' नामक छोटी-सी रचना में कतिपय गूढ़ार्थवाची पद्य पाये जाते हैं। इसमें एक विशद् रूपक भी आ गया है जिसका रहस्य पूर्ण-रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता और कुछ विचित्र-सा भी लगता है। फिर भी 'काल-देश' की दयनीय दशा की ओर ध्यान दिला कर 'संतदेश' के लिए तैयार करना ही इस ग्रंथ का भी प्रधान लक्ष्य जान पड़ता है। इसी प्रकार 'लौ परवाना' अथवा 'हुक्मनामा' के अंतर्गत कतिपय दोहों, चौपाइयों तथा 'सुखद शब्द' कही जाने-वाली सूत्रवत् रचनाओं द्वारा थोड़े शब्दों में विभिन्न उपदेश दिये गए है जो अपने अनुयायियों को सजग और सचेत बनाये रखने के लिए हैं। 'संत महिमा' में संतों की महिमा बतलायी गई है। 'संत उपदेश' में प्रसंगवश संत-मत का संक्षिप्त परि-चय आ जाता है। 'संत विचार' नामक गद्य ग्रंथ के अंतर्गत भी संत शिवनारायण के उपदेशों का एक लघु संग्रह ही पाया जाता है। 'मूलग्रंथ' का महत्त्व इसके संत शिवनारायण तथा इनके कुछ शिष्यों तक का न्यूनाधिक परिचय प्रस्तुत करने में ठहराया जा सकता है। इसके रचयिता रामनाथ कहे गए हैं। 'संत वोजन' के लिए भी कहा जा सकता है कि इस गद्य ग्रंथ में सम्प्रदाय के अनुयायियों की रहनी का एक आदर्श ही रखा गया प्रतीत होता है। इसके सिवाय 'शब्दा-वली' के अंतर्गत साढ़े छह सौ से भी अधिक शब्द संगृहीत हैं जो सभी संत शिवनारायण के ही नहीं। इनमें से संभवत: ५०० ही इनके होंगे और शेष में से अधिकांश इनके शिष्य रामनाथ साहेब, सदाशिव साहेब, लखन राम साहेब, जोवराज साहेब, लेखराज साहेब आदि कुछ अन्य ऐसे लोगों के भी हैं जिनके संबंध में पूरा पता नहीं चलता।

प्रधान उद्देश्य

उपलब्ध ग्रंथों को देखने से जान पड़ता है कि शिवनारायणी-सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य अपने प्रत्येक अनुयायी को 'संत विलास' वा 'संत देश' नामक लोक तक पहुँचा देना है। इस 'संत विलास' का वर्णन पंथ के कई ग्रंथों में किया गया है। इससे प्रकट होता है कि वह दरियादास (बिहारवाले) के 'छपलोक' वा 'अभयलोक' की भाँति एक आदर्श प्रदेश है जो सबसे ऊपर है। वह संतों का अपना निवास-स्थान है। जहाँ रह कर तथा उसके सुखों से अवगत होकर ही संत शिवनारायण अन्य लोगों को वहाँ जाने का उपदेश देते हैं। इसके विपरीत संसार

'कालदेश' कहा गया है, जहाँ के सभी मनुष्य मोह के फेर में पड़कर नाना प्रकार के कष्ट झेल रहे हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि इससे उनका उद्धार किस प्रकार होगा। अपनी स्थिति सुधारने के लिए लोगों ने निर्गुण तथा सगुण नाम के दो भिन्न-भिन्न मार्ग निश्चित किये हैं, किंतु इनमें से किसी के द्वारा निर्वाह नहीं हो सकता। इसके लिए 'संत-मत' का ही अनुसरण परमावश्यक है। इसी को अपनाने से सारे दुखों से रहित होकर हम उक्त प्रदेश की स्थिति को उपलब्ध कर सकते हैं। उस प्रदेश में पहुँच जाने पर विदित होगा कि हमारा वास्तविक निवास-स्थान वही है। हम केवल कर्मवश 'कालदेश' के जंजाल में पड़ गए थे। उस प्रदेश में सभी समान भाव से आनंद का उपभोग करते हैं और सबकी स्थिति प्राय: एक ही रहती है। वहाँ पर सबसे अधिक उच्च श्रेणी का पुरुष केवल 'संतपति' है जिसके समक्ष अन्य संत उसकी प्रेमिकाओं के रूप में दीख पड़ते हैं। इसके निकट रहना वे सभी अपना अहोभाग्य समझा करते हैं।

वास्तविक रहस्य

परन्तु उक्त अलौकिक प्रदेश में पहुँचने के लिए यहाँ किसी का आश्रय ग्रहण करना नहीं पड़ता। 'संत सुंदर ग्रंथ' में यह स्पष्ट कह दिया गया है।[1] इससे प्रकट होता है कि संत शिवनारायण अथवा कोई गुरु भी यदि हमें उक्त प्रदेश तक पहुँचाना चाहता है, तो वह केवल पथ-प्रदर्शन मात्र ही करके छोड़ देता है। मार्ग में स्वयं अपने बल पर ही भरोसा करके आगे बढ़ना पड़ता है। यह बल हमें तब मिलता है, जब हम अपने आपको पहले तौलते वा अपनी परीक्षा करते हैं। इस प्रकार अपने भीतर की कमियों का पता लगा कर उन्हें पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ पर संत शिवनारायण ने प्रत्येक मनुष्य के मन के भीतर चालीस प्रकार की त्रुटियों का होना माना है। तदनुसार उनके निराकरण का संकेत भी किया है। 'संत विलास' तथा 'संत सागर' में आये हुए 'सोरटा चालीसा', 'संत आखरी' में दिये गए 'शब्द चालीसा' तथा 'हुकुमनामा' के चालीस हुक्मों में यही बातें दखलायी गई हैं। 'संत सुंदर' की पंक्ति से भी

---

१. 'निराधार आधार नहीं, बिन अधार की राह।
सीवनरायन देस कहं, आपुही आप निबाह ॥'
—शब्द ग्रंथ संत सुंदर, पृ० १२।

२. 'मोल अमोलन तुर, आखर चालीस सेर भौ।
तबही भौ मन पुर, सीवनरायन अस कहै ॥'
—वही, पृ० ६।

यही ध्वनि निकलती है। ऐसा हो जाने पर ही स्थिति-विशेष संभव होती है।[1] और इस कारण उक्त 'संत विलास' वा 'संत देश' का निवास वास्तव में किसी भौगोलिक प्रदेश का प्रवास न होकर अपने मन को उक्त चालीस प्रकार के विकारों से उन्मुक्त कर निर्मल, निश्चल तथा पूर्ण बना देना मात्र ही कहा जा सकता है। उक्त 'संत सुंदर' ग्रंथ में आगे चलकर कह दिया गया है, "जिस प्रकार उक्त साधना व्यक्तिगत होती है, उसी प्रकार उक्त देश की स्थिति का वास्तविक स्वरूप भी व्यक्तिगत ही है।"[2] 'संत देश' का दूसरा नाम 'संत विलास' भी कदाचित् इसी ओर संकेत करता है। 'संत आखरी' ग्रंथ में इसी काण सर्वत्र आत्म-निर्भरता तथा निर्भयता पर विशेष ध्यान दिया गया है और पंथ को 'निराधार पंथ' भी कहा गया है।

चालीस का महत्व

शिवनारायणी-सम्प्रदाय की उपलब्ध रचनाओं में चालीस को महत्त्व प्रदान करना उल्लेखनीय बात है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'संत सुंदर', संत विलास' तथा 'संत सागर' में से प्रत्येक में एक न एक 'सोरठा चालीसा' है। इनके विषयों में भी बड़ी समानता है। इसी प्रकार 'संत आखरी' में एक 'शब्द चालीसा' आया है। इसके द्वारा 'कालदेश' को हेय तथा 'संतदेश' को स्वीकार करने योग्य ठहराया गया है और दोनों की स्थितियों की तुलना भी की गई है। 'हुकुमनामा' में इसी के अनुसार ४० आदेश दिये गए हैं और प्रत्येक द्वारा किसी-न-किसी नैतिक सद्गुण को अपनाने के लिए संतों से कहा या है। इनमें से एक के अंतर्गत चालीस मंत्रियों की भी चर्चा की गई है जिनका विशेष परिचय 'संत विचार' ग्रंथ में मिलता है। 'संत विचार' ग्रंथ में प्रत्येक संत के प्रति आदेश है कि वह अपने नैतिक व्यवहार में सदा चालीस मंत्रियों की अनुमति लेकर काम किया करे। जो ऐसा करते हैं वे ही पूर्ण संत हैं और उन्हीं का राज्य अथवा उन्हीं की मानसिक स्थिति सदा 'सलसंत' अर्थात् शांत रहा करती है। उक्त ग्रंथों में 'मन' का अर्थ श्लेष द्वारा 'चालीस सेर का मन' माना गया है। अतएव पूर्ण

---

१. 'मन पुरन पुरन भएव, भएव पुरनो बास।
सीवनरायन पूरनो, सभए पुरनो पास॥'
—शब्द ग्रंथ संत सुंदर, पृ० ७।

२. 'सीवनारायन गांव यह, अपना अपना ठांव।
अपना अपना संत होइ, अपना अपनी नांव॥'
—वही, पृ० ४६।

मन वही कहला सकता है जिसमें चालीस सेर की भाँति चालीसों सद्गुण आ जायँ और वह शांत हो जाय। मन की पूर्ति द्वारा मन की स्थिरता तथा मन की पूर्ण शुद्धि भी अभिप्रेत है, जो आत्मज्ञान की उपलब्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी आवश्यक है। पूर्णतः विशुद्ध तथा अधिकृत मन ही वास्तव में शुद्ध आचरण का भी आधार हुआ करता है। यही इस पंथ का अंतिम लक्ष्य जान पड़ता है।

दीक्षा

परमात्मा को इस पंथ में एक निराकार तथा सर्वगुणातीत माना गया है। संत शिवनारायण पृथ्वी पर उसके प्रतीक रूप समझे गए हैं। उनके प्रति एकांत-निष्ठा अपनी चित्तशुद्धि तथा सात्विक जीवन प्रत्येक अनुयायी के लिए मुख्य ध्येय होना चाहिए। सभी धर्म वा जाति के लोग इसमें सम्मिलित होने के अधिकारी हैं। इस पंथ में प्रवेश पाने के लिए उन्हें किसी प्रकार की विधि वा परंपरा का पालन करना भी आवश्यक नहीं है। इसके लिए किसी पुरोहित की मध्यस्थता नहीं चाहिए, न विशेष सामग्री ही अपेक्षित है। जब कोई इस पंथ में आना चाहता है, तब सर्वप्रथम उसे इसकी विविध कठिनाइयों की सूचना दे दी जाती है और कुछ दिनों तक उसकी जाँच भी कर ली जाती है। फिर वह 'बीजक' अर्थात् पूज्य ग्रंथ के लिए कुछ भेंट लाता है और अपने चुने हुए संत के समक्ष अर्पित करना चाहता है। तब वह संत ग्रंथ की आरती करता है और आगंतुक को अपना चरणामृत देने के अनंतर दीक्षा के रूप में कुछ उपदेश तेता है। इसके पश्चात् पाठ होता है और प्रसाद का वितरण कर विधि समाप्त कर दी जाती है। ऐसे प्रत्येक शिष्य को दीक्षित होने पर अपने पास एक प्रति 'परवाना' की रखनी पड़ती है जो गुरु की ओर से उसे अवश्य दी जाती है। उसमें दिये गए उपदेशों के अनुसार चलना पड़ता है[1]। इस पंथ के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नैतिक गुण सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, मादक वस्तु-त्याग तथा एक पत्नी-व्रत है। इसमें रहनेवालों के लिए किसी प्रकार का भी भेष-विशेष अपेक्षित नहीं। इनके भजनों में भी ईश्वर के गणुगान वा भक्ति को उतना स्थान नहीं मिला है, जितना संत शिव नारायण के प्रति श्रद्धा तथा व्यक्तिगत सदाचरण को।

भ्रमण, प्रचार-कार्य तथा अंतिम दिन

अनुमान किया जाता है कि संत शिवनारायण अपने गुरु द्वारा उपदेश

---

१. जी० डब्ल्यू ब्रिग्स : दि चमार्स, दि रिलिजस लाइफ इंडिया सिरीज, पृ० २११-२।

ग्रहण कर चुकने के अनंतर देश-भ्रमण के लिए निकले तथा उसी समय से इनका आना-जाना आगरा, दिल्ली-जैसे प्रसिद्ध स्थानों में भी होने लगा। कहते हैं कि ऐसे ही समय इनकी पहुँच क्रमशः फौज के सिपाहियों तक भी हो गई और ये उन्हें कुछ-न-कुछ प्रभावित करने लगे। फलतः इनका परिचय वहाँ के कर्मचारियों तथा धीरे-धीरे स्वयं बादशाह से भी हो गया जिससे इन्हें अपने प्रचार-कार्य में बड़ी सहायता मिली। कहा तो यहाँ तक जाता है, "मुहम्मदशाह को अपने उपदेशों द्वारा प्रभावित करके इन्होंने उसकी शाही मुहर का भी उपयोग किया।[1] प्रसिद्ध है कि सम्प्रदाय के प्रधान मठ में एक ऐसी प्राचीन मुहर सुरक्षित है जिसके द्वारा इनके अनुयायियों के परवाने मुद्रित किये जाते हैं। परन्तु उसके चिह्न यथेष्ट रूप में स्पष्ट नहीं जिससे निश्चित रूप में पता लग सके कि वह उक्त शाही मुहर ही है वा नहीं। क्षितिमोहन सेन का कहना है कि संत शिवनारायण प्रसिद्ध शाहजादा दाराशिकोह (सं० १६७२-१७१६) के विचारों द्वारा भी प्रभावित थे। उसके कुछ अनुयायियों के साथ इनका सत्संग हुआ था तथा वली (सं० १७२५-१८०१), आबरू और नज़ीर नामक उर्दू कवियों के हृदयों में इनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी जिस बात को वे प्रामाणिक आधारों पर आश्रित भी कहते हैं।[2] परन्तु ऐसे किसी प्रमाण की ओर उन्होंने कोई संकेत नहीं किया है। संत शिवनारायण की उपलब्ध रचनाओं पर हमें सूफ़ी-मत का केवल साधारण प्रभाव ही लक्षित होता है। संत शिवनारायण 'गुरु अन्यास' की रचना करने से पूर्व कदाचित् कहीं दिल्ली की ओर भ्रमण कर रहे थे, जहाँ से सं० १७९१ के लगभग 'बंगदेश' में अर्थात् पूर्वी प्रांतों की ओर 'चलि आय' वा लौट आये तथा अपनी आंतरिक प्रेरणा द्वारा प्रभावित होकर इन्होंने उसे निर्मित किया। ये सं० १८११ अर्थात् 'संत सुंदर' ग्रंथ की रचना के समय तक प्रत्यक्षतः जीवित थे। इनकी मृत्यु सं० १८४८ की श्रावण शुक्ल ७ को हो गई[3]। महर्षि शिवव्रतलाल ने इनकी समाधि का बड़सरी, जिला गाजीपुर में होना बतलाया है जो ठीक नहीं है। इनकी वास्तविक समाधि का सम्प्रदाय के प्रमुख

---

१. 'मोहम्मदशाह को शब्द सुनाये। मोहर लेकर पंथ चलाये।
—दि जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयरलैंड, जनवरी-जून, १९१८ ई०, पृ० ११६ पर उद्धृत।

२. मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १५५-६।

३. दे० 'सात उजियार सावन को भयेऊ। धाम अपने तब गुरुजी गयेऊ।
—लखनराम।

स्थान ससना बहादुरपुर, जिला बलिया में रहना बतलाया जाता है जहाँ पर पहले कदाचित् इनकी कोई गुफा भी रह चुकी थी।

मठ, अनुयायी और प्रचार क्षेत्रादि

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के प्रधान मठ संख्या में चार कहे गए हैं और ये उसके 'चार धाम' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं। इनके नाम प्रायः चंदवार, बरसड़ी, ससना बहादुरपुर और परसिया बतलाये जाते हैं। इनमें से चौथे को किसी-किसी ने गाज़ीपुर भी माना है। इन चारों में से प्रथम चंदवार संत शिवनारायण जी के जन्म-स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। तीसरे को इनका समाधि-स्थान ठहराया जाता है और जैसा इसके पहले भी कह आये हैं, यहाँ पर इनकी बहन सुभद्रामती व्याही थी तथा यहीं इन्होंने साधना भी की थी। इसी प्रकार द्वितीय तथा चतुर्थ स्थान भी, क्रमशः संत शिवनारायण के द्वितीय शिष्य लखनराम और प्रथम शिष्य रामनाथ के जन्म-स्थान होने के कारण पुण्य-स्थान माने गये हैं। किंतु गाज़ीपुर के लिए इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं बतलायी जाती। सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध मठों मे बलिया जिले के रतसंड, डिहवाँ-जैसे कई स्थानों के नाम लिये जाते हैं। इनके प्रमुख शिष्यों में से रामनाथ सिंह के लिए कहा जाता है कि वे इनसे अवस्था में बड़े थे। यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने ही इनके जन्म समय इनकी 'नाल' काटी थी। रामनाथ की समाधि उनके जन्म-स्थान परसिया में है, जहाँ पर उनके वंशज भी अभी तक वर्तमान हैं। इसी प्रकार इनके द्वितीय शिष्य लखनराम के लिए कहा जाता है कि वे पहले 'माई' वा 'विश्नु' पंथ में दीक्षित रहे। उनके गुरु कोई 'जती' थे जिनकी ही प्रेरणा पाकर उन्होंने पीछे संत शिवनारायण से भी दीक्षा ग्रहण की और इन्होंने उन्हें अपना 'गुरु अन्यास' ग्रंथ रखने को दिया। लखन राम स्वयं भी एक योग्य पुरुष थे। इन्होंने कुछ रचनाएँ की हैं जिनमें से "विजय ग्रंथ' प्रकाशित भी हो चुका है। 'मूलग्रंथ' के अनुसार इनका देहांत सं० १८७० में हुआ जब कि रामनाथ सिंह इसके पहले सं० १८५४ में ही मर चुके थे। लखन राम को संत शिवनारायण का सर्वश्रेष्ठ शिष्य भी कहा गया मिलता है। इनकी समाधि बरसड़ी में है जहाँ इनके वंशजों का मठ भी है। संत शिवनारायण के दो अन्य प्रमुख शिष्यों के रूप में सदाशिव (मृ० सं० १८४१) तथा लेखराज (मृ० सं० १८५४) के नाम लिये जाते हैं। प्रसिद्ध है कि इनमें से प्रथम जाति से 'जती' थे और द्वितीय 'भाट' थे। संत शिवनारायण के किसी

---

१. दि जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी आदि, जनवरी, जून, १६१८ ई०, पृ० ११६।

खटिक शिष्य वा प्रशिष्य बिहारी राम द्वारा कानपुर के मठ का स्थापित होना कहा जाता है। कहते हैं कि बंबई नगर के 'कोहार बाड़ी' नामक स्थान के आसपास इनके एक अन्य अनुयायी ने भी किसी ऐसे ही मंदिर को स्थापित किया था। सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी कलकत्ता रंगून, कराची, लाहोर, पेशावर और क़ाबुल जैसे सुदूर नगरों तक में वर्त्तमान सुने जाते हैं। पता चलता है कि इसी प्रकार उनमें से कई एक मारिशस, ट्रिनिडाड आदि से लेकर अमेरिका-जैसे विदेशों तक में बस कर वहाँ के नागरिक बन चुके हैं। अतएव इनकी संख्या कम नहीं कही जा सकती।

रीति-रिवाज, पर्व और संगठन

शिवनारायणी-सम्प्रदाय के अनुयायियों में हिन्दू तथा मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई भी सम्मिलित जान पड़ते हैं। इनके यहाँ जाति, वर्ण, आश्रम अथवा वैसे किसी धर्म-विशेष के अनुसार वर्गीकरण किया गया नहीं माना जाता। इनके शवों को बहुधा गाते-बजाते ले जाया जाता है। उन्हें मृत व्यक्तियों के पूर्व कथनानुसार जमीन में गाड़ा, आग में जलाया अथवा किसी नदी में बहा दिया जाता है। जीवन-काल में सभी प्रायः एक ही प्रकार से 'भगत' वा 'संत' कहे जाते हैं। सभी के इष्टदेव एक मात्र संत शिवनारायण माने जाते हैं जो 'संतपति' कहलाते हैं। इस सम्प्रदाय के अंतर्गत पहले प्रायः उच्च वर्गों के ही लोग पाये जाते थे। किंतु अब अधिकतर वे लोग अधिक संख्या में आ गए दीख पड़ते हैं जिन्हें जाति से चमार, दुसाध अथवा अन्य ऐसी किसी श्रेणी का सदस्य और अछूत तक समझा जाता है। कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा अन्य उच्च समझी जानेवाली जातियों के लोगों की संख्या इनमें पंचमांश से भी कम हो सकती है। फिर भी इस सम्प्रदाय में स्त्रियों को भी लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो पुरुषों के हैं। वे कदाचित् मठाधीश तक भी बन जाती हैं। इनके सब प्रसिद्ध पर्वों वा त्यौहारों में एक अगहन सुदी १३ का दिन समझा जाता है, जब 'गुरु अन्यास' ग्रंथ की रचना हुई थी। इसके सिवाय सावन सुदी ७ (शिवनारायण का देहांत-दिवस) कार्त्तिक सुदी ३ (उनका जन्म-दिवस) तथा माघ सुदी ५ (उनका दीक्षा-दिवस) इन तीनों को भी उसी प्रकार महत्त्व दिया जाता है और उस समय कुछ विशेष उत्सवादि किये जाते हैं। जहाँ कहीं इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या पर्याप्त जान पड़ती है। ये लोग अपना कोई-न-कोई संगठन कर लेना पसंद करते हैं। ये लोग वहाँ अपनी एक 'टोली' अथवा बेड़ा समाज बना लेते हैं जिसके सभी सदस्य 'संत सिपाही' नाम से अभिहित होते हैं। उनमें से ७ का चुनाव करके वैसे मुखियों का एक 'मंत्रिमंडल' तैयार कर लिया जाता है।

इन मुखियों वा मंत्रियों को क्रमशः (१) महंथ, (२) वजीर, (३) कौंसिली (४) खजांची, (५) लिखनीमल, (६) भंडारी तथा (७) छड़ी बरदार कहते हैं। तदुपरांत ये सातों नियमानुसार कुछ द्रव्य जमा करते हैं तथा फिर 'अदली कढ़ाह' के लिए भी ६५ रुपये एकत्र किये जाते हैं। इसमें से ८ रुपये 'धाम' को 'पाती मोहर' के लिए भेज दिये जाते हैं। शेष अन्य कार्यों में व्यय किये जाते हैं। इसी प्रकार ऐसी-ऐसी टोलियों के आधार पर किसी बृहत् समाज (ब्रिगेड समाज) की रचना की जाती है जो इनके तथा 'धाम' के बीच काम करती है। इसके द्वारा इनके पारस्परिक झगड़े भी निपटाये जा सकते हैं। 'धाम' को केन्द्र माना जाता है।

वंशावली

संतपति दुखहरन

संतपति शिवनारायण (सं० १७७३-१८४८)

लखनराम (मृ० सं० १८७०) बरसड़ी — सदाशिव (मृ० सं० १८४१) — शिश्वनाथ सिंह, ससना — लेखराज (मृ० सं० १८५४) — रामनाथ (मृ० सं० १८५४) परसिया — जीवराज (मृ० सं० १८५४)

कामजीतसिंह (बरसड़ी) — हींछानाई (डिहवाँ) — गुरुदयाल (चंदवार) — जीतसिंह — गेंदाराम — शंभू सिंह (परसिया)

धनी सिंह (मनियर)

बंगाबिशुन सिंह — खेदारूराम (कोइरी) — गिरिवर सिंह

कुंजबिहारी सिंह — कबुतराराम (ब्राह्मणी) — घुरबिन सिंह

बृझावन सिंह — सतसेवक सिंह

रघुनाथ सिंह — ननुथराम — गुलजारराम — साधुशरण सिंह

रामरतनसिंह — (डिहवाँ) — (रतसंड) — (वर्तमान)

प्राग सिंह (वर्तमान)
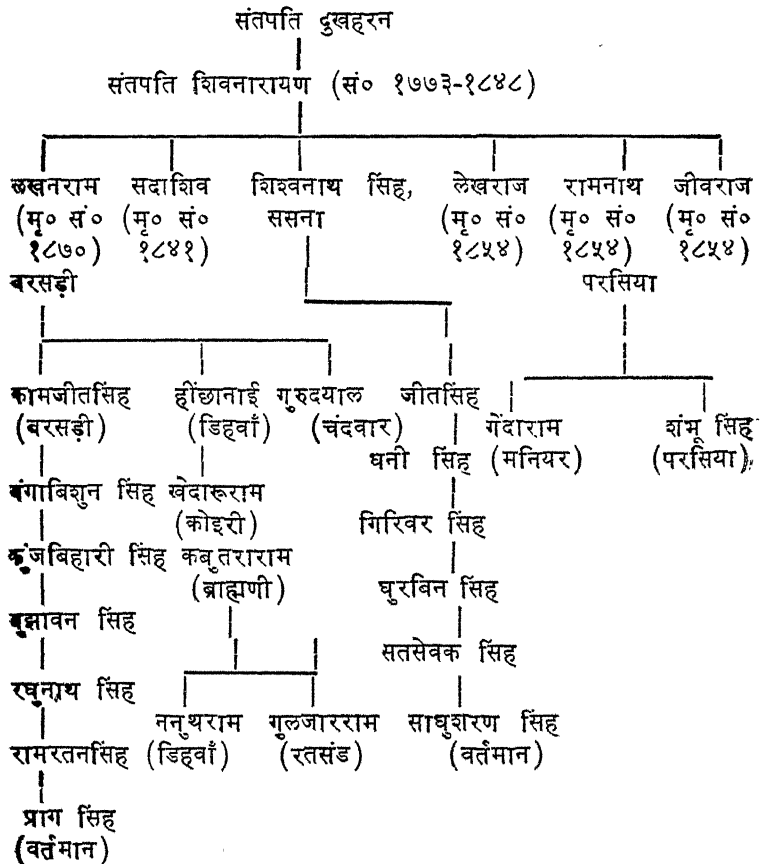
६. दरियादासी-सम्प्रदाय

दो दरिया साहब

दरिया नामक दो संत एक-दूसरे के समकालीन हो गए हैं जिनमें से एक का निवास-स्थान बिहार प्रांत था और दूसरे का मारवाड़। ये दोनों ही संत पहले जाति से मुसलमान रह चुके थे। बिहार वाले दरिया साहब दर्जी परिवार के थे और मारवाड़ वाले धुनिया। दोनों के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने आगे चल कर संत-मत को स्वीकार किया और एक सच्चे संत की भाँति जीवन-यापन कर अंत में शरीर त्याग किया। इनमें से बिहारवाले दरिया साहब ने कदाचित् मारवाड़ी दरिया से कहीं अधिक रचनाएँ प्रस्तुत कीं और वे कबीर साहब के अवतार भी कहलाये। परन्तु मारवाड़ी दरिया साहब की बानियाँ बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। जनश्रुति है कि उनके आविर्भाव की सूचना संत दादूदयाल ने लगभग एक सौ वर्ष पहले ही दे रखी थी। उन्होंने कह दिया था कि ये अनंत जीवों को इस संसार से तारने वाले होंगे। इन दोनों संतों के अनुयायी मिलते हैं, किंतु उनकी अधिक संख्या उनके अपने-अपने प्रवर्त्तक के प्रांत में ही पायी जाती है। बिहार वाले दरिया साहब के अनुगामियों के मठादि मारवाड़ वाले से कदाचित् कहीं अधिक हैं। उनकी साधना तथा रहन-सहन में भी कुछ विशेषता लक्षित होती है। बिहार वाले दरिया साहब मारवाड़ वाले से कुछ वर्ष पहले उत्पन्न हुए थे और उनकी मृत्यु के कुछ काल अनंतर इनका देहावसान भी हुआ था। बिहार वाले दरिया साहब का अनुभव कदाचित् कुछ अधिक व्यापक रहा और उनके मत पर सूफ़ी-सम्प्रदाय, सत्तनामी-सम्प्रदाय तथा कबीर-पंथ का भी न्यूनाधिक प्रभाव दीख पड़ता है। किंतु मारवाड़ वाले दरिया साहब अपनी गहरी अनुभूति में सदा मग्न रहे। प्रसिद्ध है कि 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की 'रैण शाखा' का प्रथम प्रवर्त्तन इन्हीं के द्वारा हुआ। इसके सिवाय बिहार वाले दरिया साहब ने अपने को कई जगह 'दरिया दास' नाम से भी अभिहित किया है,[1] वहाँ मारवाड़ वाले दरिया साहब को दरियावजी भी कहा गया है।

दरियादास का वंश-परिचय

बिहार वाले दरिया साहब वा 'दरियादास' के संबंध में इधर बहुत कुछ खोज भी हो चुकी है। फ्रांसिस बुकैनन, सुधाकर द्विवेदी, बालेश्वर प्रसाद, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री तथा कतिपय योग्य दरिया-पंथियों ने भी इनके विषय में बहुत-सी बातें निश्चित करने के अनेक यत्न किये हैं। परिणाम-स्वरूप

---

१. दे० दरियासागर, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ४८।

पता लगा है कि दरियादास के पूर्वज उज्जैन वंशी क्षत्रिय थे और मालवा से आकर बिहार प्रांत में बस गए थे। शाहाबाद जिले के महंत चतुरीदास ने उक्त पूर्व-पुरुषों के एक वंश-वृक्ष[1] का भी पता लगाया है जो इस प्रकार है।
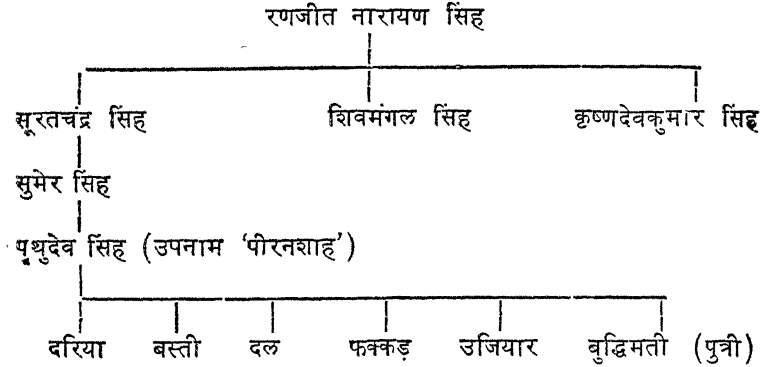
प्रसिद्ध है कि उक्त रणजीत सिंह अथवा उनके कोई पूर्वज वा वंश वाले सर्वप्रथम उज्जैन से आकर जगदीशपुर, जिला शाहाबाद में बसे थे। उनके योग्य होने के कारण उनके वंशजों का शासन भी इस प्रदेश में होता आया। महाराजा डुमराँव, जिला शाहाबाद भी उस घराने के ही कहे जाते रहे हैं। सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार दरियासदास के पिता को अपने भाई के प्राण बचाने के लिए बादशाह औरंगज़ेब की प्रिय बेगम की दर्ज़िन की लड़की के साथ विवश होकर विवाह करना पड़ा था। इस प्रकार वह उनकी द्वितीय पत्नी के रूप में उनके साथ रही। कदाचित् इसी कारण वे पृथुदास से 'पीरनशाह' बन गए। पीरन शाह तब से अपने किसी मित्र प्रबोध नारायण सिंह के कहने से अपनी सास के घर धरकंधा में जा बसे जो डुमराँव, जिला शाहाबाद से लगभग १४ मील की दूरी पर वर्तमान है। वह इस समय दरिया-पंथियों का एक मुख्य स्थान समझा जाता है। दरियादास ने 'मूर्ति उखाड़' में अपने को पीरू दर्जी का पुत्र कहा है।[2]

जीवन-काल

दरियादास की प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानदीपक' की मुद्रित प्रति की पुष्पिका में ११ पद्य उद्धृत हैं जो दलदास की रचना समझे जाते हैं। इनका समय

१. दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० २४, १६३८ई०, पृ० २१० ।

२. दे० संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पटना, पृ० ८ ।

३० अगहन शुक्रवार सं० १७२७ बतलाया गया है ।[1] उनके देखने से पता चलता है कि दरियादास का जन्म कार्त्तिक सुदी १५ सं० १६९१ को हुआ था और उन्होंने सं० १८३७ की भाद्रपद ४ को अपना शरीर-त्याग किया था । उससे यह भी जान पड़ता है कि इन्होने अपनी मृत्यु के पहले ही सं० १८३६ में गुणीदास को महंत बना दिया था । दरियादास की पत्नी का नाम राममती था और उनके पुत्र टेकदास थे । फक्कड़ तथा बस्ती उनके भाई थे और केवलदास, खड़गदास, मुरलीदास तथा दलदास उनके प्रिय शिष्य थे । 'ज्ञानदीपक' के प्रकाशक ने एक पद्य को दरिया दास की जन्म-तिथि का आधार माना है ।[2] वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'दरिया सागर' के अंत में दरिया दास की मृत्यु के संबंध में भी दो दोहे दिये हैं ।[3] अतएव दरियादास की अवस्था उनकी मृत्यु-तिथि तक १४६ वर्ष की ठहरती है । परन्तु उक्त 'दरिया सागर' के संपादक के अनुसार दरिया-पंथियों में प्रसिद्ध है कि वह इस धरती पर १०६ बरस तक रहे । इस प्रकार उन्होंने इनका जन्मकाल सं० १७३१ में माना है ।[4] १४६ वर्षों की अवस्था साधारण प्रकार से बहुत अधिक जान पड़ती है । किंतु इस विषय में अंतिम निर्णय कुछ और प्रमाणों के आधार पर ही किया जा सकता है ।

प्रारंभिक जीवन

कहते हैं कि दरियादास को दरिया वा दरियाशाह नाम स्वयं भगवान् ने ही दर्शन देकर दिया था, जब ये केवल एक महीने के अपनी माँ की गोद में बालक थे । इनका विवाह नव वर्ष की अवस्था में इनके कुल-नियमानुसार हो गया था । इसी प्रकार पंद्रहवें वर्ष में इन्हें विराग उत्पन्न हो गया । बीसवें वर्ष में इनमें भक्ति का पूर्ण विकास हो आया और तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने तख्त पर बैठ कर लोगों को उपदेश देना आरंभ कर दिया । इनके विषय में यह

---

१. दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २४, १९३८ ई०, पृ० २११ ।

२. 'संवत सोलह सौ इक्कानवे, कातिक पूरन जान ।
मातु गर्भते प्रगट भए, रहे दो घरी आन ।।'

३. 'भादो बदी चौथि वार सुक, गवन कियो छपलोक ।
जो जन सब्द विवेकिया, मेटेउ सकल सब सोक ।।
संबत अठारह सै सैंतीस, भादो चौथि अंधार ।
सवा जाम जब रैनि गो, दरिया गौन विचार ।।'
—दरियासागर, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ७० ।

४. वही, जीवन चरित्र, पृ० २ ।

भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने स्त्री-प्रसंग कभी नहीं किया और उक्त टेकदास इस प्रकार इनके औरस-पुत्र न होकर धर्म-पुत्र मात्र थे। बुकैनन साहब ने लिखा है, "जिस समय सं० १८६६-६७ : सन् १८०६–१० ई० में वे शाहाबाद जिले में भ्रमण कर रहे थे, उस समय, धरकंधे की गद्दी पर टेकदास विद्यमान थे और वे गुणीदास के उत्तराधिकारी बन कर बैठे हुए थे। बुकैनन साहब का यह भी कहना है कि अनुश्रुति के अनुसार कासिमअली ने दरियादास को धरकंधे में १०१ बीघे जमीन दी थी। अनुमान किया जा सकता है कि यह कासिम अली कदाचित् प्रसिद्ध मीरकासिम रहा होगा जो सन् १७६० से १७६३ ई० तक सूबा बंगाल (जिसमें बिहार भी शामिल था) का गवर्नर था। सन् १७६० ई० से १७६१ ई० तक वह पटना रहा था, जहाँ से अपना मुख्य केन्द्र सासाराम को बना कर उसने भोजपुर, जिला शाहाबाद के विद्रोही जमींदारों का दमन किया था।[1] दरियादास अपने जीवन भर धरकंधे में ही रहे, केवल कुछ दिनों के लिए इन्होंने काशी, मगहर, बाईसी, जिला गाज़ीपुर, हरदी तथा लहठान, जिला शाहाबाद जा-जाकर उपदेश दिये थे। इनके प्रधान शिष्यों की संख्या ३६ थी जिनमें दलदास सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

उपलब्ध रचनाएँ

दरियादास वा दरिया साहब के अधिक शिक्षित होने का कुछ पता नहीं चलता। इनके केवल हिंदी तथा फ़ारसी के साधारण ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इन्हें पद्य-रचना का भी अभ्यास अवश्य रहा होगा। इन्होंने कई छोटे-बड़े ग्रंथों का निर्माण किया था। इनकी एक पुस्तक 'ग्यान सरोदै' (स्वरोदय ज्ञान) में कहा गया मिलता है, "ग्रंथ अष्टदस कहा बखानी। तब सरोद कह दिल अनुमानी।" इससे स्पष्ट है कि इन्होंने उसे लेकर कम-से-कम १९ रचनाएँ प्रस्तुत की होंगी। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने खोज करके ऐसी रचनाओं की संख्या २० निश्चित की है तथा उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया है।[2] उनके अनुसार इन २० में से सबसे बड़ा ग्रंथ 'शब्द' वा 'बीजक' तथा सब से छोटा 'गणेश गोष्ठी' जान पड़ते हैं। इनमें से प्रथम के अंतर्गत ५९५८ और उसी प्रकार द्वितीय में केवल २९४ पंक्तियों का पाया जाना बतलाया गया है। 'शब्द' वा 'बीजक' ग्रंथ में दरिया साहब द्वारा रचित ऐसे पदों का संग्रह किया गया है जो विभिन्न रागों अथवा छंदों के अनुसार निर्मित हैं तथा इनके विषय भी साधारण 'शब्दावलियों' के जैसे हैं। इसी प्रकार इनकी

१. दि जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पृ० २१३।
२. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पटना, सं० २०११, पृ० ३९-४९।

'सहसरानी' नामक एक अन्य रचना में भी इनकी १०५३ साखियों को संगृहीत कर दिया गया है। किंतु इनकी 'ज्ञानदीपक' नामक पुस्तक के अंतर्गत इनके विविध जन्मों का परिचय पौराणिक शैली में दिया गया दीख पड़ता है। इनके 'दरिया सागर' में भी जो संभवतः इनकी प्रथम रचना है; इन्होंने अपने 'सुकृत' वाले अवतार की बाल्यावस्था आदि का वर्णन किया है। फिर इनकी 'ज्ञानमूल' नामक रचना भी प्रायः इसी प्रकार की है जिसमें सत्पुरुष का स्वर्ग से जंबूद्वीप आकर दरिया को अपना युवराज (शाहज़ादा) बनाना तथा 'सुकृत' के प्रचारों के हेतु उन्हें रक्षा प्रदान करना दिखलाया गया है। 'ब्रह्मविवेक' तथा 'अग्रज्ञान' के अंतर्गत क्रमशः कतिपय लोकों तथा त्रिगुणादि जनित दुखों की बातें बतलायी गई हैं। इसी प्रकार 'प्रेममूल' 'भक्तिहेतु', 'विवेक सागर', 'निर्भय ज्ञान', 'ब्रह्म-चैतन्य' और 'यज्ञ समाधि' मे क्रमशः प्रेम, भक्ति तथा योग-जैसी साधनाओं की चर्चा की गई है। 'गणेश गोष्ठी' और 'मूर्ति उखाड़' में इनके किसी गणेश पंडित के साथ किये गए शास्त्रार्थों का परिचय दिया गया मिलता है। 'काल-चरित्र' में इनके काल के साथ संघर्ष चलने की चर्चा और 'अमर सार' के अंतर्गत इनके द्वारा की गई अन्य मतों की आलोचना पायी जाती है।

'ग्यान रतन' का विषय

दरिया साहब की शेष दो रचनाओं के रूप में डॉ० शास्त्री ने 'ज्ञान रतन' तथा 'ज्ञान स्वरोदय' के नाम लिये हैं। इन्हें उपर्युक्त 'दरिया सागर', 'भक्ति-हेतु', 'ब्रह्म विवेक' और 'ज्ञान मूल' के साथ प्रकाशित भी कराया है। 'ज्ञान रतन' वा 'ग्यान रतन' का एक मुख्य विषय प्रसिद्ध राम-कथा है जिसे लेकर तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना की है। परन्तु इसे देखने से पता चलता है कि इसके निर्माण का उद्देश्य ठीक वही नहीं है जो गोस्वामी जी का अथवा वाल्मीकि ऋषि का भी रहा होगा। इनका स्सष्ट कहना है, "मैंने राम-कथा के प्रसंग में ज्ञान की चर्चा की है और यह बतलाया है कि किस प्रकार भक्ति, विवेक, ज्ञान तथा 'विराग' के द्वारा मोह का भंग हो जाता है। आत्म-दर्शन अथवा स्वानुभूति-जन्य ज्ञान का उदय होकर परामार्थ की प्राप्ति होती है।"[1] जो वास्तव में एक लोकप्रिय साधन की सहायता द्वारा निर्गुणवाद

---

१. "बालमीक मुनि तुलसी भाखा। राम चरित्र जगत रुचि राखा॥
कहेउ ग्यान निजु कथा प्रसंगा। भक्ति विवेक मोह होय भंगा॥
आदि अंत पूछा सिख आई। छुछुम कथा निजु ग्यान सुनाई॥
भक्ति विवेक औ ग्यान विरागा। आतम दरस ग्यान तब जागा।"
—दरिया, ग्रंथावली, द्वितीय ग्रंथ, पटना सं० २०१८, पृ० २००।

से परिचित कराना भी कहला सकता है। तदनुसार दरिया साहब ने यहाँ पर गोस्वामी जी वाली राम-कथा को मूलतः अपनाते हुए भी उसमें कुछ विशेषताओं का समावेश कर दिया है। इन्होंने 'सीता' को मूलतः 'माया' ठहरा कर उनका जनक के घर आकर प्रकट होने की चर्चा पहले ही कर दी है।[1] फिर ये अन्यत्र भी कहते हैं कि- किस प्रकार "वह स्वयं सत्पुरुष की 'कुमारी कन्या' है जिसका प्रपंच सब किसी को विदित है। इसी प्रकार वह राम भी उस निरंजन से भिन्न नहीं है जो त्रिगुणात्मिका सृष्टि में प्रवाहित हो रहा है।"[2] इनके अनुसार इस प्रकार के "मायाचरित्र को कोई पहचान नहीं पाता और पंडित लोग तक इसे पढ़ भूल कर बैठते हैं।"[3] गोस्वामी जी ने जिस प्रकार अपने 'मानस' ग्रंथ में पग-पग पर अपने इष्टदेव राम के परमात्मतत्त्व के साथ एक तथा अभिन्न होने का स्मरण दिलाया है, लगभग उसी प्रकार इन्होंने भी यत्र-तत्र ऐसे प्रसंग ला दिये हैं जिनसे इनके मत का समर्थन होता चले।

स्वर-विज्ञान

दरियादास के 'ज्ञान-स्वरोदय' ग्रंथ में एक ऐसे विषय की चर्चा है जिसका शुद्ध संत-मत के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं जान पड़ता। हमारे शरीर की जीवितावस्था में हमारी नाक के छिद्रों वा नथनों द्वारा एक प्रकार की वायु सदा चला करती है जिसे भीतर प्रवेश करने से 'श्वास' और बाहर निकलने को 'प्रश्वास' कहा करते हैं। इसी श्वास-प्रश्वास की गति का एक दूसरा नाम 'स्वर' भी है। यह स्वर निरंतर एक ही मार्ग से गतिशील नहीं होता, प्रत्युत कभी केवल बायें, कभी केवल दायें अथवा कभी-कभी दोनों मार्गों से ही प्रवेश करता वा निकलता रहता है। इस गति-परिवर्तन की क्रिया को उक्त स्वर का 'उदय' होना कहा जाता है। 'स्वर-विज्ञान' वा 'स्वरोदय' ज्ञान शब्द इस प्रकार उस विद्या के लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसके द्वारा हमें अपने उक्त स्वर की गति-विधि का ज्ञान हो और साथ ही उसके भिन्न-भिन्न परिणामों का भी पता चल सके। अनुभवी महापुरुषों के अनुसार स्वर की गति साधारणतः

---

१. "माया जनक ग्रिह आइया, परगट भई तिन्लोक'। —द० ग्रं०, पृ० १२७।

२. "सप्तसुर्स कै कन्या कुमारी, इन्ह परियंत्र विदित जगडारी।
सोई राम निरंजन अहई, यह जग जानि त्रिगुन में वहई॥"
—वही, पृ० १३५।

३. "आदि भवानी कन्या अहई, सोई सीत सती यह कहई।
माया चरित्र चिन्हैं नाहिं कोई, पंडित पढ़िकै चले बिगोई॥
—वही, पृ० १५०।

सूर्योदय से आरंभ होकर ढाई घटिका वा १ घंटे तक एक समान रहा करती है और उसी प्रकार आगे भी प्रत्येक घंटा क्रमशः बदलती जाती है। यह प्रारंभ कभी दायें कभी बायें वा कभी दोनों नथनों से भी हो सकता है और वह एक घंटे की अवधि तक रह कर साधारण रीति पर बदलता जायगा। एक मार्ग, से चलते समय भी उक्त स्वर एक बार प्रवेश करने और निकलने की गति के अनुसार प्रति मिनट प्रायः १५ बार दौड़ लगाया करता है। इस प्रकार एक रात-दिन की अवधि अर्थात् २४ घंटे में इस क्रिया की संख्या २१६०० तक पहुँच जाती है। अपनी इस प्रत्येक दौड़ में भी स्वर हमारे नथने के बाहर सदा एक ही दूरी तक जाकर नहीं लौटा करता। उदाहरण के लिए गाना गाते समय यह, दूरी प्रायः १६ अंगुल तक जाती है। उसी प्रकार चलते समय २४ अंगुल सोते समय ३ अंगुल तथा मैथुन-काल में ३६ अंगुल के परिणाम तक पहुँच जाती है। परन्तु हमारी रुग्णावस्था में वा शरीर के अन्य प्रकार से पूर्ण स्वस्थ न रहने पर इस प्रकार के निश्चित परिणामों में परिवर्तन भी हो सकता है। इसके सिवाय हमारे स्वर के साथ पंच तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश नामक पच महाभूतों का भी घनिष्ट संबंध है। अतएव यदि नथनों के ठीक मध्य मार्ग से स्वर चल रहा हो, तो वह पृथ्वी तत्त्व द्वारा प्रभावित होगा। इसी प्रकार यदि नीचे की ओर, ऊपर की ओर तिरछे-कोने, ढंग से तथा भँवर की भाँति घूम-घुमा कर चलता हो तो क्रमशः जल-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व, वायु-तत्त्व और आकाश-तत्त्व के अधिक प्रभाव में होगा। इस नियम के अनुसार उक्त स्वर के रूप-रंग, आकार-प्रकार, परिमाण तथा गंध तक में अंतर पड़ सकता है। इसी प्रकार की गतिविधि के आधार पर यदि हम चाहें तो अपने स्वास्थ्य, रोग, भविष्य आदि के विषय में भी कुछ-न-कुछ परिणाम निकाल सकते हैं। स्वर-विद्या का अध्ययन अनुभवी लोगों ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। बहुत-से लोगों को इसके प्रति पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास भी है।[1]

ज्ञान स्वरोदय

दरियादास ने जान पड़ता है, इस विषय को लेकर 'दरियानामा' नाम की एक पुस्तक पहले फ़ारसी भाषा में लिखी थी।[2] परन्तु उक्त 'दरियानामा' का

१. स्वरोदय दोहावली, इलाहाबाद, सन् १९४७, आमुख पृ० ४-५।

२. दरियानामा पारसी, पहिले कहा किताब।
सो गुन कहा सरोद में, गहिर ज्ञान गरकाव ।।३९४।।'
—दि जर्नल ऑफ दि बिहार एंड ओड़ीसा, भाग २७, १९४१ ई०, पृ० ७२-७३।

इस समय कहीं पता नहीं चलता, न इसी कारण यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'ज्ञान स्वरोदय' उसका ठीक-ठीक अनुवाद है अथवा केवल उसके आधार पर ही लिखा गया एक स्वतंत्र ग्रंथ है। पुस्तक को इन्होंने 'चारि वेद को मूल' बतलाया है। उसके देखने से अनुमान होता है कि स्वर-विद्या में इनकी पूर्ण आस्था भी रही होगी। मेरे पास जो इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति है, वह केवल स्वरोदय ज्ञान से ही संबद्ध है। उसमें अन्य विषयों की चर्चा बहुत कम की गई है। परन्तु डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने जिन दो ऐसी पुस्तकों का परिचय दिया है उसमें स्वरोदय के साथ-साथ ईश्वर, आत्मा, माया, मुक्ति, स्वर्ग, नरक, भक्ति तथा पंथ के मुख्य नियमो-जैसे मद्यादि निषेध, अहिंसा, आत्म-संयम तथा निरभिमानिता का भी विवेचन किया गया जान पड़ता है।[1] स्वरोदय ज्ञान का महत्त्व दरियादास के समय में कदाचित् बहुत अधिक समझा जाता था। इसी कारण इनके समसामयिक चरणदास नामक एक अन्य संत ने भी एक 'ज्ञान स्वरोदय' की रचना की थी। दरिया साहब की रचनाओं के अंतर्गत इनके 'ब्रह्म ज्ञान', 'गर्भ चेतावन' 'रमेश्वर गोष्ठी', 'संत सइया', 'पारस-रत्न' तथा 'ज्ञान चुंबकसार' नामक ग्रंथों के भी नाम लिये गए दीख पड़ते हैं। किंतु उनके किसी परिचय अथवा विवरण का हमें कोई पता नहीं है।

साधना-पद्धति

'दरिया सागर' ग्रंथ के देखने से प्रतीत होता है कि दरिया दास के मत तथा कबीर-पंथ के सिद्धांतों में बहुत कम अंतर है।[2] दरिया दास ने उसमें स्वयं इसे बतलाया है। परन्तु इन्होंने कबीर साहब के मौलिक सिद्धांतों की ओर विशेष ध्यान न देकर अधिकतर उन्हीं बातों को अपनाया है जो कबीर-पंथ के भीतर मिलती हैं। कबीर-पंथ के अनुसार प्रत्येक संत का अंतिम ध्येय सत्तलोक की प्राप्ति है जो तीनों लोकों से परे स्थित है। दरियादास ने उसी सत्तलोक को बहुधा 'छपलोक' के नाम से अभिहित किया है और उसे 'अभयलोक' वा 'अमरपुर' भी कहा है।[3] तीन लोकों की परिधि के भीतर यमराज की चौदह चौकियाँ बैठी हुई हैं जिनसे बच कर 'छपलोक' तक पहुँचना अत्यंत कठिन है। इसके लिए सतगुरु की आव-

---

१. दि जर्नल ऑफ दि बिहार एंड ओड़ीसा, भाग २७, १९४१ ई०, पृ० ७१।

२. 'सोई कहो जो कहहि कबीरा। दरियादास पद पायो हीरा'॥
—दरिया-सागर, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० ४८।

३. 'तीनिलोक के ऊपरे, तहं अभयलोक विस्तार।
सत्त पुरुष परवाना पावै, पहुंचे जाय करार॥' —वही, पृ० १।

श्यकता होती है जो अपने शिष्य को चौदह मंत्रों का भेद बतला देता है और इस प्रकार उसे आगे बढ़ने योग्य बना देता है । दरियादास ने इन चौदह मंत्रों के कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिये हैं, अपितु 'सार' शब्द की अनुभूति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम 'कया परचै' अथवा काया-परिचय् कीओर संकेत किया है। उन्होंने बतलाया है कि किस प्रकार हमारे शरीर के भीतर छह चक्र, दस द्वार, ईडा-पिंगलादि नाड़ियाँ तथा सार पवन वर्तमान हैं । अजपा जाप की सहायता से सुरति तथा निरति का संयोग सुलभ हो सकता है । इनके अनुसार अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रत्येक साधक को चाहिए कि अपने शरीर को उसी प्रकार तपा ले जिस प्रकार सोना आग में तपाया जाता है । उक्त चौदह मंत्र केवल भेद-विस्तार मात्र हैं, हंस का उद्धार तो केवल एक शब्द से ही हो जाता है ।[१] जो भी संत उस 'सत्त' शब्द को जान पाते हैं, वे अभयलोक में प्रवेश पा जाते हैं ।[२]

सत्तपुरुष

ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उसे जीव के ही भीतर खोजना परमावश्यक है ।[३] आत्मदेव निरंजन बाहर-भीतर सर्वत्र एक ही प्रकार से व्याप्त है । अतएव ब्रह्म को यदि उपलब्ध करना है, तो दरियादास ने बतलाया है कि 'सत्तपुरुष' का निवास-स्थान सत्तलोक में है । 'काया 'कबीर' इस संसार में बराबर आता-जाता रहता है ।[४] उस 'सत्तपुरुष' का इन्होंने कोई विस्तृत परिचय नहीं दिया है, अपितु एक स्थल पर केवल संकेत कर दिया है ।[५]

कबीर में अभिन्नता

इससे जान पड़ता है कि वह कबीर साहब के परमतत्त्व वा 'राम' से भिन्न न होगा । ये उसे 'निरगुन सरगुन ते भीना' एक 'अछै वृच्छ' के रूप में देखते हैं और उसका वर्णन सृष्टिकर्त्ता के रूप में भी करते हैं ।[६] ये बतलाते हैं कि उसने तीनों लोकों की ज्योति का निर्माण 'ॐकार जोति' के द्वारा किया है । ब्रह्मा,

---

१. "चौदह मंत्र भेद बिस्तारा । एक शब्द से हंस उबारा ॥
कामिनि कनक कंद जम जाला । चौदह चीन्हि करम का काला ॥'
—दरियासागर, बे० प्रे० प्रयाग, पृ० ६ ।

२. 'सत्त शब्द जिन्ह के बल जाना । अभयलोक सो संत समाना ।"
—वही, पृ० १३ ।

३. 'खोजो जीव ब्रह्म मिली जाई ।—वही, पृ० २३ ।

४. वही, पृ० ८ ।

५. 'ताहि खोजु जो खोजहिं कबीरा । बइठि निरंतर समय गंभीरा ॥"
—वही, पृ० ४८ ।

६. वही, पृ० २२ ।

विष्णु, राम, कृष्ण आदि उसी ज्योति के प्रतीक मात्र हैं। वे उस पुरुष पुरान के अवतार नहीं कहे जा सकते।[1] दरिया दास का दावा है कि मैं स्वच्छंद लोक वा अभयलोक से आया हूँ और उस सत्तपुरुष का परवाना लेकर यहाँ अवतीर्ण हुआ हूँ। जब तीनों युगों अर्थात् सतयुग, त्रेता तथा द्वापर का अंत हो गया और कलियुग आ पहुँचा, तब सत्तपुरुष ने सुकृती को बुला कर कहा कि सारे प्राणी अब यमराज के भय से व्याकुल होने लगे हैं। उनके उद्धार के लिए तुम्हारा जगत् में जाना अत्यंत आवश्यक है। फलतः इसी आदेश के अनुसार पहले कबीर साहब ने यहाँ पर जन्म लिय था और फिर दरिया दास को भी उस योजना को पूर्ण करने के लिए आना पड़ा। इन्होंने अपने 'छपलोक' में रह चुकने तथा वहाँ के प्रत्येक रहस्य से परिचित होने[2] की बात भी बतलायी है। अपने विषय में इस ढंग से कहा है, जैसे ये कबीर साहब से वस्तुतः भिन्न नहीं हैं।

कबीर-पंथ का प्रभाव

धर्मदास ने इनके पहले कहा था, "साहब कबीर प्रभु मिले विदेही, झीना दरस दिखाइया' और 'अजर अमर गुरु पाये कबीरा"[3] कह कर उन्हे उन्होंने अपना गुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया था। उसी प्रकार इनके समसामयिक गरीबदास (सं० १७७४-१८३५) ने भी 'दास गरीब कबीर सतगुरु मिले, सुरत और निरत का तार जोड़ा'[4] द्वारा अपना उनके साथ मिलना तथा उनसे दीक्षा लेना प्रकट किया है। दादू दयाल-जैसे कुछ अन्य संतों ने भी कबीर साहब के प्रति अपनी श्रद्धा खुले शब्दों में प्रदर्शित की है और स्पष्ट शब्दों में बतलाया है कि हमारा भी मूलतः वही है जो उनका है। परन्तु दरिया दास ने अपनी रचनाओं में यहाँ तक संकेत कर दिया है कि इनमें तथा कबीर साहब में वस्तुतः कोई अंतर ही नहीं है। अपने सतगुरु की जगह इन्होंने इसी कारण स्वयं 'साहब' अथवा 'सत्तपुरुष' को स्थान दिया है। इन्होंने अपने 'ज्ञानस्वरोदय' ग्रंथ में[5] 'सो साहब जो सतगुर मेरा' अथवा 'साहब सतगुर भयउ हमारा'-जैसे वाक्यों के प्रयोग किये हैं। एक स्थल पर 'मैं फरजंद पुरुष सत केरा' कह कर ये अपने

१. दरिया सागर, पृ० २२।

२. 'डार पताल सोर असमाना, ताहि पुरुष के करौं बखाना।' वही, पृ० ६।

३. धर्मदासजी की शब्दावली, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ४६ तथा ६७।

४. गरीबदासजी की बानी, वे० प्रे० प्रयाग, पृ० ११७।

५. दि जर्नल ऑफ दि बिहार एँड ओड़ीसा, भा० २७, १९४१ ई०, पृ० ७४-६।

को ईसा मसीह की भाँति ईश्वर-पुत्र भी मानते हैं ।[1] शब्द के विलोडन द्वारा विवेक उपलब्ध करने को इन्होंने अन्यत्र 'परखना' भी कहा है ।[2] इनके 'दरिया सागर' की वर्णन-शैली तथा उसमें प्रयुक्त कई पारिभाषिक शब्दों में हमें कबीर साहब के सिद्धांतों के विकसित वा परिवर्तित रूप मिलते हैं । वास्तव में इनकी अन्य रचनाओं को देखने से भी स्पष्ट हो जाता है कि इन पर कबीर साहब से अधिक कबीर-पंथ का ही प्रभाव था ।

प्रचार तथा उपासनादि

दरियादासी-सम्प्रदाय का प्रचार अधिकतर उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार प्रांत मे बतलाया जाता है । इसकी प्रमुख चार गद्दियों में से धरकंधे के अतिरिक्त, तेलपा (सारन) मिर्जापुर (सारन) तथा मनुआँ (मुज़फ्फरपुर) में होना कहा जाता है, किंतु इसके सभी मठों की संख्या ११२ तक दी गई दीख पड़ती है ।[3] इसके अनुयायियों में साधु तथा गृहस्थ दोनों प्रकार के लोग पाये जाते हैं । इनके विशेष चिह्न क्रमशः माथ मुँड़ा कर नंगे सिर रहना और टोपी पहनना है । बुकैनन साहब के अनुसार इसमें सभी श्रेणी और जाति के व्यक्ति, चाहे वे हिन्दू हों वा मुसलमान साधु बन सकते हैं । वे किसी के भी यहाँ भोजन कर सकते हैं, यदि उसने इनके पंथ को स्वीकार कर लिया हो । ये प्रायः तंबाकू पिया करते हैं और इसके लिए वे 'रत्ननलित' नामक एक विशष्ट प्रकार के हुक्के का उपयोग करते है । यह हुक्का और एक लोटा इनके साथ सदा रहा करते हैं । उन्हें इनके 'देश' के विशिष्ट चिह्नों के रूप में स्वीकार किया जाता है । मरने पर ये साधु गाड़े जाते हैं, किंतु गृहस्थ दरिया-पंथी का अंत्येष्टि-संस्कार उसके कुल क्रमागत नियमों का अनुसरण करता है ।[4] सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वह पाँच बार पूजा करे जिसके

---

१. 'जोतहि जोति भुलै संसारा, ये नहिं होइ हि हंस उबारा ।
सबद बिलोय जो करै विवेका, तेबही हंस परै कछु लेखा ।।'
—दरियासागर, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३८ ।

२. 'परखहु संत शब्द यह बानी । करै विवेक सो निर्मल ज्ञानी ।।
बिनु परखे नहिं मूल भेंटाई । पारखि जन सो शब्द समाई ।।
एकहि तत्त बिचारहु भाई । पानी-पथ ज्यों हंस बिलगाई ।।
संत्रित जल पय भीतर रहई । बिबरन बरन सो इमि कर लहई ।'
—वही, पृ० ४१ ।

३. संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० १८७-१९३ ।

४. शाहाबाद रिपोर्ट, पृ० २२१-३ ।

लिए कोई मंदिर वा मस्जिद आवश्यक नहीं है। 'संत नाम' का जप तथा दरिया साहब की बानियों का पाठ अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। जप और भजन के लिए दो विशिष्ट आसनों का प्रयोग किये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् 'कोर्निस, की दशा में उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होकर कुछ झुकना और इसके साथ ही बायें हाथ को छाती पर रखना तथा दाहिने से पृथ्वी, हृदय और कपाल को पाँच बार छूना पड़ता है। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् 'सिदी' वा सिजदा के अनुसार घुटने टेक कर माथे से पृथ्वी को छूते हैं। इस दैनिक पूजा के अतिरिक्त गृहस्थ दरिया-पंथियों को वर्ष में एक बार इसके लिए बड़ा आयोजन भी करना पड़ता है। इसकी विधि कबीर-पंथियों की चौका-विधि से बहुत कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है। इसमें केवल फूल नहीं रहा करते। इसके सिवाय संपन्न दरिया-पंथियों द्वारा कभी-कभी 'भंडारा' किये जाने की व्यवस्था भी दीख पड़ती है। इसके लिए मठाधिकारी तथा साधु-समाज को आमंत्रित किया जाता है और उन्हें भोजन-वस्त्र दिये जाते हैं। कोई चेला अपने गुरु वा किसी महान साधु का दर्शन करते समय अपने साथ एक कटोरे में गुड़ और पैसा तथा एक गिलास जल भर कर उन्हें अर्पित करता है। अपने बायें हाथ को छाती पर रख कर 'साहब संत नाम' कहते हुए वह कोर्निस किया करता है।

धरकंधे की वंशावली

दरिया साहब
|
गुना साहब
|
भोरा साहब
|
चित्तर साहब
|
छत्रपति साहब
|
उम्मर साहब
|
अच्छैबर साहब
|
रामदास साहब
|
गोकुलदास साहब
|
ज्ञानदास साहब

उपर्युक्त महंथों के अतिरिक्त भोरा साहब के पीछे कुछ समय के लिए टेका साहब रहे। इसी प्रकार गोकुलदास साहब के पीछे भी क्रमशः चतुरी साहब तथा जानकी दास रहे। किन्तु उन्हें विधिवत् आसीन महंथ नहीं बतलाया जाता।

७. रामस्नेही-सम्प्रदाय

साधारण परिचय

'रामस्नेह' शब्द का अर्थ राम के प्रति स्नेह वा प्रेम का होता है। इस कारण 'रामस्नेही' से अभिप्राय राम से स्नेह करनेवाले किसी भी ऐसे भक्त का हो सकता है जो परमात्मा के प्रति प्रेमाभक्ति का उपासक हो। परन्तु यह शब्द 'रामस्नेही' सम्प्रदाय' में रूढ़िगत-सा हो गया है। यह प्रधानतः उन लोगों को ही सूचित करता है जो एक धार्मिक वर्ग-विशेष के सदस्य हैं। ऐसे समुदाय वालों के आज कल तीन पंथ प्रचलित हैं और इन तीनों का प्रचार-क्षेत्र राजस्थान प्रांत समझा जाता है। इन तीनों के मुख्य केन्द्र पृथक्-पृथक् है। जहाँ तक उपलब्ध हुई सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है, इन तीनों के किसी एक ही मूल प्रवर्तक का होना तथा उक्त नाम से किसी सम्प्रदाय-विशेष का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन करना अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। इन तीनों के मुख्य प्रवर्त्तक परपरानुसार क्रमशः दरियाव जी हरिरामदास जी तथा रामचरणदास जी बतलाये जाते है। इसी प्रकार इनके मुख्य केन्द्रों का भी क्रमशः 'रैण', 'सिहथल-खेड़ापा' तथा 'शाहपुरा' होना कहा जाता है। इन तीनों के किसी पारस्परिक संबंध का कोई प्रत्यक्ष चिह्न नही मिलता, न इनकी किसी ऐसी परंपरा का ही पता चलता है जिससे ये तीनों एक माने जायँ हो सकता है कि अपने मौलिक सिद्धांतों, कतिपय साधनों तथा एकाध वाह्य लक्षणों के भी अनुसार इन्हें एक समान ठहराने का यत्न किया जाय, किंतु इस प्रकार का साम्य तो साधारणतः 'संत-परंपरा' के अन्य अनेक सम्प्रदायों में भी पाया जा सकता है। अतएव, जब तक हमें कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तब तक हमारा केवल इना स्वीकार करना युक्ति-संगत समझा जा सकता है कि इन तीनों का प्रवर्त्तन संभवतः पृथक्-पृथक् हुआ होगा। किंतु किसी-न-किसी कारण इनका नामकरण किसी समय एक-सा हो गया होगा। उस दिन से इन्हें इस प्रकार अभिहित करने की एक परंपरा ही चल पड़ी होगी। ऐसा एक अन्य उदाहरण हमें 'सत्तनामी-सम्प्रदाय' के इतिहास में भी मिलता है जिसकी चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। वहाँ पर उसकी शाखाओं के अनुयायियों द्वारा कदाचित् 'सत्तनाम' शब्द के विशेष प्रयोग के कारण वैसा नामकरण हो गया था। इसी प्रकार हम यहाँ के लिए भी कह सकते हैं। यह इनके अनुयायियों के

कदाचित् स्वभाव-साम्य से हो गया होगा। फलतः हम इन तीनों को यहाँ पर क्रमशः 'रैणशाखा', 'सिहथल खड़ापा शाखा' तथा 'शाहपुरा शाखा' के नामों से अभिहित कर सकते है।

(१) रैणशाखा

प्रवर्त्तक का परिचय

रामस्नेही-सम्प्रदाय की 'रैणशाखा' के मूल प्रवर्त्तक दरियाव जी कहे जाते हैं। इनके नाम के दो भिन्न-भिन्न रूप 'दरिया साजी' तथा 'दरिया साहब' भी प्रसिद्ध है। इस तीसरे रूप के बिहार वाले दरिया साहब के नाम-जैसा होने के कारण इन्हे प्रायः 'मारवाड़ वाले दरिया साहब' कहने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। कहते हैं कि इन दरियाव जी अथवा दरिया साहब का मूल नाम 'दरियाव जी' ही था। किंतु साधु-वृत्ति धारण कर लेने पर इन्हें 'दरिया साजी' कहा जाने लगा। इनका जन्म सं० १७३३ की भादो शुक्ल ८ के दिन मारवाड़ प्रदेश के जैतारन नामक गाँव में हुआ था। इन्होने अपने विषय में एक स्थल पर ऐसा कहा है जिससे इनकी जाति का 'धुनिया' होना प्रतीत होता है।[1] परन्तु कुछ लोग इस बात से असहमत भी जान पड़ते हैं उदाहरण के लिए कहा जाता है, "अपने आचार्य की जाति का ठीक-ठीक पता बतलाने में 'दरियाव पंथी' अब असमर्थ हैं, पर वे मुसलमान नहीं थे यह कहने में सभी का मत एक है।"[2] इस संबंध में यह भी अनुमान किया जाता है कि दरियाव जी को मुसलमान लिखने की 'गल्ती,' सबसे पहले 'जोधपुर राज्य की सेन्सस रिपोर्ट' (सन् १८९१ ई०) तैयार करने वालों ने की जिसे ठीक मान कर पीछे औरों ने भी ऐसा लिखना आरंभ कर दिया जो उचित नही जान पड़ता। दरियाव जी की 'रूई पींजने की एक हाथली' के रैण में रखी हुई होने तथा उसको देखने के लिए उनके अनुयायियो के वहाँ प्रति वर्ष पानेवाली प्रसिद्धि को भी निराधार बतलाया गया है। कहा गया है कि वहाँ पर वे लोग चैत्र शुक्ल १५ के दिन दरियाव जी के चित्र का दर्शन करने जाया

---

१. "जो धुनिया तौ भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना, तुमतौ हौ सिरताज हमारा।"
—दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी, बे० प्रे०, प्रयाग, १९२२ ई०, पृ० ४७।

२. मोती लाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००६, पृ० २३३ तथा राजस्थान का पिंगल साहित्य, उदयपुर, १९५२ ई०, पृ० २०७।

करते हैं। इसके सिवाय ऐसे मत की पुष्टि में एक पद्य भी[1] उद्धृत किया जाता है जिसमें इनके पिता का नाम 'मानजी' और माता का 'गींगा' दिए गए हैं जो दोनों हिन्दू-से लगते हैं। किंतु इस पद्य में आये हुए, "त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी" अर्थात् "आपने संसार के तीनों तापों को मिटाने के उद्देश्य से अवतार धारण किया" की कथन-शैली से ऐसा प्रकट होता है, जैसे यह पंक्ति स्वयं दरियाव जी की रचना न होगी, प्रत्युत किसी अन्य पुष्ट प्रमाण के अभाव में यहाँ पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार उनके किसी श्रद्धालु अनुयायी ने कह दिया होगा कबीर-पंथ, रैदासी-सम्प्रदाय, दादू-पंथ आदि के अनुयायियों द्वारा अपने-अपने पंथ-प्रवर्त्तकों को क्रमश: जोलाहा, चमार तथा धुनिया न स्वीकार करके उन्हें हिन्दू अथवा ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा करना भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक समझा जाता है। फिर भी यह असभव नहीं कि दरियाव जी की 'धुनिया' जाति वस्तुत: मुसलमान धर्म का अनुसरण करनेवाली न रही हो, प्रत्युत उसका ऐसा नामकरण केवल उसके रुई धुनने का धंधा स्वीकार करने के ही कारण हो गया हो तथा इनके माता-पिता के नाम भी ये ही रह चुके हों।

संक्षिप्त जीवन-वृत्त

प्रसिद्ध है कि जब दरियाव जी केवल ७ वर्ष के ही थे तब इनके पिता का देहांत हो गया। इसके उपरांत ये परगना मेड़ता के रैण गाँव में अपने नाना के यहाँ रह कर भरण-पोषण पाने लगे। इनके इस नाना का नाम 'कमीच' बतलाया जाता है। दरियाव जी के प्रारंभिक जीवन का विशेष परिचय नहीं मिलता। केवल इतना ही कहा जाता है कि इन्होंने सं० १७६९ में किसी समय बीकानेर के 'खियाणसर' गाँव के किसी षेमदास वा प्रेमजी द्वारा दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी एक पंक्ति द्वारा प्रकट होता है कि इनके इस गुरु का नाम संभवत: 'प्रेमदयाल' रहा होगा[2] अथवा, यह भी संभव है कि उक्त प्रेमजी को ही इन्होंने 'प्रभुदयाल' नाम से अभिहित किया हो। इनका कहना है कि इनके उस गुरु ने इनके कानों में कुछ शब्द कह कर इनके मस्तक पर अपना हाथ रख दिया। इनके 'भरम बीज' इस प्रकार भुन गए कि वे फिर कभी उगने न पाये[3] जिससे इनके द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट

---

१. "पिता मानजी गींगां महतारी।
त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी॥"—दरियावजी की वाणी, पद्य १७।
—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०७ पर उद्धृत।

२. (सतगुर दाता मुक्ति का, दरिया प्रेमदयाल'—दरिया साहब की वाणी, वे० प्रे० प्रयाग, सा० ४, पृ० १।

३. 'स्रवना शब्द सुनाय के, मस्तक दीन्हा हाथ'—वही, सा० ३, पृ० १ तथा सा० २६, पृ० ३।

करना भी सूचित होता है। जान पड़ता है कि दरियाव जी सदा अपने स्थान रैण में ही रहते रहे। इन्होंने कदाचित् भ्रमण कम किया। इनके देहांत का, सं० १८१५ की अगहन शुक्ल १५ को वहीं रह कर ८२ वर्ष से कुछ अधिक आयु पाकर होना कहा जाता है। कहते हैं कि इनके जीवन-काल में मारवाड़ प्रदेश के शासक महाराज बखत सिंह थे और उन्हें कोई रोग हो गया था जो असाध्य था। महाराजा इसके कारण बहुत चिंतित रहा करते थे। दरियाव जी की ख्याति सुन कर उन्होंने अपने नीरोग हो जाने के लिए इनकी प्रार्थना की थी। प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपने शिष्य सुखरामदास को उनके यहाँ भेज दिया जिनका उपदेश ग्रहण कर वे बहुत शीघ्र स्वस्थ हो गए। इन सुखरामदास का जाति से सिकलीगर वा लोहार होना भी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये भी उक्त रैण नगर के ही निवासी थे। प्रसिद्ध है कि स्वास्थ्य-लाभ कर चुकने पर महाराज बखत सिंह ने इनकी शिष्यता भी स्वीकार कर ली।

रचनाएँ तथा विचार-धारा

संत दरियाव जी के किसी प्रकार शिक्षित होने का पता नहीं चलता, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं से विदित होता है कि ये एक अनुभवी तथा योग्य पुरुष रहे होंगे। इन्होंने अपने चिंतन और संग्रह-वृत्ति के द्वारा गंभीर ज्ञान उपलब्ध कर लिया होगा। इनकी रचनाओं का एक विशाल संग्रह 'वाणी' नाम से प्रसिद्ध है जिसमें इनके प्राय: १०००० पद्यों का संगृहीत होना कहा जाता है। परन्तु वैसी किसी 'वाणी' के प्रकाशित होने का हमें पता नहीं है, प्रत्युत इनकी कतिपय रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की वाणी' के नाम से, प्रयाग के वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित होकर मिलता है जिसमें इनके कुछ पद और साखियाँ संगृहीत हैं। इनके गुरु प्रेमजी के विषय में प्रसिद्ध है वे दादू-पंथी थे[1] और स्वयं इनके लिए भी कहा जाता है कि ये संत दादू-दयाल के अवतार थे। इस दूसरे कथन के संबंध में प्राय: एक दोहा भी उद्धृत किया जाता है[2] और उसे संत दादू दयाल की भविष्यवाणी भी बतलाया जाता है। पन्तु इसके लिए अभी तक यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं, न स्वयं दरियाव जी की किसी रचना द्वारा ही इनकी पुष्टि होती है। इनकी भी अनेक बातें अन्य संतों की ही जैसी जान पड़ती हैं। इस कारण इन्हें सहसा संत दादू दयाल द्वारा प्रभावित करने की प्रवृत्ति

१. जी० एस० घुरे : इंडियन साधुज, बंबई, १९५३ ई०, पृ० २२९।

२. "देह पडंता दादू कहै, सौ बरसा इक संत।
रैण नगर में परगट, तारै जीव अनंत॥"—बानी, जीवनचरित, पृ० २।

नहीं होती। इन्होंने एक स्थल पर परमात्मा का परिचय दिया है।[1] हमें ऐसा भी लगता है कि इन्होंने कबीर साहब की अनेक साखियों का मानों रूपांतर-मात्र सा कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने किसी का अनुसरण साम्प्रदायिक भाव से नहीं किया होगा। ये कहते हैं कि मेरे गुरु ने यह बतला दिया था, "यदि तुम निज धाम को प्राप्त करना चाहते हो तो साँस-उसाँसों अथवा अनवरत ध्यान में लगे रहो। उससे कभी विरत न हो।"[2] इनके भी अनुसार, "नाम-स्मरण ही सभी ग्रंथों का निष्कर्ष है और सभी मतों का सार है।"[3] "इस नाम-स्मरण का नामी राम एक, अनादि, अगम तथा अगोचर है। वही दरिया साहब तथा सब किसी का भी मालिक है तथा दृश्यमान माया उसमें ही लक्षित होती है। जिस प्रकार किसी पेड़ को सींचते समय माली केवल उसकी जड़ में ही पानी डाल कर उसे उसकी डाल-पात, फल तथा फूल तक पहुँचा देता है, जिस प्रकार किसी राजा के निंमत्रित करने पर उसकी सेना भी सहज ही चली आया करती है, जिस प्रकार गरुड़ का एक पंख घर में डाल देने पर एक भी सर्प वहाँ रहने नहींपाता उसी प्रकार एक ही राम के स्मरण द्वारा सभी कार्य संपन्न हो जाया करते है।"[4] परन्तु यह स्मरण साधारण 'जप' नहीं है, क्योंकि इन्होंने 'नाद परचे का अंग' के अंतर्गत हमें बतलाया है कि उक्त साधना का रस सर्वप्रथम जीभ में उत्पन्न होकर क्रमशः हृदय में उतरता है। वहाँ से फिर यह उसी प्रकार नाभिकमल में प्रवेश कर जाता है। नाभि-कमल से भी उतर कर यह और नीचे मेरुदंड की जड़ तक जा लगता है, जहाँ से इसका क्रमशः फिर ऊपर की ओर चढ़ना आरंभ होता है। यह त्रिकुटी तक पहुँच जाया करता है, जहाँ पर साधक को केवल सुख-ही-सुख का अनुभव होने लगता है। परन्तु त्रिकुटी संधि तक भी निराकार तथा साकार का भेद बना ही रह जाता है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार भी वहाँ पहुँच कर हमें फिर पतन की ओर ले जा सकते हैं।

पूरनब्रह्म तथा कायापलट

'पूरन ब्रह्म' इन मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार के लिए अगम्य वस्तु है। यह

---

१. "सोई कंथ कबीर का दादू का महराज।
सब संतन का बालमा, दरिया का सिरताज॥"

२. उदाहरण के लिए उक्त बानी में सा० ८, पृ० २९ तथा २४ पृ० ३; २३, पृ० ८; ३४, पृ० ९; ६, पृ० १२; २३, पृ० १४; ९, पृ० १६; २१ तथा २६, पृ० २१; आदि देखी जा सकती है।

३. वही, सा० १३ पृ० २। ५. वही, सा० २९, पृ० ९।

४. वही, रागभैरो (आदि अनादी मेरा सांई, आदि), पृ० ४४।

उक्त त्रिकुटी से परे पहुँचने पर ही अनुभव में आ सकता है। मन मेरु तक जाकर लौट आता है और ॐकार की भी गति केवल त्रिकुटी तक ही है। निराधार निरंकार को इन सबसे परे की बात समझनी चाहिए । ॐकार का प्रदेश यदि गगन तक है, तो ररंकार का उसके ऊपर महाशून्य में मानना चाहिए। यह ररंकार ही वास्तव में वह परब्रह्म है जिसका चेला सुरत के रूप में वर्तमान है । इन रहस्यमयी बातों का विशेष परिचय इन्होंने 'ब्रह्म परचे का अंग' नामक शीर्षक के अंतर्गत दिया है।[1] इसी बात को 'नाद परिचय' के साथ सम्मिलित करके इन्होंने अन्यत्र खेती के एक रूपक द्वारा भी प्रकट किया है। इन्होंने कहा है, "यदि अपनी रसना का हल हो, मन पवन के बैल हों, विरह की भूमि हो और सद्‌गुरु की बतलायी बुद्धि के साथ उसमें रामनाम का बीज-वपन किया जाय तो वह हृदय के भीतर डहडहाती हुई लता के समान लहलहा उठता है। भ्रमों की निराई हो जाने तथा प्रेम-नीर के बरस जाने पर नाभि-स्थल में वह कुछ दीर्घ तथा शक्ति-संपन्न भी दीखने लगता है। मेरुदंड की नली से होकर उसका सिरा आकाश छू लेता है। इस पौधे का नाज अंत में अपने घर का कोना-कोना भरपूर कर देता है और काल में भी निश्चित होकर साधक उसका उपभोग करने लगता है।'[2] इस प्रकार दरिया साहब की स्वानुभूति अत्यंत गहरी जान पड़ती है। साधना की सच्ची वा पूर्ण सिद्धि इन्होंने किसी साधक के प्रत्येक अंग के नितांत आमूल परिवर्तित हो जाने में ही मानी है[3] जो अन्य संतों का भी श्रेय जान पड़ता है। इसके लिए अपने घर का त्याग कर देना आवश्यक नहीं, प्रत्युत गृह में ही साधु बना रहना उचित होगा। साधक चाहे गृह में हो वा भेषधारी हो उसका कपट रहित और निःशंक बना रहना तथा बाहर और भीतर में किसी प्रकार का अंतर न आने देना परमावश्यक है।[4] दरियासाहब की एक यह विशेषता है कि इन्होंने अनेक संतों की भाँति स्त्री जाति की निंदा नहीं की है।[5]

---

१. 'ब्रह्म परचे का अंग'—बानी, पृ० १६-२४।

२. "साधो ऐसी खेती करई, जासे काल अकाल न मरई ॥ टेक ॥
रसना का हल बैल मन पवना, विरह भोम तहां बाई।
राम नाम का बीजा बोय, मेरे सतगुर कला सिखाई ॥१॥—पृ० ५६-७।

३. "पारस परसा जानिये, जो पलटे अंग अंग।
अंग अंग पलटै नहीं, तो है झूठा संग"—बानी, सा० ४, पृ० ३३।

४. वही, सा० १, पृ० २८।

५. 'नारी जननी जगत की, पालपोस छेयोष।
मूरख राम विसार कर, ताहि लगावे दोष ॥'
—वही, सा० ६२, पृ० ४३।

प्रचार-क्षेत्र तथा रामद्वारा

संत दरियाव जी वा दरिया साहब के अनुयायी रामस्नेहियों की संख्या अधिक नहीं जान पड़ती । ये लोग मारवाड़ से अन्यत्र बहुत कम निवास करते कहे जाते हैं । इनका सर्वप्रमुख 'रामद्वारा' भी इस शाखा के प्रधान केन्द्र 'रैण' में ही स्थित है । वहाँ की गद्दी के महंतों की वंशावली अथवा इसके अन्य केन्द्रों का भी कोई विवरण हमें उपलब्ध नहीं है, न अभी तक इस शाखा के संत दरियाव जी से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति की हमें कोई रचना ही प्राप्त हो सकी है ।

(३) सिंहथल-खेड़ापा शाखा

मूल प्रवर्त्तक हरिरामदास

सिंहथल-खेड़ापा शाखा के मूल प्रवर्त्तक हरिरामदास जी कहे जाते हैं । इनका जन्म बीकानेर राज्य के 'सिंहथल' नामक गाँव के एक ब्राह्मण भाग्यचंद जोशी के घर हुआ था, किंतु इनकी जन्म-तिथि का हमें कोई पता नही चलता । इनका अपने बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि होना तथा अल्पावस्था में ही वेदांत और गणित-जैसे विषयों में पारंगत हो जाना भी कहा गया है । प्रसिद्ध है कि इन्हें 'संवत् सत्रह सो के सई के में'[1] (अर्थात् संभवत: संवत् १८००[2] की) आषाढ़ कृष्ण १३ के दिन दुलचासर के जैमल जी के यहाँ ले जाकर उनसे दीक्षित कराया गया । ये तब से उनके यहाँ प्रतिदिन सायंकाल के समय जाकर दूसरे दिन प्रात:काल अपने यहाँ ७ कोस की दूरी पर बराबर छह महीनों तक लौट आते रहे और इनके इस नियम-पालन में कभी कोई व्यवधान नही आने पाया । वहाँ पर ये उनसे नित्य सत्संग किया करते थे तथा योगाभ्यास की साधना में भी परामर्श लेते थे। इसमें इन्होंने अंत में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली । जैमल जी का देहांत हो जाने पर ये पीछे अधिकतर सिंहथल में रहने लगे । यहीं सं० १८३५ की चैत्र शुक्ल ७ शुक्रवार को इनका भी चोला छूटा तथा तब से आगे के लिए यह स्थान इनके अनुयायियों के लिए एक प्रमुख केन्द्र भी बन गया । इनके दीक्षा-गुरु जैमलजी के लिए कहा जाता है कि वे प्रसिद्ध स्वामी रामानंद जी की ११ वीं पद्धति वाले कोड़मदेसर (बीकानेर) निवासी श्री चरणदास के शिष्य थे । उन्होंने अपनी दीक्षा सं० १७६० में किसी समय ग्रहण की थी तथा उनका देहांत सं० १८१० में हुआ था । तदनुसार उनके निवास-स्थान रोडा दुलचासर में उनकी दो गद्दियाँ अभी तक चली आ रही हैं और उनके गद्दीदारों को रामानंदी वैरागियों में 'महंत' भी कहा जाता है । सिंहथल

---

१. श्री रामस्नेह धर्म प्रकाश, बीकानेर, सन् १९३१ ई०, परिचय, पृ० ५ ।

२. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०५।

की गद्दी वाले उन दोनों स्थलों को अपना 'गुरु-स्थान' स्वीकार करते हैं। हरिराम-दासजी के कई शिष्य हुए जिनमें से बिहारीदास, रामदास, नारायणदास, लक्ष्मणदास, अमीराम, आदूराम, दईदास अदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् बिहारीदास और उनके शिष्य-प्रशिष्य क्रमशः सिंहथल की गद्दी पर अभी तक रहते चले आए हैं।[1]

रामदासजी का परिचय

हरिरामदास जी के अन्य शिष्यों में से रामदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए। वास्तव में इन्हीं ने खेड़ापा शाखा की स्थापना की। इनका जन्म जोधपुर राज्य के बीकोंकोर नामक गाँव के मेघवाल नामक जाति के किसी शार्दूल जी के घर हुआ था। इनका जन्म-समय सं० १७८३ की फाल्गुन कृष्ण १३ का दिन कहा जाता है। इन्होंने बड़े हो जाने पर थोड़ी-सी विद्या प्राप्त की फिर विरक्त होकर ये किसी गुरु की खोज में निकले। इन्होंने क्रमशः १२ व्यक्तियों से दीक्षा ली। किंतु फिर भी इन्हें शाँति नहीं मिली और ये अंत में, जब इसी प्रकार बीकानर पहुचे तो वहाँ पर इन्हें किसी से हरिरामदास जी का एक रेखता सुनने में आया जिससे आकृष्ट होकर ये सिंहथल पहुँच गए। उनकी शरण में आकर इन्होंने उनसे विधिवत् 'राममंत्र' की दीक्षा ली। यह घटना सं० १८०६ की वैशाख शुक्ल ११ की है, जब से इन्होंने रामस्नेह-धर्म के नियम धारण कर लिये। इनका नाम भी 'रामदास' प्रसिद्ध हो चला। तब से फिर ये कुछ दिनों तक अपनी साधनाओं का अभ्यास करते तथा अपने गुरु के यहाँ उसकी परीक्षा देते रहे। प्रसिद्ध है कि इसी बीच इन्हें किसी दिन कबीर साहब भी मिले जिनका इनके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। ये फिर अनेक स्थानों पर भ्रमण करने लगे और वहाँ कुछ समय तक निवास भी कर लेते थे। किंतु इनका संबंध पहले जैसा सिंहथल से ही रहा। सं० १८२२ में जब ये खेड़ापा गये तब से इनका चित्त वहाँ पर विशेष रूप से रम गया और वहाँ इन्होंने लोगों को दीक्षित करना भी आरंभ कर दिया। इसके अनंतर अपने गुरु से आज्ञा लेकर इन्होंने सं० १८३४ की फाल्गुन कृष्ण ४ को वहाँ अपनी गद्दी भी स्थापित कर ली। इनका देहांत सं० १८५५ की आषाढ़ कृष्ण ७ मंगलवार के दिन वहीं ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ और इनके उत्तराधिकारी इनके शिष्य दयालुदास हुए। राम-दास के कुल ५२ शिष्य कहे जाते हैं, किंतु खेड़ापा की गद्दी पर दयालुदास के ही शिष्य-प्रशिष्य बैठते चले आ रहे हैं। इनका संबंध हरिरामदास जी की मूल गद्दी सिंहथल के साथ अभी तक संभवतः पूर्ववत् ही बना रहता चला आया है। खेड़ापा

---

१. श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश, पृ० १-६।

की गद्दी द्वारा रामस्नेही-सम्प्रदाय का विशेष प्रचार हुआ कहा जाता है और इसके अनुयायियों की संख्या भी अधिक बतलायी जाती है। रामदास जी एक बहुत योग्य पुरुष थे। इन्होंने अपने प्रवचनों तथा रचनाओं द्वारा लोगों को अधिक प्रभावित किया। इनके उत्तराधिकारी शिष्य दयालुदास का जन्म सं० १८१६ में हुआ तथा उनकी मृत्यु सं० १८८५ में हुई। ये रामदास जी के पुत्र भी कहे जाते हैं।

सम्प्रदाय का साहित्य

रामस्नेही-सम्प्रदाय की इस सिंहथल-खेड़ापा वाली शाखा द्वारा अपने प्रमुख आचार्यों की प्रायः सारी रचनाएँ सुरक्षित कर ली गई हैं। उनकी वाणियों में से कई एक का अपने यहाँ विधिवत् पाठ भी हुआ करता है। पता चलता है कि जैमलजी की वाणियों के उदाहरण स्वरूप ६ पद राग काफ़ी के तथा १२ राग गूजरी के संगृहीत हैं। इसी प्रकार हरिरामदास जी की रचनाओं में से 'ब्रह्मस्तुति' 'नाम-परचा', 'पदबतीसी' और 'प्रश्नोत्तरी'-जैसे लघु ग्रंथों तथा रेखता, साखी और पद-संबंधी पृथक्-पृथक् रचना संग्रहों का प्रकाशन हो गया भी दीख पड़ता है। इनके लघु ग्रंथों में से 'घघर नीसाणी' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी भूमिका रूप में लिखी गई एक साखी[1] से पता चलता है कि इन्हें "संवत् सत्रह से वर्ष सई" की आषाढ़ कृष्ण १३ को सद्‌गुरु की पहचान हुई १ इसके आगे दिये गए 'निसानी छंद' के ३० अथवा वस्तुतः २६ पद्यों में योग-ऱधना का बहुत शिशद् वर्णन किया गया मिलता है। इसके द्वारा इनकी गहरी अनूभूति का भी पता चलता है। रामदास जी की 'अनुभव वाणी' इनकी रचनाओं से कहीं अधिक विस्तृत जान पड़ती है। इसके अंतर्गत इनके 'ग्रंथ गुरु महिमा', 'भक्तमाल', 'ब्रह्म जिज्ञासा' और 'ग्रंथ चेतावनी-जैसे कतिपय लघु ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी 'प्रसंग' कही जानेवाली छोटी-छोटी रचनाओं तथा इनकी ८४ अंगों वाली साखियों और 'हरिजन' नामक पदों के एक संग्रह की भी चर्चा की जा सकती है। इनकी समस्त बानियों का एक संग्रह प्रकाशित है।[2] इसी प्रकार दयालुदास जी की रचनाओं में उनके लघुग्रंथों, बानियों, साखियों, पदों के अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'करुणा सागर' तथा 'प्रगट-

---

१. "दरिया संवत् सत्रह से, वर्ष सई को जान।
तिथि तेरस आषाढ़ बदि। सतगुरु पड़ी पिछान।'! —घघर नीसाणी, सा० १।

२. यह संग्रह श्री मदाद्य रामस्नेही साहित्य शोध-प्रतिष्ठान प्रधान पीठ खेड़ापा, जोधपुर की ओर से प्रकाशित हुआ है। वहाँ से इसी प्रकार सम्प्रदाय के अन्य आर्यों की भी बानियों के प्रकाशन की आशा की जाती है।—ले०

बोध' की भी गणना की जाती है। इन दोनों में से प्रथम के अंतर्गत प्रसिद्ध भक्तों की संक्षिप्त गाथाएँ दी गई है। स्वयं दयालुदास के जीवन-वृत्तों का एक परिचय हमें इनके उत्तराधिकारी शिष्य पूर्णदास की रचना 'जन्मलीला' में मिलता है। इस प्रकार इनके गुरु रामदास का भी एक लगभग वैसा ही विवरण अर्जुनदास की पुस्तक 'परचीसार' में उपलब्ध है। पूर्णदास की हमें कुछ अन्य रचनाएँ भी मिलती है जिस प्रकार अर्जुनदास के 'पूर्व जन्म'-जैसे एकाध लघु ग्रंथ दीख पड़ते हैं। सिहथल के प्रमुख आचार्यों में से बिहारीदास जी की 'झरझरा' नाम की छोटी रचना देखने में आती है। किंतु नारायणदास की 'अनुभव वाणी, में कतिपय साखियों आदि के अतिरिक्त एक लघु ग्रंथ 'प्राणपरचा' भी पाया जाता है जिसमें साधना-संबंधी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार हरिदेव दास की रचनाओं में से भी 'ब्रह्मस्तुति', 'गुरुस्तुति', 'प्रश्नोत्तर' तथा 'हरिजस' नामक पद संग्रह आदि भी मिले है।

मत तथा साधना

रामस्नेही-सम्प्रदाय की इस 'सिहथल-खेड़ापा शाखा' के सिद्धांत लगभग ठीक वे ही जान पड़ते हैं जो संत-मत के अंतर्गत अन्यत्र पाये जाते हैं ? इसका एक संक्षिप्त परिचय इसकी रैंण वाली शाखा की चर्चा करते समय दिया जा चुका है। इसकी प्रमुख साधना का एक प्रामाणिक वर्णन हमें हरिरामदास जी के 'निसाणी' ग्रंथ में उपलब्ध है। इसकी अंतिम पंक्तियों में इन्होंने बतलाया है, "पूर्वजन्म के लेख से मुझे आदि गुरु मिल गए जिनसे मुझे अनादि तत्त्व का भेद प्राप्त हुआ। जिस प्रकार का मुझे उस समय अनुभव हुआ वह मुझे से कहा नहीं जाता। वह अवर्ण्य है और मुझे संकोच भी हो रहा है। इतना अवश्य है कि यदि यहाँ कही गई विधि के अनुसार काम किया जाय और 'कुर्बानी' की जाय, तो सफलता अवश्य मिलेगी।" 'सुमिरण' में श्वासोच्छास की गति हृदय के भीतर मंद पड़ जाती है और अपना मन ध्यान में निरत हो जाता है। नाभि-स्थान अनेक प्रकार के 'नाच' होने लग जाते हैं। रामनाम का स्मरण आपसे आप आरंभ हो जाया करता है। रग-रग में एक आश्चर्यजनक क्रिया होने लगती है जिसके फलस्वरूप 'ओऊं' और 'सोऊं' का अजपाजाप चलता है। इसके साथ ही परब्रह्म के दर्शन अथवा उसके स्पर्श का आनंद मिलने लगता है। रोम-रोम से 'राम' शब्द के भी उत्तरार्द्ध मंकार के बंद हो जाने पर केवल ररंकार की ध्वनि होने लग जाती है। ऐसी दशा में मन, पवन तथा पंचेन्द्रिय सभी एक साथ स्थिर होकर अमृत-पान करने लगते हैं। आत्मा तथा परमात्मा में अभेद भाव आ जाने पर शून्य में शून्य विलीन हो जाता है और बिना पंख के भी उड़ना आ जाता है। ऐसे अनुभव की बातें परम गुप्त हैं

जिन्हें मैंने यहाँ पर कतिपय छंदों द्वारा प्रकट कर देने की चेष्टा की है। इसे विरले ही समझ पाते हैं[१]।" रामदास जी की साखी के 'सिवरण मेध्या अंग' वाले अंश द्वारा पता चलता है, आठ वर्ष तथा चार महीनों तक इस प्रकार की क्रिया उनकी त्रिकुटी तक होती रही और तदनंतर शून्य का मार्ग खुल सका[२]" जिससे उनके व्यक्तिगत अनुभव का भी हमें कुछ संकेत मिलता है। "तब अनहद नाद गगन मंडल में गूँजता प्रतीत होने लगा। रोम-रोम द्वारा 'साँई' का साक्षात्कार हुआ और वह स्वाद भी मिल गया[३]" जिसकी अभिलाषा थी। इसका अनुभव करने के लिए वे दूसरे साधकों को भी परामर्श देते हैं। अतएव इनका कहना है "ररों और 'ममो' ये दोनों क्रमशः अपने पिता तथा माता हैं। इन्हीं की 'बंदगी' (साधना) से जीव को सहज ही 'शिव' की प्राप्ति होती है[४]"। इन दोनों महात्माओं तथा विशेषकर रामदास जी ने अपनी 'विरह', 'परचा', 'पतिव्रता' 'सूरातन' तथा 'ब्रह्म समाधि' शीर्षक साखियों के अंतर्गत भी अपनी इस प्रकार की अनुभूति का वर्णन किया है जो बहुत सुंदर और स्पष्ट भी है।

अन्य संतों के उल्लेख

संत रामदास जी ने अपनी रचनाओं में अपने दीक्षा-गुरु हरिरामदास जी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है। इन्होंने उनके देहांत के समय तक का भी सं० १८३५ के चैत्र मास की शुक्ल ७ होना ठीक-ठीक उल्लेख किया है।[५] इन्होंने उन्हें स्वयं हरि का अवतार कहा है, संत कबीर साहब को 'अंतः कला वाला' होना ठहराया है तथा उन्हें संत नामदेव की दृष्टि दी है। प्रह्लाद की जैसी प्रतिज्ञा, सनकादि की जैसी चाल, शुकदेव का जैसा ज्ञान, गोरख की जैसी रहस्यानुभूति तथा दादू का जैसा 'दीदार' वाला भी माना है।[६] इनकी कतिपय पंक्तियों से ऐसा भी प्रकट

---

१. श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश, पृ० ८२-१२७।

२. "आठ बरस और मास चत्त, पछम त्रगुटी घाट।
रामदास ताके पछै, खुली सुन्न की बाट ॥८॥"
—सिवरण मेध्या को अंग।

३. "गिगन मंडल में रामदास, अनहद घुरिया नाद।
रूम रूम सांई मिल्या, सिवरण पाया स्वाद ॥३२॥ —वही

४. "ररो पिता माता ममो, है दोनू का जीव।
रामदास कर बंदगी, सहज मिलावै पीव ॥"—फुटकर वाणी।
—श्रीरामदासजी महाराज की वाणी, खेड़ापा।

५. वही, फुटकर साखी, पृ० १८०।

६. वही, ग्रंथ गुरु महिमा, पृ० १८४।

होता है कि इनके गुरु हरिरामदास जी गर्ग वंश के थे तथा उनकी माता का नाम 'चाँपी' था[1]। संत कबीर साहब को इन्होंने एक स्थल पर सभी संतों में चक्रवर्त्ती जैसा श्रेष्ठ बतालाया है।[2] इन्होंने अपनी उसी रचना 'भगतमाल' के अंतर्गत 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की शाहपुरा वाली शाखा के आदि आचार्य संतदास (मृ० सं० १८०६) का नाम भी लिया है। उन्हें हरि द्वारा गूदड़ वेश में दर्शन दिये जाने और अपने नाम की साधना करके उनके 'मुक्ति-पंथ के पर्दा खोलने' का संकेत करने की चर्चा की है[3]। इन्होंने वहाँ पर उनके शिष्य कृपाराम (मृ० सं० १८३२) के दाँतड़ा-निवासी होने तथा चारों ओर भक्ति का प्रचार करने का भी उल्लेख किया है।[4] इसी प्रकार उसके आगे की दो-तीन पंक्तियों द्वारा यह भी प्रकट होता है कि इन्होंने उक्त सम्प्रदाय की रैण शाखा के प्रवर्त्तक संत दरियाव जी का वर्णन किया है। उसके अनंतर उनके शिष्य सुखरामदास की चर्चा भी की है जो इनके अनुसार 'मेघवंश' के थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपना उपनाम 'रामा' अथवा 'रमियादास' दिया है। इस प्रकार हरिरामदास जी ने अपना 'हरिया' वा 'हरियादास' दिया है। इन संत रामदास जी की 'अनुभव वाणी' के लिए कहा गया है कि उसके चार भेद हैं: १. 'दास', २. 'उदास', ३. 'शांभवी' और ४. 'खुदव'।

शाखा का रूप तथा प्रगति

रामस्नेही-सम्प्रदाय की 'सिंहथल शाखा' तथा 'खेड़ापा शाखा' में वस्तुत: कोई भी अंतर नहीं लक्षि होता और वे दोनों एक से ही हैं। हरिरामदास जी के शिष्य बिहारीदास के अनंतर जहाँ सिंहथल में इनके शिष्य हरदेवदास तथा फिर क्रमश: प्रशिष्य मोतीदास, रघुनाथदास और चेतनदास आदि के अनुसार गद्दी चली जिस पर सन् १९३१ ई० में रामप्रताप जी का वर्तमान रहना कहा जाता है। वहाँ खेड़ापा में उन (हरिरामदास जी) के ही शिष्य रामदास जी के पीछे इनके शिष्य और पुत्र दयालुदास तथा फिर क्रमश: पूर्णदास, अर्जुनदास, हरलालदास और लालदास

---

१. "निज नाम की नाव चलाई, गारग वंस भगति अति भाई।
चार्यों माता चित कर पीया, उलटी आप अगम सुख लीया ॥१२०॥
सतगुर है हरिरामजी, (चांपी) माता सहज सभाय" ॥१२५॥
—वही, पृ० २०४।

२. "सब संतों में चकवै हूवा, ब्रह्मविलास कबहुं नहिं जूवा।"
—वही, ग्रंथ भगतमाल, पृ० १९८।

३. वही, पद्य ९९-१०१, पृ० २०२।

४. वही, पद्य १०१। ५. वही, पद्य १०५।

के अनुसार गद्दी चलती रही। उक्त समय उस पर केवलराम का आसीन रहना बतलाया गया है। इन दोनों के समानांतर चलते रहने पर भी इनमें किसी पारस्परिक विरोध का होना नहीं पाया जाता। केवल इतना कहा जाता है कि सिंहथल वाली 'पाठ वाणी' की पुस्तकों का क्रम जहाँ स्वामी रामानंद, जैमलदास, हरिरामदास, नारायणदास, हरदेवदास, रामदास और दयालुदास के अनुसार चलता है, वहाँ खेड़ापा में उसका क्रम हरिराम दास के अनंतर रामदास, दयालुदास, पूरणदास (पूर्णदास) तथा अर्जुनदास के अनुसार हो जाता है। इधर के अन्य नाम नहीं पाये जाते[1]। नारायणदास हरिरामदास के ही शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु-भाई बिहारीदास का देहांत हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी १० वर्षीय बालक हरदेवदास के अभिभावक-स्वरूप बने रहने का काम किया। किंतु अपनी किसी नवीन गद्दी की स्थापना नहीं की। खेड़ापा वाली शाखा का विशेष प्रचार जोधपुर-बीकानेर में है। इसके अनुयायियों की रहन-सहन पहले गृहस्थवत् दीख पड़ती थी। परन्तु दयालुदास के पुत्र तथा शिष्य पूर्णदास ने उनके 'विरक्त', 'विदेही', 'परमहंस', 'घरबारी' और 'प्रवृत्ति'-जैसे ५ भेद कर दिए। खेड़ापा वाले अपना 'रामद्वारा' खेड़ापा को ही बतलाते हैं, किंतु वे सिंहथल को भी 'गुरुद्वारा' के रूप में स्वीकार करते हैं[2]। इन दोनों स्थलों पर होली के दूसरे दिन एक बड़े मेले का आयोजन किया जाता है। वहाँ साधुओं द्वारा अपनी 'पंच वाणी' का पाट चलता है जिसमें क्रमशः कबीर साहब, दादूदयाल, हरिदास निरंजनी, रामदास और दयालुदास की बानियों का संग्रह किया गया है। इसका संपादन संभवतः प्रसिद्ध दादू-पंथियों और निरंजनियों की पंच वाणियों की ही भाँति हुआ है।

सिंहथल खेड़ापा शाखा की वंशावली

१. श्री रामस्नेह धर्म प्रकाश, पृ० १५६।
२. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २०५।
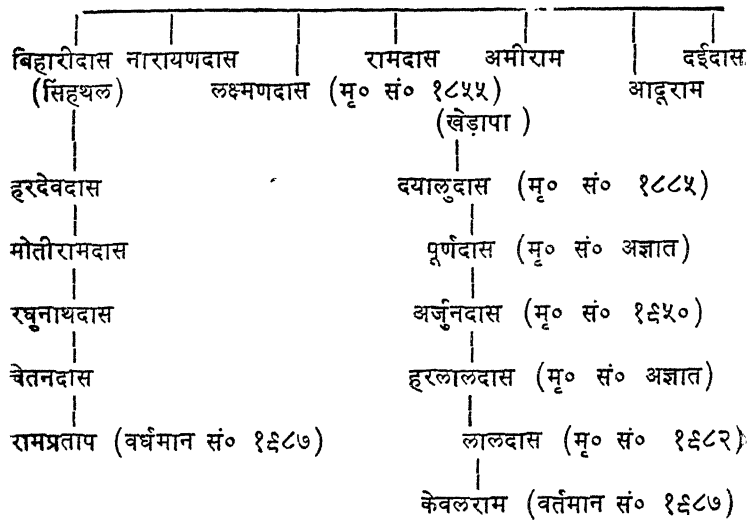
(४) शाहपुरा शाखा

रामचरण जी : संक्षिप्त परिचय

रामस्नेही-सम्प्रदाय की शाहपुरा शाखा के प्रवर्त्तक संत रामचरण जी का एक नाम केवल संतराम भी प्रसिद्ध है। इनका जन्म जयपुर राज्य के अंतर्गत ढुँढाण प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो नामक गाँव में जो इनका ननिहाल था, सं० १७७६ की माघ शुक्ल चतुर्दशी को शनिवार के दिन वैश्य वर्ण के एक विजयवर्गीय कुल में हुआ था।[1] इनके पिता का नाम बखतराम जी था और इनकी माता देउजी नाम से प्रसिद्ध थीं। ये लोग मालपुरा के निकट बनवाड़ी नामक गाँव के निवासी थे। संत रामचरन जी का मूल नाम 'रामकिशन' था। प्रसिद्ध है कि ये एक बहुत सुंदर शिशु के रूप में उत्पन्न हुए थे। इनकी प्रारंभिक जीवनी हमें उपलब्ध नहीं है, न यही पता चलता है कि इनकी शिक्षादि का प्रबंध कैसा रहा। केवल इतना कहा जाता है कि इनकी कार्य-कुशलता की प्रशंसा सुन कर इन्हें इनकी युवावस्था में ही जयपुर नरेश ने मंत्रित्व का भार सौंप दिया जिसे इन्होंने भली भाँति निभाया।

---

१. "समत सतरा सौ हुतो, ओर छहंतर जान।
चतुरदसी तिथि माहा सुद, वार सनीचर मान॥"—स्वामी लालदास रचित 'रामचरण जी की परची' से 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' में उद्धृत, पृ० ४।
"ढुंढाड देस सोडो नगर, नानाजी के द्वारे।"—वही।
'जन्म वैश्य घर पाईयो', (अणभै वाणी) —वहीं पर उद्धृत।

परन्तु जब ये केवल २४ वर्ष की अवस्था के थे इनके पिता का देहांत हो गया और ये अपने घर आ गए। इन्हें यहाँ पर किसी दिन रात के अंतिम पहर में एक स्वप्न हुआ जिसमें इन्होंने देखा कि "कोई नदी उमड़ती जा रही है, उसमें मैं स्नान करने घुस रहा हूँ, मेरे पैर उखड़ जाते हैं। मैं उसकी धारा में बह निकलता हूँ और मेरी 'बचाओ, बचाओ,' की पुकार सुन कर कोई साधु आता है और मुझे वह जल के बाहर ला देता है।" जाग उठने पर इसका इन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि ये उक्त महापुरुष की खोज में उसी दिन सवेरे चल निकले और सर्वत्र भ्रमण करने लगे। इस यत्न मे इनकी भेंट मेवाड़ प्रांत के दाँतडा नामक गाँव के निवासी कृपाराम के साथ एक दिन हो गई जिन्हें इन्होंने देखते ही पहचान लिया। उनका साक्षात् होते ही ये उनके चरणों पर गिर पड़े और उनके शरणापन्न भी हो गए। तदनुसार सं० १८०८ की भाद्रपद शुक्ल ७ शुक्रवार को स्वामी कृपाराम जी ने इन्हें दीक्षित करके इन्हें रामनाम का तारक मंत्र दे दिया तथा इनका नाम भी 'रामचरण' रख दिया। स्वामी कृपाराम संतदासजी के शिष्य थे। स्वामी रामानंद पीढ़ी के शिष्य अनंतानंद के शिष्य, कृष्णदास पयहारीके भी शिष्य, अग्रदास की पाँचवीं पीढ़ी में थे जिन्होंने किसी समय अपने 'गूदड़ पंथ' का प्रवर्त्तन किया था। संतदासजी का देहांत सं० १८०६ के फाल्गुन मास की शुक्ल ७ शुक्रवार के दिन हुआ था। स्वामी कृपारामजी भी सं० १८३२ की भाद्रपद शुक्ल ६ सोमवार तक जीवित रहे। रामचरण जी ने भी आरंभ में गूदड़ पंथ का ही अनुसरण किया और "गले में गूदड़ी, हाथ में हाँडी, गुजारे मात्र की भिक्षा और अखंड ध्यान में लीन रह कर" इन्होंने तब से सात वर्ष पर्यंत जीवन व्यतीत किया।[१] इसका प्रभाव साधारण जनता पर भी पड़ा। परन्तु एक दिन अपने गुरु स्वामी कृपाराम के यहाँ गलते वाले मेले के अवसर पर सं० १८१५ में इनका जी उचट गया। इन्होंने गूदड़-वेश का त्याग करके फिर भ्रमण आरंभ कर दिया और सं० १८१७ में भीलवाड़ा जाकर वहाँ पर १० वर्षों तक साधना की। अंत में इस स्थान का त्याग करके ये कुछ दिनों तक वहाँ बानियों की भी रचना करने के अनंतर सं० १८२६ में शाहपुरा चले आये।[२] कहते हैं कि यहाँ आने के लिए इनसे वहाँ के राजा ने भी आग्रह किया, जिस कारण

१. "गल कंथा हांडी हसत, त्रिख्या तन गुदराज।
ऐसी धारा धारिये, धरयौ अखंडित ध्यान॥" —पृ० ११ में उद्धृत।

२. "रामचरण म्हाराज', अठारसै छाईसमें
भगति वधारणकाज', साहिपुरो पावन करन" —वही, पृ० २८।

इन्होंने इसे अपने प्रचार का प्रमुख केन्द्र बना लिया। इन्होंने यहीं रहते समय सं० १८५५ की बैशाख कृष्ण ५ गुरुवार के दिन अपना शरीर त्याग किया।

शिष्य-परंपरा तथा साहित्य

कहते हैं कि शाहपुरा में रहते समय संत रामचरण को किसी राज-कर्मचारी ने किसी व्यक्ति को नियुक्त कर मरवा डालना चाहा था। परन्तु जब इन्होंने उस हत्यारे के सामने अपनी गर्दन झुका कर प्रहार करने को कहा और इसके साथ ही यह बतला दिया, "देख, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध किसी के प्राण नहीं लिये जा सकते। यदि तू इस प्रकार कर सकता है तो यत्न भी कर ले;" तो उसे यह बात लग गई और उसने इनके पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा-प्रार्थना की। इनका स्वभाव अत्यंत सरल था और इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण इनके अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। कहते हैं कि इनके दीक्षित शिष्यों की संख्या २२५ थी, किंतु इनमें से इनके १२ शिष्य प्रमुख थे। इनके नाम इस प्रकार हैं: १. बल्लभराम जी, २. रामसेवकजी, ३ रामप्रतापजी, ४. चेतनदास जी, ५. कान्हदासजी, ६. द्वारकादासजी, ७. भगवानदासजी, ८. रामजनजी, ९. देवादासजी, १०. मुरलीरामजी, ११. तुलसीदासजी, और १२. नवलरामजी। इनमें से आठवें अर्थात् रामजन जी (सं० १७९५-१८६७) इनके उत्तराधिकारी बने। इस गद्दी के तीसरे महंत का नाम दूल्हाराम जी था जो अपने समय में बहुत प्रसिद्ध हुए और जो वहाँ पर सं० १८८१ तक वर्तमान रहे। इनके १०००० शब्द तथा प्राय: ४००० साखियाँ उपलब्ध हैं जिनके वर्ण्य-विषयों में विभिन्न धर्मों के महापुरुषों की प्रशंसा भी आ जाती है। इनके भी उत्तराधिकारी चत्रदासजी वा चतुरदास हुए जो केवल १२ वर्ष की ही अल्पावस्था में दीक्षित हुए थे और जो सं० १८८७ तक जीवित रहे। इसी प्रकार उनके अनंतर क्रमश: नारायणदास (मृ० सं० १९०५), हरिदास (मृ० सं० १९२१) हिम्मतराम (मृ० सं० १९४७) दिलशुद्ध राम सं० (१९५३), धर्मदास (मृ० सं० १९५४), दयाराम (मृ० सं० १९६२) जगरामदास (मृ० १९६७) तथा निर्भयराम जी एक के पीछे दूसरे उस पर आसीन होते चले आए हैं। संत रामचरणजी की रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह इनके 'गृहस्थी शिष्य' किसी नवलराम जी ने किया था और उनकी संख्या ८००० की थी। परन्तु इसके पीछे संत रामजन द्वारा संगृहीत होते समय वे २८३९७ तक पहुँच गईं। अंत में, अब वे ३६३९७ कही जाती हैं। इनका एक संस्करण 'स्वामीजी श्री रामचरणजी महाराज की 'अणभै वाणी' के नाम से १७ फरवरी, सन् १९२५ ई० में प्रकाशित भी हो चुका है। इनमें से कुछ के नाम गुरु महिमा, नामप्रताप, शब्दप्रकाश,

अणमैविलास, सुखविलास, अमृत उपदेश, जिज्ञासबोध, विश्वासबोध, विश्राम बोध, समतानिवास, राँमरसायन बोध, चितामणि, मनखंडन, गुरु-शिष्य गोष्टि, ठिग पारख्या, जिद पारख्या, पंडित संवाद, लच्छ-अलच्छ जोग, बेजुक्ति तिरस्कार, काफ़र बोध, शब्द तथा दृष्टांतसागर हैं। कदाचित् पूरे ग्रंथ को 'रामरसाम्बुधि' भी कहा जाता है। इनके दादा-गुरु संतदास की रचनाओं की भी संख्या १४४३ कही जाती है जिनमें 'ब्रह्मध्यान' तथा 'भ्रमतोड़' ग्रंथ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी अपनी रचनाओं में साखी, चंद्रायण, सवैया, झूलना, कवित्त, कुंडल्यो, रेखता और 'गावा का पद'-जैसी छंद-परपरा का प्रयोग दीखता है। वहाँ इनके दादा-गुरु की रचनाएँ भी अधिकतर साखियों तथा रेखताओं के रूपो में उपलब्ध हैं। इनके शिष्य रामजनजी की रचनाएँ संख्या में ८२३६ (अथवा १८०००) तक बतलायी जाती हैं। उनके शिष्य दूल्हाराम की बानियों में १०००० शब्दों तथा ४००० साखियों की गणना की जाती है। चत्रदास की भी रचनाओं की संख्या १००० शब्दों तक प्रसिद्ध है। उपर्युक्त संग्रह ग्रंथ एक बहुत विशालकाय पुस्तक है जिसमें संतदास रामजन, जगराम आदि की भी रचनाएँ आ जाती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में संभवत रामजनजी की 'रामपद्धति' जगरामजी का ग्रथ 'ब्रह्म-समाधि लीन जोग' गोपालजी का 'प्रह्लाद चरित' हरिरामदासजी की 'बानियाँ' देवदास जी की 'वाणी' संख्या ३२५७ तथा मुक्तरामजी की 'वाणी' संख्या ३३११ भी सम्मिलित कर ली गई हैं। इनके सिवाय संत द्वारकादास की भी एक वाणी बतलायी जाती है जिसमें ५२ रेखते संगृहीत हैं।

मत और विचारधारा

संत रामचरण जी ने सं० १८२५ में अथवा सं० १८२६ में शाहपुरा आ जाने के अनंतर अपनी शाखा की स्थापना की थी। इन्हें अपने बचपन से ही देवी-देवताओं की वाह्य पूजा कभी पसंद नही थी। इस कारण इन्हें प्रायः तंग भी किया जाता था। पीछे दीक्षित हो जाने पर तथा सत्संग करने और चिंतन में कुछ दिनों तक अपना समय व्यतीत कर लेने के उपरांत इनके उक्त संस्कार आदि भी दृढ़ होते चले गए। अंत में इसका परिणाम इनके नवीन मत में दृष्टिगोचर हुआ। कहते हैं कि इनके ऊपर 'रामावत' वा 'रामानंदी-सम्प्रदाय' का प्रभाव कम नहीं था, किंतु पीछे उसमें बहुत कुछ परिवर्तन हुआ। इनके मतानुसार परमात्मा निराकार है और वह सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि की स्थिति और प्रलय का विधायक भी है। उसका वास्तविक भेद किसी को भी ज्ञात नहीं, केवल जगत् को उसका 'प्रतीक' मात्र ठहरा सकते हैं।[1] यह भी अनुमान कर सकते

---

१. "निस्प्रेही निर्बैरता निराकार निरधार।

हैं कि जीवात्मा उसी का अंश-रूप है।[1] यदि उसकी इच्छा न हो तो यह कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं। अतएव वह राम जो भी करता है उसमें हम सभी को प्रसन्न रहना चाहिए, कोई चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि कोई पंडित वा जानकार कोई कार्य नियम-विरुद्ध कर दे तो उसके पाप से उसका छुटकारा नहीं होता, किंतु अज्ञानी अपने को प्रायश्चित्त द्वारा बचा ले सकता है। संत रामचरणजी ने जगत् को 'शीत कोट' तथा 'मरीचो नोर' की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि यह उसी प्रकार 'अथिर' वा विनश्वर है, जिस प्रकार क्रमशः शीत-काल में सूर्योदय के पहले क्षितिज पर कंगूरे-जैसे बने हुए दृश्य दीख पड़ते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म-काल में दोपहर के समय मृग-मरीचिका देखने में आ जाती है। किंतु ये उक्त दोनों ही केवल क्षण स्थायी ही सिद्ध होते हैं। इस कारण ऐसे भ्रम जागृत करने वाली मायात्मिका सृष्टि के फेर में न पड़ कर हमें चाहिए कि निर्भय बन कर सदा राम को भजें और स्थिर सुख उपलब्ध करें।[2] तदनुसार इस मत के अनुयायी निर्गुण राम का नाम-स्मरण किया करते हैं। उसी को अपनी मुक्ति का एक-मात्र साधन मानते हैं। ये इसकी युक्ति जानने के लिए सद्गुरु की शरण में जाते हैं और उसे स्वयं भगवान् का ही प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं। संत रामचरण जी के अनुसार "राममयी गुरु जानिये, गुरु महं जानूं राम। गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम"। इसी कारण, यहाँ पर गुरु को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है कि उसकी अनुपस्थिति में उसके नख, बाल अथवा वस्त्रादि को भी दंडवत् करते हैं। प्रसिद्ध है कि इस मत के अनुयायियों की स्त्रियाँ ऐसे सद्गुरु को अपने पति से भी बढ़ कर पूज्य समझा करती हैं।

साधना

संत रामचरणजी ने निर्गुणराम की उपासना-पद्धति का स्वरूप अपने ग्रंथ

सकल सृष्टि में रमि रह्यो ताको सुमिरन सार।
ताको सुमिरन सार 'राम' सो ताहि भणीजै"। आदि।
—श्री रामस्नेही-सम्प्रदाय पृ० ६२ पर उद्धृत।

१. 'जीव ब्रह्मका अंश है, ज्यूं रवि का प्रतिबिम होय।
घट परदा दूरा भयां, ब्रह्म जीव नहि दोय॥ —वही, पृ० ६४।

२. "शीतकोट की ओट पोट पाला तणी।
ज्यूं मृग तृष्णानीर, सीर दरिया घणी।
ऐसे यों संसार अथिर है बीर रे।
अरिहाँ, रामचरण भजिराम, निर्भय सुखधीर रे॥" पृ० ६८।

'शब्द प्रकाश' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है, "रामनाम तारक मंत्र है जिसे सद्गुरु की कृपा से प्राप्त करके श्रद्धापूर्वक नित्यशः स्मरण करना चाहिए। इसे श्रवण करते ही इसके प्रति प्रेम भाव बढ़ने लगना चाहिए तथा रसना द्वारा इसका अभ्यास आरंभ हो जाना चाहिए। पद्मासन में बैठ कर मन को स्थिर करके अपने श्वास-प्रश्वास में इसकी धारा को प्रवाहित कर देना चाहिए। इस प्रकार अपने भीतर उस नाम के नामी राम के प्रति विरह के भाव जागृत करना चाहिए। नाम स्मरण के निरंतर चलते-चलते एक प्रकार की मिठास का अनुभव होने लगता है और अपना विश्वास निरंतर दृढतर होता चला जाता है। फिर तो उक्त शब्द अपने कंठ में अटक वा उलझ-सा जाता है। अपनी दशा पूरे विरही की भाँति हो जाया करती है जो न तो किसी अन्य बात में रुचि रखता है, न शरीरादि को ही कुछ समझता है। अंत में वही शब्द क्रमशः उतर कर हृदय में आ लगता है। उसे परमात्मा की अलौकिक ज्योति द्वारा आलोकित करता हुआ नाभि-स्थान में विश्राम लेता है। नाभि-कमल में एक प्रकार ध्वनि भी गूँजने लग जाती है।"[१] "नाभि-कमल में शब्द गुंजार के उठते ही उससे संबद्ध सभी नडियाँ झंकृत हो उठती हैं तथा रोम-रोम तक से भी वही ध्वनि प्रकट होने लगती है। ररंकार ऊपर की ओर सुषुम्ना की ग्रंथियों का भेदन करता हुआ सहस्रार तक पहुँच जाता है। हम इस प्रकार, त्रिकुटी संगम में स्नान कर चौथे पद को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ पर उस शून्य शिखर पर निरंजन की ज्योति के दर्शन होते हैं। अनाहत शब्द अपने विविध रागों में सुन पड़ने लगता है। सुषुम्ना के अमृत-स्राव का आस्वादन होने लगता है जिस सुख के अनुभव का शब्दों द्वारा वर्णन कर पाना असंभव है। यह सभी कुछ केवल रामनाम के निरंतर स्मरण का ही प्रभाव है। इस प्रकार जो कोई भी साधना करेगा वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।"[२] इन्होंने इसी

---

१. कल्याण, साधनांक गोरखपुर, पृ० ७१५-६ पर उद्धृत।

२. नाभि कमल में शब्द गुंजारै। नौसे नारी मंगल उचारै॥
रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे अंतर तांत ठुणक्कै॥
माया अच्छर यहाँ बिलाया। ररंकार इक गगन सिधाया॥
पच्छिम दिसा मेरू की घाटी। बीसों गांठ घोर से फाटी॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना। चाम चढ्या चौथे अस्थाना॥
जहां निरंजन तख्त बिराजै। ज्योति प्रकाश अनंतर बिराजै॥
अनहद नाद गिणत नहिं आवै। भांति भाँति को नाद उठावै॥

कारण प्रेम-साधना को भी अपने यहाँ एक प्रमुख साधना माना है। इनका कहना है कि प्रेम की ही सहायता से हमें सभी सुख संभव हो सकते हैं। इनके यहाँ इसका आदर्श रूप कदाचित्, 'राधाभाव' अथवा 'गोपीभाव' तक की कोटि का समझा जाता है। इस प्रकार यह मधुरोपासना भी कहला सकता है। वास्तव में प्रेम को इस प्रकार का महत्त्व प्रदान करने के ही कारण इनके पंथ 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' की सार्थकता भी है।

वेशभूषादि

इस मत के अनयायी प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सायंकाल में राम-नाम-स्मरण का अभ्यास नियमपूर्वक किया करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि वे ऐसी प्रार्थना को पाँच-पाँच बार तक करने लगते हैं। ये अपने गले में माला और ललाट पर चंदन वा किसी पदार्थ का तिलक धारण करते हैं। इनके साधु पहले 'हिरमच' में रंगे वस्त्र पहना करते थे, किंतु अब अधिकतर भगवा पहनते हैं। काठ के कमंडलु से जल पीते हैं और मिट्टी के बर्त्तनों में भोजन करते है। इन्हें जीव-हत्या से इतना परहेज है कि दीपक जला कर उसे इस प्रकार ढक दिया करते हैं ताकि कोई कीड़ा न मर जाय और चलते समय बड़ी सावधानी से पृथ्वी पर पैर रखा करते हैं। आधे आषाढ़ से आधे कार्त्तिक मास के समय तक ये अत्यंत आवश्यक कार्य पड़ने पर ही घर से बाहर निकलते हैं। क्योंकि उन दिनों प्रायः पृथ्वी पर इधर-उधर रेंगते फिरनेवाले कीड़ों के कुचल जाने की आशंका रहा करती है। ये रात को न खाते हैं, न पानी ही पीते हैं। साधु वा वैरागी बनते ही ये लोग शिखा के अतिरिक्त अपने सिर के बाल कटा लिया करते है। वैरागियों में से कुछ लोग 'दंदेही' वा 'मौनी' (संभवतः 'विदेही' वा अवधूत') कहलाते हैं और नंगे रहा करते हैं। वाक्-संयम के कारण बहुत दिनों तक प्रायः कुछ भी नहीं बोला करते। परन्तु गृहस्थों के लिए इस प्रकार के

स्रवै सुषुम्ना नीर फुंहारा। सून्य सिखर का यह विवहारा॥

.. .. ..

दरिया सुख को अंत न आवै। छीलर बाज काल झपटावै॥
सुखसागर मिल सुखपद पाया। सो सब्दों में कह समझाया॥

.. .. ..

राम रच्यां का यह परकासा। मिला ब्रह्मपद भव भया नासा॥
राम चरण कोई राम रटेगा। सो जन एही धाम लहेगा॥
—मनोहरदासकृत रामस्नेही धर्मदर्पण, पृ० १२-३।

नियम लागू नहीं हुआ करते। वे ऐसे 'विदेही' वा 'मौनी' नहीं बन पाते । इस पंथ में किसी भी जाति के लोग दीक्षित हो सकते हैं, किंतु इन्हें पहले महंथ के यहाँ अपनी परीक्षा देनी पड़ती है। कम-से-कम ४० दिनों तक इन्हें वैरागी शिक्षा भी दिया करते हैं। पंच के संगठन के लिए १२ व्यक्तियों का एक समुदाय आरंभ से ही चला आता है जिनमें से किसी के मरने पर स्थान पूर्ति भी होती रहती है। मुख्य महंथ के मरने पर १३ वें दिन उसका उत्तराधिकारी शाहपुरा में एकत्र की गई वैरागियों तथा गृहस्थों की सभा द्वारा योग्यता के अनुसार चुना जाता है। इसके उपलक्ष में वहाँ के 'राममरी' नामक मंदिर में एक सहभोज भी हुआ करता है। महंथ सदा शाहपुरा में ही रहा करता है और केवल विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही वह कभी एकाध महीनों के लिए बाहर जा पाता है। अन्य अधिकारियों में से कोई एक व्यक्ति 'कोतवाल' होता है जो अन्नादि को सुरक्षित रखता है और महंथ की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन 'सिधात' भी देता है। एक दूसरा व्यक्ति इसी प्रकार 'कपड़ेदार' कहलाता है जो सभी के कपड़ों का प्रबंध किया करता है। एक तीसरा साधुओं की रहन-सहन का निरीक्षण करता है और चौथे तथा पाँचवें उन्हें पढ़ाने-लिखाने का कार्य करते हैं। छठें और सातवें शेष अन्य प्रकार के प्रबंध करते हैं। इनमें से केवल वृद्ध व्यक्तियों को ही शिक्षादि का भार सौंपा जाता है और शेष पाँच की पंचायत बनती है।[1] संत रामचरणजी ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत अनेक स्थलों पर कुछ संकेत किये हैं जिनके अनुसार उनके अनुयायी इन १६ नियमों को विशेष महत्त्व देते हैं : १. एकमात्र राम का इष्ट, २. बहुदेवोपासना से विमुखता, ३. नंगे पैर, ४. गुरु दर्शन, ५. दयालुता, ६. विषय-त्याग, ७. विषवचन-त्याग, ८. हँसी-तमाशा त्याग, ९. सदा एक हरिमात्र पर विश्वास, १०. जूआ, चोरी, आदि का त्याग, ११. मादक द्रव्यों का निषेध, १२. मांसादि भक्षण का त्याग, १३. पानी छान कर पीना, १४. देख कर पैर रखना, १५. अपात्री रहा करना, तथा १६. संयम, शील, सत्य, संतोषादि की साधना।[2] इन पर जैन प्रभाव लक्ष्य करने योग्य है।

---

१. प्रो० बी० बी० राय : सम्प्रदाय, मिशन प्रेस, लुधियाना सन् १९०६ ई०, पृ० ९३-१०३ ।

२. "इष्ट राम रमतीत आनकूं पूठ दई है ।
पग नंगे गुरु दर्श दया की मूंठ गही है ।
विषय त्याग विष वचन हांसि खिलवत नहिं जाणै।
जूवा चोरी परलुब्धि झूठ कपटां नहिं राखै ।

उत्सवादि तथा प्रचार-क्षेत्र

इस मत के अनुयायी साधारणतः दीवाली और होली जैसे उत्सवों को न मना कर प्रति फागुन मास के अंतिम सप्ताह में शाहपुरा के अंतर्गत एक 'फूल डोल' का उत्सव मनाया करते हैं। इसके लिए राजस्थान के अनक रजवाड़ों की ओर से भेंट भी भेजी जाती है। संभवतः फागुन सुदी ११ से लेकर आगे ४० दिनों तक यह सम्प्रदाय की अन्य शाखाओं द्वारा भी मनाया जाता आया है। इसके उपलक्ष में भक्त प्रह्लाद की कथा के संबंध में विशेष रूप से कथा-पाठ तथा भाषणों का आयोजन भी होता आया है। शाहपुरा वाली शाखा के अनुयायियों में यह उत्सव इन दिनों केवल २५ दिनों तक ही रहा करता है। इसकी अवधि फागुन सुदी ११ से चैत्र बदी ५ तक रहती है। इसमें भी केवल चैत्र बदी १ से ५ तक वाले उत्सव को ही आजकल 'फूलडोल' की संज्ञा दी जाती है। कहते हैं कि इस अवसर पर विशेष अपराध किये हुए पंथ के अनुयायियों के विषय में साधुओं की पंचायत द्वारा निर्णय भी हुआ करता है और किसी के दंडनीय सिद्ध होने पर उसकी शिखा काट कर उसकी माला छीन ली जाती है। वह पंथ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इनके वैरागियों को आदेश है कि खाने, पीने, सोने, बोलने आदि सभी कार्यों में वे समय का ध्यान रखें, शास्त्राध्ययन करें, निःस्वार्थ भाव के साथ परोपकार करें तथा दूसरों के प्रति सद्व्यवहार भी प्रदर्शित करें। नाच-तमाशे न देखना, सवारी, जूते, आईने, आभूषणादि-जैसे भोग्य पदार्थों का उपभोग न करना तथा दवा का न बनाना तक इनके यहाँ आदिष्ट है। शाहपुरा शाखा के अनुयायी अधिकतर सूरत, बड़ौदा, गुजरात, बंबई, अहमदाबाद, बालसर, काशी तथा राजस्थान की जोधपुर-जैसी कई पुरानी रियासतों में पाये जाते हैं। इनके मठों को सब कहीं 'रामद्वारा' की संज्ञा दी जाती है। इनमें से प्रमुख रामद्वारे १. नागौर रामद्वारा, २. मूंडवा रामद्वारा, ३. लाडनू रामद्वारा, ४. खजवाणा वा कुचेरा रामद्वारा, ५. पोकरण रामद्वारा, ६. बीकानेर रामद्वारा आदि बतलाये जाते हैं। इन रामद्वारों के सर्वप्रसिद्ध संस्थापकों में जीवणदासजी, नारायणदासजी विदेही तथा भगवानदासजी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय बतलाये गये हैं। क्योंकि इन लोगों ने अपने मत का प्रचार अधिकतर 'मरुजांगल

भांग तमाखू अमल अखज मद पान न चाखै।
पांणी बरतै छाणिकै, निरखपाँव धरणी धरै।
वै रामसनेही जाणियै, जो कारज अपणो करै ॥'
—अणभै वाणी, पृ० १२२।

प्रदेश' में किया। इनमें ।ा तीसर ने बहुत-सी बानियों की रचना भी की। भगवानदासजी का जन्म सं० १८०१ में हुआ था और ये पीपाड़ के निवासी थे। इनकी वाणियों की संख्या ४००० तक की बतलायी जाती है जिनमें लगभग सभी प्रकार के प्रमुख छंद तथा काव्य-रूप-जैसे साखी, चौपाई, अरिल्ल, कवित्त, कुंडलियाँ, रेखता, पद आदि सम्मिलित हैं। इनका पंथ के अनुयायियों में विशेष प्रचार भी पाया जाता है। इसी प्रकार इनके अतिरिक्त लोकप्रिय गीतों के निर्माता एक संग्रामदासजी भी कहे जाते हैं जिनकी कुंडलियाँ 'कहै दास संग्राम, शब्दों द्वारा पहचान में आ जाती है।

शाहपुरा शाखा की वंशावली
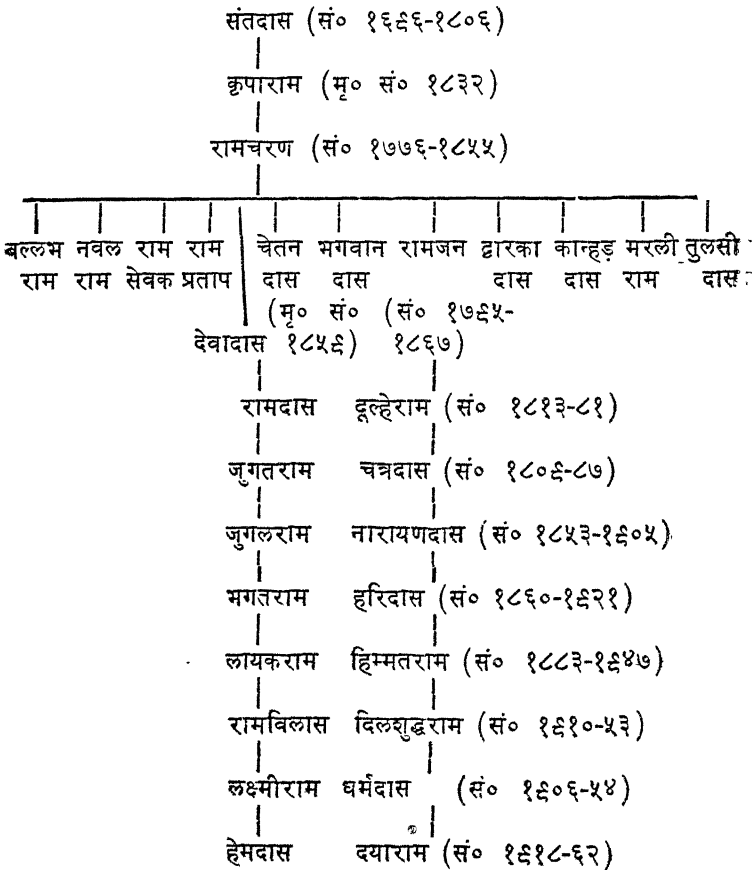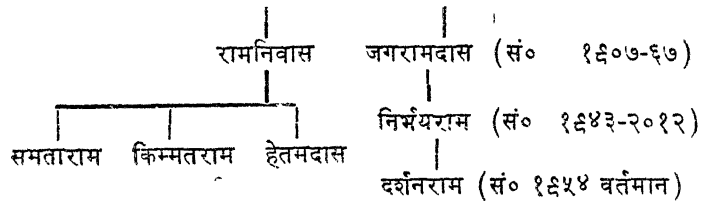
६. अघोर-सरभंग-सम्प्रदाय

अघोर तथा सरभंग-सम्प्रदाय

'अघोर' शब्द का अर्थ साधारणतः 'जो घोर वा भयानक न हो' अर्थात् 'सौम्य' वा 'प्रियदर्शन' होता है। किंतु कभी-कभी इसका प्रयोग 'अत्यंत घोर' के अर्थ में भी किया जाता है। इस दशा में यह उससे विपरीत अर्थ का सूचक बन जाता है। इसी प्रकार संज्ञा रहते समय यह शब्द एक ही साथ शिव के सौम्य तथा रौद्र दोनों ही रूपों को प्रकट कर सकता है। 'अघोर' शब्द से ही मिलता-जुलता एक अन्य शब्द 'औघड़' भी है। इसे कुछ लोग 'अटपट' वा 'विकट' अर्थ के वाचक 'अवघट' शब्द का एक बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं। इस 'औघड़' को तथा 'अघोर' से बने 'अघोरी' शब्द को प्रायः एक - दूसरे का पर्याय भी समझा जाता है। ये दोनों साधारणतः किसी ऐसे व्यक्ति को सूचित करते हैं जो किन्ही घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करता हो अथवा जो वैसे किसी मत का प्रचार करनेवाले पंथ-विशेष का अनुयायी होने के कारण तदनुकूल भेष धारण करता हो। इस प्रसग में हमारे सामने श्मशान का भस्म लपेटनेवाली शिव की वा हाथ में खप्पर धारण करनेवाली काली की मूर्ति आ सकती है। मद्य का घट लेकर समुद्र से उत्पन्न होनेवाले दत्तात्रेय अथवा खोपड़ियों आदि को व्यवहार में लानेवाले कापालिकों के रूप भी लाये जा सकते हैं। तदनुसार 'अघोरपंथ' वा 'औघड़ पंथ' का नाम आते ही हम किसी ऐसे सम्प्रदाय की कल्पना करने लग सकते हैं जिसका संबंध या तो शैव, शाक्त वा दत्तात्रेय सम्प्रदायों की किसी शाखा-विशेष के साथ होगा। इसी प्रकार 'सरभंग' शब्द को भी कभी 'स्वरभंग' कभी 'शरभंग' और कभी-कभी 'सर्वांग' शब्द का एक अन्यतम रूप समझा जाता है। तदनुसार इसका अर्थ क्रमशः 'स्वर को साधनेवाला'[1]

---

१. 'स्वर के रथ पर जो चढ़ि रमे सकल सो राम ।
सर भंगी ताको जानिये, स्वर् को करै विराम ॥' —संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पटना, सन् १६५७ ई०, पृ० ५४ ।

'पाँचों इद्रिन्यों (शर-पंचबाण) को वश में रखने वाला,[१] तथा 'अपने सर्वांग' पर शासन करनेवाला वा, सभी कुछ जिसका अंगरूप[२] हो' अथवा 'समदर्शी[३] किया जाता है। इस विचार से हम उसे किसी साधक वा सिद्ध का वाचक मानेंगे। परन्तु यहाँ पर न तो 'अघोर पंथ' उक्त शैव, शाक्त वा दत्तात्रेय सम्प्रदायो में से किसी एक के साथ सीधा संपर्क रखनेवाला' कहा जा सकता है, न 'सरभंग-सम्प्रदाय' को ही हम किसी योग-साधको का वर्ग मान कर उसका ठीक परिचय दे सकते है। वास्तव में इन दोनो की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके कारण इन्हें कोई पृथक् स्थान प्रदान करना भी कदाचित् अनुचित न होगा। जहाँ तक इन दोनों के आपस में एक समान होने का प्रश्न है, इनके अनुयायियों के विषय में कुछ लोग इस प्रकार भी कहते हैं, "इस मत के लोग पंजाब में 'सरभंग', मद्रास में 'ब्रह्मनिष्ठ', बंगाल में 'अघोरी' तथा उत्तरप्रदेश और बिहार में 'औघड़' कहलाते हैं।"[४]

प्रारंभिक परिचय

परन्तु आजतक इस प्रकार की कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर हम किसी ऐसे एक ही संयुक्त सम्प्रदाय के विषय में यथेष्ट विवरण उपस्थित कर सकें तथा जिससे उसके उदय और विकास का निरूपण किया जाय। 'अघोर-पंथ' तथा 'सरभंग-सम्प्रदाय' इन दोनों में से अभी तक पहला दूसरे से प्राचीन-तर समझा जाता आया है। बाबा गुलाबचंद 'आनंद' ने 'अघोर-पंथ' को 'अवधूत-मत' का पर्यायवाची मानते हुए कहा है, "अघोर वा अवधूत-मत कोई नवीन मत नहीं है। शिवजी महाराज के पाँच मुखों में से एक मुख अघोर का भी है। यह 'लिंग-पुराण' से सिद्ध है। उपनिषद्, रुद्री और शिव गायत्री से भी इस भेष का महत्त्व प्रकट है। 'अघोरान्नापरो मंत्रः' यह हमारा कहा हुआ नहीं है। यह आदि काल से चला आता है। कुछ महाराज किनाराम जी ही ने इसको नहीं चलाया है। यह सचमुच शिवजी का चलाया हुआ है। जगद्गुरु दत्तात्रेय भगवान ने भी इसका प्रचार किया और बाद में श्री कालूराम जी और किनारामजी के

---

१. 'सर साधे सरभंग कहावै।, संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय, पृ० ११४।

२. 'धरती जो सरभंग है, सबमें रहे समाय।
सब रस उपजत खपत है, मोती चरन सनाय॥"
—वही, पृ० ११५।

३. वही, पृ० १६८ तथा १७२।

४. वही, पृ० ११६।

शरीर से यह चला है।"[1] परन्तु जी० डबल्यू० ब्रिग्स के कथनानुसार[2] "हेनरी बालफोर ने अघोर-मत के विषय में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री ऑफ ऐन अघोरी फ़क़ीर' नाम से प्रकाशित किया है। उन्होंने बतलाया है कि अघोर-पंथ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पंथ की एक शाखा है जिसके सर्वप्रथम प्रवर्त्तक कोई मोतीनाथ थे। उन्होंने उस शाखा की तीन उप-शाखाओं की चर्चा भी की है। उनके नाम क्रमशः 'औघड़' 'सर्वंगी' और 'घुरे' दिये हैं। 'कल्लूसिंह फ़क़ीर' (संभवतः उक्त कालूराम) को उन्होंने 'औघड़' उप-शाखा का अनुयायी माना है। कहा है कि ये अन्य अघोरियों की भाँति अपना चमत्कार-प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। 'अघोर-पंथ' के अनुयायियों का साधारणतः मुर्दे का मांस खाना तथा उसकी खोपड़ी में मदिरा आदि का पान करना वा अन्य ऐसी घिनौनी वस्तुओं का व्यवहार करना भी देखा जाता है। ब्रिग्स ने इसी कारण उनके कापालिक वा कालामुख शैव-सम्प्रदाय वालों से प्रायः अभिन्न होने का भी अनुमान किया है।[3] इसी प्रकार दत्तात्रेय को भी उन्होंने अघोरी ही लिखा है।[4] परन्तु 'औघड़' नाम उन गोरख-पंथियों को भी दिया जाता है जो कनफटा जोगी हो जाने के अंतिम संस्कार तक पहुँचे हुए नहीं रहा करते। कभी-कभी इन दोनों प्रकार के नाथ-पंथियों को भिन्न-भिन्न मानते हुए पहले वर्ग वालों को जालंधरी-नाथ का और दूसरों को मत्स्येन्द्रनाथ का अनुयायी कहने की परिपाटी चली आती है। उधर अघोर-पंथ के साथ दत्तात्रेय मुनि का भी कोई प्रत्यक्ष संबंध सिद्ध नहीं होता। पुराणों के अनुसार केवल इतना ही पता चलता है कि ये विष्णु के अंशावतार थे दाहिने हाथ में मदिरा लेकर तथा वाम भाग में किसी सर्वांग, सुंदरी के साथ समुद्र से बाहर निकले थे। इसके सिवाय उनके नाम पर इस समय तक प्रचलित 'दत्तात्रेय-पंथ' में भी अघोर-पंथ की उपर्युक्त बातों को उतनी प्रधानता दी जाती हुई नहीं देखी जाती, न उसके पर्यायवाची 'अवधूत-पंथ' के 'अवधूत' शब्द की परिभाषा[5] में ही उनका कोई समावेश समझा जा सकता।

---

१. पोथी विवेक सार : बाबा किनाराम। —सं० बाबा गुलाबचंद 'आनंद' सेनपुरा, चेतगंज, बनारस, सन् १९४९ ई०, 'भूमिका', पृ० १।

२. जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज़। लंदन, १९३८ : पृ० ७२, टिप्पणी।

३. वही, पृ० २२४।

४. वही, पृ० ७५।

५. सर्वान् प्रकृति विकारानवधुनोत्मवधूत : गोरक्षासिद्धांत संग्रह, पृ० १॥

है। अतएव दत्तात्रेय मुनि के साथ बाबा कालूराम के अघोर-पंथ का संबंध संभवतः उसकी विशेषता का ही द्योतक माना जा सकता है। बाबा किनाराम का इसे 'अवधूत-मत' का नाम देना भी कदाचित् इसी बात की पुष्टि करता है। अभी तक इस संबंध में यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस कारण हो सकता है कि कभी अनुसंधान करने पर दोनों 'अवधूत' मतों के बीच कोई ऐतिहासिक संबंध भी निश्चित किया जा सके। यदि ऐसा होगा उस दशा में अघोर-पंथ दक्षिण के दत्त-पंथ वा दत्तोपासना का यह एक उत्तरी अपवाद रूप भी कहा जा सकेगा।

वही

डब्ल्यू० क्रुक ने अघोर-पंथ का 'एक विवरणात्मक परिचय' देते समय जो इसका एक संक्षिप्त इतिहास दिया है उससे पता चलता है कि ह्वेनसांग ने अघोरियों की चर्चा की है। संस्कृत-साहित्य में उल्लिखित कापालिकों के कतिपय वर्णनों की अनेक बातें भी इसके अनुयायियों के व्यवहारों से मिलती-जुलती दीख पड़ती हैं। उनका यह भी कहना है कि पुराने समय में अघोर-पंथियों के मठ वा केन्द्र आबू पर्वत, गिरनार, बोधगया, बनारस तथा हिंगलाज में थे। किंतु इन दिनों इसके किसी मठ का आबू पर्वत पर होना नहीं समझा जाता। आजकल इसके अनुयायी बिहार, पश्चिमी बंगाल, अजमेर, मेरवाड़ा, उत्तरप्रदेश और पंजाब में पाये जाते हैं जो साधारणतः यह किनाराम द्वारा प्रवर्तित कहा जाता है। इसी पंथ की एक शाखा का नाम उन्होंने 'सर्वंगी' भी दिया है, किंतु इतना और भी कहा है कि इस दूसरी के अनुयायी उतना घृणित आचार-व्यवहार नहीं प्रदर्शित करते। ये लोग मांस-भक्षण-जैसे कृत्यों का केवल विशेष अवसरों पर ही किया जाना उचित समझते हैं।[1] इधर भिनक-परंपरा के आदापुर मठ वाले रघुनंदनदास ने सरभंग-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में कहा है, "नेपाल की तराई के जंगलों में 'नुनथर' नामका एक पहाड़ है जो इसका मूल स्थान कहा जाता सकता है। क्योंकि वहीं पर 'आद्या' ने बागमती नदी में तुलसी-दल बहाया जिसमें से सरभंग वाला अंश वैरागी वाले अंश से पृथक् होकर बहने लग गया। भिनक बाबा का तुलसी-दल, उत्तराभिमुख हुआ बहा, वैरागी बाबा का दक्षिणाभिमुख हो गया। दोनों पृथक्-पृथक् हो गए"[2] जिससे यह भी धारणा हो सकती है कि सरभंग-सम्प्रदाय का पूर्व संबंध कदाचित् वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ रहा होगा। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने किसी औघड़ बाबा रघुनाथदास के आधार पर यह भी लिखा है

१. संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० १८७-९० पर उद्धृत।

२. वही, पृ० १४१।

कि सरभंगों की बड़ी गद्दी पंजाब में है। औघड़-मत गुरु गोरखनाथ तथा दत्तात्रेय महाराज के बीच की एक कड़ी है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अघोर-पंथ' तथा 'सरभंग-सम्प्रदाय' इन दोनों के किसी एक ही मूलस्रोत का होना अभी तक हमारे लिए केवल अनुमान वा अनुश्रुतियों पर ही आश्रित है। इसके लिए कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर पाना अभी तक संभव नहीं है, न इससे अधिक हम इस संबंध में किसी निश्चय के साथ बतला ही सकते हैं कि इन दोनों के मूलत: एक और अभिन्न होने का परिणाम इनकी कतिपय समानताओं के ही आधार पर निकाला जाता आया है। इसके लिए कभी-कभी एकाध उक्तियों का भी सहारा लिया गया है।

(१) अघोर-पंथ वा अघोर-सम्प्रदाय

बाबा किनाराम : प्रारंभिक जीवन

अघोर-पंथ के मूल प्रवर्त्तक चाहे कालूराम अथवा उक्त मोतीनाथ नाथ-पंथी ही क्यों न रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि इसके सर्वप्रमुख प्रचारक बाबा किनाराम अघोरी ही समझे जाते हैं। बाबा किनाराम का जन्म वर्तमान वाराणसी जिले की चंदौली नामक तहसील के रामगढ नामक गाँव के एक रघुवंशी क्षत्रिय-कुल में किसी अकबर नामक व्यक्ति के घर सं० १६८४ के लगभग होना बतलाया जाता है।[2] किंतु इस संबंध में यह भी प्रसिद्ध है कि इनका देहांत सं० १६०१ : सन् १८४४ ई० के अंतर्गत किसी समय १०४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे इनका जन्म-काल सं० १७६७ : सन् १७४० ई० ठहरता है। इस प्रकार इन दोनों में ११३ वर्षों का अंतर आ जाता है। बाबा किनाराम का १०४ वर्षों तक जीवित रह कर शरीर-त्याग करना कुछ असंभव नहीं जान पड़ता। इसलिए, यदि इस बात को ठीक मान कर और यह अनुमान करके भी कि उक्त दशा में सं० १६८४ संभवत: सन् १६८४ ई० की जगह पर कहा जाता हो; इसी प्रकार, कदाचित् भूल से सन् १८४४ ई० भी सं० १८४४ के स्थान पर मान लिया गया हो, हम ऐसे अंतर का एक समाधान भी कर सकते हैं। तब इस प्रकार कह सकते हैं। कि इनका जन्म सन् १६८४ के लगभग (अथवा सं० १७४१ के आसपास) हुआ था और इनका देहांत सं० १८४४ (अथवा सन् १७८७ ई०) में हुआ[3] था जिससे दोनों की संगति बैठ जाती जान पड़ती है।

---

१. संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय, पृ० १३७।

२. दैनिक 'आज', वाराणसी, २६ नवंबर सन् १६५३ ई०।

३. यह समय सं० १८३६ भी कहा गया मिलता है, दे० त्रिपथगा, लखनऊ, पृ० ६४।

यदि बाबा किनाराम का मृत्यु-काल सं० १८४४ मान लिया जाय तो उनकी छठी पीढ़ी में आनेवाले बाबा जयनारायण का मृत्यु-काल सं० १९८० उससे १३६ वर्ष पीछे पड़ता है। इस प्रकार उनके उत्तराधिकारी गद्दीधारियों में मे प्रत्येक का समय परते के अनुसार २७ वर्ष से कुछ ही अधिक ठहरता है जो किसी अधिक विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में स्वीकार कर लिया जा सकता है। किनाराम अपने बचपन से ही अत्यंत श्रद्धालु तथा एकांतप्रेमी थे। कहते हैं कि लोग इन्हें प्रायः रामनाम का स्मरण करते हुए भी पाते थे। ये अपने तीन भाइयों गयंद, जसंत और कीना में सबसे बड़े थे और वैराग्य की ओर बढ़ती जानेवाली इनकी प्रवृत्ति को रोकने के लिए इनका विवाह केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही कर दिया गया तथा गौना मात्र ही स्थगित रखा गया। परन्तु तीसरे वर्ष गौने का दिन आ जाने पर तथा उसके लिए तैयारी होने पर इन्होंने अपनी माता से हठपूर्वक दूधभात माँग कर खाया। संयोगवश उसी समय इनकी पत्नी के देहांत हो जाने का भी समाचार मिला। फलतः गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति अनिच्छा पहले से ही रहने के कारण ये एक दिन किसी से बिना कहे-सुने अपने घर से चुपचाप निकल पड़े। ये वहाँ से सर्वप्रथम किसी अच्छे गुरु की खोज में वर्तमान बलिया जिले के 'कारों' नामक गाँव के प्रसिद्ध संयोगी वैष्णव महात्मा बाबा शिवाराम के यहाँ पहुँचे। गंगातट पर उनसे दीक्षित होकर ये उनकी सेवा-सुश्रूषा में निरत रहने लगे। परन्तु कहा जाता है कि वहाँ पर भी ये अपने गुरु के पुनर्विवाह का प्रसंग आ जाने पर खिन्न हो गए तथा उनसे आज्ञा लेकर अन्यत्र चले गए।

देश-भ्रमण तथा अवधूत-मत

किनाराम के घर वालों को इनकी विरक्ति पसंद नहीं थी जिस कारण उन्होंने इनसे आग्रह किया कि ये विवाह कर लें। उनका यह प्रस्ताव इन्हें इतना अनुचित जान पड़ा कि इन्होंने उनका त्याग कर के देश भ्रमण स्वीकार कर लिया। तदनुसार ये चारों धामों के अतिरिक्त, अन्य प्रधान तीर्थों की यात्रा भी करके एक बार घर लौट आये। अबकी बार इन्होंने अपने निवास-स्थान से हट कर कुटी बनायी और जनता के कल्याणार्थ वहाँ 'रामसागर' का निर्माण किया। किंतु इनके भजनानुराग तथा समाज-सेवा के कारण लोग इनसे इतना आकृष्ट हुए कि वहाँ पर भीड़ लगने लगी। इससे अपने को दूर रखने के उद्देश्य से इन्होंने एक और भी यात्रा में निकलना ठीक समझा। वहाँ से चलते समय इन्होंने मार्ग में किसी नैगडीह (नायकडीह) नामक गाँव की एक बुढ़िया के इकलौते पुत्र को (जिसे इन्होंने किसी जमींदार के बंधन से मुक्त कि था),

अपने साथ ले लिया और अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए ये जूनागढ़ पहुँच गए। कहते हैं कि वहाँ के नवाब के कर्मचारियों द्वारा बंदी बनाये गए अपने शिष्य को छुड़ाने के यत्न में इन्हें स्वयं भी कारागार के बंधन में पड़ना पड़ा। ये वहाँ से तभी मुक्त किये जा सके जब इन्होंने नवाब को अपने कुछ चमत्कारों द्वारा प्रभावित किया। बाबा किनाराम के उक्त शिष्य का नाम बिजाराम था और वह जाति का कलवार था। प्रसिद्ध है कि पीछे वही इनका उत्तराधिकारी भी हुआ। अपनी इस लंबी यात्रा में ही किसी समय इन्होंने गिरनार के ऊपर किसी ऐसे महात्मा के दर्शन किये जिन्होंने इनकी कायापलट कर दी। इन्होंने अपने 'विवेकसार' नामक छोटे-से ग्रंथ में कहा है, "मुझे पुरी, द्वारका, गोमती तथा गंगासागर के क्षेत्रों में दत्तात्रेय मुनि से भेंट हुई जिन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रखा। मेरे हृदय के भीतर ज्ञान-विज्ञान तथा दृढ़ भक्ति के भाव जागृत कर दिये।"[1] ये दत्तात्रेय मुनि कदाचित् वे ही पौराणिक पुरुष हैं जो अत्रिमुनि के पुत्र तथा अवधूत वेशधारी कहे जाते हैं। इस कारण इन दोनों की ऐसी भेंट को किसी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं समझा जा सकता। फिर भी ऐसा लगता है कि इन्होंने अपने उक्त ग्रंथ में सर्वत्र उन्हीं को अपना परमगुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया है। अपने 'अवधूत-मत' से अभिन्न ठहराया है, यद्यपि उसके महाराष्ट्र प्रांत में प्रचलित 'दत्त-सम्प्रदाय' के साथ भी किसी संबंध का होना अभी तक सिद्ध नहीं है। एक मराठी लेखक ने उसे 'दत्तात्रेय प्रधान-सम्प्रदाय-जैसा एक नाम अवश्य दिया है, किंतु इस बात को प्रमाणित नही किया है।[2] अतएव इस संबंध में अभी केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बाबा किनाराम अपनी इस यात्रा में उससे प्रभावित हुए होंगे।

कालूराम से दीक्षा और अघोर-पंथ

परन्तु बाबा किनाराम के जीवन पर कदाचित् इससे भी अधिक प्रभाव कालूराम 'अघोरी' का पड़ा जिनके दर्शन इन्हें काशी में केदारघाट के निकट हुए। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने उनसे संभवत: सं० १८१४ में दीक्षा

---

१. 'पुरी, द्वारिका, गोमती गंगासागर तीर।
दत्तात्रेय मोहि कह मिले, हरन महा भवपीर॥
अति दयाल मम सीस पर, कर परस्यो मुनिराय।
ज्ञान विज्ञान भक्ति दृढ़ दीन्हों हृदय लखाय॥ —विवेक-सार, पृ० २।

२. रामचन्द्र चिंतामण ढेरे : श्री नरसिंह सरस्वती, चरित्र आणि परंपरा, दत्त-सम्प्रदाय का इतिहास, —मुंबई शके १८८०, पृ० ७३।

भी ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि इन कालूराम ने ही बाबा किनाराम को गिरनार पर्वत के ऊपर तथा अन्य कई तीर्थ-स्थानों में दत्तात्रेय के रूप में पहले दर्शन दिये थे। परन्तु यह स्वीकार कर लेने पर कालूराम तथा दत्तात्रेय की अभिन्नता की समस्या भी आ खड़ी हो सकती है जिसका कोई समाधान नहीं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बाबा किनाराम ने कालूराम के साथ अपनी इस भेंट को स्वयं भी बहुत महत्त्व दिया होता, क्योंकि इनके द्वारा रचे गए एक दोहे में कहा गया है, "कीना-कीना तो आज सभी कहते हैं, किंतु कोई कालू का नाम नहीं लेता, यद्यपि तथ्य यह है कि कीना तथा कालू दोनों एक और अभिन्न हो गए हैं। अब राम जो भी करे कोई चिंता नहीं है।"[१] बाबा कालूराम द्वारा दीक्षित हो जाने पर बाबा किनाराम सदा 'कृमिकुंड' (थाना भेलूपुरा, काशी) पर ही रहने लगे और कभी-कभी रामगढ़ भी गये। अपने गुरु का देहांत हो जाने पर ये वहीं उनके उत्तराधिकारी के रूप में उनकी गद्दी पर बैठे जिस घटना का सं० १८२६ में होना कहा जाता है। इनकी मृत्यु के अनंतर फिर वहाँ इनके शिष्य बाबा बिजाराम बैठे तथा उनके आगे की परंपरा चली। 'कृमिकुंड' की 'रामशाला' ही वस्तुतः इस अघोर-पंथ का प्रधान मठ है जहाँ पर कालूराम, किनाराम तथा अन्य महंतों की समाधियाँ वर्तमान हैं। इसकी एक शाखा काशी के ही सेनपुरा मुहल्ले में चल रही है जिसके बाबा गुलाबचन्द्र 'आनंद' की अभी कुछ दिनों पूर्व मृत्यु हुई है। बाबा किनाराम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर काशी-नरेश राजा बलवंत सिंह ने रामगढ़ के पूजा-व्यय के निमित्त ६६ गाँवों में से प्रत्येक से एक रुपये की वार्षिक आय निश्चित कर दी थी जो उधर बराबर मिलती आई। रामगढ़ और कृमिकुंड के अतिरिक्त अघोर-पंथ के दो अन्य प्रसिद्ध मठों में से एक जौनपुर जिले का गोमती तटवर्ती हरिहरपुर का है और दूसरा गाजीपुर जिले के देवल का है जो चौसा के निकट है। बाबा किनाराम ने अपने प्रथम गुरु बाबा शिवाराम की वैष्णवी मर्यादा निभाने के उद्देश्य से भी चार मठों की स्थापना की थी जिनका अभी तक मारूफपुर, नयीडीह, परानपुर और महुवर नामक चार स्थानों पर वैष्णव-मत का प्रचार करते आना प्रसिद्ध है। किंतु इनके अघोर-पंथ में अनेक मुसलमानों तक का सम्मिलित होना कहा जाता है। कहते हैं कि उसका प्रचार गुजरात, नेपाल तथा समरकंद-जैसे सुदूर स्थानों तक प्रायः अपने विशिष्ट रूप में ही पाया जाता है।

---

१. "कीना कीना सब कहैं कालू कहै न कोय।
कीना कालू एक भये, राम करे सो होय॥".
गीतावली, बाबा किनाराम, पृ० ५।

साहित्य और मत

बाबा किनाराम की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें 'विवेक सार' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, 'गीतावली' तथा 'रामगीता' नामक दो अन्य ऐसे छोटे-छोटे संग्रह-ग्रंथ भी हैं जिनसे अघोर-पंथ का कुछ आभास मिल सकता है। इनके 'रामरसाल', 'रामचपटा', तथा 'राममंगल' नामक तीन छोटे-छोटे ग्रंथों से इनके वैष्णव-मत का परिचय मिलता है। इनके द्वारा पद्य में किया गया 'योग वाशिष्ठ' ग्रंथ का अनुवाद भी प्रसिद्ध है। इनके ग्रंथ 'विवकसार' के देखने से पता चलता है कि इसकी रचना सं० १८१२ में उज्जैन नगर के निकट प्रवाहित होने वाली शिप्रा नदी के तट पर किसी मंगलवार के दिन और अभिजित नक्षत्र में हुई थी। इसमें 'साधु प्रसाद का फलस्वरूप अपना अनुभव' दिया गया है।'[1] इसमें स्वानुभूति पर विशेष बल दिया गया है और बाबा किनाराम ने स्वयं भी कहा है, 'जस कछु मोकहु लखि परचो' वही बतलाया है। इसमें अष्ट अंगों का वर्णन किया गया है जिन्हें क्रमशः 'ज्ञान अंग', 'वैराग्य अंग', 'विज्ञान-अंग', 'निरालंब अंग', 'शम-अंग', 'अजपा अंग' 'शून्य अंग' तथा 'रक्षा अंग'-जैसे पृथक्-पृथक् आठ नाम भी दिये गए हैं। इनमें से प्रथम तीन के अंतर्गत इनके मतानुसार सृष्टि का रहस्य बतलाया गया है। काया-परिचय वा पिंड तथा ब्रह्मांड की समानता दरसायी गई है। अनाहत तथा निरंजन आदि के स्थान निर्दिष्ट किये गए हैं। इसी प्रकार इसके अगले तीन अंगों में प्रमुख साधना, निरालंब की स्थिति, आत्म-विचार से शांति की उपलब्धि, अजपा जाप और सहज-समाधि की चर्चा की गई है। इसके शेष दो अंगों के अंतर्गत क्रमशः सारे विश्व के आत्ममय होने तथा आत्म-स्थिति के रक्षार्थ दया, विवेक, विचार तथा सत्संग के द्वारा जीवन-यापन की चार विधियाँ बतलायी गई हैं। बाबा किनाराम ने 'अनुभव' की परिभाषा देते हुए कहा है, "अनुभव वही है जो सदा विचार वा भावना में परिणत हो गया जान पड़े और जिसके अनुसार, 'सत्यशब्द' को ग्रहण करके संसार के पार जाया जा सके।"[2] इनके द्वारा प्रयुक्त 'जोग गति', 'सुरति', 'निरबान' 'अनहद बानी'

---

१. सत अष्टादस वर्ष यह, दस दुइ उभय मिलाय।
विवेक सार बिरच्यौ तबै, समुझौ बुध जन राय ॥
महिसुत वासर लग्न तिथि, अभिजित मंगल मूल।
साधु प्रसार को प्रगट कल, यह अनुभव है आहि।
—विवेक सार, पृ० ३३-४।

२. गीतावली, पृ० १२।

'सत्तसुकृत' जैसे शब्दों द्वारा भी स्पष्ट है कि इनके मत को संत-मत से अधिक भिन्न नहीं ठहराया जा सकता। हमें ऐसा लगता है कि बाबा किनाराम का अपना आध्यात्मिक अनुभव, क्रमशः 'वैष्णव-मत' तथा 'अवधूत-मत' का सार ग्रहण करता हुआ अंत में (जनश्रुति के अनुसार उनके ६५ वें वर्ष में) 'अघोर-पंथ' की विशिष्ट विचार धारा द्वारा पुष्टि प्राप्त कर चुका था और वह इन सभी के समन्वय पर आश्रित रहा। अपने-अपने ढंग की क्रमशः वैष्णवों की भक्तिपरक तथा अवधूतों की योगपरक सगुणोपासनाओं ने यहाँ आकर अपनी साम्प्रदायिक विशेषताओं का त्याग कर दिया। इन दोनों की मूल सरिताओं ने अंत में अघोर मत के स्रोत के साथ प्रवाहित होना स्वीकार कर लिया। बाबा किनाराम के अनुयायियों पर इधर सगुणोपासना का रंग अधिकाधिक चढ़ता आया है जो उनकी रचनाओं से भी प्रकट है। अघोर-पंथ की 'वंशावली' निम्न प्रकार की है :
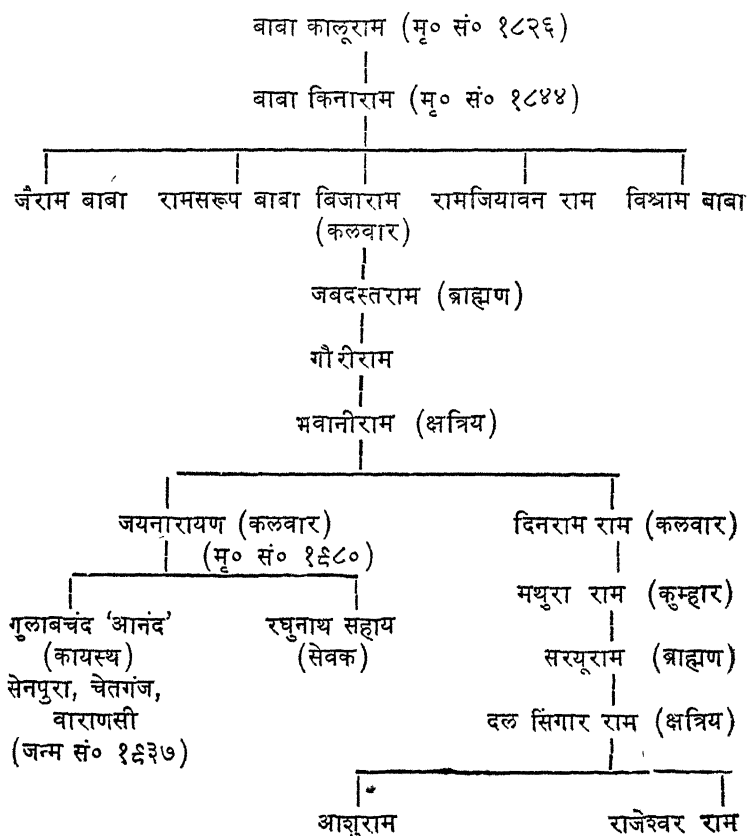
(२) सरभंग-सम्प्रदाय

सामान्य परिचय

सरभंग-सम्प्रदाय की स्थापना सर्वप्रथम किस समय हुई, इसका कोई पता नहीं चलता, न हमें अभी तक इस बात का ही कोई प्रमाण मिल सका है कि इसका प्रवर्त्तन सर्वप्रथम अमुक व्यक्ति ने अमुक स्थान पर किया था। जनश्रुति के अनुसार, इसके प्रमुख प्रवर्त्तकों में बाबा भीखम राम, बाबा भिनक राम, सदानंद बाबा, हरलाल बाबा, छतर बाबा आदि के नाम लिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कर्त्ताराम, धवलराम, मँगरू और भुवाल-जैसे लोगों की चर्चा भी की जाती है। इनमें से कुछ की तो स्पष्ट परंपराओं तथा विभिन्न मठों तक का कोई-न-कोई परिचय मिल जाता है, किंतु शेष के विषय में सभी मौन हैं। सरभंग-सम्प्रदाय के अनुयायी सबसे अधिक वर्तमान चंपारन जिले में पाये जाते हैं जो विहार-प्रांत के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित है। किंतु उसके सारन, मुजफ्फरपुर तथा पटना जिलों में भी इनकी संख्या कम नहीं कही जा सकती। कहा तो यहाँ तक जाता है कि ये लोग असम प्रांत, पश्चिमी बंगाल तथा उत्तरप्रदेश के भी कतिपय स्थानों पर मिलते हैं। किंतु इनके विहार प्रांत से बाहर संभवत: नेपाल राज्य तक में भी पाये जाने का पता किसी स्पष्ट विवरण के साथ दिया गया नहीं मिलता। इसके सिवाय इस वर्ग वाली विभिन्न परंपराओं के जो मठ वर्तमान हैं, वहाँ से कोई ऐसी सामग्री हमें उपलब्ध नहीं होती जिसके आधार पर उक्त प्रमुख प्रवर्त्तकों का कोई विस्तृत परिचय दिया जा सके अथवा उनके जीवन-काल आदि का भी अनुमान किया जा सके। उनकी अथवा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की उपलब्ध रचनाओं से भी इन बातों पर कोई वैसा प्रकाश नहीं पड़ता। अतएव यथेष्ट सामग्री के अभाव में हम अभी तक उन सभी के किसी मूल पारस्परिक संबंध के विषय में भी कुछ कहने में असमर्थ हैं। इसी कारण हमें इस सम्प्रदाय का वर्णन करते समय इसकी कतिपय विशिष्ट परंपराओं का उल्लेख मात्र करना ही संभव होगा। इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि अघोर-पंथ के जो कुछ मठ चंपारन तथा सारन जिलों में मिलते हैं, वे भी इससे प्रभावित हैं।

भीखमराम बाबा की परंपरा

सरभंग-सम्प्रदाय की वर्तमान प्रमुख परंपराओं में बाबा भीखम राम की परंपरा कदाचित् कालक्रमानुसार दूसरे ऐसे वर्गों से कुछ-न-कुछ अधिक प्राचीन कही जा सकती है। इसके कभी-न-कभी अघोर-पंथ के साथ प्रत्यक्ष संबंध रहने के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि इसके लिए इससे अधिक अभी तक नहीं कहा जा सकता। कहते हैं कि भीखम राम चंपारन जिले

के माधोपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और इनका पूर्वनाम भीखा मिश्र था। इनके पूर्वज वहाँ पर सरयूपार से आकर बस गए थे। उन्होंने वहाँ के जंगलों को काट कर आबाद किया था। भीखा के प्रारंभिक जीवन का अधिक पता नहीं है। प्रसिद्ध है कि अपनी तीस वर्ष की अवस्था तक ये केवल 'कोड़नी' करके जीवन-यापन करते रहे। प्रीतम पांडेय नाम के किसी वैष्णव साधु के संपर्क में आने पर इन में विरक्ति जगी और ये उनके अनन्य भक्त भी हो गए। उनका देहांत हो जाने पर इन्होंने पुरी आदि कई तीर्थों की यात्रा की और इसी अवधि में ये किसी प्रकार सरभंग-मत के द्वारा प्रभावित हुए। अंत में माधोपुर लौटते समय तक ये अत्यंत वृद्ध हो चुके थे और बहुत संयत जीवन व्यतीत करते थे। इन्होंने किसी माघ सुदि तृतीया को जीवित समाधि ली। इनके कई शिष्यों में से टेकमन राम विशेष प्रसिद्ध हुए जिन्होंने इनके मत का अधिक प्रचार किया। भीखम राम बाबा और इनके गुरु प्रीतम बाबा इन दोनों की समाधियाँ माधोपुर में वर्तमान हैं और इनका लिखा हुआ कोई 'बीजक-ग्रंथ' भी प्रसिद्ध है। इनके शिष्य टेकमनराम जाति के लोहार थे और चंपारन जिले के ही 'झखरा' नामक गाँव के रहनेवाले थे। माधोपुर के मंदिर का कोई किवाड़ा बनाते समय ये पहले-पहल भीखमराम के संपर्क में आये और उनसे 'करवा' लेकर दीक्षित हो गए। अपने गुरु की भाँति इनके भी चमत्कारों की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं और ये एक योग्य पुरुष भी समझे जाते हैं। इनका देहांत किसी माघ सुदी पंचमी को हुआ था जिस दिन इनकी झखरा वाली समाधि पर मेला लगता है। टेकमनराम के लिए कहा जाता है कि इन्होंने ही सरभंग-मत के अनुयायियों में सर्वप्रथम 'घरबारी' बने रहने की प्रथा चलायी। इनके पहले सभी 'निरबानी' रहा करते थे। टेकमनराम की परंपरा वस्तुत: माधोपुर वाली से पृथक् न होने पर भी विशिष्ट समझी जाती है। 'फांड़ी' परंपरा भी कहलाती है। मेले के अवसर पर झखरा मठ में गांजा, भाँग आदि के चढ़ाये जाने तथा नाच-रंग होने और घंटा बजाने की जैसी प्रथाएँ भी दीख पड़ती हैं। टेकमनराम के शिष्यों से रामटहल राम, दर्शन राम आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें एकाध स्त्रियों का भी नाम लिया जाता है। इनकी रचनाएँ फुटकर रूपों में हैं और ये कुछ संग्रहों में प्रकाशित भी पायी जाती हैं।

परंपरा की वंशावली

केसोराम
|
प्रीतम बाबा (संभवत: किनारामी वैष्णव)
|
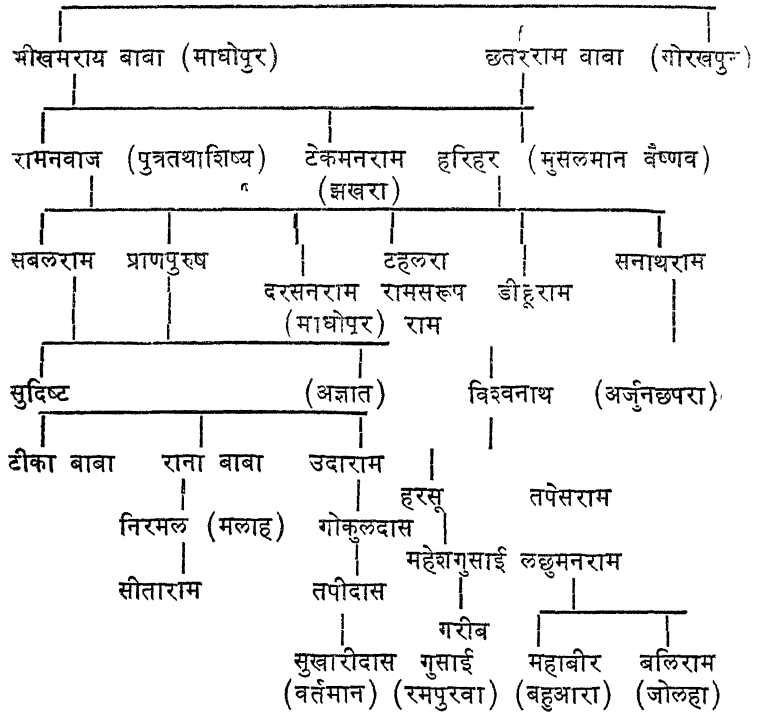
भिनकराम बाबा का संक्षिप्त परिचय

भिनक राम बाबा का परिचय प्राय: दो प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपों में दिया गया मिलता है। एक मत के अनुसार इनका जन्म चंपारन जिले के सहोरवा गोनवरवा' गाँव में हुआ था, जो राजपुर से अधिक दूरी पर स्थित नहीं है। इनकी जाति ततवा की थी। जनश्रुति के अनुसार इनका आविर्भाव-काल आज से दो सौ वर्षों से भी कम रहा होगा। इनके विषय में कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध संत कबीर साहब (मृ० सं० १५०५) के ४८४ शिष्यों में से किसी एक की परंपरा से संबद्ध रहे और इनकी शिष्य-मंडली के कुछ लोगों ने नेपाल की तराई में भी अपने मत का प्रचार किया था। भिनकराम बाबा की परंपरा वाले आदापुरी रघुनंदनदास का कथन है कि सरभंग-मत की उत्पत्ति भी वहीं पर नुनथर पहाड़ के निकट कहीं पर हुई थी। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, इनका तुलसी-दल बागमती नदी की धारा में वैरागियों के तुलसी-दल से पृथक् होकर उत्तर की ओर बह चला था। इनके एक शिष्य मनसा बाबा के लिए भी कहा गया है कि वे सिमरौनगढ़ (नेपाल-तराई) में कंकालिन माई के स्थान

पर रहा करते थे[1] । इसी प्रकार एक दूसरे मत के अनुसार इनका परिचय इस रूप में भी दिया गया मिलता है । कहते हैं भिनकरामजी का जन्म वास्तव में सारन जिले वाले मसरख स्टेशन से लगभग सात मील पश्चिम की ओर बसे हुए माघर (माधवपुरी) नामक गाँव में आज से ढाई सौ वर्ष पहले हुआ था तथा वे एकसरिया 'भूँझार' थे । इनके भाई-भतीजे के वंश वाले अभी आज तक भी उसके आसपास निवास करते हुए कहे जाते हैं । प्रसिद्ध है कि उसी क्षेत्र में उस समय कोई 'पुरंदर राम' नामक संत थे । जो किसी विशेष मत का प्रचार करते थे । उनके शिष्य कोई दुनियाराम थे जिनके नाम पर 'साथर' में एक सुंदर मंदिर बना हुआ है, जहाँ कई योजनों से आकर लोग 'रोट चढ़ाया' करते हैं । ये ही दुनियाराम भिनकराम के गुरु थे । कहते हैं कि स्वयं भिनकराम के १४३ चेले रहे और कोई ओलिवर (Oliver) नामक अँगरेज भी इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखता था । इनके स्थान पर घने वृक्षों की छायाथी और सात कुएँ भी थे जिनमें से पाँच भर दिये जा जुके हैं । वहाँ पर इनका खोदवाया हुआ एक पोखरा है । एक पत्थर की चौकी भी है तथा एक बड़ा-सा शंख है जो दुनियाराम के मंदिर में रखा हुआ है । प्रसिद्ध है कि 'माघर' की मठिया पर इन्होंने अपने शिष्य 'राधाकिसुन' को बिठा दिया और स्वयं चंपारन की ओर चले आए । इधर कुछ दिनों तक झखरा और बनकट में रह कर इन्होंने फिर आदापुर में कोई मठ बना लिया, जहाँ पर ये अंत में समाधिस्थ हो गए । इन के कुछ प्रमुख शिष्यों में दिमागराम, धनपतराम, आदि के नाम लिये जाते हैं[2] । इसके सिवाय इनके एक पद से इनके जीवन-वृत्त पर कुछ और भी प्रकाश पड़ता है। पता चलता है, "राजपुर से चल कर इन्होंने एक बार 'नराइनी' नदी पार की और ये फिर 'केवानी' के 'छोटी सिंघ' के किसी बंगले में निवास करने लगे ।" उस बंगले का वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है जिससे वह 'प्रतीक'-सा-प्रतीत होने लगता है । इसीलिए हमें ऐसा लगता है कि वह कहीं काल्पनिक मात्र ही न हो ।[3]

---

१. डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री : संतमत का सरभंग-सम्प्रदाय (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५९ ई०), पृ० १४०-१ ।

२. 'भोजपुरी' आरा, सितंबर सन् १९५५ ई०, पृ० ५०-१ ।

३. 'राजपुर से चलली नराइनी उतरली हे सजनिया मोरी,
केवानी में छोटी सिंघ का बंगला में कइलो मुकाम ।
सत सुकृत के बंगला छववलो हे सजनिया मोरी,
सील संतोष के ठोकलो केवार ।

उनकी परंपरा और साहित्य

भिनकराम बाबा की परंपरा को 'निरबानी' की कोटि में रखा जाता आया है, क्योंकि इसके अनुयायी प्रायः विरक्त देखे जाते हैं। इसमें औरस पुत्रों का शिष्य-क्रम नहीं चला करता, प्रत्युत कठिन परीक्षा के अनंतर इसमें कोई भी ले लिये जा सकते हैं। सके अनुयायी अधिकतर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हैं और उनमें स्त्रियों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इनकी परंपरा की एक विशेषता इस बात में देखी जाती है कि इनकी वा इनके शिष्यों-प्रशिष्यों की प्रेरणा पाकर एकाध स्वतंत्र परंपराओं का प्रचार बढ़ा तथा इसके मूल सूत्रों को ग्रहण करके कतिपय इसी की शाखाओं ने अपना नवीन रूप धारण कर लिया। उदाहरण के लिए संभवत इसी के द्वारा अनुप्राणि त होकर 'साधु-परंपरा' चल निकली और लक्ष्मी सखी के 'सखी-सम्प्रदाय' की एक पृथक् उप-शाखा प्रचलित हुई। इसी प्रकार छतर बाबा की परंपरा का भी सूत्रपात हुआ जो बेलवंटिया और पंडितपुर आदि में हैं। लक्ष्मी वा लछिमी सखी भिनकराम बाबा के शिष्य निरपत राम के शिष्य कहे जाते हैं, यद्यपि यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने स्वयं अपने गुरु के रूप में उनके एक अन्य शिष्य ग्यानी बाबा (कथवलिया) को स्वीकार किया था। लछिमी सखी का जन्म सारन जिले के अमनौर नामक गाँव में सं० १८१८ में हुआ था और ये गाति के कायस्थ थे। ये अपनी छोटी अवस्था से ही साधु-सत्संग के प्रेमी थे। ऐसी ही धुन में ये एक बार कुछ औघड़ों की जमात में अपने यहाँ से चल निकले। फिर लौट-कर भी ये सदा साधना तथा भजन भाव में ही निरत रहते रहे। अंत में सं० १९७१ में इनका देहांत हो गया। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे और इन्होंने बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो आज-कल इनके नाम से (१) अमर सीढ़ी, (२) अमर विलास, (३) अमर फ़रास,

---

चारू कोना मानिक दियरा बरवलो हे सजनिया मोरी,
हीरालाल बरे दिन रात।
भूत दूत जादू टोना का परइले हे सजनिया मोरी,
जहाँ सतगुरु लिहले निवास।
सोने फूल फुले राम केउवानी नगरिआ हे सजनिया मोरी,
जोतिया बरेला हो अपार।
श्री भिनकराम प्रभु गाइले निरगुनिया हे सजनिया मोरी,
गगन मंडल में बरेला मसाल।'
—श्री गणेश चौबे, बँगरी निवासी के एक संग्रह से उद्धत।

(४) अमर कहानी, और (५)हटाका नामक पाँच संग्रहों में प्रकाशित पायी जाती हैं। इनमें कई शिष्यों में से सर्वाधिक प्रसिद्ध कामता सखी (जन्म सं० १९४२) है जो छपरा के 'सखीमठ" नामक इनके प्रधान केन्द्र में आज भी वर्त्तमान है। भिनकराम बाबा की रचनाएँ हमें अभी तक अच्छी संख्या में नहीं मिल सकी हैं। किंतु जो मिली हैं वे फुटकर भजनों वा पदों के ही रूप में पायी जाती हैं और वे उच्चकोटि की भी हैं। इनकी कुछ पंक्तियों के नमूने द्रष्टव्य हैं।[1] इनसे पता चलता है कि ये अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन कैसी भाषा में तथा किस प्रकार किया करते थे।

परंपरा की वंशावली

---

१. आली, प्रेम उमंगि जल बरसे।
गरजत गगन कंपु घर दर दर, कल न परत मोहे डर से।
बोलत कोकिल मोर चकित घन, अजब रूप छवि परसे।
कदम छांह ब्रज ग्वाल बाल संग, देखि भिनक जिय तरसे॥

सदानंद बाबा की परंपरा

सरभंग-सम्प्रदाय की एक तीसरी परंपरा जो इस संबंध में उल्लेखनीय है, सदानंद बाबा की है। सदानंद बाबा का पूर्व-नाम चित्रधर मिश्र था। ये 'चनाइनबान' नामक गाँव के निवासी थे जो चंपारन जिले के मिर्जापुर गाँव के निकट वर्तमान है। पाठशाला में पढ़ने के लिए जाते समय मार्ग में इन्होंने एक दिन किसी पेड़ के नीचे पत्ते में रखी रोटी, मिट्टी के बर्तन में पानी और एक पुस्तक देखी जिनमें से पुस्तक को पढ़ते ही इन्होंने जनेऊ उतार दिया, रोटी खा ली और पानी पीकर वहाँ से चल पड़े। कहते हैं कि ये तब से एक उच्चकोटि के सिद्ध हो गए और प्रतिदिन अपनी अंतड़ी मुँह से निकाल कर उसे धो-धाकर स्वच्छ बनाने लगे। ये किसी का बनाया भोजन नहीं करते थे, स्वयंपाकी थे और एक अच्छे कवि भी थे। इनकी बहुत-सी रचनाओं का किसी अग्निकांड में भस्म हो जाना बतलाया जाता है। इस कारण इनके द्वारा निर्मित पदों का मिलना कठिन है। इनकी एक पुस्तक 'योगांग-मुक्तावती' का 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्', पटना में सुरक्षित रहना कहा गया है। यह भी बतलाया जाता है कि ये सं० १८८५ में वर्तमान थे[1]। कहते हैं कि इनकी सिद्धि द्वारा प्रभावित हो कर इनके समसामयिक बादशाह ने इन्हें कुछ वृत्ति भी दी थी जिसके दो 'परवाने'

१. दे० चंपारण की साहित्य-साधना, सुगौली, सं० २०१३, पृ० ३६।

पटने में आज भी सुरक्षित हैं। इन्होंने अंत में जीवित-समाधि ली थी जिसका स्थान 'चनाइनबान' में आज भी दिखलाया जाता है। उसके निकट ही इनकी दो बहनों की समाधियाँ भी बनी हुई हैं जिन्हें इनका शिष्या रहना प्रसिद्ध है। इनकी समाधि पर एक सुंदर मंदिर भी बना दिया गया है। सदानंद बाबा के शिष्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध परंपत बाबा हुए जो मँगुराहा के रहने वाले थे। कहते हैं कि इनके बड़े भाई ज्ञानपत मिश्र अपना परिवार छोड़कर औघड़ फ़कीर हो गए थे जिससे इनके यहाँ साधु-वृत्ति के प्रति निष्ठा रहने का पता चलता है। इनके जीवन-वृत्त का भी कोई विवरण उपलब्ध नहीं, न इनके द्वारा रचित पुस्तकें ही अभी तक प्रकाशित हो सकी हैं। सदानंद बाबा की ही परंपरा से संबद्ध बालखंडी बाबा की भी परंपरा कही जाती है। जिसके कई मठ पाये गए जाते हैं। बालखंडी बाबा की उक्त परंपरा में 'घरबारी' लोगों का भी समावेश रहा करता है और मठों में रहनेवाली 'माई राम' उनका प्रबंध किया करती है। बालखंडी बाबा की बहुत-सी रचनाएँ फुटकर रूपों में संगृहीत मिलती हैं और वे अच्छी भोजपुरी में हैं।

परंपरा की वंशावली
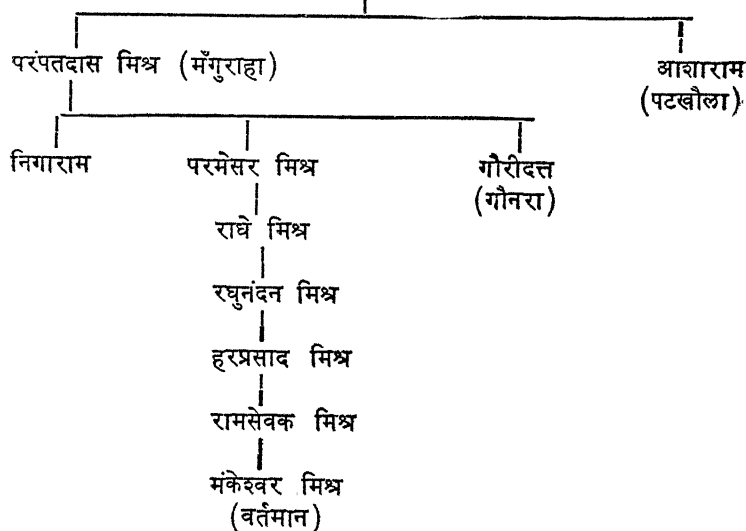
अन्य परंपराएँ

इसी प्रकार सरभंग-सम्प्रदाय की विशिष्ट परपराओं में हरलाल बाबा तथा करताराम बाबा की दो अन्य परंपराओं के भी नाम लिये जाते हैं। हरलाल बाबा का जन्म हरिहरपुर (गोपालगंज) नामक ग्राम में सभवत: सं० १८०१ में हुआ था। इन्हें अधिक शिक्षा नहीं मिली थी, किंतु इन्होंने स्वाध्याय के बल पर ही अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। कहते हैं कि सं० १८३६ में इन्होंने चिंतामनपुर मठ के सूरतराम का शिष्यत्व ग्रहण किया। सं० १८५० में गंडकी नदी के तट पर बड़हरवा ग्राम में अपना एक मठ भी स्थापित कर दिया। इनकी समाधि का सं० १८९६ में किसी समय होना बतलाया जाता है। इनके शिष्य बालखंडी का जन्म सं० १८४३ में महाराजगंज, पिपरा (गोविंदगंज) के किसी संपन्न वैश्य-कुल में हुआ था और उनका पूर्व-नाम कदाचित् रामप्रेम साह था। ये भी अधिक शिक्षित नहीं थे। इनके 'बालखडी' नाम के सबध मे कहा जाता है कि इसे इनके गुरु ने इनका बाल-विवाह हो जाने के कारण दे दिया था। इन दोनों गुरु-शिष्यों की अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ फुटकर बानियाँ भी पायी जाती हैं। सरभग-सम्प्रदाय की एक अन्य ऐसी परंपरा के संस्थापक करताराम बतलाये जाते हैं। इनके लिए कहा गया है कि इनका जन्म वर्तमान बलिया जिला (उत्तरप्रदेश) के किसी "ददरी' नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम बीरसिंह था जिनका देहांत इनकी शैशवावस्था में ही हो गया। इनका पालन-पोषण इनकी माता फुलेश्वरी ने किया और दुर्भिक्ष पड़ने के कारण इन्हें अपने सगे भाई धवलराम के साथ अपने स्थान को छोड़ कर मुजफ्फरपुर जिले के काँटी नामक गाँव में आना पड़ा और ये तीनों वहीं पर बस गए। करताराम फिर वहाँ से गंडकी नदी के किनारे वर्तमान ढेकहाँ (सत्तरघाट) चले गये और वहाँ पर कोई झोंपड़ी बना कर निवास करने लगे। इनका जीविकोपार्जन मूँज को बट कर रस्सी बनाने तथा उसे वहाँ के हाटों में बेचने के आधार पर चलता था। ये निरंतर 'राम-राम' की धुन में मस्त रहा करते थे। ये किसी दूसरे का अन्न ग्रहण करना पाप समझते थे और कभी-कभी बानियों की रचना भी किया करते थे।[1] इनकी तथा इनके अनुज धवलराम और इनकी परंपरा के भुवालराम, सनेहीराम-जैसे लोगों की कुछ सुंदर बानियाँ अभी तक सुरक्षित हैं। इनके पदों के किसी एक संग्रह का कुछ वर्ष पहले छप कर प्रकाशित होना भी कहा जाता है। किंतु वह इस समय उपलब्ध

---

१. श्री रमेशचंद्र झा : चंपारन की साहित्य-साधना, सुगौली, चंपारन सं० २०१३, पृ० ३८।

नहीं है। इन दो परंपराओं के अतिरिक्त सरभंग-सम्प्रदाय की अन्य अनेक परंपराएँ भी हो सकती हैं और उनकी कई शाखाओं का होना भी संभव है। परन्तु उनका हमें इतना संक्षिप्त परिचय भी इस समय नहीं मिलता, न इन सभी की रचनाएँ मिल पा रही हैं। इसके सिवाय ऐसी परंपराओं की जो वंशावलियाँ अभी तक उपलब्ध हैं उनका सर्वथा प्रामाणिक होना संदेह से परे नहीं कहा जा सकता। वास्तव में सरभंग-सम्प्रदाय के विषय में आज तक जो कुछ भी कार्य हो सका है उसे अधूरा ही ठहराया जा सकता है।

साहित्य और मत

सरभंग-सम्प्रदाय का पूरा साहित्य अभी तक उपलब्ध नहीं है, न जो आज तक मिल सका है वह कुल प्रकाशित ही हो पाया है। इसके सिवाय उसका एक बहुत बड़ा अंश अभी तक इसके अनुयायियों में मौखिक रूप से मिल सकता है। इसलिए इसके सिद्धांत तथा साधना आदि के विषय में किया गया कथन अधूरा भी कहला सकता है। फिर भी जो कुछ सामग्री अभी मिल पाती है उसके आधार पर इसके मत की एक रूपरेखा अवश्य प्रस्तुत की जा सकती है। जहाँ तक पता है, आज तक भिनकराम, भीखमराम, टेकमनराम, डीहूराम, प्राणपुरुख, रामटहल, ईरनराम, मनसाराम, छतरराम, लछिमीसखी, कामतासखी, सीतलराम, तालेराम, योगेश्वर, दरसनदास, रामसरूप, सनाथराम, सबलराम, प्रीतमराम, रामनेवाज, भगतीदास, रघुवीरदास, सूरतराम, मिसिरीदास, हरलाल, केसोदास, बालखंडी आदि कई सरभंगियों की कुछ-न-कुछ रचनाएँ मिली हैं। ये अधिकतर फुटकर पदों के रूप में हैं और उनमें से बहुत-सी 'भजन रत्नमाला'-जैसे एकाध संग्रहों में एकत्र की जा चुकी हैं। परन्तु योगेश्वराचार्य आदि की कतिपय रचनाएँ ऐसी हैं जिनके 'स्वरूपप्रकाश'-जैसे संग्रह पृथक् रूप में भी किये जा चुके हैं, यद्यपि ऐसे ग्रंथों की संख्या अभी तक बहुत कम है। इनके संबंध में इनके प्रकाशित होने पर ही विचार किया जा सकता है। इस प्रकार अद्यावधि प्रकाशित अथवा हस्तलिखित रूप में प्राप्त साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सरभंग-सम्प्रदाय की विचार-धारा बहुत कुछ संत कबीर साहब के मत का अनुगमन करती है। भिनकराम बाबा ने तो अपने एक पद में स्पष्ट कहा है, "सुषुम्ना के झील में कमल पुष्पित है जहाँ पर परमात्मा (रामरघुवीर) का निवास है। सद्गुरु कबीर साहब 'जिंद' की दया से, हम भिनकराम स्वामी ने भी वहाँ पर ज्ञान का एक 'जंजीरा' प्राप्त कर लिया[1]"। इसी प्रकार

१. सुखमन दह में कमल फुलइले तहां बसे राम रघुबीरा।
साहेब कबीर दया जिंद सतगुरु,
सिरी भिनकराम स्वामी पावेले ग्यान के जंजीरा॥—अप्रकाशित संग्रह से।

लछिमी सखी ने भी कबीर साहब का नाम कहीं 'खसम क़बीर', कहीं 'हंस कबीर' और कहीं पर 'सतगुरु साहेब' कबीर के रूपों में बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है।[1] इसके सिवाय इस सम्प्रदाय वालों की कुछ पंक्तियों द्वारा यह भी हमें पता चलता है कि इसे हम 'अघोर-मत' से अभिन्न भी कह सकते हैं। उदाहरण के लिए भीखम राम बाबा के शिष्य प्राणपुरुष राम के एक भजन से जान पड़ता है कि उन्होंने इस मत की व्यापकता का वर्णन करते हुए इसे अत्यंत उत्कृष्ट पद प्रदान किया है और इसे 'वैराग' (संभवतः साधारण वैरागियों के मत) से भिन्न कहा है।[2] इसी प्रकार उनके गुरु-भाई प्रसिद्ध टेकमनराम के भी एक भजन के नीचे आये हुए दोहे में कहा गया है, "नाम की महिमा वही जानता है जो "अघोर-जोग' की साधना करता है और जो इस प्रकार जीते जी 'फल' (संभवतः परमश्रेय, मोक्ष) प्राप्त कर लेता है[3]। इन्हीं टेकमनराम ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि किस प्रकार इन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती करताराम, मंगरूराम, धवलराम, सनेहीराम, भुआलराम तथा मनसाराम नामक 'निरवानी' संतों के मत को समझ कर तदनुसार 'झखरा' में अपनी परंपरा स्थापित की[4]। अतएव ऐसे कथनों के आधार पर यह मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा कि न केवल अघोर-मत तथा सरभंग-मत में, प्रत्युत कबीर साहब के अनंतर प्रचलित संत-मत तथा सरभंग-मत में भी कोई मौलिक अंतर नहीं है

सिद्धान्त तथा साधना

भिनकराम बाबा ने परमतत्त्व को 'अलख' कहा है। उसे अपने प्रियतम

---

१. 'मिलि गइले खसम कबीर', 'अमर सीढ़ी' झूलना, पद १८ पृ० ६ 'मानस ताल बिचे हंस कबीरा' वही, पद ८२, पृ० २५ और 'सतगुरु साहेब कबीर 'हटाका' २४, पृ० १०।

२. "धरती अकास, जल पवन अगिनिया, पांचो अघोर बनि आई।
चांद सुरुज दूनो अघोर के बालक, कह वैराग कहांवा भाई ॥टेक॥
अघोर मतीके बने पिंजरा जामें प्राणपुरुष के दिना बैठाई॥ कह०॥
तीन लोक अघोर के बालक, तहां चमइनिया तेल लगाई ॥कह०॥
भीखमराम प्रभु दया सतगुरु के, प्राण पुरुष काहें बिलखाई ॥कह०॥
अघोर मत सती कोई पावे, कह बैराग कहांवा भाई ॥२८॥"
—भजन रत्नमाला, पृ० १६।

३. 'नामके महिमा जानै, साधो जोग अघोर।
काया अछत फल पावहीं, सत बचन सुनु मोर"—वही, भजन ४८, पृ० २४।

४. वही, भजन ६२, पृ० २६-३०।

का रूप देकर भी उससे मिलना 'कठिन' ठहराया है। टेकमनराम, प्राणपुरुष राम तथा अन्य कई सरभंगी संतों ने उसे 'निर्गुण' और 'निरंकार' की जैसी संज्ञा भी दी है। बाबा भीखमराम ने उसकी नित्य स्थिति को 'अमरपुर' का नाम देकर वहाँ तक हमारे लिए पहुँचने का आग्रह किया है। लछिमी सखी ने तो बार-बार हमें उद्बोधित किया है कि हम शीघ्र-से-शीघ्र वहाँ जाकर अपने उस प्रियतम के गले लग जायँ। इनके द्वारा किया गया 'अमरपुर' का वर्णन और वहाँ के परम सुखद वातावरण में पड़े हुए झूले पर अपनी अन्य 'सखियों' के साथ प्रियतम से तादात्म्य भाव में झूलने का जो चित्रण उन्होंने अपनी अनेक पंक्तियों में किया है वह अत्यंत सजीव और मनोहर है[1]। उन्होंने जिज्ञासा, उत्सुकता, आतुरता और एकांतनिष्ठा के भाव एक ही साथ जागृत करने के लिए बड़े सुंदर प्रतीकों का भी सहारा लिया है। परन्तु इन संतों के यहाँ इस प्रकार के वर्णनों के होते हुए भी सगुण ब्रह्म की अपेक्षा निर्गुण की ही अधिक प्रतिष्ठा है। क्योंकि जैसा योगेश्वराचार्य ने कहा है "निर्गुणवादी संत निर्गुण तथा सगुण इन दोनों के प्रति आस्था प्रकट करते हुए भी अपने ध्यान का लक्ष्य वस्तुत: निर्गुण को ही बनाते हैं[2]"। इसके सिवाय इन लोगों की यह भी स्पष्ट धारणा है कि उसे प्राप्त करने के लिए हमें कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। उसका 'शून्यलोक' हमारे घट के ही भीतर है जहाँ से निरंतर 'सहजधुनि' उपजा करती है और जिसके लिए समाधि में लीन होना आवश्यक है। यहीं पर 'शून्यशिखर' से उस अमृत का स्राव हुआ करता है जिसे साधक 'हंस' बन कर पान करता हुआ तृप्त होता है[3]। वहाँ पर हमें किसी ऐसी अपूर्व सुंदरता का अनुभव हुआ करता है जिसमें करोड़ों कामदेवों की शोभा निहित है[4]। संत साधक वहाँ पर अपने सद्गुरु की सहायता से पहुँचता है और उसका आनंद लेता हुआ अपने को कृतकृत्य मानता है। अतएव इसके लिए न तो कहीं तीर्थ-व्रत करने की आवश्यकता है, न उन विविध षटरागों के ही फेर में पड़ना है जिनकी

---

१. झूलना बारामासा, अमर सीढ़ी, भजन १, ६, १८, ५१, ७१ आदि।

२. "गाइ निर्गुण सगुण मिलते,
ध्यान निर्गुण में रहा"—स्वरूप प्रकाश, पृ०४।

—रामटहल राम, भजन रत्नमाला, ३०, पृ० २०।

४. "कोटि काम तहंवा छवि छाई, महिमा अगम निगम जो गाई।
काया नगर सोधे जो भवना, जाते मन पंछी हो पवना।"
—रामसरूपदास, वही, पृ० ३।

ओर सर्वसाधारण ध्यान दिया करते हैं। सरभंगी संतों को इसीलिए किसी प्रकार के बाहरी शिष्टाचारों से भी कोई काम नहीं रहा करता, न जाति-पाँति छुआ-छूत के जैसे सामाजिक नियमों का ही पालन करना पड़ता है जिसे साधारणतः अपना परम कर्त्तव्य समझा जाता है।

साधारण-व्यवहार

इस प्रकार की अनुभूति का परिणाम स्वभावतः अपने भीतर आनंदातिरेक रहने के कारण वाह्य आचरण में भी प्रकट हो सकता है। तदनुसार भिनकराम-जैसे लोग इस प्रकार गा उठते हैं, "अरी सखी, मुझे तो 'हरि' की मदिरा ने प्रभावित कर दिया। यह तन की भट्ठी में मन के महुआ से बनी और ब्रह्माग्नि की आग पर तैयार की गई। इसके लिए मैंने सभी का त्याग कर दिया और संतों से मिल कर इसकी दूकान कर ली। ज्योंही इसका प्रेम-प्याला अपने होठों से लगाता हूँ सारे भ्रम आप-से-आप दूर हो जाते हैं[1]"। इस कारण इस प्रकार के अनुभवों में डूबे मस्त व्यक्तियों के विषय में बहुत-से लोग अनेक प्रकार की चर्चा भी किया करते हैं। इनके 'औघड़ों' की भाँति कभी-कभी आचरण करने लगने तथा अपनी धुन में ही मस्त रहा करने के कारण इनकी प्रायः निंदा भी कर दी जाती है। इनमें जो 'निरबानी' वा त्यागी हुआ करते हैं वे साधारणतः अपने पास केवल मिट्टी का 'करवा' और छोटा-सा 'कराहा' लिये रहते हैं। इनके द्वारा वे पानी पीते और भोजन करते हैं और या तो गेरुवा, एकरंगा वा खाकी वस्त्र धारण करते हैं। एक साधारण-सी लंगोटी और ढीला-ढाला कुर्ता पहना करते हैं और प्रायः कोई एकतारा वा खंजरी लेकर उसे बजाया भी करते हैं। भक्ष्याभक्ष्य से इन्हें कोई घृणा नहीं रहा करती, किंतु यह आवश्यक नहीं कि ये उसका सेवन करना अपना कर्त्तव्य समझते हों। ये सदाचार का पालन करना उचित मानते हैं, उदार विचारों के हुआ करते हैं और एक दूसरे को 'राम', 'राम' वा 'बंदगी' करके उसके प्रति सद्भावना प्रकट करते हैं। सरभंगों के यहाँ अपने गुरुओं की समाधि-पूजा करने का विधान है और ये इसके लिए उनकी प्रिय वस्तुएँ समर्पित किया करते हैं इनके मत को 'अघोर-

---

१. "हरि मदिआ मोरे लागल सजनी।
मन कर महुआ तन कर भट्ठी, ब्रह्म अगिनि में बारले, सजनी॥
सब संतन मिलि छानले दोकनिया, मात पिता कुल त्यागल, सजनी॥
प्रेम पियाला जब मुख आवे, पियत पियत भ्रम भागल, सजनी॥
सूतल सिरी भिनकी राम स्वामी, जागि प्रीतम संग लागल सजनी",
—एक हस्तलिखित संग्रह से।

मत' से अभिन्न मान लेने के कारण प्रायः इन्हें लोग साधारण अघोरियों की कोटि में रखने लगते हैं। परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इनके आचरण में उनकी जैसी आ गई अनेक बातें केवल प्रासंगिक रूप में ही दीख पड़ती हैं। इनके तथा किनारामी लोगों के भी 'घरबारी' समाज में हमें साधारण वैष्णवों का जैसा धार्मिक जीवन ही मिला करता है जो किसी प्रकार हेय नहीं है।

१०. रविभाण-सम्प्रदाय

प्रारंभिक परिचय

'रविभाण' शब्द के दोनों अंश 'रवि' तथा 'भाण' क्रमशः रविराम साहेब और भाण साहेब के नामों की ओर संकेत करते हैं। इनमें से प्रथम द्वितीय के शिष्य थे और इन दोनों महापुरुषों ने अपने उपदेश गुजरात और सौराष्ट्र प्रदेशों में दिये थे। रविराम साहेब की एक रचना 'बारामासी' के अंतर्गत इस प्रकार का उल्लेख मिलता है, "उत्तराखंड की ओर से सर्वप्रथम नीलकंठ दास नामक एक निर्गुणी महात्मा 'उतरे थे' जो गगन की धुनी में आसन लगाते थे, निर्मल नाम के उपासक थे तथा जो निरंतर 'उन्मुनी' की दशा में आनंदित रहा करते थे। उन्होंने रघुनाथदास को अपना शिष्य बनाया जो 'एकादश फंदों के निवारण में' पटु सिद्ध हुए। इन रघुनाथदास जी के शिष्य फिर जादव दास हुए जो एक प्रसिद्ध महायोगी थे, ब्रह्मरंध्र में लीन रहा करते थे और विशुद्ध रामभक्त भी थे। फिर जादवदास के शिष्य षष्टमदास हुए जो सदा हरि के विरह में मग्न रहते थे और एकनिष्ठ भजनानंदी थे। इसी प्रकार अंत में इनके शिष्य भाण साहेब हुए जो पूर्ण ब्रह्म रूप थे तथा साक्षात् शिवस्वरूप थे। ये वाराही शहर के थे और इन्होंने लोहर वंश में जगत् के कल्याणार्थ अवतार धारण किया था। ये पूर्णतः मायारहित इन्द्रियजीत बने रह कर सत्तनाम की उपासना करते थे। इन्होंने सं० १८०६ में दक्षिण देश की ओर पधार कर इस दास को दर्शन दिये और माघ मास की शुक्ल एकादशी के दिन जब इनके प्रभाव में आकर मेरे भीतर ब्रह्मप्रकाश हो उठा। मैं लवण रविदास उनके समुद्र में गल कर एकरूप बन गया।"[1] इसके सिवाय इनके शिष्य मोरार साहेब के शिष्य दलुराम जी द्वारा लिखित 'परंपरा' के अंतर्गत इतना और भी पता चलता है कि इस सम्प्रदाय का संबंध वस्तुतः प्रसिद्ध रामानुजाचार्य तथा उनके भी पहले मूलतः स्वयं भगवान् नारायण के साथ जुड़ा हुआ है। वहाँ पर कहा गया है कि रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में आनेवाले स्वामी रामानंद के शिष्य कबीर हुए जिनके पीछे कई शिष्य-प्रशिष्यों के अनंतर कोई धीरदास हुए जिनसे

---

१. रविभाण सम्प्रदाय नी वाणी, मंछराम मोती, पूना, सं० १९८६, पृ० १९४।

उक्त नीलकंठ दास ने दीक्षा ग्रहण की थी। इसी प्रकार, फिर इनके भी शिष्यों-प्रशिष्यों की परंपरा में क्रमशः भाण साहेब रविराम साहेब और मोरार साहेब होते चले आये।[१] परन्तु इस प्रकार का संबंध किसी अन्य प्रमाण द्वारा भी समर्थित होता नहीं पाया जाता, न अभी तक हमें इस सम्प्रदाय का कोई इतिहास ही मिला है। एक लेखक ने तो इस विषय में यह कहा है कि नीलकंठदास को वस्तुतः कबीर के शिष्य पद्मनाम ने दीक्षित किया था तथा उन दोनों से आज्ञा लेकर ही वे पश्चिम की ओर भ्रमण करते हुए निकले थे। उन्होंने गुजरात देश के धारा नामक ग्राम में रघुनाथ को दीक्षित किया था।[२]

भाण साहेब

रविराम साहेब ने भाण साहेब को जहाँ वाराही शहर का माना है, वहाँ पर उन्होंने इन्हें 'वाराही शहेर मध निपज्या' भी कहा है। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र इस प्रकार भी कहा है, 'वाराही शहेर लोहर वंश, प्रगटे भाण टालण फंस' अर्थात् वाराही शहर के लोहर-वंशी परिवार में इनका जन्म बंधन का निराकरण करने के उद्देश्य से हुआ था जिससे वाराही इनका जन्म-स्थान भी जान पड़ता है। परन्तु 'रविभाण-सम्प्रदाय की वाणी' (भाग बीजो) में दिये गए 'टुक वृत्तांत' से पता चलता है,[३] "भाण साहेब के पिता का नाम ठक्कर कल्याण था जो 'कीन खीलोड' नामक गाँव में सकुटुंब रहा करते थे। इनकी माता का नाम अंबाबाई था जिनके उदर से पहले चार पुत्रियाँ उत्पन्न हुई और तत्पश्चात् एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'काना' रखा गया। भाण साहेब का जन्म इसके अनंतर मिती माघ सुदी १५ संवत् १७५४ मंगलवार को हुआ। कीनखीलोड में अनबन हो जाने के कारण, फिर ठक्कर कल्याण उसे छोड़ कर सकुटुंब वाराही चले गये। वाराही में रहते समय भाण साहेब के माता-पिता का देहांत हो गया। इन्होंने संवत् १७८० की आश्विन सुदी पंचमी मंगलवार को यहीं के किसी ठक्कर मेघा की कन्या भानबाई का पाणि-ग्रहण कर लिया जिससे इन्हें खीमदास नाम के दो पुत्र हुए। इनमें से एक पाँच वर्ष का होकर मर गया। ये अपने बड़े भाई कानदास के भी शेरखी गाँव में रहते समय मर जाने पर वाराही में खीमदास को छोड़ कर उनके स्थान पर आ गए। अंत में भाण साहेब यहाँ से पत्र भेज कर रविराम साहब को बुला लिया और वे स्वयं संवत् १८११ में कमींजड़ा जाकर जीवित समाधिस्थ हो गए।"[३] भाण साहेब के दो प्रमुख शिष्य

---

१. रविभाण सम्प्रदाय नी वाणी, पृ० २८५-८।

२. सद्गुरु श्री कबीर चरितम् पृ० ४२७-८।

३. रविभाण सम्प्रदाय वाणी (भाग बीजो)—मंछाराम मोती, पूना सं० १९९२, पृ० ५-६।

१. खीमदास (इनके पुत्र) तथा २. रविराम साहेब हुए। इन दोनों ने मिल कर उनके समाधि-स्थल पर एक देवालय का निर्माण कराया। इसके अनंतर वहाँ पर फिर अन्य मंदिर भी निर्मित हुए। भाण साहेब के संबंध में चर्चा करते समय श्री अनंतराय रावल ने भी लिखा है कि ये 'कनखिलोड' के लोहाण थे। इन्होंने माया का त्याग करके अपने 'भाण-फौज' के ४० शिष्यों सहित गुजरात-सौराष्ट्र में भ्रमण करते हुए उपदेश दिये थे।[1] कहते हैं कि इस भ्रमण काल में इन्हें अनेक प्रकार के कष्टों का भी सामना करना पड़ा था। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं की संख्या अधिक नही जान पड़ती। हमें इस समय इनकी 'वाणी' के अंतर्गत केवल १४ पद, ३ साखियाँ तथा एक 'शंकर हस्तामलसंवाद' उपलब्ध होते हैं। 'भाण-फौज' नामकी एक रचना को भी इन्ही के नाम संगृहीत किया गया मिलता है। किंतु यह वास्तव में किसी कृष्णदास की प्रतीत होती है।

भाण साहेब के शिष्यों-प्रशिष्यों का व्यक्तिगत परिचय वस्तुत: हमें उतना भी उपलब्ध नहीं जितना स्वयं उनके विषय में ऊपर कहा गया है। किंतु इनमें से कुछ की रचनाएँ उनसे कहीं अधिक संख्या में पायी जाती हैं। रविराम साहेब के संबंध में केवल इतना पता चलता है कि इनका जन्म संवत् १७८३ की माघ सुदी पूर्णिमा गुरुवार को गुर्जर देश के अंतर्गत उसके कान्हम नामक प्रदेश के आमोद गाँव में हुआ था। ये पहले एक निपुण व्यापारी मात्र थे। संवत् १८०९ की माघ सुदी ११ को 'बंधार पाड़ा' गाँव में इन्होने भाण साहेब से दीक्षा ग्रहण की थी। संवत् १८६० में किसी समय शेरखी से थंभालिया की ओर यात्रा करते समय इन्होंने बीच ही बीकानेर में शरीर त्याग किया। रविराम साहेब का नाम 'रवि साहेब' तथा 'रविदास के रूपों में भी प्रसिद्ध है। इनकी उपलब्ध रचनाओं की संख्या भी बहुत बड़ी है। इनका सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रंथ इनके दोहों का संग्रह अथवा 'साखी-संग्रह' है जो ७७ विविध अंगों में विभाजित है। इनके पढ़ने पर पता चलता है कि उनका विषय कुछ दृष्टियों से कई अन्य संतों की रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक होगा। इनके अन्य बड़े ग्रंथों में इनके 'मन-संयम' का नाम ले सकते हैं जिसमें गयंद तथा सर्वानंद के संवाद के व्याज से अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। उसे कदाचित् इसी कारण बार-बार 'ब्रह्मप्रकाश की टीका' कहा गया भी मिलता है। इनकी अन्य रचनाओं में

---

१. श्री अनंतराय रावल : गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) मेकमिलन कंपनी लिमिटेड, मुंबई, सन् १९५४ ई०, पृ० २११।

'चिंतामणि' नामक तीन वाणियाँ, दो 'बारामासियाँ', 'गुरु महिमा', 'सिद्धांत कक्को' तथा वे कुछ पत्र भी उल्लेखनीय हैं जिन्हें इन्होंने प्रीतमदास, नरभेराम, गोविंददास तथा नागर भगत के नाम लिखे हैं। इनके प्रमुख शिष्यों में से मोरार साहेब तथा लाल साहेब विशेष उल्लेख के योग्य हैं और इनकी बहुत-सी रचनाएँ भी हमें मिलती हैं। मोरार साहेब मारवाड़ प्रदेश के 'थरादना' स्थान के राजपूत थे। उन्होंने रवि साहेब की वाणी द्वारा प्रभावित हो जामनगर में आकर उनसे दीक्षा ली। इसके अनंतर उन्होंने थंभालिया की गद्दी पर बने रह कर संवत् १६०५ में जीवित समाधि ले ली। इनकी रचनाओं में भी रवि साहेब की भाँति, 'गुरु महिमा' 'चिंतामणि' तथा 'बारामासी' अधिक लोकप्रिय हैं और इन तीनों में से तीसरी दोनों से बड़ी है। मोरार साहेब के शिष्यों में चरणस्वामी वा चरणदास (मृ० सं० १६३६) बालाजी (मृ० सं० १६४२), होथी साहब (मुसलमान) दलुजी साहेब तथा जीवा भगत के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सभी की कुछ-न-कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। रविराम साहेब के दूसरे प्रमुख शिष्य लाल साहेब के विषय में कुछ पता नहीं चलता, किंतु इनकी कतिपय बानियाँ अवश्य मिलती हैं। इसी प्रकार भाण साहेब के पुत्र तथा द्वितीय प्रमुख शिष्य खीमदास के विषय में भी हमें यथेष्ट ज्ञान नहीं है। केवल इतना प्रसिद्ध है कि वाराही में रहते समय इनके दो पुत्र गंगाराम तथा मलुकदास उत्पन्न हुए, फिर वाराही से ये शेरखी चले गये। वहाँ से संवत् १८३७ में बागड़देश के 'रापर' नामक गाँव में जाकर इन्होंने अपनी गद्दी चलायी। वहाँ पर कुछ दिनों तक रहते हुए इन्होंने अंत में संवत् १८५७ में किसी समय जीवित समाधि भी ले ली। इन्हें कभी-कभी प्रसिद्ध दरियापीर का अवतार समझा जाता है। परन्तु इनकी रचनाएँ अधिक संख्या में नहीं मिलतीं। जो मिलती हैं वे भी या तो मात्र कुछ पदों के रूप में हैं अथवा प्रश्नोत्तरी शैली में रची गई समझी जाती हैं। इनके एक शिष्य त्रिकम साहेब (मृ० सं० १६५८) ने पीछे मोरार साहेब से भी दीक्षा ली थी। ये 'गरोड़ा' नामक अस्पृश्य जाति के थे। इन्होंने रापर में जाकर खीमसाहब से दीक्षा लेने के अनंतर अपनी गद्दी 'चित्रोड़' में स्थापित कर ली थी। इनके ११ पद और कुछ साखियाँ उपलब्ध हैं। श्री रावल के अनुसार त्रिकम साहेब के शिष्य भीम साहेब के शिष्य कोई जीवशदास हुए थे जो मध्य सौराष्ट्र देश के थे। ये जाति के चमार थे और सखीभाव के उपासक थे। इसीलिए इन्होंने अपना एक उपनाम 'दासी जीवण' रख लिया था। इनकी रचनाएँ सौराष्ट्र की ओर अधिक प्रचलित हैं और अपने मधुरोपासनापरक भाव की सुंदर अभिव्यक्ति के कारण ये कभी-कभी उधर प्रसिद्ध मीराँबाई

तक की कोटि में गिने जाते हैं।[1] दासी जीवण के शिष्य प्रेम साहब हुए जिनके बिसराम साहब हुए और फिर उनके भी शिष्य नथुराम हुए। परन्तु ऐसे किसी जीवणदास की कोई रचना हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है। खीम साहेब के पुत्र तथा शिष्य गंगाराम (मृ० सं० १६३१) की कतिपय रचनाएँ हमें उपलब्ध हैं। इसी प्रकार मोरार साहेब के शिष्य बालाजी तथा उनके भी शिष्य छोटालाल की भी मिलती है जिन्होंने अपने को एक स्थल पर 'छोटा दरजी' के रूप में भी प्रकट किया है। बालाजी का जीवन-काल इन्होंने ८२ वर्ष का दिया है। रविभाण-सम्प्रदाय के इन संतों की अधिकांश बानियाँ हिंदी में ही उपलब्ध हैं, किंतु उसमे सोरठी, गुजराती तथा राजस्थानी के पश्चिमी रूप का न्यूनाधिक सम्मिश्रण भी पाया जाता है। उसे विशुद्ध हिंदी ठहराना उतना उचित नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय इसके कई संतों की अपनी रचनाएँ गुजराती अथवा सोरठी में भी मिलती हैं और इन सभी की लिपि गुजराती की है।

सम्प्रदाय का मत

रविभाण-सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख अग्रणी भाणसाहेब ने नामा भगत तथा कबीर नाम भगवान् के प्रिय भक्तों में लिये हैं। किंतु रविसाहेब ने न केवल कबीर को कलियुग में संत-रूप धारण करके अवतरित होने वाला स्वयं 'रमताराम' बतलाया है, अपितु इन्होंने इतना और भी कहा है।[2] इन्होंने इसी बात को इस रूप में भी प्रकट किया है, "मैं जब कभी एकांत चितन करने लगता हूँ तो अपने हृदय में सदा रामानंद तथा कबीर—जैसे संतों से परामर्श कर लेता हूँ।"[3] इन्होंने कहीं-कहीं अपने गुरु भाण साहेब का भी कबीर का समकक्ष होना स्वीकार किया है। दोनों को "सद्‌गुरु' का पद प्रदान करते हुए उन्हें न केवल 'एक रूप', प्रत्युत 'अलेख' तक कह

---

१. सोरठी संतवाणी : संपादक झबेरचंद मेघाणी, अहमदाबाद, १६४७ ई०, पृ० ४८।

२. रवीदास सो राहो ढुंढले, जीस राहा गये कबीर।
—रविभाण सम्प्रदायनी वाणी, भाग बीजो, साखी २३, पृ० २३४।
रवीदास उहां पहोंचीया, ज्यां रामानंद कबीर।
—वही, सा० ११, पृ० २४६।
बुझत रवी कबीर के, बुझत कोउक संत।
रामनंद पे बुझीया, जबही मिल्या एकंत' ॥३॥
—वही, पृ० २५४।

३. 'रवीभाण कबीर जी, एक रूप अलेख', वही पृ० २५३।

डाला है। इस बात को मोरार साहेब,[१] गंगाराम,[२] लालदास[३] आदि भी दोहराते हैं। अतएव इसके आधार पर यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि कबीर का ही मत इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को भी मान्य है। तदनुसार भाणसाहेब ने परमतत्त्व को सर्वत्र व्यापक होकर भी परोक्ष बना रहनेवाला बतलाया है।[४] इसी प्रकार संत रविदास साहेब ने उसे[५] 'बाहेर भीतर भीतर बाहेर' सब कहीं 'वर्तमान रहनेवाले 'रमता राम' की संज्ञा दी है।[६] इनका कहना है कि 'राम ही राम' एक तत्त्व है जो तरु-स्वरूप है और अन्य कुछ उसके फूल तथा फल रूप हैं।[७] किंतु एक अखंड तथा अद्वैत रूप भी है और अकथनीय है।[८] अन्यत्र ये इस प्रकार का भी कथन करते है, "मैं उसे, निर्गुण तथा सगुण दोनों ही रूपों में अपने हृदय के भीतर धारण करता हूँ। सद्गुरु के शब्दानुसार उसका स्मरण किया करता हूँ तथा उसे 'राम' का नाम देता हूँ।"[९] इनके सद्गुरु भाण स्वयं 'आदि निरंजनदेव हैं।'[१०] 'गुरु तथा गोविंद को ये भिन्न नहीं मानते।[११] परन्तु इसके साथ ही, ये इस राम को कहीं कहीं महाराज दशरथ के पुत्र राम से अभिन्न ठहराते हुए भी दीख पड़ते हैं।[१२]

इससे स्पष्ट है कि इनकी इस प्रकार की उक्ति कबीर साहब के मत से विपरीत जाती हुई भी जान पड़ती है। इन्होंने इसी प्रकार अपने कई पदों द्वारा श्रीकृष्णावतार की विविध लीलाओं का भी वर्णन किया है जिससे इनका अवतारवाद के प्रति अनुकूल भाव प्रकट होता है। फिर भी, जहाँ तक इस सम्प्रदाय में

---

१. वाणी पृ० २३१। २. वही, पृ० ३६३। ३. वही' पृ० ३६५।
४. वही, पृ० ३४२, व ३४६। ५. वही, पृ० ८१।
६. 'रामही राम तरु तत्त्व एक, फलही फूल जेता अनेक।"—वही, पृ० ६।
७. वही, पृ० ७२।
८. निरगुण शीरगुणरे, रूप में तो हरदे धर्युं।
सदगुर, शब्दरे, रामनु सुमरण कर्युं॥ —वही, पृ० ४७।
९. 'वाणी' (भाग बीजो) पृ० ५७।
१०. 'रवीदास सतगुर राम हे, ओर राम कोउ नांम'॥१२
वही, पृ० २२२।
११. 'राम एक अविनाश, जेइ दशरथ तन धर्या।'
—रविभाण सम्प्रदायनी वाणी। (भाग बीजो) पृ० १६४।
तथा 'अयोध्यापती रघुकुलतिलक, रवीदास सोहू राम।'
१२. वही, पृ० २७७।

विहित साधना का प्रश्न है, वह अधिकतर संत-मत का ही अनुसरण करती प्रतीत होती है। भाण साहेब, 'आपो आतमरो अखंड जाप[१]' को महत्त्व देते हैं तथा 'जोती में जोती मीलायी,[२] का परिणाम घोषित करते हैं। इसी प्रकार रविराम साहेब भी 'भ्रमर गुफामां वीराजे हंस,[३] का वर्णन करते हैं तथा मोरार साहेब 'सुरत सोहागण की शुद्ध स्वरूप में स्थिति[४] की ओर संकेत करते हैं। इन दोनों में से प्रथम संत तो 'लुण की पुतली गई जलमां, क्यूंकर नीकसे खारा' तक बतला कर आत्मलीनता का परिचय देते हैं। ऐसी दशा में जिस 'भक्ति-पदारथ' के 'गुरु प्रताप साधु की संगति' के कारण पाने का उल्लेख भाण साहेब करते हुए दीख पड़ते है[५] उसका रूप उस 'प्रमाभक्ति' का ही हो सकता है। ये इसकी ओर संकेत करते हुए रवि साहेब ने भी कहा है इस सम्प्रदाय के किसी संत द्वारा ऐसी प्रेमाभक्ति का कोई विस्तृत परिचय दिया गया कहीं नहीं दीख पड़ता। किंतु इनके द्वारा किये गए स्वानुभूति विषयक वर्णनों तथा विभिन्न प्रासंगिक उल्लेखों के आधार पर वह कबीर साहब द्वारा प्रतिपादित 'नारदी भक्ति' से अधिक भिन्न रूप धारण करती नहीं प्रतीत होती। केवल इतना कह सकते हैं कि इस पर सगुण भक्ति का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है।[६]

मूल स्रोत और साहित्य

रविभाण-सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात, सौराष्ट्र तथा पश्चिमी राजस्थान के अंतर्गत पाये जाते हैं। उनके विषय में कभी-कभी इस प्रकार अनुमान करते सुना जाता है[७] कि वे वस्तुतः कबीर-पंथी होंगे। मोरार साहब के शिष्य दलु राम साहेब का अपनी गुरु-परंपरा के प्रथम पुरुष नीलकंठ दास का संबंध ऊपर की ओर जोड़ते समय उसे कम-से-कम कबीर साहब तक पहुँचा कर वहाँ 'रामकबीर' शब्द का प्रयोग करना[८] तथा इसी प्रकार लालदास साहब का

---

१ वाणी, पृ० ३४० । २. वही, पृ० ३४१ ।

३. वही, पृ० १३ । ३. वही, पृ० २६३ । ५. वही वही, पृ० ३४१ ।

६. 'जपतप तीरथी जोग जज्ञ व्रत, सुपने हरि न राचे ।
प्रेम भक्ति पुरुषोत्तम रीझे, रविदास नेह साचे ॥
वही, पृ० २०५ ।

७. श्री अनंत राय रावल ने तो इस सम्प्रदाय के संतों के नामों के आगे 'साहेब' शब्द जुड़ जाने मात्र से ही उन्हें कबीर-पंथी मान लिया है। उनका कहना —"आ सर्व संतों ना नामने अंते 'साहेब' शब्द लगाडाय छे जे बतावे छे के ए कबीर-पंथी हता"। —गुजराती साहित्य, पृ० २१०।

८. वाणी, पृ० २८६ ।

स्पष्ट शब्दों में, "लालदास लव लाय कर, सुमरे राम कबीर"-जैसी उक्ति प्रकट करना[1] भी इसी बात का समर्थन करता है कि यह सम्प्रदाय संभवत: उस 'राम-कबीर-पंथ' से भिन्न न होगा। इसकी चर्चा कबीर-पंथी ग्रंथ 'अनुराग सागर में, "राम कबीर पंथ कर नाऊं" कह कर की गई है[2] अथवा जिसे कबीर-शिष्य कहे जानेवाले पद्मनाभ वा जैसे ही ज्ञानीजी द्वारा प्रचलित किया गया भी बतलाया जाता है। एक गुजराती लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि भाण साहब रामकबीरी कंठी बाँध कर सौराष्ट्र में आये तथा उन्होंने वहाँ पर सर्वप्रथम कबीर-पंथ का प्रचार किया।[3] परन्तु इसके लिए हमारे पास अभी तक यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। जैसा हम अभी ऊपर कह आये हैं इसे हम अभी अधिक-से-अधिक उससे बहुत मिलता-जुलता मात्र ही कह सकते हैं। इसी प्रकार रवि साहेब की एक संज्ञा के 'रविदास' होने और तदनुसार इस सम्प्रदाय के नाम के 'रवि' शब्द से आरंभ होने के भी कारण इसका संबंध प्रसिद्ध संत रविदास वा रैदास जी के साथ जोड़ने की भी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। परन्तु, जैसा इसकी गरु-परंपरा द्वारा सिद्ध है, उसमें इन संत रविदास के नाम का कहीं पता नहीं चलता,[4] प्रस्तुत उसे वहाँ पर स्वयं रविराम साहेब[5] तथा उनके एक प्रशिष्य चरणस्वामी[6] द्वारा 'रोहीदास' के रूप में प्रयुक्त भी देखा जाता है। इससे इसकी पुष्टि होती है कि इस सम्प्रदाय का उनसे भी कोई लगाव नहीं है। अतएव, हो सकता है कि इसका आरंभ सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से ही हुआ हो। तदनंतर इसका साम्य अन्य पंथों वा सम्प्रदायों की अनेक बातों के साथ पाकर इसके अनुयायियों ने इसका संबंध उनके साथ जोड़ने का यत्न किया हो। इसके सिवाय, ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनुयायियों पर पीछे कुछ बाहरी प्रभाव भी पड़े होंगे जिनसे वैसी समानता को प्रश्रय मिला होगा। जहाँ तक इसमें सम्प्रदायिक साहित्य का प्रश्न है यह मूलत: कबीर-साहित्य का अनुसरण करता प्रतीत होता है। भाण साहेब की

१. गुजराती साहित्य, ३७७।
२. कबीर साहब का अनुराग सागर, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १६२७ ई०, पृ० ६२।
३. जयमल्ल परमार : आपणी लोक संस्कृति अहमदाबाद, १६५७ ई०, पृ० ११७।
४. वाणी, परंपरा, पृ० २८५-८।
५. 'नामदेव कबीरजी, पीपा अरु रोहीदास—' वाणी, भागबीजो पृ० २५२।
६. 'विपद देख रोहीदास, वहां प्रभु आपे आये।
भक्त वत्सल भगवान, पारस दीये देखाये॥'—वाणी, पृ० ३२५।

चेतावनी परक रचनाएँ, रविसाहेब के साधक मनोवृत्ति पर आधारित पद तथा गुरुभक्ति-विषयक साखियाँ, मोरार साहेब की उपदेशात्मक पंक्तियाँ तथा षीम साहेब और त्रिकम साहेब के आत्मानुभूति परक भजन और जीवणदास की सखीभावपूर्ण रचनाएँ इस साहित्य के अंतर्गत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यों तो हम चरणस्वामी, लालदास और होथी साहब की बानियों को भी किसी प्रकार कम महत्त्व नहीं दे सकते, न इनके द्वारा इसकी श्रीवृद्धि का कम होना ही स्वीकार करते हैं।

साम्प्रदायिक वंशावली
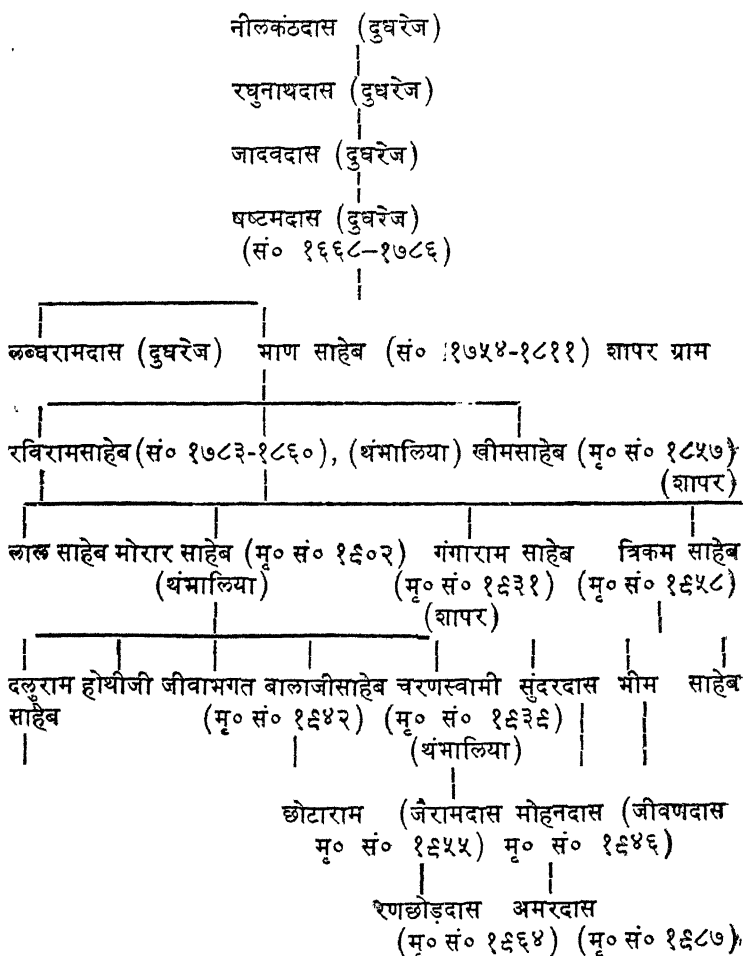
ओधवदास रघुबरदास
(मृ० सं० १९८७)
विश्रामदास (मृ० सं० १९९०)

११. चरणदासी-सम्प्रदाय

आत्म-परिचय

संत चरणदास की जीवनी से संबद्ध कतिपय विवरणों के उल्लेख स्वयं इनकी तथा इनकी शिष्या सहजोबाई की रचनाओं में ही आ गए हैं। इनके शिष्यों में से रामरूप (गुरु भक्तानंद) शिवदयाल. गौड (सरस माधुरी-शरण) आदि ने इनका विस्तृत परिचय भी दिया है। अतएव उनके विषय में हमें किसी प्रकार का अनुमान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ज्ञानस्वरोदय' के अंत में एक छप्पय द्वारा इन्होंने स्पष्ट कहा है, "मेरा जन्म डेहरे में हुआ था और मेरा पूर्वनाम रणजीत रहा। मेरे पिता मुरली थे और मेरी जाति ढूसर की थी। मैं बाल्यावस्था में ही दिल्ली आ गया, जहाँ घूमते समय शुकदेवजी के दर्शन हो गए और उन्होंने मेरा नाम चरणदास रख दिया"[१]। इसी प्रकार अपने एक दूसरे ग्रंथ 'भक्ति सागर' में ये इतना और भी कहते हैं, "सं० १७८१ की चैत्र पूर्णिमा को सोमवार के दिन मैंने यह विचार किया कि कुछ ग्रंथों की रचना करनी चाहिए। यह निश्चय करके मैंने उसी दिन कुछ बानियाँ बना डालीं। फिर मैंने वैसी ही ५००० बानियाँ लिखीं और गुरु के नाम की गंगा में उन्हें प्रवाहित किया। इसके पीछे मैंने ५००० अन्य पद लिखे जिन्हें हरिनाम की अग्नि में जलाया। अंत में अपने गुरु की आज्ञा से जो तीसरी ५००० रचनाएँ कीं उन्हें अपने साधुओं को दिया [२]"। इनकी शिष्या सहजोबाई ने भी अपनी रचना 'सहज प्रकाश' में इनके जन्म-काल का वर्णन किया है। इससे विदित होता है, "इनका जन्म मेवात के अंतर्गत डेहरा नामक स्थान में सं० १७६० की भाद्रपद शुक्ल तृतीया को मंगलवार के दिन सात घड़ी दिन चढ़ने पर हुआ था। इनके पिता मुरलीधर ढूसर वा धूसर जाति के थे और इनकी माता का नाम कुंजा था। इनके गुरु शुकदेव थे जिन्होंने इनका नाम चरणदास

---

१. श्री भक्तिसागर ग्रंथ ज्ञानस्वरोदय, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ १९३१ ई०, पृ० १५६।

२. वही, पृ० ५४।

रखा था और इन्हें 'श्रीमद्भागवत' तथा ज्ञानयोग की शिक्षा दी थी"[1]। इस कारण चरणदास नाम के दो एक अन्य भक्तों के रहते हुए भी हमें इनके परिचय में कोई संदेह नहीं रह जाता। परन्तु मिश्र-बंधुओं ने संत चरणदास को पहले पंडितपुर का निवासी ब्राह्मण समझा था और पीछे जाकर यह धारणा अशुद्ध मानी गई। उनके भ्रम का कारण कदाचित् यह था कि मेवात के ढूसर अपने को आज भी 'वधूसर' भार्गव ब्राह्मण कहते हैं। उनका अनुमान है कि 'ढूसर' शब्द संभवतः वधूसर का ही रूपांतर है। फिर भी प्रसिद्ध है कि अकबर के सर्वप्रथम विरोधी हेमू को भी ढूसर कहा जाता था और कुछ इतिहासकारों ने उसे बक्काल भी लिखा है जो निश्चित रूप से बनिया जाति का बोधक है।

प्रारंभिक जीवन

संत चरणदास के अनुयायियों द्वारा लिखित कुछ अन्य रचनाओं-जैसे रामरूप-कृत 'गुरु भक्ति प्रकाश' तथा सरसमाधुरी-रचित 'श्यामचरणदासाचार्य चरितामृत' आदि से इतना और भी पता चलता है, "इनसे आठ पीढ़ी पहले इनके पूर्वजों में कोई शोभन राय हुए थे जो श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। उनके अनंतर इनके पिता मुरलीधर का भी आध्यात्मिक जीवन कम सराहनीय न था। प्रसिद्ध है कि एक बार जब वे घर छोड़ कर किसी जंगल में भजन करने गये थे, तब वहीं से वे कहीं गुप्त हो गए। घर वालों के बहुत खोज करने पर भी उनके केवल कुछ कपड़े मात्र एक जगह रखे हुए मिल सके और कुछ पता न चला। श्रद्धालु व्यक्तियों में चर्चा होने लगी कि वे सदेह बैकुंठ चले गए"[2]। इस घटना के अनंतर इनके पितामह प्रयागदास इन्हें दिल्ली लाये और अपने यहाँ इनका पालन-पोषण कर उन्होंने इन्हें सरकारी नौकरी के उपयुक्त बनाना चाहा। उस समय इनकी अवस्था केवल ५–७ वर्षों की थी और इनकी माता भी इनके संग में थीं। पंथ वालों में प्रसिद्ध है कि शुकदेवजी ने इन्हें अपने दर्शन डेहरा गाँव के पास रहनेवाली नदी के तट पर ही पहले पहल दे दिये थे और इन्हें अपनी गोद में भी उठा लिया था। उस अल्प वय से ही इनका मन आध्यात्मिक बातों की ओर आकृष्ट होने लग गया था। इसी कारण इनके पितामह की उक्त योजना सफल

१. सहजो बाई की बानी, सहजप्रकाश, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग १६३० ई०, पृ० ५६-७ तथा १-२ गुरुभक्तिप्रकाश में यह वर्णन और भी विस्तृत है
२. 'कदाचित् उन्हें किसी बाघ ने मार डाला'। मिडीवल मिस्टिसिज्म, १६३० ई०, पृ० १४५।

में ही किसी की प्रेरणा से योगाभ्यास की क्रियाएँ भी आरंभ कर दी थीं। इसकी साधना वे समय-समय पर निरंतर चौदह वर्षों तक करते रह गए। अंत में स्वरोदय के ज्ञान में ये अद्वितीय तक समझे जाने लगे[1]। 'गुरुभक्ति प्रकाश' में इस प्रकार की बातें विस्तृत रूप में दी गई मिलती है।

संत चरणदास को उनकी आयु के उन्नीसवें वर्ष में दीक्षा मिली थी। क्रुक साहब ने लिखा है, "उन्नीस वर्ष की अवस्था में मुजफ्फरनगर के पास शूकरताल में बाबा सुखदेवदास द्वारा ये दीक्षित हुए थे। सुखदेवदास एक प्रसिद्ध साधु थे। उन्होंने इनका नाम भी रणजीत से बदल कर चरणदास रख दिया।"[2] परन्तु संत चरणदास की कुछ रचनाओं द्वारा प्रतीत होता है कि उक्त सुखदेव-दास वास्तव में व्यासपुत्र श्री शुकदेव मुनि ही थे, जिन्होंने राजा परीक्षित को 'श्रीमद्भागवत' की कथा सुनायी थी।[3] श्री शुकदेव मुनि का संत चरणदास के समय में आ उपस्थित होना केवल श्रद्धा वा कल्पना के आधार पर ही माना जा सकता है। यह भी कदाचित् वैसी ही घटना है जो अलौकिक समझी जा सकती है, जैसी मीराँबाई तथा रैदास जी के संबंध में तथा गरीबदास अथवा धर्मदास और कबीर साहब के संबंध में सुनी जाती हैं। उक्त सुखदेवदास का एक दूसरा नाम सुखानंद भी मिलता है और कुछ लोगों ने उन्हें शुकरताल गाँव का निवासी भी माना है। शूकरताल को भी इसी प्रकार एक लेखक ने 'शुकतार' कहा है और उसकी स्थिति फिरोज़पुर के सन्निकट बतलायी है, किंतु इससे अधिक उसके विषय में नहीं दिया है। कहा जाता है कि अपने गुरु द्वारा दीक्षित हो जाने के अनंतर संत चरणदास ने प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों का पर्यटन आरंभ कर दिया और बहुत दिनों तक ब्रजमण्डल में निवास भी किया। ब्रजमण्डल में इन्हें 'श्रीमद्भागवत्' ने अपनी ओर बहुत आकृष्ट किया और विशेषकर उसके एकादशवें स्कंध को उसी समय से इन्होंने अपना आदर्श ग्रंथ मान लिया। श्रीकृष्ण के प्रति इनकी दृढ़ भक्ति तथा इनकी भागवती मनोवृत्ति के कारण ही इनके अनुयायी इन्हें 'श्यामचरणदासाचार्य' भी कहा करते हैं।

अंतिम दिन

'गुरुभक्ति प्रकाश' में संत चरणदास की उन छह यात्राओं का विस्तृत विवरण

---

१. 'मुरक्कए अलवर, पृ० ८१, हिंदुस्तानी १९३९, पृ० ११३-४ पर उद्धत।
२. क्रुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध, भाग २, पृ० २०१।
३. भक्तिसागर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृ० ७९, ३२३, ४९३, ५१८ आदि।

दिया गया मिलता है जिन्हें इन्होंने समय-समय पर की थी। किन्तु उन सभी की ठीक-ठीक तिथियों अथवा संवतों तक का भी पता नहीं चलता। इतना कहा जाता है कि देश-भ्रमण से विरत होने पर ये दिल्ली नगर में रहने लगे। उस समय इनका ३० वाँ वर्ष था और ये अपना आध्यात्मिक मार्ग भी निर्धारित कर चुके थे। अतएव इन्होंने प्रायः तभी से अपने मत का प्रचार भी आरंभ कर दिया। यह भी कहा जाता है कि संभवतः सं० १७९५ में किसी समय इन्होंने सम्प्रदाय की स्थापना भी कर डाली।[१] जहाँ पर ये उन दिनों रहा करते थे, वहाँ आजकल श्री जी का एक मंदिर वर्तमान है। दिल्ली में ही इनका यह स्थान भी बतलाया जाता है, जहाँ इन्होंने १४ वर्षों तक योगाभ्यास किया था और उसे इनका 'समाधि-स्थान' कहा जाता है। इन्होंने अपने मत के प्रचार में अपने शेष जीवन के लगभग ५० वर्ष व्यतीत किये। अंत में अगहन सुदी ३ वा ४ सं० १८३९ को इनका वहीं रहते हुए देहांत हो गया। दिल्ली में इनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि बनी हुई है। इनके जन्म-स्थान डेहरा में भी इनकी एक छतरी बनी हुई है, जहाँ पर इनकी माला, वस्त्र तथा टोपी सुरक्षित है। उसी के निकट बने हुए मंदिर में इनके चरण-चिन्ह भी बने हुए हैं, जहाँ प्रति वर्ष वसंत पंचमी के दिन एक मेला लगा करता है और सम्प्रदाय के अनुयायी अच्छी संख्या में उपस्थित होते हैं।

शिष्य-परंपरा तथा साहित्य

संत चरणदास के मुख्य शिष्यों की संख्या ५२ बतलायी जाती है। इसी के अनुसार 'चरणदासी-सम्प्रदाय' की ५२ शाखाएँ भी प्रसिद्ध हैं। किंतु रूपमाधुरी शरण की रचना 'गुरु महिमा' के आधार पर इनके ३१ अन्य शिष्यों की चर्चा भी की जाती है। इनकी मृत्यु के अनंतर इनकी दिल्ली वाली गद्दी के प्रधान महंत मुक्तानंद बने और यही शाखा सर्वप्रधान बन गई। इनके अन्य शिष्यों में रामरूप ने अपने गुरु की जीवन-लीला का वर्णन अपने ग्रंथ 'गुरुभक्ति प्रकाश' (रचना-काल सं० १८२६) में किया है। उनके शिष्य रामसनेह भी एक योग्य और सफल साधक बतलाये गए हैं। संत चरणदास की जीवनी लिखनेवाले एक अन्य शिष्य जोगजीत का भी नाम लिया जाता है। परन्तु इनके शिष्यों में सबसे विख्यात इनकी दो शिष्याएँ हुई जिनमें से एक का नाम सहजोबाई था

---

१. मुनिकांत सागर जी ने इस सम्प्रदाय के उद्‌भव क लगभग वि०सं० १८३६ में होना बतलाया है। दे० भारतीय साहित्य, आगरा, जनवरी सन् १९५६ ई०, पृ० ८५।

और दूसरी दयाबाई के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों ही गुरु-बहनों का जन्म-स्थान उपर्युक्त डेहरा गाँव बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये दोनों अपने गुरु की सजातीया थीं तथा उनके साथ रहती भी थीं। इन दोनों में से सहजोबाई का जीवन-काल सं० १७४०-१८२० कहा गया है, किंतु इनके जन्म वा मरण की तिथियाँ अज्ञात हैं। केवल इतना पता चलता है ये किसी हरिप्रसाद की पुत्री थीं। अपने जीवन भर ये अविवाहिता और ब्रह्मचारिणी बनी रह गई। सं० १८०० की फागुन सुदी ८ बुधवार के दिन इन्होंने अपनी रचना 'सहज प्रकाश' को समाप्त किया। दयाबाई के लिए भी कहा जाता है कि इन्होंने सं० १७५० से लेकर सं० १७७५ तक सत्संग किया था। इसके अनंतर एकांत-सेवन करने लगी थीं। इनकी मृत्यु कदाचित् सं० १८३० में हुई[1] जिसके पहले सं० १८१८ की चैत्र सुदी ७ को ये अपना ग्रंथ 'दयाबोध' लिख चुकी थीं। इन रचनाओं के अतिरिक्त सहजोबाई की दो अन्य रचनाएँ क्रमशः 'शब्द' तथा 'सोलह तत्त्व निर्णय' के नामों से प्रसिद्ध हैं। दयाबाई की भी एक रचना 'विजय-मालिका' बतलायी जाती है। संत चरणदास की ही शिष्य-परंपरा के शिवदयाल (सरस माधुरी शरण) ने सं० १९७३ में 'श्यामदासाचार्य चरितामृत' की रचना की है। इधर की खोजों मे इनके कतिपय अन्य शिष्यों-प्रशिष्यों तथा उनकी रचनाओं का भी पता चला है। संभवतः अलवर के निवासी विप्र नागरीदास की रचना 'श्रीमद्भागवत' का छंदोबद्ध हिन्दी-अनुवाद, गुरु छौनाजी महाराज की 'षट्रूपमुक्त गुरु चेले की गोष्ट' जो प्रश्नोत्तर के रूप में है। इनकी ९७ फुटकर 'बानियाँ' तथा इनके शिष्य अखैराम की रचनाएँ 'अखैसार' (सं० १८०८), 'विचार चरित्र' (सं० १८१०), 'क्षेत्रलीला' (सं० १८१३), गंगा महातम (सं० १८४०), 'वैद्यबोध' (सं० १८५०), 'ग्यान समूह' तथा 'शब्द' नाम से उपलब्ध हैं। इसी प्रकार इनके एक अन्य शिष्य हीरादास की भी अनेक फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। इसके सिवाय अखैराम के शिष्य चैतराम का 'वरुण चरित्र' और उनकी शिष्या बाई खुशालां की रचना 'नरसी जी को भात', 'बुधिविलास' तथा जन बेगम का 'सुदामा चरित्र' भी उल्लेखनीय हैं जो वास्तव में, स्वयं छौनाजी की ही शिष्या बतलायी गई हैं।[2] चरणदासियों में प्रसिद्ध है कि संत चरणदास का समकालीन मुहम्मदशाह भी इनका परम भक्त हो गया था। इन्होंने उसे नादिरशाह की प्रसिद्ध चढ़ाई की सूचना उस घटना से छह महीने

---

१. संतमाल, पृ० २१९।

२. सम्मेलन पत्रिका, त्रैमासिक, प्रयाग, भा० ४१ सं० ४, पृ० ३-३३।

पहले ही दे दी थी जिससे प्रसन्न होकर उसने इन्हें सहस्रों गाँव भेंट किये थे। इसके साथ ही इतना और भी बतलाया जाता है कि नादिरशाह के कर्मचारियों ने इन्हें पकड़ कर बंदी भी बना लिया था। परन्तु इन बातों की तथा इनके बंदीगृह से अपने चमत्कार द्वारा निकल आने आदि घटनाओं के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

रचनाएँ

स्वयं संत चरणदास की रचनाओं की संख्या कम-से-कम २१ बतलायी गई हैं और उनके संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनके १५ ग्रंथों का एक संग्रह बंबई के 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस' ने अपने यहाँ से निकाला है। इसी प्रकार लखनऊ के 'नवलकिशोर प्रेस' ने भी इनके २१ ग्रंथों का एक संग्रह प्रकाशित किया है। इनमें से निम्नलिखित १२ ग्रंथों के संत चरणदासकृत होने में संदेह नहीं जान पड़ता और इन्हें प्रायः सभी ने प्रामाणिक भी माना है :

(१) 'ब्रजचरित्र' वा ब्रजचरित वर्णन जिसमें 'बाराहसंहिता' के आधार पर श्रीकृष्ण तथा ब्रजमंडल-संबंधी दिव्य तथा अलौकिक बातों का सांकेतिक वर्णन किया गया है;

(२) 'अमरलोक अखंड धाम वर्णन' जिसमें दिव्य गोलोकधाम तथा दिव्य प्रेम संबंधी अलौकिक बातों का वर्णन है। इसके अंतर्गत किये गए वर्णन प्रायः उसी ढंग के है, जैसे संत शिवनारायण के 'संतदेश' आदि ग्रंथों में पाये जाते है;

(३) 'धर्मजहाज वर्णन' जिसमें कर्मवाद की व्याख्या के साथ-साथ करनी का महत्त्व भी बतलाया गया है;

(४) 'अष्टांग योग वर्णन' जिसमें गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में योग के विविध अंगों का मुद्रादि के साथ वर्णन किया गया है;

(५) 'योगसंदेह सागर' एक छोटा-सा ग्रंथ है जिसमें पिंड, नाड़ी आदि जैसी बातों के विषय में प्रश्नावली प्रस्तुत की गई है;

(६) 'ज्ञानस्वरोदय' जिसमें योग-क्रिया के श्वास-विभाग-विषयक तत्त्व तथा माहात्म्य का वर्णन है और कुछ आत्म-परिचय भी अंत में दिया गया है;

(७) 'पंचोपनिषत्' जिसमें 'हंसनाथोपनिषत्', सर्वोपनिषत्', 'तत्त्वयोगोपनिषत्', 'योगशिखोपनिषत्' तथा 'तेजोविंदोपनिषत्' के पद्यमय अनुवाद हैं;

(८) 'भक्तिपदार्थ-वर्णन' जिसमें गुरु, मन, मायादि के प्रसंगों के साथ-साथ हरिभक्ति तथा सत्संग का माहात्म्य बतलाया है और पाखंड की निंदा की गई है;

(९) 'मनविक्रतकरण गुटकासार' जिसमें 'श्रीमद्भागवत' (११ वें स्कंध) के आधार पर दत्तात्रेय की वैराग्यपरक कथा दी गई है;

(१०) 'ब्रह्मज्ञान सागर' जिसमें त्रिगुण की व्याख्या तथा जीव, मायादि का वर्णन ब्रह्म-ज्ञान के अनुसार किया गया है ;

(११) 'शब्द' जो अपने संग्रह का सबसे बड़ा ग्रंथ है, ब्रह्म-ज्ञान, योग, भक्ति आदि विषयों से संबद्ध है, और

(१२) 'भक्तिसागर' जिसका रचना-काल चैत्र सुदी १५ सोमवार सं० १७८१ दिया है। परन्तु यह काल वास्तव में संत चरणदास के ग्रंथ-प्रणयन का प्रथम दिवस जान पड़ता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

संत चरणदासकृत समझी जानेवाली अन्य रचनाओं में 'जागरणमाहात्म्य', 'दानलीला', 'मटकी लीला', 'कालीनाथलीला', 'श्रीधर ब्राह्मणलीला' तथा 'माखनचोरी लीला' 'श्रीमद्भागवत्' से संबद्ध हैं। 'कुरुक्षेत्र लीला' में कृष्ण का नंदादि के साथ पुर्नमिलन दिखलाया है। 'नासकेत लीला' 'नासिकेतपुराण' के आधार पर निर्मित रचना है और 'कवित्त' में विविध विषयों का समावेश है।

उनके विषय

संत चरणदास की रचनाओं की ऊपर दी हुई सूची से स्पष्ट जान पड़ता है कि उनके विषय तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें से एक का संबंध योग-साधना से, दूसरे का भक्ति से तथा तीसरे का ब्रह्म-ज्ञान से है। उन्होंने इन तीनों ही प्रधान विषयों को प्राय: समान भाव के साथ अपनाया है और उसी प्रकार उक्त ग्रंथों में इनकी चर्चा भी की है। फिर भी कुछ लेखकों ने चरणदासी-सम्प्रदाय के संबंध में लिखते हुए इसे योग का ही पंथ माना है। उदाहरण के लिए रामदास गौड़ ने अपने 'हिन्दुत्व' नामक ग्रंथ में इसे योगमत के ही अंतर्गत रखा है। उन्होंने कहा है, "नाथ-सम्प्रदाय जैसे शैव समझा जाता है, वैसे ही चरणदासी-पंथ वैष्णव समझा जाता है। परन्तु इसका मुख्य साधन हठयोग-संवलित राजयोग है। उपासना में ये राधाकृष्ण की भक्ति करते हैं, परन्तु योग की मुख्यता होने से हम इसे योगमत का ही एक पंथ मानते हैं।"[१] इसी प्रकार प्रोफेसर विलसन-जैसे कुछ विद्वानों की धारणा ऐसी जान पड़ती है, "वास्तव में यह एक वैष्णव-पंथ है जो गोकुलस्थ गोस्वामीमियों के प्रभुत्व को हटाने के लिए पहले-पहल चलाया गया था और इस बात के अवशेष चिन्ह आज भी लक्षित होते हैं।"[२] परन्तु चरणदासी-सम्प्रदाय को केवल योग-मत का अनुयायी अथवा किसी-किसी शुद्ध वैष्णव-मत का ही प्रचारक मात्र मान लेना तबतक उचित नहीं कहा जा सकता, जबतक इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिये

१. रामदास गौड़ : हिन्दुत्व, ज्ञानमंडल कार्यालय, काशी, पृ० ७०७।
२. विल्सन : रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० २७५।

जाते । संत चरणदास का मत वास्तव में उक्त तीनों बातों का समन्वय है और उसके सच्चे अनुयायी भी इसे कदाचित् इसी रूप में मानते हैं। संत चरणदास ने जो स्वयं भी एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में कह दिया है, "अपने गुरु शुकदेवजी से मिलने के अनंतर उनके उपदेश द्वारा मैंने योग-युक्ति की साधना की, हरिभक्ति को अपनाया और तब ब्रह्म-ज्ञान का दृढ़तापूर्वक अनुभव करने लगा । मैंने आत्म-तत्त्व पर विचार किया और अंत में मेरा मन अजपाजाप की अबाध गति से चलनेवाली क्रिया में विलीन हो गया ।"[१] इन्होंने अपने मन को 'शुकदेवानुमोदित भागवत' मत भी कहा है । परन्तु इस संबंध में यह भी कहा जाता है, "दार्शनिक तथा पूजोपासना के विविध आडंबरों पर दृष्टि केन्द्रित करने से ज्ञात होता है कि भले ही अंशतः यह परंपरा कबीर का अनुसरण करती हो, किंतु वस्तुतः यह निंबार्क सम्प्रदाय के अधिक निकट है ।"[२]

योग-साधना

योग-युक्ति की साधना बतलाते समय इन्होंने सर्वप्रथम उसके प्रति कौतूहल जागृत करने के लिए कतिपय प्रश्न उठाये हैं, जिससे सर्वसाधारण का ध्यान उक्त विषय की ओर आकृष्ट हो और उसमें रुचि की वृद्धि भी हो। तदनंतर इन्होंने पिंड के अंतर्गत निर्मित विविध नाड़ियों तथा अन्य रहस्यमयी बातों की चर्चा की है । उनके महत्त्व के क्रमशः पालन द्वारा उन्हें व्यवस्थित कर उन्हें व्यवस्थित रखने का परामर्श दिया है। इन्होंने फिर हठयोग के प्रसिद्ध षट्कर्म अर्थात् नेती, धोती, बस्ती, गजकर्म, न्योली तथा त्राटक का परिचय दिया है । साथ ही उस अष्टांगयोग का भी वर्णन किया है, जो क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के साथ संबद्ध है । उसके अंतिम अंग अर्थात् समाधि के भी इन्होंने तीन रूप माने हैं और उन्हें भक्ति-समाधि, योग समाधि तथा ज्ञान-समाधि के नाम दिये हैं । इनका कहना है कि जब ध्याता ध्यान में लीन हो जाता है, ध्यान का ध्येय में लय हो जाता है और सुरति बुद्धि से परे रहती है, उस दशा में भक्ति-योग की दशा आती है। जब षट्चक्र का भेदन हो जाने पर शरीर चेतना-शून्य हो जाता है और सुरति नाद में लीन हो क्रिया-शून्य बन जाती है, तब योग समाधि लगती है जब ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है और आत्मानुभूति की दशा

---

१. 'योगयुक्ति, हरिभक्ति करि, ब्रह्मज्ञान दृढ़ करि गह्यो ।
आतम तत्व बिचारि कै, अजपा में सनि मन रह्यो ॥'
—भक्तिसागर-ज्ञानस्वरोदय, १९३१ ई०, पृ० १५६ ।

२. श्रीमुनि कांतिसागर, सम्मेलन पत्रिका, भा० ४१ सं० ४, पृ० १-३ ।

एकरस बनी रहती है तो उसे ज्ञान-समाधि का नाम देते हैं। इन तीनों की अंतिम स्थिति प्रायः एक-सी है। इनमें जो भेद लक्षित होता है, वह उस ओर अग्रसर होते समय की प्रक्रियाओं की विभिन्नताएँ हैं।

भक्ति-योग

सत चरणदास ने भक्ति-योग के संबंध में जिन मथुरा, वृन्दावन तथा गोवर्धन के वर्णन किये है, वे सभी किसी 'अलौकिक धाम' की वस्तुएँ हैं। ये कहते है कि वह मथुरामडल हमारी चर्म-चक्षुओं से दीख पड़ने योग्य नहीं, वह तो बिना दिव्य दृष्टि के वह किसी को दिखलायी नही पड़ सकता।[1] अमरलोक के परिचय से प्रतीत होता है कि ये उसे कोई भौतिक रूप देना नही चाहते।[2] वह संतों की एक अनिर्वचनीय स्थिति है जिसे उन्होंने बहुधा अन्य नामों से भी अभिहित किया है। उसके भौतिक रूप का जो कुछ वर्णन दरबारी दृश्यों की भाँति किया गया मिलता है, वह निरा काल्पनिक है। उसका महत्त्व सर्वसाधारण की स्थूल बुद्धि को आकृष्ट करने में ही हो सकता है।

सदाचरण

संत चरणदास ने अपनी रचनाओं द्वारा निष्काम प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन किया है और सामाजिक व्यवहार में सदा सच्चरित्रता का समर्थन किया है। नैतिक शुद्धता के साथ जीवन-यापन करने का उपदेश इन्होंने सर्वत्र दिया है। इसीलिए इनके पंथ को चरित्र-प्रधान भी कह सकते हैं। इन्होंने जिन बातों को त्याग देने के लिए विशेष आग्रह किया है, वे असत्य-भाषण, अपशब्द-कथन, कठोर वचन, वितंडावाद, चोरी, परस्त्री-गमन, हिंसा, परहानि-चिंतन, वैर तथा विषयों के प्रति अधिक आसक्ति है। इन्होंने जिन बातों को अपनाने का परामर्श दिया है वे अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य, समाज-सेवा, सत्संग, सद्गुरुभक्ति तथा परमात्मा

---

१. 'मथुरामंडल परगट नाहीं। परगट है सो मथुरा नाहीं॥
मथुरामंडल यही कहावै। दिव्य दृष्टि बिन दृष्टि न आवै॥
'दिव्य वृंदावन दिव्य कालिन्द्री। देखै सो जीतै मन इन्द्री।'
तथाः 'वृंदावन सोइ देखिहै, जिन देखो हरिरूप।
दुर्लभ देवन को भयो, महागूप सो गूप।'
२. 'अमरलोक तिहुं लोक सो न्यारो। मथुरामंडल अंश बिचारो॥
अमरलोक बिच है निज धामा। जासु अंश वृंदावन नामा॥'
तथाः (महा अगोचर गुप्त सो गुप्ता। जहां बिराजत है भगवंता॥
अमरलोक निज लोक कहावै। चौथा पद निर्बान बतावै॥
अमरपुरी बेगमपुर ठाऊं। कहां बुद्धि सो समगति गाऊं॥'

के प्रति दृढ़ अनुराग है। इनका कहना है कि सारा विश्व ब्रह्ममय है, अतएव किसी भी एक पदार्थ को पूज्य समझना और अन्य के प्रति उपेक्षा की दृष्टि डालना उचित नहीं। साधना के सर्वोच्च अंग चित्त-शुद्धि तथा सद्व्यवहार हैं और प्रेम तथा श्रद्धा उनके आधारस्वरूप हैं। इन प्रेम तथा श्रद्धा को भी कथनी न मान कर इन्हें सच्ची करनी में परिणत कर देना सबसे अधिक आवश्यक है। किसी सद्भावना के परखने की कसौटी उसके अनुकूल व्यवहार ही हो सकता है, अन्य प्रकार से उसकी सत्यता का परिचय पाना अत्यंत कठिन है। इनके पंथ में सद्ग्रंथों से लेकर संगृहीत किये हुए नियमों की तालिकाएँ भी प्रचलित हैं। इनके अनुसार चलना प्रत्येक अनुयायी का कर्त्तव्य समझा जाता है। ऐसे नियमों में गिनाये जाने वाले ४२ कर्त्तव्य सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। संत चरणदास ने कर्मवाद को भी अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने कहा है कि कर्म के प्रभाव से हम अपने को कभी स्वतंत्र नहीं कर सकते। इनके सम्प्रदाय में भिक्षा-वृत्ति गर्हित है।

अनुयायी

चरणदासी-सम्प्रदाय के अनुयायी विरक्त तथा संसारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। विरक्त बहुधा पीत वस्त्र पहनते हैं, गोपीचंदन का एक लंबा तिलक ललाट पर धारण करते हैं। तुलसी की माला और सुमिरनी भी अपने पास रखा करते हैं। इनकी टोपी छोटी तथा नुकीली होती है जिस पर पीला साफा भी ये बाँध लिया करते हैं। धनी-अमीर चरणदासी गृहस्थों के यहाँ जाकर उनसे सेवा-सत्कार कराया करते हैं। इस पंथ के अनेक मठ यत्र-तत्र मिलते हैं जिनका व्यय-भार चलाने के लिए मुगल-बादशाहों के समय से उन्हें कुछ-न कुछ भूमि मिली है। पंथ के अनुयायी 'श्रीमद्भागवत' को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इनका अनुराग श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं के प्रति उनकी कथाओं और कीर्त्तनों द्वारा प्रकट किया जाता है। संत चरणदास की रचनाओं में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के वर्णन भी पाये जाते हैं जो अधिकतर सगुणोपासक भक्तों के ही ढंग के हैं। इस पंथ वालों की अपने गुरु के प्रति दृढ़ भक्ति और उनका देव-तुल्य सम्मान तथा पूजन भी एक विशेषता है। संत चरणदास ने जो असीम श्रद्धा अपने गुरु शुकदेव के प्रति दरसायी है, उससे कहीं अधिक स्वयं उनके प्रति उनके भिन्न-भिन्न शिष्यों की भी देखने में आती है। सहजो बाई ने अपने गुरु को हरि से भी बड़ा माना है और "राम तजूं पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि को न निहारूँ।"[1] जैसी अनेक पंक्तियों द्वारा अपने भाव प्रकट किये हैं।

---

१. सहजप्रकाश, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३० ई०, पृ० ३।

इन्होंने अपने ग्रंथ 'सहजप्रकाश' की रचना का कारण बतलाया[1] है । सहजोबाई के गुरु-भाई रामरूप स्वामी ने तो अपना नाम 'गुरुभक्तानंद' रख लिया था । उनकी रचना 'मुक्तिमार्ग' का एक अन्य नाम 'गुरुभक्तिप्रकाश' भी है । रामरूप स्वामी जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और उनकी माता का देहांत उनके जन्म से तीन महीने के भीतर ही हो गया था । उनके पिता महाराम ने उनके पालन-पोषण का भार नही उठाया । एक स्त्री की देखरेख में उनका बाल्पन बीता । अंत में सं० १८११ : सन् १७५४ ई० में उन्होंने संत चरणदास से दीक्षा ग्रहण की और इनके परमप्रिय शिष्य हो गए ।

प्रचार-क्षेत्र

चरणदासी-सम्प्रदाय का अधिक प्रचार दिल्ली प्रांत, उत्तरप्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा राजस्थान में पाया जाता है । चरणदास के प्रसिद्ध ५२ शिष्यों के ५२ मठों का भौगोलिक परिचय प्राप्त नही है । अनेक स्थानों पर इस पंथ के अनुयायी वैष्णवों में हिलमिल-से गए है । पंथ के मूल प्रवर्त्तक की समन्वयात्मिका बुद्धि उनका समतानुमोदित आदर्श तथा सदाचरण की योजना के प्रभाव अब उनके अनुयायियों मे कम लक्षित होते हैं । वाणिज्य-व्यापार द्वारा उपार्जित ऐश्वर्य के कारण ये लोग कही-कहीं वाह्याडंबर के प्रेमी भी बन गए हैं । संत चरणदास ने अपनी रचनाओं में अपरिग्रह के महत्व पर बड़ा जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि सच्चे भक्त के मार्ग में धनराशि के संचय-जैसा अन्य रोड़ा नही हो सकता ; परन्तु ये बातें इस समय केवल ग्रंथों में ही पायी जाती है, इनके अनुकूल आचरण के उदाहरण प्राय: नही के बराबर मिलते हैं ।

१२. गरीब-पंथ

संक्षिप्त परिचय

पूर्वी पंजाब, विशेषकर उसका दक्षिणी भाग और दिल्ली के प्रांत संत-परंपरा के अनेक पंथों तथा सम्प्रदायों के पुनीत क्षेत्र रहते आये हैं । लाल-पंथ, साध-सम्प्रदाय, नांगी-सम्प्रदाय, चरणदासी-सम्प्रदाय, बावरी-पंथ तथा गरीब-पंथ इसी भू-भाग के अंतर्गत वा आसपास स्थापित होकर प्रचलित हुए थे । दिल्ली, अलवर, नारनौल, बिजेसर तथा रोहतक इसके आज भी प्रधान केन्द्र माने जाते हैं। इनमें से उक्त अंतिम वा गरीब-पंथ के प्रवर्त्तक संत गरीबदास रोहतक जिले की

---

१. 'गुरु अस्तुत के करनकूं, बाढ्यो अधिक हुलास ।
होते होते हो गई, पोथी सहजप्रकाश '॥
—सहजप्रकाश, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३३ ई०, पृ० ४५ ।

तहसील झज्जर के छुड़ानी नामक गाँव में स० १७७४ की वैशाख सुदी १५ को उत्पन्न हुए थे। इनके पिता बलिरामजी जाति के जाट थे। कबीर साहब के मत के वे अनुयायी थे[१]। उनका जमींदारी का व्यवसाय था। इनकी जीवनी के विवरण बहुत कम उपलब्ध हैं। प्रसिद्ध है कि इनके बचपन का नाम 'गरीबा' था। अपनी १२ वर्ष की वय में जब ये भैंसे चरा रहे थे, इन्हें कबीर साहब[१] के दर्शन हुए जिन्होंने इनसे किसी विशिष्ट भैंस का दूध माँगा। गरीबदास के यह कहने पर कि वह भैंस गाभिन तक भी नहीं हुई, उन्होंने उसे बरबस दुहवा कर दूध पी लिया जिसका बहुत प्रभाव इन पर पड़ा और ये उनके शिष्य हो गए। एक अन्य मत के अनुसार गरीबदास को कबीर साहब का साक्षात् स्वप्न में हुआ था और इन्होंने उन्हें अपना गुरु मान लिया था। कारण जो भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि कबीर साहब को ही गरीबदास पथ-प्रदर्शक मानते थे। इनके प्राय: सभी सिद्धांत भी उन्ही के मत से प्रभावित जान पड़ते हैं।

गार्हस्थ्य-जीवन

गरीबदास ने आमरण गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया था। इन्होंने साधु का भेष कभी धारण नहीं किया। इनके चार लड़के तथा दो लड़कियों की चर्चा भी की जाती है। ये अपनी आयु भर छुड़ानी में ही रह कर सत्संग करते रहे। अंत में भादो सुदी २ सं० १८३५ को इनका देहांत भी वहीं रह कर हो गया। इनका देहांत हो जाने पर इनके गुरुमुख चेले सलोतजी गद्दी पर बैठे। परन्तु आजकल इस पंथ की गद्दी वंश-परंपरा के अनुसार चलती है और सभी संत गृहस्थाश्रम वाले ही हुआ करते हैं। गरीबदास ने अपने समय में एक मेला लगाया था जो आज भी छुड़ानी गाँव में उसी प्रकार लगता है। पंथ के सभी अनुयायी उस अवसर पर एकत्र होकर इनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के यत्न करते है। गरीबदास के पहनने का जामा, उनकी बँधी हुई पगड़ी, धोती, जूता, लोटा, कटोरी और पलँग अभी तक छुड़ानी में उनकी समाधि के निकट सुरक्षित हैं जिनके लोग दर्शन किया करते हैं।

रचनाएँ

कहा जाता है कि संत गरीबदास पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं थे, न इन्हें पद्य-रचना का कोई विशेष अभ्यास ही था। परन्तु ये अपने अंतिम समय तक अपनी रचनाओं का एक संग्रह छोड़ गए थे जिसमें संगृहीत पद्यों की संख्या लग-

---

१. महर्षि शिवव्रतलाल ने उसे 'कबीर-पंथी साधु' मान लिया है और कहा है कि असली साधु कबीर के ही रूप होते हैं। —संतमाल, पृ० २५५।

भग २४००० थी। इनमें से केवल १७००० इनकी तथा शेष कबीर साहब की रचनाएँ थी। इनके पदों तथा साखियों में से कुछ का एक संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा 'गरीबदासजी की बानी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। परन्तु, इनकी सारी रचनाओं का एक अन्य वृहत् संग्रह 'ग्रंथ साहिब' के नाम से भी निकल चुका है जिसके प्रथम 'विभाग' में इनकी ६४०० से भी अधिक साखियों को ५८ विभिन्न अंगों में विभाजित करके उन्हें एकत्र किया गया है। इसी प्रकार दूसरे 'विभाग' में इनकी विभिन्न रचनाएँ तथा इनके पद भी संगृहीत हैं। सबके अंत में कबीर साहब की भी कुछ रचनाएँ दे दी गई हैं। इनके पदों की संख्या भी कम नही है और वे सभी विभिन्न रागों में विभाजित पाये जाते हैं। इनकी शेष रचनाओं में से कुछ तो रमैणी, बैत, रेखते, झूलने, अरिल आदि के रूपों में हैं। अन्य को 'आदि पुराण', 'गणेश पुराण' 'अर्जनामा', 'ब्रह्मवेदी' 'ज्ञानतिलक', 'माया का ग्रंथ'-जैसे नाम दिये गए हैं। उनके अंतर्गत प्रायः विशिष्ट विषयों की चर्चा भी की गई मिलती है।[1] इस वृहत् संग्रह ग्रंथ के संपादक अजरानंद गरीब-पंथी 'रमताराम' के अनुसार इसमें संगृहीत रचनाओं को पहले किसी दादू-पंथी महात्मा ने लिखा था और "यह ग्रंथ बत्तीस अक्षर के हिसाब से २४००० है।"[2] परन्तु यह भी प्रसिद्ध है कि अपनी रचनाओं के जिस संग्रह को संत गरीबदासजी स्वयं छोड़ गए थे उसका नाम 'हिरंबर बोध' था। जो वास्तव में 'ग्रंथ साहिब' के उत्तरार्ध में विषय-क्रम से पृ० ३९४ पर ४० वाँ है। इसके सिवाय एक लेखक ने यह भी लिखा है कि इनके बचनों और लिखित बानियों के तीन संग्रह प्रसिद्ध हैं जिनके नाम 'अनहद', 'रत्नसागर' तथ 'नवरत्न माला' हैं"[3], किंतु उसने इनका कोई परिचय नहीं दिया है।

मत

'वेलवेडियर प्रेस' वाली 'गरीबदासजो की बानी' सोलह अंगों में विभाजित सखियों तथा नव-रागों में दिखलाये गए पदों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त उसमें सवैया, रेखता, झूलना, अरिल्ल, बैत, रमैनी तथा आरती के साथ-साथ 'ब्रह्मवेदी' नाम की एक अन्य रचना भी सम्मिलित है। कबीर साहब के प्रति

१. ग्रंथ साहिब अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदास जी महाराज की बानी, राजकोट, काठियावाड़, सन् १९२४ ई०, पृ० १-६७३।

२. ग्रंथ साहिब, प्रस्तावना।

३. इंडियन साधुज, पृ० २३४।

गरीबदास की अनन्य भक्ति सर्वत्र दीख पड़ती है । इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कबीर साहब को अपना गुरु स्वीकार किया है ।[१] इन्हें अन्यत्र यह भी कहते पाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कबीर साहब के आदर्श द्वारा वे अनुप्राणित मात्र हुए थे ।[२] उन्होंने अपने सत्तगुरु के विषय में कहा भी है ।[३]

गरीबदास ने परमात्मा को सत्तपुरुष नाम दिया है और उसका परिचय उसे निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन, अकल, अनूप तथा आदि, अंत और मध्य से रहित कहकर किया है । परन्तु वह इनके अनुसार तो भी वास्तव में, इनसे भिन्न है ।[४] इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो कुछ भी है वह उससे भिन्न नहीं, भिन्नता का अनुभव केवल भ्रांति के कारण हुआ करता है । ये कहते हैं[५] इस सीत कोट के ही भीतर हमारी काया का विचित्र बँगला[६] बना हुआ है जिसका वर्णन गरीबदास ने, 'जो पिंड में है, सो ब्रह्मांड में हैं' सिद्धांत के अनुसार किया है । तदनुसार उसी के भीतर वह 'पारब्रह्म महबूब' भी वर्तमान है जिसे पहचान कर स्वानुभूति का आनंद उपलब्ध करना हम सभी का कर्त्तव्य है ।

साधना

उक्त स्वानुभूति के लिए 'सुरत तथा निरत का परचा' हो जाना अत्यंत आवश्यक है । इसके विषय में चर्चा करते हुए गरीबदास कहते हैं कि वह भी तभी संभव है जब हम सुरत, निरत, मन तथा पवन इन चारों का एकीकरण वा समीकरण कर दें और उसके बल के आधार पर 'गगन-मंडल' तक पहुँच कर उसके दर्शन प्राप्त

---

१. 'दास गरीब कबीर का चेरा । सत्तलोक अमरापुर डेरा' ॥१०॥
—गरीबदासजी की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग पृ० १४८ ।

२. 'दास गरीब कहैलै संतो, सब्द गुरु चित चेला रे' ॥५॥
—वही, पृ० १५२ ।

३. 'ऐसा सतगुरु हम मिला, तेज पुंज के अंग ॥
झिलमिल नूर जहूर है, रूपरेख नहिं रंग ॥२३॥'
—वही, पृ० १२ ।

४. 'सब्द अतीत अगाध है, निरगुन सरगुन नाहिं ॥६॥"
—वही, पृ० २० ।

५. 'मर्म की बुरज सब सीत के कोट है, अजब ख्याली रचा ख्याल है रे ।
दासगरीब वह अमर निज ब्रह्म है, एक ही फूल, डाल है रे ॥७॥'
—वही, पृ० १२३ ।

६. वही, पृ० १६०-८ ।

करें।[1] इसकी साधना द्वारा सुरत अपने उचित स्थान में लग कर स्थिर हो जाती है, 'सुरत निरत मन पवन पर सोहे' आप-से-आप होने लगता है।[2] सुरत के इस प्रकार लगा देने को ही गरीब दास ने नाम लेना[3] वा सुमिरन[4] भी कहा है। उन्होंने बतलाया है कि ऐसी स्थिति आ जाने पर इन्द्रियों के गुन प्रभावित नहीं करते तथा सारा प्रपंच स्वयं नष्ट होकर 'एकै मन एकै दिसा, साई के दरबार'[5] की दशा आ जाती है। यही अवस्था 'लै' की भी कही जाती है। परन्तु इन सब के लिए अपने हृदय में पूर्ण प्रतीति का होना भी अनिवार्य है, क्योंकि वास्तव में स्वयं 'साहब' वा परमात्मा भी 'परतीति' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[6] इस अंतिम साखी में कदाचित् उस भक्त पांडे की कथा का प्रसंग है जो अपनी भैंस का ध्यान धरते-धरते एक बार उसके सींग में इस प्रकार फँस गये थे कि अपने गुरु के बुलाने पर भी नहीं आते थे। उनकी ऐसी लगन देख कर ही उनके गुरु ने फिर उनके ध्यान को परमात्मा की ओर प्रेरित किया था। कहते हैं कि गरीबदास की छठी पीढ़ी वाले दयालदास ने सम्प्रदाय को संगठित करके इसमें अनेक परिवर्तन किये। उन्होंने इसमें ब्रह्मचर्य तथा संन्यास का समावेश किया। केन्द्रों के नाम 'आश्रम' रख दिये और मंदिरों को 'गुरुद्वारा' का नाम दे दिया। उन्होंने छुडानी के महंत के लिए भी अविवाहित ही रहने का नियम कर दिया।[7]

स्वभाव तथा शिष्यादि

संत गरीबदासजी का स्वभाव बड़ा ही सीधा-सादा था। इनकी क्षमा के संबंध में एक कथा भी प्रसिद्ध चली आती है। कहा जाता है कि रोहतक जिले के ही आसो नामक गाँव के किसी साहूकार का इकलौता लड़का संतोषदास इनका

---

१. चार पदारथ महल में, सुरत निरत मन पौन।
सिवद्वार खुलिहै जबै, दरसै चौदह भौन ॥६॥
—गरीबदासजी की बानी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ३४।
चार पदारथ एक कर, सुरत निरत मन पौन।
असल फकीरी जोग यह, गगन मंडल को गौन ॥२१॥
—वही, पृ० ५५। २. वही, पृ० २७।

३. वही, पृ० २६। ४. वही, पृ० २६। ५. वही, पृ० ५६।

६. 'साहब साहब क्या करै, साहब है परतीत।
भैंस सींग साहब भया, पांडे गावें गीत ॥२६॥'
—वही, पृ० २२।

७. इंडियन साधुज, पृ० २३४।

शिष्य बन गया जिस बात को सुन कर उसके पिता को बड़ा क्रोध हो आया। इस कारण उसने गरीबदासजी से पूछा, "बयं।जी, मेरे बेटे को तो तू ने साधु बना लिया, अब उसकी घरवाली तेरी बहन का हाल क्या होगा?" इसके उत्तर में इन्होंने उससे कहा, "यदि उसे मेरी बहन समझते हो तो वह मेरी बहन ही होकर रहेगी।" इसके अनंतर संतोषदासजी की पत्नी को यह समाचार सुनकर ऐसा विराग जगा कि वह भी इनकी चेलिन बन गई और इनकी सेवा में रहने लग गई। संत गरीबदासजी संतचरणदास के समकालीन थे और कहा जाता है कि ये अपनी दिल्ली यात्रा में कभी उनके यहाँ ठहरे भी थे। इनके नाम से प्रचलित पंथ का वास्तविक संगठन इनकी छठी पीढ़ी वाले दयालुदास द्वारा किया गया था। इन्होंने उसके अंतर्गत कई परिवर्तन किये तथा 'मंदिर' कहे जानेवाले स्थानों को 'गुरुद्वारा' का नाम दिया और केन्द्रों को 'आश्रम' कहा। इनके समय से सम्प्रदाय में क्रमशः वैराग्य-भाव का प्रवेश भी होने लग गया। महंतों के लिए ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया जाने लगा। इस पंथ के लगभग १२५ केन्द्र हैं जो विशेषकर पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में फैले हुए हैं।[१] परन्तु इसका प्रधान केन्द्र 'छुड़ानी', जिला रोहतक में ही है। वहाँ पर इनके वंश वाले कदाचित् अभी तक भी किसी-न-किसी रूप में रहते चले आये हैं। इस पंथ की अनेक बातों के कबीर-पंथ से भी मिलते आने के कारण इसे कुछ लोग भ्रमवश उसकी एक शाखा मात्र भी मान लिया करते हैं। किंतु इसके इतिहास पर विचार करने से यह ठीक नहीं जान पड़ता। यह सम्प्रदाय उससे सर्वथा स्वतंत्र माना जा सकता है, यद्यपि इसे दरिया पंथ आदि के समान उससे विशेष प्रभावित भी कह सकते हैं।

१३. पानप-पंथ

प्रारंभिक जीवन

संत पानपदास के जन्म का विख्यात राजा बीरबल के वंश में होना प्रसिद्ध है। इस कारण ये जाति के अनुसार ब्रह्मभट्ट भी कहे गए हैं। इनका जन्म सं० १७७६ के अंतर्गत किसी समय होना बतलाया जाता है, यद्यपि एक मत से वह १७७५ भी हो सकता है।[२] इनके जन्म-स्थान का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया है। डॉ० बड़थ्वाल इसे बिजनौर के जिले में 'नगीना-

१. इंडियन साधुज, पृ० २३४।

२. पानपदास जी की बानी की, सं० १६४२ में की गई किसी प्रतिलिपि के प्रारंभिक विवरण में इनका सं० १७७५ में प्रकट होना लिखा है। —हिंदी अनुशीलन, प्रयाग अक्टूबर-दिसंबर १६५७ ई०, पृ० २४।

धामपुर'-जैसे किसी नगर का होना समझते जान पड़ते थे[1], किंतु इस बात का कोई समर्थन नहीं पाया जाता। साधारणतः अनुमान किया जाता है कि वह स्थान दिल्ली के निकट कहीं उत्तर प्रदेश में ही होगा। कहते हैं कि संत पानपदास के पूर्वजों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। इनके जन्म के कुछ ही दिनों पीछे दुर्भिक्ष द्वारा प्रभावित होने के कारण इनके माता-पिता को इन्हें किसी जंगल में पेड़ के नीचे सुला कर अनाथ की दशा में छोड़ देना पड़ा था। वे भूख के मारे स्वयं कष्ट में रहने के कारण कंद मूल संग्रह करने के यत्न में कुछ दूर निकल गये और उन्होंने अपने इस बालक की सुध तक नहीं ली। प्रसिद्ध है कि इसी बीच वहाँ पर कोई 'तिरषान'[2] जाति का व्यक्ति आ पहुँचा जिसने वात्सल्यभाव से प्रेरित होकर उन्हें अपनी गोद में उठा लिया और अपने पास कोई संतान न रहने के कारण वही इस बालक का लालन-पालन भी करने लग गया। संयोगवश इनको अपने घर लाने के दिन से अपने परिवार की उन्नति के शुभ लक्षण पाकर उसने क्रमशः इनके पढ़ाने का भी प्रबंध किया। इसके फलस्वरूप इन्होंने कुछ दिनों में संस्कृत तथा फ़ारसी का भी थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लिया। परन्तु पढ़ाई-लिखाई के साथ ही इनकी रुचि शिल्प-कला की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई जिससे इन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन में राजगीर का काम भी सीख लिया।

गुरु से भेंट और कार्यक्रम

अपना शिक्षा-काल बीत जाने पर इन्होंने राजगीर का काम आरंभ कर दिया और इस ओर इनकी अच्छी ख्याति भी हो चली। परन्तु, संयोग की बात कि एक दिन किसी कबीर-पंथी ने इनसे प्रसंगवश महात्मा मँगनीरामकी चर्चा छेड़ दी जो अलवर राज्य के अंतर्गत किसी 'तिजारा' नामक गाँव में रहा करते थे और एक उच्च कोटि के साधक थे। वे वहाँ किसी 'झूराज' नामी भड़भूजे के घर एक कोठरी में रहते थे और सदा परमात्मा के ध्यान में लीन रहा करते थे। उनकी वेश-भूषा बहुत कुछ निरे पागलों की जैसी थी जिस कारण उनके निकट जा पाने का कोई साहस भी नहीं करता था। तदनुसार पानप से भेंट

---

१. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४४१।

२. महर्षि शिवव्रतलाल वर्मन ने अपनी 'संतमाल' (पृ० १८६) में 'तिरषान' की जगह 'मीमार' (राज) जाति की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि इन्हें पालने वाले व्यक्ति ने इसी कारण इन्हें १४-१५ वर्ष की अवस्था से ही राजगीरी का काम भी सिखला दिया था। —लेखक।

होने पर उन्होंने इन्हें भी बहुत डाँट-फटकार बतलायी जिसका प्रभाव इनके ऊपर किसी प्रकार प्रतिकूल नहीं पड़ा, प्रत्युत ये उनकी ओर आकृष्ट भी हो गए। महात्मा मँगनी राम ने उस समय तक किसी को दीक्षित नहीं किया था, किंतु इनके आग्रह पर उन्होंने इन्हें दीक्षा भी दे दी। तत्पश्चात् उन्होंने पाँच अन्य व्यक्तियों को भी दीक्षित किया जिनके नाम बिहारीदास, अचलदास, ख्यालीदास, गंगादास और हरिदास प्रसिद्ध हैं। पानपदास उनसे दीक्षित होकर कुछ दिनों तक एकांत में साधना करते रहे। किंतु ये फिर अपने पूर्व व्यवसाय में ही लग गए और इनका दैनिक कार्यक्रम फिर एक बार उसी प्रकार चलने लगा जिस प्रकार पहले चला करता था। कहते हैं कि एक समय अपने उस कार्य की खोज में इन्हें बिजनौर जिले के धामपुर नामक नगर में जाना पड़ा गया, जहाँ पर किसी वैश्य का मकान बन रहा था। इन्होंने वहीं पर कारीगरों में मिल कर काम करना आरंभ किया। किंतु अभी तक उस मकान की चिनाई पूरी भी नहीं हो पायी थी कि किसी साधू ने इन्हें अपनी आध्यात्मिक साधना का स्मरण दिला दिया और ये उस कार्य को छोड़ कर पुनः अपने गुरु के यहाँ आ गए।

दिल्ली-यात्रा तथा धामपुर-निवास

महात्मा मँगनी राम के यहाँ पहुँच कर इन्होंने फिर उनके साथ कुछ दिनों तक सत्संग किया। अंत में उनकी आज्ञा पाकर ये वहाँ से दिल्ली चले गए तथा वहाँ रह कर इन्होंने सर्वप्रथम अपने उपदेश सर्वसाधारण में देना आरंभ किया। कहते है कि उस समय वहाँ पर किसी सत्संग-मंदिर का निर्माण भी किया गया जिसका इस समय भी वहाँ के बहादुरगढ़ रोड पर महावीर गली में विद्यमान रहना बतलाया जाता है। प्रसिद्ध है कि वहाँ के 'तेली बाड़े' में इनके पंथ की कोई गद्दी भी पीछे स्थापित हो गई जो कदाचित् आज तक भी चल रही है। परन्तु, वहाँ का कार्यक्षेत्र तैयार कर लेने पर ये फिर अपने पूर्व परिचित स्थान धामपुर चले आये, जहाँ पर चिनाई का काम अभी पूर्ववत् चल रहा था। ये वहाँ आकर उसमें फिर एक बार प्रवृत्त हो गए और ये उसे पहले से भी अधिक परिश्रम के साथ पूरा करने लगे। परन्तु इनके साथी श्रमिकों को इनकी वैसी लगन पसंद नहीं पड़ी और उन्होंने द्वेष-भाव से प्रेरित होकर इनके कामों में छिद्रान्वेषण आरंभ किया। उस बनाये जानेवाले मकान के मालिक को सुझा दिया कि पानप ने उसकी किसी दीवार को कुछ टेढ़ी कर दी थी। इस पर मकान के मालिक ने उस दीवार की जाँच की और उसे सचमुच टेढ़ी मानकर इन्हें अपने काम से हटा देने की धमकी दी। परन्तु, प्रसिद्ध है कि इन्होने उक्त दीवार को केवल छूकर ही सीधी कर दी जिससे प्रभावित होकर मकान मालिक ने इनसे क्षमा माँगी।

उस मकान को भी इन्हें दे दिया जिस कारण उस स्थान का महत्व बढ़ गया और ये तब से वहीं ठहर कर लोगों को उपदेश भी देने लग गए। यह स्थान धामपुर के लोहियान नामक मुहल्ले में इस समय भी 'पानपदास जी महाराज का स्थान' अथवा 'महल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही अभी तक पानप-पंथ के अनुयायियों का प्रधान केन्द्र समझा जाता है और यहीं पर इस सम्प्रदाय की मुख्य गद्दी भी वर्तमान है।

अंतिम दिन तथा शिष्य

कहते हैं कि धामपुर को अपने कार्यक्षेत्र का प्रमुख केन्द्र मान कर ये वहाँ से कभी-कभी अन्य स्थानों के लिए भी चले जाते थे। तदनुसार इन्होंने क्रमशः बावरी, मेरठ, सरधना तथा दिल्ली जैसे-कई नगरों की यात्रा करके वहाँ पर अपने मत का प्रचार किया। इन्हें अपनी निंदा अथवा स्तुति की कोई वैसी परवाह न थी और ये सदा अपनी धुन में ही लगे रहे। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने किसी ऐसी स्त्री को अपने 'महल' में स्थान दे दिया जो अपने पति का देहांत हो जाने के कारण रो रही थी। असहाय की अवस्था में उसका भविष्य बड़ा अंधकारमय जान पड़ता था। इन्होंने उस पर दया करके उसकी छोटी बच्ची को अपनी गोद में उठा लिया और अपने यहाँ लाकर उन दोनों की सहायता के लिए किसी 'बुद्धन' नामक स्त्री को नियुक्त कर दिया। इस पर चारों ओर प्रवाद फैला कि इन्होंने 'गृहस्थी' आरंभ कर दी है और इनके यहाँ आना-जाना तक भी कुछ लोगों ने बंद कर दिया। परन्तु, वास्तविक तथ्य का ज्ञान हो जाने पर फिर इनके प्रति सभी की श्रद्धा पूर्ववत् बन गई और इनको प्रसिद्धि और भी बढ़ गई। कहते हैं कि इनके श्रद्धालुओं मे एक जिला बिजनौर के नज़ीबाबाद का नवाब भी था जिसने उस नगर को इनके सत्संग के ही लिये बसाया था। पानपदास ने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग धामपुर में ही व्यतीत किया और अपने अंतिम समय में इनके वृद्ध गुरु महात्मा मॅगनीराम भी यहीं आकर ठहरे तथा उन्होंने अपना शरीर भी त्याग किया। इस घटना के अनंतर फिर सं० १८३० की फाल्गुन कृष्ण ७ को स्वयं इनका भी देहांत वहीं पर हो गया। यहीं पर इनकी समाधि भी निर्मित हुई, जहाँ प्रति वर्ष इनके मृत्यु-दिवस पर एकत्र होकर इनके अनुयायी इनका 'भंडारा' किया करते हैं तथा इनकी वाणियों का पाठ भी हुआ करता है। यहाँ पर इनके अतिरिक्त महात्मा मँगनीराम तथा इनके प्रिय शिष्य काशीनाथ तथा अन्य कई शिष्यों-प्रशिष्यों की भी समाधियाँ बनी हुई हैं। वहाँ पर एक बड़े अहाते के भीतर अनेक व्यक्ति अपनी भेंट-पूजा चढ़ाते और मनौतियाँ भी मनाया करते हैं। प्रसिद्ध है कि इनके शरीर त्याग के अवसर पर

इनके शिष्यों में से चार अर्थात् मनसादास, काशीदास, चूहड़राम तथा बुद्धिदास वहाँ उपस्थित थे। इन चारों में से अपने गुरु के उत्तराधिकारी मनसाराम स्वीकार किये गए और उनके साथ जो गद्दीधारियों की परंपरा चली वह आज भी विद्यमान है। इनके शिष्यों में से चूहड़दास के लिए कहा जाता है कि उन्होंने पंजाब में जाकर मत का प्रचार किया और उनके भक्तों में महाराज रणजीत सिंह भी थे।[1]

रचनाएँ

संत पानपदास की रचनाओं के संग्रह का 'बानीग्रंथ' के नाम से धामपुर वाले मठ में सुरक्षित रहना बतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि उनकी एक प्रतिलिपि दिल्ली के सत्संग भवन में भी वर्तमान है तथा वहाँ पर इनका एक चित्र भी रखा हुआ है। पूरा 'बानी ग्रंथ' कदाचित् अभी तक भी प्रकाशित नहीं हो पाया है, यद्यपि उसका अधिकांश 'अथ ग्रंथ सुषम वेद' के नाम से मुद्रित होकर 'तेलीवाड़ा देहली' से निकल चुका है। उसका एक 'संक्षिप्त' रूप भी 'पानपबोध' के नाम से उपलब्ध है। धामपुर मठ मे इस ग्रंथ की सर्वप्रमुख प्रति से पाठ किया जाता है और इसकी वहाँ पर अन्य कई प्रतियाँ भी सुरक्षित कही जाती है। श्री वेद प्रकाश गर्ग के अनुसार इस महान ग्रंथ की बानियों वा सब्दियों का विभाजन ५१ अंगों में हुआ है। उनके अतिरिक्त संभवतः कुछ 'पद' हैं जिन्हें उन्होंने 'अरल', 'अरल फ़ारसी की' तथा 'शब्दी फ़ारसी की साखी'-जैसे नामों द्वारा अभिहित किया है। उसमें संगृहीत फुटकर ग्रंथों के नाम क्रमशः १. 'नामस्तोत्र ग्रंथ' २. 'गगनडोरी ग्रंथ' ३. 'नामलीला ग्रंथ', ४. ज्ञान सुखमनी ग्रंथ' ५. 'काया सोध ग्रंथ', ६. 'तत्त्व उपदेश ग्रंथ', ७. 'भक्तबोध ग्रंथ', ८. 'समझमात्रा ग्रंथ', ९. 'सोहला ग्रंथ', १०. 'प्रेमरतनी ग्रंथ', ११. 'भ्रष्ट को अंग ग्रंथ' तथा १२. 'इश्क़ग़र्क ग्रंथ' दिये गए हैं। इसके अनंतर कड़के, झूलने जैसे स्फुट छंदों के भी नाम गिनाये गए हैं। इसके सिवाय 'शब्द फ़ारसी' के तथा 'शब्द'-जैसे दो शीर्षकों के अनुसार विभिन्न राग-रागिनियों का भी विवरण दिया गया है। अंत में कबीर साहब, नानक साहब-जैसे १४ विभिन्न संतों की संगृहीत बानियों का उल्लेख किया गया है।[2] इस प्रकार इस संक्षिप्त परिचय के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त 'बानीग्रंथ' का कलेवर साधारण नहीं होगा। महर्षि शिवव्रत लाल ने संत पानपदास की रचनाओं में इनकी १. साखियों (५०० दोहे), २. नामस्तोत्र, ३. ज्ञान सुखमनी, ४. नामलीला, ५. गगन-

---

१. पानपबोध, मुजफ्फरनगर, सं० २०१८—जीवन चरित्र, पृ० 'ट'।

२. हिंदी अनुशीलन, प्रयाग, अक्तूबर-दिसंबर, १९५७ ई०, पृ० ५८-६०।

डोरी, ६. कलाभूत, ७. तत्त्व उपदेश, ८. इष्ट, ९. समझनातो, १०. सोहिला, ११. प्रेमरतन, और १२. इश्क अर्क की चर्चा की है।[1] इनमें से १, २, ३, ४, ५, ७, १०, ११ तथा १२ तो प्राय: ठीक उक्त प्रथम सूची से मिल जाते जान पड़ते हैं। शेष नामों में से 'कालाभूत', 'कायासोध' का 'इष्ट', 'भ्रष्ट को अंग' का तथा 'समझनातो'' 'समझमात्रा' का विकृत रूप प्रकट करता प्रतीत होता है। इनमें 'भक्तबोध' का नाम आता नहीं जान पड़ता। इनमें से किसी भी रचना के स्वयं पानपदास जी कृत होने वा न होने अथवा उसके पाठ की प्रामाणिकता पर कदाचित् अभी तक भी विचार नहीं हो पाया है, न आज तक इनके किसी अनुयायी द्वारा प्रस्तुत की गई किसी कृति का ही पता चल सका है।

मत और साधना

पानप-पंथ के अनुयायियों के संबंध में कहा गया है कि वे "अपना मूल संबंध (निकास) 'हरिव्यासी शाखा' के प्रवर्त्तक निंबार्क-सम्प्रदायी श्री हरि व्यास-देवाचार्य जी के शिष्य श्री स्वभूदेवाचार्य जी से बतलाते हैं।" परन्तु न तो इसके लिए कोई निश्चित आधार निर्दिष्ट किया गया है, न ऐसे किसी संबंध का कोई ऐतिहासिक विवरण ही दिया गया है। इस कारण इस मत की कोई समीक्षा कर पाना कठिन है। इसीलिए इस विषय में कोई अंतिम निर्णय भी हम नहीं दे सकते। जहाँ तक 'बानीग्रंथ' के उपलब्ध अंशों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है, यह पंथ भी अधिकतर कबीर साहब तथा अन्य वैसे संतों के सिद्धांतों और साधनाओं को ही आदर्शवत् स्वीकार करता जान पड़ता है। इस मत के अंतर्गत पायी जानेवाली सामान्य बातों के अतिरिक्त स्वयं संत पानपदास की एकाध पंक्तियों से भी प्रकट होता है कि इन्होंने अपने को 'नानक दास' तथा 'कबीर का चेरा' तक भी घोषित किया था। उन दोनों को और अपने को एक ही साथ 'सकल सृष्टि' का एक सरीरा बतलाते हुए भी इस प्रकार की समानता की ओर संकेत किया था।[2] इन्होंने इसी प्रकार एक स्थल पर यह भी कहा है, "मैंने 'भेष' की खोज करते समय स्वयं 'दत्त' को अकेला पा लिया था। उन्होंने मुझे दीन जान कर दीक्षा दे दी थी।"[3] अतएव, ऐसी किसी प्रत्यक्ष भेंट के संबंध

---

१. संतमाल, संतसमागम, जिल्द ३, लाहोर, १९२३ ई०, पृ० १९१।

२. "नानकदासा और कबीरा, पानपदास तिन्हौं का चेरा।
नानक पानपदास कबीरा, सकल सृष्टि का एक सरीरा॥"४२॥
—पानपबोध पृ० १५८।

३. "दीन जानि मोहि दीक्षा दीनी, दत्तगुरू मैं चेला।
फोज फिरे है भेष की, मैं देखा दत्त अकेला॥४६॥" —वही।

में जो भी कहा जाय, इसमें संदेह नहीं कि इनकी बानियाँ तत्त्वत: उन्हीं बातों का अनुगमन करती हैं जो प्रधानत: कबीरादि संतों की रचनाओं में पायी जाती हैं। संत पानपदास ने अपने एक पद के अंतर्गत बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि केवल परमतत्त्व अथवा परमात्मतत्त्व का ही अस्तित्व है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।[1]

वही

संत पानपदास के अनुसार "वह तत्त्व 'अलख' अथवा इन्द्रियातीत है, किंतु उसका प्रवेश प्रत्येक 'घट' के भीतर है। यदि सुरति के साधन द्वारा उसे प्रत्यक्ष करना चाहें, तो वह अगमदेश में पहुँच जाने पर अरूप होकर भी दीखने लग जाता है।[2]" वास्तव में 'संत' लोग उसे अपने मन के भीतर ही लख लिया करते हैं। इस कारण वह उनके लिए 'अलख' भी कहलाने योग्य नहीं है चाहे दूसरों के लिए उसे ऐसा क्यों न कह दिया जाय।"[3] यदि सच कहें तो, "सच कोई भी साहूकार कहे जा सकते हैं, क्योंकि सब किसी की गाँठ में वह 'लाल' बँधा हुआ है। हम अपनी गाँठ कर कभी देखा नहीं करते। इसीलिए 'कंगाल' बन कर सब कहीं मारे-मारे फिरा करते हैं[4]।" अतएव इनका कहना है, "तुम इधर उधर टाल-मटोल करते हुए समय क्यों नष्ट कर रहे हो अपने भीतर वाले बिना तार के तंबूरे को बजाओ, मन की खूँटी खींचो जिस पर पाँच तार लगे हुए हैं। ऐसा करते ही वह विचित्र सारंगी बजने लगेगी। तुम वह अनहद नाद का मधुर स्वर सुनने लग जाओगे जिसे बिरले लोग सुन पाते हैं[5]।" उस दशा में "बिना

---

१. "यो मैं जाना एक तूही जी, यों मैं जाना एक तूही।
तूही राम तूही रहमाना, दुजा कोई और नहीं ।।टेक।।
'मैं' कुछ नांही 'तू' कुछ नाहीं, जो कुछ है सो है ही जी।
जगत लिपट रह्यो दुविधा सेती, बह्यो जात है योंही जी ।।१।।
—वही, पृ० ३।

२. "अलख अरूप रूप बिन देखे, घट घट में प्रवेस।
कहे पानप दासे सुरति सूं, जो चढ़े अगम के देस ।।"१२।। पृ० १०६।

३. "अलख अलख सब कोई कहे, लखन सके कोइ ताहि।
संत अलख कैसे कहै, जिन लख लीनो मन माहि ।।१३"।।—वही

४. "सबही साहूकार है, सबकी गांठी लाल।
गांठ खोल देखे नहीं, तासों फिरे कंगाल" ।।१।। —पृ० १४६।

५. "टाला टूली क्या करे, तू तार से तार मिलाव।
मन की खूंटी खैंच के, अनहद नाद बजाव ।।४।।

मुख से 'राम' का उच्चारण किये भी भीतर भक्ति की साधना चलने लगेगी, क्योंकि उस भीतरी ध्वनि में अपना मन स्थिर हो जायगा तथा मुक्ति का रहस्य भी मिल जायगा[1]।" इसी प्रकार "अपने भीतर लीन रहनेवाले तथा बाहर से सब किसी की जैसी काल चलते रहनेवाले" को ही पानपदास ने 'संत' की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है, "ऐसे महापुरुष के दर्शन से भी चित्त आनंदित हो जाया करता है।" वास्तव में ऐसा ही आदर्श कबीर साहब का भी है जिनके विषय में इन्होंने इस प्रकार भी कहा है, "कबीर का ही 'शब्द' वा उपदेश ठीक है जिसे ग्रहण करनेवाला भव-सागर के पार पहुँच जाता है और बिना उस 'अक्षर' की खोज किये लोग चिल्ला-चिल्ला कर मर जाते हैं।"

पंथ की वंशावली
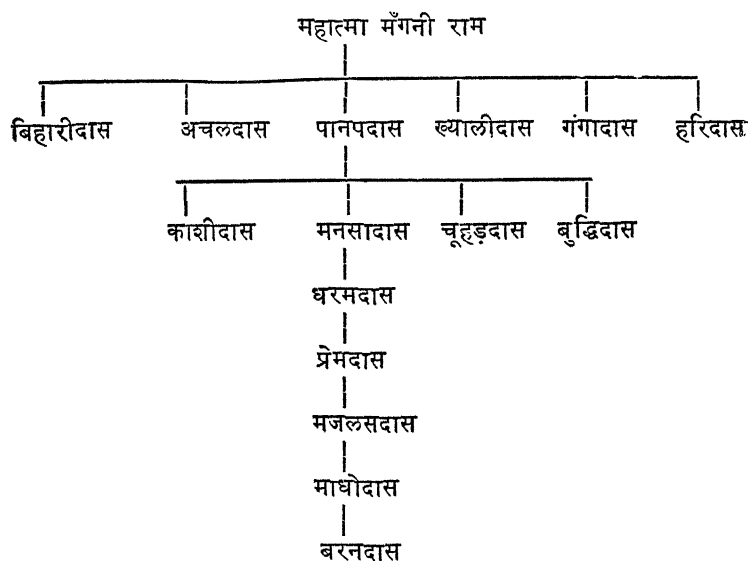
पांचो तार लगे हैं तापर, बाजे अजब सरंगी।
कहे पानप कोई और सुनेना, सुने साधु ओ संगी ॥५॥ —पृ० ८८।

१. "भक्ति सोई अंतर भजे, मुखसूं कहे न राम।
कहे पानप सुमरे सुरतसूं, ताके सरै काम ॥६॥
"भक्ति नहीं कुछ गावना, पढ़ना भक्ति न होय।
अंतर धुन मन थिर रहे, पानप सांची भक्ति सोई" ॥६॥ —पृ० १२१।
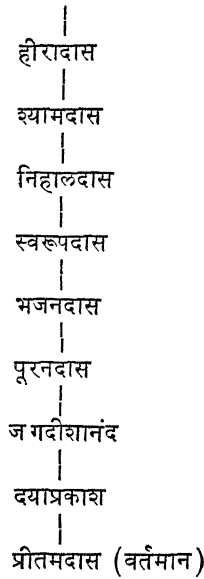
१४. साँई-पंथ वा साँईदाता-सम्प्रदाय

मोहनशाह और उनके शिष्य-प्रशिष्य

'साँई-पंथ' अथवा 'साँईदाता-सम्प्रदाय' के अनुयायियों में 'साँई' शब्द का प्रयोग मूलतः उस परमतत्त्व वा परमात्मा के लिए होता है जो परात्पर होता हुआ भी अखिल विश्व का परमस्वामी तथा प्रियतम रूप है। तदनुसार उनके यहाँ इसे प्रायः उस सद्‌गुरु के लिए भी प्रयुक्त कर दिया जाता है जिसने उसकी उपलब्धि कर ली है। इसी कारण वहाँ इसे स्वयं परमात्म रूप में स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इस पंथ के मूल प्रवर्त्तक मोहनशाह माने जाते हैं जिनके जीवन-काल अथवा जीवन-वृत्त के विषय में हमें यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनके लिए केवल इतना प्रसिद्ध है कि इनका जन्म वर्तमान फ़ैजाबाद जिले (उत्तर-प्रदेश) के मिल्कीपुर थाने के पास बसे हुए किसी 'मझनाई' नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने पर्यटन करते समय संभवतः बुंदेलखंड की ओर तक भी यात्रा की थी। इनके किसी गुरु का भी हमें अभी तक पता नहीं चला है, न यही विदित हो सका है कि इनका देहांत कब हुआ था। इनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर केवल इस प्रकार कह सकते हैं कि इनकी विचार-धारा संत कबीर साहब के मत से बहुत प्रभावित जान पड़ती है। इनकी शिष्य-परंपरा के अनुसार गणना करने पर यह अनुमान होता है कि ये विक्रम की

१६ वीं शताब्दी में वर्तमान रहे होंगे। कहते हैं कि मोहनशाह के शिष्यों में फ़ौरमशाह, अहमक़शाह, सचनाशाह तथा विजनशाह ये चार अधिक प्रसिद्ध हुए। इनमें से प्रथम अर्थात् फ़ौरमशाह मोहनशाह के 'लिखनीचंद' अथवा लिपिक का काम करते थे और उनकी बानियाँ लिख लिया करते थे। ये कदाचित् कुछ ठाट-बाट के साथ भी रहा करते थे जिस कारण इन्हें 'बाँका' कहा गया है।'[1] इनकी गद्दी 'जनौरा', जिला फैज़ाबाद में है। इसी प्रकार सचनाशाह के लिए कहा गया है कि इनका निवास-स्थान उक्त मिल्लीपुर से ४-५ मील की दूरी पर स्थित किसी "मीठेगाँव" नामक ग्राम में था। विजनशाह भी उससे केवल ३ मील दूर वाले 'दसौली गाँव' के निवासी थे। शेष चौथे शिष्य अहमक-शाह के लिए कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध नगर लखनऊ के रहनेवाले थे। इनके प्रमुख शिष्य तथा उत्तराधिकारी का भी नाम शाहबालाशाह[2] के रूप में लिया जाता है। कहते हैं कि इन दोनों की समाधियाँ मिल्कीपुर वर्तमान हैं। परन्तु शाहबालाशाह के उत्तराधिकारी महाआनंदशाह के लिए प्रसिद्ध है कि ये 'चनउर', जिला सुलतानपुर में रहा करते थे। ये एक योग्य 'कवीश्वर' भी बतलाये जाते हैं। कहा जाता है कि इनका देहांत सं० १६८७ : सन् १६३०-१ ई० में किसी समय हुआ था। संभवतः महाआनंदशाह के ही समय से 'चनउर' स्थान को सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र का गौरव प्रदान किया जाने लगा। वहाँ पर आज तक भी उनके प्रमुख शिष्य अबरनशाह के उत्तराधिकारी अन-रूपशाह, उनके स्थान पर वर्तमान है। अबरनशाह पहले सुलतानपुर के किले के निकट रहा करते थे, किंतु चनउर में रहते समय इन्होंने समाधि ली। चनउर में इन दोनों की ही समाधियाँ बनी हुई हैं और वहाँ पर अबरनशाह की मृत्यु तिथि माघ सुदी ७ को प्रतिवर्ष कोई मेला भी लगता है। इसके सिवाय अबरनशाह की प्रेरणा पाकर महाआनंदशाह से 'माला' प्राप्त करने वाले सद्गुरुशरण जी का स्थान इस समय 'चिलबिला' प्रतापगढ़ में बना हुआ है। जहाँ पर ये अपनी साधना में निरत रह कर उपदेश दिया करते हैं। इनका जन्म-स्थान, जिला सुलतानपुर के मोहोना नामक स्थान के निकट बसे हुए 'पुरा सेवा सिंह' गाँव में बतलाया जाता है। सं० १६६२ : ८ जुलाई सन् १६३५ ई० से ये प्रतापगढ़

१. "सचना सर, अहमक़ कै साका।
विजन बहादुर, फ़ौरम बांका॥"
इस प्रकार की उक्तियाँ सम्प्रदाय के अनुयायियों में प्रसिद्ध हैं।

२. इनके तथा सचनाशाह के लिए भी कहा जाता है कि ये दोनों स्त्री रूप थे।
—लेखक

में रहने लगे हैं और इनकी अवस्था इस समय ७०-७५ वर्ष की होगी। मोहनशाह के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपनी बुंदेलखंड वाली यात्रा के समय वहाँ के किसी 'समद' नामक मुस्लिम फ़कीर को अत्यंत प्रभावित किया था। वह इनका शिष्य भी हो गया था, किंतु इस संबंध में अधिक ज्ञात नहीं है।

मोहनशाह की रचनाएँ

मोहनशाह की प्रसिद्धि इनके 'मोहन साँई' नाम से अधिक दीख पड़ती है। इनके द्वारा प्रवर्त्तित पंथ के अनुयायियों में से भी जिन्हें 'पहुँचा हुआ संत' समझा जाता है उनके नामों के आगे प्रायः 'साँई' शब्द जोड़ दिया जाता है। तदनुसार ऐसे लोगों को 'साँई बाबा' कहे जाते हुए भी देखा जाता है। मोहन साँई नामक किसी व्यक्ति द्वारा 'तुलसी चौरा' (अयोध्या) के संबंध में निर्मित एक रचना पायी जाती है जो प्रकाशित भी हो चुकी है।[1] लाला सीताराम ने उसे प्रकाशित करते समय उसके रचयिता का 'एक मुसलमान फ़कीर' होना माना था, किंतु चन्द्रबली पांडेय ने उसे 'साँई-मत के प्रवर्त्तक 'मोहन साँई' की कृति समझ ली है। उन्होंने अनुमान किया है कि यह संभवतः सं० १८१२ के पहले रची गई होगी।[2] इस संबंध में हमें किसी अन्य आधार का पता नहीं चलता, किंतु यह देखते हुए कि इसके रचयिता ने अपने को स्पष्ट शब्दों में 'मोहन साँई' कहा है,[3] जहाँ संत मोहनशाह की उपलब्ध बानियों में हमें उनका अपने को प्रायः सर्वत्र अपने मूल नाम से ही अभिहित करना दीख पड़ता है। इन दोनों को एक तथा 'अभिन्न' स्वीकार कर लेना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। हमें तो इसकी रचना-शैली भी उन 'शब्दों' की जैसी नहीं जान पड़ती जो संत मोहनशाह के नाम से पाये जाते हैं। संत मोहनशाह वा इन मोहन साँई की रचनाओं का सबसे प्रसिद्ध संग्रह हमें 'अरस बेग़म सार' के रूप में मिलता है जो अप्रकाशित है। इसमें विभिन्न विषयों पर रचे गए २३६ पद संगृहीत हैं। उन्हें 'शब्द भजन', 'शब्द मंगल', 'शब्द नेछू', 'शब्द छपका'-जैसे शीर्षकों में दिया गया है। इस संग्रह की उपलब्ध प्रति में संगृहीत रचनाओं के निर्माता मोहनशाह को प्रारंभिक तथा अंतिम अंशों में 'सतगुर' कहा गया प्रतीत होता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसका संग्रह-कार्य स्वयं उन्हीं ने नहीं किया होगा। परन्तु जहाँ तक इसकी वाली

१. माधुरी, मासिक पत्रिका, लखनऊ, वर्ष १४ खंड २ सं० ३, पृ० ३६४-५।
२. चन्द्रबली पांडेय : तुलसी की जीवन-भूमि, काशी, सं० २०११, पृ० १४१-२।
३. "तुम्हारा गुन गावे सांई मोहन। बनेगा जब तक अजल का कौरा॥"६॥
—माधुरी, पृ० ३६५।

अन्य रचनाओं के विषय में कहा जा सकता है, उनमें से कम-से-कम अधिकांश अवश्य उन्हीं के द्वारा निर्मित होंगी।

मोहनशाह की विचार-धारा

संत मोहनशाह ने अपने मत का परिचय देते समय कहा है, "वहाँ पर न तो वोहंग (संभवतः ॐ) है, न 'सोहम्' का ही कोई स्थान है। वह 'नाम' बिना किसी अक्षर का है तथा सर्वथा अनुपम भी है। वहाँ पर न ब्रह्मा है, न विष्णु है, न शिव है, न कोई सृष्टि है, न पानी है, न पवन है, न सूर्य है, न चन्द्रमा है और न कोई तीर्थ-स्थान है। वहाँ पर वेद, पुरान, कुरान, देवताओं अथवा आचार-कर्म की भी गम नहीं है और न कोई मंत्र-तंत्र, पाठ-पूजा वा भेष ही है। वहाँ पर किसी प्रकार की प्रतिमा की कोई आवश्यकता नहीं है तथा वह 'धाम' 'असीधाम' के भी परे है। वहाँ पर 'अलख टकसार' मात्र की ही सत्ता है जिसे केवल ऐसा हरिजन ही लख सकता है जो ससि (सत्स्वरूप परमतत्त्व) की शरण में चला गया हो।"[1] परन्तु फिर भी वह 'अगम निसान' हम से कहीं दूर नहीं है, प्रत्युत अपने भीतर ही अनुभव में आ सकता है। जिस किसी को उसकी अनुभूति हो जायेगी उसके लिए सरयू, गुप्तार घाट, सर्ग द्वार, चित्रकूट, मथुरा, विश्राम-घाट, अथवा चारों धाम तक अपने पास ही जान पड़ेंगे और वह गुरु-मत को प्राप्त करके परमपद में लीन रहेगा[2]। इसके लिए इन्होंने साधक को 'निःकरमी भक्ति' अथवा वाह्योपचार-विहीन सहज-साधना को अपनाने का परामर्श दिया है। इसे जोते जी उपलब्ध करने का आश्वासन देकर उसके 'विज्ञानी' बन जाने का भी चित्रण कर दिया है।[3] इनके शब्दों में हमें इनकी भक्ति का

---

१. "औधू ऐसो मता हमारा ॥ टेक ॥
ना हुंआ वोहंग न हुंआ सोहंग नाम निअक्षर न्यारा।
ना हुंआ ब्रह्मा विश्नु महेसा, नाही सृष्टि पसारा।
पानी पवण, रवि ससि हुंआ नाही, नाही तिरथ जलधारा।
वेद पुरान कुराण न देवा, नाहीं करम अचारा।
मंत्र जंत्र पाठ नहि पूजा नाहिन भेष पसारा।
कुलिस कांस पाथर नहि देवा, नाही बरन बिचारा।
असीधाम के पार धाम है, तहां अलष टकसारा।
मोहनसाह लषे कोई हरिजन, जो सति सरन सिधारा ॥१३॥"
अप्रकाशित प्रति।

२. वही, शब्द २४। ३. वही, शब्द २२।

दांपत्य-भाव वाला रूप भी स्पष्ट दीख पड़ता है और इनकी ऐसी रचनाएँ बहुत ही ललित तथा मार्मिक भी जान पड़ती हैं। कहीं-कहीं पर ऐसी रचनाओं के अंतर्गत इन्होंने किसी साधक 'सखी' का अपनी 'सुरति की डोर' को प्रेम से पकड़ कर विना हाथ के स्पर्श किये सिर पर गागर के विना छलकती हुई ले जाने का चित्र खींचा है।[1] कहीं पर अपने प्रियतम से अपने विरही रूप के प्रति तरस पैदा करके अपनी ओर 'ताकने' का अनुरोध किया है,[2] तो कहीं-कहीं उसकी मुसकराती हुई मुख-मुद्रा के साथ अपने ऊपर दृष्टि डालने का भी वर्णन किया है।[3] वास्तव मे इनके ऐसे शब्दों मे हमे एक अनुपम आनंद तथा मस्ती के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं जो केवल इनकी परमसिद्धि के ही परिचायक हो सकते हैं। इनका कहना है, "बैकुंठ वा बहिश्त को भाड़ में झोंक कर यह मुक्ति तक से दूर भाग रहा है। माशूक के गले में बाँहे डाले हुए आज 'मोहन' मनमानी मौज उड़ा रहा है" जिससे इनके वैसे भाव का स्पष्ट पता चल जाता है।[4] संत मोहन साँई के अतिरिक्त महाआनंदशाह की भी कतिपय फुटकर रचनाएँ मिलती है, जिनमें संत-मत-संबंधी विषयों का वर्णन पाया जाता है।

प्रमुख साधना और वेशभूषादि

संत मोहन साँई ने अपने एकाध पदों के अंतर्गत अपने पूर्ववर्त्ती संतों और भक्तो के भी नाम लिये हैं। उनकी भक्ति की प्रशंसा करते हुए उन्हें दूसरों द्वारा आदर्शवत् स्वीकार करने का उपदेश दिया है। इनके अनुयायियों में संत साधकों के यहाँ प्रचलित 'सुरति शब्द योग' वाली प्रसिद्ध साधना को विशेष महत्त्व दिया जाता है। ध्यान करते समय इनके यहाँ अपने सद्गुरु की ओर दृष्टि केन्द्रित करने की पद्धति भी स्वीकृत है। इनके अनुसार सच्चा 'हरिजन' वह है जो 'नाम' को सदा अपने मन में रखता हुआ आचरण करता है तथा जो निरंतर सद्गुरु के चरणों की शरण में रहा करता है। ऐसा करने के कारण उसके तीनों ही ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक) आप-से-आप नष्ट हो जाते हैं और वह मुक्त-स्वरूप हो जाता है।[5] साँई-पंथ के अनुयायियों में अधिकतर दो प्रकार के लोग पाये जाते

---

१. अप्रकाशित प्रति, शब्द २०। २. वही, शब्द ३०।

३. वही, शब्द १८०।

४. "बेहस्त बैकूँठ भार में झोका, मुक्ति देखि दूरि आता है।
मोहन माशूक गले में लाये, मनमानी मौज उड़ाता है।" —वही, शब्द २३१।

५. 'सो हरिजन नाम रहनि मन धरै।
निसदिन सरना सतगुर चरना तीनों ताप हरै।'

है जिन्हें हम 'त्यागी' तथा 'गृहस्थ'-जैसे पृथक्-पृथक् नाम दे सकते हैं। इनमें से गृहस्थ वर्ग वाले अपने गले में एक तुलसी की कंठी बाँधा करते है और प्रायः अपनी दाढ़ी भी बढ़ाये रहते हैं। परन्तु इनमें से 'त्यागी' कहे जानेवालो के लिए कदाचित् यह आवश्यक है कि वे चार बातें स्वीकार करें और इस प्रकार निर्द्वंद्व बने रहें। उन्हें चाहिए कि (१) 'कथरी' (कंथा) और (२) 'कंठी' धारण करें तथा अपने साथ (३) 'हंडी' (मिट्टी की हंडिया) और (४) 'खाट' भी रखा करें।[१] इनके प्रमुख महंतों की ओर से तो प्रायः इस प्रकार भी कहा जाता हुआ सुनते हैं कि 'गुदड़ी' (कथरी वा कंथा) को मुझे 'मुर्दे की थाती के रूप में प्रदान की गई है, वह मुर्दा ही मेरा 'यार' है और मैं मुर्दे का 'साथी' हूँ।[२] पंथ के अनुयायी की अपनी कंठी में तुलसी की मनियों के साथ उनके 'सुमेर' की जगह कोई एक 'तकमा' अथवा शीशम की लकड़ी के बने छोटे चौपहल तमग़े का एक टुकड़ा भी गूँथ दिया गया रहता है जिसके चारों पहलों अथवा पार्श्वों पर क्रमशः 'स' 'ति', 'साँ' और 'ई' अक्षर खोदे मिलते हैं। ये चारों मिल कर एक साथ उस 'सति साँई' शब्द को पूरा करते हैं जो उसके लिए सदा स्मरणीय मंत्र है। ऐसे लोग एक दूसरे के साथ भेंट होने पर बराबर 'सत्त साँई चरण बंदगीबारंबार' का उच्चारण भी किया करते हैं। 'त्यागी' की कंठियों में कभी-कभी एक 'तकमे की जगह दो भी गुँथे पाये जाते हैं। ये लोग अपनी 'खाट' को प्रायः केवल एक फुट ऊँची और सुतली की बुनी रूप में रखते हैं। भोजन-पानादि के लिए केवल मिट्टी का पात्र प्रयोग करते हैं और अपनी दाढ़ी लंबी रहने पर भी सिर के बाल मुंडा लिया करते हैं। इनकी गुदड़ी कभी बदली नहीं जाती, प्रत्युत इनकी समाधि में ही रख दी जाती है। इनके शव को पूरब की ओर सिरहाना तथा पश्चिम की ओर पैर करके गाड़ दिया जाता है। पंथ का वार्षिक मेला प्रति कार्त्तिक तथा चैत्र की ७ को मोहन-शाह के ही समय से लगता आता है और उसे 'हंसविहार' कहा जाता है।

प्रचार-क्षेत्र तथा विशेषता

साँई-पंथ वा साँईदाता-सम्प्रदाय के अनुयायी अधिकतर उत्तरप्रदेश के ही जिलों में पाये जाते हैं। इनके सुलतानपुर जिले वाले केन्द्रों में से प्रधान केन्द्र 'चनउर' के अतिरिक्त दो 'लेंगड़ी' तथा घरौली' में भी वर्तमान है। इसी प्रकार इसके प्रतापा-

---

१. "मोहन की उर्दी चार सही, कथरी, कंठी, हंडी, खाट।
खाले ऊँचे बेखटक उड़ावैं, शाहंशाही ठाट॥"

२. "मुर्शिद ने गुदड़ी बख्शी, मुर्दों की थाती।
मुर्दा मेरा यार है, मैं मुर्दों का साथी॥"

गढ़ वाले केन्द्रों में 'चिलबिला' के अतिरिक्त 'लाल गंज', 'अधारा', 'मानिकपुर किला', 'किठौर बाजार', भोजपुर किला, आदि के भी नाम लिये जाते है। इनमें से अंतिम स्थान घुईसर (घुश्मेश) नाथ महादेव के निकट है। उत्तरप्रदेश के अन्य जिलों में से इलाहाबाद, लखनऊ, फैज़ाबाद, हरदोई, बाराबंकी, उन्नाव और सहारनपुर के लिए भी कहा जाता है कि वहाँ पर इसके अनुयायी मिलते हैं। बुंदेलखंड तथा बिहार के भागलपुर ज़िले में भी इनका रहना अनुमान किया जाता है। इस पंथ की विशिष्ट बातें प्रायः दूसरों के सामने प्रकट नहीं की जातीं, न इसके ग्रंथ किसी को पढ़ने के लिए दिये जाते है। इस कारण इसके संबंध में हमें यथेष्ट विवरण उपलब्ध नहीं हो पाता। फिर भी हमें ऐसा लगता है कि इसके अनुयायियों की वेशभूषा तथा वाह्याचरण पर कुछ-न-कुछ मुस्लिम फ़क़ीरों का भी प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। ऐसी बातों में हम इस की गणना बिहार के दरिया साहब द्वारा प्रवर्त्तित 'दरिया-पंथ'-जैसे धार्मिक वर्गो के साथ भी कर सकते हैं।
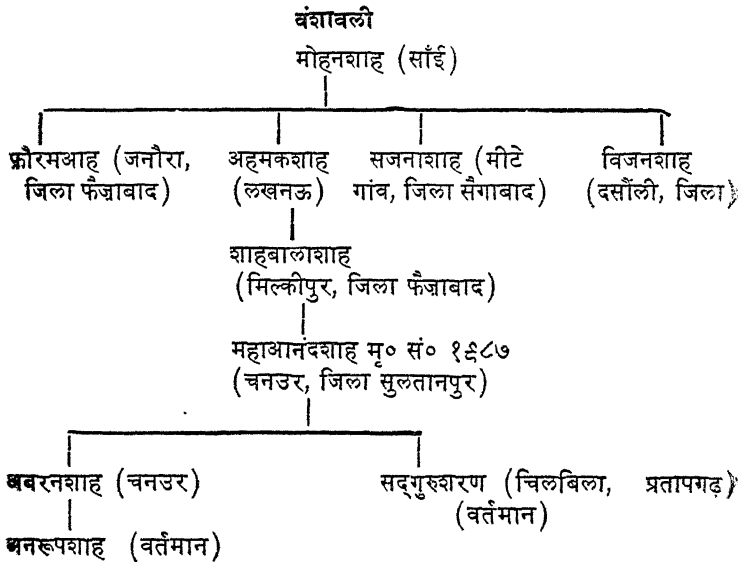
१५. फुटकर संत

(१) अक्षर अनन्य

जीवन-काल

अक्षर अनन्य के जन्म तथा मरण की तिथियों अथवा उनके जीवन-काल तक

का हमें अभी तक ठीक पता नही लग पाया है। कहा जाता है कि ये सेवढ़ा नरेश प्रथीसिंह के दीवान तथा पन्ना नरेश महाराजा छत्रसाल के गुरु थे। प्रथीसिंह दतिया के महाराज दलपत राय (राज्य-काल सं० १७४०-१७६४) के पाँच कुँवरों में से दूसरे थे और उन्हें सेवढ़ा वा स्योंढ़ा की जागीर मिली थी। इस कारण, यदि अक्षर अनन्य उनके दीवान रहे हों, उस दशा में इनका समय कही १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निश्चित किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल का जीवन-काल सं० १७०६ से सं० १७८८ तक बतलाया जाता है जिसके अनुसार भी, यदि ये उनके गुरु रह चुके हों उस दशा में इनके समय का उक्त रूप में ठहराया जाना असंगत नही प्रतीत होता। परन्तु इनका प्रथीसिंह के यहाँ दीवान के रूप में किसी निश्चित काल के बीच काम करना अथवा महाराज छत्रसाल को कभी दीक्षित करना आदि इतिहास के आधार पर सिद्ध नही है। प्रसिद्ध है कि ये किसी समय सेवढ़ा में रहा करते थे। वहाँ पर इन्होंने 'जगदंबा' की भक्ति के आवेश में उनके चरणों पर अपना सिर तक उतार कर चढ़ा देने की चेष्टा की थी और ऐसी किसी घटना के ही अनंतर इन्होंने साहित्य-साधना आरंभ की थी। इनकी कुछ उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इनके किसी समय (अथवा कदाचित् अपने प्रारंभिक जीवन-काल में) शक्ति का उपासक होने का अनुमान किया जा सकता है। इस दशा में यह संभव है कि ये उन दिनों प्रथीसिंह के संपर्क में भी आ गए होंगे। इसी प्रकार अक्षर अनन्य का महाराज छत्रसाल द्वारा अपने यहाँ आने के लिए निमंत्रित किया जाना, इनका उनके ऐसे निमंत्रण को अस्वीकार कर देना तथा कुछ समय तक इन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार का चलना-जैसी बातें ऐतिहासिक-सी मान ली जाती है। अतएव, हो सकता है कि अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेने पर इनके प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा का भाव प्रकट करना आरंभ किया हो। परन्तु केवल ऐसी ही बातों के आधार पर अक्षर अनन्य के जीवन-काल की निश्चित अवधि का भी निर्धारित करना संभव नहीं है।

रचनाएँ

अक्षर अनन्य के जन्म-स्थान अथवा इनके माता-पिता के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। लाला सीताराम ने इनका जाति से कायस्थ होना बतलाया है। वहीं पर यह भी कहा है, "बुंदेलखंड में कायस्थों और-क्षत्रियों का पद बराबर है।[१] इन्होंने किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की थी तथा इनके कोई दीक्षा, गुरु भी थे वा नहीं इसका कोई पता नहीं चलता। परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं

---

१. प्रेमदीपिका, भूमिका, हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३५ ई०, पृ० १३।

के देखने से पता चलता है कि ये एक उच्च कोटि के महात्मा तथा योग्य कवि भी रहे होंगे। इनके द्वारा रचे गए ग्रंथों की संख्या मिश्रबंधुओं ने १८ बतलायी थी और उन्होंने उनके नाम भी दिये थे।[१] परन्तु श्री अंबा प्रसाद श्रीवास्तव का कथन है कि "इन्होंने लगभग ३५ ग्रंथों की रचना की थी",[२] यद्यपि उन्होंने इन सभी के नामो का भी उल्लेख नही किया है। इन रचनाओं के अभी तक ज्ञात हो चुके नामों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सभी के विषय ठीक एक ही नही होंगे, प्रत्युत इनमे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम तथा योग-साधना-जैसी बातों का पृथक्-पृथक् वा एक साथ समावेश किया गया होगा। इनके ग्रंथ 'उत्तम-चरित्र' वा 'दुर्गापाठ भाषा' तथा 'महिम्न समुद्र'-जैसे एकाध तो इनके द्वारा किये गए अनुवाद-कार्य को ही सूचित करते हैं। फिर भी इनके द्वारा किये गए पद्यमय पत्र-व्यवहार तथा 'चिट्ठे' और स्वतंत्र ग्रंथों से प्रकट होता हैं कि इनका अनुभव बहुत गंभीर था। ऐसा लगता है कि इन्होंने न केवल शास्त्राध्ययन तथा सत्संग किये होंगे, अपितु कुछ काल तक साधना भी अवश्य की होगी। इसके सिवाय इनकी रचनाओं के अनेक स्थलों पर हमें इनके काव्य-कौशल तथा भाषाधिकार का भी पता चले बिना नही रहता।

विचार-धारा

अक्षर अनन्य को हम ज्ञानाश्रयी शाखा के हिंदी कवियो में एक ऊँचा स्थान प्रदान कर सकते है। इनकी रचनाओं के अंतर्गत पायी जानेवाली विचार-धारा के अनुसार हमें इन्हें संतों की कोटि में रखने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इन्होंने परमतत्त्व अथवा परमात्मा का परिचय देते हुए एक स्थल पर कहा है, "वह न तो निर्गुण कहा जा सकता है, न उसे सगुण ही ठहरा सकते हैं, प्रत्युत उसके लिए ऐसा कह सकते हैं कि यह इन दोनों में ही कहीं छिपा हुआ है।"[३] इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र यह भी कहा है, 'उसे जिस किसी रूप में भी देखा जाय वह सभी दृष्टियों के अनुरूप सिद्ध किया जा सकता है।"[४] यही एकमात्र तत्त्व है, सर्वत्र व्यापक और अखंड है जिस दृष्टि से हम उसे आकाश का जैसा तक भी कह सकते हैं। इस संबंध में इनका यहाँ तक भी कहना है कि वह तत्त्व स्वयं पूर्ण है चाहे उसे हम 'ब्रह्म' कहें अथवा 'माया' कह दें।[५] उसके सिवाय अन्य कोई भी

१. प्रेमदीपिका, पृ० १३। २. उनके एक पत्र से—लेखक।

३. 'नहि निरगुण नहिं सरगुण जानौ, निरगुण सरगुन मांझ लुपानौ।'
—साहित्य संदेश, अगस्त १९४९, पृ० ५३।

४. 'जैसे ही को तैसे आप जैसे ही के तैसे हैं।' —वही

५. एकही तत्त्व स्वयं परिपूरण, ताही सो ब्रह्म कहौ भल माया। —वही, पृ० ५६।

वस्तु नहीं, यद्यपि उसकी एकता में हमें प्रायः अनेकता का भास भी हो जाया करता है। अक्षर अनन्य की ऐसी उक्तियाँ हमें कबीर साहब के कथन का स्मरण दिलाती है। हमें ऐसा लगता है कि इनकी मनोवृत्ति भी कदाचित् उसी प्रकार बन गई होगी, जिस प्रकार अन्य संतों के विषय में कहा जाता है। इन्होंने इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान अथवा स्वानुभूति प्राप्त करने के लिए एक ऐसी साधना का भी उल्लेख किया है जिसके सात सोपान हैं। इनमें प्रथम को इन्होंने गुरूपदेश में विश्वास का नाम दिया है, द्वितीय की स्थिति में दोषों से बचते हुए संयत रहने की आवश्यकता बतलायी है। इसके फलस्वरूप तृतीय की दशा में मन की चंचलता दूर हो जाती है तथा चतुर्थ में श्रद्धा और प्रेमपरक भक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार क्रमशः सप्तम सोपान तक पहुँचते-पहुँचते हमें उस अनुपम अनुभूति का लाभ हो जाता है जिसे 'ब्रह्मज्ञान' कहते हैं।[1] इन्होंने कहीं-कहीं पर साधक को किसी पतिव्रता स्त्री के रूप में भी चित्रित करके उसके परमतत्त्व के साथ मिलन का वर्णन किया है।

अक्षर अनन्य की किसी शिष्य-परंपरा का पता नहीं चलता, न इनके द्वारा प्रवर्त्तित किसी पंथ का ही उल्लेख पाया जाता है।

(२) दीन दरवेश

प्रारंभिक जीवन तथा स्वभाव

संत दीनदरवेश उन लोगों में थे जो परिस्थिति के आ पड़ने पर अपने जीवन में कायापलट ला दिया करते हैं। कहते हैं कि ये पाटन अथवा पालनपुर राज्य के किसी गाँव के रहनेवाले एक साधारण लोहार थे। इनका जन्म-स्थान उदयपुर डिविजन के रेलवे स्टेशन खेमली का निकटवर्त्ती कोई गुडवी नाम का गाँव बतलाया जाता है, जहाँ पर ये सं० १८१० के लगभग उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि ये क्रमशः 'ईस्ट इंडिया कंपनी' की सेना में मिस्त्री का काम करने लग गए थे। वहाँ पर इन्हें किसी समय गोला लग गया और एक बाँह कट जाने के कारण, ये वहाँ से निकाल दिये गए। तब से ये साधु-फ़कीरों के साथ सत्संग करने की ओर उन्मुख हो गए।[2] तदनुसार इन्होंने अपना घरबार भी छोड़ दिया और दूर-दूर तक भ्रमण करते समय इन्होंने अनेक महात्माओं के दर्शन तथा उपदेशों का लाभ उठाया। ये बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु इन्हें फ़ारसी तथा हिंदी का साधारण ज्ञान था। ये कुछ कविता भी कर लिया करते

---

१. प्रेमदीपिका, पृ० ५५।

२. ब्रजरत्न दास : खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी सं० १९९५, पृ० १६१-२।

थे। प्रसिद्ध है कि इनकी जिज्ञासाओं की पूर्त्ति अंत में किसी अतीत बालनाथ के संपर्क में आने पर हुई जिन्हें इन्होंने अपना गुरु स्वीकार कर लिया। इन बाबा बालनाथ के लिए कहा जाता है कि ये किसी 'बड़हर' नामक स्थान के निवासी थे और संभवत: नाथ-पंथी विरक्त साधु भी थे। इनके विषय में कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इनका नाम वास्तव में 'बालगुरु' था। अन्य लोगों की धारणा रही है कि ये कोई गिरनार पर साधना करनेवाले काठियावाड़ी रहे होंगे। स्वयं दीनदरवेश के लिए भी इसी प्रकार बतलाया गया है कि वे उदयपुर से १४ मील उत्तर स्थित एकलिंगजी के मंदिर वाले 'कैलाशपुरी' नामक गाँव के रहनेवाले थे।[१] इनका कुछ-न-कुछ संबंध गुजरात से भी रहा। अपनी दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ये अनेक हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों के अनुयायियों के बीच रह चुके थे और ये उनके प्रमुख तीर्थों में भी जा चुके थे। इस कारण इनके ऊपर क्रमश: सूफ़ी-सम्प्रदाय तथा वेदांत के अतिरिक्त कई अन्य मतों का भी पूरा रंग चढ़ चुका था। फिर भी अपने गुरु के आदेशानुसार इन्होंने आत्म-चिंतन को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया तथा अपने विचारों का रूप भी निर्धारित किया। इनकी जीवन-पद्धति कुछ विचित्र बन गई थी। साधु होते हुए भी ये अपनी वेश-भूषा में पूरे रईस जान पड़ते थे। प्रसिद्ध है कि ये प्राय: ठाट-बाट के साथ रहते थे, बढ़िया खाते पीते थे तथा ये बहुधा घोड़े पर ही चढ़ कर कहीं बाहर निकला करते थे।

अंतिम जीवन तथा रचनाएँ

संत दीनदरवेश के जीवन की घटनाओं का कहीं विस्तृत रूप में दिया गया कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इनका किसी प्रसिद्ध स्थान में रह कर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती नदी में भक्ति-भावना के साथ स्नान करना बतलाया जाता है। इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि इनके दैनिक जीवन का क्रम अपने अनुभव के अनुसार कुछ-न-कुछ पद्य-रचना कर लेने तथा सर्वसाधारण के बीच अपने मत का उपदेश देने के ही रूप में चला करता था। कहते हैं कि अपने हृदय के शुद्ध उद्‌गारों को इस प्रकार व्यक्त करते-करते इन्होंने सवा लाख कुंडलियों की रचना कर डाली। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार इनकी रचनाओं का कोई एक संग्रह प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा के पास रहा, किंतु उसमें संगृहीत पद्यों की संख्या इसके शतांश भी नहीं कही जा सकती थी,[२] न वह आज हमें कहीं

---

१. मोती लाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, उदयपुर, १९५२ ई०, पृ० २१२-३।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १५, सं० १९९१, पृ० २३।

मिल ही पा रहा है। इनकी कुछ रचनाएँ प्रायः अन्य संतों वा भक्तों की कृतियों के संग्रहों में मिल जाया करती हैं। उनका कोई वृहत् संग्रह अभी तक हस्तलिखित रूप में भी नहीं मिला है। एक छोटा-सा संग्रह श्री अनवर आगेवान ने सं० २००८ में अहमदाबाद के 'सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय' द्वारा गुजराती अक्षरों में छपवाया है। इनकी रचनाओं में 'भजन भड़ाका', 'तत्त्वसार', 'भ्रम तोड़', 'ध्यान परचे' और 'चेतावणी सार' के नाम दिय गए मिलते है।[1] संत दीनदरवेश के लिए कहा जाता है कि ये अंत में वृद्ध होकर मरे थे। इनका अंतिम जीवन-काल काशी में व्यतीत हुआ था। परन्तु यह भी कहा जाता है कि मृत्यु के पहले ये कोटा चले गए थे। वहाँ चंबल नदी में स्नान करते समय ये सं० १८६० में डूब कर मर गए।[2] इस प्रकार इनका समय अठारहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं तक जाना जान पड़ता है। इनके कुल या परिवार के लोगों का अवशिष्ट चिह्न हमें अभी तक किसी भी रूप में नही मिल सका है, न कहीं इनके द्वारा चलाये गए किसी पंथ-विशेष का ही कोई पता चलता है, केवल इतना प्रसिद्ध है कि कुछ लोग अपने को 'दीनदरवेशी' मात्र कह दिया करते हैं। इनकी किसी समाधि की भी हमें कोई सूचना नही है।

इनका उपदेश

संत दीनदरवेश की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि उनके भी वर्ण्य-विषय प्रायः वे ही हैं जो अन्य संतों की कृतियों में पाये जाते हैं। उन्हें सरल स्वच्छंद जीवन, विश्व-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, परोपकार तथा विडंबनाओं का विरोध आदि कह सकते हैं। इन्होंने हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों के अनुयायियों के पारस्परिक वेद्वेष और झगड़ों की व्यर्थता पर भी कहा है और बतलाया है कि वास्तव में ये दोनों एक समान ठहराये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इनकी एक कुंडलिया है।[3] इन्होंने इसी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षणभंगुरता केप्रति सचेत किया

१. शोध पत्रिका, साहित्य संस्थान, उदयपुर, अप्रेल, १९६३ ई०, पृ० ११८।

२. डॉ० मोती लाल मेनारिया : राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २१३।

३. हिन्दु कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम्म;
एक मुंग दो झाड़ हैं, कुण जादा कुण कम्म।
कुण जादा कुण कम्म, कबी करना नीह कजिया;
एक भजत हो राम, दूजो रहिमन से रजिया
कहे दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिंधू।
सबका साहेब एक, एक ही मुस्लिम हिन्दू ॥६॥
—अनवर आगेवान : साँई दीन दरवेश, अहमदाबाद, सं० २००८, पृ० १५।

है, कर्मवाद का महत्त्व दिखलाया है और कहा है कि जो कुछ भी होता है वह करतार के किये से होता है। उसकी प्रेरणा के बिना एक साधारण पत्ता तक भी नहीं हिलता। इन्होंने इस बात को कई दृष्टांतों के द्वारा भी समर्थित किया है।[1] इस पद्य में आये हुए नामों वालों में से अकबर, बीरबल तथा गंग तो प्रसिद्ध हैं ही, फतेहसिंह के लिए भी कहा जाता है कि ये बड़ौदा के गायकवाड़ थे। इनका देहांत किसी समय सं० १८४७ में हुआ था।[2]

(३) संत बुल्लेशाह

बुल्लेशाह तथा मियाँ मीर

संत बुल्लेशाह वा बुल्लाशाह के मूल निवास-स्थान के विषय में कुछ मतभेद जान पड़ता है। एक मत के अनुसार ये पहले बलख शहर के बादशाह थे। एक दिन इनके मन में विषय-भोगों की ओर से कुछ ग्लानि हो गई और इन्होंने अपने वज़ीरों से किसी पहुँचे हुए फ़कीर से मिलने के लिए उसका पता पूछा। वज़ीरों ने इस पर प्रसिद्ध मियाँ मीर नामक सूफ़ी फ़कीरका नाम बतलादिया जिसके अनुसार इन्होंने अपने लड़के को अपनी गद्दी पर बिठा दिया और कुछ लोगों के साथ लाहौर की ओर प्रस्थान कर दिया। मियाँ मीर उस समय एक जंगल में कुटी बना कर रहा करते थे, जहाँ किसी को बिना उनकी आज्ञा के प्रवेश करना वर्जित था। अतएव इन्होंने वहाँ पहले अपना संवाद पहुँचाया और कहला दिया कि बलख के बादशाह आपसे मिलने आये हैं। मियाँ मीर ने पूछा कि वे किस दशा में हैं, जिसके उत्तर में उनके आदमियों ने कहला दिया कि सौ-पचास दरबारी, घोड़े आदि के साथ अपनी बादशाही ठाट में हैं। मीर साहब ने इस पर कह दिया कि तब उन्हें मेरे दर्शन नहीं हो सकते। बादशाह ने यह सुन कर अपने सारे सामान वहीं लुटा दिये और दरबारियों को भी विदा कर के अकेले केवल एक चादर लिये उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हुए। मीर साहब ने तब इन्हें वहाँ से १२ कोस पर किसी अन्य फ़कीर के पास बारह वर्षो तक रह कर तप करने का आदेश भिजवाया और वहाँ से लौटने पर इन्हें अपने दर्शन

---

१. **बंदा बाजी झूठ है, मत साची कर मान;**
कहां बीरबर गंग है, कहां अकब्बर खान।
कहां अकब्बर खान, भलेकी रहे भलाई;
फतेसिंह महराज, देख उठि चले गये भाई।
कहे दीन दलवेश, सुनवे गाफ़िल गंदा :
मत कर साची मान, झूठ है बाजी बंदा ॥४॥
—सांई दीन दरवेश, पृ० ४। २. **वही, (परिचय) पृ० ८।**

दिये। उस समय तक इनका शरीर प्रायः और सूख चुका था। इनके बाल भी बहुत बढ़ चुके थे। इन्हें मीर साहब ने अपना शिष्य बनाकर अद्वैत सिद्धांतों के उपदेश दिये और इनका नाम बुल्लाशाह रख दिया।[1]

संक्षिप्त परिचय

एक अन्य मत के अनुसार इनका जन्म कुस्तुन्तुनिया में सं० १७६० : सन् १७०३ में हुआ था और ये जाति के सैयद मुसलमान थे। अपनी किशोरावस्था में ही इन्हें आध्यात्मिक जिज्ञासाओं ने देश-भ्रमण के लिए प्रवृत्त किया और स्वदेश में किसी अच्छे फ़कीर का पता न पाकर ये पैदल पंजाब की ओर चले आये। यहाँ पर इनकी भेंट इनायतशाह सूफ़ी से हो गई और कई हिन्दू-साधकों के भी संपर्क में आकर इन्होंने सत्संग किये तथा ये अंत में कुसूर में जाकर बस गए।[2] परन्तु एक तीसरे मत वाले कुछ खोज के पश्चात्, इस निश्चय पर पहुँचे हैंकि बुल्लेशाह वास्तव में कहीं बाहर से नहीं आये थे। इनका जन्म भारत में ही लाहोरजिले के अंतर्गत और कुसूर के निकट पंडोल नामक गाँव में मुहम्मद दरवेश के घर हुआ था। इनका जन्म-संवत् भी १७३७ मानना चाहिए। बड़े होने पर ये किसी साधु दार्शनिक के सत्संग में आये। अंत में इन्होंने प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर इनायतशाह को अपना मीर स्वीकार कर लिया। ये आमरण एक सच्चे ब्रह्मचारी की दशा में रहते रहे और इन्होंने एक विशुद्ध जीवन व्यतीत किया था। अपनी बहन के साथ ये कादरी शत्तारी-सम्प्रदाय के अनुयायी समझे जाते रहे और इनकी साधना का प्रधान स्थान उपर्युक्त कुसूर नाम का गाँव रहा। 'कुरान शरीफ़' तथा परंपरागत विधानों की खरी आलोचना करने के कारण इन पर मौलवी लोगों की दृष्टि सदा क्रूर बनी रही और इन्हें कई बार कष्ट पहुँचाने के यत्न भी किये गए। अपने विचार-स्वातंत्र्य के कारण ये अपने पीर इनायतशाह के भी प्रियपात्र नहीं बने रह सके और कुछ दिनों तक ये स्त्रियों की जैसी वेशभूषा धारण करके गायक-मंडली में मिले रहे। इनका देहांत सं० १८१० में कुसूर गाँव में ही हुआ था, जहाँ पर इनकी समाधि आज तक वर्तमान है और जो तीर्थ-स्थान की भाँति माना जाता है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह कुसूर-निवासी प्रेमसिंह द्वारा प्रकाशित हो चुका है जिसमें इनके 'दोहरे', 'काफ़ी', 'सीहर्फ़ी', 'अठवारा', 'बारामासा' आदि एकत्र किये गए हैं।[3] इनकी रचना 'सीहर्फ़ी' का एक संस्करण 'वेलवेडियर प्रेस', प्रयाग से

१. कल्याण, गोरखपुर, 'संत-अंक', पृ० ७६३-४। परन्तु मियाँ मीर की मृत्यु सं० १६६२ण हुई थी—लेखक।
२. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, लंदन, पृ० १५६।
३. डॉ० मोहनसिंह : हिस्ट्री ऑफ दि पंजाबी लिट्रेचर, लाहोर, पृ० २४।

भी निकल चुका है। इन्होंने अपने सिद्धांत को बड़ी शुद्ध तथा सरल पंजाबी हिंदी द्वारा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है।

मत

संत बुल्लेशाह का क़ादरी शत्तारी-सम्प्रदाय के साथ संबंध था। अतएव साधारण सूफ़ियों की भाँति ये वेदांत के सिद्धांतों द्वारा भी बहुत प्रभावित थे। इनके विचार बहुत मार्जित थे। उन पर कबीर साहब के सिद्धांतों की छाप भी स्पष्ट लक्षित होती है। इनका कहना है, "यदि हृदय के भीतर सच्चे नमाज की भावना न हो, तो मसजिदों में जाकर वहाँ अपना समय नष्ट करना उचित नहीं कहा जा सकता। मंदिर, ठाकुर-द्वारा वा मसजिद सभी चोरों और डाकुओं के अड्डों के समान हैं। उनमें प्रेमरूपी परमात्मा का निवास-स्थान कभी नहीं हो सकता। मैं तो जो कुछ भी अपने सीधे-सादे यत्नों द्वारा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त कर पाता हूँ, वह इन स्थानों के आचार्यों के संपर्क में आ जाने पर भ्रमात्मक बन जाता है। मक्के जाने से तब तक उद्धार नहीं हो सकता, जब तक हम अपने हृदय से अहंता का त्याग न कर दें, न इसी प्रकार गंगा में सैकड़ों डुबकियाँ लगाने से ही कुछ संभव है। मैंने तो अल्ला काअपने भीतर ही अनुभव करके सदा के लिए विशुद्ध आनंद तथा शांति को उपलब्ध किया है। नित्य का सांसारिक मरण ही मेरा नित्य का आध्यात्मिक जीवन है और मैं प्रत्येक क्षण अग्रसर होता हुआ चला जा रहा हूँ। हे बुल्ला, ईश्वर के प्रेम में सदा मस्त बने रहो। तुम्हें इसके लिए सैकड़ों-हजारों विरोधों का सामना करना पड़ेगा, किंतु इनकी परवाह न करो। जब कभी तुझसे कोई कहे कि तू काफ़िर है, तो तूयही कह कि हाँ, तू सत्यकहता है।"[1]

उपदेश

संत बुल्लेशाह की रचनाएँ अधिकतर मस्ती से भरी हुई जान पड़ती हैं। उनसे समझ पड़ता है कि उनका प्रत्येक शब्द निजी अनुभव द्वारा ओतप्रोत है। ये कहते हैं, "वह मेरा प्रियतम परमात्मा निांत निरुपाधि तथा नित्य आनंद-स्वरूप है और जिसने उसे एक बार भी देख लिया, वह चकित हो गया। उसके प्रति लाखों स्वर्ग न्योछावर कर दिये तथा प्रपंचों से अलग हो उस दशा को प्राप्त कर लिया, जो चिंताओं से रहित है। बुल्लाशाह उसी स्थिति में आ जंजीर तोड़ कर स्वतंत्र बन कर हाथी की भाँति मस्त हो फिर रहा है।"[2]

१. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १५६-७।

२. ऐन-ऐन ही आप है बिना नुकते, सदा चैन महबूब दिलदार मेरा॥
इक्क बार मइबूबनू जिनी डिठा, ओहू देखणेहार है सम्भकेरा॥

इसी प्रकार ये सर्वात्मवाद की भावना से प्रेरित हो अन्यत्र कहते हैं, "तनिक समझ तो लो कि कौन तुम्हारे सामने गुप्त-रूप से वर्तमान है। केवल उपाधियों के ही कारण नाम तथा रूप के भेद दीख पड़ते हैं। सद्‌गुरु द्वारा भ्रम दूर कर दिये जाने पर केवल आत्म-स्वरूप ही एक मात्र रह जाता है। तुम शास्त्रादि का अध्ययन करते हो तथा व्यर्थ उल्टा-सीधा अर्थ लगाते हो और लड़ते हो। यदि द्वैत की भावना को दूर करके देखो तो हिन्दू तथा मुसलमान में कोई अंतर ही नहीं है; सभी एक समान साधु जान पड़ते हैं और सबके भीतर वही एक व्याप्त समझ पड़ता है। मैं न तो मुल्ला हूँ, न काज़ी हूँ और न अपने को कभी सुन्नी अथवा हाज़ी ही मानने को तैयार हूँ। अब तो उसके साथ आत्मीयता की बाजी मार ली है और अनाहत शब्द बजाता हुआ आनंद में विभोर हूँ।"[1]

(४) संत मीता साहब

संक्षिप्त परिचय

संत मीता साहब का जन्म उत्तरप्रदेश के वर्तमान जिला फतेहपुर के फतुहाबाद नामक नगर में किसी दरसन नामक ढूसर वैश्य के घर सं० १७४७ में हुआ था। उस स्थान पर इनके पूर्वज उसी जिले के किसी 'कोराई' नामक ग्राम से आकर बसे थे। इनके दीक्षा-गुरु बेनीरामजी साहब थे जो जाति के कायस्थ थे और बरूई छतरुआ, जिला कानपुर के निवासी थे। संत मीता साहब ने अपने जन्म-स्थान, गुरु-प्राप्ति तथा पद-रचना आरंभ करने के समय आदि कतिपय बातों का

उसतो लख बहिस्त कुरवाण कीते, पहुंचे महल महल बेगम्म चुकाई झेंडा।
बुल्लाशाह उस हाल मस्तान फिरदे, हाथी मत्तड़े तोड़ जंजीर जेड़ा ॥१६॥
—बुल्लाशाह की सीहर्फी, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बई, पृ० ६।

१. 'टुक बूझ कवन छप आया है।
कई नुकते में जो फेर पड़ा, तब ऐन ह्ँन का नाम धरा।
जब मुरसिद नुकता दुर किया, तब ऐनो ऐन कहाया है॥
तुसीं इलम किताबा पढ़दे हो, केहे उल्टे माने करदे हो।
बेमूजब ऐवें लड़दे हो, केहा उल्टा वेद पढ़ाया है।
दूई दुर करो, कोई सोर नहीं, हिन्दू तुरक कोई होर नहीं।
सब साधु लखो कोई चोर नहीं, घट घट में आप समाया है॥
ना मैं मुल्ला, ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी, ना मैं हाजी।
बुल्लेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है॥'
—भजन संग्रह, चौथा भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ० १३७-८।

उल्लेख स्वयं अपने ग्रंथों में ही कर दिया है।[1] वहाँ से यह भी पता चलता है कि इनके गुरु बेनीराम जी ने 'मलूकदास' को उपदेश दिया था।[2] परन्तु इस घटना का उल्लेख करते समय इन्होंने इसका संवत् १७४६ दिया है जो प्रसिद्धसंत मलूक दास के जीवन-काल अर्थात् सं० १६३१-१७३६ के साथ मेल नही खाता। अनुमान किया जा सकता कि ये कोई दूसरे ही मलूकदास रहे होंगे। अपने दीक्षा-ग्रहण का समय इन्होंने सं० १७८० दिया है, जब इनकी अवस्था ३२ वर्ष की थी। इनके प्रारंभक जीवन की घटनाओं का कोई पता नही चलता। इतना प्रसिद्ध है कि सं० १७६४ के लगभग ये अपना निवास-स्थान छोड़ कर उन्नाव जिले के रनवीर-पुर गाँव में आ गए थे। इस गाँव को आजकल रनजीतपुरवा अथवा केवल 'पुरवा' मात्र भी कहते हैं। यही पर सं० १८२५ की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन इन्होंने शरीर-त्याग किया। यही पर किसी ईदगाह के निकट इनकी समाधि का वर्तमान होना भी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि वहाँ पर प्रति वर्ष ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी तथा कार्त्तिक शुक्ल पूर्णिमा को इनके अनुयायी वा 'संगती' भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर दो दिन सत्संग किया करते हैं। इनकी रचनाओं का पाठ भी करते हैं जो वहाँ पर हस्तलिखित रूप में सुरक्षित है।

शिष्य-परंपरा और मत-प्रचार

कहते हैं, "मीता साहब ने दो सौ चौदह व्यक्तियों का व्योरा लिखा है जिन्हें उन्होंने स्वयं उपदेश दिया था।" परन्तु इनके प्रमुख शिष्य केवल सात ही प्रसिद्ध हैं। उनके नाम (१) इन्दोबाई अग्रवालिन (२) बाबू बरीसाल सिंह तत्कालीन डोंडिया खेड़ा-नरेश, बैसवाड़ा (३) प्रजापति जी तिवारी, नर्वल (कानपुर), (४) सहजोबाई खुतानी, फतुहाबाद (फतेहपुर), (५) पन्नोबाई (केशरी सिंह की पुत्री) पुरवा (उन्नाव), (६) नान्हूलोध सैदापुर (उन्नाव) तथा (७) बदनसिंह जी चौहान, दोस्तीनगर (उन्नाव)। इनमें से भी सबसे प्रसिद्ध बदन सिंह जी ही हुए जिन्हें स्वयं मीता साहब ने सर्वसाधारण में मत-प्रचार का आदेश दिया था। ये एक योग्य पुरुष हो गए हैं औ इनके ही कारण मीता साहब के उपदेशों काबहुत कुछ प्रचार भी हो पाया है। इनका देहांत फाल्गुन सुदी पंचमी के दिन सं० १८६१ में दोस्तीनगर में रहते समय हुआ था। वहीं पर इनकी समाधि भी वर्तमान

---

१. "पदु बोले संवत् १६७०। सतगुरु मिले संवत् १७८०। तब उमिर रहै बरस ३२ की। वतन कोराई। जलमु फतुहाबाद।" —'आज' का विशेषांक, पृ० १२।

२. पदू विवेक बेनीराज साहब। संवत् १७४६ मा मलूकदास का समझावा। बानी अगम हमार है। तुम सुनो म्लूका ज्ञान हो। सुई अग्र एक घाटु है। तन जन विरला ठहराय हो।" —वही।

है। बदनसिंह के स्थान पर रामदीन सिंह आसीन हुए जिनके उत्तराधिकारी पहलवान सिंह हुए । इनके अनंतर इनके पुत्र इन्द्रजीत सिंह उक्त आसन पर बैठे जिनका देहांत सं० १९७१ में हुआ । इन तीनों की भी समाधियाँ दोस्तीनगरमें ही निर्मित है । यहाँ पर प्रति वर्ष फाल्गुन सुदी पंचमी को दो दिनो तक 'संगति' वालों की बैठक हुआ करती है जिसमें मीता साहब के उपदेशों का पाठ होता है । मीता साहब के प्रभाव में इनके जीवन-काल से ही कम-से-कम रायबरेली, कानपुर, फतेहपुर, लखनऊ तथा उन्नाव-जैसे जिलों के अनेक व्यक्ति आने लगे थे । इनके शिष्य बदन सिंह द्वारा संभवत: कुछ और दूर तक इनके उपदेशों का प्रचार हुआ । इनके अनुयायियों द्वारा किये गए किसी संगठन-विशेष का पता नहीं चलता, न इनके नाम पर कोई पंथ ही प्रचलित है ।

रचनाएँ तथा विचार-धारा

कहते हैं कि संत मीता साहब के आठ ग्रंथ स्वयं इनके हाथ के लिखे हुए दोस्ती-नगर में सुरक्षित हैं और वे कैथी-लिपि में हैं। इनकी कतिपय अन्य रचनाओं का भी रायबरेली, कानपुर, फतेहपुर तथा उन्नाव जिले के कुछ अनुयायियो के यहाँ लिपिबद्ध कर लिये गए रूप में पाया जाना कहा जाता है । अभी तक प्राय: कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सका है । इनकी उपलब्ध पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी कबीर साहब के प्रति बड़ी आस्था थी और ये उनके मत से प्रभावित भी थे । इन्होंने स्पष्ट कहा है, "जो कुछ काशी का 'जोलाहा' (कबीर) कह गया था केवल वही टकसारी (प्रामाणिक) है। वह पहुँचा हुआ था और मैं भी उसी की साक्षी देता हूँ ।"[1] इनकी रचनाओं के अंतर्गत पदों तथा साखियों की संख्या अधिक जान पड़ती है। दोनों प्रकार की रचनाओं का विषय प्राय: एक समान है । इन्होंने जीव को ब्रह्म का ही देह माना है और कहा है कि इसविचार से किसी एक व्यक्ति का दूसरे से कोई वास्तविक अंतर नहीं है । किसी ब्राह्मण का कोई कुल-विशेष नहीं, क्योंकि यदि उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो गई तो वह स्वयं 'अविनासी' की ही जाति का हो गया । इसी प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान इन दोनों में से भी जो कोई 'दरबार' (ब्रह्मपद) तक पहुँच गए वे एक समान हैं, इसमेंसंदेह नहीं है । इनका "पापियों के प्रति बार-बार कहना है कि मेरी बात मानो और यह निश्चय जान लो कि बिना सचाईके हरि को नहीं पासकते हो ।"[2] जब तक परमात्मा के प्रति भक्ति

---

१. "जो काशी कहि गया जोलाहा, सो तो है टकसारी ।
मीता ताकि साखि देत है, वह पहुंचा दटारी ॥"

२. "बार बार मीता कहै, सुनु पापी मेरी बात ।
सांचु बिना हरि ना मिलै, हो सोंचेन के साथ ॥"

का भाव जागृत न हो सके, तब तक सभी की दशा 'शूद्र' की रहा करती है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञान का महत्त्व है जो सतगुरु की शरण में आ जाने पर ही अपन अनुभव में आ सकता है। कबीर, पीपा, नामदेव, रैदास ये सभी सतगुरु की कोटि में आनेवाले संत हैं जिन पर 'महाप्रलय' का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इनकी स्थिति इन्द्रिय निग्रह के अनंतर चंचल मन को वश में करने पर ही प्राप्त होती है। इनके यहाँ लोक बड़ाई का त्याग करके 'दीन' बने रहने को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। क्योंकि द्वार के भीतर प्रवेश करतेसमय जो 'निहुर' (झुक) कर चलता है वही सफल हो पाता है। खड़े-खड़े आगे बढ़नेवाले बाहर ही रह जाते हैं। ऐसे उदाहरणों में रैदास, धन्ना तथा सधना प्रसिद्ध हैं।"[१]

(५) संत रोयल वा रोहल

संक्षिप्त परिचय

संत रोयल का जन्म 'रौड़ी' (सिंध) के पास 'कडली' नामक गाँव में हुआ था और ये जाति के मुसलमान थे। इनके जीवन-काल का कोई निश्चित पतानहीं चलता। इस संबंध में हमें केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। कहा जाता है कि इनका प्रारंभिक जीवन राहगीरो को लूटने और उनसे प्राप्त द्रव्यादि से भरण-पोषण करने में ही बीता था। एक बार संयोगवश इनकी भेंट 'साम फ़कीर' से हो गई जिससे इनका कायापलट हो गया और इन्होंने सदुपदेश ग्रहण करलिया।[२] इनका कहना है कि साम साहब गुरु ने मुझे 'सैन' बतलायी अर्थात् ऐसा संकेत कर दिया जिसके द्वारा मुझे अपने आप का बोध हो गया।[३] हमें इस 'साम फ़कीर'

---

१. "दीन हो तजु लोक बड़ाई, येहि सरिहै कछु नाहीं।
जौ लगि मान गुमान रे बौर, तौलगि हरि ना पाई ॥
पातसाह बहु उमरा सैयद, राजा रंक बहुताई।
निहुर ले से द्वारे पैठे, ठांढे कहां समाई ॥
कौन कुलीन धना, रैदासा, जाहि लीन्ह अपनाई।
वाजपेई जमु द्वारे लूटे, साधना दीन बचाई ॥
भली भई जगु हांसी करई, मीता काजे आई।
देखि बड़ाई जियरा कंपै, बाढ़ै मोरि छुटाई ॥"—'आज' के 'विशेषांक' में श्री कैप्टेन शूरवीर सिंह द्वारा उद्धृत उक्त सभी पंक्तियाँ हैं।—लेखक।

२. "साम फकीर से किया मेला, छोड़ दिया सब दुर झमेला।"
— साहित्य (त्रैमासिक) पटना, अक्तूबर, १६५६ ई०, पृ० ६६ पर उद्धृत।

३. "साम साहब गुरु सैन बताई, निज स्वरूप दरसाया"—वही, पृ० ६६।

का भी कोई परिचय नहीं मिलता, न इनके समय का ही कुछ पता चलता है। परन्तु, यदि इन्हें हम उन 'सामी साहब' से अभिन्न मानें जिनकेनाम से सिंधी भाषा में प्रसिद्ध 'सामीअ सलोक' उपलब्ध है तो इनके विषय में कुछ कहा जा सकता है। इन सामी साहब का पूरा नाम स्वामी मेघराज बतलाया जाता है जिनके शिष्य भाई चैनराइ लुंडु थे। इन चैनराइ का जन्म सं० १८०० में सिंह प्रदेश के शिकारपुर नगर में हुआ था तथा सं० १६०७ में इन्होंने १०७ वर्ष की अवस्था में अपना शरीर छोड़ा था।[1] इस कारण साम साहब तथा सामी साहब को एक ही व्यक्ति मान लेने पर कहा जा सकता है कि उनका जीवन-काल १८वीं से १६वीं विक्रमी शताब्दी तक रहा होगा। उसी के आधार पर हम संत रोयल को भी उसकी १६वीं शताब्दी का ही पुरुष ठहरा सकते हैं। संत रोयल के अपने शिष्यों में 'साहू' तथा 'तोला' के नाम लिये जाते हैं। कहते है कि साहू के एक शिष्य गुलाम अली नामक थे। परन्तु इन शिष्यों की भी अपने गुरु की ही भाँति केवल कतिपय रचनाएँ ही उपलब्ध हैं और इनका भी अन्य परिचय नही मिलता। इनकी वाणियों का बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर, शेखावाटी-जैसे राज्योके क्षेत्रों में विशेष प्रचार है। ये वहाँ पर गायी भी जाती हैं। संत रोयल के किसी अनुयायी का इनके जन्म-स्थान कुंडली में अभी तक भी पाया जाना कहा जाता है, किंतु किसी वैसे पंथ का पता नही है।

मत तथा विचार-धारा

संत रीयल की उपलब्ध फुटकर बानियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका मत कबीर साहब द्वारा बहुत प्रभावित है। अपने आराध्य पुरुष के विषय में इनका कहना है, "उसका न तो कोई रूप है, न वह किसी के अनुरूप ही है। उसे न हम सुरूप कह सकते हैं, न उसे किसी प्रकार कुरूप ही बतला सकते हैं। वह सभी कुछ होता हुआ भी व्यक्ति रूप में नहीं है। इस कारण, इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि हमारा यह मित्र 'है' और 'नहीं' इन दोनों के बीच की वस्तु है।" "मैं उस देव का पूजन करता हूँ जो सर्वत्र व्यापक है और जो मेरे मन से एक पल के लिए भी पृथक् नहीं रहा करता।"[2] इसी प्रकार इन्होंने अपनी साधना

---

१. राष्ट्रभारती, मासिक, नवंबर, १६६० ई०, पृ० ७४१।

२. "रूप नहीं ज्युँ अनुरूप नहीं है, नहीं है सरूप करूप नहीं है।
दोई भी है, नहीं है कोई, नहीं है मध्य मित्र हमारा।"—साहित्य, पृ० ७२।
"मैं पूजूँ उण देवनें, व्यापक सबरे मांय।
एक पलक न्यारो नहीं, सो मेरे मण मांय॥"—वही।

के संबंध में भी कहा है, "मैंने चन्द्र (ईड़ा) तथा सूर्य (पिंगला) नामक नाड़ियों को एक में कर दिया और सुषुम्ना में 'तारी' (समाधि) लगा ली। इस प्रकार साधना कर लेने पर मुझे अपने 'निजसरूप' का निश्चय हो गया[1] और "विना चंद्र तथासूर्य ग्रहों के प्रकाश के भी मुझे ज्योति का सहज प्रकाश मिलगया तथा बिना बाजे के भी मुझे तूर की जैसी ध्वनि सुन पड़ने लगी।" ये उस दशा को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ का 'देस' प्रत्यक्ष देशमे न्यारा (नितांत भिन्न) है और जिसका कथन कर भी लिया जाय, किंतु जिसमे रह पाना अत्यंत कठिन है।"[2] इन्होने ज्ञान का सच्चा रूप ठहराते हुए भी कहा है, "बिना रहनी के ज्ञान-कथन व्यर्थ है, क्योंकि बिना रहनी के ज्ञान कैसा ?"[3] अतएव संत रोयल केवल उन्हीं व्यक्तियों को उपदेश भी देना चाहते है, जो वास्तव में सजग और सचेत हैं। इनका कहना है, "फूटे बर्तन में मैं अमृत क्यों नष्ट कर दूँ ? यदि कोई जगा रहे तो उससे कुछ कहा भी जा सकता है तथा उसके प्रति अपने भाव प्रकट किये जा सकते है, भोंदू से क्या कहाजाय ?"[4]

---

१. "चंद सूरज एक घर लीना, असल सरोदे आया।
सुषमण रे घर ताली लागी, जद निज निस्चय पाया।।"साहित्य, पृ० ७१।

२. "कैणी सहज कठण है रैणी, इणमें कोई पार लग जावै।"—वही पृ०७४।

३. "३. "ज्ञान कथै नर रैणी न रैता, बिन रैणी कैसा ज्ञाना।"—वही, पृ० ७३।

४. फूटे वासण क्या इमरत गमाउं"

तथा : जाग्रत मिलै त बात सुणाऊं, अपने दिल का ख्यात बताऊं।
भोंदु मिलै जानै कैसे बताऊं।।—वही, पृ० ७२-३।

सप्तम अध्याय

अधुनिक युग (सं० १८५० से अब तक)

१. सामान्य परिचय

नवीन विवेचन-पद्धति

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग प्रथम चरण से ही भारत में अँगरेजी की सत्ता जमने लगी थी। उनका शासन कई प्रांतों में आरंभ होने लगा था और उनके संपर्क में क्रमश: आते रहने के कारण भारतीय मनोवृत्ति पर उनकी संस्कृति का कुछ-न-कुछ रंग भी चढ़ने लगा था। युरोपीय विद्वानों ने इसके अनंतर हमारे प्राचीन साहित्य का अध्ययन तथा अनुशीलन आरंभ कर दिया और प्रत्येक बात का मूल्यांकन एक नवीन दृष्टिकोण से होने लगा। भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय साहित्य,भारतीय कला तथा भारतीय जीवन के साधारण-से-साधारण पार्श्वों पर भी अब एक तटस्थ कला तथा भारतीय जीवन के साधारण-से-साधारण पार्श्वों पर भी अब एक तटस्थ व्यक्ति बनकर विचार किया जानेलगा। इस प्रकार प्रत्येक के गुण-दोष को परीक्षा का भी अवसर मिला। जिस किसी बात पर पुनर्विचार आरंभ होता उसके मूल स्वरूप, उसके क्रमिक विकास और उसकी वर्तमान स्थिति के विषय में सांगोपांग अध्ययन करने की चेष्टा की जाती तथा उसके प्रत्येक रूप से परिचय प्राप्त किया जाता। अंत में उसके भविष्य के संबंध में भी कुछ दूर तक अनुमान कर लिया जाता। इसी प्रकार उसके गुण-दोषोंपर ध्यान देते समय बहुधा उसकी तुलना अन्य समकक्ष बातों के साथ की जाती। कभी-कभी उसे विदेशी प्रसंगों के प्रकाश में भी लाकर परखने का यत्न किया जाता। यह कार्य पहले-पहल, युरोपीय विद्वानों ने ही आरंभ किया, किंतु उनकी विवेचन पद्धति का अनुसरण कर फिर भारतीय विद्वान् भी इस ओर प्रवृत्त हुए।

धार्मिक साहित्य आदि का अध्ययन

भारतीय धार्मिक साहित्य तथा साम्प्रदायिक विकास का अध्ययन पहले-पहल ईसाई पादरियों ने आरंभ किया। पता चलता है कि लगभग उसी समय डेनमार्क देश के जीलैंड निवासी विशप मुंटरसाहब (Mousignor Munter) ने कबीर

साहब के संबंध में 'मूलपंची' नामक एक ग्रंथ इटालियन भाषा में लिखा था, जो 'Mines of The East' अर्थात् प्राच्य-विद्यानिधि ग्रंथमाला के तृतीय भाग में प्रकाशित हुआ था । वह किसी कबीर-पंथी ग्रंथ का अनुवाद मात्र कहलाता था, किंतु उसमें उस मत के सृष्टि-संबंधी विचारोंका परिचय उपहास की मनोवृत्ति के साथ दिया गया जान पड़ता था । वह वास्तव में किसी अन्य वृहद् ग्रंथ का केवल एक अंश मात्र था, जो कबीर साहब के धार्मिक विचारों तथाउनकी सुधार-संबंधी योजना का परिचय देने के उद्देश्य से लिखा गया था ।१ फिर तो विल्सन साहब, गार्सा-द-दासी-जैसे अन्य विदेशी विद्वानों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और भिन्न-भिन्न संतों, उनके मत, प्रचार-पद्धति तथा कृतियों के संबंध में परिचय देने तथा उन पर आलोचनात्मक निबंध लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी । उक्त पाश्चात्य विद्वानों ने यह कार्य सर्वप्रथम कदाचित् शुद्ध जानकारी के लिए ही आरंभ किया था । कभी-कभी वे ऐसे अवसरों का उपयोग अपनी निजी संस्कृति को अधिक उत्कृष्ट सिद्ध करने में भी कर लिया करते थे । किंतु उनके नवीन दृष्टिकोण तथा सुझावों की ओर सर्वसाधारण का भी ध्यान क्रमशः आकृष्ट हो चला और सभी बातों को एक बार फिर से देखते समय उन्हें नया तथा सुधरा रूप देने के यत्न आरंभ हो गए ।

पंथों की प्रवृत्ति

कबीर-साहब तथा उनके अनुकरण में भिन्न-भिन्न पंथों तथा सम्प्रदायों के स्थापित करनेवाले संतों का प्रधान उद्देश्य प्रचलित प्रपंचों और विडंबनाओं को दूर कर उनकी आड़ में न दीख पड़नेवाले वास्तविक धर्म के रहस्य का उद्घाटन करना था । इस प्रकार उनका दृष्टिकोण भी अपनी परिस्थिति की पूरी परख तथा विवेचना पर ही आश्रित रहता आया था । इस कारण उन्हें सुधारक-मात्र कहने की परिपाटी अभी तक चली आई है । परन्तु समय पाकर उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति, क्रमशः साम्प्रदायिक भावनाओं से प्रभावित होने लगी और उसमें संकीर्णता के दोष भी लक्षित होने लगे । संत दादू दयाल के शिष्य प्रसिद्ध 'सुंदरदास (मृ० सं० १७४६)

१. H.H. Wilson की पुस्तक Religious Sects of the Hindu (p.p. 77-8) पाद-टिप्पणी में मूलग्रंथ का नाम इस प्रकार दिया गया है:—'Il libro Primario dei Cairste (Speoino di reforma della gentilita si chiama Satuami Kabir questo libro a fra la oarta di Propoganda) विल्सन ने किसी जनरल हैरियट की एक रचना Memoire Sur les Kadirpanth अर्थात् 'कबीर पंथियों का विवरण' की चर्चा भी की है। संभवतः उसका उपयोग भी किया है ।

ने अपने ग्रंथ 'सुंदर-विलास' में कदाचित् इसी बात की ओर संकेत किया था, जब कि उन्होंने योगी, जैनी, सूफ़ी, संन्यासी-जैसे वर्गों की आलोचना करते समय उनके साथ-साथ कबीर तथा हरिदास को गुरु माननेवाले क्रमश: कबीर-पंथियों और निरंजनियों की चर्चा भी कर दी थी[१]। फिर भी अपने-अपने वर्गों को प्राचीन वाह्य आधारों पर अवलंबित कर उन्हें श्रेष्ठ सिद्ध करने की अभिलाषा ने आगे के पंथ-प्रचारकों को और भी पथ-भ्रष्ट कर दिया। उनकी साधनाओं के अंतर्गत पौराणिक तथा तांत्रिक पद्धतियों का प्रवेश होने लगा और उनकी प्रवृत्ति फिर एक बार उसी ओर उन्मुख हो चली जिधर से उसे मोड़ने के लिए पहले वाले संतों थे अपने उपदेशों द्वारा अथक श्रम किया था। इस प्रकार विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक संतों की परंपरा के अंतर्गत नवीन तथा प्राचीन ग्रंथों में भी मौलिक सिद्धांतों से कहीं अधिक वाह्य विधानों का ही प्राधान्य हो गया और यह बात स्वभावत: अवांछनीय थी।

बुद्धिवादी व्याख्या

आधुनिक युग के प्रथम प्रसिद्ध संत तुलसी साहब को ये बातें पसंद न आयीं। उन्होंने इनकी कटु आलोचना आरंभ कर दी। अपनी 'घट रामायन' में उन्होंने कबीर-पंथ में प्रचलित चौका-विधि, नारियल फोड़ना, परवाना देना-जैसी बातों का वास्तविक रहस्य बतलाया।[२]

इसी प्रकार, उन्होंने नानक-पंथ के संबंध में भी कहते हुए 'वाहगुरु', 'कड़ा-'परसाद' तथा 'नानक-गोरखगोष्ठी-जैसी बातों के मूल में वर्तमान अभिप्रायों के प्रकट करने का यत्न किया और 'निरंकार', 'पौड़यी' आदि शब्दों का वास्तविक अर्थ भी बतलाया। वे पंथों की संख्या में होती जानेवाली वृद्धि से भी प्रसन्न नथे, न स्वयं कोई नवीन पंथ चलाने के लिए ही उत्सुक थे।[३] पंथों के निर्माण की वे कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। सच्चे संत को ही अपना गुरु तक स्वीकार करने को प्रस्तुत रहा करते थे। उनकी आलोचना मात्र ध्वंसात्मक न थी, प्रत्युत वे प्रचलित पंथों की प्रत्येक वाह्य विधि को बुद्धिवाद के सहारे एक

---

१. सुंदर ग्रंथावली, पुरोहित हरिनारायण द्वारा संपादित, भा० २, पृ० ३८५।

२. "झूठा पंथ जगत सब लूटा।
कहा कबीर सो मारग छूटा॥"
—घट रामायन, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, भा० १, पृ० १६३।

३. 'तुलसी तासे पंथ न कीन्हा।
भेष जगत भया पंथ अधीना॥"
—वही, भा० २, पृ० ३५७।

नवीन-ढंग से समझा भर देना चाहते थे। उनके अनंतर आने वाले 'राधास्वामी सत्संग' के अनुयायी इस बात में एक प्रचार से उनसे भी आगे बढ़ गए। उन्होंने अपनी प्रायः प्रत्येक धारणा के संबंध में कोई-न-कोई वैज्ञानिक व्याख्या भी देना आरंभ कर दिया। इस प्रकार उनके सम्प्रदाय के मूल सिद्धांत विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित समझे जाने लगे।

साम्प्रदायिक भाष्य, आदि

संतों में इस प्रकार की समीक्षात्मक प्रवृत्ति के जागते ही उनके यहाँ अपने प्रमुख मान्य ग्रंथों का गंभीर अध्ययन आरंभ हो गया। उसके आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाष्यों तथा टीकाओं की रचना का सूत्रपात भी हुआ। तदनुसार कबीर-पंथी रामरहसदास ने इस युग के ही आरंभ में 'बीजक' के वास्तविक रहस्य को स्पष्ट करने के लिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पंचग्रंथी' का निर्माण किया। अपने पांडित्यपूर्ण सिद्धांत-विवेचन द्वारा आगे आनेवाले टीकाकारों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया। पूरन साहब की 'त्रिज्या' नाम की बीजक-टीका तथा भिन्न-भिन्न विचारों के आधार पर निर्मित अन्य अनेक टीकाओं के लिए भी उक्त व्याख्या आगे चल कर पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुई। नानक-पंथ, दादू-पंथ आदि अन्य कुछ सम्प्रदायों के कतिपय प्रधान ग्रंथों के संपादित संस्करण भी तब से प्रायः उसी आदर्श को सामने रख कर प्रकाशित होते आये हैं। 'मानससार, 'पत्रिकासार', 'घट-रामायनसार'-जैसी कतिपय पुस्तकों का भी निर्माण किया गया है जो वैसे ग्रंथों का थोड़े शब्दों में ठीक तात्पर्य बतलाते और उनका स्पष्टीकरण करते रहे जा सकते हैं।

सुधार की प्रवृत्ति

इसी प्रकार एक अन्य प्रवृत्ति भी जो इस युग के आरंभ सेही लक्षित होने लगी, वह साधारण समाज में दीख पड़नेवाली बुराइयों के सुधारने की थी। पाश्चात्य देश के लोगों के संपर्क में आ जाने कारण, यहाँ के निवासियों का उनके द्वारा प्रभावित हो जाना स्वाभाविक था। तदनुसार भारतीयों ने अपने समाज की भी वर्तमान स्थिति को एक नवीन ढंग से देखना आरंभ किया और दूसरे समाजों की तुलना में उसके गुण-दोषों पर विचार करते हुए उसमें आवश्यक परिवर्तन लाने के उद्योग करने लगे। राजा राममोहन राय (सं० १८३५-१८६०) तथा स्वामी दयानंद (सं० १८८१-१६४०) जैसे सुधारकों ने इसी युग में प्राचीन परंपरा के अंधानुसरण के विरुद्ध अपने-अपने झंडे उठाये और धार्मिक हिन्दू-समाज को अपने-अपने मंतव्यानुसार फिर से सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित बना डालने के यत्न किये।इन बातों के कारण मानव-जाति के महत्त्व को परखने की एक नवीन प्रणाली का सूत्रपात हुआ, जिसका प्रभाव संत-परंपरा के अनुयायियों पर भी बिना पड़े नहीं रह सका।

नांगी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक संत डेढ़राज ने कदाचित् ऐसे ही वातावरण से प्रभावित होकर पुरुषों तथा स्त्रियों के समानाधिकार पर इतना ध्यान दिया। सामाजिक कुरीतियों को हटाने की चेष्टा करते समय उन्होंने स्त्रियों के पद को उच्च बनाने की पूरी व्यवस्था दी और आध्यात्मिक साधना में उन्हें बिना किसी भी अड़चन साथ पूरा भाग लेने का सुअवसर प्रदान किया।

इस युग के अंतर्गत विचार-स्वातंत्र्य की भी प्रधानता विशेष रूप से लक्षित होती है, जिस कारण बुद्धिवाद के प्रभाव में आकर अनेक व्यक्ति प्राचीन चार्वाक-मत जैसे सिद्धांतों के पोषक प्रतीक होते हैं। उनके कथनों में धर्म-जैसी वस्तु का कोई अंश नहीं दीख पड़ता। ऐसी बातों के समर्थक एक शून्यवादी सम्प्रदाय की चर्चा विल्सन साहब के ग्रंथ 'रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज' में की गई मिलती है[1]।

विचार-स्वातंत्र्य

इस वर्ग के प्रचार में अधिक भाग लेनेवाले एक व्यक्ति हारथस के राजा ठाकुर दयाराम थे। इनके दरबारी बख्तावर ने 'व्योमसार' तथा 'शूनिसार' नामक दो ग्रंथों की रचना की थी। प्रसिद्ध मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स ने इन दयाराम के दुर्ग को विध्वंस करके उस पर सन् १८१७ ई० में अधिकार प्राप्त किया था। इनकी मृत्यु का समय ग्राउज साहब ने अपनी पुस्तक 'मथुरा' में संवत १८६८ : सन् १८४१ दिया है[2]। शून्यवादी-सम्प्रदाय की विचार-धारा आधुनिक वातावरण में ही प्रवाहित हुई थी। उसके ऊपर बुद्धिवाद, संदेहवाद आदि का पूर्ण प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। किंतु अपने साम्प्रदायिक रूप में इसे यथेष्ट सहयोग नहीं मिल सका। यह सम्प्रदाय संभवतः सम्राट् अकबर के 'दीन इलाही' की भाँति केवल कुछ दरबारियों तथा निकटवर्त्ती व्यक्तियों तक ही सीमित रह गया।

मत का सारांश

इस मत के अनुसार सारी सृष्टि 'पोल' अर्थात् शून्य वा आकाश से हुई है और वह पोल अनादि, अनंत तथा एकरस है। ब्रह्मादि से लेकर कीड़े-मकोड़े तक उसी से बने हुए हैं। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान भी एक ही वृक्ष के पत्ते हैं, उनमें कोई भेद नहीं। वे नासमझी के कारण आपस में लड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही ध्यान करना चाहिए और उसका परिणाम किसी पर प्रकट करना आवश्यक नहीं। वह पूजा है, वही पूज्य है, कहीं भी कोई भेद-भाव नहीं। अपने में ही देखो, दूसरे को न देखो, दूसरा भी तुम्हारे ही भीतर

१. डा० एच० एच० विल्सन : रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ३६०-३।
२. एफ० एच० ग्राउस : मथुरा, पृ० २३०।

मिलेगा। दूसरों को हम उसी प्रकार देखते हैं, जैसे शीशे में अपना प्रतिबिंब देख रहे हैं । माता-पिता, स्त्री-पुरुष सभी कुछ तुम्हीं हो और तुम्हीं मरने वा मारनेवाले भी हो । बुद्बुद्, फेन तथा तरंग सभी कुछ पानी-ही-पानी है । पाप-पुण्य भी कुछ नहीं है । इस कारण इस क्षणिक जीवन में जो भी मिले, उसका उपभोग करो। स्वयं आनंदित रह कर दूसरों को भी आनंद का दान करते रहो। किसी को द्रव्य दो, किसी को मधुर शब्द दो, किसी के साथ ऐसी भलाई कर दो कि वह सदा तुम्हारी जय मनाता रहे । कर्ण, दधीचि तथा हरिश्चंद्र ने भी ऐसा ही किया था। मृत मनुष्यों पर निर्भर न हो, न स्वर्ग में विश्वास करो । शरीर का भरण-पोषण हो जाने पर गधे तथा संत में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसके अनुसार सत्य की घोषणा करने में भय नहीं है । राजा और प्रजा में कोई अंतर नही है । केवल गुणों से ही समाज का पोषण होता है । यदि कोई ऐसे सत्य का उपदेश करता है तो वह लाखों की भूलों का उन्मूलन कर देता है । ऐसा उपदेशक दयाराम के अतिरिक्त कोई दूसरा नही है । इन विचारों का पोषक अब कोई पृथक् सम्प्रदाय नहीं दीख पड़ता ।

अलखधारी तथा अलखिया

इसी प्रकार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में और विशेषकर पंजाब के अंबाला जिले की ओर एक ऐसा ही पंथ अलखधारियों का प्रचलित है जो अपने को किसी लालबेग का अनुयायी कहा करते हैं । संभवत: इसी वर्ग के अनुयायियों को बीकानेर(पश्चिमी राजस्थान) की ओर अलखिया तथा उनके पंथ को 'अलखिया-सम्प्रदाय' भी कहा गया है तथा उसके प्रवर्तक का नाम लालगिरि के रूप में लिया जाता है । अलखधारी लोग अधिकतर ढेढ वा चमार जाति के होते हैं और लालबेग को वे शिव का अवतार मानते हैं जो कदाचित् उनके 'अलख' से अभिन्न है । वे मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते, प्रत्युत किसी अगोचर तत्त्व का ही ध्यान करते पाये जाते हैं । उनके अनुसार इस दृश्यमान संसार के अतिरिक्त कोई परलोक-जैसा स्थान नहीं है । उनके लिए यहीं पर सभी कुछ है और यहीं अहिंसा, परोपकार आदि के साथ सात्विक जीवन-यापन करना सब किसी का उद्देश्य होना चाहिए । स्वर्ग वा नरक की ओर ध्यान न देकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने वाला यहीं पर परमानंद वा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । अलखधारियों के सादे आडंबर-हीन जीवन में ऊँच-नीच का सामाजिक भेद-भाव नहीं रहा करता, न किसी पूजा का ही कोई विस्तृत विधान पाया जाता है । अलखिया लोगों के लिए भी प्राय: ये ही बातें बतलायी जाती हैं और यह भी कहा जाता है कि वे साधु तथा गृहस्थ दोनों ही कोटि से होते हैं जो क्रमश: भगवा

तथा सादे वस्त्र धारण करते हैं। ये परस्पर मिलने पर एक दूसरे का अभिवादन 'अलखमौला' कह कर किया करते हैं जो वस्तुत: 'अलक्ष्य ब्रह्म' का वाचक समझा जा सकता है। लालगिरि की उपलब्ध रचनाओं द्वारा हमें पता चलता है कि वे अलख के अतिरिक्त 'निरंजन', 'साहिब', 'पुरुष', 'हरि' आदि जैसे शब्दों का प्रयोग करते थे और उसे शून्य, अरूप, निर्लेप तथा अकथ मानते थे। उसको उन्होंने घट-घट में व्याप्त, किंतु सद्गुरु के माध्यम द्वारा प्राप्त होनेवाला बतलाया है। इसके लिए नाम-स्मरण तथा सत्संग का महत्त्व भी बतलाया है। इनकी 'बानी' में हमें अधिकार ऐसे शब्द ही मिलते हैं जिन्हें संतों ने भी अपने काम में लाया है और इनका मत भी बहुत कुछ संत-मत से ही मिलता-जुलता है। इनके द्वारा की गई सामाजिक ढोंगों की आलोचना भी लगभग उन्ही के शब्दों में पायी जाती है[1]। लालगिरि का आविर्भाव-काल संभवत: विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी का ही समय रहा होगा, किंतु उनके जीवन-वृत्त अथवा पंथ का यथेष्ट विवरण नहीं मिलता।

स्वतन्त्र धार्मिक विचार

उक्त प्रकार के सिद्धांत अधिकतर नयी रोशनी के आलोक में सोचने वाले अनेक अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क में भी जागृत होने लगे थे। किंतु वे साधारणत: केवल एक ही समान रूप ग्रहण नहीं कर पाते थे। जो लोग भारतीय साधना तथा सिद्धांतों के परिणाम-स्वरूप अपने ऊपर पड़े हुए संस्कारों द्वारा भली-भाँति प्रभावित थे और जिन्हें पाश्चात्य चिंतन-पद्धति का कोई विशिष्ट अभ्यास भी नहीं था उनका जीवनादर्श अपनी प्राचीन संस्कृति से ही प्रेरणा ग्रहण करता रहा। जैसे, बंगाल के परमहंस रामकृष्ण तथा सुदूर दक्षिण के रमण महर्षि ने क्रमश: एक साधक वा दार्शनिक का ही जीवन पसंद किया। कुछ नये ढंग से विचार करने वाले बंगाल के स्वामी विवेकानंद तथा पंजाब के स्वामी रामतीर्थ ने भी वेदांत दर्शन की व्याख्या इस प्रकार की जिससे प्राचीन तथा नवीन के समन्वय का स्पष्ट मार्ग निकल आया। इनमें से किसी भी महापुरुष की कार्य-पद्धति कोरे तर्क पर आश्रित न रह कर सारी बातों पर ध्यान रखते हुए ही अग्रसर होना चाहती थी। इसी प्रकार संत मेहर बाबा ने भी हमारे सामने एक ऐसे ईरानी संस्कृति से अनुप्राणित तथा प्रेम-भाव पर आधारित जीवन का रूप रखा जो नव जीवन के भी मेल में आ जाता था। इस बात का एक और भी उत्कृष्ट उदाहरण हमें श्री अरविंद द्वारा निरूपित उस 'दिव्य जीवन' (Life Divine ')

---

१. शोध-पत्रिका, साहित्य संस्थान, उदयपुर, अप्रेल, १९६३ ई०, पृ० ८३-९१।

के आदर्श में मिलता है जिसे उन्होंने प्राचीन तथा नवीन तथा इसके साथ ही पाश्चात्य तथा पौरस्त्य कही जाने वाली दोनों प्रकार की विचार-पद्धतियों के पूर्ण सहयोग से निर्धारित किया है। उसे एक ऐसा अनुपम रूप दे डाला है जो न केवल हमारी अनेक जिज्ञासाओं के समाधान में सहायक होता है, अपितु जिसे हम कई बातों में वस्तुतः क्रांतिकरी भी कह सकते हैं। श्री अरविंद ने ऐसा करते समय मानव-जीवन की पूर्णता तथा विकास इन दोनों को ही एक साथ अपने सामने रखा है। इसकी कई बातों का बहुत कुछ मेल संतों की उक्त आदर्श पद्धति से भी खाता जान पड़ता है जिसकी ओर उन्होंने केवल एक मार्मिक संकेत मात्र करके छोड़ दिया था।

पूर्ण मानव-जीवन

कबीर साहब ने मनुष्य की पूर्णता की ओर विशेष ध्यान दिया था। गुरु नानक ने उसकी आंतरिक शक्तियों के पूर्ण विकास के निमित्त साधनाओं का आयोजन भी किया था। दादू दयाल ने अपनी आदर्श साधना का नाम ही कदाचित् इसी कारण 'पूर्णांग साधना' रख छोड़ा था। किंतु पंथ-निर्माण की प्रबल प्रवृत्ति ने उनके पीछे आनेवाले संतों की रुझान इस ओर नहीं होने दी। वे अनावश्यक प्रपंचों में ही अधिक लगते चले गए। उनकी संस्थाएँ केवल धार्मिक सुधार की एकांगी योजनाओं को लेकर चल पड़ीं और उनका मुख्य ध्येय विस्मृत-सा होने लगा। नानक-पंथ वा सिक्ख-धर्म के प्रधान प्रचारकों ने इस ओर कुछ अधिक तत्परता अवश्य दिखलायी, किंतु परिस्थिति ने उनके कार्य को एक प्रकार से साम्प्रदायिक रंग में रँग डाला। अंत में उसके अनुयायी एक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गए। साध-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी इसी प्रकार अपने को कोरा धार्मिक समाज मात्र न मान कर अपनी उन्नति के अन्य पार्श्वों पर भी ध्यान देना चाहा था। किंतु जिस प्रकार अत्याचार के विरुद्ध लोहा लेनेवाले सिक्खों तथा सत्तनामियों की पृथक्-पृथक जातियाँ बन गईं, उसी प्रकार साधों की गणना उनकी जीविका के कारण व्यवसायी समाज के अंतर्गत होने लगी। इन दोनों की असफलता का प्रधान कारण यह था कि इन्होंने अपने-अपने अनुययियों के व्यक्तिगत विकास की उपेक्षा कर अपनी उन्नति की आशा केवल सामुदायिक रूपों में ही केन्द्रित कर रखी थी।

व्यक्तित्व का विकास

संतों की परंपरा के पूर्वकालीन प्रचारकों की धारणा इस प्रकार की नहीं थी। उनका दृष्टिकोण भी इसी कारण इससे नितांत भिन्न था। वे व्यक्ति के पूर्ण विकास को सामाजिक उन्नति तथा अभिवृद्धि अथवा विश्व-कल्याण के लिए

भी अत्यंत आवश्यक समझते थे। उनका कहना था कि किसी भी आदर्श को समाज के समक्ष रखने के पहले उसके स्वरूप तथा वास्तविक मूल्य का व्यक्तिगत परिचय पा लेना, उसके आधार पर प्रचलित किये जाने वाले नियमों के प्रभाव को स्वयं अनुभव कर लेना और उसे भले प्रकार से परख लेना चाहिए। उसे इस प्रकार व्यवहारोपयोगी सिद्ध कर लेने पर ही उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था का निर्णय करना न्याय-संगत हुआ करता है। मानव-जाति स्वभावत: एक समान है। उसके क्रमिक विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके अंतर्गत पाये जानेवाले सत्य, प्रेम, अहिंसा, परोपकार, पवित्राचरण तथा संयत जीवन की ओर उन्मुख रहनेवाली प्रवृत्तियों ने ही उसे आज तक जीवित तथा सुरक्षित रखा है। उसके भीतर लक्षित होनेवाली पाशविक वृत्तियाँ उसे सदा उसके नाश की ओर प्रेरित करती आयी हैं। उन पर विजय पाकर ही वह अपने को सँभाल सकी हैं। इस प्रकार संपूर्ण मानव-जीवन को एक इकाई मानते हुए उसके आदर्श स्वरूप की उपलब्धि के लिए अधिक-से-अधिक व्यापक दृष्टिकोण के साथ अग्रसर होना और यत्न करते समय सदा अपने को तदनुकूल बनाते जाना ही सबसे अधिक स्वाभाविक कहा जा सकता है। आदर्श मानव-जीवन के प्रति यदि व्यापक दृष्टिकोण बन गया और व्यक्ति अपने को तदनुसार ढालने की ओर प्रवृत्त हो गया, तो वह अपने नैतिक आचरण को शुद्ध रखता हुआ कोई भी कार्य विश्व-कल्याण के लिए ही करता है। उसके कार्य का क्षेत्र चाहे व्यावसायिक हो, चाहे राजनीतिक अथवा जिस किसी भी रूप का हो, उसकी चेष्टाओं द्वारा समाज का अकल्याण कभी संभव नहीं है, न उक्त मनोवृत्तिवाले व्यक्ति का कोई वर्ग-विशेष ही उसे लाभ की अपेक्षा कभी हानि पहुँचा सकता है।

व्यावसायिक योजना

आधुनिक युग के अंतर्गत संतों के एक वर्ग ने प्राय: उक्त नियम के ही अनुसार सामूहिक व्यवसाय की एक योजना प्रस्तुत की और अपने प्रधान केन्द्र आगरा नगर के निकट भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओं को वैज्ञानिक ढंग से तैयार करना आरंभ कर दिया। 'राधास्वामी-सत्संग' की दयालबाग-शाखा के तत्कालीन सद्गुरु सर आनंदस्वरूप ने उक्त योजना को सफल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया और उसे अपनी व्यक्तिगत देख-रेख में चलाया। फलत: उक्त सत्संग का कोरा धार्मिक केन्द्र क्रमश: उसके व्यावसायिक केन्द्र में परिणत हो गया। इस प्रकार वह भारतीय उद्योग-धंधों का एक प्रमुख कार्य-क्षेत्र भी बन गया। कहते हैं कि सत्संगियों द्वारा किये गए उक्त नवीन प्रयास के कारण उनकी धार्मिक वा आध्यात्मिक साधना को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची। उनके दोनों ही कार्य एक समान उन्नति करते

जा रहे हैं और दोनों के समन्वय से उनके भीतर एक अपूर्व उत्साह तथा बल का संचार भी हो आया है। चमड़े के जूते-जैसी वस्तुओं के बनाने का तथाकथित 'ओछा' कर्य भी सत्संग के सहयोग से अब एक ऊँचा स्थान ग्रहण करने लगा है। इस प्रसंग में प्रसिद्ध चमार संत रैदासजी का स्मरण दिला कर उनके पूर्वकालीन समसामयिक तथा उत्तरकालीन क्रमशः नामदेव छीपी, कबीर जुलाहे तथा दादू धुनिया जैसे संतों के शुद्ध और सात्विक जीवन की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता जा रहा है। साध-सम्प्रदाय के अनुगामियों द्वारा अपनाये गए उद्योग-धंधों पर भी यदि हम चाहें तो उनके सादे शांतिमय जीवन की दृष्टि से इसी भावना के साथ विचार कर सकते हैं। संतों ने किसी प्रकार के भी उद्योग-धंधों को यदि वह उचित ढंग से किया जाय तो कभी अनुचित नहीं ठहराया है, न उसकी कभी निंदा ही की है। उद्योग-धंधों की पदवी वास्तव में उनमें लगनेवाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति तथा आचरण के अनुसार ऊँची वा नीची हुआ करती है। वे स्वयं निरपेक्ष कार्य ही होते हैं।

महात्मा गाँधी का कार्य

इस युग के प्रसिद्ध 'साबरमती-संत' वा 'सेगाँव-संत' महात्मा गांधी ने वा स्वामी रामतीर्थ ने भी किसी पंथ वा सम्प्रदाय की स्थापना का यत्न नहीं किया। गांधीजी अपने वक्तव्यों तथा उनसे भी अधिक अपने व्यवहारों द्वारा अपने जीवन भर सदा सत्य के प्रयोगों में लगे रहे। उनका भी मुख्य कर्त्तव्य प्रायः वही था जो कबीर साहिब तथा गुरु नानकदेव-जैसे संतों का था। वे भी मानव-जीवन के ऊपर पूर्ण तथा व्यापक रूप से विचार करते थे। उनका यही कहना था कि मानव-समाज की उन्नति उसके अंगीभूत व्यक्तियों के पूर्ण विकास तथा सदाचरण पर ही निर्भर है। उन्होंने अपने कार्यों द्वारा न केवल आदर्श और व्यवहार में सामंजस्य लाने की चेष्टा की, प्रत्युत वे मानव-जीवन के प्रत्येक अंग को धार्मिक स्वरूप प्रदान करने में सदा निरत रहे। तदनुसार उन्होंने राजनीति-जैसे कूट-पूर्ण क्षेत्र में भी अपने सत्य के प्रयोग किये। अपने जीवन की साधारण-से-साधारण घटनाओं में भी अपने आदर्श को कार्यान्वित करने की चेष्टा की। वे जिस प्रकार वक्र-पथगामी राजनीतिज्ञों के साथ शुद्ध तथा सरल बर्ताव करना जानते थे, उसी प्रकार निम्नातिनिम्न स्तर वाले व्यक्तियों के प्रति भी सौहार्द तथा प्रेम का भाव प्रदर्शित किया करते थे। दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुओं के लिए परमुखापेक्षी होना भी कभी उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

नवीन प्रवृत्ति

महात्मा गांधी के अनंतर उनके शिष्यों वा अनुयायियों में से संत विनोबा भावे

उनके आदर्शों को अपने ढंग से व्यावहारिक रूप देने में यत्नशील हैं और उन्हें कुछ अंशों तक सफलता भी मिलती जान पड़ती है। इतना स्पष्ट है कि अपने व्यक्त किये हुए विचारों तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा उन्होंने संत-मत के वास्तविक लक्ष्य की ओर संकेत कर दिया है। जो बातें पहले उपदेशों के आडंबर में छिप जाया करती थीं और कोरे धार्मिक वातावरण के कारण जिनके विकास की गति साम्प्रदायिक भावनाओं के बाहुल्य द्वारा अवरुद्ध हो जाया करती थी, वे अब कुछ अधिक प्रकाश में आ चुकी हैं। उनके ऊपर किये गए प्रयोगों के कारण उनके महत्त्व के प्रति लोगों का ध्यान एक बार फिर आकृष्ट होने लगा है। वे अब निरे आदर्श के अस्पष्ट रूप का त्याग करती हुई व्यावहारिक क्षेत्र में भी क्रमशः प्रविष्ट होती जा रही है। उन्हें अब सचमुच अपनायी जाने योग्य कहने में बहुत लोगों को संकोच भी नहीं हो रहा है। अतएव, संभव है कि अत्यंत ऊँची तथा दूर की समझी जानेवाली ये बातें इस नयी प्रवृत्ति के कारण अपने निकट की बन कर किसी समय क्रमशः व्यावहारिक रूप भी ग्रहण करने लग जायँ।

२. साहिब-पंथ

प्रारंभिक परिचय

साहिब-पंथ के प्रवर्तक तुलसीसाहब थे जिनका एक दूसरा नाम 'साहिबजी' भी था। इनके जीवन-काल की घटनाओं के विषय में अभी तक बहुत कुछ मत-भेद है। इनके जन्म तथा मरण की तिथियों का भी अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है। बाबा नंदन साहब द्वारा रचित 'बाबा देवी साहेब का जीवन चरित', (मुरादाबाद) से जान पड़ता है कि ये सुदूर दक्षिण देश से आये थे। इनके ग्रंथ 'रत्नसागर' के वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग वाले संस्करण के संपादक ने इन्हें बहुत अच्छे ब्राह्मण-कुल का वंशज बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि इनको अपने बचपन में ही ऐसा तीव्र वैराग्य हो गया था कि ये अपना घर-बार छोड़ अलीगढ़ जिले के नगर हाथरस में आ बस गए। इनके जन्म-स्थान का उन्होंने कोई पता नहीं दिया है और मरण के लिए भी इतना ही कहा है कि ये लगभग साठ बरस की अवस्था में सं० १६०५ में हाथरस में ही मरे थे। परन्तु उक्त प्रेस में छपी इनकी 'शब्दावली' भाग १ के संपादक ने इनके विषय में इतना और भी लिखा है कि ये "जाति के दक्षिणी ब्राह्मण राज्य पूना के युवराज यानी बड़े बेटे थे, जिनका नाम इनके पिता ने श्यामराव रखा था। बारह बरस की उमर में इनकी मरजी के खिलाफ पिता ने इनका विवाह कर दिया, पर वह जवान होने पर भी ब्रह्मचर्य में पक्के बने रहे और अपनी स्त्री से अलग

रहे।"[1] उन्होंने इनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीबाई बतलाया है और कहा है कि वे पूरी पतिव्रता थीं तथा अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में सदा लगी रहती थीं। एक दिन उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर इन्होंने वर माँगने को कहा, जिस पर अपनी सास के संकेतानुसार उन्होंने अपने लिए एक पुत्र की याचना कर दी और उन्हें दस महीने पीछे अपने अभीष्ट की प्राप्ति हो गई। साहिबजी का उक्त संपादक ने पितृ-भक्त होना भी बतलाया है। किंतु यह भी कहा है कि इन्होंने अपने पिता की हार्दिक इच्छा के विरुद्ध भी राजगद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया। प्रसिद्ध है कि पहले इन्होंने उन्हें वैराग्य तथा भक्ति की चर्चा करके प्रभावित कर देना चाहा। किंतु जब वे इस पर भी इनके लिए तैयारी करते रह गए, तब राजगद्दी की निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व हवा खाने के बहाने ये किसी तुर्की घोड़े पर सवार होकर निकल पड़े और घोर आँधी में सभी से अलग हो गए।

बाजीराव द्वितीय तथा तुलसी साहब

कहते हैं कि इनके पिता ने इनकी बड़ी खोज करायी, किंतु इनके न मिल सकने पर अपने छोटे कुँवर बाजीराव को गद्दी पर बिठा दिया। यह बाजीराव अनुमानतः बाजीराव द्वितीय था, जो सं० १८५३ में पेशवा हुए थे और सं० १८७५ तक उस गद्दी पर आसीन रहे थे। परन्तु इतिहास-ग्रंथों में इनके बड़े भाई का नाम अमृतराव बतलाया जाता है, जो वास्तव में उनके पिता रघुनाथराव वा 'राघोबा' के दत्तक पुत्र थे। इतिहास में अमृतराव का श्यामराव नाम कहीं भी नहीं पाया जाता। उनके एक पुत्र का पता अवश्य मिलता है, जो विनायक राव के नाम से प्रसिद्ध था। बाजीराव द्वितीय जब सं० १८७६ में अपनी गद्दी से उतार कर बिठूर जिला कानपुर भेजे गए थे। उसके ४२ वर्ष पीछे उनसे इनकी भेंट होने की घटना का उल्लेख किया जाता है। प्रसिद्ध है और कदाचित् किसी 'सुरत विलास' नामक ग्रंथ में भी लिखा है[2] कि एक दिन जब साहिब जी हाथरस में गंगा-तट पर विचरण कर रहे थे कि इन्होंने एक ब्राह्मण और एक शूद्र में झगड़ा होते देखा। ब्राह्मण गंगा में स्नान कर संध्या करने बैठा था कि शूद्र के शरीर का छींटा उनके ऊपर पड़ गया। वह क्रोधावेश में आकर उसे मारने-पीटने और गाली देने लगा। साहिबजी के पूछने पर जब ब्राह्मण ने कहा कि शूद्र ने मुझे अपवित्र कर दिया है और मेरे पास अब दूसरी धोती भी नहीं

---

१. शब्दावली भाग १, पृ० १।

२. वही, पृ० १। परन्तु इस समय इस ग्रंथ का कहीं पता नहीं चलता।

रही जिसे नहाने के अनंतर फिर पहन कर अपनी पूजा समाप्त करूँ, तब इन्होंने उसे समझाया कि हिन्दू शास्त्रानुसार जब एक ही विष्णु के चरणों से गंगा तथा शूद्र दोनों ही निकले हैं, तब एक को पवित्र और दूसरे को अपवित्र क्यों मानते हो। ब्राह्मण यह सुन कर बहुत लज्जित हुआ और झगड़े का अंत हो गया। परन्तु उक्त अवसर पर एकत्र भीड़ में उपस्थित बाजीराव द्वितीय के किसी पंडित ने साहिबजी को पहचान लिया और उसने जाकर अपने राजा को इसकी सूचना दे दी। बाजीराव यह सुन कर उनसे मिलने पहुँच गए और इन्हें बड़े आदर-भाव के साथ अपने यहाँ ले गए। किंतु ये वहाँ से फिर चुपचाप चल दिये और अपना जीवन पूर्ववत् व्यतीत करने लगे।

गुरु

कहते हैं कि तुलसी साहब ने किसी को अपना गुरु धारण नहीं किया था। ये सदा सत्संग में ही रह कर संत-मत के रहस्यों से पूर्णतः परिचित हो गए थे और इन्होंने अपनी साधना अपने आप कर ली थी।[१] इससे प्रतीत होता है कि ये अपने भीतर स्थित स्वयं भगवान् के संकेतों से ही अनुप्राणित हुए थे। इन्हें किसी मनुष्य के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं पड़ी थी। 'कंज-गुरु' वा 'पद्मगुरु' शब्द शरीरस्थ कमल में विद्यमान सतगुरु का द्योतक है, जिसे इन्होंने 'मूलसंत' नाम भी दिया है।[२] उसे 'सतलोक-निवासी' भी बतलाया है। इनका कहना है कि पहले मैं इधर-उधर गुरु की खोज में भटकता-फिरता रहा और निरंतर इसी चिंता में रहा कि किसी का साथ पकड़ लूँ। इन्होंने इस प्रकार अनेक संतों के सत्संग किये और उनके साथ रह कर अपने को लाभान्वित करने की चेष्टा में पूरा समय लगाया। फिर भी किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा इन्हें कोई दीक्षा नहीं मिली। कुछ लोगों का कहना है कि ये पहले 'आवा-पंथ' में दीक्षित हो चुके थे और पीछे किसी कारणवश उसका त्याग कर ये संत-मत में आये।[३] परन्तु 'आवा-पंथ' के साथ इनके किसी संबंध का संकेत इनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता, न इनके विषय में लिखनेवालों ने इस प्रसंग का कोई विवरण ही दिया है। 'गुरु' शब्द के साथ-साथ 'कंज' वा 'पद्म' का भी प्रायः सर्वत्र प्रयोग

---

१. 'कंज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कछु नहिं पाई॥'
—घटरामायन, भाग २, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, पृ० ४१६।

२. 'सखि मूलसंत दयाल सतगुरु, पिउ निहाली मोहि करी'।
—वही, भाग १, पृ० ५।

३. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज़्म ऑफ़ इंडिया, पृ० १६०।

होने से कभी-कभी यह भी धारणा हो सकती है कि इनके गुरु कदाचित् कोई 'पद्मानंद'-जैसे नामधारी व्यक्ति रहे होंगे।

पूर्व-जन्म का वृत्तांत

साहिबजी के जीवन की सभी घटनाओं के उल्लेख नहीं मिलते । इनकी रचनाओं से इतना जान पड़ता है कि इन्हें अभ्यास तथा सत्संग से बड़ा प्रेम था। इनकी 'घटरामायन' में इनके पूर्व-जन्म का प्रसंग भी मिलता है।[1] इससे पता चलता है कि उस समय ये प्रसिद्ध तुलसीदास के रूप में आये थे । उसमें कहा गया है कि यमुना-तीरवर्त्ती राजापुर में इन्होंने जन्म लिया तथा उस गाँव की स्थिति भी बुंदेलखंड के अंतर्गत चित्रकूट से दस कोस की दूरी पर बतलायी गयी है। इनकी जन्म-तिथि सं० १५२६ की भादो सुदी एकादशी मंगलवार कही गई है। वहाँ पर इस बात की ओर भी संकेत है कि यद्यपि इनका मन अपनी पत्नी में लगता था, किंतु उस समय भी सत्संग ही इन्हें अधिक पसंद था।[2] तदनुसार सं० १६१४ की श्रावण शुक्ल नवमी को आधी रात के समय इन्हें अपने भीतर आश्चर्यजनक परिवर्तन का बोध हुआ और इन्होंने अपनी काया में ही सारे ब्रह्मांड का रहस्य जान लिया। ये तीनों लोकों से न्यारे स्थान 'सतलोक' में पहुँच गए और इन्हें 'अनाम' तक का अनुभव होने लगा। फिर तो ये उच्च कोटि के संत के रूप में प्रसिद्ध हो चले। इनके दर्शनों के लिए दूर-दूर तक के स्त्री-पुरुष एकत्र होने लगे, जिनमें एक व्यक्ति काशी का रहनेवाला हिरदे अहीर भी था । हिरदे साहबजी का इतना बड़ा प्रियपात्र हो गया कि उसके काशी चले जाने पर एक बार उसके स्नेह के कारण ये स्वयं भी वहाँ चले गए और सं० १६१५ में चैत मास में मंगल के दिन वहाँ पर जा ठहरे। काशी में रहते समय सं० १६१६ की कार्त्तिक बदी ५ को इनके यहाँ पलकराम नामक एक नानक-पंथी आया। उसने इनसे सत्संग किया । वहीं सं० १६१८ की भादो सुदी एकादशी को मंगल के दिन इन्होंने 'घटरामायन' की रचना आरंभ कर दी और उसे कुछ दिनों में समाप्त किया। 'घटरामायन' में व्यक्त किये गए इनके विचारों के कारण काशी में खलबली मच गई। लोग इसके विरुद्ध बिगड़ खड़े हो गए, जिस कारण इन्हें इस ग्रंथ को कुछ काल के लिए गुप्त रख देना पड़ा। तदनंतर सं० १६३१ में इन्होंने एक दूसरी 'रामायन' (वस्तुतः 'रामचरित-मानस') की रचना की।

---

१. घटरामायन, भा० २, पृ० ४१४-१८ ।

२. 'एक विधी चित रहौं सम्हारे । मिलै कोई संत फिरौं तेहि लारे ।'

अंत में सं० १६८० की श्रावण शुक्ल ७ को बरुना नदी के तीर पर मर गए।

समीक्षा

उक्त पूर्व-जन्मकथा के उल्लेखों से जान पड़ता है कि उन्हें करनेवाला अपने को प्रसिद्ध तुलसीदास का एक अवतार मानता है। अपने विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा में कई बातों को सँभाल कर लिखता है, ताकि कोई संदेह न उत्पन्न हो सके। उसने 'रामचरितमानस' की कथा के 'घटरामायन' में घटाने का भी यत्न किया है।[1] इसके सिवाय एक दूसरे[2] स्थल पर साहिबजी ने फूलदास के प्रति उपदेश देते हुए उसे बतलाया है कि किस प्रकार रावण ब्रह्म है, जिसकी लंका त्रिकुटी में स्थित है। इन्द्रजीत इन्द्रियों का जीतनेवाला इन्द्रियजीत साधक है। दस इन्द्रियों में रत रहनेवाला दशरथ है। उक्त रावण ब्रह्म तक 'दौरी' वा दौड़ कर जा बसनेवाले मन को 'मंदोदरी' कहते हैं। यम को स्थिर करके सुरति के निश्चल कर देने को 'मंथ्रा' अर्थात् मंथरा नाम दिया गया है। इस प्रकार केवल शब्द-साम्य के निर्बल आधार पर बिना कोई सुसंगति बैठाये राम-रावण की प्रसिद्ध कथा का वास्तविक तात्पर्य समझाया है।[3] इससे कभी-कभी उक्त सारी बातें भ्रमात्मक जान पड़ने लगती हैं। ऊपर दिये हुए पूर्वजन्म-संबंधी वृत्त के प्रामाणिक होने में संदेह भी होने लगता है। इस वृत्त में दी गई सभी तिथियाँ गणना करने पर शुद्ध नहीं ठहरती,[4]

---

१. 'घट में रावन राम जो लेखा। भरत सत्रगुन दसरथ पेखा ॥
सीता लखन कोसल्या माहीं। मंथरा केकई सकल रहाहीं ॥
इन्द्रजीत मंदोदरी भाई। रावन कुंभकरन घट माहीं ॥
सारा जगत पिंड ब्रह्मांडा। पांच तत्त्व रचना कर अंडा ॥
.. .. ..
घट रामायन अगम पसारा। पिंड ब्रह्मांड लिखा विधि सारा ॥
नाम अनेक अनेकन कहिया। सो सब घट भीतर दरसइया ॥
घट रामायन संत कोइ चीन्हा। समझे संत होई लौलीना ॥१॥"
—घटरामायन, भा० २, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ४११-३।

२. वही, पृ० २१५।

३. 'मैं अति हीन दीन दारुन मति, घट रामायन बनाई।
रावन राम की जुद्धि लड़ाई, सो नहिं कीन्ह बनाई ॥'
वहीं, पृ० २१४।

४. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : तुलसीदास, हिंदी परिषद्, १६४२ ई०, पृ० ५८।

न वह पूर्व-जन्म का वृत्तांत सभी दृष्टियों से विचार करने पर एक पौराणिक वक्तव्य से अधिक महत्त्व रखता हुआ ही जान पड़ता है। इसीलिए किसी-किसी की यह भी धारणा है कि 'घटनरामायन' का यह अंश इनके किसी शिष्य की रचना है[1]। इस कारण उक्त उल्लेखों को हम क्षेपक भी कह सकते हैं।

जीवन-चर्चा

संत तुलसी साहब वा साहिबजी के जीवन की अधिकांश घटनाओं का हाल विदित न होने से इनके व्यक्तित्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इनके विषय में कहा गया है कि ये "अक्सर हाथरस के बाहर एक कंबल ओढ़े और हाथ में डंडा लिये दूर-दूर शहरों में चले जाया करते थे। इन्होंने जोगिया नाम के गाँव में जो हाथरस से एक मील पर है, अपना सतसंग जारी किया और बहुतों को सत्य-मार्ग में लगाया था। इनकी हालत अक्सर गहरे खिचाव की रहा करती थी। ऐसे आवेश की दशा में धारा की तरह ऊँचे घाट की बानी उनके मुख से निकलती, जो कोई निकटवर्त्ती सेवक उस समय पास रहा, उसने जो सुना-समझा लिख लिया, नहीं तो वह बानी हाथ से निकल गई। इस प्रकार के अनेक शब्द उनकी 'शब्दावली' में हैं।"[3] ऐसी दशा में इनके विविध संवादों वा सत्संग-संबंधी उल्लेखों के विषय में भी संदेह करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। परन्तु यह बात कुछ अवश्य खटकती है कि इतनी ऊँची पहुँच के किसी संत ने अपने को प्रसिद्ध सगुण भक्त तुलसीदास का अवतार होना सिद्ध किया होगा अथवा केवल वाह्य शब्द-साम्य के सहारे 'रामचरितमानस' की कथा को 'घटरामायन' के सिद्धांतानुसार समझाने की चेष्टा की होगी।

स्वभाव

इनके स्वभाव के संबंध में एक कथा प्रचलित है कि एक बार इनके किसी श्रद्धालु भक्त ने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया और बड़े प्रेम के साथ इनके सामने भोजन के सामान रख दिये। किंतु ज्यों ही ये भोजन आरंभ करने जा रहे थे कि उसने इनसे अपने पुत्रहीन होने का दुखड़ा कह सुनाया और इनसे अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रार्थना भी कर दी। इस पर साहिबजी बोल

---

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भा० १५, पृ० ६२।

२. इस संबंध में दे० मेंहीदास : भावार्थ सहित घटरामायण सन् १९३६ ई०, भूमिका भी पृ० ३-२२।

३. घटरामायण, भाग १, (जीवनचरित्र), बे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३-४।

उठे, "यदि तुम्हें पुत्र की अभिलाषा हो, तो अपने सगुण परमात्मा से उसकी भीख माँगो। मेरी यदि चले, तो मैं अपने भक्तों के उत्पन्न बच्चों को भी उठा लूँ और उन्हें इस प्रकार निर्वंश कर दूँ।" ये इसी प्रकार कहते सुनते-अपने सोटा उठा कर चल भी दिये।[1] इन्हीं की क्षमाशीलता के संबंध में एक दूसरी कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है, "एक समय जब ये हाथरस के एक मार्ग से बाजार होकर जा रहे थे कि इनके मूर्तिपूजा-खंडन आदि से चिढ़े हुए लोगों के बालकों ने इनके पीछे तालियाँ बजाना और इन पर कंकड़-पत्थर फेंकना आरंभ कर दिया। एकाध कंकड़ इनके अति निकट भी आ गिरे। इनके शिष्य गिरधारी लाल को अत्यंत क्रोध आ गया तथा उनकी आँखें लाल लाल हो आई। परन्तु इन्होंने उन्हें क्रोध करने से मना किया और कहा कि दुनियादारों के लिए यह स्वाभाविक है। तुम्हें ऐसा करना उचित नहीं। लोगों ने तो साधुओं की खाल तक खिंचवा ली है।"[2]

मृत्यु-काल

वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'शब्दावली' भाग-१ के संपादक ने उसके आरंभ में दिये गए 'जीवन-चरित्र' में बतलाया है कि संत तुलसीसाहब का देहांत सं० १८९९ वा सं० १९०० की जेठ सुदी २ को अनुमानतः ८० वर्ष की अवस्था में हुआ था। इस प्रकार उन्होंने इनके जन्म का संवत् लगभग १८२० ठहराया है जो उसी प्रेस द्वारा प्रकाशित 'रत्नसागर' ग्रंथ के आरंभ में दिये हुए इनके जीवन-काल सं० १८४८-१९०५ से मेल नहीं खाता। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इनका जन्म-समय सं० १८१७ : सन् १७६० ई० तथा मृत्यु-समय सं० १८९९ : सन् १८४२ ई० माना है,[3] जो उक्त पहले कथन के बहुत कुछ अनुकूल पड़ता है। वह इनकी शिष्य-परंपरा के कालक्रमानुसार भी अधिक अंतर नहीं प्रकट करता। इसके लिए यद्यपि कोई प्रमाण नहीं दिये गए हैं, फिर भी इसे तब तक मान लेना कदाचित् अनुचित् न होगा। अन्य कुछ लोगों के अनुसार यह समय सं० १८२०-१९०० : सन् १७६३-१८४३ भी हो सकता है।

रचनाएँ

संत तुलसीसाहब की रचनाओं के रूप में इस समय 'घटरामायन', 'शब्दावली'

---

१. रत्नसागर, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, जीवन-चरित्र, पृ० २।
२. जीवनचरित्र स्वामीजी महाराज, पृ० ९७-९८।
३. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज़्म ऑफ इंडिया, पृ० १६०-१।

तथा 'रत्नसागर' नाम की तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं, जो सभी वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग की ओर से प्रकाशित हो चुकी हैं। 'शब्दावली' भाग-२ के अंत में एक 'पद्मसागर' नाम का छोटा-सा ग्रंथ भी छपा मिलता है। 'घटरामायन'[1] एक बड़ा ग्रंथ है जिसमें पिंड तथा ब्रह्मांड के रहस्यों का विवरण देने के अनंतर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् उन विविध संवादों के भी उल्लेख हैं जो तुलसी साहब के काशी में रहते समय उनके और भिन्न-भिन्न धर्म वालों के बीच हुए थे। इन सत्संग करनेवालों में से तकी मियाँ मुसलमान थे। कर्मचंद पल्लीवाल, धर्मा, करिया अथवा सेनी नाम की स्त्री जैनी थे। नैनू, स्यामा तथा रामा पंडित थे, माना गिरि संन्यासी थे, हिरदे अहीर, उसका पुत्र गुनुवाँ व प्रियेलाल गुसाई साधारण हिन्दुओं के प्रतिनिधि थे। फूलदास तथा गुपाल गुसाई कबीर-पंथी थे और पलकराम नानक-पंथी थे। इनमें से प्रायः सभी ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रश्न कर इनसे उत्तर पाये। इनके संवादों में प्रदर्शित तर्क-वितर्क की शैली गंभीर नहीं है। कहीं-कहीं पर गूढ़ प्रश्नों तक को लेकर एक प्रकार का विनोद प्रदर्शन किया गया जान पड़ता है। संत मेहीदास के अनुसार इसमें तुलसी साहब की निर्मित अछूती वाणी स्वल्प मात्र है, अधिकांश क्षेपक ही है।[2] पुस्तक के अंत में संत तुलसी साहब के पूर्व-जन्म का वृत्तांत भी दिया गया है और संत-मत के संक्षिप्त परिचय के साथ यह समाप्त की गयी है। 'रत्नसागर' ग्रंथ में सृष्टि-रचना का रहस्य कर्मवाद तथा सत्संग प्रधान विषय होकर आये हैं। एकाध उपाख्यानों द्वारा कुछ बातों को स्पष्ट करने की चेष्टा भी की गई है। इसी प्रकार 'शब्दावली' नामक रचना साहिबजी की विविध बानियों का संग्रह-मात्र है जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों के अनेक छंदों तथा रागों के उदाहरण पाये जाते हैं। 'शब्दावली' के अंत में जुड़ी हुई 'पद्मसागर' नामक छोटी-सी रचना में अगमपुर तथा उस तक पहुँचने के मार्ग का केवल अधूरा वर्णन दीख पड़ता है।

पिंड-रहस्य

इस प्रकार संत तुलसी साहब की उपलब्ध रचनाओं के प्रधान विषय या तो उनके सिद्धांतों से संबद्ध हैं या आलोचनात्मक हैं। अपने सिद्धांतों का निरूपण करते समय उन्होंने सर्वप्रथम पिंड तथा ब्रह्मांड के भेद का वर्णन

---

१. इसकी मूल प्रति को लेकर बाबा देवी साहब ने सं० १९५३ : सन् १८९६ में नवल किशोर प्रेस लखनऊ में छपवाया था जो अब अप्राप्य है। —लेखक।

२. भावार्थ सहित घट रामायण, भूमिका, पृ० ३१।

किया है और उसका आधार वा प्रमाण भी बतलाया है।[1] दरिया साहब (मारवाड़) तथा कुछ अन्य रामस्नेही-सम्प्रदाय वालों के समान स्वयं सभी बातों के द्रष्टा तथा अनुभवी होने के कारण इन्होंने पिंड की भीतरी स्थिति का ब्योरा बहुत विस्तार के साथ दिया है। तदनुसार इन्होंने इसके भीतर वाले ३६ प्रकार के नीर वा जलतत्त्व, २५ प्रकार के पवन वा वायुतत्त्व, १६ प्रकार के गगन वा आकाशतत्त्व, छह भँवर गुफा, छह त्रिकुटी, ३२ नाल, १६ द्वार, ७२ कोठा, ८४ सिद्ध, २५ प्रकृति, ५ इन्द्रिय, २२ सुन्न आदि के विवरण तथा कभी-कभी नाम भी देकर अनेक कमल, चक्र आदि तथा काग-भुशुंडी का भी पता बतलाया है।[2] इन्होंने घट के ही भीतर चार गुरुओं के स्थान भी निर्दिष्ट किये है जो क्रमशः सहसदल कमल, द्वैदल कमल, चौदल कमल तथा सतलोक कहे गए हैं। इन सबके परे उस परमगुरु का पद ठहराया है जो सभी संतों का आधार-स्वरूप होने पर भी घट के बाहर नहीं है।[3] इन्होंने सुन्न के छह अन्य भेद भी बतला कर उनमें से प्रथम को 'निःनामी' का अगमपुर कहा है। द्वितीय को 'सत्तनाम' का सुखधाम बतलाया है, तृतीय को एक शब्द की खिरकी नाम दिया है और छहों के निवासियों को क्रमशः पिय, सत्त पुरुष, पुरुष, परमातम, हंस (आतम) तथा निराकार कहा है। इनमें से अंतिम तीन को दूसरे शब्दों में क्रमशः पारब्रह्म, पूरनब्रह्म तथा निरंजन भी कहा गया है। इन्होंने उक्त ढंग से भेद का वर्णन करके चार प्रकार की साधनाएँ भी बतलायी हैं, जिनमें चार वैराग्य, चार योग, दो ज्ञान तथा नवधा भक्ति के विविध अंगों से संबद्ध हैं। इनकी सहायता से साधक अपने अभीष्ट की उपलब्धि कर सकता है।

संत-मत

संत तुलसी साहब ने अपने मत को 'संत-मत' नाम दिया है। इन्होंने कहा है कि उसके वास्तविक रहस्य को ब्रह्मा, विराट आदि तक नहीं जानते।[4]

---

१. 'सुति बूँद सिंधु मिलाय, आप अधर चढ़ि चाखिया।
निरखा आदि अंत मधि माहीं। सोइ सोइ तुलसी भाखि सुनाहीं॥
पिंड मांहि ब्रह्मांड समाना। तुलसी देखा अगम ठिकाना॥
पिंड माहिं ब्रह्मांड बखाना। ताको तुलसी करी बखाना॥,
घटरामायन, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १ तथा १०-११।

२. वही, पृ० १३-८०।

३. शब्दावली, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ११८।

४. घटरामायन, भा० १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १४३।

इस मत का कोई अंत नहीं है, किंतु उसी के अनुसरण द्वारा प्राप्त घर में सभी संत निरंतर निवास किया करते है।[1] ये कहते है कि सतसंग तथा सतगुरु ने मुझे संत-पथ की ओर उन्मुख कर दिया। मैंने उससे परिचित हो जाने के कारण किसी भिन्न मत के प्रचार की आवश्यकता नहीं समझी, न नया पंथ चलाया। इन्होंने कबीर साहब, नानकदेव, दादूदयाल, दरियादासाहब, रैदास तथा मीराँ तथा नाभा का भी आदर्श संत के रूप में वर्णन किया है। किंतु इसके साथ ही इन्होंने अपने आलोचनात्मक उपदेशों के द्वारा उनके विविध अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट भी सिद्ध करने की चेष्टा की है।[2] इन्होंने इसी कारण कबीर-पंथ की प्रसिद्धि 'चौकाविधि' तथा 'बयालिसवंश'-जैसी पद्धतियों वा परंपराओं के अपने तर्क के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। नानक-पंथ अथवा सिक्ख-धर्म के 'वाह गुरु', 'कडा' 'प्रसाद' तथा 'ग्रंथ'-जैसे शब्दों से भी भिन्न-भिन्न तात्पर्य निकालने का यत्न किया है। इनकी युक्तियाँ कभी-कभी काल्पनिक होती हुई भी अधिकतर बुद्धि-संगत तथा समीचीन हैं। कोरी श्रद्धा के आवेश में अंधानुसरण करनेवालों के लिए चेतावनो का काम करती हैं।

मन तथा अगमपुर

संत तुलसी साहब ने 'मन' शब्द का अर्थ श्लेष द्वारा तौल वाला मन बतलाया है। उसे संत शिवनारायण की भाँति ४० सेर का भी कहा है।[3] किंतु बंस-बयालिस वाले कबीर-पंथी कथन की सार्थकता सिद्ध करने के यत्न में इन्होंने उसमें कुछ और भी जोड़ दिया है। इनका कहना है कि मन का बास निरंतर चालीस प्रकार के स्थलों पर होता रहता है, किंतु सुरत की स्थिति में पहुँच कर उसका इकतालीसवाँ रूप हो जाता है। उसी प्रकार, जब सुरत तथा शब्द का संयोग बन कर दृढ़ हो जाता है, तब उसके बयालीसवें रूप का अनुमान कर लेना भी अनुचित नहीं। मन के विषय में इन्होंने अपने ग्रंथों में कई जगह लिखा है। इन्होंने एक स्थल पर इसे निरंजन नाम से भी अभिहित किया है।[4] उसके

१. घटरामायन, भा० १, पृ० १०६।

२. 'जो कुछ पंथ कबीर चलावा। पंथ भेद कोइ मरम न पाया॥
पंथ कबीर सोई है भाई। गये कबीर जेहि मारग जाई॥
छूटा पंथ जगत सब लूटा। कहा कबीर सो मारग छूटा॥'
—वही, पृ० १६१ तथा १६३।

३. वही, पृ० १६५ तथा २०३।

४. वही, पृ० १७७।

आगे जाकर बतलाया है कि मन का नाश होते ही निरंजन का भी नाश हो जाता है और वह ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है। फिर ब्रह्म भी उसी भाँति शब्द में जाकर लीन होता है, शब्द शून्य में चला जाता है और शून्य अंत में महाशून्य के अंतर्गत घुल-मिल जाता है। वहाँ से उत्पत्ति तथा प्रलय हुआ करते हैं। उसके आगे की बातें किसी को ज्ञात नहीं हो पातीं। महाशून्य को ही इन्होंने 'सत्तलोक' नाम भी दिया है। इन्होंने कहा है कि वह तीनों लोकों से परे हैं और उसमें केवल संत ही जा पाते हैं।[1] इसी पद वा स्थिति को साहिबजी ने अगमपुर धाम का[2] नाम दिया है। यह वस्तुतः वही है जिसे दरियादास ने 'छपलोक' तथा शिवरानायण ने 'संतदेश' कहा था। इस इन्द्रियातीत तथा अनिर्वचनीय दशा का आध्यात्मिक अनुभव साहिबजी नित्यशः किया करते थे।[3]

महत्त्व तथा अनुयायी

तुलसी साहब ने भिन्न-भिन्न पंथों वा सम्प्रदायों के रूप में चल निकलनेवाले तथा समय के साथ बाहरी सिद्धांतों द्वारा प्रभावित होते जानेवाले विविध नाम-धारी संत-मत की मौलिक एकता पर बहुत ध्यान दिलाया। उसके प्रधान प्रवर्त्तकों के मूल उद्देश्यों को भी समझाया। परन्तु दूसरी ओर पिंड के भीतर की बातों के अनेक अनावश्यक भेद-उपभेद रच कर उसमें जटिलता भी इन्होंने ला दी। अपने को तुलसीदास का अवतार बतला कर कोरी कल्पना को और भी प्रश्रय दे दिया। इससे न तो इन्हें हम एक उच्चकोटि का निष्पक्ष समालोचक तथा सुधारक ही कह सकते हैं, न निरा पुराण-पंथी ही मान सकते

---

१. 'मन का नाम निरंजन होई। आतमब्रह्म कहै सब कोई॥
मन को नास सुनौ पुनि भाई। मन नसि गया निरंजन भाई॥
नास निरंजन ब्रह्म समाना। ब्रह्म जो नसा शब्द में जाना॥
सब्द नास जो सुन्न समाना। सुन्न नास महासुन में जाना॥
यह से उतपति परलय होई। आगे भेद न जानै कोई॥
सत्तलोक महासुन्न कहाई। तीनि लोक सब सुन्न में जाई॥
तीनि लोक करता नहिं जावै। वा पद को कोई संत समावै॥'
—घटरामायन, भाग १, पृ० १८०।

२. पद्मसागर, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १।

३. 'तुलसी निरखि नैन दिन राती, पल पल पहरो आठ।
यहि विध सैल करे निसबासर, रोज तीन सै साठ॥'
—शब्दावली, भाग १, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० १२५।

हैं। फिर भी संत-परंपरा के इतिहास में इनके व्यक्तित्व का बहुत बड़ा महत्त्व है। सब कुछ हुए भी ये अपने निराले ढंग के कारण उसमें एक विशेष स्थान के अधिकारी समझ पड़ते हैं। इनके द्वारा प्रचलित किया गया पंथ साहिब-पंथ के नाम से प्रसिद्ध हो चला है। उसके सहस्रों अनुयायी भारत के विभिन्न नगरों में पाये जाते हैं। 'घटरामायन' में[1] इनके १३ शिष्यों के नाम बतलाये गए हैं। वे पहले कई धर्मों वा सम्प्रदायों के अनुयायी रह चुके थे और उन्हें उपदेश देकर इन्होंने अपना शिष्य बनाया था। ये वही हिरदे अहीर, पलकराम आदि हैं जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनके सिवाय इनके शिष्यों में एक रामकिसुन गड़ेरिया का भी नाम आता है। परन्तु इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य सूरस्वामी कहे जाते है, जिन्हें जनश्रुति के अनुसार इन्होंने आँख की ज्योति भी प्रदान की थी। कहते हैं कि इनका देहांत हो जानेपर इनके स्थान पर गिरिधारी दास नामक एक शिष्य कुछ दिनों तक सत्संग कराते रहे। किंतु उनके पीछे कदाचित् यह परंपरा नियमानुसार नहीं चल सकी।

वंशावली
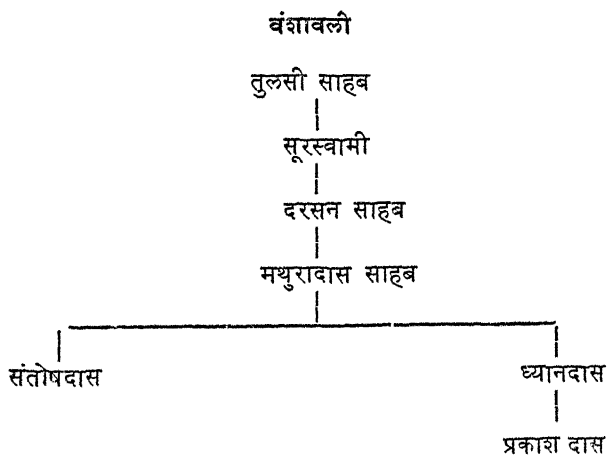
संत तुलसी साहब की समाधि हाथरस में उस स्थान पर आज भी वर्तमान है, जहाँ बैठ कर ये नित्य उपदेश दिया करते थे। वह साहिब-पंथियों का प्रधान तीर्थ-स्थान समझा जाता है। इसे तुलसी साहब का मंदिर (किला दरवाजा) कहते हैं। यहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल २ को तुलसी साहब का भंडारा होता है।

---

१. शब्दावली, भाग-१, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३२२।

(३) नांगी-सम्प्रदाय

डेढ़राज : प्रारंभिक जीवन

नांगी-सम्प्रदाय के मूलप्रवर्त्तक संत डेढ़राज का जन्म नारनौल जिले के धारूस गाँव के अंतर्गत सं० १८२८ में हुआ था। इनके पिता ब्राह्मण जाति के थे और उनका नाम पूरन था। परिवार के अधिक दरिद्र होने के कारण इन्हें केवल १३-१४ वर्ष की अवस्था में ही घर छोड़ कर आगरे आ जाना पड़ा। यहाँ पर उस समय माधवराव सिंधिया का शासन था। उनके दीवान धर्मदास थे, जो आगरे में रहते थे। धर्मराज के ही यहाँ डेढ़राज ने नौकरी कर ली। अनुमान किया जाता है कि यहाँ पर उन्हें अनेक हिन्दू तथा मुसलमान साधु-संतों से भेंट हुई। उन्हीं के सत्संग द्वारा इनके हृदय में आध्यात्मिक भाव जागृत होने लगे। नांगी-सम्प्रदाय के संबंध में लिखनेवाले रोज़ साहब का कहना है, "धर्मदास की पत्नी नानकी के साथ ये देश-भ्रमण के लिए भी निकले थे। ये दोनों पहले पहल बंगाल की ओर गये और उधर से लौट कर सं० १८५० में 'कनाड' के आसपास अपने मत का प्रचार करने लगे।" रोज़ साहब इन दोनों के बीच पति-पत्नी के संबंध का भी अनुमान करते हैं। वे कहते हैं कि सम्प्रदाय का नाम उक्त स्त्री के नाम के आधार पर सर्वप्रथम 'नानकी-पंथ' पड़ा था, जो आगे चल कर 'नंगी-पंथ' बन गया।[1] डेढ़राज के विवाह का किसी वैश्य-कुल की लड़की के साथ होना बतलाया जाता है।[2] अतएव, यदि उक्त धर्मदास दीवान जाति के वैश्य रहे हों, नानकी उनकी पुत्री का ही नाम रहा हो तथा दोनों का विवाह-संबंध हो गया हो, तो यह असंभव नहीं कहा जा सकता, न इस बात में संदेह करने की ही आवश्यकता है कि उक्त दोनों के संयुक्त यत्नों के फलस्वरूप इस पंथ की स्थापना हुई थी।

प्रचार-कार्य तथा मृत्यु

पंथ के प्रारंभ का समय जो भी रहा हो, संत डेढ़राज ने उसका खुला प्रचार अपने जीवन-काल के तैंतीसवें वर्ष में आरंभ किया। इस कार्य के लिए अपनी जन्म-भूमि के प्रदेश को ही अधिक उपयुक्त समझ कर ये उस ओर रहने भी लग गए। ये वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध बड़े उग्र विचार प्रकट करते थे और अपना विवाह भी ब्राह्मणेतर जाति की कन्या के साथ कर लिया था। इसलिए

---

१. एच० ए० रोज़ : ए ग्लासरी ऑफ दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ दि पंजाब ऐंड वेस्ट फ्रांटियर प्राविंस, भा० ३, पृ० १५६।

२. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म ऑफ इंडिया, पृ० १६२।

इनके विरोधियों की संख्या अपने समाज में बढ़ने लगी । तदनुसार कुछ लोगों की प्रार्थना पर नारनौल के शासक झाझर निवासी नजावत अली खाँ ने इन्हें पकड़वा कर कारागार में डाल दिया । बंदी-जीवन में इन्हें बहुत कष्ट झेलने पड़े । अंत में, जब झाझर की दुरवस्था के कारण वहाँ के सारे बंदी छोड़े जाने लगे, तभी इन्हें उससे मुक्ति मिली । कारागार से निकलने पर संत डेढ़राज खेतरी प्रदेश के छुरिणा नामक गाँव में जा बसे । वहाँ रह कर इन्होंने फिर से अपना कार्य आरंभ कर दिया । तब से अपने जीवन के अंतिम समय तक इनका कार्य-क्षेत्र अधिकतर नारनौल जिले से लेकर गुड़गाँव जिले तक सीमित रहा । इनका देहांत उक्त छुरिणा गाँव में ही सं० १६०६ में इनकी ८१ वर्ष की अवस्था में हुआ और वह स्थान इनके अनुयायियों द्वारा पवित्र माना जाता है । इनके पुत्र का नाम चन्द्र था और गंगाराम इनके प्रधान शिष्य थे, जिनके शिष्य आगे चल कर संतराम हुए । संत डेढ़राज के शिष्यों में उनके भाई भगीरथदास का नाम भी प्रसिद्ध है ।

रचनाएँ तथा सिद्धांत

कहा जाता है कि अपने मत के संबंध में डेढ़राज ने तीन ग्रंथों की रचना की थी । किंतु इनमें से किसी का पता नहीं चलता । इनके भजन तथा उपदेश-संबंधी पदों का देशी भाषा में होना बतलाया जाता है । कहा जाता है कि ये इनके अनुयायियों के यहाँ सुरक्षित हैं । उक्त रचनाओं को देखनेवालों तथा इस पंथ के अनुयायियों के साथ सत्संग करनेवालों का कहना है कि ये लोग 'राम' नामधारी परमात्मा को मानते हैं जो निराकार, अद्वितीय, अतुलनीय शाश्वत तथा सर्वव्यापक है । वही एकमात्र सत्य है और उसी का पसारा संसार में सर्वत्र लक्षित होता है । उसके सिवाय किसी भी अन्य देवी वा देवता का अस्तित्व नहीं है ।[1] ये हिन्दू अथवा मुसलमान की साधनाओं का समान भाव से आदर करते हैं । हिन्दुओं के 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे धर्म-ग्रंथों से नैतिक आचरण संबंधी उपदेशों को ग्रहण करते हैं । परन्तु ये उन्हें अंतिम प्रमाण की पुस्तकें नहीं मानते । अपने 'राम' की जगह ये 'हरि' आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं । इनके भजनों में इस प्रकार के नामों का प्रचुरता के साथ व्यवहार किया गया मिलता है । इस पंथ के अंतर्गत पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी एक ही प्रकार साधना का अधिकार है । वास्तव में इन दोनों के बीच ये कोई

---

१. डॉ० हाप्किंस में इनकी गणना विशुद्ध ईश्वरवादियों (Really pure deists) में की है । दे० The Religions of India : E. W. Hopkins (London, 1902) p 514.

मौलिक अंतर नहीं मानते। प्रार्थना के अवसरों पर सभी एक ही पंक्ति में एकत्र हुआ करते हैं, पद गा-गा कर झूमा करते हैं और कभी-कभी भावावेश में आकर नाचने भी लगते हैं।

प्रचार-केन्द्र

इनका प्रधान मठ गुड़गाँव जिले के भिवाना नामक स्थान में है। खेतर प्रांत के चुस्नागाँव में भी एक मंदिर है, जहाँ संत डेढ़राज का पूजन 'नेहकलंक' वा कल्कि अवतार के रूप में होता है। इस पंथ के अनुयायियों की अधिक संख्या झाझर, गुड़गाँव, तथा नारनौल में पायी जाती है।

विशेषता

सत्य के प्रति विशेष आस्था और शुद्धाचरण इस पंथ के अनुयायियों की विशेषताएँ हैं। इनका ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर भी दीख पड़ता है। इस पंथ का नाम 'नांगी-सम्प्रदाय' पड़ने का मुख्य कारण कुछ लोग यही समझते हैं कि इसके अनुयायी स्त्रियों का पर्दा हटाने के बड़े समर्थक हैं। सभी मनुष्य, चाहे स्त्री हों वा पुरुष एक ही ईश्वर के संतान हैं और आपस में भाई-बहन हैं। उनमें किसी प्रकार के वर्णगत वा जातिगत भेद की भी गुंजाइश नहीं। मानव-समाज के अंतर्गत सारी कुरीतियों का मूलोच्छेदन तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर देना परम कर्त्तव्य है। इसी प्रकार ईश्वर की आराधना के संबंध में सब का समानाधिकार, मूर्ति-पूजन की व्यर्थता तथा ग्रंथ-विशेष के प्रति आस्था न रखना इस सम्प्रदाय के अन्य नियम कहे जा सकते हैं। इसके अनुयायियों की कम संख्या तथा इसके ग्रंथों के बहुत कम प्रचार के कारण इसके विषय में अभी तक वैसी जानकारी नहीं है।

(४) राधास्वामी-सत्संग

सत्संग की विशेषता

राधास्वामी सत्संग वा सम्प्रदाय की अधिकांश बातें गुप्त रखी जाती हैं। उनसे सिवाय सत्संगियों के भरसक अन्य लोग परिचित नहीं हो पाते। तदनुसार इनकी गूढ़ आध्यात्मिक साधनाओं का पता सर्वसाधारण को नहीं लग पाता, न वे इनके मुख्य ग्रंथों को ही देख वा अध्ययन कर पाते हैं। फिर भी इस सम्प्रदाय के प्रचार में उक्त बातों के कारण कोई विशेष बाधा नहीं उपस्थित होती। बहुत-से लोग बहुधा इसके रहस्यमय सिद्धांतों की जिज्ञासा से ही इस ओर आकृष्ट हो जाते हैं। अन्य लोग इनके सुंदर संगठन तथा सत्कार्यों से प्रभावित होकर इसमें प्रवेश पाने के लिए उद्यत होते हैं। इस पंथ का आरंभ सर्वप्रथम एक शुद्ध धार्मिक संस्था के रूप में हुआ था। इसके प्रथम तीन प्रधान गुरुओं

के समय तक इसकी प्रायः वही दशा रही। किंतु आधुनिक शिक्षा-संपन्न अनेक व्यक्तियों के इसके भीतर अधिकाधिक प्रवेश पाते रहने के कारण इसके मूल स्वरूप में क्रमशः परिवर्तन होने लगा। मतभेद की मात्रा में भी कुछ-न-कुछ वृद्धि होती गई और इसकी आगरा वाली दयालबाग शाखा ने व्यवसाय के क्षेत्र में भी पदार्पण कर दिया। पूर्व परंपरानुसार इसके सदस्य आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी 'कमाई' वा अभ्यास करते हुए व्यक्तिगत रूप से ही अपनी जीविका में प्रवृत्त हुआ करते थे। किंतु आगे चल कर उक्त शाखा ने उनके लिए सामूहिक उद्योग-धंधे में भी सहयोग प्रदान करने का अवसर उपस्थित कर दिया और वह स्वयं भी एक व्यवसाय-केन्द्र के रूप में परिवर्तित हो गई। तब से इसके दोनों कार्य पूर्ण सहयोग के साथ उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। संभव है उसे आगे और भी अधिक सफलता मिले।

(१) लाला शिवदयाल सिंह 'स्वामीजी महाराज'

प्रारंभिक जीवन

राधास्वामी-सत्संग के मूल प्रवर्त्तक लाल शिवदयाल सिंह खत्री सेठ थे। वे शहर आगरा, मुहल्ला पन्नीगली में संवत् १८७५ की भादो बदी ८ को साढ़े बारह बजे रात के समय लाला दिलवाली सिंह के घर उत्पन्न हुए थे। इनके अनुयायी इन्हें 'परम पुरुष धनी कुल मालिक राधास्वामी दयाल' का स्वरूप अथवा अवतार मानते हैं। इसको 'स्वामीजी महाराज' के नाम से अभिहित करते हैं। उनमें यह भी प्रसिद्ध है कि इनके भविष्य में प्रकट होने की सूचना हाथरस वाले संत तुलसीसाहब ने इनकी माता को पहले से ही दे रखी थी। इनके पिता को उनके सत्संग का भी अवसर प्राप्त था। इनके पिता दिलवाली सिंह पहले नानक-पंथ के अनुयायी थे और अपने पिता की भाँति 'जपुजी', 'सोदर', 'सुख-मनी' आदि का पाठ नियमपूर्वक किया करते थे। परन्तु संत तुलसी साहब के आगरे में बहुधा आते-जाते रहने के कारण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति का झुकाव क्रमशः 'साहिब-पंथ' की ओर भी हो चला था। 'स्वामी महाराज' की माता, बुआ तथा नानी तक उक्त साहिब जी के सत्संगों से प्रभावित होने लगी थीं। तदनुसार बालक शिवदयाल के आध्यात्मिक विकास के लिए उपर्युक्त वातावरण सर्वप्रथम संत-मत द्वारा अनुप्राणित होकर ही उपलब्ध हुआ और आगे उन्हें कहीं अन्यत्र भटकना न पड़ा।[1] इनकी शिक्षा का आरंभ नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा

---

१. कहते हैं कि इन्होंने तुलसी साहेब के प्रमुख शिष्य बाबा गिरधारी दास से मर्यादानुसार दीक्षा भी ली थी।

से हुआ था और इन्हें गुरुमुखी भी पढ़ायी गई थी। परन्तु कुछ बड़े होने पर इन्होंने फ़ारसी में बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और अरबी तथा संस्कृत के भी जानकार हो गए।

गार्हस्थ्य-जीवन

कहते हैं कि इनका विवाह फ़रीदाबाद, जिला देहली में लाला इज्ज़त राम के यहाँ हुआ था। इनकी पत्नी को इनके अनुयायी 'राधाजी' कहा करते हैं। ये बड़े उदार हृदय की महिला थीं और इनकी भी प्रवृत्ति आध्यात्मिक बातों की ओर बराबर रहा करती थीं। इनसे स्वामीजी महाराज को कोई संतान नहीं हुई और ये अपने पति के साथ गृहस्थी का जीवन व्यतीत कर सं० १९५१ की कार्त्तिक सुदी ४ को परलोक सिधार गई। संत शिवदयाल सिंह के दो छोटे भाई भी थे जिनमें से एक का नाम ब्रिंदावन दास था और सबसे छोटे प्रतापसिंह सेठ कहे जाते थे। आपके घर में पहले महाजनी की जीविका चलती थी, किंतु आगे चल कर कुछ दिनों तक इनके परिवार वालों ने नौकरी भी कर ली। इन्होंने स्वयं कुछ समय तक फ़ारसी पढ़ाने का काम किया और इनके भाई ब्रिंदाबन-दास बहुत दिनों तक डाक-विभाग में नौकरी करते रहे। प्रसिद्ध है कि अपने भाई की नौकरी लग जाने पर एक दिन इन्होंने अपने सब से छोटे भाई प्रतापसिंह से कहा, "ऐ अज़ीज़, चूँकि कादिर हक़ीक़ी ने अब रिज़क की सूरत दूसरी निकाल दी है, तो अब लेन-देन करना और सूद के रुपये से खर्च अमालदारी का चलाना नामुनासिब मालूम होता है। लिहाज़ा तुम सब कर्ज़दारों के कागज़ात, इस्टाम्प वग़ैरह को निकाल लो और उन सब लोगों को बुला कर यह बयान कर दो कि स्वामीजी महाराज ने फ़रमाया है कि अगर तुमको हमारा रुपया देना मंजूर है और अपना ईमान सलामत रखना चाहते हो, तो हमारा रुपया एक हफ्ते के अर्से में अदा कर दो, वर्ना तुम्हारे दस्तावेज सब चाक करके फेंक दिये जायेंगे।"[१] तदनुसार प्रतापसिंह ने सभी कर्जदारों को इस बात की सूचना दे दी और प्रति दिन ऐसे चार-पाँच व्यक्तियों से बातचीत कर अपने परिवार के संपूर्ण लेन-देन का अंत कर दिया। परिवार के भरण-पोषण का प्रबंध तब से केवल ब्रिंदावनदास के वेतन के आधार पर चलने लगा। संत शिवदयाल सिंह का देहांत सं० १९३५ की आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा शनिवार को लगभग पौने दो बजे अपराह्न काल में हुआ। इनकी समाधि स्वामीबाग के निकट बनायी गई।

---

१. लाला प्रतापसिंह सेठ : जीवन चरित्र हुजूर स्वामीजी महाराज, बे० प्रे०, प्रयाग १९०९ ई०, पृ० १७।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति

लाला शिवदयाल सिंह अपनी छह-सात वर्षों की अवस्था से ही आध्यात्मिक चिंतन तथा सत्संग में प्रवृत्त होने लगे थे। लगभग पन्द्रह वर्षों की अवस्था तक आप अपने मकान की किसी कोठरी में बैठ कर अपने अभ्यास का काम चलाते रहे। इस बीच में बहुधा दो-दो, तीन-तीन दिनों तक बाहर नहीं निकलते थे। इन्हें इस काल में मलमूत्र-त्याग करने तक की आवश्यकता का कभी अनुभव नहीं होता रहा। पीछे इन्होंने सं० १९१७ की बसंत पंचमी के दिन से कतिपय सत्संगियों की प्रार्थना के अनुसार प्रकट रूप से संत-मत के उपदेश देने आरंभ किये और तब से यह कार्य निरंतर साढ़े सत्रह वर्षों तक इनके मकान पर चलता रहा। इस बीच में लगभग ८-१० सहस्र हिन्दू, मुस्लिम, जैन, ईसाई, पुरुष तथा स्त्रियों ने इनके सिद्धांतों में विश्वास कर इनका अनुयायी बन जाना स्वीकार किया। इनमें से लगभग १००० साधु होंगे, शेष सभी गृहस्थ थे। इनकी आध्यात्मिक पहुँच की ख्याति क्रमशः दूर-दूर तक फैल चली और अनेक लोगों ने इनके स्थान से सैकड़ों मील की दूरी से आकर इनके सत्संग से लाभ उठाया। संत तुलसी साहब का उक्त समय तक देहांत हो चुका था। अतएव इनकी शरण में बहुत-से ऐसे भले भी लोग आ गए जो पहले उनके 'साहिब पंथ' से संबद्ध थे और जिन्हें संत-मत के गूढ़ विषयों की गुत्थियाँ समझने में इनके निकट अधिक सहायता मिल सकती थी। अपने मकान पर सत्संगियों तथा मंगतों की बहुत भीड़ देख कर एक बार इनके जी में आया कि आगरा नगर के कहीं बाहर क्यों न ठहरा जाय। तदनुसार सुखपाल पर चढ़ कर इन्होने भिन्न-भिन्न स्थलों का निरीक्षण किया। अंत में नगर से लगभग तीन मील की दूरी पर एक स्थान पसंद किया गया, जहाँ पर पीछे एक बाग भी लगाया गया।

अनुयायी

संत शिवदयाल सिंह वा 'स्वामीजी महाराज' के अनेक शिष्यों में से एक उनके सबसे छोटे भाई प्रतापसिंह सेठ भी थे जिहें वे बहुधा 'प्रतापा' कहा करते थे। वे आगे चल कर 'चाचाजी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए और उन्होंने स्वामीजी महाराज का एक जीवन-चरित्र भी लिखा। वे १०-१२ वर्ष की अवस्था से बराबर इनकी सेवा-टहल में रहते आये थे और अपनी स्त्री तथा पुत्रों को भी उन्होंने इसी कार्य में लगा दिया था। उन्हें स्वामीजी महाराज द्वारा दिये गए किसी ऐसे प्रवचन से सर्वप्रथम विरक्ति जगी थी, जो इन्होंने प्रसिद्ध 'ग्रंथसाहब' के कुछ शब्दों की व्याख्या के रूप में दिया था। इन्हीं प्रतापसिंह से सूचना पाकर सर्वप्रथम राय सालिगराम बहादुर उर्फ़ 'हुजूर साहब' भी स्वामीजी महाराज के निकट जिज्ञासु बन कर आये थे। उनकी सेवा-टहल में वर्षों का समय लगाया था और इनके सर्वप्रथम गुरु-

मुख शिष्य के रूप में उन्होंने उनके उत्तराधिकारी का पद उपलब्ध किया था।[1] वे बहुत दिनों तक डाक-विभाग की नौकरी में रहे थे। अंत में 'डाइरेक्टर जनरल पोस्ट आफिस' भी हो गए थे, किंतु इन्होंने अपना सर्वस्व उन्हें ही न्योछावर कर रखा था। उनके सिवाय इन्होंने किसी अन्य को कभी कुछ नहीं समझा था। इस प्रकार स्वामीजी महाराज की शिष्याओं में से एक बुक्की जी साहिबा थीं जो अपनी बड़ी बहन शिब्बोजी साहिबा के साथ उनकी सेवा में रहा करती थीं। इन्हें उनके चरणों के अँगूठे तक से इतना प्रेम हो गया था कि जब कभी वे अभ्यास में लीन रहते वा प्रवचन देने बैठते, उस समय ये उसे अपने मुँह में डाल घंटों चरणामृत पान करती रह जाती थीं।

रचनाएं

स्वामीजी महाराज ने 'सार-वचन' (नज़्म) तथा 'सार-वचन' (नसर) नामक दो ग्रंथों की रचना की। 'सार-वचन' (नज़्म) एक ६५३ पृष्ठों का वृहद् ग्रंथ है जिसमें स्वामीजी महाराज के बयालीस वचन संगृहीत हैं और प्रत्येक वचन में भिन्न-भिन्न शब्द दिये गए हैं। पुस्तक के आरंभ में कुछ मंगलाचरण तथा स्तुति-संबंधी पद्य हैं और 'वचन पहला' के आदि में एक छोटा-सा गद्यमय संदेश जिसमें है 'सुरत-शब्दयोग' को सर्वश्रेष्ठ ठहराया गया है। कहा गया है कि बिना उसे अपनाये मन की वास्तविक शुद्धि तथा निश्चलता संभव नहीं है। कुल ग्रंथ में 'शब्दों' की संख्या ४६४ है, किंतु इनमें से कई बहुत बड़े-बड़े हैं जिनकी पंक्तियों की संख्या २०० से भी अधिक हो गई है। 'शब्दों' के विषय प्रायः वे ही हैं जो अन्य संतों की रचनाओं में पाये जाते हैं, किन्तु उनके वर्णन की शैली और क्रम आदि कुछ भिन्न प्रकार के हैं। इनके छंदों में भी कहीं-कहीं नवीनता तथा विचित्रता मिलती है। स्वामीजी का दूसरा ग्रंथ 'सार-वचन' (नसर) उक्त रचना से छोटा है। उसमें सारी बातें अधिकतर सुझाव वा उपदेश के रूप में कही गई हैं। ये दोनों ग्रंथ 'राधास्वामी-सत्संग' के मूल मत को समझने के लिए बहुत आवश्यक हैं और ये उसकी मुख्य तथा प्रामाणिक पुस्तक माने जाते हैं। ये पुस्तकें सत्संग की बहुत-सी अन्य पुस्तकों की भाँति 'राधास्वामी ट्रस्ट' की आज्ञा लेकर वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग में छापी गई थीं। इनके लिए सर्वाधिकार सुरक्षित था तथा इन्हें प्रकाशित रूप में भी सर्वसाधारण के हाथ बेचने तथा वितरण करने का नियम नहीं था।

समाधि

स्वामीजी महाराज की समाधि 'स्वामी बाग' में वर्तमान है, जहाँ प्रति वर्ष

---

१. लाला प्रतापसिंह सेठ : जीवन-चरित्र हुजूर स्वामीजी महाराज, वे० प्रे०, प्रयाग, १९०९ ई०, पृ० ३७-३९।

उनके निधन के दिन एक भंडारा मनाया जाता है। इस अवसर पर सत्संगी दूर-दूर से अच्छी-से-अच्छी संख्या में आने के यत्न करते हैं और सारा उत्सव बड़े समारोह के साथ संपन्न किया जाता है। स्वामीजी महाराज की मुख्य समाधि का निर्माण सं० १६६१ में आरंभ हुआ था और वह अभी तक बनती ही जा रही है। उसमें लाखों का व्यय हो जाना संभव है। समाधि शुद्ध संगमरमर तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों की सामग्री द्वारा बन कर पूर्ण की जायगी। अनुमान है कि उसका आकार-प्रकार भी अद्वितीय होगा तथा उसमें प्रत्येक देश और जाति की वास्तु-कला की शैलियों के नमूने पाये जायँगे। स्वामीजी की पत्नी 'राधाजी' की समाधि भी आगरा नगर के बाहर बनी हुई है। वह स्थान भी सत्संगियों के लिए परम पवित्र समझा जाता है तथा उक्त अवसर पर एकत्र होने वाले यात्री उसके भी दर्शन बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ किया करते हैं।

(२) राय सालिगराम साहब रायबहादुर हुजूर महाराज साहेब

प्रारंभिक जीवन

राय सालिगराम उर्फ़ 'हुजूर महाराज साहेब' का जन्म आगरा शहर के पीपल-मंडी मुहल्ले में सं० १८८५ की फागुन सुदी ८ को शुक्रवार के दिन साढ़े चार बजे प्रातःकाल के समय एक प्रतिष्ठित माथुर कायस्थ-कुल में हुआ था। प्रसिद्ध है कि ये अपनी माता के गर्भ में १८ मास रह कर उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम रायबहादुर सिंह था जो वकालत करते थे तथा शिव-भक्त थे। इन्होंने अपनी बाल्यावस्था में फ़ारसी की शिक्षा पायी। ये अँगरेजी में उस समय के सीनियर कक्षा तक पढ़े जो कदाचित आजकल की बी० ए० श्रेणी के बराबर समझी जाती थी। शिक्षा प्राप्त कर लेने के अनंतर अपनी १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने १४ मार्च सन् १८४७ को डाक-विभाग में नौकरी आरंभ की और पोस्टमास्टर जनरल के दफ्तर में द्वितीय क्लर्क हो गए। तब से ये अपनी योग्यता के कारण बराबर उन्नति करते चले गए। अंत में सन् १८८१ में उक्त विभाग के पोस्टमास्टर जनरल के पद तक पहुँच गए। डाक-विभाग में इनके कार्य करते समय भिन्न-भिन्न प्रकार के नवीन प्रबंध होते गए और इनकी कार्य-पटुता के कारण इन्हें समय-समय पर पारितोषिक भी मिले। तदनुसार सन् १८७१ ई० में इन्हें अँगरेजी सरकार की ओर से 'रायबहादुर' की पदवी मिली और कई बार कुछ-न-कुछ द्रव्य भी मिलता गया। अपनी इस नौकरी के समय में ही इन्होंने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन किया था और इस विद्या पर फ़ारसी भाषा में एक ग्रंथ की रचना भी की थी। ज्योतिषशास्त्र की मुख्य-मुख्य बातों पर इन्होंने इतना अच्छा अधिकार कर लिया था कि जो कोई इनसे उसे सीखने आता था, उसे ये भलीभाँति समझा सकते थे।

परिवार

राय सालिगराम के एक बड़े भाई थे जिनका नाम राय नंदकिशोर था। इनकी एक बहन भी थी जो इनसे छोटी थी। राय नंदकिशोर ने भी सरकारी नौकरी में अच्छी सफलता प्राप्त की थी। ये फैज़ाबाद में एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर के पद तक पहुँच गए थे। इनके दो विवाह हुए थे। पहला विवाह फर्रुखाबाद में हुआ था जिससे एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। किंतु माता तथा पुत्री दोनों का देहांत हो गया। इनका दूसरा विवाह सं० १९०६ में आगरा शहर में ही हुआ था, जिससे दो पुत्रियाँ तथा तीन पुत्र जन्मे थे। इन्हीं तीनों पुत्रों में से मझले राय अयोध्या प्रसाद उर्फ़ लालाजी थे जिन्होंने 'हुज़ूर महाराज साहेब' का जीवनचरित्र लिखा है और शेष दो पुत्रों ने बहुत छोटी अवस्था में ही शरीर त्याग दिया था।

गुरु-सेवा

सं० १९१५ में जिस समय 'हुजूर महाराज साहेब' हेड असिस्टेंट के पद पर थे और तत्कालीन पोस्टमास्टर जनरल की बुलाहट पर मेरठ गये हुए थे, इन्हें वहाँ पर कुछ काल तक ठहर जाना पड़ा। इसी अवसर पर इनकी भेंट लाला प्रताप सिंह सेठ उर्फ़ 'चाचाजी' से हो गई। 'चाचाजी' किसी दिन 'पंज ग्रंथी' का पाठ कर रहे थे जिसे श्रवण कर 'हुजूर साहेब' आकृष्ट हो गए और उनसे उसके गूढ़ सिद्धांतों का अभिप्राय पूछ बैठे। 'चाचाजी' ने इस पर इनसे कह दिया कि इन बातों के रहस्य से मेरे बड़े भाई लाला शिवदयाल सिंह पूर्णतः परिचित हैं और उनसे आप भेंट कर सकते हैं। हुजूर साहेब' ने इस बात को मान लिया और भेंट के लिए समय निश्चित हो जाने पर उनसे इन्होंने जाकर सत्संग किया। वहाँ पर 'स्वामीजी महाराज' के प्रभावशाली व्यक्तित्व की इन पर ऐसी धाक जम गई कि ये उन पर पूर्णतः मुग्ध हो गए। उनके निकट प्रति सप्ताह, फिर सप्ताह में दो-तीन वार तथा अंत में प्रतिदिन जाने लगे। फिर उनकी सेवा-टहल तक करने लगे इनका सेवा-कार्य कुछ दिनों के अनंतर यहाँ तक पहुँच गया कि ये तृतीय सिक्ख-गुरु अमरदास की भाँति अपने गुरु के आराम के लिए प्रत्येक छोटा-से-छोटा काम भी करने लगे इस प्रकार इन्होंने अपने को उनके चरणों में अर्पित कर दिया। ये उनके चरण दबाते थे, पंखा करते थे, उनके लिए चक्की पीसते थे, हुक्का भरते थे, कुएँ से पानी लाते थे। उन्हें स्नान कराते थे, भोजन बनाते थे, मकान का झाड़ू-बुहारू तथा पुताई करते थे, मिट्टी खोदकर लाते थे, जंगलों से दतुवन तोड़ लाते थे, पाखाना साफ करते थे, मोरी धोते थे, चौका-बर्तन करते थे, सामान खरीद लाते थे, उनकी

पालकी उठाते थे, सवारी के साथ दौड़ा करते थे तथा पीकदान पेश किया करते थे।[1] इन्होंने अपने धन से भी उनकी ऐसी सेवा की कि जब कभी अपनी तनखाह मिली, उसे 'स्वामीजी महाराज' के चरणों में ही अर्पित कर दिया। उसमें से कुछ रुपये आवश्यकतानुसार निकाल कर स्वामीजी महाराज इनके परिवार के लिए भेज देते थे और शेष रकम उनके यहाँ खर्च होती थी। इन्होंने उनके प्रति अपने को यहाँ तक समर्पित कर दिया था कि किसी कार्य को ये अपने मन तथा बुद्धि के विरुद्ध होने पर भी प्रसन्न होकर कर डालते थे। इस विषय की शिकायत कभी मन में नहीं लाया करते थे, अपितु अधिक उत्साह के साथ उस ओर प्रवृत्त होते थे। कहा जाता है कि एक बार जब 'स्वामीजी महाराज' एकांत निवास करते थे, तब इन्हें उनके बिना देखे कल नहीं पड़ी। ये उनकी बिना आज्ञा पड़ोस के मकान से होकर पहुँच गये, जिस कारण उन्होंने इन्हें एक खड़ाऊँ मारी और कहा कि चले जाओ। इन्हें उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी और फिर इन्होंने ऐसा नहीं किया।[2]

एक घटना

'स्वामीजी महाराज' के लिए जल भर कर लाते समय इन्हें प्रति दिन दोपहर के समय नंगे पैर जाना पड़ता था। शहर के कुओं का पानी अधिकतर खारा होने पर इन्हें इसके लिए उसके बाहर बड़ी दूर तक जाने का परिश्रम उठाना पड़ता था। इस पर भी, यदि कोई कभी इनसे मार्ग में पानी पीने को माँग देता, तो उसे ये प्रसन्नता पूर्वक दे देते थे। उसके पिला देने पर बचे हुए जल को उच्छिष्ट समझ कर फिर दुबारा जल लाने के लिए बीच मार्ग से ही लौट पड़ते थे। इस प्रकार इनका परिश्रम कभी-कभी दुगुना तथा तिगुना तक हो जाता था। एक दिन ऐसा हुआ कि जब ये घड़े को भर कर ला रहे थे कि वह बीच रास्ते में ही टूट गया और इन्हें दूसरे घड़े के लिए कुम्हार के यहाँ जाना पड़ा। उस समय इनके पास पैसे नहीं थे और कुम्हार के उधार न देने पर इन्हें अपनी ओढ़ी हुई चादर एक दिन के लिए गिरवी रख देनी पड़ी। दूसरे दिन फिर उसके यहाँ जाकर उसे इन्होंने घड़े का दाम दिया और अपनी चादर वापस ला सके। 'हुज़ूर महाराज साहेब' 'स्वामीजी महाराज' का चरणामृत, मुख-अमृत (जूठन) तथा 'पीकदान का अमृत' भी नित्यशः ले लिया करते थे। स्वामीजी महाराज के जन्मतः खत्री होने तथा हुज़ूर महाराज साहेब के उसी

---

१. राय अजुध्याप्रसाद : जीवनचरित्र हुज़ूर महाराज साहेब, बे० प्रेस, प्रयाग, पृ० २६-३०।

२. वही, पृ० ६४।

प्रकार कायस्थ होने के कारण इस बात की निंदा हुआ करती थी। किंतु हुज़ूर महा-राज साहेब ने इस बात की कभी कोई परवाह नहीं की।[1] सं० १६३३ में इन्होंने 'स्वामीजी महाराज' की आज्ञा से अपनी व्यक्तिगत आय द्वारा एक जमीन खरीद कर उसमें बाग लगवा दिये और मकान भी बनवा कर उसे उनके चरणों में भेंट कर दिया। वह स्थान तब से राधास्वामी बाग के नाम से प्रसिद्ध हो चला।

सत्संग की पद्धति

स्वामीजी महाराज का देहांत हो जाने पर लगभग तीन वर्षों तक 'हुज़ूर महाराज साहेब' ने पन्नी गली मे दैनिक तथा राधास्वामी बाग में साप्ताहिक सत्संग चलाया। राधास्वामी बाग तथा राधाबाग के कुल व्यय का भार पूर्ववत् स्वयं वहन किया और पेंशन हो जाने पर भी उनमें कोई त्रुटि नहीं आने दी।[2] सं० १६४४ में अपनी नौकरी से पेंशन लेकर ये अपने घर पर ही सत्संग करने लगे और वहीं पर इनके निकट दूर-दूर तक के जिज्ञासु पहुँचने लगे। 'स्वामीजी महाराज' के समय उनकी आरती पहले पुराने ढंग से हुआ करती थी और खड़े होकर दोनों हाथों में थाली लेकर उसे घुमाया जाता था। परन्तु 'हुज़ूर महाराज साहेब' ने इस प्रणाली में परिवर्तन कर दिया और जोत जगा कर केवल दो-चार बार ही थाली घुमाने और फिर बैठ कर अपने इष्ट के प्रति दृष्टि मात्र जमाये रखने का नवीन ढंग निकाला। इन्होंने अपने समय में सत्संगियों को आरती का वास्तविक रहस्य समझा दिया और केवल दृष्टि जोड़ कर सम्मुख बैठने की ही पद्धति चला दी। ये पीछे स्वयं सत्संगियों के समूह पर अपनी दृष्टि डाल कर उनसे गूँगी आरती कराने लगे। ये सभी सत्संगियों पर प्रेम तथा आत्मीयता का भाव रखा करते थे, जिस कारण वे इनके प्रति अधिक-से-अधिक आकृष्ट हो जाते रहे। ये रात-दिन मिला कर केवल तीन घंटे तक आराम करते और बाहर से सत्संगियों की बड़ी भीड़ आ जाने पर इसमें भी कमी कर देते थे। चार बार के निश्चित सत्संगों के अतिरिक्त ये बहुधा किसी-न-किसी को व्यक्तिगत रूप में भी समझाया करते, कोई विशेष उपदेश देते तथा पत्र-व्यवहारादि किया करते। पहले तो ये वहाँ सभी सत्संगियों का अपने व्यय से प्रबंध भी कर दिया करते थे, किंतु उनकी संख्या में अधिक वृद्धि हो जाने पर उनके स्वागत वा सत्कार का सारा व्यय नज़र तथा भेंट में प्राप्त रुपयों के द्वारा चलने लगा। उसी के आधार पर उनके ठहरने के लिए कुछ मकान भी बनवा दिये गए।

---

१. राय अजुध्याप्रसाद : जीवनचरित्र हुज़ूर महाराज साहेब, वे० प्रे०, प्रयाग, पृ० ३२-३३।

२. वही, पृ० ७५।

रचनाएँ

उक्त प्रकार अपना समय अधिक-से-अधिक देने पर भी ये कभी-कभी पुस्तक-रचना कर लेते थे। तदनुसार इन्होंने कई ग्रंथ लिख डाले। इनकी रचनाओं में गद्य-ग्रंथों की ही प्रधानता है। उनमें 'सार उपदेश', 'निज उपदेश', 'प्रेम उपदेश', 'गुरु उपदेश', 'प्रश्नोत्तर', 'युगलप्रकाश' तथा 'प्रेमपत्र' (६ भाग) मुख्य हैं। इनकी पद्य-रचना केवल 'प्रेमवानी' है जो चार भागों में प्रकाशित हुई है। इनकी 'प्रेमपत्रावली' रचना में से कुछ वचन अलग कर के भी मुद्रित किये गए हैं। उनके संग्रहों के नाम 'राधास्वामी-मत-संदेश,' 'राधास्वामी-मत-उपदेश' तथा 'सहज-उपदेश' हैं। इसी प्रकार 'स्वामीजी महाराज' के 'सारबचन' (नज़्म) तथा 'हुज़ूर महाराज साहेब' की प्रेमबानियों में से भी कुछ चुन कर 'भेदबानी' (४ भाग), 'प्रेमप्रकाश', 'नाममाला' तथा 'बिनती तथा प्रार्थना' नाम के संग्रह निकाले गए हैं, जिससे साधारण सत्संगियों को भी सुभीता रहा करती है। इसके सिवाय पिछले संतों-महात्माओं के भी कतिपय शब्दों को संगृहीत कर 'संत-संग्रह' नाम की एक रचना दो भागों में प्रकाशित की गई है। 'हुज़ूर महाराज साहेब' ने एक गद्य-ग्रंथ अँगरेजी भाषा में भी लिखा है जिसका नाम 'राधास्वामी-मत-प्रकाश' है। वह अँगरेजी मात्र के जानकारों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो राधास्वामी सत्संग की मुख्य-मुख्य बातों के स्पष्टीकरण में बहुत बड़ी सहायता पहुँचा सकता है।

व्यक्तित्व तथा अंत समय

'हुज़ूर महाराज साहेब' ने लगभग २० वर्षों तक सत्संग का कार्य सँभाला। इस काल में सत्संगियों की संख्या में भी बड़ी वृद्धि हो चली। इनके प्रेम-भाव तथा उदारहृदयता के कारण इनके व्यक्तित्व में एक अपूर्व आकर्षण आ गया था और लोग इनकी ओर स्वभावतः खिंच जाया करते थे। प्रसिद्ध है कि आगरा के बहुत लोगों ने इनके मकान की ओर से आना-जाना केवल इसलिए छोड़ रखा था कि कहीं उनके द्वारा प्रभावित न हो जायँ। अपने मकान पर ये कुछ दिनों तक एक रोगी की दशा में रहते रहे। अंत में सं० १९५५ : सन् १८९८ ई० के ६ दिसंबर को सायंकाल ६ बज कर ४५ मिनट पर इन्होंने अपने शरीर का त्याग किया। उस समय इनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की हो चुकी थी। जिस 'प्रेमविलास' नामक मकान में इनका शरीरांत हुआ, उसी में इनकी समाधि भी बना दी गई और आगरे में उनके नाम पर 'हुज़ूरीबाग' नाम से एक बाग भी लगाया गया। हुज़ूर महाराज साहेब के समाधि-स्थान पर प्रति वर्ष २७ वीं दिसंबर को एक भंडारा किया जाता है, जिसमें दूर-दूर के भी सत्संगी आकर सम्मिलित होते हैं।

(३) ब्रह्मशंकर मिश्र महाराज साहेब आदि संत

ब्रह्मशंकर मिश्र : संक्षिप्त परिचय

संत ब्रह्मशंकर मिश्र अथवा 'महाराज साहेब' का जन्म काशी के मुहल्ला पियरी-निवासी एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में चैत्र बदी २ सं० १६१७ : सन् १८६१ ई० की २८वीं मार्च को हुआ था। आपके पिता का नाम रामयश मिश्र था जो संस्कृत के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये अपने गुरु 'हुजूर महाराज साहेब' की ही भांति सदा गृहस्थाश्रम में रहते रहे। इन्होंने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से एम० ए० कक्षा की डिग्री प्राप्त की थी। इनके अन्य तीन भाई भी एम० ए० थे। ये कुछ दिनो तक बरेली कालेज में प्रोफेसर रहे और कई वर्षों तक इलाहाबाद के एकाउंटेंट जेनरल आफिस में नौकरी करते हुए भी अपनी आध्यात्मिक साधना तथा सत्संग में निरत रहे थे। ये सर्वप्रथम स्वामीजी महाराज के ग्रंथ 'सार-वचन' (नसर) से बहुत प्रभावित हुए थे। इन्होंने 'हुजूर महाराज साहेब' से सं० १६३२ में दीक्षा ग्रहण की और उनके चोला छोड़ने पर सं० १६५५ से लेकर सं० १६६४ तक उनके उत्तराधिकारी बन कर इलाहाबाद केन्द्र में सत्संग कराते रहे। कुछ काल के लिए कराची तथा हैदराबाद (सिंध) में रह कर अपने निधन-काल के प्रायः डेढ़ वर्ष पूर्व ये काशी में चले आये थे। यहीं पर आश्विन शुक्ल ५ सं० १६६४ को परम धाम सिधारे थे। आपका समाधि-मंदिर काशी में कबीरचौरा मुहल्ले में वर्तमान है जो 'स्वामी बाग' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ प्रतिवर्ष आश्विन शुक्ल पंचमी तथा नवमी को इनका भंडारा हुआ करता है। इन्होंने अँगरेजी भाषा में 'डिस्कोर्सेज ऑन राधास्वामी फेथ' नामक एक पुस्तक की रचना आरंभ की थी जो चार प्रकरणों तक आकर अधूरी रह गई। इसके अंतर्गत सच्चे धर्म, आध्यात्मिक उन्नति, सृष्टि-विकास तथा कर्मवाद के विषय में बड़ी गंभीर और विस्तृत विवेचना की गई मिलती है। इसके अंत में परिशिष्ट के रूप में राधास्वामी-सत्संग का संक्षिप्त परिचय तथा उसकी केन्द्रीय प्रबंध-समिति के वैधानिक नियमों का सार भी दिया गया है। इसी प्रकार, सबसे अंत में इनकी कुछ हिंदी पद्य-रचना के भी उदाहरण प्रकाशित हैं, जो चौपाइयों, दोहों तथा सोरठों के रूप में पाये जाते हैं।

बुआजी साहिबा तथा उनके शिष्य

'महाराज साहेब' का देहांत हो जाने के अनंतर उनकी बड़ी बहन श्रीमती माहेश्वरी देवी अथवा 'बुआजी साहिबा' उनकी गद्दी पर बैठीं। परन्तु महाराज साहेब के अन्य दो शिष्यों अर्थात् मुंशी कामताप्रसाद तथा ठाकुर अनुकूल चन्द्र चक्रवर्ती ने भी प्रायः उसी समय अपनी अलग-अलग गद्दियाँ क्रमशः आगरा तथा पबना (पूर्व

बंगाल) में स्थापित कर दीं और प्रयाग की गद्दी से उनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रह गया। बुआजी साहिबा का पीहर तथा ससुराल दोनों काशी में ही थी और आप सदा गृहस्थाश्रम मे रहती रहीं। इन्हे हिंदी तथा संस्कृत की शिक्षा अधिकतर स्वाध्याय के आधार पर ही उपलब्ध हुई थी। अपनी योग्यता के कारण इन्होंने बड़े-बड़े विद्वानों को भी अपना अनुयायी बना लिया था। आपकी आध्यात्मिक साधना भी बड़ी उच्च कोटि तक पहुँच चुकी थी। 'सुरत शब्दयोग' का अभ्यास ये बड़ी सफलता के साथ कराती थीं। आप सं० १६६४ में सद्गुरु के पद पर आसीन हुई। आपका देहांत सं० १६६६ की बैशाखी पूर्णिमा को रात के साढ़े बारह बजे लगभग ५६ वर्ष की अवस्था में हुआ। उसी दिन इनका भंडारा मनाया जाता है। इनके शरीर-त्याग करने पर इनकी प्रयाग की गद्दी पर माधवप्रसाद सिंह उर्फ़ 'बाबूजी साहब' बैठे। परन्तु इनके पुत्र योगेन्द्रशंकर तिवारी उर्फ़ 'भैयाजी साहब' ने अपनी एक गद्दी काशी मे भी चलायी। इनका जन्म सं० १६३६ की कार्त्तिक कृष्ण २, शनिवार के दिन हुआ था। इनके पिता का नाम परमेश्वर दत्त तिवारी था। आपने किसी से भी दीक्षा ग्रहण नहीं की, अपितु कुछ दिनों तक स्वयं साधना मे प्रवृत्त रह कर सं० १८८५ की बसंत पंचमी से एक स्वतः संत के रूप में अपने सत्संग का कार्य आरंभ कर दिया। आपने १२-१३ स्थानों पर रह कर अध्यापन-कार्य किया था, किंतु धनोपार्जन की ओर कभी नहीं झुके। आपने दो पुस्तकें गद्य में तथा दो पद्य में लिखीं है। इनमें मुख्य 'सारभेद' तथा 'शब्दबानी' (२ भाग) है। इनकी गद्दी 'प्रेमाश्रम' नाम से प्रसिद्ध है।

मुंशी कामताप्रसाद तथा सर आनंदस्वरूप

'महाराज साहेब' के शिष्य मुंशी कामताप्रसाद गाज़ीपुर के निवासी थे। उन्हें ही बहुत लोग चतुर्थ संत-गुरु के रूप में मानते हैं, बुआजी साहिबा को नहीं मानते। मुंशी कामताप्रसाद 'सरकार साहिब' कहे जाते थे और उन्होंने अपना सत्संग चलाया था। ये सं० १६६७ से संत सद्गुरु कहलाने लगे और सं० १६७१ में उनका देहांत हो जाने पर उनके स्थान पर सर आनंद स्वरूप उर्फ़ 'साहेबजी' बैठे। इनका जन्म सं० १६३८ में अंबाले के एक खत्री-परिवार में हुआ था। आपकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक बातों की ओर आपके बचपन से ही दीख पडने लगी थी। 'महाराज साहेब' के आगरा जाने पर उनके दर्शन कर इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये पहले कुछ दिनों तक अंबाले में ही रहे और फिर आगरे में इन्होंने कोई स्कूल खोलना चाहा। परन्तु आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ इनका ध्यान बराबर औद्योगिक उन्नति की ओर भी बना रहा। इसीलिए आगरे के निकटवर्त्ती 'दयालबाग' को जिसे इन्होंने स्वामीबाग के

ठीक सामने ही स्थापित किया था, उद्योग-धंधे के एक प्रधान क्षेत्र का रूप दे डाला। उसके विविध कार्यों का एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति आमरण निरीक्षण भी किया। 'दयालबाग' में इस समय अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे नितांत आधुनिक ढंग से चलते हैं। उनके द्वारा देश की एक बहुत बड़ी कमी के पूरी होने की संभावना पायी जाती है। 'साहेबजी' का देहांत सं० १९९४ में मद्रास में रहते समय हुआ। उनके स्थान पर वर्तमान राय साहब गुरुचरनदास मेहता (जन्म-संवत् १९४२) रिटायर्ड सुपरिंटेंडेंट इंजीनियर (पंजाब), उर्फ़ 'मेहताजी' साहब बैठे। साहेबजी की रचनाओं की संख्या कम नही हैं और वे विभिन्न प्रकार की है। इनमें से एक मुख्य रचना 'स्वराज्य' नामक एक नाटक है जो रूपक (Allegory) के रूप में लिखा गया है।

महर्षि शिवव्रत लाल

'हुजूर महाराज साहेब' के एक अन्य शिष्य महर्षि शिवव्रत लाल थे, जिन्होंने उनका देहांत हो जाने पर अपनी गद्दी सं० १९७८ में गोपीगंज में चलायी थी। ये एक बड़े योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति थे और आध्यात्मिक विषयों की व्याख्या कर उन्हें सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने की सदा चेष्टा किया करते थे। ये बहुधा प्रवचन दिया करते थे और उससे भी अधिक भिन्न-भिन्न ग्रंथों की रचना करते जाते थे, जिस कारण इनकी कृतियों की संख्या बहुत बड़ी हो गई 'राधा-स्वामी-सत्संग' के कदाचित् किसी भी व्यक्ति ने आज तक इनके समान ग्रंथ-निर्माण न किया होगा, न प्रचार में ही लगा होगा। इन्होंने कबीर-पंथ के सर्वमान्य ग्रंथ 'बीजक' की टीका लिखी तथा भिन्न-भिन्न संतों की जीवनी के साथ-साथ उनकी अनेक रचनाओं को भी संगृहीत किया। इन्होंने गूढ़ आध्यात्मिक विषयों के स्पष्टीकरण के लिए उपन्यास, उपाख्यान, काल्पनिक संवाद, निबंध, चुटकुलों आदि की रचना भी की थी। अपने विचारों के प्रचार के लिए इन्होंने 'साधु', 'फ़क़ीर', 'संत', 'संतसमागम'-जैसे पत्रों तथा विचार-मालाओं का प्रकाशन आरंभ किया था। 'अवधूत गीता', 'श्रीमद्भागवद्गीता' आदि ग्रंथों के आपने संत-मत के आधार पर अनुवाद भी किये थे। इनका देहांत सं० १९९६ में पूर्ण वृद्ध होने पर हुआ था। इसी प्रकार इनका जन्म-समय सं० १९१६ बतलाया जाता है।

माधवप्रसाद सिंह तथा बाबूजी साहब

बुआजी साहिबा के समय तक 'महाराज साहेब' की शाखा का केन्द्र प्रयाग ही समझा जाता था। माधवप्रसाद सिंह उर्फ़ 'बाबूजी साहेब' ने भी इसी कारण अपना सत्संग पहले वहीं आरंभ किया था। किंतु सं० १९९४ में ये भी

आगरे चले आए। 'बाबूजी साहेब' का जन्म मिती जेठ सुदी १२ सं० १६१८ : १६ जून सन् १८६१ को बुधवार के दिन हुआ था। ये 'स्वामीजी महाराज' की बड़ी बहन के पौत्र होते थे और इनका जन्म-स्थान काशी था। ये 'महाराज साहेब' से केवल तीन महीने छोटे थे, क्वींस कालेज में उनके सहपाठी थे और उनके साथ ही प्रयाग में एकाउंटेंट जेनरल के आफिस में नियुक्त भी हुए थे। आगरा आने पर इन्होंने इसे ही स्थायी केन्द्र बना लिया और 'स्वामीबाग' में स्वामी जी महाराज की समाधि के निकट सत्संग कराने लगे। कहते हैं कि इन्हें सर्वप्रथम स्वयं स्वामीजी महाराज ने सं० १६३० में उपदेश दिया था। आगे चल कर इन्होंने अपने परम मित्र 'महाराज साहेब' को ही अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया था। इनके अनुयायियों ने 'स्वामी बाग' वाले केन्द्र को ही सदा सर्वप्रधान केन्द्र माना और उसकी सारी संपत्ति का इन्हें ही अधिकारी समझा। अतएव उसके निकटस्थ 'दयालबाग' की शाखा वालों से इनकी प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। दोनों शाखाओं का मतभेद यहाँ तक बढ़ गया कि दोनों के बीच मुकदमे-बाजी तक हुई जिसका फैसला प्रिवी कौंसिल तक जाकर सन् १६३५ ई० में हुआ।[1] बाबूजी साहब ८८ वर्षों से अधिक समय तक जीवित रहे और 'सत्संग' की बहुत कुछ उन्नति कर सं० २००६ में परमधाम सिधारे। 'बाबूजी साहब' ने कोई पुस्तक नहीं लिखी, किंतु उनके प्रवचनों के कुछ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

विकेन्द्रीकरण : रायवृंदावन तथा जैमलसिंह

राधास्वामी सत्संग की प्रधान शाखाएँ अधिकतर केवल दो ही समझी जाती हैं जिनमें एक 'स्वामीबाग' तथा दूसरी 'दयालबाग' की है। परन्तु इन दोनों के अतिरिक्त आजकल कुछ अन्य भी ऐसे वर्ग वर्तमान हैं जिनका कुछ-न-कुछ संबंध "सत्संग' से रहा है। ऐसे ही उप-सम्प्रदायों में से गाजीपुर, गोपीगंज तथा काशी के सत्संगों की चर्चा पहले की जा चुकी है। मुख्य 'राधास्वामी सत्संग', आगरा से पृथक् होने की प्रवृत्ति बहुत पहले से ही दीख पड़ने लगी थी। जहाँ तक पता है, 'स्वामीजी महाराज' के समय से ही स्वयं उनके भाई राय वृंदावन ने एक 'वृंदावनी-सम्प्रदाय' कायम कर लिया था। इसमें 'राधास्वामी' नाम के स्थान पर 'सतगुरुराम' नाम स्वीकार किया गया था। राय वृंदावन के अतिरिक्त एक दूसरे जिस व्यक्ति ने नवीन केन्द्र स्थापित किया, वे बाबा जैमल सिंह थे जो

1. See 1935 A.W.R. & 677 (Patel Chhotabhai *vs.* Jivanchandra Basak) P.C.A. No. 70 of 1932 against Allahabad H.C. decision in appeal No. 36 of 1929 out of a suit decreed, dated 30-11-26 passed by the Sub-Judge, Benares.

स्वामीजी महाराज के ही शिष्य थे। बाबा जैमलसिंह फ़ौज के सिपाही रह चुके थे। एक बार अपनी पलटन के आगरा आने पर उन्हें स्वामीजी महाराज द्वारा 'ग्रंथ साहिब' की व्याख्या सुनने का अवसर मिला था। इससे प्रभावित होकर उन्होंने नौकरी से पृथक् होकर साधु-भाव स्वीकार कर लिया था। बाबा जैमल सिंह सिक्ख-धर्म में दीक्षित रह चुके थे। इस कारण उन्होंने न तो 'सत्तनाम' की टेक छोड़ी, न ग्रंथ साहब' से नाता ही तोड़ा। 'राधास्वामी' के स्थान पर 'जोत निरंजन ओंकार रारं सोहं सत्तनाम' का ही सुमिरन सदा करते रह गए। उनकी मृत्यु सं० १९६० में हुई जिसके अनंतर उनकी मुख्य गद्दी 'डेरा व्यास' वाली से पृथक् होकर एक दूसरी तरनतारन में बन गई। व्यासवाली गद्दी तब से सरदार सावन सिंह के अधिकार में आ गई और तरनतारन वाली गद्दी के गुरु सरदार बग्गा सिंह हो गए। सरदार बग्गा सिंह का देहांत हो जाने पर बाबा देवासिंह तरनतारन की गद्दी पर बैठे। परन्तु संबंध प्रायः पूर्ववत् ही चला आया।

बाबू शामलाल

'राधास्वामी' नाम को स्वीकार न करनेवाले सत्संगियों में एक नाम बाबू शामलाल बी० ए० का भी लिया जाता है जो ग्वालियर के रिटायर्ड हेड मास्टर थे। उन्होंने सं० १९८७ के लगभग 'धारासिंह प्रताप' का नाम स्वीकार कर लिया था। ग्वालियर में रह कर उन्होंने भी अपनी एक शाखा चलाने की चेष्टा की थी, किंतु उनके उपदेशों का प्रचार बहुत अधिक न हो सका। आजकल उनके अनुयायियों के संबंध में बहुत पता नहीं चलता।

बाबा गरीबदास तथा अनुकूल बाबू

ऐसे लोगों में जिन्होंने 'राधास्वामी' नाम का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी मूल केन्द्र से पृथक् हो जाना उचित समझा था, बाबा गरीबदास तथा अनुकूल चन्द्र चक्रवर्ती के नाम लिये जाते हैं। बाबा गरीबदासजी संभवतः आँख के अंधे थे और देहली के सराय रुहेला में रहा करते थे। उनकी मृत्यु के अनंतर बाबा रामबिहारी दास उनकी गद्दी पर बैठे, किंतु उनके विषय में अधिक पता नहीं चलता। अनुकूल बाबू जिला पबना (बंगाल) के निवासी थे और उनकी माता भी सत्संग द्वारा प्रभावित थीं। परन्तु उनकी शाखा के संबंध में भी विशेष ज्ञात नहीं होता। उक्त दोनों शाखाओं की जानकारी रखनेवालों का केवल यही कहना है कि सत्संग के मुख्य ध्येय से वे अब अलग जाती हुई जान पड़ती हैं। बाबा गरीबदास के अनुयायियों में अधिकतर झाड़-फूंक की व्यवस्था चल निकली है और अनुकूल बाबू के अनुयायी वैष्णवों की भाँति कीर्त्तन करते हैं। इन दोनों शाखाओं का प्रत्यक्ष संबंध आगरे से कदाचित् नहीं है।

(४) सत्संग-वंशावली
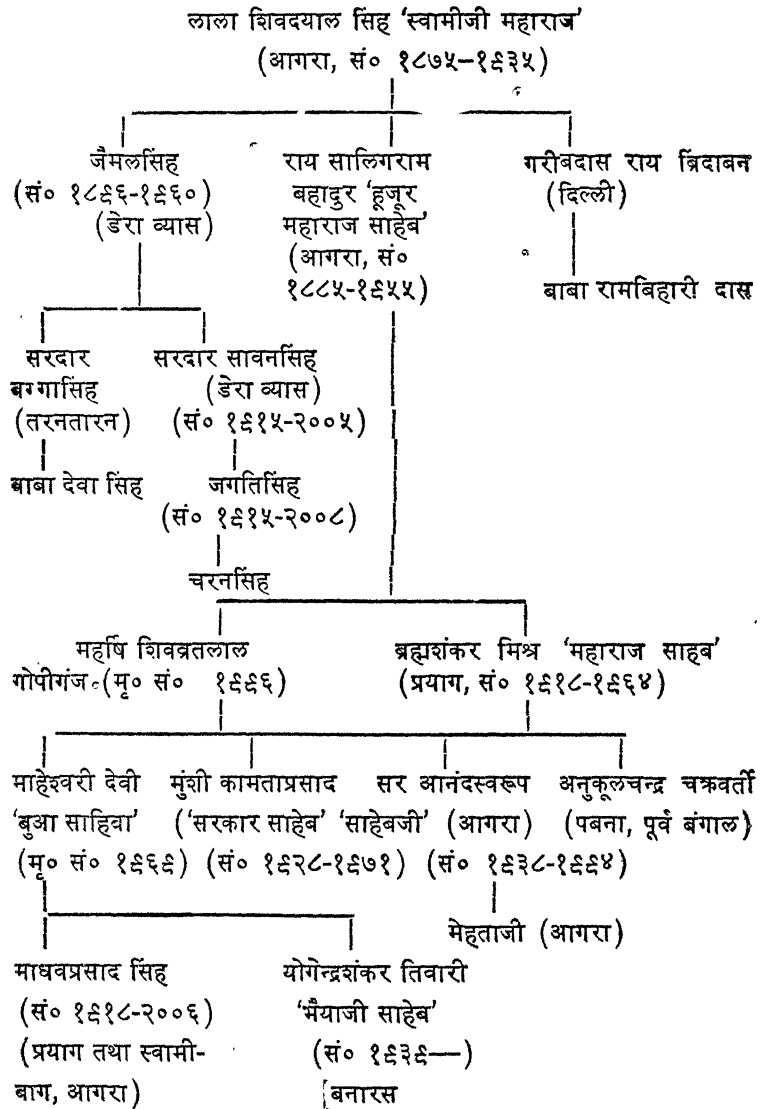
(५) सत्संग का संत-मत

मत का मूल रहस्य

'राधास्वामी' शब्द स्वयं परमात्मा अथवा सबसे उच्चतम पद परात्पर के

लिए प्रयुक्त होता है। उस 'शब्द' के लिए प्रयोग में आता है जो सृष्टि के आदि में सारे विश्व का मूल स्रोत बना था। उस 'संतगुरु' वा 'परमगुरु' के लिए व्यवहृत होता है जो इस भूतल पर उक्त परमात्मा के पूर्ण प्रतीक हैं तथा उस मत का नाम भी समझा जाता है जिसके मूलप्रवर्त्तक स्वामीजी महाराज थे। इस मत का मूल रहस्य इसके सृष्टि-रचना-संबंधी विचारों में निहित है। इसमें पिंड तथा मानव-शरीर को ब्रह्मांड का ठीक अनुकरण समझा जाता है। इसी कारण जितने खंडों वा उप-खंडों की कल्पना पिंड में की जाती है, वे सभी 'ब्रह्मांड' में भी माने जाते हैं। तदनुसार पिंड के तीन भिन्न-भिन्न प्रदेश माने गए हैं और उन्हें नीचे से क्रमशः पिंड देश, ब्रह्मांड देश तथा दयाल देश कहा गया है। इनमें से प्रथम प्रदेश का अधिकांश भौतिक है और चेतन का अंश इसमें गौण रूप में ही वर्तमान है। द्वितीय प्रदेश में चेतन की प्रधानता है और भौतिक अंश वहाँ पर गौण हो जाता है। इसी प्रकार तृतीय प्रदेश शुद्ध चेतन का देश है, जहाँ पर भौतिक अंश कुछ भी नहीं पाया जाता। इन तीन प्रदेशों में भी क्रमशः पाँच, छह, तथा सात उप-खंडों की कल्पना की गई है। उन सबके पृथक्-पृथक् नाम दिये गए हैं। इन उप-खंडों में सबसे उच्चतम वा परात्पर जो पद है, वह वास्तव में अज्ञेय है। किंतु उसका ज्ञान राधास्वामीदयाल के उन प्रतीकों की सहायता से उपलब्ध हो सकता है, जो समय-समय पर नर-रूप में आया करते हैं। वह सबके लिए अन्यथा सर्वथा गुप्त हैं और जितने भी मत तथा सम्प्रदाय आज तक चले हैं, उनमें से किसी का भी अनुयायी वहाँ तक नहीं पहुँचा है।

'सोआमी' तथा 'राधा'

सारी विश्व-रचना का मूलस्रोत सोआमी वा परम पिता है जो सबका आदि कारण भी है। वहाँ से चेतन-धारा के रूप में प्रवाहित होनेवाली शक्ति को 'राधा' कहा जाता है जो सबकी परममाता-स्वरूप है। यह 'राधा' उस 'सोआमी' को उसी प्रकार व्यक्त करती है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें अपने मूलस्रोत सूर्य का पता दिया करती हैं। इन दोनों शब्दों अर्थात् 'सोआमी' तथा 'राधा' को मिला कर ही 'राधास्वामी' होता है। इस राधास्वामी का स्वरूप उक्त तीनों प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा करता है। सबसे उच्चतम प्रदेश वा दयाल-देश में उसका कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रहता। क्योंकि वह एक अपार सागर की भाँति पूर्णतः व्यापक तथा गंभीर बना रहता है। उसके नीचे वाले प्रदेश या ब्रह्मांड देश में वह उक्त सागर की एक हिलोर वा तरंग की भाँति व्यक्तित्व धारण कर के विद्यमान रहता है। वही वेदांतियों का 'ब्रह्म', बौद्धों का 'निर्वाण' अथवा सूफ़ियों का 'लाहूत' है। सबसे नीचे वाले पिंड-प्रदेश में वह

स्थूल भौतिक पदार्थों का अधिकार लेकर उक्त तरंग की एक लहर का रूप ग्रहण करता है और वही हिन्दुओं का 'ब्रह्म' है। मनुष्य इस प्रकार मूलतः उस परात्पर सागर के एक शुद्ध बिंदु का स्वरूप है, जो भौतिक प्रपंचों के संसर्ग में आकर बंधन में पड़ गया है। इसका उद्धार तभी संभव है, जब वह उपयुक्त भेद की सारी बातों से अवगत होकर किसी संत सतगुरु के उपदिष्ट मार्ग से यत्न करना जान ले। वह अपने वास्तविक मूल की ओर तभी उन्मुख होकर उसके दर्शनों के लिए प्रवृत्त हो सकेगा और अंत में उसका उद्धार होगा।

साधना

इसके लिए हमें चाहिए कि संत सतगुरु की बतलायी 'जुगति' के सहारे सर्वप्रथम अपना संबंध उक्त धारा के साथ जोड़ने की चेष्टा करें। इस प्रकार 'सुरतशब्द योग' के अभ्यास द्वारा क्रमशः उस स्थिति तक पहुँच जायँ जिसके आलोक से ही हमें अपने अभीष्ट आनंद की उपलब्धि हो सकेगी। इसी कारण मूल 'शब्द' के प्रकट होकर चतुर्दिक विकीर्ण होनेवाली धारा में निहित उसके सूक्ष्म रूप को पहले श्रवण करना ही साधक का प्रधान ध्येय रहा करता है। उसे श्रवण करने का अभ्यासी होकर वह उस मूल शब्द के गुणों से क्रमशः परिचित होने लगता है और उसे एक नूतन शीतलता तथा निर्मलता का अनुभव होता है। अपने अभ्यास के दृढ़तर होते जाने पर कुछ काल के अनंतर उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रियाँ आप-से-आप जागृत हो उठती हैं और उसका हृदय गद्‌गद् हो जाता है। सबसे पहले भिन्न-भिन्न भौतिक वस्तुओं वा सांसारिक प्रपंचों के साथ जुड़े हुए मन की वृत्तियों को हटा कर उन्हें किसी प्रतीक पर केन्द्रित करना पड़ता है। साधक अपनी आँखें बंद कर उनके मध्यविंदु पर अपने विचार स्रोत को केन्द्रित करता है तथा 'राधा सोआमी', 'राधा सोआमी' का मंद उच्चारण करता हुआ अपने सतगुरु के रूप वा दीपक की लौ की कल्पना कर वहाँ प्रतिष्ठित करता है। इसके उपरांत वह अपने दोनों हाथों को अपने ललाट पर रख कर उनकी कनिष्ठिकाओं को दोनों आँखों के बीच लगाता है और उनके दोनों अँगूठों द्वारा अपने दोनों कानों को बंद कर देता है। तदनुसार उसे क्रमशः घंटिका आदि की ध्वनि सुन पड़ने लगती है और अंत में उस 'अनाहत' शब्द का भी अनुभव हो जाता है जो गुप्त वा अगम्य है। यह 'संत-मत' इसी कारण तीन प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है जिन्हें क्रमशः 'सुमिरन', 'ध्यान' तथा 'भजन' कहा जाता है। 'सुमिरन' द्वारा मौन जप की सहायता से चित्त की वृत्ति को भगवान् के प्रति उन्मुख करना है। 'ध्यान' के अभ्यास द्वारा उसे उस केन्द्र पर स्थिर करना है तथा 'भजन' द्वारा उसे शब्द ब्रह्म में लीन कर देना है।

ये तीनों शब्द प्राय: उन्हीं तीन क्रियाओं की ओर संकेत करते हैं जिन्हें साधारण योग की परिभाषा में क्रमश: धारणा, ध्यान तथा समाधि कहा करते हैं।

भक्ति की प्रधानता

फिर भी 'राधास्वामी सत्संग' की मुख्य साधना वास्तव में भक्ति-प्रधान ही है। उसे साधारण प्रकार से उपासना वा तरीक़त भी कहा करते हैं। इस मत के अनुसार उपासना या तो शब्द-स्वरूप राधास्वामी की हो सकती है अथवा संत गुरु वा साधु गुरु की भी की जा सकती है। 'संत सतगुरु' उनको कहते हैं जो सत्तलोक में पहुँच चुके हैं और 'परमसंत' उनको कहते हैं जो राधास्वामी के मुकाम पर पहुँचे हैं। 'साधु गुरु' उनको कहते हैं जो ब्रह्म और पारब्रह्म के मुक़ाम तक पहुँचे हैं। किंतु जो व्यक्ति वहाँ तक भी न पहुँच सका हो, उसे केवल 'साधु', वा 'सत्संगी' कहा जाता है। इनमें से 'संतगुरु', 'परमसंत' तथा 'साधुगुरु' का वास्तविक स्वरूप शब्द-स्वरूप है। उनमें तथा 'सत्तपुरुष' वा 'पारब्रह्म' में कोई मौलिक भेद नहीं समझा जाता। इस कारण ऐसे गुरुओं की उपासना तथा सेवा शब्द-स्वरूप सत्तपुरुष की ही उपासना है जिसका विधान भी इस मत में किया जाता है। 'हुजूर महाराज साहेब' ने अपने प्रवचनों द्वारा वैराग्य से कहीं अधिक अनुराग तथा भक्ति पर ही जोर दिया था। उन्होंने कहा था कि व्यर्थ तथा अनुचित वासनाओं का संयमित करना ही सच्चा वैराग्य है जो भक्ति तथा प्रेम का अभ्यास करते-करते स्वयं उत्पन्न हो जाता है। भक्ति का एक आवश्यक अंग दीनता है।"दीनता प्रेम का पैराहन है" तथा जिस प्रकार "गर्मी में रोशनी है, वैसे ही भक्ति में दीनता है। मगर जैसे बग़ैर रगड़ने के रोशनी प्रकट नहीं होती, वैसे ही बग़ैर दुःख व तकलीफ के दीनता नहीं आती और जैसे स्टीम के बग़ैर कल नहीं चलती है, इसी तरह प्रेम और दीनता के बिना अंतर में चाल नहीं चलती।"[१] इसी प्रकार भक्ति के लिए शरणापन्न होने की भावना भी नितांत आवश्यक है। इसके द्वारा ही 'जाती प्रीति' जागती है और तब असली उपासना शुरू होती है। संसारी मुहब्बत प्रेम नहीं, प्रत्युत केवल मोह मात्र है। वह मन से ही संबद्ध है, किंतु परमार्थी मुहब्बत सुरत की हुआ करती है। वही प्रेम है जिसकी धार की सहायता से सुरत मालिक की ओर पूरे उमंग तथा उल्लास के साथ अग्रसर हुआ करती है। अतएव इस संत-मत ने भक्ति के लिए दीनता, प्रपत्ति तथा प्रेम को एक समान आवश्यक बतलाया है और इन तीनों को अपनाने का नियम भी प्रचलित किया है।

---

१. वचन परमपुरुष पूरनधनी महाराजा, साहेब, बे० प्रे०, प्रयाग भा० १, पृ० १३-१४।

मत के प्रधान अंग

राधास्वामी सत्संग वा पंथ के मुख्य चार अंग हैं जिन्हें 'पूरागुरु', 'नाम', "सत्संग' तथा 'अनुराग' कहते हैं। 'पूरागुरु से अभिप्राय संत सतगुरु वा साधु सतगुरु से है। स्वामीबाग के अनुसार 'संत सतगुरु' तथा 'राधास्वामी' में वस्तुतः कोई अंतर नहीं है, जहाँ 'दयालबाग' उन्हें केवल इनका प्रतिनिधि मात्र अथवा निजाधार स्वरूप स्वीकार करता जान पड़ता है। किंतु यदि वह न मिले तो जो कोई उसका सच्चा सेवक विरह तथा अनुराग के साथ अभ्यास में लगनेवाला मिल जाय, उससे उपदेश ग्रहण कर लेना चाहिए। 'कुल मालिक' राधास्वामी दयाल का निश्चय चित्त में धारण कर अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। चित्त में सदा संत सतगुरु के मिलने की अभिलाषा रखनी चाहिए। क्योंकि वे परम दयाल हैं और प्रेमी तथा अभिलाषी को अपनी दया से अवश्य दर्शन देते हैं। 'नाम' शब्द से भी अभिप्राय उस सच्चे नाम से है, जो ध्वन्यात्मक रूप में सभी घटों में व्याप्त हो रहा है और जिसकी धार रूह यानी जान की धार है। उसी से तमाम बदन तथा अंग-अंग चेतन हैं। इसी धार के संग सुरत अर्थात् जीव उतर कर पिंड-देश में ठहरा है। अंत समय पर इसी धार के साथ खिच जाता है अर्थात् देह की मृत्यु हो जाती है। वही शब्द-स्वरूप में कुल-रचना का आदि है और असल में शब्द और उसकी धार अर्थात् आवाज में कोई भेद नहीं है। यही नाम 'ज़ाती' है अर्थात् इसी को 'निजनाम' कहते हैं और इसे नामी के भेदों के साथ समझना चाहिए। सिफ़ाती वा कृत्रिम नामों से काम नहीं चल सकता। 'सत्संग' से मुख्य अभिप्राय संत सतगुरु का संग, उनकी सेवा तथा उनके वचनों को मनोयोगपूर्वक सुनना और उनका दर्शन करना है। किंतु यह भी वाह्य सत्संग है। अंतर का सत्संग सतगुरु के वचनों का अपने भीतर मनन करना तथा उनके उपदेशों के अनुसार सुरत लगा कर घट में होती हुई शब्द-ध्वनि को श्रवण करना और मन की जबान से सच्चे नाम का सुमिरन करते हुए उनके स्वरूप का ध्यान करना कहलाता है। वाह्य सत्संग की आवश्यकता तभी तक है, जब तक चित्त से भ्रम तथा संशय दूर न हो जाय और प्रेम प्रकट न हो ले। किंतु अंतर का सत्संग तब तक चलना चाहिए जब तक जीव शरीर में है। 'अनुराग' का भी मुख्य अभिप्राय "वह सच्चा प्रेम है जिसमें मालिक के दर्शनों के लिए लालायित होना तथा साथ ही सांसारिक दुखों से भय करना भी सम्मिलित है।"[१]

---

१. साधारण उपदेश, पृ० १३-१५।

'राधास्वामी' का सर्वप्रथम प्रयोग

प्रसिद्ध है कि संत शिवदयाल सिंह अर्थात् स्वामीजी महाराज ने राधास्वामी नाम पहले प्रकट नहीं किया था। वे केवल 'सत्तनाम' अनामी तक का भेद प्रकट करते थे और उसी का उपदेश दिया करते थे, जैसा कि पिछले अन्य संतों के समय से भी चला आता रहा। जब संतराम सालिगराम बहादुर अर्थात् 'हुजूर महाराज साहेब' ने अपने सुरत शब्द के अभ्यास में उसकी ध्वनि सर्वप्रथम सुनी तथा उसके दर्शनों का अनुभव किया, तब उन्होंने उस नाम से 'स्वामीजी महाराज' को ही पुकारना आरंभ कर दिया। उस समय के अनंतर उस 'राधास्वामी' नाम वा 'राधास्वामी' धाम का अभ्यास तथा उपदेश चलने लगे। 'हुजूर महाराज 'साहेब' ने इसे कहा है।[1] इस बात को स्वामीजी महाराज ने भी स्वीकार किया है, जो उनके वचन १४ से इस प्रकार प्रकट होता है, "फिर लाला परताप सिह की तरफ मुतवज्जह होकर फ़रमाया कि मेरा मत तो सत्तनाम और अनामी का था और राधास्वामी मत सालिगराम का चलाया हुआ है। इसको भी चलने देना और सतसंग जारी रहे और सतसंग आगे से बढ़ कर होगा।" इसके पहले वचन १३ में कहा गया है, "फिर सुदर्शनसिंह ने पूछा कि जो कुछ पूछना होवे तो किससे पूछै" उस पर फ़रमाया कि "जिस किसी को पूछना होवे, वह सालिगराम से पूछै।"[2]

सत्संग का विकास

डॉ० जे० एन० फर्कुहर ने लिखा है कि संत शिवदयाल सिंह वा स्वामीजी महाराज का पूर्व-नाम तुलसीराम था। इन्होंने वैष्णव-कुल में जन्म लिया

---

१. 'ढूँढत ढूँढत बन बन डोली।
तब राधास्वामी की सुन पाई बोली॥
प्रीतम प्यारे का दिया संदेसा।
शब्द पकड़ जाओ उस देशा॥
कर सत्संग खुले हिये नैना।
प्रीतम प्यारे के सुने वही बैना॥
जब पहिचान मेहर से पाई।
प्रीतम आप गुरु बन आई॥'
—प्रेमबानी, भाग ३, शब्द सावन।

२. लाला प्रतापसिंह सेठ : जीवनचरित्र हुजूर स्वामीजी महाराज, पृ० ११३ पर उद्धृत।

था। उनका यह भी कहना है कि इनका संबंध वृन्दावन के उन गुरुओं से भी था जो श्रीकृष्ण के अनुयायी होते हैं। तदनुसार ये तथा इनकी पत्नी कभी-कभी कृष्ण तथा राधा के रूप धारण कर अपने अनुयायियों के सामने उपस्थित होते थे। इन्हीं रूपों में इनकी पूजा भी हुआ करती थी। द्वितीय गुरु अर्थात् संत राय सालिगराम बहादुर वा 'हुजूर महाराज साहेब' भी कभी-कभी कृष्ण बना करते थे। इस प्रकार सत्संग द्वारा स्वीकृत गुरु-भक्ति मूलतः वृन्दावन के गुरुओं की देन है।[1] डॉ० फर्कुहर का यह भी अनुमान है कि स्वामीजी महाराज के गुरु तुलसी साहब थे। किंतु उक्त बातों के प्रमाण में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा है। इस बात में संदेह नहीं कि हुजूर साहेब की तीव्र बुद्धि तथा उनके विषय-प्रतिपादन की अपूर्व शक्ति ने सत्संग की उन्नति करके उसे सुदृढ़ सुव्यवस्थित बनाया था। उन्होंने सत्संग द्वारा अनुमोदित मत को अधिक-से-अधिक स्पष्ट किया और उसकी संस्था को सुचारु रूप से संगठित भी किया। किन्तु उक्त सभी बातों में ये अपने गुरु द्वारा अनुप्राणित हो चुके थे और इनके प्रायः सभी कार्य उनके पथ-प्रदर्शन-संबंधी संकेतों के अनुसार ही संपन्न किये गए थे। हुजूर महाराज साहेब के अनंतर महाराज साहेब ने सं० १९५९ में राधास्वामी-सत्संग की केन्द्रीय सभा के संगठन तथा संचालन के लिए एक विधान का निर्माण किया और अनेक नियम तथा उप-नियम बना कर उनके अनुसार प्रबंध चलाने की एक परंपरा निश्चित कर दी। सत्संग के नियमानुसार उसके अनुयायियों का निवृत्ति-मार्ग स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, किंतु इस विधान में उसके साधुओं के लिए भी कुछ विशेष व्यवस्था की गई है।[2]

नैतिक नियम

राधास्वामी सत्संग के नैतिक नियम केवल वे ही माने गए हैं जो जीव को भौतिक जीवन से मुक्त कर उसे आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त करें। तदनुसार मांस तथा मादक वस्तुओं का सेवन, भड़कीले वस्त्राभूषणों का धारण, अधिक निद्रा तथा व्यर्थालाप में काल-यापन-जैसे कर्मनिषिद्ध हैं। राजनीतिक आंदोलनों तथा सभाओं में सम्मिलित होना अथवा मेले-जैसे प्रदर्शनों को देखने जाना भी उसी प्रकार त्याज्य है। इसकी सदस्यता के लिए अपने पूर्व धर्म का त्याग आवश्यक नहीं, न अपनी जीविका की ओर से ही किसी प्रकार उदासीन होना अनिवार्य है। सत्संग के सभी सिद्धांत शुद्ध वैज्ञानिक तथा

---

१. डॉ० जे० एन० फर्कुहर : माडर्न रिलिजस मूवमेंट्स, पृ० १६६।
२. डिस्कोर्सेज, पृ० ३२९।

अनुभवगम्य समझे जाते हैं। उन्हें स्वीकार करनेवाला मनुष्य किसी भी स्थिति में रहता हुआ, अपने उद्धार के लिए यत्नशील हो सकता है। इन तथा कुछ अन्य इस प्रकार की बातों में सत्संग थियोसाफिकल सोसाइटी के समान जान पड़ता है। अपनी कतिपय साधनाओं की दृष्टि से भी ये दोनों प्रायः एक ही प्रकार से कार्य करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इनके आध्यात्मिक वातावरणों में भी कदाचित् अधिक विभिन्नता नहीं है। सत्संग की सभाएँ अधिकतर शांत तथा आडंबरशून्य हुआ करती हैं। उनमे भजन, पाठ तथा प्रवचन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्यक्रम नहीं रहता। इसके प्रत्येक अनुयायी के लिए संत सतगुरु अथवा उसके चित्रादि के समक्ष अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन मुख्य कर्त्तव्य माना जाता है। संत सतगुरु द्वारा स्पर्श की गई वा व्यवहार मे लायी गई प्रत्येक वस्तु पवित्र तथा उपादेय है। उसे बिना तर्क-वितर्क किये अपना लेना परम धर्म है।

प्रचार

'राधास्वामी-सत्संग' का न्यूनाधिक प्रचार भारत के प्रायः प्रत्येक प्रांत में हो चुका है। उसके अनुयायियों की संख्या क्रमशः बढ़ती हुई ही दीख पड़ती है। इसकी रहस्यमयी अंतरंग कार्य-प्रणाली, इसकी प्राणायाम विहीन योग-साधना की बाह्य सरलता, इसका सादे तथा सद्भावपूर्ण व्यवहार की ओर अधिक झुकाव तथा आध्यात्मिक जीवन में भी समृद्धि-लाभ संबंधी इसकी योजना इसके प्रति आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त साधन हैं।

५. संतमत-सत्संग

बाबा देवी साहब

संतमत-सत्संग को सर्वप्रथम प्रेरणा प्रदान करनेवाले बाबा देवी साहब समझे जाते हैं। इनका जन्म किसी समय सं० १८९८ : सन् १८४१ ई० में हुआ था और जिनका देहांत सं० १९७६ : सन् १९१९ ई० की १९ जनवरी को मुरादाबाद में हुआ। बाबा देवी साहब उसी नगर के 'अताई' मुहल्ले में रहा करते थे और संत-मत के प्रचारार्थ प्रायः बाहर भी जाते थे। इन्हें कहीं-कहीं संत तुलसी साहब का शिष्य समझ लिया गया जान पड़ता है[1] जो उनका देहांत सं० १८९९ वा १९०० तक में होना मानने पर संभव नहीं हो सकता। इसके लिए हमें वैसा कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इसके सिवाय इनके शिष्य परमहंस मेंहीदास के अनुसार "बाबा देवी साहब तुलसी साहब से न तो भजनभेद लिये थे, न उनके 'शब्द योग' का ख्याल तुलसी साहब के इस

---

१. महर्षि मेंहीं अभिनंदन ग्रंथ, भागलपुर, १९६१ ई०, पृ० ३५८।

योग के ख्याल से मिलता है"[1] जिससे भी उक्त सबंध की कोई पुष्टि होती नहीं जान पड़ती। परन्तु इनके गुरु जो भी रहे हों इनके उपलब्ध कथनों के आधार पर इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इन्होंने उनके आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण की होगी। संत तुलसी साहब की रचना 'घट रामायण' को प्रकाशित कराते समय जो इन्होंने उसकी भूमिका लिखी है[2] उससे इस पर प्रकाश पड़ सकता है। इस बात का कुछ-न-कुछ समर्थन इनके द्वारा की गई उस 'टीका' से भी किया जा सकता है जो इन्होंने 'बालकांड का आदि और उत्तर का अंत' नाम से तुलसीदास की प्रसिद्ध रचना 'रामचरित मानस' के आधार पर लिख कर प्रकाशित की है। इनके 'सदुपदेशों का सारांश' बतलाते हुए परमहंस मेंहीदास ने कहा है कि ये सभी संतों के प्रति श्रद्धा-भाव रखते थे। उनके मत को 'संतमत' का नाम देते थे तथा 'सत्संग' शब्द से इनका अभिप्राय 'ईश्वर भक्ति का उपदेश' था। चाहे कोई किसी भी धर्म वा सम्प्रदाय का हो उसे बराबर 'ध्यानाभ्यास' में निरत रहना चाहिए। इनका 'दृष्टियोग' (दृष्टि साधन) तथा इनका 'शब्द-योग' (शब्द साधन) कबीर साहब द्वारा अनुमोदित साधनाओं से भिन्न नहीं कहला सकते। जिस प्रकार संगीत-मंडली में साजों को एक समान कस लेने पर उन सभी की ध्वनियों में एकता आ गई प्रतीत होती है और उन्हें पृथक्-पृथक् निरूपित करना कठिन है, उसी प्रकार सभी शब्दों तथा ध्वनियों के मूल में हम सूक्ष्मतम 'सारशब्द' की कल्पना कर सकते हैं। वह सूक्ष्मतम नाद चिरकाल तक रहता है और उसमें आसक्त मनुष्य की मति भी उसी प्रकार स्थिरता प्राप्त कर ले सकती है।[3] तदनुसार बाबा देवी साहब ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए उक्त 'शब्द योग' का उपदेश देते थे। इसके पूर्व उक्त 'दृष्टिकोग' का अभ्यास कर लेने का आग्रह भी करते थे जिसके बिना इस प्रकार ध्यान करना अत्यंत कठिन बन जा सकता है। बाबा साहब की एक अन्य विशेषता सभी के लिए जीवन में 'सदाचार' तथा 'स्वावलंबन' की आवश्यकता भी कही जा सकती है।

बाबा के प्रमुख शिष्य

बाबा देवी साहब के प्रमुख शिष्यों में बाबा नंदन साहब, धीरजलाल गुप्त (गुरुजी साहब), रामदास चौधुरी (ध्यानानंद), राजेन्द्रनाथ जी तथा मेंहीदास

---

१. मेंहीदास : भावार्थ सहित घट रामायण, पूर्णिया, १६३६ ई०, पृ० २६।

२. दे० घट रामायण, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा सन् १८६६ में प्रकाशित।

३. श्री मेंहीदास वचनामृत, खगड़िया, १६५४ ई०, पृ० २३४-४५।

(परमहंस वा महर्षि) के नाम लिये जाते हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् बाबा नंदन साहब संभवतः उनके पट्ट शिष्य तथा उत्तराधिकारी थे तथा इन्होंने उनकी एक जीवनी भी लिखी है। इसी प्रकार द्वितीय अर्थात् धीरजलाल गुप्त के लिए कहा गया है कि ये रामदास चौधरी की भाँति ग्राम जोतम राम, (जिलापूर्णिया) के निवासी रहे हैं। इन दोनों मित्रों के द्वारा बाबा साहब के उपदेशों का प्रचार इस ओर विशेष रूप से हुआ। इन दोनों की ही प्रेरणा पाकर मेंहीदासजी भी 'संतमत' की ओर उन्मुख हुए तथा पीछे चौथे राजेन्द्रनाथ ने उनका पथ-प्रदर्शन किया। स्वामी मेंहीदास को इन अपने गुरु-भाइयों की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहयोग मिलता आया जिसके फलस्वरूप ये अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुसार कार्य करते हुए सर्वप्रसिद्ध हो गए।

परमहंस मेंहीदास

परमहंस स्वामी मेंहीदास का पूर्व-नाम 'रामानुग्रह लाल दास' था। इनके पिता बबुजन लाल दास जाति के कायस्थ थे। बबुजन लाल दास ग्राम सिकलीगढ़ धरहरा, जिला पूर्णिया के निवासी थे। जो बनैली राज्य के एक कर्मचारी भी रहे। रामानुग्रह लाल का जन्म इनके नानिहाल ग्राम 'खोखसी श्याम', जिला सहरसा में फ़सली सन् १२९२ अर्थात् सं० १९४२ : सन् १८८५ ई० की बैशाख शुक्ल १४ को हुआ। जब ये केवल ४ वर्ष के ही रहे, इनकी माता का देहांत हो गया। इन्हें पूर्णिया नगर के किसी स्कूल में एंट्रेंस तक की शिक्षा मिली थी जिसका इन्होंने सन् १९०४ ई० के परीक्षा-काल में त्याग कर दिया। इसके पहले से ही इनकी विशेष प्रवृत्ति 'रामचरितमानस'-जैसे धार्मिक ग्रंथों की ओर हो चली थी। ये साधु-संतों के संपर्क में आना पसंद करने लग गए थे तथा ये एक दरिया-पंथी योगी रामानंद से सन् १९०२ ई० में दीक्षा भी ले चुके थे। परन्तु केवल इतने से ही इनकी 'आध्यात्मिक' जिज्ञासा की तृप्ति नहीं हो पा रही थी जिस कारण ये किसी सद्गुरु की खोज में निकल पड़े। तदनुसार ये विराटगढ़ (नेपाल राज्य), अयोध्या, धरकंधा (दरिया-पंथी प्रधान केन्द्र), दामाखेड़ा (छत्तीसगढ़ी कबीर-पंथ का प्रधान केन्द्र) जैसे अनेक प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा करते फिरे, किंतु इन्हें कहीं भी शांति नहीं मिल सकी। अंत में, जब इन्हें बाबा देवीसाहब का पता चला तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग 'दृष्टियोग' की 'भजन-भेद-विधि' का परिचय इन्हें भागलपुर निवासी राजेन्द्र बाबू की सहायता से सं० १९६६ : सन् १९०९ ई० में मिल सका तो इनको कुछ सहारा हुआ। फिर उसी वर्ष राजेन्द्र बाबू ने इनसे बाबा देवीसाहब की भी भेंट करा दी। इनके यहाँ से इन्हें 'सुरत शब्द योग' की साधना का भी रहस्य सन् १९१२ ई० में प्राप्त

हो गया। इन्होंने बाबा साहब के आदेशानुसार अपनी साधना का अभ्यास बड़ी तत्परता के साथ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि इनका चित्त स्थिर हो चला और इन्हें उनके 'संतमत' का भी पूरा बोध हो गया।

रचनाएँ

परमहंस मेंहीदास की प्रकाशित रचनाओं में (१) 'रामचरितमानस सार सटीक' (२) 'विनयपत्रिका सार सटीक' (३) 'भावार्थ सहित घटरामायण', (४) 'वेद दर्शन योग' (५) 'गीता योग प्रकाश' (६) 'सत्संगयोग' (७) 'संत-मत सिद्धांत व गुरु कीर्त्तन' (८) 'पदावली' तथा (९) 'बचनामृत' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम तीन के अंतर्गत इन्होंने क्रमशः तुलसीदास की रचना 'रामचरितमानस' तथा 'विनय पत्रिका' तथा संत तुलसी साहब की 'घटरामायण' के विशिष्ट स्थलों को चुन कर और उनकी विस्तृत व्याख्या करके उनके सार-तत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार इनमें से फिर अगली तीन रचनाओं में इन्होंने क्रमशः चारों वेद, श्रीमद्भगवद्गीता तथा वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक धार्मिक ग्रंथों तक के प्रमुख अंशों को उद्धृत कर अथवा उन पर अपनी टीका लिख कर उनके द्वारा अपने मत का समर्थन किया है। शेष तीन में से प्रथम दो के अंतर्गत पद्यमयी रचनाएँ संगृहीत हैं और उनमें से पहली में कतिपय अन्य व्यक्तियों की भी बानियाँ आ गई हैं। किंतु अंतिम पुस्तक में परमहंस मेंहीदास के केवल ऐसे २६ प्रवचन ही संगृहीत हैं जिन्हें इन्होंने भाषणों के रूप में दिया होगा। इनकी उपर्युक्त प्रथम तथा तृतीय रचनाओं को देख कर हमें स्वभावतः इनके गुरु बाबा देवी साहब द्वारा लिखी गई दो ऐसी ही पुस्तकों का स्मरण हो आता है। इनके निर्माण का भी उद्देश्य मूलतः वही रहा जो इनका है। इसी प्रकार इनके ग्रंथ 'सत्संगयोग' को पढ़ते समय भी हमें प्रधानतः उस रचना-शैली का ही एक सुव्यवस्थित उदाहरण मिलता है, जैसे संत तुलसी साहब ने कहीं-कहीं अपनी 'घट रामायण' के अंतर्गत अपनाया है। जहाँ तक प्राचीन ग्रंथों पर की गई टीकाओं अथवा उन पर लिखे गए विस्तृत भाष्यों का प्रश्न है, इनके उदाहरण हिन्दी के संत-साहित्य में अन्यत्र कदाचित् विरल ही होंगे। इन्हें देख कर हमें इनकी समानता के लिए मराठी के संत ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ की रचनाओं की ओर दृष्टि डालनी पड़ सकती है।

विचार-धारा

परमहंस मेंहीदास की रचनाओं का अध्ययन कर लेने पर पता चलता है कि इनकी विचार-धारा अन्य संतों की ही जैसी है। ये परमतत्त्व आदि का वर्णन प्रायः उन्हीं शब्दों में करना चाहते हैं जिनके प्रयोग संत कबीर साहब के समय

से होते आए हैं। मुख्य अंतर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि पहले वाले संत लोग जहाँ अपनी निजी अनुभूति मात्र अथवा अपने पूर्ववर्त्ती संतों के कथनों की ओर कभी-कभी संकेत कर देते थे, वहाँ पर ये उपनिषद् आदि का भी हवाला दे दिया करते हैं। इस प्रकार ये सदा इस बात की भी चेष्टा करते रहते हैं कि अपने वक्तव्य को पूर्णतः साधार तथा प्रामाणिक सिद्ध कर दे। इसके सिवाय ये अपने विचारों को भरसक अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देने का यत्न भी करते हैं। उदाहरण के लिए उस परमसत्ता का परिचय देते समय ये एक स्थल पर बतलाते हैं, "अपरा (ज़ड़) और परा (चेतन) दोनों प्रकृतियों के पार में अगुण और सगुण पर अनादि अनंत सरूपी, अपरंपार शक्ति युक्त, देश काला-तीत, शब्दातीत, नाम रूपातीत, अद्वितीय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परे जिस परमसत्ता पर यह सारा प्रकृति-मण्डल एक महान् यंत्र की नाई परिचालित होता रहता है जो न व्यक्ति है और न व्यक्त है। संत-मत में उसे ही परम अध्यात्म पद वा परम अध्यात्म स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर (कुल्ल मालिक) मानते हैं।"[१] इन्होंने इसी प्रकार उस अव्यक्त से व्यक्त हुए सर्वव्यापक 'आदि शब्द' के विषय में भी कहा है, 'इस शब्द के द्वारा परमप्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है, इसलिए इस शब्द को परमप्रभु का नाम 'राम नाम' कहते हैं। यह सबमें सार रूप से है तथा यह अपरिवर्त्तनशील भी है। इसलिए इसको सार शब्द, सत्य शब्द और सत्य नाम हिन्दी संत बानी में कहा है और उपनिषदों में ऋषियों ने इसी को ॐ कहा है। इसीलिए यह आदि शब्द संसार में ॐ कह कर विख्यात है।"[२] जीवात्मा को इन्होंने उस प्रभु परमेश्वर का 'अंश' कहा है और बतलाया है कि यह उसी प्रकार उससे पृथक् जान पड़ता है जैसे घटाकाश वा महाकाश को 'नभ' से अलग समझ लिया जाता है।[३] दोनों के बीच तम, प्रकाश तथा शब्द के मानों तीन प्रकार के पट वा आवरण पड़े हुए हैं जिन्हें 'दृष्टि' तथा 'धुनि' के योग की साधना द्वारा दूर कर देना चाहिए।"[४]

साधना

परमहंस मेंहीदास ने उस दृष्टि के भी चार भेद किये हैं और उन्हें 'जाग्रत',

---

१. सत्संग योग (चारों भाग), सन् १९४९ ई०, भा० ४, पृ० ३।

२. वही, पृ० ६।

३. 'जीवात्म प्रभु का अंश है, जब अंश नभ को देखिये।
घट मठ प्रपंचन जब मिटे नहीं अंश कहना चाहिए—संतमत सिद्धांत, पृ० २।

४. संतमत सिद्धांत, १९४९ ई०, पृ० ३।

'स्वप्न', 'मानस' तथा 'दिव्य' के अनुसार ४ नाम दिये हैं। इनका कहना है, "दृष्टि के पहले तीनो भेदों के निरोध होने से मनोनिरोध होगा और दिव्य दृष्टि खुल जायगी। दिव्य दृष्टि में भी एक विंदुता रहने पर मन की विशेष उर्ध्व गति होगी और मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को प्राप्त कर उसमें लय हो जायगा। जब मन लय होगा सुरत को मन का संग छूट जायगा। मन विहीन हो शब्दधारों से आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँच कर वह भी लीन हो जायगी। अंतर साधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गया। काम समाप्त हुआ।"[1] इससे जान पड़ता है कि ये थोड़े में ही बहुत-कुछ कह दिया करते हैं। इस प्रकार की साधना के प्रथम प्रयास को इन्होंने 'दृष्टियोग' का नाम दिया है। इन्होंने कहा है, "सर्वप्रथम गुरु का ध्यान करके तथा श्रवणेन्द्रिय को निर्मल बना कर और 'विंदु' का ज्ञान रखते हुए अपने दोनों नेत्रों द्वारा सामने की 'विंदु' (नासाग्र) पर दृष्टि केन्द्रित करो। सुषुम्ना में 'तिल तारा' के माध्यम से प्रकाश होता प्रतीत होगा और सुरत दशम द्वार को देखने लगेगी। प्रकाश में आश्चर्यजनक अनहद शब्द सुन पड़ेगा जिसमें तुम्हें लीन होने का प्रयास करना पड़ेगा। फिर तो 'सत्' की उपलब्धि हो जायगी।"[2] इस 'दृष्टियोग' के अनंतर ही 'शब्दयोग' का भी क्रम आप-से-आप आ जा सकता है जिसे प्रायः'सुरत शब्द योग' का भी नाम दिया जाता है। परमहंस जी ने ध्यानयोग की इन साधनाओं का वर्णन कई स्थलों पर बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है। इन्होंने इन की सिद्धि को ही "मोक्ष' का भी नाम दिया है। इन्होंने बतलाया है, "वास्तव में हृदय की अज्ञान-ग्रंथि के नाश हो जाने को ही 'मोक्ष' कहते हैं।'[3]

प्रचार-कार्य

बाबा देवी साहब द्वारा प्रचारित संत-मत को स्वीकार कर लेने पर परमहंस मेंहीदास ने अपने जीवन को तदनुसार ढाल दिया। उसके महत्त्व में पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण इन्होंने उसका प्रचार-कार्य भी आरंभ कर दिया। ये जहाँ-कहीं भी जाते, वहाँ के विशिष्ट व्यक्तियों के साथ विचार विमर्श करते और प्रवचन दिया करते। तदनुसार इन्होंने कई बार अपना कार्यक्रम निश्चित किया तथा 'सत्संग' की नियमावली निर्धारित कर उसका संगठन करके अपने सहयोगियों के साथ उसके विशिष्ट अधिवेशन भी आरंभ कर दिये। इन्हें

---

१. सत्संग योग, भा० ४, पृ० २६-३०।

२. संतमत-सिद्धांत, पृ० ३७-८।

३. सत्संग-योग, भाग ३, पृ० १३६।

अपने कार्य में इतना उत्साह था कि इन्होंने अपने सद्गुरु का देहावसान हो जाने तथा योग्य गुरु-भाइयों के न रहने पर भी इसमें ढीलापन नहीं आने दिया। भ्रमण-कार्य के साथ-साथ आवश्यक साहित्य के निर्माण द्वारा भी उसे सदा आगे बढ़ाने में ही यत्नशील रहे। इन्होंने इसके लिए प्राचीन ग्रंथ जैसे वेद, उपनिषद्, गीता आदि से लेकर मध्यकालीन संतों की उपलब्ध बानियों का भी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। उनकी पारस्परिक तुलना द्वारा सामान्य सिद्धांतों का निरूपण किया तथा उनमें निर्दिष्ट आध्यात्मिक साधनाओं में एकरूपता का पता लगा कर उनके प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण का यत्न किया। ये बीच में कभी-कभी आत्म-चिंतन करते थे, ध्यान-योग की साधना करते रहते थे और सर्वसाधारण को बराबर उस विशुद्ध चारित्र्य तथा स्वावलंबी जीवन का उपदेश भी दिया करते थे जो इनके सद्गुरु के मत के प्रधान अंग रह चुके थे। इन्होंने जिन समकालीन महापुरुषों के साथ समय-समय पर विचार-विनिमय किया तथा जिनके सामने इन्होंने अपने मत की विशेषताओं को लाकर उनका पूरी दृढ़ता से समर्थन किया उनमें नाथ-पथी बाबा गंभीरनाथ, राधास्वामी-सत्संग के साहेबजी, महर्षि शिवव्रत लाल वर्मन् तथा संत विनोबा-जैसे लोगों के नाम लिये जा सकते हैं।

प्रचार-क्षेत्र तथा विशेषता

'संतमत-सत्सग' का विशेष प्रचार विहार प्रांत के पूर्णिया, भागलपुर तथा सहरसा-जैसे जिलों तथा उसके पश्चिमी अंचल वाले क्षेत्र में ही जान पड़ता है, किंतु इसका प्रभाव क्रमशः अन्यत्र भी बढ़ता जा रहा है। उत्तर प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग जहाँ देवी साहब का निवास-स्थान था तथा जहाँ से उनका इधर आना-जाना हुआ करता था इसके प्रसार-क्षेत्र का दूसरा छोर है। इन दोनों के मध्यवर्त्ती भू-भाग में भी 'सत्संग' का संदेश स्वभावतः सरलता पूर्वक पहुँचाया जा सकता है। इसे किसी सम्प्रदाय विशेष का रूप देने के प्रति कोई स्पष्ट आग्रह नहीं, क्योंकि इसकी मूल प्रवृत्ति, विभिन्न प्रचलित संत-सम्प्रदायों की विचार-धारा में समन्वय स्थापित कर उसे एक सुव्यवस्थित रूप देने की ही जान पड़ती है। इस बात की ओर सर्वप्रथम, संत तुलसी साहब ने ध्यान दिलाया था तथा उन्हं ने ऐसे धार्मिक वर्गों में आ गई अनेक त्रुटियों को दूर करने का सुझाव भी उपस्थित किया था। परन्तु उनकी कथन-शैली में बहुधा अप्रिय आलोचनाओं के भी आ जाते रहने के कारण, उसमें अच्छी सफलता नहीं मिल सकी। 'संतमत-सत्संग' की कार्य-पद्धति अधिकतर मंडनात्मक तथा तर्क-प्रधान ही प्रतीत होती है। इस कारण यह बहुत कुछ कृतकार्य भी हो सकता है। इसकी अन्य विशेषताओं में सर्वसाधारण का ध्यान 'सदाचार' तथा 'स्वावलंबन' की ओर समुचित ढंग से दिलाना है। इस बात के

लिए उन्हें तैयार भी करते रहना है कि वे अपने वास्तविक जीवनादर्श के पालन में कभी ढीलापन न आने दें। 'सत्संग' की अपनी साधना-संबंधी विशेषता 'दृष्टि-योग' की उस प्रक्रिया में दीख पड़ती है जिसे ध्यान-योग का एक प्रारंभिक प्रयास कह सकते हैं। इसे 'सत्संग' ने संतों वाले 'सुरति शब्द योग' के लिए परमावश्यक माना है और इसकी ओर सभी ऐसे साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वास्तव में इस मत के अनुसार बिना किसी प्रकार के ध्यान योग का अभ्यास किये हम कभी कोई वैसी सफलता प्राप्त ही नहीं कर सकते। इस वर्ग के अनुयायियों में प्राय: प्रत्येक बात को वैसी गोपनीयता दी जाती हुई भी हम नहीं पाते जिससे साम्प्रदायिक संकीर्णता को प्रश्रय मिले। 'संतमत-सत्संग' को हम वस्तुत: 'संत-परंपरा' की एक नवीनतम कड़ी के रूप में देख सकते हैं तथा इसके भविष्य से कुछ आशा भी कर सकते हैं।

६. फुटकर संत

(१) स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३० : सं० १९६३)

संक्षिप्त परिचय

स्वामी रामतीर्थ का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरानवाला जिले के अंतर्गत मुरारी गाँव में हुआ था। ये सं० १९३० में उत्पन्न हुए थे और इनके पूर्वज 'गोसाईं' वंश के ब्राह्मण कहलाते थे जिनमें प्रसिद्ध तुलसीदास का नाम भी लिया जाता है। ये एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्हें पहले उर्दू तथा फ़ारसी की शिक्षा दी गई थी, किंतु आगे चल कर इन्होंने गणित के विषय में एम० ए० तक की डिग्री प्राप्त की। ये कुछ दिनों तक स्कूल तथा कालेज में अध्यापन का कार्य करते रहे। परन्तु कृष्ण-भक्ति, गीतानुशीलन तथा वेदांत-दर्शन की ओर इनका ध्यान क्रमश: अधिकाधिक आकृष्ट होता गया और इनके हृदय में एक अपूर्व भाव जागृत हो उठा। तदनुसार इन्होंने केवल अपनी २४ वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता के पास एक पत्र लिख कर उन्हें सूचित कर दिया, "आपका पुत्र अब राम के आगे बिक गया, उसका शरीर अब अपना नहीं रह गया। आज दीपमाला को अपना शरीर हार दिया और महाराज को जीत लिया। महाराज ही हम गोसाँइयों का धन हैं।" इसमें संदेह नहीं कि उक्त 'महाराज' शब्द से इनका अभिप्राय उस 'परमब्रह्म' परमात्मा से ही था जो वेदांतानुसार परमतत्त्व का सूचक है। इस घटना के अनंतर युवक राम ने क्रमश: हरिद्वार, हृषीकेश, तपोवनादि की यात्रा की और सं० १९५५ में किसी समय एकांतवास के अवसरों पर इन्हें आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति भी हो गई। फिर तो इनके जीवन का ढंग ही पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया और ये आत्मा-

नंद की मस्ती में सदा मग्न दीख पड़ने लगे। सं० १९५७ में इन्होंने अपना अध्यापन-कार्य छोड़ दिया और अगले वर्ष संन्यास ग्रहण कर देश-विदशों में भ्रमण करने तथा अपने हृदय-स्थित भावों को व्यक्त करने के लिए निकल पड़े। अमेरिका से वापस आने पर इनसे कुछ लोगों ने किसी अपनी संस्था के प्रवर्तित करने का अनुरोध किया। किंतु इन्होंने ऐसा करना स्वीकार नही किया, अपितु उत्तर में कहा, "भारतवर्ष में जितनी सोसाइटियाँ हैं, वे सभी राम की हैं, राम उन सबमें काम करेगा। सभी भारतवासी मेरे अपने हैं।" फिर ये अपने देश में ही कुछ दिनों तक भ्रमण करते रहे। अंत में कार्त्तिक कृष्ण १५ सं० १९६३ के दिन टिहरी के निकट भृगु-गंगा में स्नान करते समय इन्होंने जल-समाधि ले ली। इन्हें एक कन्या तथा दो पुत्र उत्पन्न हुए थे।

मत का सार

स्वामी रामतीर्थ की रचनाओं में इनके कुछ व्याख्यान, कुछ पत्र और कुछ कविताएँ उपलब्ध हैं जिनसे इनकी 'ब्राह्मी-स्थिति' की झलक मिल जाती है। ये आत्मानुभूति द्वारा प्रभावित अपने व्यापक दृष्टिकोण से सभी कुछ को आत्म-स्वरूप ही देखते थे। इन्होंने उसके रंग में अपने जीवन की प्रत्येक चेष्टा को पूर्ण रूप से रँग डाला था। इनकी भावुकता इतनी तीव्र थी कि वह कभी-कभी भावावेश वा उन्माद की स्थिति तक पहुँच जाती थी। सर्वसाधारण इनकी बातें सुन कर दंग रह जाते थे। किंतु इस बात के कारण इनके विचारों में किसी प्रकार की विशृंखलता नहीं लक्षित होती थी, न ये अपने वास्तविक ध्येय आत्मानुभूति द्वारा विश्व-कल्याण से कभी विचलित ही होते थे। इन्होंने अपनी मानसिक स्थिति का परिचय किसी समय A state of Balanced Racklessness अर्थात् 'संतुलित प्रमाद की अवस्था' के संकेतों द्वारा दिया था। ये अपने उपदिष्ट मत को बहुधा 'नक़द धर्म' की संज्ञा दिया करते थे। कहा करते थे, "यह वर्तमान जीवन से संबद्ध है। 'उधार धर्म' अंधविश्वास पर निर्भर रहता है, किंतु 'नक़द धर्म' अंतःकरण के दृढ़ विश्वास का होता है। 'उधार धर्म' कहने के लिए 'नक़द धर्म' करने के लिए है। धर्म के उस भाग पर जो नक़द सभी धर्मों या सम्प्रदायों की एकवाक्यता है। इस पर कहीं दो मत नहीं।"[1] स्वामी रामतीर्थ ने इस 'नक़द धर्म' की परिभाषा के भीतर सत्य बोलना, ज्ञान-संपादन करना और उसे आचरण में लाना, स्वार्थ से रहित होना,

---

१. स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश, जिल्द दूसरी, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ, १९३९, पृ० २०९-२१।

संसार के लालच तथा धमकियों के जादू में आकर वास्तविक चिद्रूप को न भूल जाना तथा स्थिर स्वभाव रहना आदि की चर्चा की है।

धर्म का स्वरूप

स्वामी रामतीर्थ ने एक बार धर्म के संबंध में किसी के प्रश्न करने पर उत्तर में लिखा था, "धर्म अपना आप उद्देश्य है और वही सारी विद्याओं का भी लक्ष्य तथा अंतिम निष्कर्ष वा परिणाम है।" इन्होंने उसे चित्त की उस 'बढ़ी-चढ़ी अवस्था' का आधार बतलाया था, जिसके द्वारा शांति, सतोगुण, उदारता, प्रेम, भक्ति तथा ज्ञान हमारे लिए स्वाभाविक वा निजी बन जायँ। धर्म के द्वारा मनुष्य के जीवन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाना चाहिए। ऐसी स्थिति का अनुभव होने लगना चाहिए जिसमें "हमारी रहन-सहन (आचार-व्यवहार), वाणी और विचार एक परिच्छिन्न शरीर और उसके दास की दृष्टि (देहाध्यास) से न रहें, वरन् सर्वव्यापी विश्वात्मा और जगत् प्राण की दशा हमारी दशा हो जाय।" "धर्म का प्राण हृदय का पिघलना या घुलना है, खुदी (देहात्मभाव) के स्थान पर खुदाई (ब्रह्मभाव) का आ जाना है। यह एक मात्र है और वह किसी प्रकार बदलने के योग्य नहीं। धर्म के शरीर वा वाह्यरूप कई हो सकते हैं और देश, काल तथा अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं। सर्वसाधारण धर्म के इस वाह्यरूप को ही अपना कर सामाजिक रीति-रिवाज, धार्मिक ग्रंथ, परलोक-संबंधी विचार वा वादविवाद के फेर में पड़े रह जाते हैं। उनका हृदय उक्त प्रकार से पिघलने नहीं पाता, जिस कारण उन्हें धर्म को बदलने तक की आवश्यकता पड़ जाती है।"[1] स्वामी रामतीर्थ ने इस प्रकार संतों के मुख्य अभिप्राय को ही अपने शब्दों द्वारा प्रकट किया था। इनके जीवन का प्रधान उद्देश्य भी संत-मत के ही अनुसार व्यवहार करना था। इन्होंने अपने अल्पकालीन सात्विक जीवन में ही एक अत्यंत उच्च कोटि का आदर्श सबके सामने रख छोड़ा।

(२) महात्मा गाँधी (सं० १९२६ : सं० २००४)

क. संत गाँधी : जीवन-वृत्त

संत-परंपरा के साथ महात्मा गाँधी के किसी प्रत्यक्ष संबंध का पता नहीं चलता, किंतु इसमें संदेह नहीं कि ये उन महान् व्यक्तियों में से ही एक थे। इनकी आस्तिकता, विश्व-कल्याण की भावना, मानव-समाज की एकता में पूर्ण

---

१. स्वामी रामतीर्थ के लेख व उपदेश, जिल्द दूसरी श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ, पृ० १९४-९५, २०३-४।

विश्वास, विचार-स्वातंत्र्य, स्वानुभूति के प्रति आस्था, वाह्य विडंबनाओं से असंतोष, सार्वभौम विचार, विश्व-प्रेम तथा सबसे बढ़ कर अपने शुद्धाचरण द्वारा सिद्ध किया, आदर्श तथा व्यवहार का सामंजस्य संतों के ही अनुसार थे। ये अपने को सदा एक धार्मिक व्यक्ति ही मानते रहे और अपने धार्मिक दृष्टिकोण के ही अनुसार इन्होंने मानव-जीवन के प्रत्येक अंग पर विचार किया। इन्होंने ठेठ सामाजिक प्रश्नों से लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं तक को उसी धार्मिक भावना के साथ हल करने का यत्न किया। इन्होंने घोर भौतिकवाद के युग में भी आध्यात्मिक धारणाओं का महत्त्व प्रतिष्ठित करना चाहा। अपने चरित्रबल तथा एकांतनिष्ठा के सहारे सर्वसाधारण का ध्यान एक बार फिर उन बातों की ओर आकृष्ट कर दिया जो वर्तमान समय के लिए सदा निरर्थक समझी जाती रहीं। इन्होंने संत की अनेक स्वीकृतियों को खुले हृदय से अपनाया। उनकी उपयोगिता का स्वयं अनुभव कर उन्हें दूसरों के लिए भी आवश्यक ठहराया। मनुष्य की नैसर्गिक महानता का इन्होंने उसे फिर एक बार स्मरण दिलाया। अपनी सुप्त शक्तियों को जागृत तथा विकसित करने के लिए उसे एक बार फिर सचेत किया। संसार के भीतर प्रतिदिन दीख पड़नेवाले दुःखों को दूर करने के लिए उसे कटिबद्ध होना भी सिखलाया। महात्मा गाँधी भी संतों की ही भाँति स्वर्ग तथा नरक का कहीं अन्यत्र होना नहीं मानते थे, न मोक्ष के लिए परिवार के त्याग को आवश्यक समझते थे। इन्होंने विविध विपद्ग्रस्त भूतल को ही स्वर्ग बनाने का यत्न किया तथा व्यक्तिगत मोक्ष और विश्व-कल्याण में सामंजस्य प्रदर्शित किया।

प्रारंभिक प्रवृत्तियाँ

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म आश्विन बदी १२ संवत् १९२६ : २ अक्तूबर सन् १८६९ ई० को पोरबंदर वा सुदामापुरी में हुआ था। इनके पिता एक व्यवहारकुशल, किंतु निःस्पृह तथा चरित्रवान् व्यक्ति थे और इनकी माता का भी स्वभाव धार्मिक था। बालक मोहनदास पर अपने माता-पिता के आचरणों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। ये उनके प्रति श्रद्धा के भाव अपने बचपन से ही प्रदर्शित करने लगे थे। इन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि अपनी छोटी अवस्था में ही इन्हें 'श्रवणपितृ भक्ति' नाम की एक पुस्तक पढ़ने को मिल गई थी। इन्होंने किसी तसवीर में देखा था कि श्रवण अपने माता-पिता को काँवर में बैठा कर तीर्थ-यात्रा के लिए ले जा रहे हैं, जिसका प्रभाव इनके कोमल हृदय पर पड़े बिना न रह सका। इसी प्रकार, एक

बार किसी नाटक-कम्पनी द्वारा प्रदर्शित 'हरिश्चन्द्र नाटक' के खेल ने भी इन्हें बहुत प्रभावित किया था और ये हरिश्चन्द्र का अनुसरण करना अपना कर्त्तव्य मानने लगे थे। स्कूल में पढ़ते समय इन्हें जितनी लज्जा का अनुभव अपने पाठ के याद न कर सकने में होता था, उससे कहीं अधिक सदाचरण में चूकने से हुआ करता था। एक बार अपने पिट जाने के संबंध में लिखते हुए उन्होंने स्वयं कहा है, "मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा, किंतु इस बात का दुःख हुआ कि मैं दंड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूट कर रोया। यह घटना पहली या दूसरी कक्षा की है।"[१] इसी प्रकार अपने माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार ने इनकी अपने एक मित्र के कारण पड़ी हुई मांस-भक्षण की आदत को भी छुड़ा दिया था और ये अपने को अधिक बहकने से सँभाल सके थे।

विलायत के अनुभव

सं० १९४४ में मैट्रिक पास करने के अनंतर ये बैरिस्टरी पास करने के लिए विलायत भेजे गए। इनकी धर्मभीरु माता ने इनके चरित्र पर किसी-न-किसी प्रकार का धब्बा लग जाने की आशंका से इनसे घर छोड़ने के पहले ही तीन प्रतिज्ञाएँ करा ली थीं। इनमें से एक मांस-भक्षण न करने की, दूसरी मदिरा-सेवन से विरत रहने की और तीसरी पर-स्त्री प्रसंग न करने की थी। इन्होंने इन तीनों का पालन किया। जब कभी इनके सामने वहाँ इस प्रकार का कोई अवसर उपस्थित होता, इन्हें अपनी माता के शब्द स्मरण हो आते और ये सँभल जाते। इस प्रकार के संयत जीवन ने इन्हें क्रमशः प्रलोभनों की ओर से बचा कर इनकी मनोवृत्ति को सादे जीवन की ओर उन्मुख भी किया। वहाँ के विलासितापूर्ण समाज में रहते हुए भी इन्होंने अपने भोजन तथा रहन-सहन के विषय में मितव्ययिता स्वीकार की और ये नियम के साथ रहने लगे। उसी समय इन्हें अपने किन्हीं थियासोफिस्ट मित्रों की प्रेरणा से 'गीता' का अँगरेजी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला, जिसका इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। तब से ये अपने हिन्दू-धर्म के अन्य ग्रंथों को पढ़ने के लिए भी उत्सुक हुए और धार्मिक जीवन के वास्तविक रहस्य को समझने की ओर प्रवृत्त भी हुए। सं० १९४८ में इन्होंने बैरिस्टरी पास कर ली। उसी वर्ष वहाँ से भारत के लिए प्रस्थान भी कर दिया।

दक्षिण अफ्रीका के कार्य

भारत में आते ही उन्होंने राजकोट में वकालत आरंभ कर दी और फिर

---

१. संक्षिप्त आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, १९३०, पृ० ९।

थोड़े दिनों के लिए बंबई में भी काम किया। परन्तु कुछ ही समय के अनंतर इन्हें सं० १९५० में दक्षिण अफ्रीका के लिए चल देना पड़ा। वहाँ अपनी जीविका चलाने के साथ-साथ इन्हें लोक-सेवा का भी अवसर मिलने लगा। दक्षिण अफ्रीका में रहते समय इनके जीवन में इतना परिवर्तन हो गया कि अपनी जीविका अथवा घर-गृहस्थी के कार्य इनके लिए क्रमशः गौण से जान पड़ने लगे। इनकी प्रायः प्रत्येक दैनिक चेष्टा जन-सेवा के भावों द्वारा ही प्रेरित होने लगी। उस देश में भी सादे जीवन, स्वास्थ्य तथा भोजन-विज्ञान के प्रश्नों में इनकी रुचि बनी रही। इन विषयों के अध्ययन तथा तदनुकूल प्रयोगों के आधार पर इन्होंने कुछ लेख भी लिखे। दक्षिण अफ्रीका में ये २० वर्षों से अधिक समय तक रहे और बीच-बीच में कभी-कभी भारत भी आ जाते रहे। उस देश में रहते समय इन्हें अपने प्रवासी भारतीय भाइयों की विविध समस्याओं के सुलझाने में अनेक बार सक्रिय भाग लेना पड़ा जिससे इन्हें बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ। फिर भी सं० १९६१ की एक साधारण-सी घटना ने इनके जीवन में महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला। यह बात एक पुस्तक के पढ़ लेने मात्र से थी। मिस्टर पोलक नाम के इनके एक मित्र ने अँगरेज लेखक रस्किन की पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' इन्हें देखने को दी जिसे इन्होंने आद्योपांत पढ़ डाला। इनका कहना है, "जो चीज मेरे अंतरतर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किन के इस ग्रंथ में देखा। इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य बना लिया तथा अपने विचारों के अनुसार मुझसे आचरण करवाया।"[१] इस पुस्तक का इन्होंने 'सर्वोदय' नाम से गुजराती-अनुवाद भी कर डाला है।

कायापलट तथा संयत जीवन

उक्त पुस्तक का अध्ययन कर लेने के अनंतर इनके विचार इतने स्पष्ट तथा परिष्कृत हो गए कि इन्होंने उनके अनुसार अपने जीवन को ही बदल डाला। उसी वर्ष इन्होंने फिनिक्स में एक आश्रम की स्थापना की जहाँ से इनका 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र भी प्रकाशित होने लगा। आश्रमवासियों को यथासंभव सभी प्रकार के कार्य आवश्यकतानुसार करने पड़ते और स्वावलंबन का अभ्यास डालना पड़ता। आश्रम की सफाई, उसमें काम आनेवाली उपयोगी वस्तुओं को भरसक स्वयं तैयार करना, अनुशासन के प्रभाव में रहना और सभी प्रकार से एक सादा तथा सात्विक जीवन व्यतीत करना वहाँ के प्रत्येक निवासी का परम कर्त्तव्य समझा जाता था जिसे वे सभी सहर्ष पालन करते थे। महात्मा गाँधी ने यहीं रह कर

---

१. संक्षिप्त आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, पृ० ८७।

अपने जीवन का कार्यक्रम निश्चित किया। उसमें पूरी सफलता प्राप्त करने की इच्छा से सं० १९६३ में उसके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत पालन आरंभ कर दिया। इन्होंने क्रमशः दूध का त्याग किया, उपवास के प्रयोग आरंभ किये और इस प्रकार एक आदर्श संयत जीवन का सूत्रपात कर दिया। आश्रम के निवासी एक संयुक्त परिवार के रूप में रहते थे और उनमें प्रायः सभी भारतीय प्रांतों, जातियों तथा सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित थे। उन सबके अगुआ ये ही थे। उनकी भिन्न-भिन्न भाषाओं, उनकी भिन्न-भिन्न रहन-सहन तथा भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में बड़े सुंदर ढंग से हो जाता था। किसी भी वर्ग के व्यक्तियों को कभी इस बात का अनुभव नहीं हो पाता था कि हम किसी प्रकार के प्रतिकूल वातावरण में जीवन-यापन कर रहे हैं।

भारत में कार्य

महात्मा गाँधी सं० १९७१ तक दक्षिण अफ्रीका में रह कर वहाँ के भारतीय प्रवासियों के उपकारार्थ अनेक काम करते रहे। फिर वहाँ से भारत में लौट कर इन्होंने गोखले के परामर्शानुसार यहाँ के लोगों की वास्तविक दशा का अध्ययन करना आरंभ किया। तदनुसार ये सारे देश में भ्रमण करने लगे। ऐसे ही अवसर पर इन्होंने (सं० १९७२) साबरमती में अपना 'सत्याग्रह-आश्रम' खोला जिसे केन्द्र बना कर ये इधर-उधर घूमते थे। आश्रम में इन्होंने सूत कातने तथा वस्त्र बुनने का कार्य भी आरंभ कर दिया। ये शुद्ध स्वदेशी के प्रचारार्थ लोगों को उपदेश देने लगे। इन्होंने गिरमिट प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चलाया।" चंपारन के निलहे गोरों के अत्याचारों को दूर करने का यत्न किया और खेड़ा के किसानों को सविनय-अवज्ञा के लिए आगे बढ़ाया। इस समय तक महात्मा गाँधी का संपर्क राष्ट्रीय काँग्रेस के साथ भी हो चुका था और अपने विचारों का प्रचार ये उसके अधिवेशनों में करने लगे थे। अब समय-समय पर इनकी बातों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। इन्होंने 'रौलेट ऐक्ट' के विरुद्ध स्वदेश वासियों को उत्तेजित कर सं० १९७७ में असहयोग-आंदोलन चलाया। इस कारण इन्हें छह वर्षों की सजा पाकर जेल जाना पड़ा। इसी प्रकार सं० १९८७ में इन्होंने सविनय-अवज्ञा का आरंभ डंडी में नमक बना कर किया। अंत में सं० १९९२ में काँग्रेस से पृथक् होकर अपने कार्य करने लगे। इनके कार्यक्रम के अंतर्गत इस समय हिन्दू-मुस्लिम-एकता, खद्दर-प्रचार, हरिजनोद्धार तथा स्वराज्य-प्राप्ति की बातें प्रधान रूप से रह गई थीं जिनके लिए ये सदा लेख लिखते और व्याख्यान देते रहे। इसके सिवाय इनका ध्यान इस समय विशेष रूप से धार्मिक बातों के प्रचार की ओर भी आकृष्ट हो गया था। ये नित्यप्रति सायंकाल ईश-प्रार्थना किया करते

जिसमें इनके साथ अनेक नर-नारी सम्मिलित हुआ करते और प्रार्थना के अनंतर इनका प्रवचन भी सुना करते। ऐसे ही अवसर पर एक दिन इनके प्रार्थना-मंडप में आते समय एक नवयुवक ने इन पर गोली चला दी और उस दिन माघ बदी ५ सं० २००४ को दिल्ली में इनका देहांत हो गया।

ख. महात्मा गाँधी का मत

सत्य का अनुभव

महात्मा गाँधी ७८ वर्षों से भी अधिक जीवित रहे। किंतु जब से इन्हें चेतना मिली ये निरंतर आत्म-विकास के कार्य में संलग्न रहे और अपने जीवन को अपने उच्चादर्शों के अनुसार ढालते हुए आत्मोन्नति के साथ-साथ विश्व-कल्याण की ओर भी अग्रसर होते गए। इनका कहना था "मैंने सत्य को जिस रूप में देखा है और जिस राह से देखा है, उसे उसी राह से बताने की हमेशा कोशिश की है। मै सत्य को ही परमेश्वर मानता हूँ।" इस सत्य को पाने की इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्र में घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई संबंध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूँ कि वे धर्म को नहीं जानते। मेरा विश्वास है कि यह बात कह कर मैं किसी विनय की सीमा का उल्लंघन नहीं कर रहा हूँ।

आत्म-शुद्धि

महात्मा गाँधी का तत्त्वज्ञान आध्यात्मिक होने की अपेक्षा नैतिक अधिक है।[1] इनका कहना है, बिना आत्म-शुद्धि के प्राणिमात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता और आत्म-शुद्धि के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। चूँकि अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथ के सारे क्षेत्र में शुद्धि की जरूरत रहती है। इस तरह की शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यक्ति और समष्टि के बीच इतना निकट संबंध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि का कारण बन जाती है। व्यक्तिगत कोशिश करने की ताकत तो सत्यनारायण ने सब किसी को जन्म ही से दी है। लेकिन मैं तो पल-पल पर इस बात का अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्धि होने का मतलब तो मन से, वचन से और काया से निर्वि-

1. "One thing is certain that since the day of Buddha no Indian with the possible exception of Kabir, has attached so much importance or grown so eloquent over pure morality as Gandhiji Prof. Wadia (Indian Philosophical Congress).

कार होना, रागद्वेषादि से रहित होना है। इस निर्विकार स्थिति तक पहुँचने के लिए प्रतिपल प्रयत्न करने पर भी मैं उस तक नहीं पहुँच सका हूँ। ...लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी है। सत्य के प्रयोग करते हुए मैंने सुख का अनुभव किया। आज भी उसका अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना पड़ेगा। जब तक मनुष्य खुद होकर अपने आपको सबसे छोटा नहीं मानता है, तब तक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रता की परकाष्ठा है, उसकी हद है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि इस तरह की नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिल सकती।"[1] आत्म-शुद्धि तथा समाज-सेवा इन दोनों को एक साथ चलना चाहिए और हमारे भीतर ऐसी एक प्रकार की सांस्कृतिक प्रवृत्ति जागृत हो जानी चाहिए।

सत्य के प्रयोग

उक्त उद्धरण महात्मा गाँधी की उस संक्षिप्त आत्मकथा का अंतिम अंश है, जो इनकी मृत्यु के कई वर्ष पहले लिखी गई थी। उसके वृहत् तथा मूल संस्करण का नाम इन्होंने 'मेरे सत्य के प्रयोग' दे रखा था। इसमें इन्होंने अपने जीवन द्वारा समाज की प्रयोगशाला में किये हुए सत्य के विविध प्रयोगों के विवरण दिये थे। इनका सारा जीवन एक सच्चे साधक का जीवन रहा जिसे आत्म-शुद्धि की सहायता से इन्होंने उक्त प्रयोगों के लिए सदा उपयोगी सिद्ध करना चाहा। ये प्रति पल उसके निर्माण में लगे रहते और अत्यंत सावधानी के साथ उसमें समय-समय पर आवश्यक सुधार भी करते जाते। मानव-जीवन के महत्त्व पर इन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ विचार किया था। इसी कारण उसके क्षुद्रातिक्षुद्र अंग को भी सँभालने तथा सुव्यवस्थित करने में ये सदा दत्तचित्त रहा करते थे। इनकी सर्वांगीण साधना संत दादूदयाल की पूर्णांग साधना से कहीं अधिक व्यापक जान पड़ती है। इनके आत्म-विकास का ध्येय भी गुरु नानकदेव के आदर्शों से कहीं अधिक स्पष्ट तथा व्यवहारगम्य लक्षित होता है। ये एक सच्चे कलाकार की भाँति जीवन को अधिक-से-अधिक सुंदर स्वरूप देने के यत्न किया करते थे। इनके सत्य के प्रयोग इस कारण न केवल समाज के अंतर्गत किये गए, प्रत्युत इनके जीवन का निर्माण भी उन्हीं प्रयोगों का परिणाम रहा। जिस प्रकार पृथ्वी का ग्रह अपनी धुरी पर अपने आप घूमता हुआ भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार सूर्य के चतुर्दिक चक्कर काटता रहता है और इस प्रकार एक साथ दो-दो कार्य नियमपूर्वक होते चलते हैं, उसी भाँति महात्मा

---

१. संक्षिप्त आत्मकथा, सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली, सन् १९३९, पृ० २४६-४८।

गाँधी आत्म-शुद्धि की साधना के साथ-साथ समाज तथा विश्व के कल्याण की चेष्टा भी प्रायः समानांतर ढंग से करते गए। इस प्रकार अपनी अनेक भावनाओं को ये कार्य-रूप में परिणत कर सके।

मानव-जीवन की एकता

महात्मा गाँधी को मानव-जीवन की एकता वा अभिन्नता तथा दृढ़ विश्वास था। उनका कहना था, "मैं यह नहीं समझ पाता कि किस प्रकार किसी एक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास संभव हो सकता है, जब कि उसके पड़ोसी दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं। मैं अद्वैत में आस्थावान् हूँ। मुझे मनुष्य की एकता तथा उसी के अनुसार सारे प्राणियों की भी एकता में विश्वास है। अतएव मेरी धारणा है कि यदि एक मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करता है, तो सारा विश्व उसके साथ लाभ उठाता है। यदि एक का पतन होता है, तो उसी प्रकार संसार भी गिर जाता है।"[१] इसके सिवाय "मनुष्य का अंतिम उद्देश्य परमात्मा की उपलब्धि है, जिसकी ओर ध्यान रखते हुए उसे अपनी प्रत्येक चेष्टा को चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक हो वा धार्मिक हो, उन्मुख करना कर्त्तव्य हो जाता है। सारी मानव-जाति की सेवा उसके लिए इस कारण आवश्यक हो जाती है कि परमात्मा को उसकी सृष्टि के अंतर्गत ही पाना और उसके साथ एकता का अनुभव करना संभव है। जब मैं संपूर्ण का एक अंग-मात्र हूँ, तब उससे अलग रह कर मेरा परमात्मा की खोज करना हो नहीं सकता। इसी कारण सबकी सेवा का महत्त्व है।"[२]

धर्म का रहस्य

इसी प्रकार ये धर्म के वास्तविक रहस्य को प्रकट करते हुए भी कहते हैं, "धर्म वही है, जिसके द्वारा मनुष्य के ठेठ स्वभाव में परिवर्तन हो जाय, जो उसे सत्य के साथ सदा के लिए जोड़ दे और जो उसे बराबर शुद्ध तथा पवित्र करता रहे। यह मानव-स्वभाव का एक स्थायी अंग है जो अपने को पूर्णतः व्यक्त करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखता और जो आत्मा को परमात्मा के साथ मिल जाने और उसके साथ सच्चे संबंध का अनुभव करने के लिए आतुर तथा बेचैन कर देता है।"[३] धर्म का संबंध केवल आदर्शों से न होकर व्यावहारिक बातों के साथ ही अधिक रहा करता है। धर्म यदि व्यावहारिक बातों की परवा नहीं करता, न उनकी समस्याओं के सुलझाने में सहायक होता है, तो वह धर्म नहीं है। कोई कार्य जितना

---

१. यंग इंडिया (४.१२.२४) पृ० ३९८।
२. हरिजन (२९-८-३५) पृ० २३६।
३. 'यंग इंडिया' (१२-५-२०) पृ० १०७०।

ही आध्यात्मिक वा धार्मिक होगा, उतना ही उसे व्यावहारिक भी होना चाहिए। वास्तव में "परलोक जैसा कोई भी स्थान कहीं नही है। सारा विश्व एक तथा अखंड है। इसमें 'यहाँ' वा 'वहाँ' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा जींस ने बतलाया है और सपूर्ण विश्व, जिसमें दूर-से-दूर तक के नक्षत्र तथा तारे शामिल है और जो बड़े-से-बड़े दूरवीक्षण-यंत्र से भी दीख नहीं पड़ता, एक परमाणु के भीतर संकुचित है। इसलिए मैं ऐसा समझ लेना अनुचित मानता हूँ कि अहिंसा का उपयोग कंदरा के निवासियों तक ही सीमित रहना चाहिए अथवा परलोक में इसके द्वारा एक बहुत अच्छा स्थान मिला करता है। कोई भी नैतिक गुण तब तक अपना कोई अर्थ नहीं रखता जब तक उसका उपयोग भी जीवन के प्रत्येक क्षण में न किया जाता हो। स्वर्ग को भूतल पर उतारने का वास्तविक रहस्य यही हो सकता है।"[१] इस विचार से सभी धर्म वा सम्प्रदाय एक ही उद्देश्य की सिद्धि अर्थात् हृदय-परिवर्तन का कायापलट के लिए निश्चित किये गए भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। वास्तव में धर्मों की संख्या उतनी ही कही जा सकतीं है जितनी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की होगी। यदि कोई मनुष्य अपने धर्म के मूल तक पहुँच पाये, तो उसे प्रतीत होगा कि वह सभी धर्मों की तह तक पहुँच गया। धर्म एक व्यक्तिगत बात है और हम लोग अपने आदर्शानुसार जीवन-यापन कर अन्य के साथ भी अपनी सर्वोत्तम वस्तु का आनंद उठा सकते हैं।

पूर्ण सत्य का स्वरूप

महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का उद्देश्य बतलाते हुए भी कहा है, "मैं पूर्णता की उपलब्धि में निरत एक साधारण साधक हूँ। मैं उसके मार्ग से भी परिचित हूँ, किंतु केवल मार्ग का ज्ञान मात्र प्राप्त कर लेना ही अपने उद्देश्य तक पहुँच जाना भी नहीं कहा जा सकता।"[२] "पूर्णता तो ज्यामिति की रेखा अथवा विंदु की भाँति कोरे आदर्श की बात है जिसके लिए हमें अपने जीवन के प्रत्येक पल में यत्न करते रहना चाहिए।" सत्य के पूर्ण स्वरूप का हम अनुभव नहीं कर सकते, अपनी कल्पना द्वारा उसे दृष्टिगत मात्र कर सकते हैं। इसी कारण हमें हार मान कर केवल विश्वास पर निर्भर रहना पड़ता है। सत्य का एक निरपेक्ष रूप है जो देश-काल की सीमा से परे और अबाधित है। उस नित्य वस्तु को हम केवल 'अस्तित्व' की भी संज्ञा दे सकते हैं, किंतु उसी का एक अन्य रूप सापेक्ष भी हो सकता है। उसे हम उस वस्तु की उपलब्धि के मार्ग में अपनी पहुँच के अनुसार ग्रहण कर पाते हैं, जितना

---

१. हरिजन, २६-७-४२, पृ० २४८।

२. यंग इंडिया ३-४-२४।

कि हमारे लिए संभव कहा जा सकता है। सत्य ही ईश्वर है जो न केवल हमारे अंतस्थ है, किंतु हमारे परे भी है। जो न केवल सारे विश्व का जीवन है, प्रत्युत इसके बाहर भी रहनेवाला तथा इसका स्रष्टा, पालनकर्त्ता तथा न्यायकर्त्ता भी है। इसी कारण इन्होंने उसके व्यक्तित्व की कल्पना भी की है। उसे शक्ति, विचार तथा प्रेम से संपन्न भी समझा है। वह सर्वत्र व्यापक है और उसी के नियमानुसार बड़े-से-बड़े अथवा छोटे-से-छोटे भी कार्य हुआ करते हैं।

अंतःकरण की प्रवृत्ति

ईश्वर को इन्होने कभी-कभी अपने अंतःकरण की 'आवाज' कह कर भी सूचित किया है। इस संबंध में एक स्थल पर इन्होंने लिखा है, "जब मैंने अछूतोद्धार के लिये २१ दिनों का अनशन किया था, उस समय की बात है। मैं सो रहा था। मुझे लगभग १२ बजे रात के समय किसी ने जगाया और किसी आवाज ने अचानक मेरे कानों में कहा, 'तू अवश्य अनशन कर'। मैने पूछा, 'कितने दिनों तक ?' उसने कहा '२१ दिनों तक।' मैंने फिर पूछा, 'कब से आरंभ करूँ ?' उसने उत्तर दिया, 'कल से आरंभ कर दो।"[1] मेरा मन इसके लिए तैयार नहीं था और इससे भागता भी था, किंतु यह घटना इतनी स्पष्ट थी, जितनी अन्य कोई भी हो सकती है।"[2] इसी प्रकार के एक और अनुभव का भी बहुत स्पष्ट वर्णन इन्होने एक दूसरे स्थल पर किया है।[3] फिर भी महात्मा गाँधी की आस्तिकता साम्प्रदायिक नहीं, न उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता ही पायी जाती है। इस विषय में इनके विचार अत्यंत उदार हैं। ईश्वर को ये सत्य-स्वरूप तो मानते ही हैं, उसे प्रेम, नियम, अंतःकरण की प्रवृत्ति, नैतिक आधार, विशुद्ध तत्त्व आदि अन्य अनेक नामों से भी सूचित करते हैं। एक स्थल पर इन्होंने यहाँ तक कह डाला है, "ईश्वर अपने प्रति अधिक-से-अधिक सीमा तक की गई 'आस्था' के सिवाय और कुछ नहीं है।"[4] "हम किसी एक सिद्धांत को मानते हैं, अपने जीवन का रंग उस पर चढ़ा देते हैं और कह देते हैं कि यही हमारा ईश्वर है। मैं तो इतना ही पर्याप्त समझता हूँ।"[5] महात्मा गाँधी के लिए इसी कारण मनुष्य तथा ईश्वर में भी कोई मौलिक भिन्नता नहीं है।

---

१. हरिजन (१०-१२-३८) पृ० ३७३।
२. वही, (१४-५-३८) पृ० ११०।
३. वही, ६-५-३३।
४. यंग इंडिया (भाग २) पृ० ४२१।
५. हरिजन (३०-३-३४), पृ० ५५।

राम

ईश्वर के लिए भिन्न-भिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, "किंतु ऐसे नाम उसके व्यक्तित्व के बोधक नहीं, उसके गुणों के परिचायक मात्र हैं, जिन्हें अपने अनुभव के अनुसार निर्धारित कर मनुष्य ने उसे दे रखा है। वह स्वयं सारे गुणों से परे है, वह अनिर्वचनीय है। उसे हम अपनी किसी तौल की सीमा में नहीं ला सकते।"[१] "मेरे राम, जो हमारी प्रार्थना के समय स्मरणीय किये जाते है, वह ऐतिहासिक राम नहीं जो अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र थे। मेरे राम तो नित्य अजन्मा और अद्वितीय हैं। मैं उन्हीं की उपासना करता हूँ। मैं उसी का अवलंब चाहता हूँ और आप लोगों को भी उसी का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"[२] "वह कालातीत, निराकार, निष्कलंक है और वही राम मेरा प्रभु और शासनकर्त्ता है।"[३] "मैं पहले सीता के पति राम की ही उपासना करता था, किंतु जैसे-जैसे मेरा अनुभव बढ़ता गया, मेरे राम अमर तथा सर्वव्यापी होते गए इसका अर्थ यह नही कि राम सीता के पति नही रह गए, किंतु सीतापति राम का अभिप्राय क्रमशः अधिक-से-अधिक व्यापक होता गया। तदनुसार उनका स्वरूप भी मेरी दृष्टि में अधिक-से-अधिक व्यापक होता गया। जगत् का विकास इसी प्रकार होता है।"[४] इस प्रकार सत्य ही वास्तव में राम, नारायण, ईश्वर, खुदा, अल्लाह वा गॉड है और उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं।"[५]

रामनाम की साधना

महात्मा गाँधी ने राम का प्रतीक रामनाम को बतलाया है। उन्होंने कहा है कि वह सत्य को सूचित करता है। "ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं, वह सर्वत्र व्याप्त है, सर्वशक्तिमान है। उसे जो कोई अपने भीतर अनुभव करता है, वह एक विचित्र शक्ति द्वारा अनुप्राणित हो जाता है, जो बिजली से भी कहीं अधिक शक्ति-संपन्न तथा सूक्ष्म है और उससे कहीं अधिक स्थायी प्रभाव भी डालती है।"[६] रामनाम का स्मरण अपने भीतर उस अपूर्व शक्ति का अस्तित्व जमाये रखने का आवश्यक साधन है, जिसका अभ्यास यथासंभव निरंतर होना चाहिए। हृदय से रामनाम लेने का अभिप्रायः एक अतुलनीय शक्ति से बल ग्रहण करना है। इसमें हृदय का ही महत्त्व अधिक है, बुद्धि तो उसके अनंतर काम देती है। "प्रार्थना के

१. हरिजन १२-८-३८। २. वही, ८-४-४६।
३. वही, १४-११-४७। ४. वही, २२-६-४६।
५. यंग इंडिया १४-८-२४।
६. रामनाम : दि इनफैलिबुल रेमेडी, कराची, १९४७ ई०, पृ० ८७।

समय शब्दोच्चारण से कहीं अधिक आवश्यकता हृदय की ही होती है। प्रार्थना उस अंतरात्मा की स्पष्ट प्रत्युत्तर में होनी चाहिए जो इसके लिए आर्त्त रहा करती है। एक भूखा मनुष्य जिस प्रकार सुभोजन पाकर उसका स्वाद आनंदपूर्वक लेने लग जाता है, उसी प्रकार भूखी आत्मा भी हृदय से उत्पन्न प्रार्थना से तृप्त हुआ करती है।"[१] ऐसी दशा में रामनाम के प्रत्येक बार का दुहराना एक नवीन अर्थ रखता है और हमें क्रमशः ईश्वर के निकट ले जाने में समर्थ होता है। "मैं तो एक ऐसे समय की प्रतीक्षा में हूँ जब कि रामनाम का स्मरण भी हमारे लिए बाधक सिद्ध होगा। जब मैं इस बात का पूर्ण अनुभव कर लूँगा कि राम हमारी वाणी से परे है, तब मुझे रामनाम के दुहराने की आवश्यकता ही न रह जायगी।"[२] रामनाम के स्मरण को सार्थक करने के लिए जीवन में वैसी सेवा का भी करना कर्त्तव्य है, जो वास्तव में राम के उपयुक्त हो। "रामनाम का हृदय से स्मरण किया जाना तभी कहा जा सकता है, जब कि सत्य, भाव-शुद्धि तथा पवित्रता का अभ्यास भी भीतर और बाहर दोनों ओर से कर लिया गया हो।"[३]

प्राकृतिक चिकित्सा

महात्मा गाँधी के अनुसार सारे ईश्वरीय नियम पवित्र जीवन में समाहित हैं। सबसे पहली बात अपनी त्रुटियों से परिचित हो जाना है जिसका तात्पर्य यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना चिकित्सक स्वयं बन जाना चाहिए और अपनी कमियों का पता लगा लेना चाहिए। प्राकृतिक चिकित्सा में भी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि जीवन के प्रति बने हुए अपने वर्तमान दृष्टिकोण में परिवर्तन तथा सुधार कर लिया जाय और अपने जीवन को स्वास्थ्य-संबंधी नियमों के अनुसार ढाल दिया जाय। "प्राकृतिक चिकित्सा का वैद्य स्वास्थ्य के अध्ययन को अधिक महत्त्व देता है। उसका वास्तविक कार्य वहीं से आरंभ होता है, जहाँ साधारण डाक्टर वा वैद्य का कार्य समाप्त होता है। रोगी के कष्ट को सर्वथा निर्मूल कर देना ही प्राकृतिक चिकित्सा का ध्येय है, जो दूसरे प्रकार से एक ऐसे जीवन का प्रारंभ है जिसमें किसी रोगको कोई स्थान न हो। प्राकृतिक चिकित्सा, इस प्रकार जीवन-यापन का एक मार्ग-विशेष है, किसी उपचार की क्रिया नहीं है।"[४] महात्मा गाँधी ने इसी कारण इस चिकित्सा-प्रणाली को दो भागों में विभक्त किया है, जिसका पहला अंश रोगों को दूर करने के लिए रामनाम के स्मरण को प्रधानता देता है। इसके दूसरे अंश का संबंध तात्त्विक तथा स्वास्थ्यप्रद जीवन द्वारा रोगों

---

१. यंग इंडिया (२३-१-३८)। २. वही, (१४-२-२४)।
३. हरिजन (२५-५-४६)। ४. वही, (७-४-४६)।

के दूर करने से है। "प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति को स्वीकार करना प्रकृति वा ईश्वर की ओर अग्रसर होना है, जिससे उसके प्रति क्रमशः आत्म-समर्पण करते हुए हम अपने विचारों तथा चेष्टाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं।"१

पूर्णतः व्यापक कर्यक्रम

महात्मा गाँधी के जीवन का कार्यक्रम अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत था। वे उसकी पूर्ति में आमरण निरत रहे। उन्होंने व्यक्तिगत तथा धार्मिक प्रश्नों को हल करने के लिए ब्रह्मचर्य, अहिंसा, निर्भीकता, साहस तथा सयत जीवन को अपनाया, आस्तिकता, प्रार्थना और रामनाम के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया। समाज की उन्नति के लिए अछूतोद्धार, जनसेवा, चरित्रबल, विश्वप्रेम, पारिवारिक जीवन, नारी-अधिकार, अनुशासन-जैसी बातों के महत्त्व को स्पष्ट किया। आर्थिक सुधार के लिए खादी-प्रचार, गोपालन, अपरिग्रह, मितव्ययिता आदि के उपदेश दिये। राजनीतिक संघर्ष में प्रयोग करने के लिए असहयोग, सत्याग्रह, सविनय-अवज्ञा जैसे साधनों की उपयोगिता सिद्ध कर दिखायी। ये स्वास्थ्य के लिए युक्ताहार विहार की आवश्यकता अनुभव करते थे। रोग-निवारण के लिए उपवास तथा प्राकृतिक चिकित्सा का आश्रय लेते थे। शिक्षा की उपयोगिता उसके स्वावलंबी तथा सच्चरित्र बनाने में ही माना करते थे। राष्ट्र-भाषा की एकता में विश्वास रखते और उसका प्रचार करते थे। भौतिकवाद तथा उसके दुष्परिणामों से बचने के लिए शुद्ध ग्राम्य-जीवन और पंचायत के आधार पर निर्मित 'रामराज्य' के आदर्शों की कल्पना करते थे। इनके 'सर्वोदय' का प्रधान उद्देश्य सत्य को यथासंभव आत्मसात् कर तथा उसके साथ तद्रूपता का अनुभव कर व्यक्तिगत जीवन में लायी गई पूर्णता द्वारा सामाजिक जीवन के स्तर को भी उच्चातिउच्च करना और इस प्रकार उसे विश्व-कल्याण के योग्य बना देना था। 'सर्वोदय' ही उनके अनुसार जीवन तथा समाज के सामूहिक उदय और विकास का विज्ञान है। इसे कार्यान्वित करना प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। उसे व्यवहार में लाने की इन्होंने भरपूर चेष्टा की और उसकी सिद्धि के लिए एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति यत्नशील रहते हुए ही इन्होंने अपना शरीर छोड़ा।

७. उपसंहार

सिंहावलोकन

भारतीय साधना के इतिहास से पता चलता है कि प्राचीन वैदिक काल से लेकर विक्रम की लगभग ८वीं—९वीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न प्रकार की साधना—

१. हरिजन, २९-५-४६।

पद्धतियाँ प्रयोग में आती रही थी। उनके कारण साधक-समुदाय के अंतर्गत बहुधा भेद-भाव भी प्रकट होते आए थे। वैदिक काल में प्रकृति की उपासना की गई, पितरों का पूजन हुआ, यज्ञो के विधान बनाये गए और कभी-कभी जादू-टोने तक से भी काम लिया गया। इन बातों में पूरी आस्था न रखनेवालों ने फिर उसी समय के लगभग तपोविद्या, एकांत-सेवन, चिंतन तथा श्रद्धामयी भक्ति को अपनाया और बहुत-से साधकों ने केवल इन्हीं की उपयोगिता में पूर्ण विश्वासन रखते हुए शुद्ध आचरण को भी अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार साधना-पद्धतियों की इस अनावश्यक वृद्धि को श्रेयस्कर समझनेवाले व्यक्ति इनके पारस्परिक समन्वय की ओर प्रवृत्त हुए। 'श्रीमद्भगवद्गीता' द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने ढंग मे एक प्रकार की 'ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक भक्ति' का प्रतिपादन कर इस ओर पथ-प्रदर्शन का कार्य आरंभ किया। परन्तु श्रीकृष्ण का उक्त सुझाव भी आगे चल कर विस्मृत-सा होने लगा और पशुबलि तथा शास्त्र-विधि के अत्यधिक अनुसरण की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुए बौद्ध तथा जैन धर्मो के कारण उपर्युक्त बातों के विवेचन की ओर एक बार ध्यान फिर से आकृष्ट हो गया। विक्रमकी प्रथम आठ शताब्दियों तक इस प्रकार प्राचीन वैदिक धर्म तथा उक्त धर्मो की भावनाओं में संघर्ष चलता रहा। दोनों दलो द्वारा अनेक प्रकार का आदान-प्रदान होते आने तथा कतिपय सुधारपरक आंदोलनोंके होते जाने पर भी संशय, मिथ्याचार, विडंबना और पाखंड का अस्तित्व नहीं मिट सका, प्रत्युत साधनाओं के क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकतासी लक्षित होने लगी।

वही

ऐसे ही अवसर पर स्वामी शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद तथा स्मार्त्त-धर्म का प्रचार आरंभ किया। बौद्ध धर्मावलंबी सहजयानी सिद्धों ने भी अपनी चित्त-शुद्धि तथा सहज-सिद्धि के कार्यक्रम को अधिक अग्रसर किया। स्वामी शंकराचार्य की पद्धति में प्राचीन धर्म-ग्रंथों का आश्रय लेकर चलना तथा प्रत्येक बात को पूर्व-परिचित मर्यादाओं के ही भीतर लाकर स्वीकार करना आवश्यक माना गया था। किंतु सिद्धों की प्रणाली इससे नितांत भिन्न तथा विरुद्ध थी और इनके विचारों के लिए पहले की भाँति कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि भी आवश्यक न थी। फिर भी इनके ही प्रचारों द्वारा प्रभावित 'नाथयोगी-सम्प्रदाय' का आविर्भाव हुआ जिसने शांकराद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतों को भी अपना लिया। इसी प्रकार प्राचीन भक्तिवाद का अनुसरण करनेवाले भक्तों ने भी उसी उद्देश्य से विविध वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों का प्रचार किया। विक्रम की ८वीं शताब्दी से लेकर उसकी १३वीं तक का समय इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की समन्वयात्मक चेष्टाओं में व्यतीत

हुआ। इस काल के अंत में कतिपय फुटकर व्यक्तियों ने भी उक्त ध्येय की उपलब्धि में सहायता प्रदान की। इसके सिवाय मुस्लिम देशों की ओर से आये हुए सूफ़ी-सम्प्रदाय के प्रचार-कार्य ने भी उक्त प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया। किंतु इन सबके यत्न वस्तुत: अधूरे ही जान पड़े और उन्ही की पूर्ति के लिए फिर उन सब पर विचार भी करते हुए अंत में संत-परंपरा की नींव डाली गई, जिसका स्पष्ट नेतृत्व कबीर साहब ने ग्रहण किया।

वही

संत-परंपरा के क्रम का सूत्रपात आज से प्राय: नौ सौ वर्ष पहले भक्त जयदेव के समय में ही हो चुका था। किंतु इसकी निश्चित रूप-रेखा उसके दो सौ वर्ष पीछे कबीर साहब के जीवन-काल में उनके क्रांतिकारी विचारों द्वारा प्रकट हुई। कबीर साहब तथा उनके पूर्ववर्त्ती तथा समसामयिक संतों की प्रवृत्ति अपने मत को किसी वर्ग-विशेष के साम्प्रदायिक रूप में ढालने की नहीं थी, न उन्होंने कभी इसके लिए यत्न किया। वे अपने विचारों को व्यक्तिगत अनुभव पर आश्रित समझते थे और सर्वसाधारण को भी उसी प्रकार स्वयं निर्णय कर लेने का उपदेश देते थे। परिस्थिति की निष्पक्ष आलोचना, उसके आधार पर निश्चित किये गए स्वतंत्र विचार और तदनुसार व्यवहार करना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। उसी के द्वारा वे विश्व-कल्याण में भी सहायता पहुँचाने में विश्वास रखते थे। परन्तु कबीर साहब के लगभग ५० वर्ष अनंतर और संभवत: गुरु नानकदेव के समय से संत-मत को अधिक व्यवस्थित रूप देने वा उसे प्रचारित करने की भी आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होनेवाले संतों ने अपने-अपने पंथों वा सम्प्रदायों का संगठन आरंभ कर दिया। इस प्रकार की योजना तब न्यूनाधिक मनोयोग के साथ प्राय: डेढ़ सौ वर्षों तक बनायी जाती हुई निरंतर चली आई। कदाचित् किसी भी प्रमुख संत को अपनी संस्था को किन्हीं संकुचित तथा संकीर्ण विचारों का एक पृथक् वर्ग स्थापित करने का भी अवसर नहीं मिला।

वही

परन्तु विक्रम की १८वीं शताब्दी अथवा संत बाबालाल के समय से संत-मत के प्रचारकों ने उसके तुलनात्मक अध्ययन की ओर भी ध्यान देना आरंभ किया। इसके महत्त्व की परीक्षा तब से अन्य प्रचलित मतों तथा सम्प्रदायों के विचारों के साथ भी की जाने लगी। किंतु इस निरे मूल्यांकन की प्रवृत्ति ने इसके अनुयायियों को क्रमश: अन्य समकालीन धर्मों के घनिष्ट संपर्क में भी ला दिया। उनकी विचार-धारा तथा विविध बाह्य पद्धतियों तक से इनका प्रभावित होना एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया। फिर तो संत-मतके अनुयायी प्राय: अन्य डेढ़ सौ वर्षों तक

भी अधिकतर अपनी-अपनी संस्थाओं के साम्प्रदायिक संगठन में ही लगे रह गए। इनका ध्यान जितना पारस्परिक भेदों की सृष्टि तथा सूक्ष्म बातों के विस्तार की ओर आकृष्ट हुआ, उतना अपने मत के मूल व्यापक सिद्धांतों वा सर्वांगीण साधनाओं की ओर न जा सका। इस समय के कुछ संतों ने इस प्रवृत्ति को सँभालने के लिए शुकदेव मुनि तथा कबीर साहब-जैसे महापुरुषों द्वारा अपना अनुप्राणित होना बतलाया। कुछ ने अपने नवीन अवतार धारण करने तक का विश्वास दिलाया तथा दूसरों ने आदर्श स्थिति के बहाने किसी काल्पनिक परलोक का आकर्षक वा अलौकिक चित्र खींच कर सर्वसाधारण को अपनी ओर लाने का प्रयास किया। किसी-किसी ने कर्मकाड की भी विस्तृत व्यवस्था कर उसकी ओर लोगों को प्रवृत्त करना चाहा। किंतु ऐसी बातों के कारण संत-मत की विशेषताएँ क्रमशः और भी लुप्त होती चली गई। इसके फलस्वरूप उसमें तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में कोई स्पष्ट अंतर नही रह गया। अतएव स्वयं कुछ संतों को भी यह कहने का अवसर मिलने लगा कि वास्तव में आज कबीर साहब द्वारा प्रदर्शित मार्ग छूट गया है और उनके अनुयायी कहे जानेवाले मानो प्रवंचित से हो रहे हैं। वही

फिर भी संत-मत के मूलतः सहज तथा सार्वभौम सिद्धांतों पर ही प्रतिष्ठित रहने के कारण उसके पुनरुत्थान का होना भी स्वाभाविक था। इस कारण विक्रम की गत उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्यकाल से ही इसके लक्षण दीख पड़ने लगे। संत-मत का क्षेत्र अब कोरा धार्मिक वा साम्प्रदायिक ही न बना रह कर पूर्ण आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक भी समझा जाने लगा और इसका रूप क्रमशः पलटने लगा। संत-मत किसी वर्ग-विशेष के निजी सिद्धांतों का संग्रह मात्र नहीं है, न वह किसी आदर्श-विशेष वा अमुक-अमुक उपदेशों वा संकेतों की कभी अपेक्षा ही करता है। उसके अनुयायियों की उक्त परंपरा भी केवल कतिपय संतों की एक विशिष्ट प्रणाली के कुछ काल तक अबाध रूप से निरंतर चलती आने के ही कारण स्थापित हुई नहीं समझी जा सकती है। संत-मत के मूल नियम वस्तुतः नित्य, सर्वव्यापक, सर्वोपयोगी तथा सर्वसुलभ हैं। उनके मानने के लिए केवल स्वतंत्र विचार, आत्मचिंतन, एकांतनिष्ठा तथा आदर्श और व्यवहार के सामंजस्य भर की आवश्यकता है। इसके लिए किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होना किसी प्रकार अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। इसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का शुद्ध-सात्विक जीवन है, जिसके द्वारा ही यह विश्वजनीन कल्याण तथा शांति की भी आशा रखता है। अतएव आधुनिक संतों ने न तो कबीर साहब के समय से आती हुई परंपरा का प्रत्यक्ष आश्रय ग्रहण करना आवश्यक माना, न किन्हीं अन्य महापुरुषों वा धर्मोपदेशों

की कभी दुहाई दी, प्रत्युत ऐसी बातों को कभी-कभी केवल तुलना मात्र के लिए ही सबके सामने रखा। अपने निजी विचारों तथा अनुभवों के आधार पर ही इसे अवलंबित बनाये रखने की चेष्टा की।

नयी प्रवृत्ति

संत-परंपरा के इस नवीन युग के प्रमुख संत महात्मा गाँधी कहे जा सकते हैं। इन्होंने अपनी योग्यता तथा तपस्या द्वारा संत-मत के महत्त्व की ओर सारे संसार का ध्यान अत्यंत स्पष्ट रूप में आकृष्ट कर दिया है। अपने जीवन के क्रमिक और कलात्मक विकास, उसके सर्वांगीण सुधार तथा उसके द्वारा उपलब्ध व्यापक परिणाम का उदाहरण इन्होंने सबके समक्ष रख दिया है। इन्होंने अपने आदर्श जीवन द्वारा सिद्ध कर दिया है कि पूर्ण संत का पद प्राप्त करने के लिए शारीरिक वा मानसिक साधनाओं का पृथक्-पृथक् अभ्यास करना उतना आवश्यक नहीं, न आध्यात्मिक उन्नति को मानव-जीवन का एक पृथक् अंग मान बैठना ही कभी उचित कहा जा सकता है। हमारे जीवन की पूर्णता की ओर सर्वांगीण विकास का एक साथ होना दुःसाध्य नहीं है। अतएव शारीरिक, मानसिक तथा धार्मिक जैसी व्यक्तिगत बातों से लेकर आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक तथा विश्वजनीन आवश्यकताओं की भी पूर्ति के लिए एक साथ प्रयास किया जा सकता है। इस सिद्धांत का मुख्य शिलाधार सारे विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता तथा उस सत्य की नित्यता और एकरसता में निहित है। इसके अस्तित्व में पूर्ण विश्वास रखना इस मार्ग के प्रत्येक यात्री के लिए संबल-स्वरूप है। क्योंकि उस दशा में ही किसी प्रकार के भ्रम वा धोखे का प्रवेश कभी संभव नहीं हो सकता।

संतों का महत्त्व

संत-परंपरा का साम्प्रदायिक क्रम विविध पंथों के रूप में इस समय भी वर्तमान है, यद्यपि संत-मत के मौलिक आदर्श उनमें आज पूर्ववत् लक्षित नहीं होते, न इससे प्रारंभिक युग की भावनाएँ अब उस प्रकार काम ही कर रही हैं। संतों के अनेक वर्ग अपनी-अपनी विशेषताएँ भूल कर आज हिन्दू-समाज के साधारण अंग में अपना अस्तित्व खोते-से जा रहे हैं। फिर भी इतना निश्चित-सा है कि जिस उद्देश्य को लेकर प्राचीन संतों ने अपना कार्य आरंभ किया था, उसका महत्त्व आज भी उसी प्रकार बना हुआ है। उसकी पूर्ति के लिए जब कभी यत्न किये जायँगे, उनके नाम एक बार अवश्य लिए जा सकते हैं, जिन्होंने इसके लिए अपने सुझाव दिये थे तथा जिन्होंने अपने उपदेशों वा आचरणों के द्वारा उन्हें कार्यान्वित करने का कुछ भी प्रयास किया था। कबीर साहब से लेकर महात्मा गाँधी के समय तक प्रायः छह सौ वर्षों का एक लंबा युग होता है जिसमें चरित्रबल की आवश्यकता,

स्वावलंबन के महत्त्व, समाजगत साम्य के आदर्श, विश्व-प्रेम तथा विश्व-शांति के स्वप्न की चर्चा करनेवाले अनेक महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है। ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में हम उन प्रमुख संतों को भी संकोच भाव के साथ रख सकते है जिनके परिचय पिछले पृष्ठों में दिये जा चुके हैं। उनके उद्देश्य, उनकी साधना, उनके यत्न तथा उनकी सफलता का उचित् मूल्यांकन उन सबके साथ ही किया जा सकता है।

भूतल पर स्वर्ग

इन संतों के वास्तविक रूप को ठीक-ठीक न पहचान सकने के कारण कुछ लोग इनके विषयमें बहुधा भ्रमात्मक बातें कह बैठते हैं। वे कह डालते हैं कि इन्होंने इहलोक की अपेक्षा किसी अमरलोक का आदर्श रखा था जिसके भुलावे मे पड़ कर लोग यहाँ की बातों से सदा उदासीन रहने लगे। इस प्रकार समस्याओ के पड़ने पर इन्होंने पलायन-वृत्ति भी प्रदर्शित कर दी। परन्तु उक्त प्रकार के काल्पनिक लोगों की सृष्टि किस संत ने कब और कहाँ पर की यह बतलाया नहीं जाता। हम देख चुके हैं कि कबीर साहब ने अपने वातावरण की आलोचना करते समय उसे भ्रम-जनित विचारों पर आश्रित ठहराया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जिन-जिन बातों को हम सत्य माने हुए बैठे हैं उनकी वस्तुस्थिति कुछ और है। इसके समझने के लिए भिन्न दृष्टिकोण होना चाहिए। उस दृष्टिकोण की एक रूपरेखा भी उन्होंने बतला दी थी। उन्होंने कह दिया था कि उसके अनुसार देखने पर हमारा आदर्श नितांत भिन्न हो जाता है। वह आदर्श उनके अनुसार किसी स्थान-विशेष की अपेक्षा नहीं करता, न वह किसी स्वप्न की वस्तु है। वही वास्तविक स्थिति है जिसे वर्तमान स्थिति को सुधार कर इसकी जगह ला देना अत्यंत आवश्यक है। उक्त आदर्श के लिए कहीं अन्यत्र जाना नहीं है, न वह मरने के उपरांत हमें उपलब्ध होगा। वह तो यहीं और इस वर्तमान समय में ही इसी भूतल को स्वर्ग बना कर व्यवहार में परिणत किया जा सकता है। यह सच है कि उस आदर्श का वर्णन आगे चल कर भिन्न-भिन्न नामकरणों के कारण कुछ भ्रमात्मक हो गया, किंतु वह स्वयं स्पष्ट तथा दोषरहित है। वह 'सतलोक', 'सचखंड', 'धाम', 'अभयलोक', 'संतदेश', 'अमरलोक' वा 'अनामी लोक'-जैसे नामों से अभिहित होता हुआ भी उसी प्रकार स्थान-विशेष की सीमा में नहीं आता। इस प्रकार महात्मा गाँधी का 'रामराज्य' किसी त्रेतायुगीन दाशरथी रामचन्द्र के शासन-काल की अपेक्षा नहीं करता।

विचार-स्वातंत्र्य

उक्त समालोचक संतों को क्रांतिकारी विचारों के लिए भी कोसते हैं।

वे कहते हैं कि उन्होंने "शताब्दियों के परीक्षित सदाचार, धर्मतत्त्व और सामाजिक आदर्शों को एक ही उच्छ्वास में फूँक दिया।" इससे प्रकट होता है कि ऐसे लोग उन सारी बातों के प्रति अपनी ममता दिखलाते हैं जो रूढ़िगत्त तथा पुरानी हैं। उन्हें अपनाते समय सर्वसाधारण अपनी बुद्धि से काम न लेकर अंधानुसरण-मात्र में प्रवृत्त हो जाते हैं। उनके विचार से धर्मतत्त्व के संबंध में जो कुछ भी धारणा हमारे पूर्वपुरुषों ने स्थिर कर रखी है, वह शाश्वत तथा सनातन है। जो सदाचार का मानदंड उन्होंने एक बार अपने समय में निर्धारित कर दिया, वह सदा के लिए उपयुक्त है और जिन-जिन सामाजिक आदर्शों को उन्होंने एक बार महत्व दे दिया, वे अनंत काल के लिए हमारे पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे। वे लोग कदाचित् इस बात में भी विश्वास रखते हैं कि जो कुछ भी सृष्टि के भीतर दीख पड़ता है, वह आदिकाल से प्राय: ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। उसमें कोई प्रगति नहीं, न कोई परिवर्तन ही हुआ। फलत: हमारे आदर्श महापुरुषों का आविर्भाव कभी प्रारंभिक युग में ही हो गया था, जिन्होंने आगे की पीढ़ियों के लिए कुछ बातें निश्चित कर दी थीं, जिन्हें हमें बिना किसी हिचक वा संकोच के सहर्ष मान लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में धार्मिक तथा सामाजिक नियमों के विवेचन का अवसर अब कभी न आने देना चाहिए। कोरी श्रद्धा तथा विश्वास से ही काम लेना चाहिए। परन्तु क्या इस प्रकार के विचार कभी उचित ठहराये जा सकते हैं अथवा इन्हें कोई भ्रांति रहित कर सकता है? ऐसे विचारों के भीतर तो हमें एक ऐसी अवहेलना की भी गंध आती है जो शताब्दियों से वस्तुस्थिति का अध्ययन कर स्थिर किये जाते हुए उपलब्ध सिद्धांतों के प्रति प्रदर्शितकी गई हो। इनमें आज तक किये गए वैज्ञानिक अनुसंधान तथा दार्शनिक चिंतन के साथ-साथ उस सामाजिक विकास के भी प्रति उपेक्षा दीखती है जो हमारे इतिहास द्वारा सिद्ध होता है। ऐसे आलोचकों के अनुसार विचार-स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं, न हम कभी अपनी विविध सामाजिक समस्याओं को हल करने का यत्न ही कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रतिगामिता का उपदेश देनेवालों के आक्षेपों की कोई गुरुता नहीं हो सकती। हम देख चुके हैं कि संतों ने जिस बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया है, वह सर्वसाधारण के विभिन्न दु:खों तथा पारस्परिक झगड़ों को सदा के लिए हटा देना है। इसके लिए उन्होंने सबके व्यक्तिगत सुधार तथा सदाचार के उपदेश दिये हैं। वे व्यक्ति के समुचित विकास के आधार पर ही समष्टिगत विकास तथा पूर्णता के आदर्श को कार्यान्वित करना चाहते हैं। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में इसे ही अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर इनके स्वप्नों को साकार बनाने की चेष्टा की

थी। उनके योग्य शिष्य संत विनोबा भी आज इसी उद्देश्य की पूर्ति में यत्नशील दीख पड़ते हैं।

पुराने संतों का कार्य समयानुसार अधिकतर धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा। उनका सामाजिक प्रश्नों के सुलझाने का ढंग भी स्वभावत: वैसी ही भावना से प्रेरित था। महात्मा गाँधी ने अपने कार्यक्षेत्र को कहीं अधिक विस्तृत कर दिया। वे एक ही साथ समाज की सर्वांगीण उन्नति में लग गए। विश्व-कल्याण उन संतों का भी लक्ष्य रहा। यदि उन्हें इसकी उपलब्धि में पूरी सफलता नहीं मिल सकी, तो हम इसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते, न उन्हें इसी कारण लोक-विरोधी ही कह सकते हैं। यह बात और है कि जिस प्रकार किसी राज्य-शासन के विरुद्ध आंदोलन करनेवाले व्यक्ति असफल होने पर राजद्रोही कहला कर दंडित होते हैं; यदि वे ही सफल हो जाते हैं तो देशोद्धारक बन कर पूजे जाते हैं। उसी प्रकार उन संतों को भी रूढ़ धर्म तथा मर्यादा के पोषक कुछ काल के लिए बुरा-भला कह सकते हैं। ऐसा करना वैसी मनोवृत्ति वालों के अनुसार कदाचित् न्याय-संगत भी हो सकता है। परन्तु विश्व की जटिल समस्याएँ अभी सुलझ नहीं सकी हैं, न इसके लिए यत्न ही बन्द किये जा सकते हैं। अतएव जब कभी उस ओर सफलता मिल सकेगी और इसके लिए उद्योगशील व्यक्तियों की चर्चा होगी, उस समय ये संत भी संभवत: विश्वोद्धारकों में ही गिने जायँगे।

संतों का उत्सर्ग

संत-परंपरा के लोगों का प्रधान लक्ष्य कभी स्वार्थपरक नहीं था, न उन्होंने आत्मानुभूति की अपेक्षा विश्व-कल्याण को कभी हेय माना। वे दोनों की सिद्धि के एक साथ हो सकने में विश्वास रखते थे और उसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने अपने-अपने जीवन भर कार्य किये। उनके जीवन उनके उपदेशों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उनमें हमें उनके उद्देश्यों, आदर्शों तथा व्यवहारों की रूपरेखा कहीं अधिक स्पष्ट मिल सकती थी। किंतु हमें उनकी घटनाओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं और उनके विषय में हमारी सारी धारणाएँ कतिपय संकेतों पर ही निर्भर रह जाती हैं। इसके सिवाय उनकी रचनाओं में भी हमें उनके जीवन के अधूरे चित्र ही मिलते हैं, जिस कारण उनके प्रति हमारी धारणा कभी-कभी विपरीत रूप तक ग्रहण करने लगती है। कबीर साहब के तो समकालीन समाज ने भी उनके महत्त्व को भली भाँति नहीं समझ पाया, न उनके अनुकरण में पंथों वा सम्प्रदायों की स्थापना करनेवाले संतों का ही उनके समाजों ने समुचित आदर किया। बहुत-से संतों को तो अपने जीवन में

कष्ट तक झेलने पड़े। शासकों द्वारा बंदी बनाया जाना, शारीरिक यातनाओं को भोगने के लिए विवश किया जाना तथा समाज के उपहास का लक्ष्य बन जाना तो साधारण बातें थीं। कुछ संतों को अपने प्राणों से हाथ धोना तक पड़ गया और ये सभी घटनाएँ उन्हें पूर्णत: न समझ सकने के ही कारण हुईं। महात्मा गाँधी अपने कार्य में कदाच्ति् उन सबसे अधिक सफल कहे जा सकते हैं, किंतु उनका भी देहांत उसी प्रकार एक हत्यारे की गोलियों के कारण हुआ।

पुनरावर्त्तन

उत्तरी भारत की संत-परंपरा का सूत्रपात कर उसे सर्वप्रथम प्रवर्त्तित करने वाले कबीर साहब के शरीर त्याग किये आज से सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गए और संत-मत की जो रूप-रेखा उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखी थी उसमें समयानुसार बहुत कुछ हेर-फेर हो गया। इस कारण संतों की वास्तविक देन का पता लगाना और उसका उचित मूल्यांकन करना इस समय कठिन हो गया है। कबीर साहब का समय दो विभिन्न धर्मों के संघर्ष का युग था। उस काल मे किसी भी प्रश्न को केवल धार्मिक दृष्टिकोण से देखना अनिवार्य-सा हो गया था। फलत: उन्होंने अपने अंतिम व्यापक उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए तथा उसकी उपलब्धि के लिए प्रवृत्त होते हुए भी धर्म की ओर ही विशेष ध्यान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके पीछे आनेवाले संत भी ठेठ धार्मिक क्षेत्र की ही सीमा में कार्य करने की ओर अधिक उन्मुख होते दीख पड़े। उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं ने क्रमश: साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर उसे एकांगी तथा संकीर्ण बना दिया। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, संत-परंपरा की इस प्रवृत्ति की आलोचना स्वयं संतों द्वारा ही आरंभ हो गई है। इधर की संत-प्रवर्तित संस्थाएँ अपने कार्यक्षेत्र को कुछ अधिक विस्तार देने लगी हैं। महात्मा गाँधी ने उनके मौलिक आदर्श की अव्यक्त तथा अस्पष्ट भावना को कहीं अधिक निश्चित तथा स्पष्ट रूप देकर उसका साध्य होना भी सिद्ध कर दिया है। संत विनोबा इस कार्य को और भी आगे बढ़ाते दीख पड़ते हैं। अब वह कोरा स्वप्न नहीं रह गया है। उसे वास्तविक रूप दिया जा सकता है।

आशा

महात्मा गाँधी एक अत्यंत उच्च कोटि के महापुरुष थे और उनके स्तर तक पहुँचना सर्वसाधारण का काम नहीं हो सकता। उनके सभी निकटवर्त्ती शिष्य तथा अनुयायी भी उनका अनुसरण पूर्ण रूप में कर सकेंगे वा नहीं, इसमें संदेह किया जा सकता है। परन्तु जिन बातों का उपदेश उन्होंने दिया है और जिन्हें कर दिखाने के लिए वे अपने मरण-काल तक यत्नशील रहे हैं, उनका महत्त्वपूर्ण

होना प्रायः सभी स्वीकार करने लगे हैं। उनके आदर्शों का प्रकाश इस समय कुछ ऐसे क्षेत्रों तक भी पहुँच रहा है जो अभी कल तक स्वतः पूर्ण समझे जाते रहे है। इस महत्त्वपूर्ण 'सर्वोदय' आंदोलन को लेकर आज विनोवा अग्रसर हो रहे हैं। उसके कार्यक्रम की पूरी सफलता में अनेक विकट प्रश्नों तक का हल हो जाना संभव प्रतीत हो रहा है। अतएव हो सकता है कि जिस संत-परंपरा के आविर्भाव के वे आदर्श कभी मूल कारण रहे होंगे और जिसने उन्हें इतने काल तक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में सुरक्षित रखा है, उसके अंगीभूत विविध पंथ तथा सम्प्रदाय भी उससे एक बार फिर अनुप्राणित होंगे और इस सुअवसर से सदा के लिए वंचित न रह जायँगे ।

संत-परंपरा का भविष्य

संत-मत तथा गाँधीवाद के मौलिक सिद्धातों में कोई भी अंतर नहीं, न इन दोनों के प्रमुख साधनों में ही किसी प्रकार का भेद बतलाया जा सकता है। यदि दोनों को भिन्न-भिन्न ठहरान का कोई कारण हो सकता है, तो केवल यही कि पहिले की कार्य-पद्धति में जहाँ ठेठ आध्यात्मिक बातों को बहुत अधिक स्थान दिया जाता था और अन्य प्रश्न केवल गौण बने रह जाते थे, वहाँ दूसरे की कार्य-प्रणाली जीवन के प्रत्येक पार्श्व की ओर समुचित ध्यान देती है । उसके कार्यक्रमानुसार प्रत्येक बात का एक साथ ही विकसित होती हुई पूर्णता तक पहुँच जाना असंभव नही समझ पड़ता। यह अंतर भी वस्तुतः मौलिक आदर्शों का अंतर नहीं, अपितु वह उनके विकसित रूपों में लक्षित होनेवाली विशेषता के कारण सुधारी गई कार्य-पद्धति के रूपांतर का परिणाम है। संतों की परंपरा अब तक ऐसे युग में प्रवेश कर रही है, जो विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से कई बातों में नितांत भिन्न है और जिसकी विविध आवश्यकताओं का प्रभाव किसी विचार-पद्धति वा आंदोलन पर पड़े बिना नही रह सकता। यह प्राकृतिक नियमों की माँग है जिसके सभी अधीन हैं। अतएव संत-परंपरा के अवशेष वर्गों ने भी यदि इसे पहचान पाया तथा अपन को फिर सँभाल लिया, तो उनका पृथक् अस्तित्व निश्चित है, नहीं तो मौलिक भावनाएँ अपने आप काम करती आगे बढ़ती चली जाएँगी और उन्हें बरबस पिछड़ कर साधारण समाज में ही घुल-मिल जाना पड़ेगा ।

वस्तुस्थिति

आज का समय कोरी आस्था, शुष्क आत्म-चिंतन वा रूढ़िगत नैतिक जीवन मात्र का नहीं रह गया है, न अपनी साधनाओं को केवल भक्तिभाव, ज्ञान वा सदाचार तक सीमित रहने देना अब किसी प्रकार सुसंगत प्रतीत होता है।

परिस्थिति प्रत्येक व्यक्ति वा वर्ग को एक दूसरे के निकटतर खींचती हुई सारे विश्व को एक तथा अखंड सिद्ध करने की ओर स्वयं प्रवृत्त है। एक का दूसरे के द्वारा किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होता जाना अब अनिवार्य-सा हो रहा है। वर्तमान का हमें स्पष्ट संकेत है कि हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षण तथा क्षुद्रातिक्षुद्र कर्म का भी वास्तविक महत्त्व समझने का यत्न करें। आज तक पाठशाला के समान समझे जानेवाले इस विश्व को अपनी प्रयोगशाला के रूप में परिणत कर उसमें सत्य का साक्षात्कार करें। महात्मा गाँधी का जीवन इसी ध्येय की ओर लक्ष्य करता है और उक्त साधना को अधिक सक्रिय बनाने का हमें उपदेश भी देता है। अतएव, यदि हम चाहें तो उससे उचित लाभ उठा कर न केवल अपना, प्रत्युत समस्त प्राणियों का भी एक साथ कल्याण कर सकते हैं जो संतों के जीवन का सदा परम उद्देश्य रहता आया है। उसके शुद्ध स्वरूप को बहुत कुछ भूल जाने के ही कारण संत-परंपरा तक के सभी महापुरुषों की इधर वैसी सफलता दृष्टिगोचर न हो सकी थी।

परिशिष्ट

(क) कबीर साहब का जीवन-काल

उपक्रम

कबीर साहब का जीवन-काल निश्चित करने की चेष्टा प्रायः गत सौ वर्षों से निरंतर होती चली आ रही है। इस विषय के जो कुछ भी साधन अभी तक उपलब्ध हैं, उनकी छानबीन भी आजतक होती जा रही है। पहले के विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव मे अधिकतर अनुश्रुतियों का ही सहारा लिया करते थे और कभी-कभी यत्र-तत्र बिखरे हुए विविध प्रसंगों का भी उपयोग करते थे। परन्तु कुछ दिनों से उक्त लेखकों द्वारा निकाले गए परिणामों तथा उन तक पहुँचने के लिए प्रस्तुत की गई उनकी युक्तियों पर भी विचार किया जाने लगा। इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन से उक्त विषय के अधिकाधिक स्पष्ट होते जाने की आशा की जाती है। किंतु इस प्रश्न को लेकर इस समय एक से अधिक मत प्रचलित हैं और सभी एक-दूसरे का खंडन करते हुए से दीख पड़ते हैं। फिर भी, यदि ऐसी सभी उपलब्ध सामग्रियों पर हम एक बार फिर से विचार करें, तो कदाचित् किसी ऐसे निश्चय पर पहुँच सकते हैं जो वर्तमान परिस्थिति में अधिक-से-अधिक मान्य तथा युक्ति-संगत माना जा सके।

प्रमाण संबंधी पंक्तियाँ

कबीर साहिब का जीवन-काल निश्चित करते समय कभी-कभी कुछ ऐसी पंक्तियाँ भी उद्धृत की जाती हैं जो उसके लिए प्रमाण-स्वरूप समझी गई हैं। किंतु उन्हें आधार की भाँति स्वीकार करते समय उनके भी मूल का पता नहीं लगाया जाता, अपितु उन्हें केवल बहुत दिनों से प्रचलित रही आई ही मान कर उनमें से किसी-न-किसी को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चुन लिया जाता है और उसके द्वारा अपने मत की पुष्टि कर दी जाती है। ऐसी पंक्तियाँ भी अधिकतर कबीर साहब के अंतिम काल से ही संबद्ध हैं और उनके द्वारा मृत्यु-काल का संकेत पाकर हम उनके पूरे जीवन-काल की अवधि भी निर्धारित कर डालते

हैं। ऐसे अवसरों पर हमें कभी-कभी इस प्रकार की कुछ अन्य पंक्तियों का भी सहारा मिल जाया करता है जो कबीर-पंथी साहित्य में कबीर साहब के प्रकट होने के प्रसंग में उल्लिखित पायी जाती हैं। उक्त सभी प्रकार की पंक्तियाँ बहुधा भिन्न-भिन्न तथा परस्पर-विरोधी मत प्रकट करती हैं। उन सबको यदि एकत्र किया जाय तथा उनके मूल स्रोतों का भी बता लगाया जा सके, तो वह स्वयं ही एक मनोरंजक विषय होगा। उक्त पंक्तियों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।[1]

चार भिन्न-भिन्न मत

कबीर साहब का मृत्यु-काल निर्धारित करनेवाले आजकल अधिकतर उपर्युक्त पहले तीन पद्यों में से ही किसी-न-किसी एक की सहायता लिया करते हैं। शेष में से अंतिम अर्थात् छठे को कभी-कभी उनका जन्म-संवत् भी स्वीकार कर लेते हैं। तीसरे पद्य को माननेवालों में आपस में थोड़ा-बहुत मतभेद भी जान पड़ता है और चौथे अथवा पाँचवें के समर्थकों की संख्या इस समय अधिक नहीं पायी जाती। इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि ये पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न दीख पड़ने पर भी संभवतः कबीर-पंथ के अनुयायियों की ही रचनाएँ हैं। ये उनकी इस धारणा के साथ प्रस्तुत की गई हैं कि कबीर साहब वस्तुतः अमर तथा अजन्मा हैं, केवल हंसों के उद्धारार्थ कभी-कभी युगानुसार अवतार धारण कर लेते हैं। इसके सिवाय, इन पंक्तियों का आश्रय न ग्रहण कर स्वतंत्र रूप से विचार करनेवाले भी कुछ विद्वान् हैं, जो कबीर साहब के पूरे जीवन-काल को विशिष्ट संवतों वा सनों के भीतर न रख सकने के कारण उसे किसी-न-

---

१. संबत पन्द्रह सौ, पछत्तरा, किया मगहर को गवन।
माघ शुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥
पन्द्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हों गौन
अगहन सुद एकादसी, मिल्यो पौन में पौन।
पन्द्रह सै उनचास में, मगहर कीन्हों गौन
अगहन सुदि एकादसी, मिलो पौन में पौन॥
सुमंत पन्द्रा सौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उठि हंसा ज्याई॥
संवत बारह सौ पाँच में, ज्ञानी कियो विचार।
काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार॥
चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥ आदि॥

किसी एक शताब्दी में वा भिन्न-भिन्न शताब्दियों के भागों में रखना अधिक युक्ति-संगत समझते हैं और उनमें भी आपस में कुछ-न-कुछ मतभेद है। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने पर इस समय कुल मिला कर केवल चार प्रकार के ही मत अधिक प्रसिद्ध जान पड़ते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) मृत्यु-काल को सं० १५७५ में ठहराते हुए भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् वा जन्म-काल माननेवालों का मत;

(२) मृत्यु-काल को सं० १५०५ में अथवा १५०७ के आसपास मान कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् वा जन्म-काल ठहरानेवालों का मत;

(३) मृत्यु-काल को सं० १५५१ वा १५५२ मे निश्चित कर भिन्न-भिन्न जन्म-संवत् देनेवालों का मत;

तथा, (४) मृत्यु और जन्म के संवत् अथवा पूरे जीवन-काल को ही भिन्न-भिन्न संवतों के बीच वा शताब्दियों के अनुसार बतलानेवालों का मत ।

आलोचना : पहला मत

उक्त (१) के अनुसार सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल माननेवालों की संख्या कदाचित् सबसे अधिक होगी। इस मत के समर्थन में जो दोहा; "संवत् पन्द्रह सै पछत्तरा किया मगहर को गवन। माघ शुदी एकादशी, रलो पवन में पवन।"[१] दिया जाता है, उसके मूल रचयिता का पता नहीं चलता। 'कबीर--कसौटी' ग्रंथ के लेखक बाबू लैहनासिह कबीर-पंथी के अनुसार यह 'साखी' उन्हें किसी 'लाल माधो राम साहिब पाएलवाले से" मिली थी, जब वे "साल-संवत् श्री कबीर जी साहेब के प्रकट होने" की तलाश करते फिर रहे थे। एक दूसरे स्थान पर उन्हें यह भी पता चला था, "श्री कबीर जी काशी में एक सौ वीस वरस रह कर मगहर को गए।" काशी से "माघ सुदी एकादसी, दिन बुधवार, सं० १५७५"[२] को उन्होंने मगहर के लिए प्रस्थान किया था। उसी दिन वहाँ से चल कर काशी से मगहर तक की 'छह मंजिल' की दूरी तय की; वहाँ पहुँच कर किसी संत की एक छोटी कोठरी में जो वर्तमान अमी नदी के किनारे पर थी, लेट कर चादर ओढ़ ली, बाहर से ताला बंद करा दिया और एक अलौकिक ध्वनि के साथ सत्यलोक सिधार गए। वहाँ का नवाब बिजली खाँ पठान कबीर साहब का मुरीद था, जो उनकी लाश को पहले से ही दफ़नाना चाहता था। वीर सिंह बघेला जो पहले से ही अपना लश्कर लेकर वहाँ

---

१. बाबू लैहना सिंह : कबीर-कसौटी (भूमिका), बम्बई, सं० १९७१ पृ० ३-४।
२. वही, पृ० ५३-५५।

पहुँच गया था, उनका शिष्य था और उनके शव का अग्नि-संस्कार करना चाहता था। दोनों ने कबीर साहब से अपनी-अपनी इच्छा प्रकट की थी और दोनों को उन्होंने मृत्यु के पहले ही समझा दिया था। अतएव ताला खोलने पर जब वहाँ "फ़कत् कमल के फूल और दो चद्दर ही" पायी गई, तब उन दोनों ने उन्हें आपस में बाँट कर अपनी-अपनी विधि का निर्वाह किया। परन्तु बिजली खाँ और वीर सिंह का एक साथ उस समय वहाँ पर एकत्र होने की संगति किसी ऐतिहासिक प्रमाण से बैठती हुई दीख नहीं पड़ती। उक्त तिथि को ही मृत्यु-दिवस निश्चित मान कर दोनों का पहले से युद्ध के लिए मौके पर उपस्थित रहना, कबीर साहब का उन दिनों के बीहड़ तथा लंबे मार्ग को माघ महीने के एक ही दिन में तय कर उक्त ढंग से प्रबंध करते हुए शरीर-त्याग करना आदि बातें केवल श्रद्धा के ही बल पर सच्ची घटना मानी जा सकती हैं। इसके सिवाय उक्त माघ सुदी ११ को बुधवार का पड़ना भी अभी तक सिद्ध नहीं।

वही

'कबीर-कसौटी' की रचना संवत् १९४२ में हुई थी और उक्त बातें उसके पहले से प्रचलित रही होंगी। किंतु इतने से ही दोहे की रचना का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यह दोहा संभवतः उस समय भी प्रसिद्ध था, जब कि गार्सा-द-तासी ने अपनी फ्रेंच पुस्तक 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐंदुस्तानी' अर्थात् हिंदी तथा हिंदुस्तानी साहित्य के इतिहास' की रचना सं० १८९६ में की थी। उनके पीछे इस दोहे को एक प्रामाणिक सूत्र के रूप में मान कर उसके अनुसार अनेक विद्वान् सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल निश्चित करते आये हैं। इस संबंध में रे० वेस्टकाट (सं० १९६४), मेकालिफ़ (सं० १९६६), बालेश्वर प्रसाद (सं० १९६९), अंडरहिल (सं० १९७२), डॉ० भांडारकर (सं० १९७५), रे० फ़र्कुहर (सं० १९७५), डॉ० श्यामसुंदर दास (सं० १९८५), रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९८६), मनोहरलाल जुत्शी (सं० १९८७), रे० कौ (सं० १९८८) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से भी मेकालिफ़, बालेश्वर प्रसाद, भांडारकर, श्यामसुंदरदास आदि ने कबीर साहब के एक सौ बीस वर्षों तक जीवित रहने का भी किसी-न-किसी रूप में समर्थन किया है। किंतु वेस्टकाट, अंडरहिल, फ़र्कुहर और की को यह बात मान्य नहीं और वे उनका जन्म-काल सं० १४९७ में ही ठहराते हैं। सं० १५७५ को कबीर साहब का मृत्यु-काल मानने के पक्ष में जनश्रुति तथा दोहे के अतिरिक्त जो प्रमाण इन विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

१. कबीर साहब को सिकंदर शाह लोदी (शासन-काल सं० १५४६-१५७४)

ने उनके धार्मिक सिद्धांतों के कारण दंडित किया था और उसके बनारस आने के समय अर्थात् सं० १५५१ में ही संभवतः उन्हें काशी छोड़ कर मगहर जाना पड़ा था ;

२. गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६) के साथ कबीर साहब की भेट सं० १५५३ (अर्थात् गुरु नानकदेव के २७ वे वर्ष) में हुई थी ;

३. कबीर साहब के प्रसिद्ध शिष्य धर्मदास ने सं० १५२१ (अर्थात् उनके जीवन-काल) में ही उनकी रचनाओं का संग्रह किया था;

४. कबीर साहब के जो प्रामाणिक चित्र उपलब्ध हैं, उनसे उनकी वृद्धावस्था सूचित होती है। यह बात उनके जन्म-काल के सं० १४५५ वा १४५६ होने से भी मेल खाती है।

स्पष्ट है कि इनमें से किसी के भी आधार पर मृत्यु-काल का सं० १५७५ में ही होना सिद्ध नहो होता। चित्रों में लक्षित होनेवाली वृद्धावस्था जन्म-काल के काफी पहले होने पर किसी भी पूर्वोक्त मत के अनुसार संभव है। सं० १५२१ में धर्मदास द्वारा कबीर साहब की रचनाओं का संगृहीत होना भी केवल जनश्रुति मात्र ही जान पड़ता है। वास्तव में अभी तक धर्मदास के ही जीवन-काल का निर्णय अंतिम रूप में नहीं हो पाया है। अभी तक यही अनुमान किया जाता है कि ये उनके जीवन-काल में वर्तमान नहीं रहे होंगे। गुरु नानक देव की किसी प्रामाणिक जीवनी में इन दो महान् संतों की भेंट की चर्चा नहीं मिलती। केवल इतना ही पता चलता है कि सं० १५५३ वा १५५४ में एक बार स्नान करते समय किसी नदी के किनारे गुरु नानक देव से किसी एक संत से भेंट हुई थी, जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए थे।[1] किंतु केवल इतने से ही यह सिद्ध नहीं होता कि वे महात्मा कबीर साहब ही थे। कम-से-कम स्वयं नानक जी ने उनके शिष्यों ने अथवा किसी भी जानकार समझे जानेवाले व्यक्ति ने कहीं पर इस विषय में कोई संकेत नहीं किया है। इसी प्रकार सिकंदर शाह लोदीवाले प्रसंग के विषय में भी किसी समकालीन इतिहासकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है। सिकंदर शाह के समय में किसी धार्मिक विप्लव का होना प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। किसी-किसी के अनुसार एक ब्राह्मण संत का सिकंदर शाह के अधिकारियों द्वारा प्राणदंड दिया जाना भी बतलाया जाता है। किंतु कबीर साहब को उक्त शाह की आज्ञा द्वारा कष्ट पाना अथवा काशी से निकाल बाहर कर दिया जाना केवल अनुमान के ही सहारे समझा जा सकता है।

---

१. शालिग्राम : गुरुनानक, प्रयाग, सं० १९७६, पृ० ३६।

आलोचना : दूसरा मत

उक्त (२) द्वारा निर्दिष्ट मत के समर्थकों में सर्वप्रथम नाम उन श्रद्धालु कबीर-पंथियों का आता है जो कबीर साहब का जीवन-काल ३०० वर्षों का होना बतलाते हैं। अपने मत की पुष्टि में दो दोहे[1] उद्धृत करते हैं जिनमें से दूसरा वा मृत्यु-काल-संबंधी दूसरा दोहा औरों को भी मान्य है। उनका जन्म-काल-संबंधी उक्त पाँचवाँ दोहा 'संबत बारह सौ पाँच मे, ज्ञानी कियो विचार। काशी में परगट भयो, शब्द कहो टकसार।' सूचित करता है कि कबीर साहब (ज्ञानी) ने सर्वसाधारण के उद्धार के निमित्त काशी में अवतार धारण किया और अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेशों का प्रचार किया। दूसरे दोहे 'पन्द्रह सौ औ पाँच में, मगहर कीन्हौ गौन। अगहन सुद एकादसी मिल्यौ पौन में पौन।' से प्रकट है कि सं० १५०५ में उन्होंने मगहर की यात्रा की और वहीं अगहन सुदी ११ को अपना शरीर छोड़ दिया। इनमें से प्रथम दोहे के अनुसार मत निश्चित करनेवालों की संख्या नितात् अल्प है और दिन-प्रति-दिन और भी कम होती जा रही है। किंतु केवल दूसरे दोहे को आधार मान कर निर्णय करनेवालों में अनेक विद्वान् हैं, जो अपने मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों के सहारे भी करने की चेष्टा करते हैं। उक्त दोनों दोहों में से किसी के भी रचयिता का पता नहीं चलता, किंतु जान पड़ता है कि कम-से-कम दूसरा दोहा भी प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना पहले मत का सं० १५७५ वाला दोहा पुराना है। अनुमान किया जाता है[2] कि यह दोहा डॉ० एच० एच० विल्सन (सं० १८८५) को भी मिला था। कदाचित् इसी के आधार पर उन्होंने कबीर साहब का मृत्यु-काल सं० १५०५ में मान लिया था। फिर भी सिकंदर वाले प्रसंग में भी वे कुछ आस्था रखते हुए दीख पड़ते हैं। फिरिश्ता द्वारा किये गए तत्काली नधार्मिक विप्लव-संबंधी उल्लेखों के आधार पर कबीर साहब अथवा कम-से-कम उनके किसी शिष्य के ही विषय में साम्प्रदायिक झगड़े का उस समय खड़ा होना संभव समझते हैं।[3] प्रो० बी० बी० राय (सं० १९९३) ने सं० १५०५ में मृत्यु-काल होने

---

१. शिवशंकर मिश्र। भारत का धार्मिक इतिहास, कलकत्ता, सं० १९८०, पृ० २७१।

२. डॉ० पी० द० बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, बनारस, सन् १९३६ ई०, पृ० ३०३।

३. एच० एच० विल्सन : ए स्केच ऑफ दि रिलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ७२-३।

का समथन इस बात से भी किया है कि गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५६६) कबीर साहब द्वारा प्रभावित थे। वे कहते हैं, "गुरु नानक जो कबीर के बाद मौजूद था और जिसने कबीर की बहुत-सी तालीमी बातें अपने 'आदिग्रंथ' में इत्तिवास कीं। सन् १४९० ई० (सं० १५४७) में अपनी तालीम देनी शुरू की, सो कबीर का उससे थोड़ी मुद्दत मौजूद होना ही मुमकिन है।"[1] परन्तु "आदिग्रंथ केवल गुरु नानक देव की ही रचना न होकर एक संग्रह-ग्रंथ है इसमें गुरु नानक, कबीर आदि के अतिरिक्त उन सिक्ख-गुरुओं की भी रचनाएँ संगृहीत हैं जो गुरु नानक के पीछे हुए थे। उसका संग्रह-काल वास्तव में पाँचवें गुरु अर्जुन देव (सं० १६२०-१६६३) के समय सं० १६६१ में बतलाया जाता है। इस विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है (जैसा कुछ अन्य लेखकों ने भी अनुमान किया है) कि गुरु नानकदेव १५-१६ साल की अवस्था में अपने पिता की आज्ञा से भाई बाला के साथ व्यापार करने निकले थे। उस समय लाहोर के मार्ग में जो भूखे साधुओं का अखाड़ा चोरकाना के पास मिला था, वह कबीर-पंथियों का ही रहा होगा।[2] ये लोग उन दिनों अपने मत के प्रचारार्थ दूर-दूर तक फैल गए होंगे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहब के सिद्धांतों द्वारा उनका प्रभावित हो जाना कोई असंभव बात नहीं।

वही

सं० १५०५ को मृत्यु-काल माननेवालों में प्रमुख नाम आचार्य क्षितिमोहन सेन (सं० १९८६) तथा डॉ० बथ्वाल (सं० १९९३) के भी समझे जाने चाहिए। क्षिति बाबू ने अपनी पुस्तक 'मिडीवल मिस्टिसिज्म' अथवा 'मध्य-कालीन रहस्यवाद' में उक्त संवत् के समर्थन में किसी 'भारत-भ्रमण' ग्रंथ की चर्चा की है।[3] इसके अनुसार कबीर साहब का जीवन-काल सं० १४५५ से सं० १५०५ तक बतलाया गया है। परन्तु 'भारत-भ्रमण' में व्यक्त किये गए उक्त मत के किसी आधार का पता नहीं चलता, न इस ओर क्षिति बाबू ने ही कोई संकेत किया है। सं० १५०५ के पक्ष में वे फ्यूहूरर की उस रिपोर्ट का भी उल्लेख करते हैं जिसमें अमी नदी के किनारे वर्तमान तथा बस्ती जिले के खिरनी स्थान पर निर्मित कबीर के रौज़े का बिज़ली खाँ द्वारा सं० १५०७ : सन् १४५० ई० में बनाया जाना तथा नवाब फ़िदाई खाँ द्वारा सं० १६२४ :

---

१. प्रो० बी० बी० राय : सम्प्रदाय, लुधियाना, सन् १९०६ ई०, पृ० ६०।

२. शालिग्राम : गुरुनानक, प्रयाग, सं० १९७६, पृ० २७।

३. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टिसिज्म, लंदन, सन् १९२९ ई०, पृ० ८८।

सन् १५६७ ई० में उसका जीर्णोद्धार होना लिखा है। उनका अपना अनुमान है कि कबीर साहब की मृत्यु होते ही बिजली खाँ ने वहाँ एक मकबरा बनवा दिया था और दो वर्षो के अनंतर उसी स्थल पर फिर एक रौज़ा भी निर्मित करा दिया। परन्तु विजली खाँ के कबीर का अनुयायी होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिला, न डॉ० फ्यूह्‌रर ने ही सन् १४५० ई० के लिए कोई आधार दिया है। यह बात किसी शिलालेख आदि से भी सिद्ध नहीं होती। वही

डॉ० बर्थ्वाल इस विषय में तर्क करते समय स्वामी रामानंद को कबीर साहब का गुरु निश्चित रूप से मान कर चलते हैं।[1] सं० १५७५ को उनका मृत्यु-काल इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वैसी स्थिति में उनका जन्म-काल सं० १४५५ मान लेना पड़ेगा और तब उनकी स्वामीजी (मृ० सं० १४६८) के शिष्य होने की बात कुछ असंभव-सी जँचने लगी। इसके सिवाय उन्हें कबीर साहब का झूँसी वाले तकी (मृ० सं० १४६६) का समसामयिक होना भी मान्य है और वैसा समझ लेने पर इस बात में भी संदेह को स्थान मिल सकता है। झूँसीवाले मीर तकी के साथ कबीर साहब का परिचय वे जनश्रुति तथा झूँसी में वर्तमान कबीर-नाले के कारण भी सिद्ध करते हैं। डॉ० बर्थ्वाल ने रैदास तथा पीपा को भी स्वामी रामानंद का शिष्य माना है और पीपा को कबीर साहब से अधिक अवस्था का समझा है। इनके अनुसार कबीर साहब का जन्म-काल सं० १४२७ में मानना चाहिए जिससे मृत्यु के समय उनकी आयु ७८ वर्ष की होगी। परन्तु ये सारी बातें उन्होंने कोरे अनुमान पर ही आश्रित रखी हैं, सिवाय इसके कि स्वामी रामानंद उनके गुरु थे तथा पीपा और रैदास ने उनके संबंध में कुछ चर्चा की है (जिनकी संदिग्धता इसी पुस्तक में अन्यत्र सिद्ध की जा चुकी है), कोई अन्य प्रमाण उन्होंने उनका जीवन-काल निश्चित करने के लिए नहीं दिया है। डॉ० बर्थ्वाल को सिकंदर-प्रसंग की सचाई में विश्वास नहीं है। उन्होंने इस बात को कबीर साहब को 'प्रह्लाद भक्त की भाँति कष्ट पाकर भी बच जानेवाला' सिद्ध करने की चेष्टा में रची गई मनगढ़ंत घटना ठहराया है।[2] क्षिति बाबू कबीर साहब का जन्म सं० १४५५ में होना मानते हैं जिससे मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ५० वर्षों की ही रह जाती है।

---

१. डॉ० पी० द० बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, बनारस, सन् १९३६ ई०, पृ० २५२-३।

२. वही, पृ० २५२।

आलोचना : तीसरा मत

उक्त (३) वाले मत का आधार-स्वरूप दोहा "पन्द्रह से उनचास में मगहर कीन्हों गौन। अगहन सुदि एकादसी मिलो पौन में पौन।" श्री रूपकलाजी (सं० १९६५) द्वारा की गई नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका में उद्धृत हुआ है। इसके अनुसार वे उक्त संवत् में तीन वर्ष और जोड़ कर मृत्यु-काल का सं० १५५२ में होना निश्चित करते हैं।[1] परन्तु ये तीन वर्ष उन्होंने क्यों बढ़ा दिये, इसका कोई भी उन्होंने समाधान नहीं किया है। उनके अनंतर सं० १५५२ को मृत्यु-काल मानने-वाले हरिऔध (सं० १९६६), मिश्रबंधु (सं० १९६७), चन्द्रबली पांडेय (सं० १९९०) तथा डॉ० राजकुमार वर्मा (सं० २०००) ने इसकी संगति अधिकतर सिकंदर-प्रसंग के साथ बैठायी है। डॉ० वर्मा ने उक्त सं० १५५२ को भी सं० १५५१ इस कारण कर दिया है कि इतिहासकारों के अनुसार सिकंदर लोदी वस्तुतः उसी वर्ष काशी आया हुआ था। इस प्रकार उक्त मत का एकमात्र आधार सिकंदर-प्रसंग को ही मानना चाहिए। क्योंकि उसी के प्रमाणित होने वा न होने पर इसके विषय में कोई निश्चित निर्णय किया जा सकता है। डॉ० वर्मा ने उक्त प्रसंग की पुष्टि में जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं :[2]

१. प्रायः सभी इतिहासकार (जिनकी एक सूची उन्होंने अपनी पुस्तक में दी है) कबीर साहब और सिकंदर लोदी का समकालीन ठहराते हैं,

२. ब्रिग्स ने सिकंदर का सं० १५५१ में ही बनारस आना कहा है;

३. प्रियादास ने अपनी नाभादास की 'भक्तमाल' की टीका में सिकंदर और कबीर साहब का संघर्ष दिखलाया है;

४. अनंतदास की रचना 'श्री कबीर साहब की परचई' में इस बात की चर्चा की गई है;

५. 'आदिग्रंथ' में आये हुए कबीर साहब के रागु गौड़ ४ तथा रागु भैरउ १८ वाले पदों के आधार पर भी हम दोनों को समकालीन मान सकते हैं; और,

६. बस्ती जिले में स्थित बिजली खाँ का रोजा कबीर साहब का मरण-चिह्न न होकर केवल स्मारक मात्र भी हो सकता है, जिसे उक्त पठान ने कबीर साहब द्वारा काशी में अक्षय कीर्त्ति प्राप्त करने के उपलक्ष में भक्ति के आवेश में बनवा दिया है।

---

१. नाभादास : भक्तमाल, श्री रूपकला-कृत 'भक्त सुधाविंदु स्वाद' टीका-सहित, लखनऊ, सन् १९२६, पृ० ४९७।

२. डॉ० रामकुमार वर्मा : संत कबीर, इलाहाबाद, सन् १९४३ ई०, पृ० ३७-४०।

वही

परन्तु डॉ० वर्मा ने जिन इतिहासकारों के नाम अपनी सूची में दिये हैं, वे सभी बहुत पीछे के हैं। उनमें से सबने अधिकतर अनुमान से ही काम लिया है तथा सिकंदर-प्रसंग को उन्होंने एक प्रचलित किंवदंती से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ब्रिग्स का केवल इतना कहना भी कि सिकंदर सं० १५५१ में बनारस की ओर आया था, यह सूचित नहीं करता कि उससे और कबीर साहब से कभी भेंट भी हुई थी। प्रियादास की टीका भी इस विषय में विश्वसनीय नहीं कही जा सकती; क्योंकि बहुत अर्वाचीन होने के साथ ही उसमें सर्वत्र अलौकिक बातों की ही भरमार है। ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा करने की जगह रचयिता का उद्देश्य उसमें सब कहीं चमत्कार-पूर्ण बातों के उल्लेख द्वारा भक्तों का महत्त्व दरसाना ही अधिक दीख पड़ता है। अनंतदास की रचना 'श्री कबीर साहिब की परचई' अवश्य एक पुरानी पुस्तक है। किंतु जो हस्तलिखित प्रति (सं० १८४२ की) डॉ० वर्मा को मिली है, उसकी प्रामाणिकता विना अन्य प्रतियो से मीलान किये सिद्ध नहीं की जा सकती और उसमें प्रक्षिप्त अंशों के आ जाने की भी संभावना है। इसके अतिरिक्त स्वयं अनंतदास का आविर्भाव भी सं० १६४५ के लगभग माना जाता है जो सिकंदर के सं० १५५१ में बनारस आने से प्राय: सौ वर्ष पीछे की बात है। इतने दिनों के भीतर उस युग में ऐसी अनैतिहासिक वा काल्पनिक बातों का क्रमश: प्रवादमात्र से उन्नति करते-करते भक्त-चरित्रों तक में प्रवेश कर जाना वैसी आश्चर्य की बात नहीं। अनंतदास से प्राय: ४०-५० वर्ष पहले मीराँबाई (सं० १५५५-१६०३) ने भी अपने पदों में[1] ऐसी घटनाओं की चर्चा करना आरंभ कर दिया था।

उपर्युक्त सिकंदर-प्रसंग का उल्लेख भी वास्तव में अनंतदास के समय अर्थात् लगभग सं० १६४५ से ही आरंभ हुआ होगा। संत वषनाजी (सं० १६५०) जैसे एकाध संतों ने इसकी चर्चा अपनी बानियों के अंतर्गत की।[2]

---

१. 'दास कबीर घर बालद जो लाया, नामदेव की छान छवंद।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद।' आदि
—मीरांबाई की पदावली, हिंदी साहित्य सम्मेलन, सं० १९९८, प्रयाग, पृ० ६७-८।

२. 'कासी माहि सिकंदर तमक्यो, गलमें डारि जंजीर का।
जिनको आइ मिले परमेसुर, बंधन काटि कबीर का॥'
—वषनाजी की वाणी, सं० १९९३, पृ० १४८।

ऐसा जान पड़ता है कि सं० १६६१ में संगृहीत 'आदिग्रंथ' तथा लगभग ऐसे ही किसी समय की 'पंचबानियों' में सम्मिलित कर लिये गए स्वयं कबीर साहब के पदों में भी[१] ऐसी बातों के आ जाने से इस प्रवृत्ति को और भी शक्ति मिलती चली गई। परन्तु इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि कबीर साहब की इन रचनाओं में भी कहीं सिकंदर का नाम लिया गया नहीं दीख पड़ता। इनमें उल्लिखित घटनाओं का संबंध किन्हीं अन्य शासकों के साथ भी जोड़ा जा सकता है। इसके सिवाय ऐसे प्रसंगों की चर्चा यहाँ पर 'नांउ महिमा' शीर्षक देकर की गई भी पायी जाती है जो किसी आदर्श भक्त की स्थिति को सूचित करने के लिए भी हो सकती है। वास्तव में, यदि "गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर" पंक्ति का पाठ वहाँ पर "जल की तरंग उठि कटिहै जंजीर" मान लिया जाय (जो संभवतः दादू-पंथी तथा निरंजनी सम्प्रदाय वाली पंच बानियों में स्वीकार किया गया भी जान पड़ता है)[२] उस दशा में 'कबीर' शब्द भी वहाँ किसी ऐसे महा-पुरुष मात्र की ओर भी संकेत कर सकता है जो 'आदर्श भक्त' समझा जा सके तथा संत हरिदास (सं० १५१२-१६००) की कतिपय साखियों के आधार पर[३] इस बात को कदाचित् असंभव भी नहीं ठहराया जा सकता। फिर इस संबंध में, यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि "कबीर और सिकंदर लोदी के

---

१. दे० गुरुग्रंथ साहिबजी, अमृतसर, रागुगोड़ ४, पृ० ८६९-७०।
तथा, 'गंग गुसांइनि गहिर गंभीर। जंजीर बांधि करि खरे कबीर।
मनु न डिगै तन काहे कउ डराइ। चरन कमल चित हरिउ समाई ॥ रहाउ॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर। म्रिगछाला पर बैठे कबीर ॥२॥
कहि कबीर काऊ संग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ ॥'
—वही, रागु भैरउ १८, पृ० ११६३।

२. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित प्रयाग वाला संस्करण, सन् १९६१ ई०, टिप्पणी सं० २४ पंक्ति ५-६।

३. 'उलटै पैंडे परम सुष, परम साध तहां जांहि।
हरिदास जन मूंक है, गिगुरा पहुंचै नांहि ॥३॥
अगनि न जालै जल नहिं बूड़ै, झड़ि झड़ि पड़ै जंजीर।
जन हरीदास गोविंद भजै, निरभै मतै कबीर ॥४॥
मारि मारि काजी करै, कुजर वंदै पांव।
जन हरीदास कबीर कूं, लगै न ताती बात ॥५॥'
—श्री महाराज हरीदास जी की वाणी, जयपुर १९६२, पृ० ३८८।

संबंध का उल्लेख 'भक्तमाल', 'आईन-ए-अकबरी', 'अख़बारूल अख़ियार', 'दबिस्ताँ' में नहीं मिलता। इसके अलावा 'वाक़यात मुश्ताक़ी' 'तारीख़ दाऊदी', 'तारीख़ खान-जहाँ लोदी', निज़ामुद्दीन, वदायूनी और 'तारीख़ फ़िरिश्ता' आदि जिनके आधार पर सिकंदर का विश्वसनीय इतिहास लिखा जाता है उनके संबंध का उल्लेख नहीं करते।"[1] इस कारण भी हमें उक्त प्रसंग की प्रामाणिकता स्वीकार करने में हिचक होती है।

बस्ती जिले में वर्तमान बिजली खाँ के रौज़े का निर्माण वास्तव में यदि सन् १४५० वा सं० १५०७ में ही हुआ था (जैसा कि डॉ० वर्मा भी मानते हुए स्पष्ट जान पड़ते हैं), तो यह बात की वह मरण-चिह्न हैं अथवा कबीर साहब की अक्षय कीर्त्ति का केवल स्मृति-चिह्न मात्र है, बड़ी आसानी से समझा जा सकेगा। इसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं कि कबीर साहब उस समय तक वैसे यशस्वी हो चुके थे, जन्म-भूमि मगहर से काशी जा चुके थे और बिजली खाँ को इतना प्रभावित भी कर चुके थे कि उसने उनके जीवन-काल में ही स्मृति-चिह्न के निर्माण का आयोजन किया। अभी तक तो बहुत लोगों की यही धारणा रहती आई है कि उनका जन्म काशी में हुआ था और मरने के केवल कुछ ही पहले वे मगहर गये, जहाँ पर अभी नदी वा नाले के निकट उक्त रौज़ा बना हुआ है।

वही

चन्द्रबली पांडेय का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना जान पड़ता है कि यदि सं० १५७५ की पुष्टि में दिये गए 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना वाले प्रमाण ठीक हों, तो उनके द्वारा उक्त संवत् की जगह सं० १५५२ को ही स्वीकार कर लेना अधिक युक्ति-संगत होगा। वे सं० १५५२ में हुई सिकंदर लोदी तथा कबीर साहब की किसी बातचीत का भी अनुमान करते हैं। वे कहते हैं, "संभव है और अधिक संभव है कि जायसी ने 'अखरावट' में आयी हुई 'रावर आगे का कहै, जो संवरै मन लाइ। तेहि राजा नित संवरै, पूछै धरम बुलाइ। तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं। परे खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं।' पंक्तियों द्वारा इसी ओर संकेत किया हो।[2] उनका यह भी मंतव्य है, "नानकदेव कबीर को सतगुरु समझते थे। यदि कबीर सं० १५७५ तक जीवित रहते, तो नानक और न जाने कितनी बार उनसे मिलते।" उनके अनुसार गुरु नानक सं० १५५३ में कबीर साहब से नहीं मिले थे, अपितु सं० १५५२ में ही मिले थे। उसी वर्ष कबीर साहब का

---

१. डॉ० त्रिपाठी : कबीर जी का समय, हिंदुस्तानी, प्रयाग, १६३२ ई०, पृ० २०७।

२. चन्द्रबली पांडेय : कबीर का जीवनवृत्त, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १४, पृ० ५३६-४०।

देहांत भी हो गया। वे 'सभा' में सुरक्षित सं० १५६१ वाली हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि का कबीर साहब की मृत्यु के अनंतर किया जाना इस कारण मानते हैं कि प्रतिलिपि काशी में हुई। यदि उस समय तक कबीर साहब वहाँ वर्तमान रहते, तो उनसे अवश्य प्रमाणित करा ली गई होती।[1] अंत में वे स्वामी युगलानंद के दिये हुए कबीर साहब के चित्र तथा 'ग्रंथावली' के कतिपय अवतरणों के आधार पर यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि कबीर साहब की अवस्था मरने से पहले सौ से अधिक नहीं, अपितु उसके लगभग ही रही होगी जिसकी पुष्टि में जायसी के 'अखरवाट' के 'जा नारद तव रोइ पुकारा। एक जुलाहे सो मैं हारा। प्रेम तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।' उद्धृत कर उसके 'सैकरा भरई' में भी इसी ओर के कुछ संकेत की कल्पना करते हैं। उनका कहना है, "उस समय कबीर यातना मे पड़े थे और लगभग १०० वर्ष के थे।"[2]

वही

सं० १५७५ को मृत्यु-काल मानने के संबंध में हम अपने विचार इसके पहले ही प्रकट कर चुके हैं। सं० १५७५ को सं० १५५२ वा सं० १५५१ में बदल देने पर भी उसकी पुष्टि में दिये गए प्रमाणों को सहायता नहीं मिलती, न वे कुछ अधिक युक्ति-संगत दीख पड़ने पर भी अकाट्य बन जाते हैं। नानकदेव कबीर को सत-गुरु समझते थे, इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। जहाँ तक पता है, गुरु नानक देव ने अपनी रचनाओं में कबीर साहब की कहीं चर्चा तक भी नहीं की है और "हका कबीर करीम तू बेऐब परवरदीगार"[3]-जैसे स्थल पर जहाँ उन्होंने 'कबीर' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ भी स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय 'कबीर' साहब से न होकर परमात्मा से ही हो सकता है। फिर, यदि कबीर साहब के प्रति उनके भाव बहुत उच्च रहे भी हों, तो भी उक्त दोनों संतों का समसामयिक भी होना तथा विशेषकर उनकी भेंट का भी अवश्य होना सिद्ध नहीं हो जाता। इसी प्रकार 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की हस्तलिखित प्रति में दिये गए सं० १५६१ के प्रामाणिक होने में जब तक संदेह करने के लिए पूरी गुंजाइश देखी जा रही है, तब तक उसे कबीर साहब के जीवन-काल में लिखी मान कर उसके आधार पर भी तर्क करना उचित नहीं जान पड़ता।

---

१. चन्द्रबली पांडेय : कबीर का जीवनवृत्त, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृ० ५४१।
२. वही, पृ० ५४४।
३. गुरुग्रंथ साहब, रागु तिलंगा, १, पृ० ७२१।

वही

हमारा तो अनुमान है कि इस प्रसंग में जायसी के 'अखरावट' वाले उद्धरणों से भी उचित से अधिक अर्थ निकाला गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्व-संपादित 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका में[1] कहा था, "कबीर को व (जायसी) एक बड़ा साधक मानते थे।" इसके प्रमाण में उन्होने उक्त "जा नारद तब रोइ पुकारा . . . सकरा भरई" को भी उद्धृत किया था। पांडेय जी उस स्थल से कुछ और भी पंक्तियाँ लेते हैं और उक्त कथन को अंतिम-निर्णय-सा समझते हुए गर्व के साथ सूचित करते हैं, "अखरावट का रचना-काल नामक लेख में हमने भी यही प्रतिपादित किया है।"[2] इस संबंध में मतभेद प्रकट कर 'जुलाहे' को केवल प्रतीक-मात्र माननेवाले लाला सीताराम के प्रति वे कुछ कटाक्ष-सा भी कर देते हैं और आवेश में यहाँ तक कह डालते हैं, "हमारे विचार में किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए इसमें संदेह करने की सामग्री कुछ भी नही है।" उनके अनुसार, "जायसी ने यहाँ पर कबीर को पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष का जुलाहा माना है और यह भी संकेत किया है कि किस प्रकार उन (कबीर) का आदर-सत्कार तथा ताड़न राज-दरबारों में होता था। उनको बुला कर राजा धर्म की पूछताछ करता था और उनसे सहमत न होने पर आँख दिखाता था।" पांडेयजी ने यहाँ पर किसी 'राजा' का नाम तो नहीं लिया है, किंतु अनुमान किया है कि "जुलाहे से जायसी का आशय कबीर से है।" इसी प्रकार 'राजा' से भी उसका मतलब वहाँ संभवतः सिकंदर लोदी से ही होगा। परन्तु उक्त उद्धरणों में कहीं भी इस ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता, अपितु "तेहि राजा नीति संवरै" से तो यह भी बोध होता है कि वह 'राजा' उक्त 'जुलाहे' को 'नित्यशः' अपने दरबार में बुला कर धर्म-संबंधी प्रश्न पूछा करता था जो बनारस तक बहुत कम पहुँच पानेवाले युद्ध-निरत सिकंदर के विषय में कहना ठीक नहीं जान पड़ता।

वही

पांडेयजी एक दूसरे स्थल पर[3] भी लिखते हैं, "यह कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि उक्त जुलाहा महात्मा कबीर दास ही हैं," तथा "अब तो यह

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली (भूमिका), पृ० ११।

२. चंद्रबली पांडेय : जायसी का जीवन-वृत्त, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृ० ४१५।

३. चन्द्रबली पांडेय : पद्मावत की लिपि तथा रचनाकाल, ना० प्र० पत्रिका भाग १२, पृ० ११६

स्पष्ट ही है कि अखरावट की रचना कबीर के जीवन-काल में ही हो रही थी।" 'अखरावट का रचना-काल' नामक उनका लेख देखने को नहीं मिला जिससे पता चलता कि किन-किन प्रमाणों के आधार पर कौन-सा निश्चित समय उन्होंने इसके लिए माना है। यहाँ पर 'पद्मावत' का रचना-काल वे सं० १५७७ : सन् १५२० से पीछे सं० १५९७ : सन् १५४० तक ठहराते हैं और 'अखरावट' का रचना-काल उसके पहले बतलाते हैं। उसी स्थल पर वे यह भी कह देते हैं, "कबीर-दास की निधन-तिथि के संबंध में अंतिम तिथि सं० १५७५ मानी जाती है जो सन् १५१८ में पड़ती है।" इस प्रकार यदि पांडेयजी के कुल तर्कों को एकत्र कर उन पर विचार किया जाय, तो जान पड़ेगा कि 'अखरावट' की पंक्तियों द्वारा कबीर साहब का समय तथा कबीर साहब के आनुमानिक समय के आधार पर 'अख-रावट' का रचना-काल निर्धारित किया जा रहा है और यह तर्क-प्रणाली चक्रावर्तन-सी बन जाती है। इसके सिवाय इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि जायसी ने नारद के रोकर पुकारने के समय का निर्देश 'तब' शब्द द्वारा किया है जो भूतकाल का द्योतक होगा और चूँकि जुलाहे का पूरा वर्णन उसी के मुख से कराया गया जान पड़ता है, अतएव उक्त उद्धरणों में आये हुए 'सैकरा भरई' से ही 'अखरावट' की रचना के समय कबीर साहब की आयु का लगभग सौ वर्षों का होना बतला देना अपनी कल्पना-शक्ति का असंयत प्रयोग करना ही कहा जायगा। 'सैकरा भरई' का सौ वर्ष पूरा करने के अर्थ में प्रयोग कहीं अन्यत्र नहीं देखा गया। यहाँ तो 'बुनाई' के किसी पारिभाषिक शब्द-समूह के रूप में ही हम इसे यदि मान लें, तो अधिक युक्ति-संगत होगा। क्योंकि उक्त जुलाहे का सैकरा भरना यहाँ जप-तप की साधना द्वारा व्यक्त किया गया है। अंत में श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी के अनुसार[1] जायसी के कथन "भा अवतार मोर नौ सदी। तीस वर्ष ऊपर कवि बदी।" के 'नौ सदी' का अर्थ यदि वास्तव में ९०० हिजरी वा सं० १५५१ : सन् १४९४ ही है, तो सं० १५५२ अर्थात् पांडेयजी के अनुसार कबीर साहब के मृत्यु-कालवाले संवत् में जायसी केवल लगभग २ वर्ष के ही थे। उस समय भी 'अखरावट' की रचना का होना नितांत असंभव है; उसके पहले के लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। कहना न होगा कि पांडेयजी द्वारा स्वामी युगलानंद वाले चित्र तथा 'कबीर-ग्रंथावली' से उद्धृत पंक्तियों के आधार पर निकाले गए परिणाम भी इसी प्रकार कल्पित तथा पूर्वग्रह-प्रभावित ही समझ पड़ते हैं।

---

१. सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी : मलिक मुहम्मद जायसी का जीवन-चरित, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० ४३।

आलोचना : चौथा मत

उक्त (४) वाले मत के समर्थक किसी दोहे आदि को आधार मान कर नहीं चलते। उन्हें शुद्ध ऐतिहासिक उल्लेखों की असंदिग्धता में ही विश्वास है। हंटर ने अपने इतिहास[1] में कबीर साहब के पूरे जीवन-काल को अर्थात् सं० १३५६ वा सं० १४७७ : सन् १३०० वा सन् १४२० ई० के बीच बतलाया था। किंतु उसने कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिये। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी अपने एक निबंध[2] (सं० १९८९) में अनक बातों की आलोचना करने के उपरात इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के आगे जाता हुआ नही जान पड़ता और सिकंदर-प्रसंग को वे कई कारणों से प्रामाणिक मानने की तैयार नहीं हैं। उनका कहना है, "कबीर जी के समय और उनके जीवन की घटनाओं का आधार जिन ग्रंथों पर है, उनमें से कोई भी सोलहवीं शताब्दी के उद्धरार्द्ध से पहले का नहीं है।" इसके अनंतर उन्होंने कई ऐसी रचनाओं के नाम भी उनके रचना--काल के साथ दिये हैं। उक्त 'सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध' ईसवी सन् से संबद्ध है जो विक्रम की १७वीं शताब्दी के लगभग द्वितीय चरण में पड़ेगा। प्राय: इसी समय से नाभादास की 'भक्तमाल' (सं० १६४३), 'अनंतदास की परचई' (सं० १६४५), 'आईन-ए-अकबरी' (सं० १६५५) तथा 'आदिग्रंथ' (सं० १६६१) जैसी रचनाओं का भी पहले पहल आरंभ होता है। इनमें भी कबीर साहब के किसी जन्म वा मरण-संवत् का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। डॉ० त्रिपाठी न सं० १४१७ से सं० १४५१ : सन् १३६० से सन् १३९४ तक के समय के विषय में लिखा है, "ये चालीस वर्ष पूर्व देश में क्रांति के थे।" "इन दिनों राजनीतिक क्रांति और धार्मिक क्रांति साथ-साथ चलती रहीं।" कबीर साहब-जैसे "प्रबल प्रचारक और उनके जैसे प्रबल प्रचार के लिए" वही समय "सबसे उपयुक्त था।" उक्त मत के एक दूसरे समर्थक डॉ० मोहन सिंह (सं० १९९१) ने भी सिकंदर-प्रसंग को निराधार माना है। कई बातों पर आलोचनात्मक विचार करने के अनंतर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कबीर साहब की मृत्यु का समय सं० १४७७ वा १५०६ : सन् १४२० वा १४४९ के भीतर रहा होगा और वे सन् १३८० (अपितु सन् १३६०) और सं० १४३७ : सन् १३९८ (बल्कि सं० १४१७) और सं० १४५५ के बीच में ही उत्पन्न हुए होंगे।[3] सिकंदर के समय में वे किसी बोधन

१. डॉ० हंटर : इंडियन एम्पायर, अध्याय ८।

२. डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : कबीरजी का समय, हिन्दुस्तानी, भाग २, अं० २, पृ० २०४-१५।

३. डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायोग्राफी, सन् १९३४ ई०, पृ० ४०-१।

का संभल में सं० १५५६-५८ : सन् १४९९–१५०१ में मारा जाना कहते हैं।[1]

संतुलनात्मक समीक्षा

फिर भी उक्त चारों मतों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता है कि (१) तथा (३) अर्थात् क्रमशः सं० १५७५ और सं० १५५१ वा १५५२ वाले मतों के समर्थकों में से सिकंदर लोदी वाले प्रसंग में प्रायः सभी को विश्वास है। यदि अंतर है तो केवल इतना ही कि (३) वाले जहाँ कबीर साहब का सिकंदर लोदी द्वारा दमन के कारण उसी क्षण वा शीघ्र ही मगहर जाकर मर जाना समझते हैं, वहाँ (१) के अनुसार वे उक्त घटना वा कम-से-कम दोनों की भेंट के अनंतर भी बीसों वर्ष तक जीवित रह कर इधर-उधर घूमते फिरे। अंत में मगहर जाकर मर गए। इस संबंध में विशेषतः डॉ० फर्कुहर[2] तथा एवलिन अंडरहिल[3] के अनुमान देखे जा सकते हैं। उक्त दोनों मत वाले कबीर साहब को स्वामी रामानंद का शिष्य और एक वैष्णव भक्त होना ही बतलाते हैं, केवल (३) के समर्थक मौ० ग़ुलाम सरवर (सं० १९०७) ने "शेख़ कबीर जोलाहा शेख़ तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे"[4] कह कर उनकी गिनती सूफ़ियों में की है। (१) के एक समर्थक रे० वेस्टकाट (सं० १९६६) ने भी उक्त विचार के संबंध में बहुत दूर तक अपनी आस्था प्रकट की है। उक्त (३) के अन्य समर्थक चन्द्रबली पाँडेय ने भी कहा हैं, "क्या भाषा, क्या भाव, क्या विचार, क्या परंपरा, सभी दृष्टियों से कबीर 'जिंद' ही ठहरते हैं"[5] और 'जिंद' शब्द को "जिंदीक' शब्द का रूपांतर बतला कर इसका अर्थ उन्होंने 'बशरा' या 'आज़ाद सूफ़ी' किया है। इसके सिवाय उक्त (१)

---

१. डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज़ बायोग्राफी, पृ० २७।

२. 'The Emperor Sikandar Lodi vanished him from Banaras and he thereafter lived a wandering life and died at Maghar near Gorakhpur.' An Outline of the Religious Literature, p. 332.

३. "Thenceforth he appears to have moved about amongst various cities of northern India, the centre of a group of disciples continueing in exile........he died at Maghar near Gorakhpur." One Hudred Poems of Kabir, Introduction, p. XVIII.

४. ख़जीनतुल असफ़िया, लाहोर, सन् १८६८ ई०, पृ० २५-६।

५. चन्द्रबली पाँडेय, विचार विमर्श, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००२, पृ० ४४।

के समर्थकों में से कुछ ने कबीर साहब के साथ गुरु नानकदेव की भेंट होने का भी उल्लेख किया है। कुछ ने उनके शव के अंतिम संस्कार के विषय में बिजली खाँ तथा वीर सिंह वाघेला के किसी कलह की भी चर्चा की है। इसी प्रकार (२) तथा (४) के समर्थकों में भी कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता, क्योंकि दोनों ने ही सिकंदर-प्रसंग को असंभव अथवा बहुत संदिग्ध बतलाया है। स्वामी रामानंद को कम-से-कम कबीर साहब का समकालीन समझा है, गुरु नानक का उनके द्वारा अधिक-से-अधिक प्रभावित मात्र होना अनुमान किया है। बिजली खाँ द्वारा निर्मित रौजे के समय (सं० १५०७) के प्रति स्पष्ट शब्दों में अपना अविश्वास नहीं दिखलाया है और किसी-न-किसी तक़ी का कबीर साहब का समकालीन होना भी मान लिया है। दोनों के मध्य अंतर केवल कोई निश्चित संवत् देने वा न देने मात्र का है तथा एक यह भी कि (२) का पक्ष ग्रहण करनेवाले किसी जनश्रुति वा दोहे पर भी आश्रित समझ पड़ते हैं। वास्तव में पूरी छान-बीन करने पर असंदिग्ध रूप से मृत्यु-समय बतलाने वाले केवल संवत् १५७५ तथा सं० १५०५ के ही दो समर्थक रह जाते हैं। इनके बीच मतभेद के मुख्य कारण भी स्वामी रामानंद, शेख तक़ी, सिकंदर लोदी, गुरु नानक और बिजली खाँ तथा वीरसिंह वाघेला में से किसी-न-किसी के साथ एक विशेष आनुमानिक संपर्क वा समसामयिकता में ही निहित हैं। मेकालिफ़ ने तो सं० १५७५ को मृत्यु-संवत् मानते हुए भी सं० १५०५ के समर्थन में किसी मराठी 'भरतखंड अर्वाचीन कोश' का हवाला अपने ग्रंथ[1] में दिया है। डॉ० बथ्वाल ने सं० १५०५ वाले दोहे के "औ पांच मो" का सं० १५७५ वाले के 'पचहत्तरा' में कालानुसार परिवर्तित मात्र हो जाने का अनुमान किया है।[2]

निष्कर्ष

अतएव जान पड़ता है कि समकालीन तथा प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो सकने के कारण उक्त लेखकों द्वारा अधिकतर अनुमान वा जनश्रुति के ही आधार काम में लाये गए हैं। उन लोगों ने अपने काल्पनिक मतों की पुष्टि में कतिपय ऐतिहासिक व्यक्तियों को मनमाने ढंग से अपना साधन बना डाला है। कुछ भक्तों तथा श्रद्धालुओं की रचनाओं में अतिरंजित की गई निराधार घटनाओं को भी ऐतिहासिक तथ्य समझ लेने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए, स्वामी रामानंद एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, इसमें कोई भी संदेह नहीं। उनका एक शक्तिशाली तथा क्रांतिकारी सुधारक होना तथा उनके द्वारा अपने समय (सं० १३५६-

---

१. दि सिक्ख रिलिजन, भाग ४, पृ० १२२।

२. दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोएट्री, पृ० ५२।

१४६७) में कम-से-कम उत्तरी भारत के अंतर्गत एक प्रबल धार्मिक आंदोलन का चलाया जाना और सर्वसाधारण का उससे बहुत कुछ प्रभावित होना एतिहासिक ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु केवल इसी कारण कबीर साहब का उनका दीक्षित शिष्य भी होना नहीं कहा जा सकता, जब तक इसके लिए हमें सीधे तथा असंदिग्ध प्रमाण भी नहीं मिल जाते। कबीर साहब ने स्वयं इस विषय में कुछ भी नहीं कहा है और डॉ० बर्थ्वाल आदि कुछ विद्वानों का इसकी पुष्टि में 'बीजक', 'कबीर-ग्रंथावली' तथा 'आदिग्रंथ' के एकाध पदों[१] का खींचातानी-पूर्वक अर्थ लगाना पर्याप्त नहीं समझ पड़ता। कबीर साहब के तथाकथित गुरु-भाई सेना नाई, पीपा, रैदास, धन्ना अथवा उस काल के किसी अन्य व्यक्ति ने भी इसे नहीं बतलाया। सेना नाई के एक पद[२] से केवल इतना जान पड़ता है, "राम की भक्ति के वास्तविक जानकार स्वामी रामानंद ही हैं, जो पूर्ण परमानंद की व्याख्या करते हैं।" इसके आधार पर इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि सेना नाई उक्त स्वामीजी के समकालीन रहे होंगे। उन्होंने उनकी प्रशंसा में ये पंक्तियाँ कही हैं। इस पद में वे स्वामीजी को अपना गुरु भी नहीं स्वीकार करते। इसी सेना नाई और कबीर साहब के संबंध में उक्त रैदास ने इस प्रकार लिखा है, जसे वे कभी के मर चुके हों। सेना नाई और कबीर साहब इन दोनों को वे नामदेव, त्रिलोचन और सधना की भाँति ही तर गए हुए अथवा मुक्त हो गए हुए कहते है।[३] कबीर साहब को तो एक दूसरे पद में अपने समय तक तीनों लोकों में प्रसिद्ध तक बतलाते हैं।[४] इसी प्रकार सेना नाई, कबीर तथा रैदास को भी धन्ना भगत ने अपने से पहले ही प्रसिद्ध भक्तों की श्रेणी तक पहुँच गया हुआ कहा है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्हीं लोगों की प्रसिद्धि से प्रेरित होकर मैंने भक्ति की साधना अंगीकार की और भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये।[५] पीपाजी

---

१. बीजक, पद ७७, बेलवेडियर प्रेस, पृ० ५६ और कबीर-ग्रंथावली, पद १८६, पृ० १५२ तथा गुरुग्रंथ साहब, पद ६४, पृ० ४६२।

२. 'राम भगति रामानंद जानै, पूरन परमानंद बखानै', श्री गुरुग्रंथ साहिब, श्री सैणु धनासरी १, पृ० ५६४।

३. 'नामदेव कबीर तिलोचना सधना सैणु तरे'। वही, राग मारू १, पृ० ११०४।

४. 'तिहूंरे लोक परसिध कबीरा' वही, राग मलार, २ पृ० १२६२।

५. 'बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनी जैग हीरा'॥१॥

के विषय में 'बीजक' में आये हुए एक प्रसंग[1] से पता चलता है कि जिस पद में उनका नाम आया है, उसकी रचना उनकी मृत्यु के अनंतर अवश्य हुई होगी। उस पद में उनका नाम जयदेव, नामदेव, गोरख-जैसे दिवंगत महापुरुषों के साथ तो आया ही है, उसे प्रह्लाद के नाम के साथ भी जोड़ कर "तिनहुं को काल न राखा" बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि यदि वह रचना कबीर साहब की है, तो पीपा जी उनके पहले अवश्य मर चुके होंगे। किंतु डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'संत कबीर' में जो एक पद[2] किस 'सरबगुटिका' नाम की हस्तलिखित पुस्तक से उद्धृत किया है, उससे विदित होता है कि वास्तव में पीपा ने कबीर से ही अपनी नामोपासना की चेतना प्राप्त की थी इस प्रकार संभव है, इन दोनों में कबीर साहब ही अवस्था में पीपाजी से बड़े हों। कुछ भी हो, उक्त विवरणों के अनुसार कालक्रम से स्वामी रामानंद, सेना नाई, कबीर साहब, पीपाजी (अथवा पीपाजी, कबीर साहब), रैदास जी तथा धन्ना भगत के नाम दिये जा सकते हैं। इन सभी महापुरुषों के एक साथ अधिक दिनों तक समकालीन कहलाने में पर्याप्त संदेह की गुंजाइश है। सीधा गुरु-शिष्य का संबंध भी स्वामी रामानंद का उक्त पाँचों के साथ इसी कारण निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। कबीर साहब और स्वामी रामानंद के शिष्य-

---

रविदास ढुंवता ढोरनी तितिनी तिआगी माइआ।
परगटु होआ साध संग हरि दरसनु पाइआ ॥२॥
सैनु नाई बुतकारिआ उहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदै बसिआ पा ब्रह्म भगता महि गनिआ ॥३॥
इहि विधि सुनि कै जाटरो उठि ठगती लागा।
मिलै प्रतीव गुसांइआ धना बड़भागा ॥४॥ गुरुग्रंथ साहिब, आसा २, पृ० ४८७-८।

१. ब्रह्मा बरून कुबेर पुरन्दर पीपा औ प्रह्लाद।
हिरनाकुश नख उदर बिदारा, तिनहुं को काल न राखा।
गोरख ऐसे दत्त दिगंबर, नामदेव, जयदेव दासा।
तिनकी खबर कहत नहिं कोई, कहां कियो है बासा ॥आदि
—बीजक, पद ८६, पृ० ६२।

२. जो कलि माँझ कबीर न होते।
तौ ले ...वेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातल देते।

.. .. ..

नाम कबीर साच करकास्या तहां पीपै कछु पाया।
—श्री पीपाजी की वाणी, संत कबीर, प्रस्तावना, पृ० ४४।

गुरु-संबंध को सबसे पहले प्रकट करनेवाले हरिराम व्यास वा व्यासजी कहे जाते हैं जो सं० १६१२ में वर्तमान थे और जिन्होंने कबीर साहब को अपने भक्त-कुल का भी माना है।[1] परन्तु स्वामी रामानंद की मृत्यु के प्रायः सौ वर्षों के अनंतर की रचना में एक भक्त द्वारा ऐसी बातों का यों ही भी सम्मिलित कर लिया जाना कोई असंभव बात नहीं।

वही

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, मीराँबाई के समय अर्थात् संवत् १५५५–१६०३ से ही कबीर साहब के संबंध में अलौकिक बातें कही जाने लगी थीं और मीराँबाई ने धन्ना भगत पीपाजी को भी वैसा ही भक्त समझा था।[2] अब, यदि धन्ना भगत सचमुच स्वामी रामानंद के तथाकथित शिष्यों में सब से पीछे तक वर्तमान रहे हों और उनके संबंध में भी स्वयं भगवान द्वारा बिना बीज के भी गेहूँ उपजाने की बात कही जाने लगी हो, तो उसके लिए पर्याप्त समय व्यतीत हो चुकने का अनुमान करना अनुचित न होगा। उसके लिए यदि सौन हीं, तो कम-से-कम ७०-८० वर्षों तक अपेक्षित होना तो आसानी से मान लिया जा सकता है। जान पड़ता है कि उक्त समय तक उन सभी संतों की गणना प्राचीन भक्तों में प्रथानुसार होने लगी थी। उनके जीवन की घटनाओं पर पौराणिकता की छाप लगने लगी थी और उन पर चमत्कारों का रंग भी चढ़ाया जाने लगा था। इतना ही नहीं, प्रायः निश्चित रूप से मीराँबाई से कहीं पहले मुक्त हो जानेवाले रैदासजी के विषय में उन्हीं की रचनाओं में कहा जाने लगा था कि वे उससे स्वयं मिले थे। मीराँबाई का स्पष्ट शब्दों में कहना है, "मुझे रैदासजी गुरु मिले, जिन्होंने ज्ञान की गुटकी प्रदान की और 'सुरत सहदानी' से परिचित कराया।"[3] यह मृत संतों

---

१. 'सांचै साधु जु रामानंद।

.. ..

जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंत' आदि,

तथा, 'इतनी है सब कुटुम हमारो।

सैन, धना, औ नाभा, पीपा, कबीरा, रैदास चमारो।' आदि।

—सूरदास, (राधाकृष्णदास द्वारा संपादित), पृ० २३।

२. 'दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद।' मीरांबाई की पदावली, पद १३७, पृ० ६७-८।

'पीपा को प्रभु चरच्यो दीन्हों, दियारे खजीनापूर'। वही, पद १३२, पृ० ६६।

३. 'गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी।' वही, पद, २४ पृ० १२-१३।

द्वारा उपदेश देने और सतगुरु के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन देकर दीक्षित करने की परंपरा आगे और भी प्रचलित होती गई। हम देखते हैं कि मीराँबाई के संभवतः कुछ ही अनंतर इसी प्रकार धर्मदास को कबीर साहब ने 'विदेही' होते हुए भी 'झीने रूप' में दर्शन दिये। चरणदास (सं० १७६०–१८३६) को शुकदेव मुनि ने उपदेश दिये और गरीबदास (सं० १७७४–१८३५) को कबीर साहब ने ही फिर आकर अपना चेला बनाया। धर्मदास ने अपने विषय में कबीर साहब के साथ की भेंट की स्वयं चर्चा की है।[1] इस बात की पुष्टि 'अनुरागसागर'[2] तथा 'अमर सुख-निधान'[3] की कुछ पंक्तियों द्वारा भी हो जाती है। मीराँबाई के समय (सं० १५५५-१६०३) तक कबीर साहब के विषय में चमत्कारपूर्ण वर्णनों का आरंभ हो जाना, व्यासजी (सं० १६१२ में वर्तमान) के समय से उनके रामानंद-शिष्य कहे जाने की प्रथा का चलना, अनंतदास (सं० १६४५) के लगभग से सिकंदर लोदी के प्रसंग का दीख पड़ना,[4] अबुल फ़जल (सं० १६५५ में वर्तमान) के समय से उनके शव के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच कलह उत्पन्न होने की चर्चा का फैलना[5]

'रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।' मीरांबाई की पदावली, पद १५६, पृ० ७७।

१. 'साहेब कबीर प्रभु मिलै बिदेही, झीना दरस दिखाइआ।' धरमदास की बानी, वेल० प्रेस, प्रयाग, पृ० ५६।

२. 'जुलहा की तब अवधि सिरानी। मथुरा देह धरी तिन आनी।

... .

पुरुष आवाज उठी तिहि बारा। ज्ञानी वेग जाहु संसारा॥

.. .. ..

ज्ञानी वेग जाहु तुम अंसा। धर्मदास के मेटहु संसा॥"
—अनुराग सागर, वेल० प्रे०, प्रयाग, पृ० ८४-५।

३. 'जिंदरूप जब धरा सरीरा। धरमदास मिलि गए कबीरा॥
—अमर सुखनिधान (उक्त धरमदास की बानी के० पृ० २-६ में उद्धृत)

४. 'स्याह सिकंदर कासी आया। काजी मुला कै मनि भाया॥'

.. .. ..

'बांध्यो पग मेल्यो जंजीरू। ले बोरयो गंगा के दीरू॥'
—श्री कबीर साहब जी की परचई, संत कबीर, पृ० ३०-१ पर उद्धृत।

5. "He was revered by both Hindus and Muhammadans for his catholicity of doctrine and the illumination of his mind, and when he died the Brahmans wished to burn his body and the Muhammadans to bury it." 'Ain-e-Akberi' (translated by Col. H. I. Jerret vol. II Calcutta, 1891, p. 129.

तथा और आगे चल कर उनके शेख तक़ी का शिष्य होने अथवा गुरु नानक से भेंट करने की कल्पनाओं का भिन्न-भिन्न रचनाओं में स्थान पाने लगना उपलब्ध सामग्रियों की जाँच-पड़ताल करने पर क्रमशः आये हुए प्रसंगों के रूप में दीख पड़ते हैं। इन सभी में काल पाकर कुछ-न-कुछ बातें बढ़ती ही गई हैं। अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इनमें से किसी-न-किसी को लोग ऐतिहासिक महत्त्व भी देते गए हैं। कालांतर में पड़ती गई कल्पना-निर्मित 'गर्द ओ गुबार' को यदि मूल ऐतिहासिक बातों के ऊपर से हम किसी प्रकार हटा सकें, तो भिन्न-भिन्न संकेतों का सारा झगड़ा आसानी से तय हो जाय और केवल थोड़ी-सी भी स्वच्छ तथा निखरी सामग्रियों के आलोक में हमें सत्य का आभास मिल जाय।

कबीर साहब के समकालीन समझे जानेवाले संतों तथा भक्तों में कमाल और पद्मनाभ के भी नाम लिए जाते हैं। इनमें से कमाल का कबीर साहब का पुत्र तथा पद्मनाभ का उनका शिष्य होना प्रसिद्ध है। कमाल की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध हैं जिनसे प्रकट होता है कि वे अपने को कबीर साहब का 'पूत' वा 'बालक' कहा भी करते थे।[1] इसके सिवाय यह भी कहा जाता है कि वे कबीर साहब की आज्ञा लेकर संत-मत का प्रचार करने अहमदाबाद की ओर गए थे।[2] दादूदयाल (सं० १६०१—१६६०) की गुरु-परंपरा में (कमाल, जमाल, विमल, बुड्ढन वा बौंधन और दादू दयाल के अनुसार) उनके ऊपर पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे।[3] एक दूसरे मत के अनुसार कमाल की गिनती शेख कमाल के नाम से सूफ़ी-सम्प्रदाय के लोगों में भी की जाती है और उनकी कब्र का कड़ा मानिकपुर में होना भी बतलाया जाता है[4] 'जायसी

---

१. 'उत्तर स्याने भयो कबीरा, राम चरण का बंदा है।
उनीका पूत कहै कमाल दोनों का बोलबाला है।" ३॥ गाथा पंचक, पद २, पृ० ७५।
'कहै कमाल कबीर का बालक, मन किताब सुनावेगा।' वही, पद ५२, पृ० ८७।
'गंगा जमुन के अंतरे निर्मल जल पाणी।
कबीर को पूत कमाल कहै, जिन इह गति जांणी॥'
—कमाल बानी, डॉ० बर्थ्वाल द्वारा निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० ३०४ पर उद्धृत।

२. 'चले कमाल तब सीस नवाई। अहमदाबाद तब पहुंचे आई॥'
—बोधसागर, पृ० १५१५।

३. डॉ० बर्थ्वाल : दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री, पृ० २५८-५९।

४. डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायौग्राफी, पृ० ९३।

ग्रंथावली' की भूमिका में[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की जो गुरु-परंपरा उद्धृत की है। उससे पता चलता है कि शेख कमाल के गुरु-भाई शेख मुबारक थे और ये दोनों शेख़ हाज़ी के शिष्य थे जो स्वयं सैयद अशरफ़ जहाँगीर के चेले थे। इन अशरफ़ जहाँगीर का मृत्यु-काल सं० १४५८ : सन् १४०१ ई० बतलाया जाता है।[2] अतएव इस हिसाब से यदि प्रत्येक पीर की पीढ़ी २५ वर्षों की मान ली जाय, तो शेख़ कमाल का सं० १५०८ तक रहना सिद्ध किया जा सकता है। उसी प्रकार दादूदयाल की गुरु-परंपरा पर भी विचार करने पर यदि दादूदयाल की जीवनी लिखनेवाले जन गोपाल का कहना ठीक हो कि उनके गुरु अत्यंत वृद्ध के रूप में उनसे प्रथम ११ वर्ष की अवस्था में और फिर अंत में ७ वर्ष पीछे मिले थे। उक्त गुरु की मृत्यु दूसरी घटना के एक वर्ष पीछे संभव हो, तो कमाल का सं० १५४५ तक रहना भी कहा जा सकता है और उक्त दोनों संवतों में ३७ वर्षो का अंतर आता है। पता नहीं उक्त दोनों कमाल एक ही थे वा नहीं और यदि नहीं, तो इनमें से कोई भी एक वे समझे जा सकते है कि नहीं। यदि इनमें से किसी एक की भी संगति बैठ जाय, तो कमाल के "उत्तर स्यांने भयो कबीरा" से हम कबीर साहब के मृत्यु-काल के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। पद्मनाभ के विषय में नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय दिया है और रूपकलाजी ने उनका सं० १५७४ के लगभग वर्तमान रहना बतलाया है।[3] एक नागर ब्राह्मण पद्मनाभ का और भी पता चलता है। उन्होंने सं० १५१२ में 'कान्हड़दे प्रबंध' नामक एक ऐतिहासिक ग्रंथ गुजराती भाषा में लिखा है।[4] इनके विषय में और कुछ भी ज्ञात नहीं। फिर भी डॉ० मोहनसिंह को संदेह है कि कहीं ये ही न कबीर साहब के उक्त शिष्य रहे हों।[5] परन्तु कबीरपंथी-परंपरा के अनुसार पद्मनाभ ने 'राम-कबीर-पंथ' भी चलाया था जो अयोध्या में फैला। उक्त इतिहासकार पद्मनाभ का गुजरात प्रदेश की ओर का होना लक्षित होता है तथा उन्हीं का कबीर साहब द्वारा शिष्य बना लिया जाना किसी अन्य

१. रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ८७।
२. सैयद आले मुहम्मद मैहर जायसी : 'मलिक मुहम्मद जायसी का जीवनचरित्र' —नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, अंक १, पृ० ५१-५२।
३. नाभादास : भक्तमाल, (रूपकला की टीका 'भक्ति-सुधा-स्वाद' सहित) पृ० ५४०।
४. के० एम० झावेरी : माइल स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ४८।
५. डॉ० मोहन सिंह : कबीर, हिज बायोग्राफी, पृ० ८६।

प्रमाणों से भी अभी तक सिद्ध नहीं। इसलिए इस विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त रूपकलाजी के दिये हुए सं० १५७४ के लिए भी कोई अन्य आधार अपेक्षित है। उसे भी हम तब तक उक्त पद्मनाभ का आविर्भाव-काल मानने को बाध्य नहीं, जब तक कोई अन्य प्रमाण भी इस संबंध में उपलब्ध न हो जाय।

सारांश

सारांश यह कि कबीर साहब का जीवन-काल पूर्ण रूप से निर्धारित करने के लिए अभी तक यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसी कारण इस विषय में हम अंतिम निर्णय असंदिग्ध रूप से देने में असमर्थ ही कहे जा सकते हैं। फिर भी जो कुछ साहित्य इस प्रश्न को सुलझाने के लिए आज तक प्रस्तुत किया गया हमारे सामने दीख पड़ता है, उससे इतना स्पष्ट है कि सभी बातों के पूर्वापर विचार करते हुए उनके मृत्यु-काल को लोग पीछे की जगह कुछ पहले की ओर ही ले जाने के लिए अधिक यत्नशील हैं। हम तो समझते हैं कि उक्त समय का विक्रमी संवत् की सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में रखा जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से सं० १५०५ भी कदाचित् ठीक हो सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर कबीर साहब का स्वामी रामानंद का समकालीन तथा उनके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना, अपने निराले क्रांतिकारी विचारों की सहायता से संत-मत की बुनियाद को सुदृढ़ बना उसे पूर्ण बल प्रदान करना, सेना, पीपा, रैदास, धन्ना तथा कमाल-जैसे साधकों को अपने आदर्शों के प्रति पूर्ण रूप से आकृष्ट करना, कुछ पीछे आनेवाले जायसी (सं० १५५१–१६४०) जैसे सूफ़ी तथा सूरदास (सं० १५४०-१६२०) तथा मीराँबाई (सं० १५५५-१६०३) जैसे कृष्णानुरागी भक्त-जनों तक को अपनी विचार-धारा के प्रवाह में डाल देना आदि सभी बातें संभव हो सकेंगी। हाँ, कबीर साहब का जन्म-काल उस दशा में परंपरागत सं० १४५५ वा १४५६ से कुछ पहले ले जाना पड़ेगा। वैसी स्थिति आने पर संभव है, उक्त संवत् उनके सर्वप्रथम प्रबुद्ध होने का ही समय समझा जाने लगे। उनके 'काशी आने', 'काशी में प्रकट होने' अथवा 'सत्पुरुष के तेज के गमन से लहरतारा में उतरने' आदि का तात्पर्य तब वही होगा जो उनके प्राथमिक जीवन का कायापलट होकर उनके एक नितांत नवीन जीवन प्राप्त करने का हो सकता है। इसकी ओर उनके 'गुरुदेव', 'परचा', 'उपजणि' आदि अंगों के अंतर्गत आनेवाली कतिपय साखियों द्वारा कुछ संकेत भी हमें मिलते हैं। यदि 'अनंतदास की परचई' प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्संबंधी कथन भी सत्य निकल आवे, तो इस विषय में 'तीस बरस तै चेतन भयो' के

सहारे हम उनके जन्म-काल के लिए भी सं० १४५५-३०=सं० १४२५ दे सकेंगे और वैसा होने पर कबीर साहब मैथिलकलि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) अथवा (१४०७-१५०७)[१] के समसामयिक हो जायेंगे। ऐसी दशा में संभवत: इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि असम के प्रसिद्ध भक्त शंकरदेव (सं० १५०६–१६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादशवर्षीया तीर्थ-यात्रा (सं० १५४०–१५५२)[२] के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किये थे।

(ख) महात्मा गाँधी की जीवन-निर्माण कला

विशेषता

महात्मा गाँधी को अपने जीवन-काल में अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट झेलने पड़े, उनके सामने कई बार पारिवारिक उलझनें आयीं जिन्हें सुलझाते समय उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। इनके सिवाय उन्हें प्रतिदिन उन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ता रहा जो हमारे देश की विचित्र परिस्थिति के कारण बराबर उठ जाया करती थीं। परन्तु वे इस प्रकार की किसी भी कठिनाई से कभी भागते नहीं दीख पड़े। उन्होंने सदा पूरे धैर्य के साथ वस्तुस्थिति का अध्ययन किया और प्रत्येक समस्या को हल करने की चेष्टा में वे निरंतर रहे। उनके मानसिक क्षितिज पर विविध चिंताओं की घनघोर घटा घिर जाया करती थी। उनके हृदय पर कर्त्तव्यों का बोझ सदा लदा-सा रहता था, किंतु वे उनसे कदाचित् ही कभी विचलित हुए देखे गए होंगे अथवा उन्हें किसी प्रकार टाल देने के यत्न में लगे होंगे। उन्होंने अपने सामने आयी हुई बातों की वास्तविक स्थिति जान लेने की चेष्टा सदा यथाशीघ्र आरंभ की और उसके संबंध में कुछ-न-कुछ करने की ओर भी प्रवृत्त हो गए। फलत: अपने जीवन-काल की अवधि में जितना काम वे अकेले कर गए, उतना कई महापुरुषों ने कदाचित् मिल कर भी नहीं किया होगा। उनकी यह विशेषता स्पष्ट थी, किंतु इसके कारण बहुत कुछ रहस्यमय थे।

जीवन का प्रयोग

महात्मा गाँधी की उक्त सफलता का रहस्य सर्वप्रथम इस बात में निहित था कि उन्होंने अपने जीवन को कभी भार-स्वरूप नहीं समझा, प्रत्युत उसे किसी अंतिम उद्देश्य के लिए एक नितांत आवश्यक साधन माना। मानव-जीवन के

---

१. विद्यापति पदावली, पटना, सं० २०१८, 'भूमिका', पृ० ३३।
२. एच० एम० दास : शंकरदेव ए स्टडी, गौहाटी, सन् १९४५ ई०, पृ० २४।

महत्त्व से भली भाँति वे परिचित थे और उसे अच्छे-से-अच्छे ढंग से काम में लाने की कला का वे आमरण अभ्यास करते रहे। इसके लिए उन्होंने कुछ नियम निश्चित कर रखे थे जिन्हें आवश्यकतानुसार वे परखते भी चलते थे। उन्होंने उनमें से किसी के भी रूढ़िगत रूप में विश्वास नहीं किया, अपितु परिस्थिति के अनुसार उन पर नये ढंग से पुनर्विचार करने पर वे तैयार हो जाते रहे। उन्होंने सत्य-जैसी वस्तु के भी अपने जीवन में अनेक बार 'प्रयोग' किये और उसे उसी प्रकार जान लेने की चेष्टा की, जिस प्रकार एक वैज्ञानिक किसी पदार्थ की अपनी प्रयोगशाला में परीक्षा कर उसे समझता तथा उसके विषय में व्यापक नियम निर्धारित करता है। उन्होंने किसी भी आदर्श को तब तक स्वीकार नहीं किया, जब तक उसे अपने व्यवहार की कसौटी पर जाँच कर पहले उसकी सुसंगति बैठा लेने की भरसक चेष्टा नहीं कर ली और उसके मूल्य का यथाशक्ति अंकन भी नहीं कर लिया।

सत्य का स्वरूप

सत्य उनकी जीवन-यात्रा का एक-मात्र पथ-प्रदर्शक था और अपना निजी अनुभव ही उसके लिए उनका एकमात्र संबल था। किंतु उस सत्य को भी उन्होंने किसी ध्रुवतारा जैसी पृथक् तथा दूर से संकेत करनेवाली वस्तु के रूप में कभी नहीं देखा। वे उसे सदा अपना अत्यंत निकटवर्त्ती तथा वास्तविक अंग मानते रहे। उसके साथ तादात्म्य तथा तदाकारता उपलब्ध करने के यत्न में निरंतर इसलिए लगे रहे जिससे उनके जीवन का प्रत्येक कार्य उसी के अनुरूप होता चले। उसके साथ किसी प्रकार की विषमता भी न आने पावे। सत्य ही वास्तव में उनका ईश्वर था जिसे वे अपने हिन्दू-संस्कारों के अनुसार बहुधा 'राम' भी कहा करते थे। फिर भी उनके अनुसार वह कोई व्यक्ति-विशेष न था, न ऐसा ही था जिसे किसी देश-काल की परिधि में बँधा हुआ कोई अलौकिक तत्त्व कह सकते हैं। महात्मा गाँधी के लिए वह वस्तु कदाचित् 'है' का केवल एक प्रतीक मात्र था। उसकी नित्यता, सर्वव्यापकता और अद्वितीयता की शक्ति से मुग्ध होकर वे कभी-कभी न केवल उसे स्वभावतः कोई-न-कोई नाम दे देते, प्रत्युत उससे स्मरण तथा चिंतन द्वारा उसके साथ सान्निध्य का अनुभव भी करते रहते थे।

उसकी अनुभूति

उस सत्य के अपनाने की चेष्टा ने उनके जीवन में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया था। वे प्रत्येक वस्तु अथवा नियम के विषय में विचार करते समय उसे एक व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण के साथ देखा करते थे। अपने उक्त प्रयोगों के निरंतर करते-करते उनकी स्थायी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी हो चली

थी कि किसी संकुचित भावना का उनके सामने आकर किसी प्रकार की बाधा डालना असंभव-सा था। बड़े-से-बड़े प्रश्नों से लेकर साधारण-से-साधारण कठिनाइयों तक के संबंध में की गई उनकी धारणा हमारे सामने एक विलक्षण रूप धारण करके आती हुई प्रतीत होती थी। हम उनके उस ऊँचे स्तर की रूप-रेखा से प्राय: अपरिचित रहने के कारण उनकी बातें पहले समझ नहीं पाते थे। किंतु जब उनके व्यक्त विचारों के आधार पर उन्हें अंशत: जान पाते थे, तब फिर दंग भी रह जाते थे। किसी भी समस्या के आने पर उससे तटस्थ रह कर तथा अत्यंत उदार भाव के साथ उसे सुलझाने का यत्न करना उनकी एक विशेषता थी। इस कारण उन्हें आगे चल कर परिस्थिति के बहुत कुछ बदल जाने पर भी अपने किये हुए कामों के लिए पछताने का बहुत कम अवसर उपस्थित हुआ।

परिणाम

सत्य को इस प्रकार अपनाने का एक सुंदर प्रभाव यह पड़ता है कि ऐसा करते समय हम स्वभावत: अपने को विश्व का अंतरंग समझने लगते हैं। हमें कोई भी व्यक्ति वा पदार्थ पराया नहीं जान पड़ता, न वह हमसे किसी प्रकार भिन्न प्रतीत होता है। इस कारण उसके प्रत्येक कार्य को हम अपने लिए प्रस्तुत मानने लगते हैं। उसी प्रकार स्वयं अपने कार्य को भी सबके निमित्त किया गया समझते हैं। इस आत्मीयता के भाव का परिणाम यह होता है कि हमें किसी को किसी बात के लिए उलाहना देने की आवश्यकता नहीं रहती, न किसी से किसी प्रकार झगड़ने का ही अवसर आता है। मनुष्य को कौन कहे, यदि विचार किया जाय, तो जान पड़ेगा कि विश्व के सभी अंग जैसे पर्वत, नदी, पवन, सूर्य तथा चन्द्र तक हममें से प्रत्येक के लिए निरंतर कार्य में लगे हुए हैं। वे अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय कभी विराम लेना तक नहीं जानते, न कभी उनके नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन ही देखा जाता है। मनुष्य कभी उनके उपकारों की ओर ध्यान नहीं देता, न उनके प्रति कभी अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन ही करता है। फिर भी वे अपने-अपने कार्य सदा अनवरत रूप में करते चले जा रहे हैं। उनके इस प्रकार एक ही ढंग से व्यस्त रहने पर भी विश्व नित्यश: अग्रसर होता हुआ भी दीखता है।

कार्य-पद्धति

महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में प्रतिदिन किये जानेवाले प्रत्येक कार्य को उक्त सिद्धांत के अनुसार ही नियमित कर रखा था। उनके नित्य प्रति के खाना-पीना, सोना, उठना-बैठना, मिलना-जुलना आदि सभी कार्य निश्चित ढंग से हुआ करते थे। जिस प्रकार किसी घड़ी की सुई प्रत्येक क्षण आगे बढ़ती हुई

भी अपनी परिधि के बाहर कभी नहीं जाती और अपना प्रतिदिन का कार्य एक निश्चित नियम के अनुसार किया करती है, उसी प्रकार उन्होंने भी अपना प्रत्येक कार्य करने की चेष्टा की। इसके सिवाय जिस प्रकार उक्त घड़ी अपने केन्द्र से कभी विलग नहीं होती और इसी नियम पर उसकी सारी चाल भी निर्भर रहा करती है, ठीक उसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भी अपने केन्द्रगत सत्य की ओर से अपने ध्यान को कभी नहीं हटाया, अपितु उसके साथ जुड़े हुए ही रह कर सभी कार्य करते रह गए। घड़ी एक निर्जीव यंत्र है और उसके मूलतः कृत्रिम होने के कारण भी हम इसके उक्त कार्य को उतना महत्त्व देना नहीं चाहते, किंतु यदि एक क्षण के लिए हम ऐसी कल्पना कर लें कि उपर्युक्त पर्वत, नदी-जैसे प्राकृतिक वस्तु क्या, मनुष्यमात्र तक वस्तुतः यंत्रवत् कार्य करने में ही निरत हैं, तो इस व्यापक सिद्धांत का रहस्य शीघ्र प्रकट हो जाय। हमें पता चल जाय कि यथार्थ में कोई भी पदार्थ गुप्त वा प्रकट रूप से उस केन्द्र की उपेक्षा नही कर सकता।

प्रेरणा

महात्मा गाँधी जब कहते थे कि बिना 'उसकी' आज्ञा के एक साधारण पत्ता भी नहीं हिलता अथवा जब कभी उन्होंने अनशन आदि के अवसरों पर कभी-कभी कह डाला कि मेरा जीवन उस नियंता के अधीन है, तब सदा उन्होंने उक्त नियम को ही अपने ध्यान में रखा। उनकी अंतरात्मा तथा अतःकरण की प्रसिद्ध पुकार भी वही थी, जो अवसर विशेष पर उन्हें किसी कार्य से विरत कर देती थी अथवा उन्हें किसी ओर आवाहन करती थी। उन्होंने इस प्रकार अपने को उपर्युक्त प्राकृतिक वस्तुओं के साँचे में ही जैसे ढाल रखा था और उन्हीं के आदर्शों पर सदा चलने का निश्चय कर लिया था। उनका कोई भी कार्य निजी नहीं था, न उसे करते समय उन्हें किसी प्रकार का संकोच वा भय दिखलाने की आवश्यकता ही पड़ती थी। किसी कार्य को वाह्यतः विफल होता देख उन्हें इसी कारण कभी निराश होने का भी अवसर नही आता था और वे अपने को सदा आशावादी ही मानते रहे। वे उक्त नियमों का अक्षरशः पालन करते समय भी किसी बंधन का अनुभव नहीं करते थे। उनके यहाँ अनुशासन में भी आत्म-स्वातंत्र्य की मात्रा बहुत अधिक रहा करती थी, क्योंकि किसी कार्य को इन्होंने उसी भाव के साथ करने का यत्न किया जिससे एक सच्चा स्वयंसेवक अनुप्राणित रहा करता है।

अनासक्ति

महात्मा गाँधी को अपने किसी कार्य में कभी थकावट नहीं जान पड़ी,

न उसे उन्होंने कभी विरक्त होकर बीच में ही छोड़ दिया। उन्होंने प्रत्येक कार्य के छोटे-से-छोटे अंश को भी सावधानी के साथ और पूर्ण अभिरुचि से संपन्न करने की चेष्टा की। उन्हें किसी भी कार्य का कोई भी क्षुद्र-से-क्षुद्र अंश उसके पूर्ण रूप से कम महत्त्व का नहीं जान पड़ा, न कभी ऐसा अवसर आया, जब उसे उन्होंने अरुचिकर माना हो। कार्य करते समय आनंद का अनुभव करना और उसे सुंदरता के साथ संपन्न करने में अंत तक लगा रहना उनकी एक अन्य विशेषता थी। परन्तु जिस प्रकार वे किसी कार्य के संपादन में अपना हृदय पूर्णरूप से लगा देते थे, उसी प्रकार उसे कर डालने पर उससे अनासक्त भी रहा करते थे। उसके प्रति उनका ऐसा कोई महत्त्व नहीं रह जाता था, जैसा अपने किये हुए कार्य के प्रति सर्वसाधारण का बहुधा देखा जाता है। सर्वसाधारण यदि कुछ करते हैं तो उसकी सफलता पर वे फूले नही समाते और उसके विफल होते ही हताश होकर गिर भी जाते हैं। परन्तु महात्मा गाँधी ऐसे व्यक्तियों में नहीं थे। उनके इस अपूर्व स्वभाव ने ही उन्हें अपनी जीवन-यात्रा में बढ़ते जाने के लिए निरंतर उत्साह प्रदान किया था।

अहिंसा

जिस दृष्टिकोण वा 'दर्शन' को लेकर वे अपने जीवन में अग्रसर हुए थे, उसका एक अवश्यंभावी परिणाम उनका विश्व-बंधुत्व था जिसने उन्हें अपने शत्रु तक को मित्रवत् मानने के लिए सदा प्रेरित किया और सारे विश्व को उनके लिए एक संयुक्त परिवार का रूप दे डाला। उनकी यह भावना इतनी तीव्र थी कि उसके कारण उन्होंने दूसरों के हृदयगत विकारों को भी अपने रंग में ही रँगा हुआ पाया। उनकी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर उन्होंने उन पर पूरी उदारता के साथ दृष्टिपात किया और यदि उनमें कहीं अधिक निर्बलता पायी तो उसे क्षमा द्वारा बल प्रदान करने से भी वे नहीं चूके। सर्वसाधारण उनकी विविध बातों को अपनी नासमझी के कारण कभी सच्चे रूप में चाहे न भी देख पाते हों और उनके एक से अधिक अर्थ लगा कर उनके कारण उन्हें चाहे अपना शत्रु तक मान बैठते हों, किंतु उन्होंने इस प्रकार की भूल कभी नहीं की। उनकी प्रसिद्ध अहिंसा के सिद्धांत का रहस्य इसी बात के भीतर निहित रहा कि चाहे जिस प्रकार भी हो, किसी के शरीर वा मन तक पर भी किसी प्रकार का आघात न पहुँच सके। वास्तव में महात्मा गाँधी के उपर्युक्त व्यापक दृष्टिकोण के रहते इस प्रकार की ही धारणा का होना नितांत स्वाभाविक था।

संतुलित जीवन

सत्य को अपने निजी अनुभव द्वारा अपना लेने के ही कारण उन्होंने उसे

अपना निजी स्वरूप मान लिया था। फलतः उसके आधार पर निर्धारित की गई बातों के प्रति उनके भीतर एक अनुपम आस्था हो जाती थी और उनके समर्थन तथा निर्वाह के लिए वे प्राणपण की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते थे। अपने इस प्रकार के यत्नों को उन्होंने 'सत्याग्रह' का नाम दे रखा था और उसके अनुसार उन्होंने अपने जीवन में अनेक बार कार्य किये थे। उनकी ऐसी चेष्टाओं में उनकी सच्ची अनुभूति के कारण इतना आत्म-बल रहा करता था कि उसका सफलतापूर्वक सामना करना किसी के लिए भी असंभव हो जाता था। फिर भी, यदि उनके विचारों में आगे चल के कभी परिवर्तन आ जाता था तथा अपने पूर्व-कृत निर्णय को वे कहीं अपनी भूल समझ बैठते थे तो उन्हें यथाशीघ्र रोक देने में भी वे कभी नहीं चूकते थे। उस समय जान पड़ता था कि वे किसी प्रयोगशाला में ही काम कर रहे हैं। इस वैज्ञानिक युग में रह कर उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन को ही प्रयोग की वस्तु बना डाला। एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति उसके नियम स्थिर करते गए। सत्य की कसौटी पर सदा कसते हुए उसे उन्होंने ऐसा रूप दे डाला जो अन्य व्यक्तियों के लिए भी आदर्श हो सकता है। वे आमरण सदा इसी बात के लिए सचेष्ट रहे कि उनका ध्यान अपने केन्द्र-विंदु 'सत्य' से रचमात्र भी डिगने न पावे। हमारे इस विचित्र समाज के भीतर उन्होंने अपने को प्रायः उसी प्रकार संतुलित तथा सावधान रखना चाहा, जिस प्रकार किसी डोरी पर चलने वाला कलाभ्यस्त नट अपने को सँभाला करता है।

●

सहायक साहित्य-सूची

प्रथम अध्याय

१. 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद'
२. 'छान्दोग्योपनिषद्' 'तैत्तिरीयोपनिषद्', 'कठोपनिषद्', 'ईशोपनिषद्', 'मुंडकोपनिषद्', 'मैत्र्युपनिषद्', 'प्रेमोपनिषद्', नादविन्दूपनिषद्'
३. 'योगोपनिषद्' (संग्रह) Edited by A. Mahadeva Sastri (Adyar Library Madras)
४. 'पातंजल योगसूत्र', 'ब्रह्मसूत्र' (शांकर भाष्य) तथा 'सर्वदर्शन संग्रह'
५. 'महाभारत', 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा 'मनुस्मृति'
६. 'रघुवंश' (महाकाव्य), 'मालविकाग्निमित्र' (नाटक) तथा 'भर्तृहरि शतकत्रयम्'
७. 'क़ुरआन शरीफ़'
८. 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह (Saraswati Bhavan Texts No 18)
९. 'धम्मपद' (महाबोधि ग्रन्थमाल)
१०. भिक्खु नारद थेरो : The Bodhisatta Ideal (Adyar Pamphlet, No 158)
११. Dr. R. Radhakrishnan : 'An Idealist View of Life.'
१२. 'श्री गुह्य समाज तंत्र' (Gaekwad Oriental Series, No 53)
१३. 'साधन माला' (Gaekwad Oriental Series Nos. 26 and 41)
१४. 'सेकोद्देश टीका' (नाड़पाद) Edited by M. E, Correlli (G. O. S. No 90, 1941)
१५. 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' (अनंगवज्र) G. O. S. No 44
१६. 'ज्ञान सिद्धि' (इन्द्रभूति) G. O. S. No 44
१७. गंगा (पुरातत्त्वांक), भागलपुर, जनवरी सन् १९३३ ई०
१८. 'दोहाकोश' (सरहपा, कण्हपा तथा तेलोपा) Calcutta Sanskrit Series No 25 C, 1938

१९. Materials, etc. by Dr. P. C. Bagchi, Calcutta University, 1938
२०. 'Old Bengali Texts' Edited by Dr. Sukumar Sen (Indian Linguistic Vol. X) Calcutta, 1948
२१. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, सन् १९६२ ई०
२२. 'पाहुड़ दोहा' (मुनिराम सिंह) डॉ० हीरालाल जैन-संपादित (कारंजा, सं० १९९०)
२३. 'योगसार दोहा' (योगीन्दु) श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला १० बंबई
२४. 'परमात्मप्रकाश दोहा' (योगीन्दु) सन् १९३० ई०
२५. 'गोरखबानी' डॉ० बडथ्वाल संपादित (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) सं० १९९९।
२६. 'नाथसिद्धों की बानियाँ' (काशी, सं० २०१४)
२७. Dr. Mohan Singh : Gorakhpur and Medieval Mysticism (Lahore, 1937)
२८. George Weston Briggs : Gorakhnath and the Kanphata Yogis (Calcutta, 1938)
२९. 'कश्फुल महजूब' (Translated by Dr. R. A. Nicholson (London, 1911)
३०. शेख फरीदुद्दीन अत्तार : मन्तिं कुत्तैर, लाहोर
३१. ईजाज़ुल्हक कददूसी : सूफ़िया-ए-पंजाब', कराची सन् १९६२ ई०
३२. सय्यद ज़हुरुल हाशिमी : 'क़ुरान और धार्मिक मतभेद' (दिल्ली, १९३३)
३३. श्री चंद्रबली पांडेय : तसव्वुफ़ व सूफ़ीमत (बनारस, १९४५ ई०)
३४. रामपूजन तिवारी : सूफ़ीमत साधना व साहित्य (काशी) सं० २०१३
३५. Dr. A.J. Arbery : The History of Sufism (Dr. A. Suharwardy Lectures for 1942 London)
३६. J.S.M. Hooper : Hymns of the Alvars (Heritage of India Series, Calcutta, 1929)
३७. Nammalvar (G. A. Natesan, Madras)
३८. J. C. Chatterji : Kashmir Shaivism Part I. (Kashmir Series of Texts and Studies, Srinagar, 1914)
३९. Indian Historical Quarterly (Vol. XV, 1939)

४०. विनयमोहन शर्मा : हिंदी को मराठी संतों की देन (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५७)
४१. वि० भि० कोलते : महानुभावा चा आचार दर्शन (नागपुर, १९४८)
४२. Dr, R. D. Ranade : Mysticism in Maharastra (Poona, 1933)
४३. ल० रा० पांगारकर : श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (गीताप्रेस गोरखपुर, सं० १९९०)
४४. श्री ज्ञानेश्वरी (ज्ञानेश्वर)
४५. अमृतानुभव (ज्ञानेश्वर)
४६. नन्हेलाल वर्मा : श्री नामदेव वंशावली (जबलपुर, सं० १९८३)
४७. बल्देव प्रसाद मैक : श्री नामदेव चरितावली (")
४८. 'नामदेवा चा गाथा' (विष्णु नरसिंह जोग संपादित, पुणे शक, १८५३)
४९. Namadeva (G. A. Natesan, Madras)
५०. 'विश्वभारती पत्रिका' (बैशाख, आषाढ़ सं० २००४)
५१. 'संतगाथा' (इंदिरा प्रेस, पुणे) शक १८३१ ।
५२. शं० पु० जोशी : पंजाबांतील नामदेव (मुंबई, १९४०)
५३. डॉ० मोहन सिह : नामदेव की नई जीवनी, नई पदावली (अंबाला)
५४. डॉ० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य (इलाहाबाद, १९५५ ई०)
५५. Dr. D. C. Sen : History of Bengali Language and literature (Calcutta University, 1911)
५६. Dr. R. C. Majumdar : History of Bengal (Vol. I. Dacca University, 1943)
५७. Dr. R. D. Banerji : History of Orissa (Calcutta 1930) Vol. I.
५८. रजनीकांत गुप्त : 'जयदेव चरित' (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, सन् १९१० ई०)
५९. The Journal of the Kalinga Historical Research Society Vol. I No 4 March, 1947)
६०. N. N. Vasu : Modern Buddism in Orissa (Calcutta, 1911)
६१. गीतगोविन्द (जयदेव)
६२. लल्लेश्वरी वाक्यानि (संस्कृत रूपांतर साहित, श्रीनगर)
६३. Lalla Vakyani (Asiatic Society Monographs

London, 1920)
६४. लालदेद-ए-हिंद वाक् (कश्मीर, १६२४)
६५. Mother Lal of Kashmir by Shankar Lal Kaul, The Visvabharti Quarterly Vo. XVIII part I May-July 1952, pp. 45-71
६६. The Indian Antiquery (October, 1920)
६७. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भा० ११ अं० ४, सं० १६८७)
६८. Dr. Sufi : Kashir (Lahore) 2 Vols, Lahore, 1948
६९. Travels of a Hindu Edited J. T. Wheeler, London, 1869
७०. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भा० १३ अं० २, सं० १६८६)
७१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय (हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, सन् १६५० ई०)
७२. Dr. R. G. Bhandarkar : Vaishnavism Shaivism and Minor Religious Systems (Poona. 1928)
७३. J. C. Oman : Mystics, Ascetics and Saints of India (Fisher)
७४. Hastings : Encyclopaedia of Religion and Ethics Vol. II
७५. Dr. Menical : Indian Theism.
७६. Dr. J. P. Carpenter : Theism in Medieval India
७७. मौलाना सरवर : 'ख़जीनतुल असफ़िया'
७८. ब्रजरत्न दास : खड़ीबोली का इतिहास (काशी, १६६८)
७९. Dr. E. W. Hopkins : The Religion of India (London, 1902)

द्वितीय अध्याय

१. मनोहरलाल जुत्शी : 'कबीर साहब' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १६३६ ई०)
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'कबीर' (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, सन् १६४२ ई०)
३. डॉ० रामकुमार वर्मा : 'संत कबीर' (इलाहाबाद, १६४२ ई०)

४. भाई लेहना सिंह : 'कबीर कसौटी' (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९७१)
५. महर्षि शिवव्रतलाल : 'कबीर पंथ' (लिमशन प्रेस, इलाहाबाद)
६. Kabir (Natesan, Madras)
७. डॉ० रामरतन भटनागर : 'कबीर साहित्य की भूमिका' (इलाहाबाद, सन् १९५० ई०),
८. Dr. Mohan Singh : Kabir and the Bhakti Movement (Lahore, 1934)
९. Evelyn Underhill : Introduction to 'One hundred Poems of Kabir' (Macmillan, 1923)
१०. डॉ० सरनाम सिंह : 'कबीर : एक विवेचन' (दिल्ली, १९६० ई०)
११. पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव : 'कबीर साहित्य का अध्ययन' (काशी, सं० २००८)
१२. परशुराम चतुर्वेदी : 'कबीर साहित्य की परख' (प्रयाग, सं० २०२१)
१३. डॉ० गोविंद त्रिगुणायत : 'कबीर की विचार-धारा' (कानपुर सं० २००९
१४. Charlotte Vandeville : Kabir Granthavali (Dohas) (Pondichery, 1957)
१५. डॉ० गोविंद त्रिगुणायत : 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद' (देहरादून)
१६. 'कबीर ग्रंथावली' (डॉ० श्यामसुन्दरदास, काशी, सन् १९२८ ई०)
१७. 'कबीर ग्रंथावली' (डॉ० पारसनाथ तिवारी, प्रयाग, सन् १९६१ ई०)
१८. 'भक्तमाल' (नाभादास)
१९. 'भक्तमाल' (राघोदास), अप्रकाशित।
२०. 'भक्तमाल' (दुखहरन), अप्रकाशित।
२१. 'संतमाल' (महर्षि शिवव्रतलाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद)
२२. बी० बी० राय : 'संप्रदाय' (मिशन प्रेस, लुधियाना, १९०६ ई०)
२३. नारायण प्रसाद वर्मा : 'रहनुमाए हिंद'
२४. पं० शिवशंकर मिश्र : 'भारत का धार्मिक इतिहास' (कलकत्ता, सं० १९८०)
२५. Dr. P. D. Badathwal : The Nirgun School of Hindi Poetry' (The Indian Bookshop Banaras, 1936)
२६. Dr. H. H. Wilson : 'Religious Sects of the Hindus (Trubner, 1862)

२७. K. M. Sen 'Madeival Mysticism of India' Luzac, 1930)
२८. परशुराम चतुर्वेदी : 'संत साहित्य की भूमिका' (हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद, सं० २०१७)
२९. परशुराम चतुर्वेदी : 'संत काव्य' (किताब महल, प्रयाग) १९५२ ई०
३०. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : 'संत साहित्य पर तांत्रिक प्रभाव' (आगरा, १९६२)
३१. डॉ० प्रभाकर माचवे : हिदी और मराठी का निर्गुण संत काव्य' (वाराणसी, सं० २०१९)
३२. डॉ० मोती सिह : 'निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' (वाराणसी २०१९)
३३. डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित : 'परिचयी साहित्य' (लखनऊ, १९५७)
३४. 'सम्मेलन निबंध माला' (हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, सं० २००५)
३५. फ़ानी : 'दबिस्ताने मजाहिब' (बंबई, १२६२ हि०)
३६. ब्रह्मलीन मुनि : 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' (बड़ौदा, १९६० ई०)
३७. डॉ० रामकुमार वर्मा : 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' (इलाहाबाद, १९३८).
३८. डॉ० रामकुमार वर्मा : 'कबीर का रहस्यवाद' (प्रयाग, १९३१ ई०)
३९. मोहम्मद हनीफ़ : 'महात्मा कबीर' (लखनऊ, १९३९ ई०)
४०. सिद्धिनाथ तिवारी : 'निर्गुण-काव्य-दर्शन' (पटना, १९५३ ई०)
४१. महावीर सिंह गहलोत : 'कबीर' (प्रयाग) ।
४२. भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' : 'संत साहित्य' (बांकीपुर, १९४२ ई०)
४३. बैजनाथ तथा विश्वनाथ : 'निर्गुणधारा' (पटना, सं० २००६)
४४. डॉ० बड़थ्वाल : 'योगप्रवाह' (वाराणसी)
४५. डॉ० रामजीलाल सहायक : 'कबीर दर्शन' (लखनऊ, १९६२ ई०)

तृतीय अध्याय

१. Dr. J. N. Farquhar : The Historical Position of Ramanand (J. R. A. S. 1922)
२. Ramanand to Ram Tirtha (G. A. Natesan, Madras)
३. अनुराग सागर (वें० प्रे०, प्रयाग)
४. 'कबीर बीजक' (विचारदास संपादित)

५. 'कबीर बीजक' (बाराबंकी संस्करण)
६. 'धनी धरमदास की बानी' (वे० प्रे०, प्रयाग, सन् १९१२ ई०)
७. 'बोधसागर' (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९६६)
८. 'पंचग्रंथी,' (")
९. 'कबीर मंशूर' (")
१०. 'रैदासजी की बानी' (वे० प्रे०, प्रयाग)
११. मदन साहब : 'नामप्रकाश' (बड़ैया, १९६२)
१२. " : 'शब्दविलास' (प्रयाग, सं० १९६५)
१३. कोठीरामदास : 'सत्यदर्शन' (नागपुर, १९४९)
१४. किशन सिंह गो० चावड़ा : 'कबीर संप्रदाय' (मुंबई सं० १९९४)
१५. डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव : 'रामानंद संप्रदाय' (प्रयाग, १९५७)
१६. 'श्री राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ' (राजस्थान, सं० २०१३)
१७. 'हिंदी-अनुशीलन' (प्रयाग, जून, १९५७)
१८. 'ह० लि० हिं० पु० की खोज' (का० ना० प्र० सभा, सन् १९२६-८)
१९. 'संत वाणी' (जयपुर)
२०. हरिशरण दास : 'भक्ति पुष्पांजली'
२१. 'उदाधर्म भजनसागर' (सं० द्वारकादास कल्याणदास पटेल, अहमदाबाद, सन् १९२६ ई०)
२२. Tarapad Bhattacharya : 'The Cult of Brahma (Journal of the Behar Research Society Vol. 40-42 Patna)
२३. साधु वंशूदास कबीर पंथी : 'चौकाविधान'
२४. डॉ० केदारनाथ द्विवेदी : 'कबीर और कबीर पंथ' (तुलनात्मक अध्ययन) अप्रकाशित
२५. Rev. Westcott : 'Kabir and the Kabir Panth'
२६. Dr. F. E. Key : Kabir and his Followers (Religious Life of India Series Calcutta, 1931)
२७. डॉ० भगवतव्रत मिश्र : 'संत कवि रविदास और उनका पंथ' (अप्रकाशित)
२८. Rev. Ahmad Shah : 'The Bijak of Kabir' (Hamirpur, 1917)
२९. 'खोलासातुत्तवारीख'
३०. 'The Imperial Gazettier of India' Vol. II; 1909

३१. Kincaid: 'A History of the M ra has'
३२. महात्मा रामचरन कुरील : 'भगवान रविदास की सत्यकथा' (कानपुर, सं० १९९७)
३३. परमानंद स्वामी : 'रविदास भगत का जीवन चरित्र' वा 'रविदास पुराण' (अप्रकाशित)
३४. महंत मूरत दास : 'वंशपांजी का वास्तविक तत्त्व' अथवा 'मोक्ष सोपान' (हुशंगाबाद), सं० १९८७)
३५. निर्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन (ले० कबीर-पंथी साधु काशीदास, बुरहानपुर, सन् १९२२)
३६. साधु सालगदास : 'अनादि भेद प्रकाश' (अहमदाबाद, सन् १९३१ ई०)
३७. 'ग्रंथ बड़ा संतोष बोध' आदि २० ग्रंथ (ज्ञानसागर प्रेस, किशनगढ़)
३८. स्वामी रामानन्द शास्त्री और वीरेन्द्र पाण्डेय : 'संत रविदास और उनका काव्य' (ज्वालापुर, १९५५ ई०)
३९. झवेर चंद मेघाणी : 'सोरठी संत वाणी' (अहमदाबाद), १९४७ ई०)
४०. जयमल्ल परमार : 'आपणी लोक संस्कृति' (अहमदाबाद १९५०)
४१. 'सम्मेलन पत्रिका' (प्रयाग, भा० ४८ सं० १ तथा भा० ४९ सं० १)
४२. 'परिषद् पत्रिका (पटना वर्ष २ अंक १)
४३. 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग भाग १९ अ० २ तथा ४)
४४. 'हिंदी अनुशीलन' (प्रयाग, वर्ष ११ अं० ३ तथा वर्ष १३ अंक ४)

चतुर्थ अध्याय

१. M. A. Macauliffe : The Sikh Religion (6 Vols. 1909)
२. Dr. E. Trumpp : The Adi Granth (London 1877)
३. शालग्राम : गुरु नानक (ओ० आ० च० माला, प्रयाग)
४. C. H. Lochlin : The Sikhs and their Book (Lucknow, 1946)
५. Dr. Mohan Singh : History of Punjabi Literature (Lahore)
६. 'संत सिंगाजी' (सिंगाजी साहित्य शोधक मंडल, खंडवा, १९३६)
७. लक्ष्मीनारायण दुबे : स्वामी रामजी बाबा (होशंगाबाद)
८. राधाकृष्ण दास : 'सूरदास' (ना० प्र० सभा, काशी)
९. 'सूर रत्नाकर' (का० ना० प्र० सभा)

१०. 'मीराँबाई की पदावली' (हि० सा० स०, प्रयाग)
११. 'गुरुग्रंथ साहब' (भाई गुरदियाल सिंह, अमृतसर)
१२. Duncan Greenless : The Gospel of the Guru Granth' (Theosophical Publishing House Adyar. 1952)
१३. 'गोविंद रामायण' (बनारस, १६५३ ई०)
१४. 'विचित्र नाटक' (नई दिल्ली, १६६१ ई०)
१५. डॉ० जयराम मिश्र : 'नानकवाणी' (इलाहाबाद, १६६१)
१६. सलोक फ़रीद (घंटाघर, लुधियाना)
१७. 'प्राणसंगली' (वे० प्रे० प्रयाग)
१८. डॉ० जयराम मिश्र : श्रीगुरु ग्रंथ दर्शन (इलाहाबाद, १६६०)
१६. 'श्री हरिपुरुष की वाणी' (सेवादास संपादित, जयपुर १६६३)
२०. मंगलदास स्वामी : 'श्री महाराज हरिदास जी की वाणी' (जयपुर १६६२)
२१. सूर्यशंकर पारीक : 'सिद्धचरित्र' (रतनगढ़, सन् २०१३)
२२. लालनाथ : 'जीव समझोत्तरी' (रतनगढ़, २००५)
२३. 'जम्भो महाराज का जीवन चरित' (रामदास कोलायत सं० २००७)
२४. डॉ० हीरालाल माहेश्वरी : 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'
२५. 'यशोनाथ पुराण'
२६. डॉ० कृष्णलाल हंस : 'निमाड़ी भाषा और उसका साहित्य' (इलाहाबाद, १६६०)
२७. श्री चन्द्रकांत बाली : 'पंजाबी प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास' (दिल्ली, १६६२ ई०)
२८. Khaliq Ahmad Nizami : 'The Life and Times of Sheikh Fariduddin Ganjae Shakar,' Aligarh, 1946)
२६. भाई परमानंद : 'वीर वैरागी वंदा' (अनारकली, लाहोर)
३०. Dr. Tarachand : 'Influence of Islam in Hindu Culture' (Indian Press Allahabad, 1646)
३१. K. M. Jhaveri 'Milestones in Gujerati Literature' (Bomby, 1914)
३२. भगवानदास निरंजनी : 'अमृतधारा ग्रंथ' (बंबई सं० १६४५)
३३. डॉ० हरिभजन सिंह : 'गुरुमुखी लिपि में हिंदी काव्य' (दिल्ली, १६६३ ई०)

पंचम अध्याय

१. W. L. Allison : 'The Sadhs' (Religious life of India Series, Calcutta, 1935)
२. क्षितिमोहन सेन : 'दादू' (शांतिनिकेतन बुक डिपो, कलकत्ता १३४२ बं०)
३. 'राजस्थान' (वर्ष १, सं० २ तथा ३ 'राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता)
४. 'संत' (वर्ष २ अंक १०, चैत्र सं० १९९९, जयपुर)
५. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (वर्ष ४५, अंक १, सं० १९९७)
६. 'मूल गोसांई चरित' (गीता प्रेस, गोरखपुर)
७. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास' (प्रयाग, सन् १९५३ ई०)
८. 'रामचरित मानस' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००५)
९. डॉ० कपिलदेव पाण्डेय : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, वाराणसी, सन् १९६३ ई०
१०. 'दादूदयाल की वाणी' (चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी संपादित, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, १९०७)
११. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (हरिनारायण शर्मा संपादित २ भागों में) राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता १९९३
१२. डॉ० रामनरेश वर्मा : हिन्दी सगुण भक्ति काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, वाराणसी सं० २०२०
१३. 'विचार सागर' (निश्चलदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)
१४. डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय : हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि आगरा, सं० २०१२
१५. 'महात्माओं की वाणी' (भुरकुड़ा, गाजीपुर)
१६. डॉ० कुँवरचन्द्र प्रकाश सिंह : अक्षय रस, बड़ौदा, सन् १९६३ ई०
१७. 'अमीघूंट (वे० प्रे०, प्रयाग)
१८. डॉ० सरला त्रिगुणायत : मध्यकालीन हिंदी साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव, कानपुर, सन् १९६३ ई०
१९. 'वषना जी की बानी' (जयपुर, सं० १९९३)
२०. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : सहज-साधना, भोपाल, सं० २०२०
२१. 'शब्द सागर' (बुल्ला साहब का, वे० प्रे० प्रयाग)
२२. Dr. Y. J. Tripathi : Kevaladvita in Gujerati Poetry, Baroda 1958)

२३. 'गुलाल साहब की बानी' (")
२४. 'पलटू साहब की बानी व कुंडलिया' (")
२५. 'दादूदयाल की बानी' (")
२६. 'दादूदयाल की बानी', (स्वामी मंगलदास संपादित जयपुर १९५१)
२७. 'दादूदयाल की बानी' (दलगंजसिंह सं० १९७५ जयपुर)
२८. 'दादू जन्मलीला परची' (जनगोपाल) मंगल प्रेस, जयपुर, २००६
२९. 'दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रंथ' (जयपुर, सं० २००९) ·
३०. Dr. W. G. Orr : A Sixteenth Century Indian Mystic, Dadu and his followers' (Lutterworth, London 1947)
३१. 'सुन्दर विलास' (बंबई सं० १९६७)
३२. डॉ० त्रि० ना० दीक्षित : 'सुन्दर दर्शन' (प्रयाग, १९५३ ई०)
३३. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (उपखान विवेक)
३४. श्री पलटू साहब कृत 'शब्दावली' (अयोध्या, २००७)
३५. 'गोविंद साहब' : सतसार (बस्ती, १९५६)
३६. 'श्री गोविंद साहब का जीवनचरित' (गैबदास जी भिक्षु, १९५६)
३७. 'यारी साहब की रत्नावली' (वे० प्रे०, प्रयाग)
३८. 'भीखा साहब की बानी' (")
३९. 'मलूकदास की बानी' (")
४०. Psalms of Dadu' (Theosophical Society Banaras 1930)
४१. 'दूलन दास की बानी' (वे० प्रे०, प्रयाग)
४२. बनारसी दास : 'बनारसी विलास' (जयपुर, २०११)
४३. 'राजकुमार जैन' : 'अध्यात्म पदावली' (काशी, १९५४)
४४. 'रज्जबजी की वाणी' (बंबई, सं० १९७५)
४५. 'पंचामृत' (सं० स्वामी मंगलदास, जयपुर, सं० २००४)
४६. 'गरीबदास की वाणी' (सं० स्वामी मंगलदास, जयपुर, सं० २००४)
४७. गार्सां द तासी : 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' (अनु० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, इलाहाबाद, १९५३ ई०)

षष्ठ अध्याय

१. श्री मनोहरदास : 'रामस्नेही, धर्मदर्पण' (शाहपुरा, सं० २००३)

२. 'श्री रामस्नेह धर्मप्रकाश' (प्रकाशक चौकस रामजी, सिहथल बीकानेर, सं०, १६८७)
३. 'श्री रामस्नेही संप्रदाय' (ले० अक्षयचन्द्र शर्मा, बीकानेर, सन् १६५६ ई०)
४. 'स्वरोदय दोहावली' (इलाहाबाद, १६४७ ई०)
५. 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग, भाग १, अं० ४ सन् १६३१ ई०)
6. F. S. Growse : 'Mathura, A District Memoir' (1883)
७. G. W. Brigges : 'The Chamars' (R. L. I. series)
८. Col. H. S. Jerret : 'Aine Akbari' (1891, Calcutta)
६. 'आईने अकबरी' (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
१०. 'दरियासागर' (ने० प्रेस, प्रयाग)
११. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री : संत दरिया, एक अनुशीलन (वि० रा० भा० परिषद्, पटना, सं० २०११)
१२. दरियाग्रंथावली (भा० २) "
१३. 'गुरु अन्वास-ज्ञान दीपक' (साहू की गली, लाहोर, १६३५ ई०)
१४. 'गुरु अन्वास ज्ञान दीपक' (कानपुर, १६५३ ई०)
१५. 'शब्द ग्रंथ शब्दावली' (शिवनारायण)
१६. 'संत आखरी' (शिवनारायण-कानपुर)
१७. 'लौ परवाना (शिवनारायण ")
१८. 'संत वज्रन' (शिवनारायण ")
१६. 'मूल ग्रथ' (शिव नारायणी संप्रदाय ")
२०. 'शब्द संत विलास' (शिवनारायण ")
२१. 'रविभाण संप्रदाय की वाणी' (पूना, सं० १६८६)
२२. डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री : 'संतमत का सरभंग-संप्रदाय' (पटना, १६५६)
२३. रमेशचन्द्र झा : 'चम्पारन की साहित्य-साधना' (सुगौली २०१३)
२४. 'प्रेमदीपिका' (अक्षर अनन्य) ला० सीताराम संपादित (प्रयाग, १६३५)
२५. रा० चि० ढेरे : 'दत्त संप्रदाया चा इतिहास' (मुम्बई, शके १८८०)
२६. 'रविभाण सप्रदाय नी वाणी' भा० बीजो (पूना, १६८६)
२७. तुलसी की जीवन भूमि (चन्द्रबली पांडेय, काशी २०११)
२८. अनवर आगेवान : 'साँई दीनदरवेश' (अहमदाबाद, २००८) 'राष्ट्रभारती' (नवंबर, १६६०)

३०. 'ब्रह्मबानी' (प्राणनाथ) ह० लि० प्रति
३१. 'पोथी संतमतं सार' (बनारस, १९०५)
३२. 'विवेकसार' (किनाराम) बनारस, १९३२ ई०,
३३. 'गीतावली' (किनाराम)
३४. श्री रामचरणदास जी की 'अणभै वाणी' (श्री रामनिवास धाम, शाहपुरा, प्रकाशक नैनूरामजी दीनू १९२५ ई०)
३५. 'भक्तिसागर' (चरणदास) लखनऊ
३६. 'गरीबदासजी की बाणी' (वे० प्रे० प्रयाग)
३७. 'ग्रंथ साहब' (गरीबदासजी की बानी, राजकोट, सन् १९२४ ई०)
३८. 'सुषमवेद ग्रंथ' (पानपदास) देहली।
३९. 'पानपबोध' (पानपदास) मुजफ्फरनगर
४०. Bikramajit Hasrat, Darashikuh (Visvabharati)
४१. डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित ; 'चरनदास' (प्रयाग, १९६१ ई०)
४२. डॉ० भगवानदास गुप्त : बुंदेलखंड केशरी छत्रसाल (आगरा, १९५८)
४३. Kalikaranjan Kanungo : 'Darshikoh (अगारा, १९५८)
४४. 'हिंदी साहित्य कोश' (भाग २) वाराणसी, सं० २०२०।
४५. 'हेवाल' ('गुजराती साहित्य परिषद्' २० मुं संमेलन, अहमदाबाद सन् १९५९ ई०)
४६. 'शोध पत्रिका (साहित्य संस्थान, उदयपुर, अप्रैल, १९६३ ई०)
४७. 'मूल ग्रंथ-वंशमूल और वंशावली' (कानपुर, १९६३ ई०)
४८. 'शब्दग्रंथ संत सुन्दर' (कानपुर, १९६२ ई०)

सप्तम अध्याय

१. लाला प्रतापसिंह सेठ : 'जीवन चरित्र हुजूर स्वामी महाराज' (वे० प्रे० प्रयाग, सन् १९०९)
२. 'राय अजुध्या प्रसाद' : 'जीवन चरित्र हुजूर महाराज साहब' (वे० प्रे०, प्रयाग, १९१०)
३. The Journal of the Royal Asiatic Society (Jan-June 1918)
४. 'तुलसी साहब की शब्दावली' (प्रे० वे०, प्रयाग)
५. 'पद्मसागर' (वे० प्रे० प्रयाग)
६. घट रामायन (२ भाग ")

७. 'रत्न सागर' "
८. सार वचन (नज्म व नस्र)
९. 'प्रेम वाणी' (हुजूर साहब)
१०. सदगुरु मदन साहब : शब्द विलास, वाराणसी, नई दिल्ली, सन् १९६३ ई०
११. 'संक्षिप्त आत्मकथा' (सस्ता साहित्य मंडल)
१२. स्वामी राम के संक्षिप्त लेख व उपदेश (लखनऊ)
१३. 'Radhasoami Mataprakash' (Calcutta, 1941)
१४. 'Discources on Radhaswami Faith (Calcutta 1942)
15. M. H. Philips: 'Notes and Discourses' by Babuji Maharaj (Agra, 1947)
१६. Souvenir in Commemoration of the First Century of the Radhaswami Satsang, (Agra, 1962)
१७. सत्संग योग (मेंहीदास) १९४६ ई०
१८. भावार्थ सहित घट रामायन (मेंहीदास) १९३६ ई०
१९. रामचरित मानस सटीक तथा विनय पत्रिका सार सटीक, (मेंहीदास, १९५१)
२०. 'श्री संतमतै सिद्धांत व गुरु कीर्तन (मेंहीदास, १९४९)
२१. महर्षि मेंहीदास अभिनन्दन ग्रंथ (भागलपुर, १९६१ ई०)
२२. 'श्री मेंहीदास वचनामृत' (खगड़िया, १९५४)
२३. 'श्री मेंहीदास पदावली'
२४. 'वेद दर्शन योग' (मेंहीदास)
२५. 'गीता योग प्रकाश' (मेंहीदास)
२६. Jogendrs Bhattacharya: Hindu Castes and Sects (Thecker, 1896)
२७. R. V. Russel and R. B. Hiralal : Tribes and Castes of the C. P. Vol IV. 1946)
२८. H. A. Rose: A Glossary of the Tribes and Castes of the Punjab and the Frontier Provinces Vol. III
२९. W. Crooke: Tribes and Castes of the U. P. Vol. II and IV
३०. रामदास गौड़ : हिन्दुत्व (काशी)
३१. The Journal of the Behar & Orissa Research Society Vol. IV (1928)

३२. ,, ,, XXIV 1938
३३. ,, ,, XXVII 1941
३४. अद्भुतयोग (महर्षि शिवव्रत लाल) इलाहाबाद, १९४० ई०
३५. Pilgrims 'Path by Huzur Saheb' Agra, 1948

(क) संत सम्प्रदायादि-सूची

धर्म-पंथ सूची

मठ-सूची

मत-सूची

परंपरा-सूची

गद्दी-सूची

ख. ग्रंथ-सूची

नाम-सूची